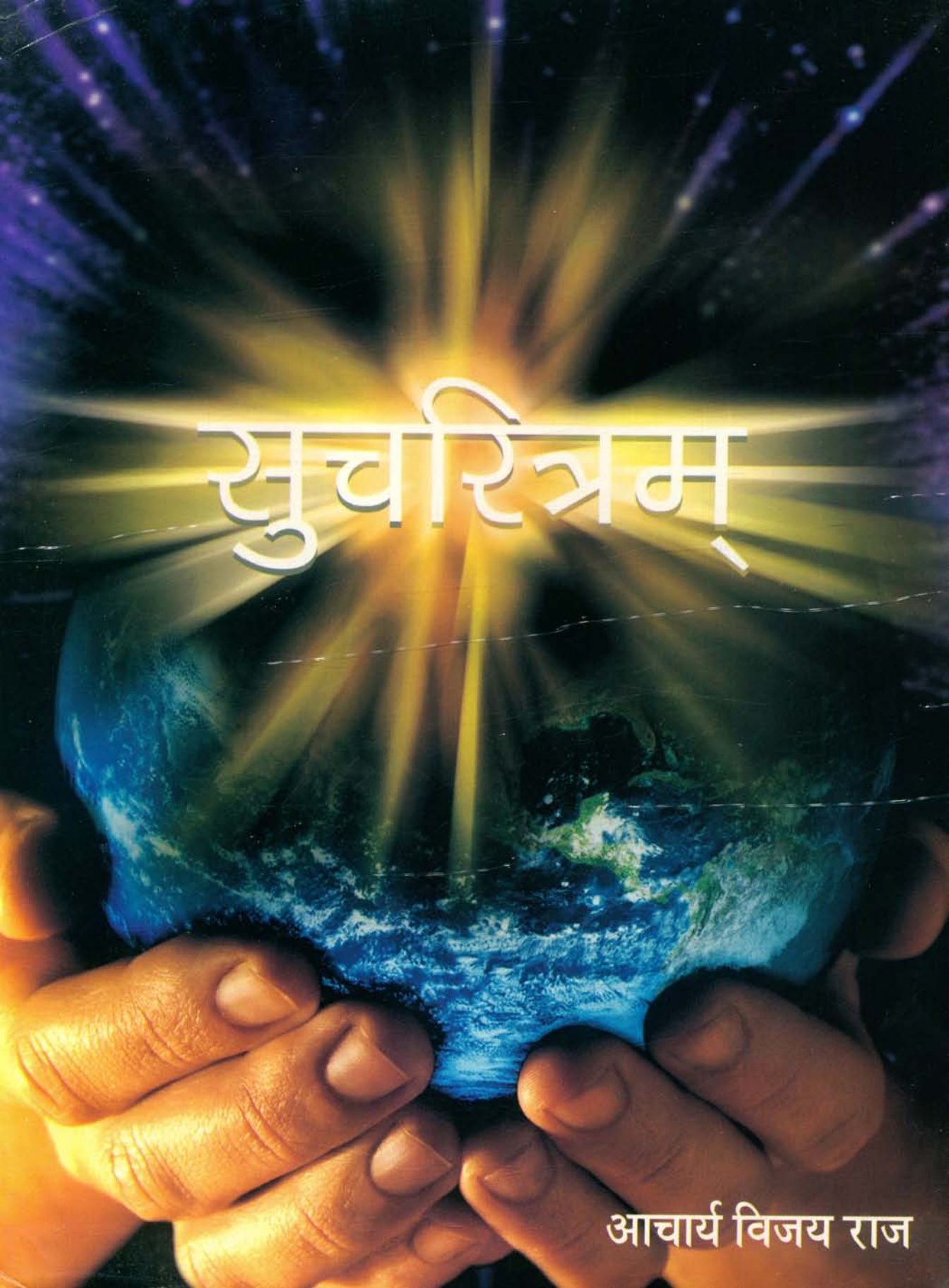

सुचरित्रम्
आचार्य विजय राज

आचार्य विजय राज

कृति जिनकी कल्याणकारी
आकृति जिनकी आह्लादकारी
प्रकृति जिनकी पावनकारी
प्रवृत्ति जिनकी प्रियकारी
देशना जिनकी हितकारी
उपासना जिनकी श्रेयकारी

सोच जिनकी सकारात्मक
चिंतन जिनका गुणात्मक
लेखन जिनका रचनात्मक
प्रवचन जिनका प्रेरणात्मक
जीवन जिनका सृजनात्मक
व्यवहार जिनका सद्भावात्मक

आचार में पवित्रता
विचार में उदारता
व्यवहार में पारदर्शिता
तप में तेजस्विता
त्याग में प्रखरता
जीवन में सात्विकता
भाषा में माधुर्यता
वाणी में ओजस्विता
स्वभाव में विनम्रता
अनुशासन में कठोरता
प्रभु भक्ति में तल्लीनता
गुरूभक्ति में तन्मयता

ऐसे बाह्य एवं आभ्यान्तर गुणों से सम्पन्न

अष्ट संपदा के धारक आचार्य प्रवर को

शत - शत नमन्



सुचरित्रम्

आपके समीक्षार्थ एवं सुझाव हेतु अनुरोध है।

सुचरित्रम्

—लेखक
आचार्य विजय

— सम्पादक
शांतिचन्द्र मेहता

—प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी शान्तक्रांति जैन श्रावक संघ, उदयपुर

SUCHARITRAM

By Acharya Vijay

प्रस्तावना

महास्थविर श्रवण श्रेष्ठ विद्वद्वर्य तपस्वी

पं. शान्ति मुनि जी म.सा.

सम्पादक

शान्तिचन्द्र मेहता

प्रकाशक

श्री अ.भा.सा. शान्तक्रांति जैन श्रावक संघ

हिरण मगरी, सेक्टर-3, उदयपुर (राजस्थान)

अर्थ सहयोगी

स्व. श्री बापूलाल जी श्री अनोखीलाल जी श्री हस्तीमल जी दलाल

खातरोड़ (म.प्र.) वालों की पुण्य स्मृति में

दलाल परिवार इंदौर द्वारा सहयोग प्रदान किया गया।

प्रथम संस्करण : वर्ष 2009 —

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 200.00 रु.—

(पुस्तकालयों आदि के लिए छूट)

मुद्रक

गरिमा ऑफसेट

रीको द्वितीय, गायत्री नगर, अजमेर रोड़,

ब्यावर (राज.) फोन : 01462-226456, 9414010110

प्राप्ति स्थान

प्रधान कार्यालय

279-एच, नवकार भवन,

हिरण मगरी, सेक्टर-3, उदयपुर-313 002

तरुणाचार्य विजय ज्ञान भण्डार

नवकार भवन, मेवाड़ी गेट बाहर,

ब्यावर (राज.) 305 901

प्रकाशकीय

अनादि काल से प्रवाहित निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की यह पवित्र धारा अनेक उतार-चढ़ावों के उपरान्त भी अनवरत गतिशील रही है। प्रभु आदिनाथ-ऋषभदेव से लेकर चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने इसका यथा समय पुनरुद्धार किया और अपनी अमूल्य पावनी वीतराग वाग्धारा के द्वारा हजारों लाखों नहीं करोड़ों मानवों को आत्म शांति-परम मुक्ति का पुनीत पाथेय प्रदान किया।

प्रभु महावीर के पश्चात् भी काल क्रम से वही धारा आचार्य परम्परा के द्वारा प्रवाहित हो रही है जो आज भी प्रवाहमान है। किन्तु यह भी नितांत सत्य है कि अहिंसा प्रधान एवं निवृत्ति परक इस जैन संस्कृति की धारा को समय-समय पर अनेक थपेड़े भी सहन करने पड़े हैं, अनेकों बार इसे नष्ट होने से बचाने में आचार्यों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जब-जब भी इसकी दार्शनिक अवधारणा एवं आचार परम्परा में शिथिलता ने प्रवेश किया तो पुनः आचार्यों ने क्रांति की मशाल जलाकर इसे तेजस्विता और आलोक प्रदान किया है।

यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि जब-जब भी क्रांति घटित हुई एक नूतन संघ परम्परा का सूत्रपात होता गया। इस प्रकार यह धारा अनेकों अवान्तर उपधाराओं में विभक्त होती गई और आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि इसकी मूल धारा कौनसी है इसका भी पता लगाना अत्यंत कठिन हो गया है। तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति किंवा जैन संस्कृति आज भी अपनी मौलिकता में विद्यमान है और अनवरत प्रवाहमान है।

श्रमण संस्कृति की इस पवित्र धारा को अपने मूल रूप में कायम रखने वाले महापुरुषों में आचार क्रांति की दृष्टि से महान् क्रांतिवीर श्री लोकाशाह एवं महान् क्रियोद्धारक आचार्य प्रवर श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिस समय श्रमण परम्परा में अत्यधिक शिथिलाचार का प्रवेश होने लगा, निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी अप्रतिबद्ध विहारचर्या की मर्यादा को भूलकर आश्रम-उपाश्रयवासी होने लगे, शिष्यों के व्यामोह में साधुता छिन्न-भिन्न होने लगी, ऐसे समय में आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. ने आचार क्रांति का शंखनाद किया।

वे आचार शैथिल्य देखकर अपने गुरु आचार्य श्री लालचन्द जी म.सा. से पृथक होकर विचरण करने लगे। श्रमण जीवन की विशुद्ध आराधना हेतु कठोर नियमों का पालन कर स्वयं के आचरण के द्वारा उन्होंने आचार क्रांति का सूत्रपात किया। यद्यपि इस प्रकार अलग होकर विचरण से उनके गुरु आचार्य श्री लालचन्द जी म.सा. उनसे बहुत नाराज हुए और उन्हें किसी प्रकार का सहयोग नहीं देने की घोषणा करते रहे, फिर भी वे उनके गुणानुवाद करते हुए उनका उपकार मानते रहे तथा जिन शासन की भव्य प्रभावना करते रहे। उनके आचार-विचार से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने उनके पास साधु जीवन स्वीकार किया। आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. उच्च कोटि के तपस्वी एवं उच्च क्रिया के धारक तो थे ही पर आगमिक गम्भीर अध्येता भी थे। शनैः शनैः आपकी धवल कीर्ति

दिग्दिगन्त में फैलने लगी और हजारों भक्त आपकी चरण सन्निधि के लिए लालायित रहने लगे। 'तिण्णाणं तारयाणं' के पथ पर गतिशील आचार्य प्रवर ने अनेक मुमुक्षुओं को संयम एवं देशव्रती श्रावकत्व प्रदान किया और इस प्रकार सहज ही चतुर्विध संघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र में जिस प्रकार दूर से गंगा की धारा अलग-थलग दिखाई देती है उसी प्रकार जिन शासन रूपी समुद्र में आचार्य प्रवर श्री हुकम्मीचन्द जी म.सा. की यह संघ धारा अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। जो क्रांति की धारा आचार्य प्रवर श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. ने चलाई उसे आचार्य परम्परा ने अनवरत गति दी और आचार्य श्री नानेश के समय इसने प्रखरता प्राप्त की।

परम प्रसन्नता का विषय है कि आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. की क्रांति को गति देने के लिए आज प्रज्ञानिधि शासन गौरव आचार्य श्री विजयराज जी म.सा. उनके नवम् पट्टधर बनकर उसमें अपनी समिधा अर्पित कर संघ संचालन का कार्य कर रहे हैं। उनके दिशा निर्देशन में आज संघ अनवरत प्रगति कर रहा है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी शांत क्रांति जैन श्रावक संघ इस संघ के विकास में अपना अहोभाव पूर्वक योगदान दे रहा है। उसने संघ विकास एवं जन कल्याण की अनेक प्रवृत्तियों में साहित्य प्रकाशन की प्रवृत्ति को भी हाथ में लिया है और अल्पावधि में एक विशाल साहित्य भण्डार पाठकों को समर्पित किया है।

संघ ने प्रज्ञानिधि आचार्य प्रवर श्री विजयराज जी म.सा. की विश्व में चरित्र निर्माण की परिकल्पना को साकार करने की दृष्टि से एक वृहद् योजना को अपने हाथ में लिया है। उसी दिशा में आचार्य प्रवर द्वारा लिखित चारित्र निर्माण संबंधी साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का उपक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है।

समग्र चरित्र निर्माण की परिकल्पना, परियोजना और परिस्थिति निर्मित हो इसके लिए संबद्ध मानव चेतना समय-समय पर चिंतनशील रही है। यह निश्चित है चरित्र के अभाव में जीवन का कोई- सा भी पक्ष परिपूर्णता को प्राप्त नहीं करता, हमारे जीवन की सर्वांगीण-सर्वतोमुखी विकास की धारा चारित्र के रूप में ही सदाकाल से प्रवाहित रही है। इस धारा में जब-जब भी अवरोध आए हैं तब-तब इसने अपना मार्ग बदल लिया है। यह धारा कभी सूखी नहीं और न कभी सूखेगी, इसके मार्ग बदल सकते हैं और नए मार्गों के अनुसार यह धारा सदैव प्रवाहमान रही है।

हमारा भारत देश ऋषि-मुनियों का देश कहलाता है। ऋषि-मुनियों ने समग्र चरित्र निर्माण के संदर्भ में जितना संजीदगी से मानव चेतना को आह्वान और जागरूक किया है जिसके परिणाम स्वरूप आज तक भारत की जन चेतना के भीतर चारित्र के प्रति आस्था व निष्ठा के भाव विद्यमान हैं। यहाँ चारित्र के प्रति जन-जन का मन हजारों वर्षों से श्रद्धान्वित रहा है, वह सदैव उन्नत चारित्र के प्रति प्रणत है। ज्ञानी होने का सार यही है वह ज्ञान जीवन-आचरण में उतरे, जो ज्ञान जीवन के धरातल को नहीं छूता, वह ज्ञान केवल मस्तिष्कीय क्रीड़ा अथवा वाणी का विलास बनकर रह जाता है। भारतीय

जन चेतना ने केवलमात्र ज्ञान को ही आदर्श नहीं माना, उसने आदर्श माना है तो चारित्र सम्मत ज्ञान को। यथार्थ में ऐसा ज्ञान ही स्व पर संकट का मोचन करता है। आज का सबसे बड़ा संकट है- चारित्रिक शिथिलता का है। व्यक्ति की दृष्टि अर्थ प्रधान हो गई है। वह अपने अर्थ और स्वार्थ को ही चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिए वह सबकुछ करने को तैयार हो जाता है जो उसकी मानवता को भले ही नामंजूर हो। मानवीय मूल्यों की सुरक्षा एकमात्र चारित्रिक सुदृढ़ता से हो सकती है। हमारा चारित्र जब तक पवित्र नहीं होता है तब तक सारी बातें नि:सार है।

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि हमारे आराध्य प्रवर जन-जन की आस्था के केन्द्र परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री विजयराज जी म.सा. जिन्होंने कड़ी मेहनत कर चारित्र निर्माण की पूरी सर्वांगीण रूपरेखा के साथ जो प्रणयन किया है वो अपने आप में अद्‌भुत है। हम ही नहीं पूरी मानव जाति आचार्य श्री के प्रति ऋणी है जिन्होंने ऐसा अभूतपूर्व अवदान प्रदान करके सच्चे अर्थों में अपने संतत्व को सुरक्षित रखते हुए उपकृत किया है।

आचार्य श्री जी के विचारों को सहेजने के कार्य को किया है विश्रुत विद्वान् श्री शांतिचन्द्र जी मेहता सा. ने। मेहता सा. पूज्य आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा., पूज्य आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. तथा वर्तमान आचार्य श्री के विचारों के प्रति पूर्णत: श्रद्धान्वित रहे हैं। यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि श्रीमान् मेहता सा. का अचानक देहावसान हो गया। उनका वरद्‌हस्त हमारे संघ पर पूरी सद्‌भावनाओं के साथ बना हुआ था, मगर काल की गति विचित्र है, क्या किया जाए? हम मेहता सा. के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में गरिमा ऑफसेट के मालिक प्रबुद्ध पत्रकार श्री रामप्रसाद जी कुमावत तथा उनके सहयोगियों के प्रति भी आभार ज्ञापित करते हैं। अच्छे मुद्रण, लग्नशीलता तथा श्रद्धेय आचार्य प्रवर के प्रति श्रद्धान्विततता के प्रति हम उनके सदैव ऋणी रहेंगे।

इस ग्रंथ के प्रकाशन का अर्थ सौजन्य इंदौर के प्रसिद्ध दलाल परिवार की ओर से स्व. श्री बापूलाल जी, श्री अनोखीलाल जी, श्री हस्तीमल जी दलाल खातरोड़ (म.प्र.) वालों की पुण्य स्मृति में प्रदान कर सहयोग दिया गया। आप आचार्य श्री जी के व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित हैं। दलाल परिवार हमारे संघ को समय-समय पर इसी तरह का साहित्यिक सहयोग प्रदान करता रहेगा, ऐसा हमें विश्वास है।

अंत में पाठकों से अपेक्षा है कि वे चरित्र निर्माण के अभियान में अपने तन-मन-जीवन से जुड़कर इसे आगे गति प्रदान करें। शेष शुभ।

धर्मीचन्द कोठारी
अध्यक्ष

शांतिलाल कोठारी
महामंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी शांति क्रांति जैन श्रावक संघ, उदयपुर

प्रस्तावना

महास्थविर श्री शांति मुनि जी म.सा.

धर्म-साधना, अध्यात्म एवं संस्कृति की आत्मा है चरित्र। चरित्र के अभाव में न संस्कृति, संस्कृति रहेगी और न अध्यात्म-अध्यात्म। चरित्र साधना की तो मूल धूरी है ही, जीवन व्यवहार की भी अमूल्य निधि है। जैसे नमक के अभाव में सब्जी नीरस लगती है वैसे ही चरित्र के अभाव में जीवन सत्व-सारहीन ही होगा? भारतीय संस्कृति की तो आत्मा ही चरित्र है। चरित्र के अभाव में भारतीय संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

चरित्र शब्द का प्रयोग भारतीय संस्कृति में विशेषकर जैन संस्कृति में अत्यंत मौलिक एवं निगूढ़ अर्थ में हुआ है। वहाँ चरित्र का अर्थ केवल आचरण से ही नहीं लिया जाता है अपितु स्वरूप में रमणता-सिर्फ चेतना में ही विचरण करने को चरित्र शब्द से अभिसंज्ञित किया गया है। वहाँ 'चयरित्त करं चरित्त होइ आहियं' कहकर चरित्र शब्द को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। चारित्र आत्मा की वह अवस्था है जहाँ चेतना पर पदार्थ-कर्म सत्ता से सर्वथा विलग हो जाती है- अपने परम विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है जो चेतना अनादिकाल से जड़-कर्म के साथ दूध-पानी की तरह एकाकार हो रही है और उस स्थिति में अनंत दु:खों का भाजन बनती चली आ रही है, उसका उस दु:ख के निमित्त कर्म का सर्वथा सर्वकाल के लिए अलग होकर एकाकी स्वतंत्र हो जाना चरित्र है। उस अवस्था में चेतना की स्वरूप रमणता आनंदमय अवस्था ही शेष बचती है।

चरित्र शब्द का एक दूसरे अर्थ में निरूपण हुआ है कारण में कार्य का उपचार करके। चूँकि ब्रह्मचर्य-यम-नियम-महाव्रतों की आराधना आदि ऐसी सभी प्रकार की साधना-आराधना जो आत्मा से कर्म मेल को साफ करती है, को भी चरित्र कहा जाता है, किन्तु यह चरित्र शब्द का औपचारिक अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार भी चिंतन करें तो वर्तमान परिवेश चरित्र से कितनी भयावह स्थिति पर पहुँच गया है।

खेद है कि आज चरित्र शब्द अपनी मौलिक अर्थवत्ता को खोता जा रहा है। इसका प्रयोग केवल बाह्य आचार व्यवहार रूप औपचारिक अर्थ में ही सीमित हो गया है। वर्तमान परिवेश में तो चरित्र शब्द ही नकारात्मक होता जा रहा है। जिस भारतीय संस्कृति और भारत वर्ष की पहचान उसके उदात्त चरित्र के कारण होती थी, आज उसकी पहचान के वे अर्थ खोते जा रहे हैं।

बदलते परिवेश में चरित्र की चर्चा दकियानुसी एवं मजाक-सी लगने लगी है। आज समूची जीवनशैली जीने के तौर-तरीके, रहन-सहन, खान-पान सब कुछ जिस तेजी से बदल रहे हैं वहाँ चरित्र सुरक्षा की कहीं कोई गुंजाइश दिखाई नहीं दे रही है।

एक समय था जब भारतीय संस्कृति में संध्या के पश्चात् लड़कियाँ घर के बाहर नहीं घूमती थी। किसी पड़ोस के घर में भी जाना होता तो घर का कोई सदस्य साथ होता था। ये संस्कार उनके जेहन

में कूट-कूटकर भरे जाते थे कि चरित्र जीवन की अमूल्य निधि है, उसकी सुरक्षा जी जान से करना है। चरित्र है तो जीवन है अन्यथा जीवन का मूल्य दो कौड़ी रह जाता है। उन्हें उदात्त विचारों वाली शीलमूर्ति वीरांगना सन्नारियों की घटनाएं अथवा कहानियाँ सुनाई जाती थी एवं चरित्र सुरक्षा के उनके संस्कारों को अत्यधिक सुदृढ़ बनाया जाता था। अत्यल्प ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनकी कि भर्त्सना की जा सके। न उस समय गर्भपात के साधन थे और न ऐसे अवैध संबंध होते थे। न पिक्चर, रेस्टोरेंट्स, पब्स एवं क्लबों की संस्कृति थी कि जिनके माध्यम से चारित्रिक पतन के कारनामे घटित हों।

आज चरित्र के संदर्भ में विचार करें तो ठीक इससे विपरीत स्थिति परिलक्षित होती है। युवा युवतियों को मुक्त आकाश में घूमने की खुली छूट मिली हुई है। सहशिक्षा, टी.वी. कल्चर एवं क्लब संस्कृति ने चारित्रिक पतन को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। सारे मानवीय मूल्य ही बदल गए हैं। विशेषता यह है कि इस पतन को विकास का जामा पहनाया जा रहा है। पुरानी उदात्त एवं चारित्रिक सुरक्षा की परम्पराओं का अनुसरण कराने वालों को पोंगा पंडित एवं दकियानुसी कहा जाता है।

कुल मिलाकर पानी इतना सिर से ऊपर निकल चुका है कि सुधार की अथवा अपने वैयक्तिक चरित्र को भी सुरक्षित रख पाना एक जटिलतम समस्या बन गया। युवतियों में हार्ड ड्रिंक्स पीने का ट्रेड इस सीमा तक बढ़ गया है कि अब उनका उस कल्चर से लौटना अत्यंत जटिल हो गया है। हाई प्रोफाइल एवं फैशनेबल बनकर उच्चतम वर्ग में अपना स्थान बनाने की एक घिनौनी प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो गई है। कहाँ जाकर थमेगी यह प्रतिस्पर्धा कुछ कहा नहीं जा सकता है।

मोबाइल की सुविधा ने तो कम उम्र किशोर-किशोरियों के लिए चरित्र पतन का मार्ग इस कदर अत्यंत सुगम बना दिया है कि नन्हीं उम्र की किशोरियाँ सैक्स को फैशन समझने लगी है और उन्हें अपने बड़े-बुजुर्गों से इसमें कोई संकोच शर्म का भाव ही नहीं रहा। ये नन्हीं किशोरियाँ हेण्ड ग्लब्स एवं स्कार्फ पहनकर अपने माता-पिता ही नहीं पूरी जनता की आँखों में खुलेआम धूल झोंककर जीवन को पतन की खाई में गिराने की ओर बड़ी तेजी से बढ़ रही है। यह चारित्रिक पतन इस भयावह स्थिति तक पहुँच गया है कि क्लब एवं पब्स की संस्कृति में जीने में माँ-बाप भी अंधे होकर अपनी बेटियों को खुली छूट ही नहीं देते उन्हें प्रोत्साहित भी करते हैं। यह आग उच्च वर्ग से फिसलती हुई मध्यम वर्ग को भी लपेटे में ले चुकी है और सम्पूर्ण चरित्र प्रधान भारतीय संस्कृति को भस्मसात करने को तत्पर है।

सर्वाधिक खेद का विषय तो यह है कि पूरी भारतीय संस्कृति की अस्मिता को भस्मपात कर देने वाले इस दावानल को सभी राजनेता, बुद्धिजीवी एवं धर्मनेता अपनी खुली आँखों से देख रहे हैं और समझ भी रहे हैं कि चारित्रिक पतन का यह दावानल इतना भयावह है कि एक दिन यह सभ्यता-संस्कृति और धर्म को ही नहीं पूरी मानव जाति को ही भस्मीभूत कर देगा किन्तु समाधान कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा है।

यह नग्न सत्य है कि प्राकृतिक आपदाएं या दूषित पर्यावरण जितना हानिकारक नहीं होता उतना

चारित्रिक पतन से होने वाला भाव प्रदूषण प्रभावकारी होता है। इतिहास साक्षी है कि जिन राजाओं को जीतना कठिन होता था उन्हें विषकन्याओं अथवा अप्सराओं के द्वारा पराजित कर दिया जाता था। भावों की विकृति के द्वारा ही ऋषि-महर्षियों को तपोभ्रष्ट कर दिया जाता था। जब तक चरित्र सुरक्षित है, सभ्यता-संस्कृति, धर्म और राष्ट्र सुरक्षित है। चरित्र की शक्ति ऐसी अमोघ शक्ति है कि जिसकी तुलना अन्य किसी शक्ति से नहीं की जा सकती है।

बड़ी-बड़ी शक्तियों से अजेय बने रहे एक छोटे-से देश स्पार्टा के एक सैनिक से किसी दूसरे देश के सैनिक ने पूछा-'यदि आपके देश में कोई व्यभिचार का सेवन कर ले तो उसे क्या सजा दी जाती है?'

स्पार्टा के सैनिक ने कहा-'उसका वह बैल छीन लिया जाता है जिसकी पूंछ एक पर्वत पर हो और मुंह दूसरे पर्वत पर।'

सैनिक ने कहा-'ऐसा बैल तो हो ही नहीं सकता है, आप ऐसी असम्भ बात कैसे कर रहे हैं?'

स्पार्टा के सैनिक ने कहा- 'ऐसा बैल असंभव है तो स्पार्टा में व्यभिचार भी असंभव है।'

स्पार्टा की अजेयता का मुख्य कारण था उसकी चरित्र निष्ठा। जहाँ के नागरिक चरित्रनिष्ठ होते हैं वहाँ के वायुमण्डल में भावात्मक वर्तुल बन जाता है। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि जिस देश के पास अपना चारित्र हो, जहाँ का हर व्यक्ति चारित्रनिष्ठ, ओनेस्ट (Honest) सही अर्थों में धार्मिक एवं देशभक्त हो उस देश पर अणु-आयुध आदि किसी भी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र प्रभावी नहीं हो सकते। वहाँ का सम्पूर्ण वायुमण्डल ही प्रबलतम ऊर्जा का संवाहक हो जाता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक ही नहीं वैज्ञानिक तथ्य है कि जहाँ एक शक्ति प्रबलतम रूप में प्रभावी हो जाती है, वहाँ उसकी विरोधी शक्ति टिक ही नहीं सकती है। महर्षि पतंजलि का तो स्पष्ट उद्घोष है कि 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर भाव विस्मृत हो जाता है। हम देखते हैं तीर्थंकरों, ऋषि-महर्षियों की सन्निधि में शेर, गाय और बकरी, सर्प और नकुल जन्म-जात वैर को विस्मृत कर एक साथ बैठे रहते हैं, क्योंकि उन महापुरुषों के चारों ओर पूर्ण अहिंसा का वर्तुल होता है।

ठीक इसी प्रकार चूँकि चरित्र भी अहिंसा का ही एक अंग है, अतः चरित्र की जहाँ प्रतिष्ठा होगी वहाँ उसका विरोधी तत्त्व व्यभिचार नहीं होगा और जहाँ व्यभिचार नहीं होगा वहाँ अनाचार, अत्याचार, द्वंद्व-संघर्ष, युद्ध-लड़ाई को कोई अवकाश प्राप्त हो ही नहीं सकता है। फिर वह देश अजेय कैसे नहीं बनेगा?

मध्याह्न के दिव्य दिवाकर की तरह स्पष्ट यथार्थ होते हुए भी विचारणीय है कि यह तथ्य बुद्धिजीवियों या देश के पुरोधाओं की समझ में क्यों नहीं आ रहा है? क्यों वे स्वयं पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के पिछलग्गू बने हुए हैं? संपूर्ण सभ्यता या संस्कृति को ही नहीं संपूर्ण राष्ट्रीय अस्मिता

एवं मानव जाति के मूल उद्देश्य को भस्मसात करने वाली चारित्रिक पतन पर क्यों आँख मिचौली किए बैठे हैं? यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

इसका समाधान बुद्धिजीवियों अथवा शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों से मिल पाना अत्यंत कठिन है। समाधान दे सकते हैं केवल अध्यात्म साधक धर्म संघ के पुरोधा आचार्यगण। किन्तु उधर से भी ऐसी कोई सशक्त पहल दृष्टिगत नहीं होती। लगभग सभी का ध्यान अपने-अपने धर्म संगठन को सुदृढ़ करने की दिशा में ही नियोजित है। जबकि यह आज की ज्वलंत समस्या है और इस दशा में सशक्त आमूलचूल परिवर्तन की क्रांति प्रारंभ होनी चाहिए।

चरित्रोन्नयन की एक सकारात्मक एवं सशक्त पहल अपने सशक्त एवं सचोट लेखन के माध्यम से कर रहे हैं महामहिम प्रज्ञानिधि चरित्र पुरुष आचार्य श्री विजयराज जी म.सा. चूँकि आचार्य श्री विजयराज जी म.सा. स्वयं अनवरत चरित्र पर्याय में रमण करने वाले साधक पुरुष हैं। चरित्र उनका जीवन है, चरित्र उनकी साधना है, चरित्र उनकी आत्मा है और चरित्र की परिपूर्णता उनका चरम साध्य है। चूँकि वे स्वयं चरित्र पुरुष, नवनवोन्मेषी प्रज्ञा के धारक, तेजस्वी प्रभावक, महामनीषी, आत्म साधक होते हुए भी वे एक धर्माचार्य हैं। आचार्य होने के नाते वे समाज व जगत के प्रति अपने कर्त्तव्य बोध के प्रति सजग हैं अतः देश व समाज की वर्तमान स्थिति पर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक है। समाज व देश की चारित्रिक पतन की तात्कालिक स्थिति को देखकर एक आचार्य के हृदय का अनुकम्पित होना सहज प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया का प्रतिफलन है प्रस्तुत ग्रंथ। यह ग्रंथ राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की एक ठोस भूमिका को प्रस्तुत करता ही है, साथ ही उसके लिए क्रांति का शंखनाद भी करता है। बाल, युवा, महिला एवं प्रौढ़ वर्ग का चरित्र कैसा होना चाहिए, उसकी जीवनशैली कैसी होनी चाहिए, उसके जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए एवं उसका समूचा आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिए इसकी विशद् विवेचना प्रस्तुत ग्रंथ की विषय वस्तु है।

आचार्य श्री विजयराज जी म.सा. एक विशाल संघ के सुयोग्य आचार्य होने के साथ ही अन्य अनेक मानवीय संवेदनात्मक सद्गुणों के कोष भी हैं। वे सुमधुर गायक, मृदुल गीतकार, सहृदय कवि, सरस कथाकार एवं भाव प्रवण ओजस्वी व्याख्याता भी हैं। उनकी वाणी में मृदुता के साथ ओजपूर्ण सशक्तता है तो उनके व्यवहार में भी आत्मीयता के साथ अनुशासन में कठोरता भी है। वे कोमल हृदयी प्रखर वाग्मी हैं। उनकी वाणी में श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर बांधे रखने की कशिश है। एक बार जो आप से जुड़ता है वह आपका ही बनता जाता है ऐसा आपका आभामण्डल है। आपके व्यक्तित्व में ओज-तेज के साथ चुम्बकीय आकर्षण है।

आप स्वयं चरित्र साधना के पथिक एवं पुरोधा हैं अतः आपके द्वारा प्रस्तुत चरित्र निर्माण का यह उद्घोष अवश्य प्रभावी होगा और समाज और देश को ही नहीं वरन् संपूर्ण जगत को एक नूतन सशक्त क्रांतिकारी दिशा प्रदान करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

चरित्र निर्माण की दिशा में ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण उपयोगिता-भूमिका को हम ग्रंथ के आधार पर

देखने-जानने का प्रयास करें।

चरित्र निर्माण की भूमिका को सशक्त बनाने की दिशा में संकेत करते हुए ग्रंथकार कह रहे हैं-

'हम ऐसी चिनगारी बन सकते हैं जिससे असत्, अशुद्ध एवं अशुभ के ढेर को जला कर नष्ट कर सकें। वास्तव में चिनगारी का ही महत्त्व है। छोटे-छोटे प्रयास जितने महत्त्वपूर्ण हैं, उतना महत्त्व बड़े प्रयास का नहीं होता। ज्वालाएँ एक साथ भभकती हैं और सबको भस्मीभूत कर देती हैं। हाँ, चिनगारी भी यही जलाने का ही काम करती है, लेकिन ताकत में अंतर है। ज्यादा ताकतवर जल्दी ही निरुत्साहित हो जाता है, परन्तु चिनगारी भले ही कम ताकतवर हो, पर जलती ही रहेगी और ऐसा काम करेगी जो ज्वाला नहीं कर पाती। फिर ये चिनगारियाँ एक साथ समूह में ही उछलती और काम करती हैं। वही चिनगारी हम बनें, जो हमारे भीतर में रहे हुए असत्, अशुद्ध एवं अशुभ के ढेर को जला सके, चारित्रिकता का उत्थान कर सके एवं बाहर के ऐसे ही ढेर को भी चरित्रबल के माध्यम से जलाकर सर्वत्र चरित्रनिष्ठा के सुखद वातावरण की रचना कर दे।'

युवा पीढ़ी के चरित्र पर एक सशक्त दृष्टि प्रदान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं-

'जब किसी विस्फोट से कोई इमारत ढह जाती है और उसकी नींव तक क्षतिग्रस्त हो जाती है तब इसके सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता कि उस इमारत का नव निर्माण नींव से किया जाए। ऐसी ही दुर्दशा हुई है नई पीढ़ी के चरित्र निर्माण की अब तक कि उसके खड़े होने की कोई ठोस जमीन उसके पैरों तले नहीं रही है और न ही उसकी अपनी पहचान की विशेषता उसके व्यक्तित्व में सफाई है। ऐसे में नई पीढ़ी के नींव से नव निर्माण की चर्चा उठाई जाए तो वह सभी दृष्टियों से उपयुक्त मानी जाएगी। लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि नई पीढ़ी का नव निर्माण ऐसा प्रभावशाली हो जो नए सत्कृति युग की पहचान बन जाए। ऐसे नव निर्माण के कुछ बुनियादी बिन्दु निर्धारित किए जाने चाहिए।'

संस्कारों पर एक दृष्टि क्षेप ग्रंथकार किस रूप में करते हैं, देखें-

'आज के अर्थ के अनर्थ को मिटाने के लिए जरूरी है कि प्राथमिक शिक्षा ही सत्संस्कारों के आरोपण से हो। बालक, किशोर और नवयुवक अपने अर्न्तहृदय में इस सत्य को स्थापित कर दें कि जीवन का उच्चतम विकास सत्संस्कारों के आधार पर ही साधा जा सकता है। यही सच्चा धन है। जो भौतिक धन, सम्पत्ति या सत्ता की बात है, वह कितनी भी आकर्षक लगे, पर अन्ततः वह चारित्रिक गुणों को नष्ट करने वाली ही सिद्ध होती है। अतः जीवन में सत्संस्कार, सद्व्यवहार एवं सहकार की त्रिवेणी बहती रहे यही सुख का मूल है।'

चरित्र एवं विवेक की समन्विति की उपलब्धि को ग्रंथकार ने बहुत सुंदर अभिव्यक्ति दी है-

'चरित्र और विवेक जब एक रूप हो जाते हैं तब तो प्राप्त शक्ति का कहना ही क्या? उसका सदुपयोग ही नहीं होगा, बल्कि उस शक्ति का ऐसा अपूर्व विकास होगा कि वह व्यक्ति को न केवल

शुभता या संयोग ही मिलाएगी, बल्कि उसे उन संयोगों के संरक्षण का सामर्थ्य भी प्रदान करेगी। संयोग किसे कहें? संयोग शब्द योग से बना है और योग की एक व्याख्या यह भी है कि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराने वाला (अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः)। जिसे पाने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए हो, अनेक आकांक्षाएँ मन में उभरी हो, उस वस्तु का मिल जाना योग है अथवा कभी आकस्मिक रूप से बिना प्रयत्न के अनचाहे ही किसी वस्तु का मिल जाना भी योग ही है। ऐसा योग प्रत्येक प्राणी को मिलता रहता है। जो प्राणी जहाँ पर है, उसी गति-स्थिति के अनुसार उसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मिलते रहते हैं। लेकिन कोरे संयोग का कोई अर्थ नहीं, जो अर्थ है वह सुयोग का है। इस सुयोग को संरक्षण की आवश्यकता होती है, क्योंकि सुयोग के रहते कठिन से कठिन कार्य भी उतने कठिन नहीं रहते। सुयोग से प्राप्त गुण या वस्तु के यथोचित उपयोग का अवसर बना रहता है। संयोग से सुयोग श्रेष्ठ है किन्तु इस सुयोग से भी अधिक श्रेष्ठ है उसका संरक्षण तथा उसका सर्वजन हितकारी उपयोग।'

इस प्रकार चरित्रोन्नयन किंवा चरित्र निर्माण की दिशा में एक सकारात्मक एवं विधेयात्मक चिंतन प्रस्तुत तक व्यक्तिगत चरित्रोन्नयन से लेकर राष्ट्रीय एवं वैश्विक चरित्रोन्नयन के बीहड़तम पथ को अतीव सुगम बना देने का महत्तम कार्य करता है। प्रस्तुत ग्रंथ एक ऐसा दस्तावेज है जो संपूर्ण विश्व की समस्याओं का समाधान कहा जा सकता है। आज विश्व जिस भयावह परिस्थितियों से गुजर रहा है ऐसी स्थिति में इस ग्रंथ की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है।

ग्रंथ की भाव-भाषा सशक्त प्रभावक होते हुए भी आबालवृद्धि के लिए सुबोध है। विषय वस्तु की गंभीरता भाषा को बोझिल नहीं बनाती है। संपूर्ण ग्रंथ में सकारात्मक चिंतन प्रस्तुत किया गया है। गंभीर चिंतन को इस तरह सहज शैली में प्रस्तुत किया गया है कि वह तार्किकता के चक्रव्यूह में उलझ कर केवल विद्वद् भोग्य ही नहीं रह जाए। चूँकि इस क्रांतिकारी आंदोलन में आमजन मानस की अहं भूमिका रही हुई है अतः भाषा को सहज प्रवाही रूप दिया गया है।

आवश्यकता इस बात की है कि यह क्रांतिकारी रूपांतरण जनसामान्य की सोच को बदल कर उसे चरित्र निर्माण की दिशा में प्रेरित करना किसी एक व्यक्ति के बूते का कार्य नहीं है। अपितु इसमें संपूर्ण प्रबुद्ध वर्ग की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए। अतः सभी आत्महितैषी समाज निर्माण में अपना अहो भावपूर्ण योगदान देने वाले एवं जीवन तथा जगत कल्याण की उदात्त भावना रखने वाले महामनीषियों का इस ओर दृष्टि न्यास हो। मुख्य तौर पर शैक्षणिक जगत एवं नैतिक चारित्रिक मूल्यों को प्रति स्थापित करने हेतु प्रतिबद्ध बौद्धिक एवं आध्यात्मिक वर्ग का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो और वे एक वृहत्त कार्य योजना बनाकर इस आंदोलन को महाक्रांति का रूप देकर नैतिक एवं चारित्रिक क्रांति के लिए अपनी सशक्त सक्रिय भूमिका अदा करे तथा प्रबुद्ध राजनेता भी अपनी ओर से भावपूर्ण सहयोग करें तो यह महाक्रांति असंस्कृति को समूल नष्ट करने में सक्षम हो सकती है।

❑❑❑

संपादकीय-विशेष

चरित्र निर्माण में मुख्य है समाज व्यवस्था भी

मनुष्य आज अकेला नहीं रहता। किसी न किसी प्रकार के समूह में ही वह रहता है। समूह का दूसरा नाम ही समाज है और अनेकानेक समाजों का समूह ही मानव समाज कहलाता है। समूह चाहे परिवार के रूप में सबसे छोटा घटक होता है तो संपूर्ण संसार के रूप में सबसे बड़ा घटक, किन्तु सामाजिकता मनुष्य जीवन की मुख्य भूमिका बन गई है। समाज शब्द का जो प्रयोग करते हैं, उसका निहितार्थ सम्पूर्ण मानव समाज से ही है, जिसमें नीचे से ऊपर तक के सारे संघों, संगठनों, संस्थाओं, विभिन्न स्तरों की शासकीय सरकारों तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों का समावेश हो जाता है।

आज विज्ञान के क्षेत्र में सूचना तकनीक इतनी विकसित हो गई है कि त्वरित सम्पर्क की दृष्टि से सारा संसार एक छोटे से गांव के समान घनिष्ठ हो गया है। आज चरित्र निर्माण या अन्य किसी संस्कार सुधार अभियान को विश्व स्तर तक पहुँचाना, चलाना और सफल बनाना कठिन भले हो, पर टेढ़ी खीर नहीं रहा है।

चरित्र निर्माण के संदर्भ में दो भिन्न-भिन्न दृश्यों की कल्पना करते हैं। पहला दृश्य है कि दो समान शक्ति एवं उत्साहसम्पन्न व्यक्तियों को एक से दूसरे निर्धारित स्थान तक दौड़ लगाते हुए गंतव्य तक पहुँचना है। किन्तु दोनों के लिए समान दूरी वाले अलग-अलग प्रकार के दो मार्ग हैं। एक है ऊबड़-खाबड़ और कांटों-भाटों से भरा हुआ दुर्गम मार्ग तो दूसरा सीधा, सपाट, समतल सड़क का मार्ग। दोनों अपने-अपने मार्ग पर दौड़ शुरू करते हैं, परन्तु परिणाम? पहला व्यक्ति थककर चूर और लहूलुहान होकर अधबीच में ही गिर जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति अल्पतम

समय में स्वस्थ गति और रीति से गंतव्य तक पहुँच जाता है। इसमें धरातल की अनुकूलता और प्रतिकूलता की भूमिका काम करती है।

इसी से मिलता-जुलता दूसरा दृश्य है। वही दौड़, वही गंतव्य और वे ही दोनों मार्ग, लेकिन व्यक्तियों की शक्ति तथा अशक्ति की भिन्नता। ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर दौड़ने वाले के पांव सबल, गति सन्नद्ध और उत्साह अत्यंत है। किन्तु समतल मार्ग पर दौड़ने वाले व्यक्ति के पांव पहले वाले से आधे भी सबल नहीं, गति मध्यम और उत्साह सामान्य है। दोनों दौड़ शुरू करते हैं अपने-अपने मार्गों पर, लेकिन होता क्या है? सबल पांवों वाला व्यक्ति लड़खड़ाता हुआ ही गंतव्य तक पहुँच पाता है, जबकि उससे बहुत पहले वह अशक्त व्यक्ति उसी गंतव्य पर खड़ा हुआ मिलता है। इसमें धरातल की दशा के अनुसार गति की स्थिति बनती है।

इन दोनों दृश्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गति-प्रगति में व्यक्ति की अपनी भूमिका से भी अधिक महत्त्व होता है उसके पांवों के नीचे के धरातल की स्थिति का। इससे समझ में आता है कि सही धरातल की पहली आवश्यकता है। मनुष्य जीवन में यह धरातल होता है समाज की व्यवस्था (सिस्टम) का, जिसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता व्यक्ति की गति पर तद्नुसार अपना प्रभाव डालती है।

यदि समाज व्यवस्था अनुकूल हो जाए, तब सबल व्यक्ति तो त्वरित गति से गंतव्य तक पहुँचेगा ही, परन्तु दुर्बल व्यक्ति भी मंद गति से ही सही, लेकिन प्रगति पथ पर आगे से आगे अवश्य ही बढ़ता रह सकेगा। वास्तव में सुचारु समाज व्यवस्था का लाभ उन बहुसंख्यक लोगों को मिलेगा, जिनके विकास पर ही सामाजिक विकास का स्वरूप ढलता है। जन-जन के चरित्र निर्माण तथा जीवन विकास के लिए दोहरे सम्बल की जरूरत पड़ती है। मूल सम्बल व्यक्ति के अपने बल का तो होता ही है, लेकिन व्यवस्था का बल भी साथ रहे तो दुर्बल व्यक्तियों के लिए भी मंजिल आसान हो सकती है।

आज जन-जन के चरित्र निर्माण और जीवन के स्वस्थ विकास के लिए समाज-व्यवस्था प्रतिकूल है। यह सब जानते और महसूस करते हैं। व्यवस्था शासन-प्रशासन की अर्थनीति और राजनीति की या व्यापार-वाणिज्य व्यवस्था की दिखती है कि सब ओर भ्रष्टाचार व्याप्त है। सदाचार का चलन होता है तो समाज व्यवस्था सुचारु और जन-जन के हितों के अनुकूल रहती है, किन्तु सब ओर भ्रष्टाचार फैले रहने पर वह निहित-स्वार्थी वर्गों के लिए ही फायदेमंद रह जाती है। ऐसी भ्रष्ट व्यवस्था के कुप्रभाव से संघ, धर्म, नीति, अध्यात्म के क्षेत्र भी बच नहीं पाते हैं, वहाँ भी धर्म के स्थान पर धन प्रधान हो जाता है और राजनीति अपने खेल खेलती है। आज की ऐसी प्रतिकूलता का असर है कि सामाजिक धरातल एकदम ऊबड़-खाबड़ और काँटों-भाटों से भरा है, जहाँ दुर्बल की कोई गति नहीं और हजार सबलों में भी विरला ही सबकुछ निछावर करके मंजिल की ओर बढ़ पाता है। ऐसे में यदि व्यवस्था का क्रम बदले, उसमें भ्रष्टता के स्थान पर शिष्ट सच्चाई फैले, सदाचार पनपे,

मानवीय आचार ढले, नीति व धर्म का प्रवेश हो तथा उच्चतर चरित्र का निर्माण हो तो सारी प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल बन सकती हैं और सामान्य जन भी चरित्रशील बन कर अपना जीवन विकास सुगमतापूर्वक कर सकता है।

यह भी सत्य है कि आज जन भावनाओं में क्रांतिकारी बदलाव आ रहा है और जनमत की प्रबलता के अनुसार भ्रष्ट व्यवस्था भी जनहित के कार्य करने के लिए विवश होने लगी है। जैसे, मुंबई में बहुमंजिली ईमारतें बनी और उनके साथ ही कच्ची बस्तियाँ और झोपड़पट्टियाँ भी फैली। इसका आम आदमियों द्वारा सख्त विरोध हुआ तो अब झोपड़पट्टियों वालों के लिए भी व्यवस्थित मकान बन रहे हैं। इसी प्रकार जन-बल के अनुसार समस्याएँ सुलझने लगी हैं।

यह अकल्पनीय है कि सारे मानव समाज में सभी मानव चरित्र निर्माण के शीर्ष पर पहुँच जाएं या कि सभी चरित्रहीनता के पतन में गिर जाएं। चरित्रहीनता और चरित्रशीलता के बीच निरन्तर संघर्ष चलता है। यह संघर्ष चलाते हैं प्रबुद्ध वर्गों के सदस्य, जैसे साधु-संत, उपदेशक, प्रचारक, भावनाशील पुरुष आदि। इनके सत्प्रयासों से चरित्र निर्माण का स्तर प्रोन्नत होता है, चरित्रहीनों में चरित्र गठन की प्रवृत्ति पनपती है और अधिसंख्य व्यक्ति चरित्रनिष्ठ बनते हैं। परिणाम स्वरूप बुराईयों की ताकतें कमजोर पड़ती हैं और चरित्रशील व्यक्तियों का संख्या बल एवं चरित्र बल दोनों बढ़ते हैं तथा समाज व्यवस्था सुचारु बनती है।

वस्तुतः किसी भी चरित्र निर्माण अभियान या आंदोलन का लक्ष्य यही होना चाहिए कि बुराई के विरुद्ध अच्छाई का संघर्ष सफल होता रहे और बुराई का अनुपात घटता रहे-अच्छाई का अनुपात बढ़ता रहे। आशय यह है कि दुष्चरित्रता के विरुद्ध सच्चरित्रता का प्रभाव कई गुना बढ़ जाए। उदाहरण के लिए मानें कि आज चरित्रहीनता और चरित्रशीलता का अनुपात 7 : 3 का है तो लक्ष्य यह बनना चाहिए कि यह अनुपात उलट दें याने अनुपात 3 : 7 का बन जाए तथा इससे ऊपर जाने का प्रयत्न जारी रखा जाए। चरित्रहीनता का सर्वथा उन्मूलन शक्य नहीं। शक्य यही है कि चरित्रशीलता का विस्तार चरित्र निर्माण अभियान के माध्यम से 70 प्रतिशत तक पहुँचे। इस अभियान के नेता और कार्यकर्ता इस अभियान को कभी सम्पन्न न मानें और प्रयत्नरत बने रहें। फलस्वरूप चरित्रशीलता की शक्ति बढ़ती रहेगी जो व्यक्ति और व्यवस्था दोनों को परिमार्जित करती रहेगी। बहुमत चरित्र निर्माण के समर्थन एवं सहयोग में खड़ा हो जाएगा।

प्रस्तुत ग्रंथ "चरित्र निर्माण : एक विजय अभियान" के प्रणेता आचार्य श्री विजयराजजी म.सा. हैं, जिनकी प्रेरणा से चरित्र निर्माण के पक्ष में अद्‌भुत वैचारिक क्रांति घटित हो रही है। जनमत बन रहा है कि बिना चरित्र निर्माण के इस मानव जीवन का कोई महत्त्व नहीं और सारा भौतिक निर्माण तथा विज्ञान-विकास भी व्यर्थ है। चरित्र निर्माण के प्रश्न पर आचार्य श्री का मत है कि चरित्रशील बनने के लिए जन-जन का मनोबल उभरना चाहिए, किन्तु साथ ही समाज का संबल भी मिलना चाहिए। वही बात है कि पांव मजबूत या कुछ कमजोर भी रहें, तब भी यदि धरातल सीधा-समतल

रहेगा तो सभी पांव अपने-अपने बल के अनुसार विकास के पथ पर प्रगति करते रह सकेंगे। धरातल है समाज का सामूहिक वातावरण और प्रबंध जो बनता और ढलता है समाज में स्थापित व्यवस्था की सुघड़ता से। यदि व्यवस्था अनुकूल हो तो सभी व्यक्ति प्रगतिशील बन सकते हैं। गति किन्हीं की तीव्र हो या किन्हीं की मंद, परन्तु चरित्र निर्माण की दिशा में चलना सबको आवश्यक है। चलते-चलते एक को दूसरे का सहयोग मिलता रहेगा और सर्व-विकास सार्थक होता जाएगा।

इस ग्रंथ का प्रमुख लक्ष्य यही है कि व्यक्ति को समाज से और समाज को व्यक्ति से ऐसा संबल मिलते रहने की जीवनशैली विकसित हो जाए कि चरित्र निर्माण से चरित्र सम्पन्नता का अनुक्रम अक्षुण्ण बना रहे। इस ग्रंथ का सम्पादन करने का सौभाग्य मुझे मिला है और मेरा सम्पूर्ण प्रयास रहा है कि आचार्य श्री के भाव सामान्य जन के मन-मानस तक पहुँचे, जो उन्हें चरित्र निर्माण के लिए प्रबोधित कर सकें।

सार की बात दो टूक शब्दों में यह है कि आज के भ्रष्ट आर्थिक युग में व्यक्ति को भी बदलना होगा और व्यवस्था को भी, ताकि सभी क्षेत्रों में लाभ का लोभ घटे और विषमता का रोग मिटे। अतः चरित्र निर्माण अभियान को सशक्त और सफल बनाना होगा। युवा पीढ़ी इस अभियान का नेतृत्व संभाले कि मुरझाए फूल खिल सकें, बुझे दीपक फिर से जल सकें और आंसू बहाते चेहरे मुस्कुरा सकें। अभियान की दिन दुगुनी-रात चौगुनी उन्नति की शुभकामना के साथ...

29.7.2007

शांतिचन्द्र मेहता
ए-4, कुंभानगर, चित्तौड़गढ़

स्वकीयं

अशांति, अराजकता, अविश्वास और अविवेक पूर्ण माहौल में शांति, सुव्यवस्था, विश्वास और विवेक की सृष्टि का निर्माण कोई कर सकता है तो वह मानव चरित्र ही कर सकता है।

चरित्र शब्द से हम मानव के उन उत्तम विचारों को, उदात्त व्यवहारों को तथा उज्ज्वल विचारों को ग्रहण करते हैं जिसमें न केवल उन मानवों का बल्कि समस्त चराचर जीव सृष्टि का लोक मंगल, लोक मैत्री और लोक हित का भाव सन्निहित है। चरित्र की शक्ति का अंदाज लगाना हमारे बलबूते की बात नहीं है, चरित्र ही मानव को महामानव बनाता है। जिसका चरित्र जितना पवित्र और निष्कलंक है वह मानव धरती का कल्पवृक्ष है, चिंतामणी रत्न है। चरित्र के सद्भाव से ही समग्र मानवीय सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है। चरित्र की दिव्यता को इसी से पहचाना जा सकता है कि जितने भी महान विचारक, लेखक, चिंतक एवं महापुरुष हुए हैं उन सबने चरित्र को जीवन की सर्वोच्च ऊँचाईयों को प्राप्त करने का सशक्त माध्यम बतलाया है।

महाकवि माघ कहते हैं-दुर्बल चरित्र का व्यक्ति उस सरकण्डे के जैसा है जो हवा के हर झोंके के साथ झुक जाता है। यानि चारित्रिक दुर्बलता सबसे बड़ी दुर्बलता है जो जरा-सी प्रतिकूलता में क्षत-विक्षत हो जाती है और जो चरित्र में सुदृढ़ होते हैं वे आंधी और तूफानों के बीच भी अपने फौलादी व्यक्तित्व को स्थिर बनाए रखते हैं।

मुंशी प्रेमचंद कहते हैं-"चरित्र का जो मूल्य है वह और किसी वस्तु का नहीं। सही है-चरित्र से बढ़कर क्या हो सकता है? चरित्र ही सर्वस्व है-सर्वोपरि है और चरित्र सम्पन्न व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न होता है।"

डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं-"हम जिस चरित्र का निर्माण करते हैं वह हमारे साथ भविष्य में भी रहेगा जब तक कि हम ईश्वर का साक्षात्कार कर उसमें लीन नहीं हो जाते। ईश्वरत्व की प्राप्ति और उसमें लीनता बिना चरित्र के नहीं हो सकती। चरित्र ही चिंतन और चित्त का निर्माता है। चरित्र है तो सबकुछ है नहीं तो कुछ नहीं।"

सर वाल्टेयर कहते हैं-"चरित्र ऐसा हीरा है जो अन्य सभी पाषाण खंडों को काट देता है।" वास्तव में चरित्र की जो शक्ति है वह अचिंत्य है। अज्ञान, मोह, प्रमाद, कषाय के पाषाण खंडों को भेदने की शक्ति एकमात्र चरित्र रूपी हीरे में रही है, इसे आजमाया जाए तो हम इसकी शक्ति से परिचित हो सकते हैं। इसी संदर्भ में हर्बर्ट कहते हैं-"चरित्र दो वस्तुओं से बनता है-आपकी विचारधारा से और आपके समय बिताने के ढंग से।" हर्बर्ट की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि मानव की विचारधारा ही उसके चरित्र का निर्माण करती है। विचार जितने उच्च, उन्नत और उज्ज्वल होंगे आचार-व्यवहार भी वैसे ही उदार, विशाल और व्यापक होंगे। विचारों की छाप ही तो आचार-व्यवहार पर पड़ती है। इस संदर्भ में महात्मा गांधी कहा करते थे कि मनुष्य की महानता उसके कपड़ों से नहीं अपितु उसके चरित्र से आंकी जाती है। कितनी सुंदर बात है, कपड़े कितने भी उजले क्यों न हो मगर व्यक्ति का चरित्र उजला नहीं है तो उसे कोई भी बुद्धिमान, महान् नहीं कह सकता। महानता वेश, परिवेश, देश या अन्य अशेष साधन-सामग्रियों से नहीं आंकी जाती है। महानता का अंकन और मूल्यांकन व्यक्ति के चरित्र से ही होता है। चरित्र का समग्र विकास हो इस दृष्टि से समय-समय पर भारतीय व भारतीयेतर मनीषी-मनीषा ने अपने उदात्त विचार व्यक्त किए हैं जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं।

इस चरित्र निर्माण की उदात्त परिकल्पना का उदय और अभ्युदय सन् 1998 के चितौड़गढ़ चातुर्मास में हुई। उस समय जिनशासन विभूति महाश्रमणी रत्ना महासती श्री नानूकंवर जी म.सा. व विद्वान् श्री शांतिचन्द्र जी मेहता सा. के समक्ष रूप रेखाएँ तैयार हुई। लेखन सामग्री, संकलन-सम्पादन, संयोजन का क्रम निरन्तर चलता रहा, विहारादि की व्यस्तताओं में जितनी त्वरितता रहनी चाहिए वो नहीं रह पाई। फिर भी संघ के पदाधिकारियों-कार्यकर्त्ताओं का आग्रह बना रहा कि चरित्र निर्माण संबंधी साहित्य सामग्री तैयार होती रहे। श्रीमान मेहता सा. के अथक प्रयासों तथा सुझावों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इस ग्रंथ के पूर्व लघु संस्करण के रूप में "**किं चरित्रम्**" ग्रंथ समाज के सामने आया उसका ही वृहद रूप "**सुचरित्रम्**" के रूप में आपके सामने है। मुनि-मर्यादाओं के अन्तर्गत रहकर जो कुछ लेखन-संयोजन हुआ है उसमें सिद्धांत विरुद्ध कुछ आया हो तो 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' और मात्र गिरते चारित्रिक मूल्यों का जागरण, स्थिरीकरण और सशक्तिकरण हो यही एकमात्र अभीप्सा है।

सुज्ञेषु किं बहुना।

- आचार्य विजयराज

सद्भावना के साथ.....

सुचरित्र के अभाव में
खा रहे अंधकार में
जो ठोकरें और टक्करें
और
जो अहं और आग्रह में उलझ रहे हैं.....
विवाद और विषाद में फंसे हुए हैं.....
अशांति और असमाधि के चक्रव्यूह से
निकल नहीं पा रहे हैं....
उन थके, हारे, बेसहारे पथिकों को.....
जो चाहते हैं शांति.....
जो चाहते हैं शक्ति.....
जो चाहते हैं सफलता.....
वे पाएं सुचरित्रं से शांति
वे पाएं सुचरित्रं से शक्ति
वे पाएं सुचरित्रं की सफलता।
तो सार्थक होगा
यह प्रयास हमारा
सफल होगा
यह विश्वास हमारा
और सम्यग् होगा
यह प्रकाश हमारा
इन्हीं सद्भावना और
शुभकामनाओं
के साथ!

- आचार्य विजयराज

अनुक्रमणिका

1. **रहस्यों, संभावनाओं तथा प्रत्यक्ष उपलब्धियों से भरा है यह संसार!** 1
- क्यों जानना चाहते रहे हैं सब संसार के छिपे हुए रहस्यों को? 3
- चरित्र की चमक से चमचमाते व्यक्तित्व आग में से होकर निकलते हैं! 4
- संसार के रहस्यों को भेदने की जिज्ञासा का रोमांच। 5
- उभरती हुई चरित्रशीलता के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ। 6
- रहस्य, जिज्ञासा एवं साधना के साहसिक चरण। 7
- रहस्योद्घाटन हेतु प्रयास, दृढ़ता एवं इच्छाशक्ति का मनोविज्ञान। 8
- चरित्र सम्पन्नता के तीन चरण माप सकते हैं पूरे संसार को। 9
- परन्तु पहले इस संसार को तो समझिए कि वह है क्या और कैसा है? 9
- क्या संसार और सांसारिकता में भेद करना जरूरी नहीं? 11
- संसार अर्थात् मनुष्य लोक नहीं, क्योंकि संसार में तो चारों गति के जीव हैं? 12
- यह संसार चरित्रशील पुरुषों को ललकारता रहा है, आज भी ललकार रहा है। 13
- सच्ची उपलब्धियाँ वे ही हैं जो ज्ञान-विज्ञान के नए द्वार खोलती है। 14
- ज्ञानियों एवं दार्शनिकों की गूढ़ दृष्टि ने दिखाई आध्यात्मिक राहें। 15
- वैज्ञानिकों की भौतिक उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक रही हैं। 16
- सच में यह संसार बहुविध चरित्र का ही विशाल रंगमंच है। 16
- चरित्र ही बनाता है बिम्ब, छवियाँ और महान विभूतियाँ। 17
- संसार एवं चरित्रबल सदा एकीभूत रहे हैं और रहेंगे, तभी संसार चलेगा। 18

2. **विश्व रचना, व्यवस्था का परिदृश्य एवं संतुलन की सुई** 21
- दो तत्त्वों की सत्ता के आधार पर ही रचित एवं संचालित है विश्व। 23
- उपयोग लक्षण है जीव का, जो कभी अजीव नहीं होता। 24
- सूक्ष्म जीवों की संवेदनशीलता एवं उनके संरक्षण से मानवीय गुणों का विकास। 25
- इस धरती का रक्षा कवच है पर्यावरण, अत: रक्षणीया है प्रकृति। 27
- व्यक्ति ही है सकल विश्व एवं उसकी समस्त व्यवस्था की धुरी। 28
- व्यक्ति, विश्व एवं अनेकानेक संगठनों की गत्यात्मक कार्यप्रणाली। 29
- शांति तथा सहयोग का मार्ग है मुक्त सम्पर्क, स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र 30
- प्रतिबंधित सम्पर्क सूत्र फैलाते हैं ग़लत समझ, कटुता, वैर और हिंसा। 31
- व्यक्तिगत जीवन के अनेक पक्ष तथा संतुलन की सुई व्यक्ति के हाथ। 31
- तभी तो दिखते हैं प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने सूर्यमुखी और अपने-अपने केक्टस। 32
- व्यक्ति को ही पहले अपने भीतर बैठे विकारों के राक्षस से लड़ना होगा। 33
- विश्व एवं व्यक्ति के बीच जितना अधिक सामंजस्य, व्यवस्था उतनी ही सुचारू। 33

3. **मनुष्य ही है समस्त व्यवस्था का सूत्रधार, संचालक एवं संवर्धक** 35
- मानव तन एवं जीवन की सार्थकता है मानवता को आत्मसात् करने में 36

- आप किस प्रकार के मानव बनना पसंद करेंगे? 38
- मन से ही मनुष्य है जो वरदान भी है तो अभिशाप भी बन सकता है 38
- मन की गति को रोकिए नहीं, गति को गंतव्य की ओर बढ़ाइए 39
- मानव-मन में चलता रहता है देवासुर संग्राम पल-प्रतिपल 40
- चरित्र सम्पन्न व्यक्तित्व ही मन को नियंत्रित, प्रेरित एवं समुन्नत बनाता है 42
- सधे हुए मन के साथ मनुष्य व्यवस्था के एक-एक सूत्र को साध लेता है 43
- मनुष्य धर्म को धारण करके ही व्यवस्था का संचालन करे 44
- सामाजिक समरसता के योग से मनुष्य द्वारा व्यवस्था का संवर्धन 45
- विश्व-व्यवस्था एवं मानवता का हित एक-दूसरे के पूरक बनें 46
- अपनी मनुष्यता को पहचानें तथा सम्पूर्ण मानव जाति को एक मानकर चलें 47

4. ज्ञान विज्ञान का विकास एवं सामाजिक जीवन की गति 50

- संसार एक विशाल शिक्षालय है, ज्ञान का प्रकाश फैला पूर्व के सूर्य से 52
- गूढ़ ज्ञान से उपजे दार्शनिक चिंतन ने भारत को 'विश्वगुरु' का मान दिलाया 53
- ज्ञान-दर्शन विकास की पृष्ठभूमि में मानव का सामाजिक विकास 55
- ऋषियों, तीर्थंकरों, बुद्धों, गुरुओं, पैगम्बरों ने किया धर्म सिद्धांतों का निरूपण 55
- दार्शनिक परम्परा, तात्त्विक चिन्तन आदि से होता रहा विचार मंथन 57
- भौतिक विज्ञान की प्रगति युग परिवर्तनकारी सिद्ध हुई है 58
- ज्ञान-विज्ञान के विकास का सामाजिक गतिक्रम के साथ तालमेल नहीं 61
- संबंधों का जाल होता है समाज, जिसमें संबंधों का संकट गहराता रहा 62
- सामाजिक संबंधों के सम्यक् निर्वाह हेतु चरित्र गठन परमावश्यक 63

5. अब तक के विकास का पोस्टमार्टम अर्थात् मानव जीवन के यथार्थ की खोज 64

- समझिए चार कोणों की बात और मानव जीवन की यथार्थता का रहस्य 66
- अब तक के विकास का पोस्टमार्टम तथा उसका उजला पक्ष 67
- सामाजिक एवं मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति जागी है, प्रखर बनी है 69
- विज्ञान विकास से वैचारिकता बनी है तो विश्व एकता की निष्ठा बढ़ी है 69
- जब चरित्र गिरता है तब अच्छाई भी बुराई का साधन बना दी जाती है 70
- सामाजिक जीवन के पिछड़ेपन से अभावग्रस्तता एवं चेतना-शून्यता 71
- शास्त्रों को बना दिया शस्त्र और समाज व धर्म हो गए स्वार्थों के अखाड़े 71
- विज्ञान सत्ता के भूखे भेड़ियों की दाढ़ों में जा फंसा और खून उगलने लगा 72
- ज्ञान-विज्ञान के दुरुपयोग से उपजी है घृणा, स्वार्थवादिता, कटुता और हिंसा 73
- पोस्ट-मार्टम के बाद समझे कि जीवन के यथार्थ को कहां व कैसे खोजें? 74
- यथार्थ मिलेगा मनुष्य के अपने ही भीतर और पथ दिखाएगा चरित्र 75

6. क्या विश्व की विकृत व्यवस्था मानवीय मूल्यों की मांग नहीं करती? 77

- मानव ने ही गढ़े-बिगाड़े और रचे-संवारे हैं मानवीय मूल्य 79
- आज के मानव जीवन को कसौटी पर चढ़ाने की बेला आ गई है 81

- अन्तर से आवाज उठे--खोल मन, दरवाजा खोल 82
- विश्व तक की वर्तमान व्यवस्था विकृत है मानवीय मूल्यों के क्षरण से 83
- आचार हीनता आज के मानव की समस्या है तो उसका समाधान है सदाचार 84
- मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हेतु लक्ष्य बनावें आत्मोपलब्धि का 86
- मानवीय मूल्यों का निर्माण संभव होगा सत्य की भूमिका पर 87
- व्यक्ति की अपार इच्छाओं के नियंत्रण हेतु सामाजिक व्यवस्था भी चाहिए 87
- व्यवस्था की समूची प्रणाली अहिंसा पर आधारित की जाए 88
- अन्तर्बाह्य जीवन के सृजन से विकास का चक्र नित चलता रहे 89

7. **चरण चमत्कार से हो सकता है कैसा भी जीवन महिमा-मंडित** 92
- चरण बल प्राप्त होता है एक लम्बे अभ्यास एवं आयाम के पश्चात् 93
- चरण विधि, संस्कार की भूमिका एवं चरित्र गठन से व्यक्तित्व का निर्माण 94
- आज नए मानव का सृजन अपेक्षित है जो होगा चरित्र के निर्माण से 96
- चरित्र सम्पन्नता के पथ पर पुरुषार्थ चतुष्टय का योगदान 97
- चरण गति और चरण शक्ति समाज तथा संसार में नवप्राण फूंकेगी 98
- चरित्र की उत्कृष्टता की कसौटी है परमार्थ, परहित एवं लोक-कल्याण 99
- चरण गति ही व्यवस्था को परमार्थ से तथा क्रांति को आदर्श से जोड़ेगी 100
- चरण चमत्कार से ही बदलेगी दृष्टि और नई दिखाई देगी सृष्टि 101
- कितना ही निकृष्ट भी क्यों न हो, वह जीवन महिमा मंडित होगा चरण चमत्कार से 102
- तभी तो भव्य चरण कहते हैं-चलो, मजबूती से चलो और चलते रहो 104

8. **चरित्र एवं समानार्थ शब्दों की सरल सुबोध व्याख्या** 106
- चरित्र का शब्दार्थ, भावार्थ एवं उसकी सार्थकता का समग्र जीवन पर प्रभाव 108
- मूलतः चरित्र की यथार्थता है उसकी अशुभता से शुभता की ओर गति 109
- चरित्र के समानार्थक शब्दों का अन्तर्भाव एक, पर व्यवहार के रूप अनेक 110
- चरित्रशीलता गुण और कर्म के महल खड़े करती है नैतिकता की नींव पर 112
- क्यों बिखर जाता है चरित्रहीन व्यक्ति मिट्टी के एक ढेले की तरह? 113
- आध्यात्मिक जगत् में चरित्र या चारित्र की ऊँचाइयों की थाह लीजिए! 115
- अन्तर्वृत्ति एवं बाह्य प्रवृत्ति का दर्पण होता है चरित्र 117
- चरित्र की व्याख्या को समझें, उसका विश्लेषण करें और शुभता को अपनावें! 118

9. **मानव जीवन में आचार विज्ञान : सुख शांति का राजमार्ग** 119
- आचार भारतीय चिंतन का मूल केन्द्र और वही संस्कृति का प्राण 121
- मानव जीवन की लक्ष्य साधना का मूलाधार है आचार 122
- आचार विज्ञान का बहुआयामी स्वरूप : मूल्य एवं मूल्यांकन 123
- श्रमणाचार में आचार के उत्कृष्ट स्वरूप का दर्शन होता है! 125
- आचार विज्ञान के रसायन रूप हैं सर्व शुद्धाचारी पांच व्रत 127
- सभी धर्मों का सार-अहिंसा किन्तु वहाँ तक पहुँचने की समस्या 136

● आचरण का आधार जीवन का परम सुधार 137

10. रत्नत्रय का तृतीय रत्न कितना मौलिक, कितना मार्मिक? 139

● तीन रत्नों को पहिचानिये और उनका मोल आंकिए! 141

● जानो, मानो और करो की श्रृंखला में 'करो' का मौलिक महत्त्व 142

● ज्ञान और दर्शन की निष्ठा साकार रूप लेती है आचार की आराधना में 144

● आचार मीमांसा के आदिग्रंथ के एक अध्याय लोकसार का सार 145

● चरित्रशीलता के मार्ग पर चलिए और नए सच्चरित्र समाज की रचना कीजिए 149

11. विविधता में भी चरित्र की आत्मा एक और उसका लक्ष्य भी एक 150

● चरित्र प्रयोग के भाँति-भाँति के क्षेत्र परन्तु आन्तरिकता एक 152

● चरित्र का लक्ष्य भी एक है कि विकृतियाँ टूटें तथा समता भाव फूटे! 153

● समता को आरंभ और अन्त की कड़ी बनाओ : सदा सुख पाओ! 155

● सारे संसार को अपना घर मानो : बाहर युद्ध रोको, भीतर युद्ध लड़ो! 157

● चरित्र की आत्मा है-सम्पूर्ण मानव जाति की एकता 159

● विचार, आचार में समता और सर्वत्र समता ही चरित्र का ध्येय 160

12. संसार व समाज के कुशल प्रबंधन का एक ही आधार चरित्र 162

● प्रबंधन है आज का प्रश्न, समाधान और उद्देश्य भी 164

● प्रबंधन की कुशलता हेतु व्यावसायिकता पर्याप्त या भावनात्मकता भी जरूरी? 165

● चरित्र निष्ठा के बिना किसी भी प्रबंधन की सफलता संदिग्ध रहेगी 167

● कुशल प्रबंधन हेतु चरित्र गठन की प्राथमिक अनिवार्यता एवं विकास की क्रमिकता 167

● कुशल प्रबंधन के क्षेत्रों की पहचान करो तथा नई व्यवस्था की रूपरेखा बनाओ! 171

● संसार व समाज का कुशल प्रबंधन तथा अहिंसक जीवन शैली का माध्यम 173

13. मानव चरित्रशील बनेगा तो समग्र समाज सृजनशील 175

● देह स्वार्थी मानव क्षुद्र होता है, उसे विराटता की ओर ले जाता है समाज! 177

● व्यक्ति कर्म और सामाष्टिक कर्म: कर्म का सर्व सम्बद्ध स्वरूप 179

● चरित्र के प्रति निष्ठा एवं समर्पण व्यक्ति व समाज की जागृति के मुख्य बिन्दु 180

● आधुनिक युग की चरित्र सम्बन्धी दो विडम्बनाएँ 182

● व्यष्टि एवं समष्टि के संबंधों को नवीनता देने का प्रश्न 183

● मानव चेतना अदम्य है, अविजेय है और है सामाजिक सृजन की मौलिक धारा 185

14. चरित्र निर्माण का पारम्परिक प्रवाह एवं उसका सैद्धांतिक पक्ष 187

● सभ्यता, संस्कृति, धारणा, परम्परा एवं चरित्र निर्माण 189

● शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ चरित्र निर्माण की क्रमिकता 190

● परम्परा के प्रवाह में महापुरुषों का योगदान एवं चरित्र बल के चमत्कार 191

● चरित्र निर्माण में प्रार्थना की परम्परा का प्रभाव 193

● चरित्र निर्माण का केन्द्र है मानव और उसे सदा केन्द्र में ही रखना चाहिए 194

● चरित्र निर्माण का एवं उसका फलितार्थ सैद्धांतिक पक्ष 196

● चरित्र निर्माण का प्रवाह बाधित हो सकता है, अवरुद्ध कदापि नहीं 198

15. विभिन्न धर्मग्रंथों, वादों-विचारों में चरित्र निर्माण की अवधारणाएँ 199

● मनुष्य जाति की एकता पर स्थित है चरित्र निर्माण की मूल अवधारणा 201

● धर्म और समाज की परस्परता तथा चरित्र गठन पर बल 202

● विभिन्न धर्म ग्रंथों में वर्णित है उत्कृष्ट चारित्रिक गुण 204

● वादों-विचारों में चरित्र निर्माण के प्रश्न सुलझे भी, उलझे भी 206

● दोनों पहियों की असमानता में नहीं चलता है चरित्र का रथ 208

● चरित्र निर्माण है सबका साध्य 210

16. नैतिकता भरा आचरण ले जाता है सदाचार के मार्ग पर 211

● नैतिकता का वास्तविक स्वरूप तथा उसके दो पक्ष एवं दो रूप 213

● नैतिकता कर्त्तव्य-पालन भी तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय का आधार भी 215

● नैतिकता आचरण में उतरती है तो वह सदाचार के मार्ग पर ले जाती है 216

● स्व-स्वभाव रूप समत्व की प्राप्ति ही नैतिक जीवन का साध्य है 218

● नैतिक मानदंड दिखाते हैं नैतिक चेतना के विकास के स्तर 220

● नीतिशास्त्रीय नैतिकता एवं आधुनिक मनोविज्ञान का गहरा संबंध 222

● नैतिकता का अतिक्रमण ले जाता है आसक्ति एवं बंधन से मुक्ति तक 223

● नैतिक जीवन सरल सुखमय होता है किन्तु उसे साधना सच्चा पुरुषार्थ है 224

17. चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में फूटते हैं आचार के कैसे-कैसे आकार? 226

● आचार को एक बिन्दु मानें तो उसके आगे है शुभाचार और पीछे है अशुभाचार 228

● चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में फूटे हैं और फूटते हैं आचार के विविध आकार 230

● आचार की भिन्न-भिन्न परिणतियाँ होती है स्वभाव व विभाव के धरातलों पर 233

● आचार में प्रगतिशील मोड़ लाने वाला मंगल-सुविचार 234

● आचार के स्वस्थ एवं विकासशील आकार हेतु जरूरी है पुरुषार्थ 235

18. मानव चरित्र का संचरण इतिहास के परिप्रेक्ष्य में 237

● इतिहास क्या होता है?-चरित्र के उत्थान-पतन की कहानियाँ ही तो 239

● मानव चरित्र के संचरण की दृष्टि से भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन 240

● इतिहास और संस्कृति के उतार-चढ़ाव तथा चरित्र निर्माण की क्रमिकता 243

● चरित्र निर्माण अभियान और पुरुषार्थ प्रयोग 244

19. संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और कला बुनियादी तत्व 246

● चरित्र विकास में संस्कृति प्राण तत्त्व है तो सभ्यता उसका भौतिक तत्त्व 250

● भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की चरित्रगत विशेषताएँ 252

● साहित्य समाज का दर्पण होता है अतः चरित्र निर्माण का भी 253

● संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं कला के समन्वित रूप से ढलती है चरित्रनिष्ठा 255

● उन्नत चरित्र की प्रतीक हाती है कला और कलामय राजस्थान 256

● चित्रकला शिल्प और भाषा पर बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव तथा चरित्र निर्माण का पक्ष 257

● चरित्र निर्माण की व्यापकता के लिए संस्कृति आदि का अध्ययन आवश्यक 258

20. मानवीय मूल्यों का प्रेरक धर्म ही उज्ज्वल चरित्र 260

● चावल के कण और चरित्र के गुण : रचनाधर्मिता के रहस्य को समझें 262

● धर्म चरित्र है और चरित्र धर्म, फिर चरित्र निर्माण में एकरूपता क्यों नहीं? 263

● धर्म प्रवर्त्तकों का अन्तर्निहित लक्ष्य रहा चरित्र विस्तार से स्वत: चालित व्यवस्था का 264

● चरित्र निर्माण अर्थात् धर्म के आचरण का प्रधान लक्ष्य है लोक-कल्याण 266

● धर्म का परिणाम चरित्र-निर्माण और उसका परिणाम मानव मूल्यों का सृजन 267

● वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्र के संतुलन की डोर धर्म के पास 268

● धर्म चलाए चलता है, संसार बनाए बनता है और चारित्रिक पराक्रम की महत्ता 270

21. लक्ष्य निर्धारण शुभ हो तो संकल्प सिद्धि भी शुभ 274

● धर्म, संस्कार, वातावरण से उपजी भावमयता नींव की पहली ईंट 276

● भावमयता की एक-एक ईंट नींव को अहिंसा पर आधारित बना देगी 277

● भाव-स्वभाव और चरित्र विकास का प्रगति चक्र 279

● चरित्र विकास से जीवनशैली का उन्नयन एवं समत्व योग 280

● चरित्र विकास का शिखर है सत्य और सत्य के आग्रह का रूप 283

● यों सम्पूर्ण चरित्र विकास होता है भावमय-उच्चतर से उच्चतम तक 284

22. आचार के उच्चतर बिन्दु, अहिंसक क्रांति और व्यक्तित्व गठन 285

● आचार के उच्चतर बिन्दु तथा गुणशीलता की सम्पन्नता 287

● विकासशील गुणों के चौदह स्थान उनका संक्षिप्त विवरण व विश्लेषण 289

● नींव हिली तो इमारत ढही और छत डाली तो काम सही 292

● अहिंसक क्रांति का आगाज, विश्वव्यापी मंथन एवं फलश्रुति 294

● चरित्र विकास से हो नए मूल्यों एवं नए मानव-व्यक्तित्व का सृजन 295

● चरित्र विकास मानव-संबंधों में अहिंसा की प्रतिष्ठा का कारक बने 298

23. जब धर्माचरण रूढ़ होता है तो बाधित होता है चरित्र विकास 299

● क्या है सच्चा धर्म और कैसा होना चाहिए उसका आचरण 300

● आचरण के दो पक्ष : कौनसा प्राण, कौनसा कलेवर 302

● धर्माचरण की रूढ़ता के कारण अनेक, पर परिणाम एक 303

● रूढ़ता की पहली मार पड़ती है चरित्र-चेतना और विवेक-बुद्धि पर 305

24. दुर्व्यसनों की बाढ़ बहा देती है चरित्र निर्माण की फलदायी फसल को 307

● अमरबेल की तरह लिपटकर जीवन का सर्वनाश कर देते हैं व्यसन 309

● दुर्व्यसनों के अन्य प्रकार तथा आज के जमाने के व्यसन 313

● चारित्रिक अध:पतन की ओर ले जाती है दुर्व्यसनों की राहें 314

● दुर्व्यसनों का पल्ला पकड़ा कि जीवन कष्टों में जकड़ा 315

● वि+आसन=विकृत आहार कराता व्याधियों में विहार 316

● यह विज्ञान सम्मत निष्कर्ष है कि अंडा मांसाहार है 318

- शराब कितनी खराब-कोई हद नहीं और नशा बिगाड़ता दशा 318
- तम्बाकू के पुराने-नए उत्पाद कर रहे जिन्दगियाँ बरबाद 319
- चारित्रिक अधःपतन की नीचाई में क्यों नहीं दिख रही सच्चाई 320
- पुनर्चेतन के बीज बोने होंगे व्यसनी जीवन की भाव भूमि में 321
- तम्बाकू-अफीम की खेती ही हो बंद, जिससे मिटे करोड़ों के दुःख द्वन्द 321
- शाकाहार से बने जीवन सात्विक, तब विचार भी होवें तात्विक 323
- भान भूले और भयभीत मानव के लिए श्रद्धा पर लग जाता है प्रश्नचिह्न 324
- रूढ़ता का उन्मूलन हो, निवारक एवं रचनात्मक उपायों से 325
- ऐसा ही चरित्र विकास जो रूढ़ता में भी टिका रहे और रूढ़ता को टिकने न दें 325

25. धर्म और विज्ञान का सामंजस्य निखारेगा मानव चरित्र का स्वरूप 328
- समग्र जीवन में धर्म और विज्ञान का सामंजस्य क्या संभव है? 329
- आत्मा और प्रकृति दोनों के विज्ञान से मानव जीवन का घनिष्ठ संबंध 331
- जैन दर्शन की वैज्ञानिक विरासत है-धर्म विज्ञान सामंजस्य की प्रेरणा 333
- अब धर्म फिर से विज्ञान होने लगा है और विज्ञान धर्म की ओर बढ़ने लगा है 335
- मानव चरित्र का नवरूप निखरेगा आध्यात्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक अध्यात्म से 337

26. श्रेष्ठ शिक्षा, संस्कार से सामर्थ्यवान व गुणी व्यक्तित्व का निर्माण 340
- सुसंस्कारों के निर्माण की यात्रा एवं परम्परता का योगदान 341
- संस्कार निर्माण से सत्शिक्षा तथा सत्शिक्षा से सुसंस्कार सृजन 343
- शिक्षा का उद्देश्य ही चरित्र विकास, तभी तो कहा है-'सा विद्या या विमुक्तये' 345
- चारित्रिक व्यक्तित्व के समग्र विकास हेतु शिक्षा प्रणाली का निर्धारण 346
- क्षमता विकास का गुर है कि समाज को सदा आदर्शोन्मुख रखो 348
- उत्तम संस्कार, शिक्षा व क्षमता चरित्र विकास के मूल भी हैं और फल भी 349

27. धनबल, बाहुबल व सत्ता की ताकत का सदुपयोग चरित्रवान ही करेगा 350
- नियंत्रण-शून्य विज्ञान ने दी विलासिता और संहारक शक्ति 353
- सत्ता के संग में तपे तपाए नेता भी स्वच्छंदता और भ्रष्टता की ओर मुड़ जाते हैं 355
- सत्ता से धन और धन से सत्ता के दुष्चक्र में सारी अच्छाइयाँ भेंट चढ़ी 356
- चरित्रहीनता से व्यवस्थाएँ सड़ रही हैं, आपराधिकता बचे खुचे मूल्यों को निगल रही है 358
- भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक ऐसा फैला कि बेशर्मी भी शरमा गई 359
- चरित्र के सर्वनाश के मूल में है धन-सत्ता लूटने का पागलपन 360
- धन को धन के स्थान पर ले जावें और धर्म को धर्म के स्थान पर लावें 361

28. बढ़ते आतंकवाद व हिंसा के लिए धर्मान्धता जिम्मेदार 364
- धर्म और धर्म के नाम पर दोनों अलग-अलग मनोदशाएं होती हैं 366
- असल में धर्म के दो छोर हैं-मानव धर्म एवं साम्प्रदायिक कट्टरता 368
- धर्म के नाम पर क्यों खुलते हैं हिंसा के दरवाजे और कौन खोलता है उन्हें 369
- साम्प्रदायिक कट्टरता, आतंकवाद एवं हिंसा के दरवाजों के पीछे के नजारे 371

- धर्म अलोकप्रिय होता है धर्म के नाम पर की जाने वाली कट्टरता की कार्यवाहियों से 372
- धर्म-धारण से चरित्रशीलता पनपती है और धर्म के नाम पर सिर्फ चरित्रहीनता 373

29. सामाजिक प्रवाह की गतिशीलता व निरन्तरता हेतु हो बदलाव 375

- कृति का स्वर्ण-युग और प्रतिकृति का लम्बा अंधकार-काल 376
- चरित्रहीनता का तमस मिटे और परिवर्तन के प्रकाश में सत्कृति उभरे 378
- सत्कृति में फिर से भरने होंगे, कृति के चमचमाते रंग 380
- नई पीढ़ी का नींव से निर्माण बने सत्कृति के चरित्र की पहचान 382
- धर्म, अहिंसा और लोकतंत्र से मिश्रित बने भावी जीवनशैली 384
- 'स्व' के अनुसंधान से उभरेगा लालिमायुक्त चारित्रिक नवोदय 386

30. सुदृढ़ संकल्प बिना चमत्कार असंभव 388

- संकल्प सुदृढ़ हो तो विचार क्या, कल्पना भी साकार हो जाती है 390
- संकल्प-यात्रा में भय का सामना तन-बल से नहीं, मन-बल से 391
- आपदा कितनी भी बड़ी या कड़ी क्यों न हो, साध्य को सदैव याद रखो 393
- चरित्रहीनता के चक्रव्यूह को तोड़ो, संकल्प से, संस्कार से, सदाशय से 395
- सामाजिक अन्याय को मिटाने से मिटेगी चरित्रहीनता 397
- हीनता का उत्तर होता है सम्पन्नता अत: चरित्र सम्पन्नताही प्रधान साध्य 399

31. संकल्पित, समर्पित व सर्वस्व सौंपने की तत्परता ही युवा की पहचान 401

- युवाजन अपना व्यक्तित्व प्रचंड बनावें, एक मशाल से अनेक मशालें जलावें 402
- आत्म-नियंत्रण, मनोबल एवं संतुलन में है स्वस्थ विकास का रहस्य 404
- जीवन के सार्थक प्रयास, प्रतिभा का प्रस्फुटन एवं युवा शक्ति 406
- जागृति एवं कर्मठता की चुनौती का उत्तर मिलेगा आत्मा की आवाज में 409
- युवाओं में क्षमता होती है अपने और दूसरों के चरित्र को उज्जवल बनाने की 410
- चरित्र सम्पन्नता के लिए युवा व्यक्तित्व भी है तो संस्थान भी 412

32. चरित्र को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने हेतु सद्भाव जरूरी 414

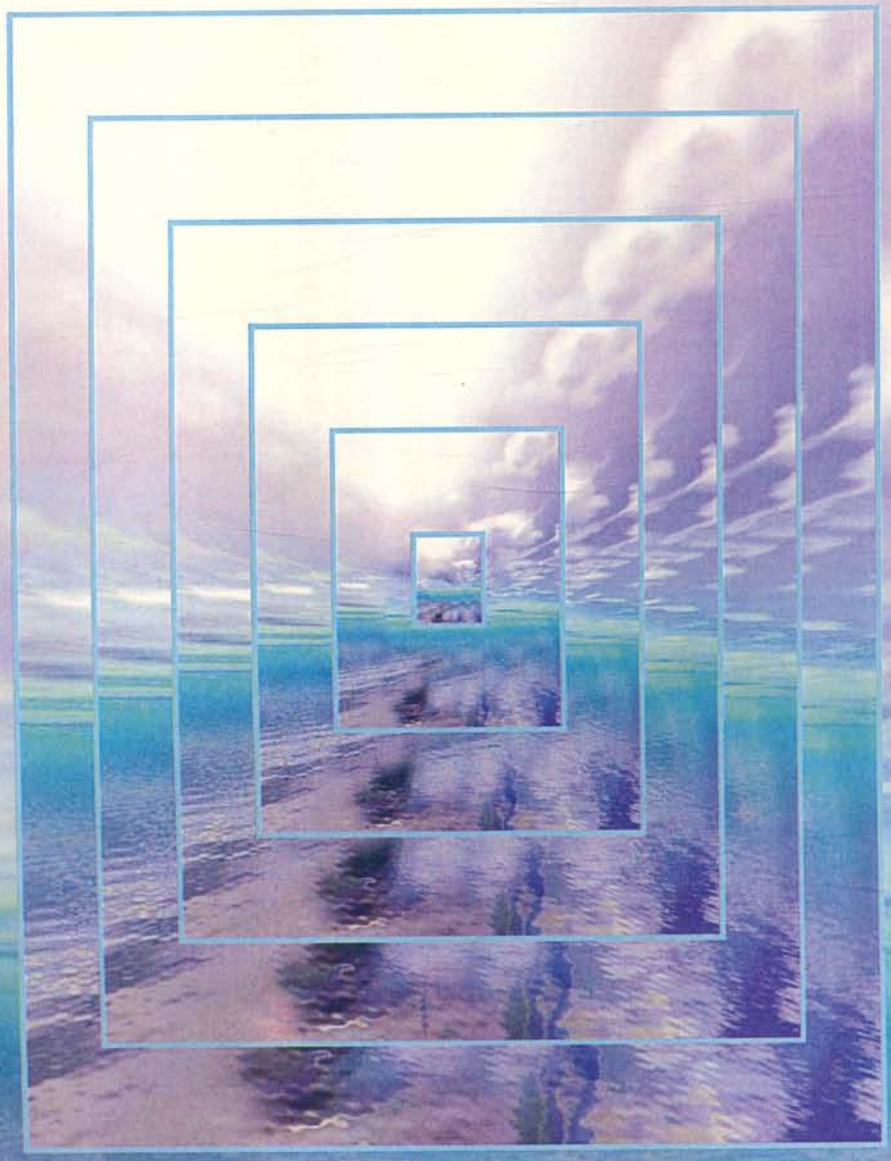
- मनुष्य जाति एक है, उसे खण्ड-खण्ड से अखण्ड बनावें 416
- सीमा रहित विश्व के निर्माण हेतु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की दिशा 417
- पहले सुलझानी होगी विचार संघर्ष की जटिल समस्या को 419
- नया अर्थशास्त्र भी होना चाहिए विषमताओं को समाप्त करने वाला 421
- सामाजिकता हजार जिह्वाओं से बोले, पर मूल जिह्वा एक हो 424
- चरित्र सम्पन्नता का लक्ष्य बने विश्वस्तरीय चरित्र का गठन 426

33. नई सकारात्मक छवि उभरनी चाहिए धर्म-सम्प्रदायों की 428

- सच्चा धर्म सदा शुभतामय, पर सम्प्रदाएँ भी शुभता की वाहक थी 430
- क्यों गिरी सम्प्रदाएँ अपने दायित्वों से और क्यों अशुभता की कारण बनीं? 432
- बाहर की भूल-भुलैया से निकल कर सकारात्मक छवि बनाने की जरूरत 433
- किन उपायों से ढाली जा सकती है धर्म-सम्प्रदायों की नई छवि? 435

● चरित्रशीलता ही धर्म और नीति पर चढ़े मैल को धो सकेगी 438
● नई सकारात्मक छवि मूल से उभरेगी और वही नई विश्व-संस्कृति रचेगी 439
34. मानव सभ्यता के विकास की कहानी इसी त्रिकोण पर टिकी है 442
चरित्र निर्माण से चरित्र सम्पन्नता तक की सतत यात्रा 444
क्रोध के बाद क्रम है मान, माया तथा लोभ का 447
धर्म और विज्ञान की मजबूरियाँ मिटाने का वक्त आ गया है 447
अब बात सोचनी होगी धार्मिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक धर्म की 449
भौतिक-आत्मिक दो नहीं, प्रवहमान सरिता के दो तटों की तरह एक है 451
धर्म, विज्ञान व विकास का अन्तर्सम्बन्ध एवं चारित्रिक प्रगति 452
चरित्र सम्पन्नता का यह त्रिकोण, मानव जीवन कर रक्षा-मानव 454
35. शोषण और उत्पीड़न मिटे बिना प्रेम कहाँ? प्रेम बिना समता कैसी? 456
मानव-हृदय में समता का वास : समानता का मापदंड चरित्र 458
समता आएगी जब विषमता मिटेगी और विषमता मिटेगी तब जब हिंसा घटेगी 460
सम्पूर्ण जीवनशैली का अहिंसक होना ही समता का मूलाधार 462
परिग्रह संचय पर अंकुश से समता स्थाई व सर्वव्यापी होगी 463
हिंसा, भय, घृणा के त्याग के साथ समता हेतु वांछित गुणों का वरण 465
सहमति से समता और समता से प्रेम की सरसता 467
बहुआयामी समता का लक्ष्य रहे जीवन में अथ से इति तक 468
36. समूची समस्याओं का हल होगा मनुष्य की चाल व उसके चलन से 470
महाजनों ने मार्ग बनाया, चलाया, हर युग में महाजन होते हैं 472
चरित्र निर्माण नहीं होगा तो कहां से आएंगे नए मनुष्य और महाजन 474
आज के मनुष्य को भी नए चरित्र के साथ अपनी नई चाल बनानी होगी 476
तब उस चाल का चलन कैसे हो-यह भी निश्चित करना होगा 480
यह चाल-चलन मानव मार्ग का प्रतीक हो और समूची समस्याओं का निर्णायक 481
इस चालन-चलन का उद्देश्य हो-पीढ़ियों के लिए असीम आनन्द 483
37. नव-जागरण का बहुआयामी कार्यक्रम 485
मानवीय दृष्टिकोण के साथ सार्वजनिन चरित्र निर्माण का उद्देश्य बनावें 487
अभियान के राष्ट्रस्तरीय उद्देश्यों की अर्थवत्ता पर एक विहंगम दृष्टि 488
व्यक्ति के उत्तरोत्तर चरित्र विकास हेतु अभियान के तीन चरणों का विवरण 489
अभियान के आयोजनों व प्रभातफेरी आदि के कार्यक्रमों में उत्साह का संचार करने वाले गीत-प्रगीत 493
अभियान के संविधान की संक्षिप्त रूपरेखा 499
अभियान को एक रचनात्मक प्रयोग मानते हुए पूरी सतर्कता रहे 501
38. चरित्र गति हेतु ग्राह्य गुणसूत्र व प्रचार नेटवर्क 503
अभियान की मार्मिकता स्पष्ट करने वाले ग्राह्य गुणसूत्र : प्रश्नोत्तर के माध्यम से 505
इस आत्मानुभूति के क्षणों से गुजरना चाहिए अभियान के प्रत्येक सहभागी को 512

	अपने आपको स्वयं देखें-देखते रहें और दृढ़ता के सूत्रों को जोड़ते रहें	514
	आधुनिक युग में प्रचार का सही नेटवर्क सफलता की गारंटी होता है	516
	चरित्र निर्माण से प्राप्त होने वाले देवत्व पर सोचते रहिए	518
39.	**चरित्रबल से ही घूमेगा शुभंकर परिवर्तन का चक्र**	520
	कैसे जागेगा चरित्र बल और कैसा होता है शुभंकर परिवर्तन?	522
	धर्म को भेदभाव विहीन अखंड मानें और उसे जीवन से जोड़ें	523
	अभियान के सहभागियों के लिए चरित्र निर्माण विचार व आचार संहिता हो सकती है	525
	चरित्र निर्माण जीवन की कला एवं चरित्र विस्तार विश्व का एकीकरण	531
	निश्चय मानें कि चरित्र बल के लिए कोई भी साध्य असंभव नहीं	532
40.	**जीवन निरन्तर चलते रहने का नाम**	535
	'ऐ जिन्दगी, काश हमने भी तुझे जिया होता'-यह कहकर बाद में पछताना न पड़े	537
	जब चलना सीखा जाता है, तब समझ में आती है जीवन की गति	540
	जीवन का मूल मंत्र है-उठो, चलो, चलते रहो-साथ न हो तो अकेले ही चलो पर चलो	542
	चलने का अर्थ है-सर्वोच्च सत्य की अहिंसक शोध में लगे रहो	543
	चलते रहना है कर्म करते रहना और कर्म करते रहना जीवन का धर्म है	544
	आप चलते रहें और चरित्र निर्माण की यात्रा अनवरत चलती रहे	546
	मानव जीवन पाने की सार्थकता है-चरेवेति:-चरेवेति: चलते रहो, चलते रहो	547
41.	**युवाओं, उठो और इस विजय अभियान को सबल नेतृत्व दो!**	550
	अस्तित्व, व्यक्तित्व व वर्चस्व की सीढ़ियां एवं चरित्र विकास के सोपान	552
	यौवन कहता है-मुझे गिरा के भी अगर तुम संभल सको तो चलो!	554
	विवेक और शक्ति का सम्मिश्रण चाहिए यौवन के वेग में	556
	एक आदर्श युवक या युवती में किन चारित्रिक गुणों की अपेक्षा होती है?	557
	चरित्र निर्माण के महत्कार्य में ईश्वरत्व का दर्शन करे यौवन	559
	युवानों, इस विजय अभियान को अपना नेतृत्व दें-सफल बनावें	561
42.	**चरित्र के शिखर पर पहुंचने का रहस्य**	562
	चरित्रलीनता के शिखर पर पहुँचने वाले ध्यान की पृष्ठभूमि	562
	आगम साहित्य में ध्यान का विवेचन मार्मिक एवं गूढ़ है	564
	जैन परम्परा की ध्यान साधना एवं अन्य ध्यान धाराएँ	566
	आचार्य नानेश द्वारा प्रवर्तित आत्म-समीक्षण ध्यान साधना	569
	जीवन के उत्थान में ध्यान की भूमिका एवं शक्ति का रूपांतरण	570
	ध्यान का ज्ञान-विज्ञान तथा स्वयं की स्वयं द्वारा शोध	572
	आत्म-बोध, आत्म-आरोग्य तथा आत्म-पुरुषार्थ का आरंभ	574
	ध्यान से चरित्र का वैश्वीकरण और मानव जीवन में महानता	576
	प्रत्येक व्यक्ति संसार की इकाई है तथा सारा संसार उसका अपना है	577



रहस्यों, संभावनाओं तथा प्रत्यक्ष उपलब्धियों से भरा है यह संसार

1



रहस्यों, संभावनाओं तथा प्रत्यक्ष उपलब्धियों से भरा है यह संसार!

चरित्र निर्माण : क्या, क्यों, कैसे?

चरित्र बल के धनी एवं तेजस्वी एक महात्मा एक नगर से दूसरे नगर की ओर पदयात्रा कर रहे थे। मार्ग में उनकी नजर एक मानव समुदाय पर पड़ी जिसमें पुरुषों के सिवाय बच्चे और महिलाएं भी थीं। उनके चेहरे उदास थे और उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे। महात्मा यह दृश्य देखकर द्रवित हो गए, पास जाकर उन्होंने उनके कष्ट का कारण पूछा? बताया गया कि उनका पूरा गाँव नदी की तेज बाढ़ में बह गया है। इस कारण वे सब बेघर हो गए हैं। औरतों-बच्चों को लेकर सिर ढ़ंकने की उनके पास कोई जगह नहीं है। उन्होंने महात्मा से विनती की- आप ही हमारे कष्ट-मोचक बनिए।'

महात्मा ने न जाने क्या सोचा और पलभर में इतना ही कहा-'चलो, सब लोग हमारे साथ चलो।' आगे-आगे महात्मा और पीछे-पीछे सारा समुदाय चल पड़ा। महात्मा ने नगर में प्रवेश किया और कहीं भी बिना रुके वे सबके साथ राजमहल में प्रविष्ट हो गए। उन तेजस्वी पुरुष को रोकने की भला किसमें हिम्मत थी? वे सीधे राज-दरबार में ही चले गए, जहां सिंहासन पर बैठे राजा किसी राजकाज में संलग्न थे।

राजा ने महात्मा को खड़े होकर आदर-पूर्वक प्रणाम

किया, लेकिन उनके साथ भिखमंगों जैसी भीड़ देखकर वह मन ही मन उत्तेजित-सा हो गया, बोला-महात्मन्! आप इन सब लोगों को राज-दरबार में किस प्रयोजन से ले आए हैं? यह राजमहल है, इसकी प्रतिष्ठा का भी आपने खयाल नहीं किया। महात्मा ने छोटा-सा उत्तर दिया-'ये सब बेघर और दु:खी हैं, इसलिए इन्हें राजमहल में रहने के लिए ले आया हूँ।' तब तो राजा का क्रोध बाहर फूट पड़ा-'महात्मन्! आप होश में तो हैं कि ऐसे लोगों को राजमहल में बसाने के लिए ले आए हैं? यह कोई धर्मशाला नहीं है।'

महात्मा ने कुछ तीक्ष्ण स्वर में कहा-'यह धर्मशाला नहीं तो और क्या है? इसे धर्मशाला समझ कर ही तो मैं इन सबको यहाँ लाया हूँ।' राजा आपा खोते हुए बोले-'मेरा राजमहल आपको धर्मशाला लग रहा है! आप सन्त नहीं होते तो मैं आपको न जाने क्या दंड दे बैठता?' इस पर महात्मा शान्त हो गए और पूछने लगे-'राजन्! अभी तो तुम इस राजमहल में रह रहे हो, लेकिन तुमसे पहले यहाँ कौन रहता था?' राजा बोला-'मेरे पिता श्री।' उनसे पहले के प्रश्न का उत्तर दिया-'मेरे दादा श्री।' और इस तरह महात्मा ने पीढ़ियाँ गिनवा दी। फिर बोले-'तुम्हारे बाद इसमें कौन रहेगा?' 'मेरा राजकुमार'-राजा भी धीमा पड़ा।

महात्मा ने तब पूछा-'राजन्! अब बताओ, धर्मशाला किसको कहते हैं? उसी आवास स्थान को न, जहाँ यात्री आते हैं, कुछ समय के लिए ठहरते हैं और फिर चले जाते हैं और यही क्रम बना रहता है। ठीक है न?' राजा निरुत्तर हो गया। तब महात्मा ही आगे बोले-'तुम्हारा राजमहल भी तो ऐसा ही हुआ न?'

राजा सिर झुकाए खड़ा रहा। महात्मा ही बोलते रहे-'राजन्! धर्मशाला में सभी को ठहरने का अधिकार होता है और इस कारण ये बेघर लोग भी यहीं ठहरेंगे। लेकिन मैं तुम्हें एक प्रेरणा देना चाहता हूँ।' राजा ने हाथ जोड़कर कहा-'महात्मा! मेरी आंखें खुल गई हैं और मेरा झूठा अभिमान बह गया है, अत: अब आपकी प्रेरणा निश्चित रूप से मेरे जीवन के उद्धार का ही कोई मार्ग खोलेगी। मैं तत्पर हूँ।'

महात्मा ने कहा-'राजन्! मुझे हर्ष है कि तुम्हारे मन का संकोच मिट गया है, इस कारण मैं बताना चाहता हूँ कि तुम्हारा यह राजमहल तो बहुत छोटा है, लेकिन जीवन तो विशाल एवं महान् बन सकता है, फिर तुम प्रबुद्ध क्यों न बनो? यह तभी संभव है जब तुम सम्पूर्ण संसार को धर्मशाला मान लो और अपने जीवन को महान् बनाने का पुरुषार्थ करो।'

राजा ने निवेदन किया-'मुझे बताइये कि मैं क्या करूँ, जिससे मेरा जीवन महान् बन सके?'

महात्मा ने कहा-'राजन्! इसी क्षण से सारे संसार को एक धर्मशाला मान लो। जानो कि यह संसार अनन्त रहस्यों और संभावनाओं से भरा पड़ा है। आत्मा में अनन्त शक्ति है। आत्म-साधना/शोध में प्रवृत्त हो जाओ। जितनी प्रबल तुम्हारी आत्मा के बारे में जिज्ञासा और साहसिकता होगी, तुम्हारी उपलब्धियाँ भी उतनी ही विलक्षण होगी। तुम अपने लक्ष्य में सफल बनो'-का आशीर्वाद देकर महात्मा वहाँ से प्रस्थान कर गए।

बाद में राजा भी अपने छोटे-से अपनेपन को अतीव विस्तृत स्वरूप देने के संकल्प के साथ सम्पूर्ण संसार को अपना बनाने के लिये राजपद, राजमहल और नगर से निवृत्त होकर अपनी आत्म-यात्रा पर चल पड़ा।

क्यों जानना चाहते रहे हैं सब संसार के छिपे हुए रहस्यों को?

जीवन प्राप्त हो जाना एक बात है, परन्तु उसे जीना एकदम दूसरी ही बात। जीवन कितना लम्बा मिलता है-यह उल्लेखनीय तथ्य नहीं। सार्थक तथ्य यह है कि वह जीवन कितना कार्यक्षम रहा, हितान्वेषक एवं लोकोपकारक सिद्ध हुआ? किसी के जीवन के कितने वर्ष बीत गए-यह कोई नहीं देखता। देखा जाता है तो यह कि वह कैसे जिया-क्या उसने कोई एक भी ऐसा अनूठा काम किया, जिसे देख, समझ और महसूस करके सामान्यजन कृतकृत्य हो गए हों?

अधिसंख्य लोग सांसों का जीवन जीते तो जरूर हैं, पर प्रतिपल मर-मरकर जीते हैं। चाहे भय से मरते रहे हों या क्रोध, मान, माया, लोभ के कीचड़ में कुल-बुलाते हुए मरते हों अथवा अज्ञान की अंधेरी गलियों में ठोकरें खाते हुए मरते हों-पर प्रतिपल वे मर-मर कर जीते हैं। ऐसा जीवन यथार्थ (अर्थ में) जीवन कहलाने के योग्य नहीं होता। वह मृत्यु सम जीवन ही होता है या यों कहें कि कीड़ों-मकोड़ों-सी जिंदगी जी कर ऐसे लोग मानव जीवन की अमूल्य निधि को निरर्थक ही नष्ट कर देते हैं। अज्ञानियों की मृत्यु बार-बार होती है, परंतु पंडित जनों का मरण एक बार ही होता है। (**बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे। पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे**-उत्तराध्ययन, 5/3)

मानव जीवन को पाना एक अमूल्य निधि पाने जैसा है और निधि का जितना सदुपयोग होगा, वह उतनी ही सार्थक कहलाएगी- इस संसार में ऐसे धीर, वीर, गंभीर पुरुषों की कमी नहीं रही है और न ही किसी भी युग में रहती है या रहेगी। ऐसे पुरुष अपने पराक्रम, अपनी सेवा और साधना के बल पर ऐसे उत्कृष्ट चरित्र को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके माध्यम से वे सर्वजनहित से संबंधित रहस्यों का उद्घाटन करते हैं, सबके विकास की संभावनाओं को सामने लाते हैं और ऐसी उपलब्धियाँ इस संसार को दे जाते हैं जो दीर्घकाल तक इस (विशाल जगत्) को प्रकाशमान बनाए रखती है। ऐसे महापुरुष जीवन को तो जीवन्तता के साथ जीते ही हैं परंतु मृत्यु के उपरान्त भी (संसार को) अपने योगदान की रोशनी में जीवित ही बने रहते हैं।

ऊर्जावान महत्वाकांक्षी युवाओं को अपने चरित्र निर्माण के संदर्भ में अपने जीवन का भी कोई सर्वजनहितकारी लक्ष्य अवश्य निर्धारित करना चाहिए कि जीवन को वे जिएं, कोरी सांसें ही न लेते रहें। प्राथमिक तौर पर जीवन में मिलने वाली असफलता से उन्हें निराश नहीं होना चाहिये। यह असफलता ही सफलता की पहली सीढ़ी बनती है। आखिर असफल वही तो होता है जो कर्म में प्रवृत्त होता है, निष्क्रिय तो क्या सफल होगा और क्या असफल? किसी शायर ने ठीक ही कहा-'**शह सवार ही गिरते हैं मैदाने जंग में, वह तिफ्ल क्या गिरेगा, जो घुटनों के बल चले?**'

ऐसी सक्रियता को लेकर ही धीर, वीर, गंभीर पुरुष आत्मा के छिपे हुए रहस्यों को उद्घाटित

करने की दिशा में अपनी उग्र साधना, शोध का परिचय देते हैं और साहस के साथ सागर के अतल जल से हो या पर्वतों के उत्तुंग शिखरों से-मानव हित ही नहीं, प्राणी हित की ऐसी संजीवनियाँ लाकर संसार को समर्पित करते हैं कि वे अपने साथ अनेक भविजनों के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त कर देते हैं।

चरित्र की चमक से चमचमाते व्यक्तित्व आग में से होकर निकलते हैं!

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की उक्ति के अनुसार चरित्र की चमक से चमचमाने वाले जीवन का आभास गूढ़ दृष्टि वालों को बहुत पहले ही हो जाता है। ऐसे चमत्कारी पुरुष अनुद्घाटित कल्याणकारी रहस्यों का सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय उद्घाटन करते हैं, जो ज्ञान-विज्ञान की उच्चतम अवस्था में पहुँच कर महावीर बन जाते हैं, संसार को मर्यादा का मार्ग दिखा कर राम बन जाते हैं तो न्याय की अद्भुत प्रेरणा प्रदान करते हुए श्रीकृष्ण का स्वरुप धारण कर लेते हैं। ऐसे दिव्य पुरुषों का अनुगमन करते हुए आज भी राजनीति में अहिंसा का अभिनव प्रयोग करके कोई गांधी बना है तो कोई अशक्तजनों की निःस्वार्थ सेवा करके मदर टेरेसा। किन्तु, ऐसी जीवन्तता कठोर साधना, कष्ट सहिष्णुता, अथाह वीरता, त्याग एवं बलिदान की सशक्त भूमिका निभाए बिना नहीं मिलती है। चरित्र की चमक से चमचमाते व्यक्तित्व जब आग में से होकर निकलते हैं, तभी वे सोने की तरह दमकते हैं।

ऐसे चरित्रशील पुरुषों ने सदा ही अपना जीवन न्यौछावर किया संसार के कल्याण के लिए, प्राणी मात्र की सेवा के लिए और स्वस्थ मानवता के निर्माण के लिए। उनका यह संकेत रहा है कि महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए साधना एवं साहस की सही डगर को पहिचानें। प्रेरक पुरुषों का जीवन केवल उनका ही नहीं रहता, वह तो समस्त संसार में सदा के लिए (समाहित) आदरणीय हो जाता है।

क्या आप नहीं चाहते कि आप उनकी बताई हुई डगर पर चलें? किन्तु, यह काम आग के दरिया में होकर गुजरने जैसा है। उस दरिया से जब आप बाहर निकलेंगे तो आपका यही जीवन चमत्कारी रूप ले लेगा, चरित्र सम्पन्नता की चमक से चमचमाता हुआ। यह आग का दरिया है मानव सेवा की गहराइयों में उतरना, नए मानवीय मूल्यों की स्थापना करना, साधना की उत्कृष्ट श्रेणियों में से सोने की तरह दमकते हुए निकलना और उस समय में ही नहीं, भावी पीढ़ियों के लिए भी लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना। जब यह आग का दरिया साहस के साथ पार कर लिया जाता है तो प्राप्त होती है वह दिव्य ज्ञान की कुंजी, जो प्रकट करती है भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों की परत-दर-परत। इस रहस्योद्घाटन से ही प्रसारित होता है ज्ञान, विज्ञान, धर्म एवं दर्शन का आलोक। यह आलोक सभी दृष्टियों से संसार-पथ को आलोकित करता रहता है। उन्नति की इस पृष्ठभूमि में यह सत्य सदैव स्मरणीय रहे कि व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय चरित्र को समुन्नत बनाने पर ही ऐसे रहस्योद्घाटन के चमत्कार संभव होते हैं। ये चमत्कार युगों-युगों तक संसार सागर में ज्योर्तिस्तंभों के रूप में विद्यमान रहते हैं।

(लोकोपकार का यही कारण है कि) धीर, वीर, गंभीर पुरुष अपने चरित्र बल, अपने शौर्य तथा अपनी साधना-शोध शक्ति को विशिष्ट बनाते हुए इस रहस्यपूर्ण संसार की छिपी हुई या अज्ञात परतों को स्वयं जानते रहे हैं, सबको समझाते रहे हैं और उनके माध्यम से संसार को जीवन विकास के नए मार्ग सुझाते रहे हैं। सामर्थ्यवान पुरुष ऐसा कठिन कार्य प्रत्येक युग में सम्पन्न करते रहे हैं, आज भी कर रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। ये दीपस्तंभ ही तो सामान्य जीवन के तारणहार होते हैं, नायक और आदर्श होते हैं। आग से तप कर सोना शुद्ध ही नहीं होता बल्कि तपते रह कर वह कुन्दन बन जाता है।

संसार के रहस्यों को भेदने की जिज्ञासा का रोमांच :

एक नन्हा शिशु माँ की कोख से बाहर आता है और पहली बार अपने समक्ष प्रस्तुत संसार के दृश्यों को देखने लगता है तो उसकी आंखें आश्चर्य से विस्फारित हो जाती हैं और बार-बार चारों ओर घूमती रहती हैं। उन आंखों में एक सन्देश होता है रहस्य भेदने का, यानी कि जो अब तक (गर्भावस्था तक) उसके लिए अनजाना था, रहस्य था, वह खुल रहा है-उसकी दृश्यावलियाँ सामने आ रही हैं। वह शिशु उन्हें देखता है एक जिज्ञासा के साथ कि वह उन्हें जाने और उस सारे वातावरण को समझे जो अब तक उसके लिए रहस्य बना हुआ था। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, नए-नए रहस्यों की वह कल्पना करने लगता है, उन्हें जानने और जानते रहने की जिज्ञासा पालता है, अपनी उस जिज्ञासा के बल पर वह अधिक से अधिक जानता रहता है। जानने और अधिकतम जानने की भूख ऐसी ही होती है तथा यही भूख उसे जीवन भर नए-नए रहस्यों को भेदने की शक्ति देती है। रहस्य भेदन का यह रोमांच अतीव आकर्षक ही नहीं होता, परम शक्तिदायक भी होता है।

यह रोमांच पैदा करती है जिज्ञासा, तो जानना जरुरी है कि क्या और कैसी होती यह जिज्ञासा? जिज्ञासा अर्थात् नया जानने की इच्छा। जिस स्तर पर जो कुछ जाना जा रहा है, उससे अधिक और नया जाना जा रहा है, उससे अधिक और नया जाना जाए-यह चेतनाशील प्राणी का लक्षण है। यह जिज्ञासा जितनी प्रबल होती है, उतनी ही वह कठिन से कठिन रहस्यों का भेदन करने में भी समर्थ बनती है। जिज्ञासा का एक ही प्रतिफल होता है-अनजाने को जानना, रहस्य को भेदना। रहस्य भेदन का प्रतिफल होता है नए ज्ञान का उद्घाटन एवं ज्ञान का विस्तार। नया ज्ञान नई उपलब्धियों के द्वार खोलता है। फिर इन उपलब्धियों का प्रयोग यदि सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय होता है तो वह रहस्योद्घाटक पुरुष मानवता का मित्र और गुरु बन जाता है। उसका वह विस्तृत ज्ञान ही दर्शन की दिशा में प्रवृत्त होता है।

जानने का नाम ज्ञान है तो देखने का नाम दर्शन। दर्शन में ज्ञान की स्पष्टता प्रत्याशित होती है। यह दर्शन ही साधक को सत्य-दर्शन की ओर ले जाता है। यदि जिज्ञासा समुद्र की सतह है तो दर्शन है समुद्र का निचला तल और जिज्ञासा एवं दर्शन के बीच में होता है ज्ञान का अथाह जल। यही रहस्यों की त्रिपुटी है। इसी जल में डुबकियाँ लगाते रहने का प्रयोजन माना जाना चाहिये, इस मानव जीवन का कि प्रत्यक्ष उपलब्धियों के मोती चुन-चुन कर बाहर संसार में लाए जा सकें और सामान्य जन को उस उत्थान प्रक्रिया से परिचित बनाया जा सके।

यह प्रक्रिया समझा देती है कि संसार ही वह महान् कर्मस्थल है, जहाँ अपनी साधना या शोध का शौर्य दिखाने के बाद ही उन कर्मवीरों की पहचान बनती है। संसार का यह कर्मस्थल रोमांचकारी है तो उत्थानकारी भी कि इसी भूमि पर ही तो महानता का अंकुरण होता है। अत: मानव जीवन का यह भी प्रयोजन होना चाहिये कि यह कर्मस्थल सभी प्रकार से योग्य बने और महानता के अंकुर को पल्लवित एवं पुष्पित बनाने में पूर्ण सहायक हो (चरित्र की उत्कृष्टता उभारने से सम्बद्ध एवं उसकी सार्थकता को समृद्ध बनाने से प्रतिबद्ध)।

तभी संसार के रहस्य भेदन का रोमांच इतना आल्हादकारी प्रतीत होता है कि अपने सामने विशिष्ट जनों के पूर्वानुभवों का अम्बार रहने पर भी प्रत्येक व्यक्ति सारे अनुभव स्वयं अपने आप लेना चाहता है। शिशुकाल से लेकर आगे तक स्वस्थ रीति से यह रोमांच बना रहता है। सच तो यह है कि यही रोमांच अपने पूरे जीवन में उसे नए रहस्य भेदन के लिये प्रेरित करता रहता है, फलस्वरुप नई उपलब्धियाँ भी सामने आती रहती हैं। ये नई उपलब्धियाँ जितने अधिक परिमाण में सर्वजनहितकारी होती है, उसी परिमाण में वे लोकप्रिय भी बनती हैं। यही लोकप्रियता जिज्ञासु एवं रहस्य भेदक पुरुष को भी महानता से अलंकृत करती है। महानता का मार्ग संसार के प्रांगण से ही निकलता है।

उभरती हुई चरित्रशीलता के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ :

यहाँ देना है तो पाना है-परन्तु देना पहले और पाने की आकांक्षा नहीं रखना ही श्रेष्ठ सफलता दिलाता है। जो अपना जीवन देता है, वही उपलब्धियाँ पाता है, किन्तु सराहना वह पाता है जो उन दुर्लभ उपलब्धियों को भी संसार को लुटा देता है। इस प्रकार वह संसार को प्रगति-पथ ही नहीं दर्शाता, अपितु उस पथ पर चलने तथा चलते रहने की अद्‌भुत संकल्प-शक्ति भी भरता है। ऐसा समर्पण और त्याग वही व्यक्ति कर सकता है, जो चरित्रशील बनता है। चरित्रशील के मन में ही ऐसा सामर्थ्य जागृत होता है कि वह अपने जीवन को परहिताय यानी संसार के कल्याण के लिए उत्सर्ग कर दे। यही कारण है कि उभरती हुई चरित्रशीलता के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ आती हैं, जिनका सफलतापूर्वक सामना करके ही वैसे व्यक्तित्व की लोकप्रिय छवि बनती है।

जो चरित्रशील व्यक्ति एक बार लोक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है वह फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखता। वह देखता है तो सिर्फ सामने की चुनौतियाँ कैसी है और वह उन पर विजय कैसे पा सकता है? वह हिम्मत के साथ चुनौतियों से भिड़ता है, आगे बढ़ता है और कभी गिरता भी है तो दुगुने उत्साह से वापिस उठता है तथा अंतत: उन्हें पछाड़ कर रहस्यों की परतों को चीर डालता है। उभरती हुई चरित्रशीलता प्रारंभिक विफलता से कभी निराश नहीं होती, अपितु सम्पूर्ण पराक्रम से सारी बाधाओं को दूर करके चुनौतियों को ललकारती ही नहीं, उन्हें हमेशा के लिये परास्त कर देती है।

वस्तु स्थिति (सत्य) तो यह है कि आज तक प्रत्येक क्षेत्र में जितनी भी प्रत्यक्ष उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं, उनकी प्राप्ति का श्रेय केवल चरित्रशीलता को ही देना होगा। आगे भी सर्वत्र चरित्रशीलता ही श्रेयकारी बनी रहेगी। एक चरित्रशील व्यक्ति ही विवेक युक्त बनकर जिज्ञासु होता है और साहस के साथ साधना व शोध की राह चलकर उपलब्धियों को प्राप्त करता है एवं त्यागभाव से संसार को

समर्पित कर देता है। चरित्रशीलता की यही स्थाई प्रकृति होती है।

रहस्य, जिज्ञासा एवं साधना के साहसिक चरण :

एक सामान्य व्यक्ति अपनी द्रव्येन्द्रियों (बाहिरिन्द्रियों) से संसार के स्थूल पदार्थों को देखता-भालता है और अध्ययन, चिन्तन व मनन के आधार पर उनके स्वरूप की गहराइयों में उतरता है, तब उसके हृदय में एक प्रकार की परख-बुद्धि जागृत होती है-परीक्षा बुद्धि पैदा होती है। जो उसे रहस्यों की कल्पना कराती है और उसकी जिज्ञासा को भी प्रबल बनाती है।

सोचिए कि रहस्य क्या है? उसे ही तो रहस्य कहेंगे, जो अब तक जाना-देखा नहीं गया है, न ही उसके स्वरूप की कोई स्पष्ट धारणा बनी है। अधिकांश में वह कल्पना और अनुमान ही होता है। ऐसे रहस्य को जानने की स्वाभाविक इच्छा का नाम ही जिज्ञासा है। एक दृष्टान्त से इसे समझें-

आपको कोई व्यक्ति अपने बहुत बड़े मकान की चाबियाँ सौंपता है यह भलावण देकर कि आप उस मकान के अमुक कमरे को कतई न खोलें। चाबियाँ सौंप कर वह परदेश चला जाता है। आपके मन में तब क्या आता है? आपके लिए वह कमरा एक रहस्य हो गया। उसमें क्या है या क्या नहीं-इसकी आप सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं अथवा बाहर के किन्ही लक्षणों के आधार पर कोई अनुमान-इससे अधिक कुछ नहीं। तब आपकी जिज्ञासा-तीव्र इच्छा यह जानने की होती है कि आखिर उस कमरे का रहस्य क्या है? उसी कमरे को खोलना चाहेंगे। अभिप्राय यह कि रहस्य को भेदने की मनुष्य के मन में प्रबल जिज्ञासा जाग जाती है। फिर वह अपने को रोक नहीं पाता और अधिकतम साहस जुटा कर रहस्य-भेदन के कठिन कार्य में प्रवृत्त हो जाता है।

यह तो एक सामान्य मनोदशा है। किन्तु चरित्र बल के धनी पुरुष के सामने जब अपार सागर लहरा रहा हो, तब वह सोचता है कि इसकी अथाह जल राशि में क्या होगा, अनंत आकाश की ओर निहारता है तो सोचता है कि ज्ञात या दृष्ट ब्रह्मांड के आगे भी न जाने इसका कितना विस्तार होगा? उत्तुंग पर्वत शिखरों पर दृष्टि डालता है तो सोचता है कि इनके उस पार क्या-क्या निधियाँ होगी? इन सब से बढ़ कर और ऊपर उठ कर जब वह अपने ही अन्तःकरण की गहराइयों में खो जाता है, तब ज्ञान-विज्ञान का ऐसा अनूठा प्रकाश वहाँ जगमगा जाता है कि वह सब कुछ ज्ञेय को जान जाता है। क्या होगा-यह विचार जब तक रहता है, वह रहस्य रहता है और उसको संभावना मान कर जानने की जिज्ञासा रहती है, किन्तु आत्म-साधना और सत्य शोध का सम्पूर्ण ज्ञान कर लेने के बाद वह सर्वज्ञ हो जाता है-सब जान जाता है। यही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। इसी का अभ्यास रहस्य भेदन की प्रक्रिया से होता रहता है। जिज्ञासा जागती है, संभावना दिखाई देती है, साहस उछालें मारता है, साधना गहन बनती है, शोध सत्य की ओर बढ़ती है, तभी रहस्य बिंद जाता है-अनजाने ज्ञान को आत्मसात् कर लिया जाता है। इसी रीति से जब आत्मा सम्पूर्ण ज्ञान से आलोकित हो उठती है, तभी उसकी सर्वज्ञता अभिव्यक्त हो जाती है।

रहस्य, जिज्ञासा, संभावना के साहसिक चरण जब साधना/शोध के पथ पर तेजी से आगे बढ़ते हैं तब ज्ञान-विज्ञान की प्रत्यक्ष उपलब्धि के आत्मसात् हो जाने में कोई भी शक्ति बाधक नहीं बन

सकती है। सूक्ष्म संसार की भावगहनता में जब कोई उन्नत चरित्र प्रवेश करता है तो वह ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन की ऐसी संजीवनियाँ खोज कर ले आता है जो चिरकाल तक मानवता की चरण बनी रहती है।

रहस्योद्घाटन हेतु प्रयास, दृढ़ता एवं इच्छा-शक्ति का मनोविज्ञान :

संसार के किसी भी कल्पना, अनुमान या धारणागत रहस्य के उद्घाटन हेतु कोई भी चरित्र संपन्न व्यक्ति प्रयास प्रारंभ करता है तो उस समय उसके मनोवैज्ञानिक गतिक्रम के आधार पर कहा जा सकता है कि उसकी सफलता के प्रमुख तत्त्व क्या हो सकते हैं? सामान्य रूप से ये तत्त्व होते हैं- **1. उद्देश्य की प्रभाविकता, 2. आवश्यक ऊर्जा की पूर्ति, 3. मार्ग में आने वाली बाधाओं का अनुमान एवं 4. लक्ष्य की निकटता के अनुसार सफलता की संभावना।** प्रयास के परिणामों के परिप्रेक्ष्य में कमजोरी की शंका होने लगे तब दृढ़ता का भाव उत्पन्न होता है जो आने वाली बाधाओं का मजबूती से मुकाबला करता है। प्रयासरत व्यक्ति का यह स्वाभाविक मनोविज्ञान होता है।

मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा कई व्यक्तियों पर किए गए प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि जिस व्यक्ति के कार्य में बाधाएँ अधिक आती है, अधिकांशत: उसका उत्साह दुगुना बढ़ता है तथा वह अवसर को अनुकूल बनाकर सफलता प्राप्त करके ही दम लेता है। इस प्रक्रिया में इच्छा शक्ति (विल पॉवर) का बड़ा सम्बल रहता है। उद्देश्य के निर्धारण, दृढ़ीकरण एवं संघर्ष की मनोदशा में इच्छा शक्ति की प्रबलता किसी भी सीमा तक बढ़ सकती है और सफलता प्राप्त कर सकती है। इच्छा शक्ति की प्रबलता के कारण अपनी कार्य पद्धति पर आत्म-नियंत्रण उत्पन्न हो जाता है, तब वह नियंत्रण इच्छा शक्ति को कार्यक्षम बना देता है। आत्म- नियंत्रण के कारण कई उपयोगी सुझाव स्वत: ही मन की गहराई में जाग जाते हैं।

उद्देश्य प्राप्ति के लिये इच्छा शक्ति के साथ संघर्ष की अवस्था में न्यूनतम प्रयास से अधिकतम संतोष प्राप्त करने का संस्थान (आर्गेनिज्म) प्रत्येक मानव मन में कार्यरत रहता है, यह मनोविज्ञान का सामान्य नियम है। प्रयास के लिये दृढ़ता की पृष्ठभूमि में जो भाव प्रेरक बनते हैं, उनमें प्रशंसा की चाह अथवा दूसरों की आलोचना से बचाव की वृत्ति भी काम करती है, किन्तु सर्वत्र यह वृत्ति जरूरी नहीं। चरित्र की निष्ठा से भरपूर आत्म-नियंत्रण की अवस्था में भीतर से उठने वाली आवाज का अनुसरण करना जैसे उस व्यक्ति के लिए अनिवार्य-सा हो जाता है और वह अपने प्रयास का सुदृढ़ीकरण कर लेता है। (प्रिंसिपल ऑफ मोटीवियेशंस-जनरल साइकोलोजी! द्वारा-प्रो. जे. पी. गुइलफोर्ड)।

इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि आत्म-शक्ति एवं आत्म-नियंत्रण की अवस्था में आत्मा के भीतर से उठने वाली आवाज किसी भी श्रेष्ठ उद्देश्य की पूर्ति में सारा साहस और सामर्थ्य नियोजित करके व्यक्ति को संघर्षशील बना देती है जो अन्य दशाओं में मुश्किल से ही संभव होता है। यों चरित्रनिष्ठा की शक्ति मनोविज्ञान से भी प्रमाणित होती है।

चरित्र संपन्नता के तीन चरण माप सकते हैं पूरे संसार को :

संसार के अनेक रहस्यों का जो आज तक उद्‌घाटन होता रहा है और उनके स्वरूप में तथा संसारवासियों के ज्ञान में जो प्रौढ़ता आती रही है वह चरित्र सम्पन्न व्यक्तियों के तीन चरणों के बल पर ही तो। वे तीन चरण हैं–**1. रहस्य की कल्पना, 2. जिज्ञासा की जागृति एवं 3. साहसिक साधना या शोध।** इन तीन चरणों को गोताखोरी का नाम भी दे सकते हैं कि गोताखोर जितना कुशल होगा, वह अनजान बहुमूल्य मोतियों को उतनी ही अधिक संख्या में प्राप्त कर सकेगा।

तीन चरणों की उक्ति तो मशहूर है। वैदिक मान्यता के अनुसार बलि राजा की बाधा को पार करके वामन अवतार ने जिस प्रकार तीन पगों में पूरी धरती माप ली और राजा के अहंकार को कुचल दिया, उसी प्रकार एक चरित्र सम्पन्न पुरुष अपने इन तीन पगों से पूरे संसार को माप कर लोक-कल्याण को उजागर कर सकता है। आत्म-कल्याण कर सकता है।

आपके दिलों में भी हलचल मचती होगी कि अपने-अपने जीवन को भी सार्थक बना कर कुछ ऐसी पहचान दी जाए जिससे स्वयं को भी पूर्ण आत्म-तुष्टि मिले और इस संसार को भी नई उपलब्धि। यही भाव प्रवणता का तकाजा है। पहली बात तो यह कि एक युवा हृदय में महत्त्वाकांक्षा बने और उसकी पूर्ति में साहस जागे, तब इच्छा शक्ति का निर्माण होगा और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न सिर्फ प्रयास के पग उठेंगे, बल्कि एक संघर्ष की हलचल भी शुरु होगी। यही हलचल उसे सफलता के द्वार तक पहुँचा कर उसे नई छवि प्रदान करती है। यह छवि ही संसार को प्रभावित करती है तथा संसार उस छवि का अनुसरण करने को सफलतापूर्वक प्रेरित हो जाता है।

परन्तु पहले इस संसार को तो समझिए कि वह है क्या और कैसा है? :

वर्तमान संसार के नक्शे के सामने अगर एक आदमी को खड़ा किया तो वह उसे किस नजरिए से देख पाएगा अथवा वह अपने संसार का क्या विवरण देगा–इसे समझने से फिलहाल चरित्र निर्माण अभियान के क्षेत्र का निर्धारण करने में सुविधा रहेगी।

तो बात है सामान्य जन की धारणा की कि यह संसार क्या है और कैसा है? स्थूल रूप से एक सामान्य जन का यही उत्तर हो सकता है कि यह संसार हमारा, सबका–सारी मनुष्य जाति का, पशु-पक्षियों का, जीव-जन्तुओं का, विविध पदार्थों का, अणु-परमाणु का यानी सबका घर ही तो है।

किन्तु, यह घर इतना बड़ा है कि हर कोई इस घर के हर किसी हिस्से को पूरी तरह नहीं जानता–सबका सब जगह पहुँच पाना तो बहुत दूर की बात है। इसमें रहने वाले सब भी अन्य सबको नहीं जानते हैं या कम अंशों में ही जानते हैं। ऐसी जानकारी अन्य छोटे प्राणियों की बात नहीं, स्वयं सर्वाधिक बुद्धिशाली एवं उन्नत जीवन जीने वाले मनुष्य की ही बात है।

असल में जो व्यक्ति जहाँ जन्मा है तथा जहाँ-जहाँ अन्यान्य कारणों से उसका आवागमन, सम्पर्क या संबंध बनता है, मुख्यतः उतना ही उसका अपना संसार होता है। व्यक्तिगत दृष्टि से ऐसे भू-भाग को 'जाना और देखा हुआ' यानी ज्ञात एवं दृष्ट संसार कहा जा सकता है। उस व्यक्ति का वही प्रत्यक्ष

संसार होगा, जिसके साथ उसका व्यावहारिक लगाव है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस ज्ञात एवं दृष्ट संसार के शेष भू-भाग को 'जाना पर अनदेखा' यानी ज्ञात किन्तु अदृष्ट या परोक्ष संसार कहा जा सकता है। उसके साथ उसका मात्र भावनात्मक संबंध ही बनाया जा सकता है।

इसके बाद उस संसार का क्रम लिया जा सकता है जो अब तक वर्तमान परिस्थितियों में सम्बद्ध शोधों के उपरान्त भी अज्ञात भू-भाग है। इसी में से पृथ्वी ग्रह के सिवाय वैज्ञानिक अनुसंधानों के फलस्वरूप ज्ञात होते जाने वाले चन्द्र, मंगल, शुक्र आदि ग्रहों वाले संसार के भाग को अलग से समझा जा सकता है। यह भाग सामान्य जन के लिए सिर्फ कौतूहल का विषय होता है, जो उसके विश्वास के दायरे में नहीं आता।

शास्त्रीय विवरणों के अनुसार संसार के भूगोल के संबंध में अलग-अलग धार्मिक मान्यताएं हैं और वर्णन भी अलग-अलग हैं। इनमें देवलोक, नरक, स्वर्ग, वैकुंठ, सिद्धस्थान, ब्रह्मलोक, गौ लोक, आदि विविध नामों के कई स्थल या आवास हैं।

किन्तु, यहां एक प्रश्न सामने आता है कि क्या संसार मात्र भूगोल है? यह माप या क्षेत्रफल वाली बात तो ठीक है, लेकिन क्या यह भूगोल भी स्थिर है या परिवर्तनशील? क्या संसार इतिहास नहीं है? इस तथ्य को कैसे नकारा जा सकता है कि आज हमारे पास संचित और उपलब्ध सूत्र, शास्त्र, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि की निधियाँ इतिहास-जन्य ही तो है। फिर संसार को भावलोक ही क्यों न मानें, जहाँ सारी रचनाओं का आधार भावनाएँ हैं। भावना मन से स्फूर्त होती है और मन है इसीलिए मनुष्य है।

संसार के मूल को प्रमुख रूप से मनुष्य के साथ जोड़ कर ही भली प्रकार जाना व माना जा सकता है। अधिकांश धर्म-सम्प्रदाय इस संसार को बुरा बताते हुए मनुष्य को उसे छोड़ने की सलाह देते हैं-इसमें संसार व मनुष्य का जुड़ाव ही मुख्य है। जुड़ाव नहीं हो तो अलगाव की बात का मतलब ही क्या? मनुष्य के संदर्भ में ही संसार के गुण-दोषों का विवेचन होता है, अतः संसार को छोड़ने का अर्थ यह लगाया जाना चाहिये कि यहाँ जो विविध प्रकार की विकृतियाँ फैली हुई रहती है, उनका त्याग किया जाए। मूलतः ये विकृतियाँ भावों से ही संबंधित होती है, क्योंकि भाव ही बाहर वचन और आचरण के रूप में प्रत्यक्षतः प्रकट होते हैं। इन्हीं के प्रयास से संसार का समुच्चय रूप से तथा संबंधित भू-भाग या क्षेत्र का वहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप वातावरण बनता है।

भगवान् महावीर के दर्शन में इस की सूक्ष्म चर्चा मिलती है। राग एवं द्वेष के भावों को संसार का बीज कहा गया है, कारण मूल में ये दोनों भाव ही विविध विकृतियों को जन्म देकर संसार में विषमताएं उत्पन्न करते हैं। इन विषमताओं के कर्ता एवं वाहक मनुष्य आदि जीव होते हैं। अज्ञानी जन राग, द्वेष का आश्रय लेकर बहुत कुकर्म-पाप करते हैं (**राग दोसास्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं**-सूत्र कृतांग, 1-8-8)। यह भी बताया गया है कि राग, द्वेष पूर्वक किया जाने वाला निषिद्ध आचरण अपने स्वरूप की दृष्टि से दर्पिका है तो राग, द्वेष रहित (अपवाद को छोड़कर) होने वाले

आचरण का स्वरूप कल्पिका माना गया है। कल्पिका से संयम की आराधना होती है तो दर्पिका से संयम की विराधना (**रागदोसाणुगया तु दप्पिया तु तदभावा। आराहणा उ कप्पे, विराहणा होति दप्पेणं**- श्री अभिधान राजेन्द्र कोष, 6-420) राग एवं द्वेष को ही अज्ञान का कारण मानते हुए ज्ञानवान् मनुष्य को राग, द्वेष रहित होकर कर्म करने की प्रेरणा दी जाती है, यह बताते हुए कि राग, द्वेष के आधार पर ही अज्ञानी तथा ज्ञानवान् पुरुष के लक्षणों में स्पष्टतः भेद किया जा सकता है। (**सक्ताः कर्मण्य-विद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथा-सक्ताश्चेकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।** -गीता, 3-25)।

क्या संसार और सांसारिकता में भेद करना जरूरी नहीं?:

समझने की बात यह है कि राग और द्वेष सांसारिकता के बीज हैं और सांसारिकता का अर्थ है- संसार में अज्ञानी मनुष्यों द्वारा फैलाई जाने वाली विकृतियों को विकृतियाँ न मानना तथा उनमें रमे रहना। जो विकृतियों को समझना या छोड़ना नहीं चाहता, वह सांसारिकता में लिप्त है-इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु मनुष्यों का एक जागृत वर्ग ऐसा भी देखा जाता है जो न सिर्फ विकृतियों को विकृतियाँ मानता है, बल्कि स्वयं उन विकृतियों को त्यागने की साधना करता है तथा पूरे संसार को उन्हें त्यागने की प्रेरणा भी देता है। ऐसे ही वर्ग में से ज्ञानी और विज्ञानी, बुद्ध और प्रबुद्ध तथा वीर और धीर पुरुष उभरते हैं जो अपने जीवन का उच्चतम विकास साध कर समग्र मानव जाति के लिए अनुकरणीय आदर्श के प्रतीक बन जाते हैं। यह विशिष्ट वर्ग भी इसी संसार में जन्म लेता, बड़ा होता और कर्म करके आदर्श बनता है। यह वर्ग कोई निश्चित वर्ग नहीं होता, बल्कि जो द्वेष को छोड़ते हैं, राग के स्थान पर विराग को अपनाते हैं, वे ही विकृतियों को मिटाने व घटाने का आन्दोलन चलाते हुए लोक-कल्याण के महद् कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वे यह मानते हैं कि विकृतियों से विरत होकर संसार के शुद्धिकरण में जितने अधिक विशिष्ट जन प्रवृत्त होंगे-इस संसार के सुधरने की आशा की जा सकती है। आखिर आदिमकाल से इसी संसार ने उपयोगी रहस्यों के उद्घाटन, ज्ञान-विज्ञान के विस्तार, संस्कृति एवं सभ्यता के विकास एवं विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के कदम भी तो बढ़ाए ही हैं। विकृतियों को दूर करने के असरकारक उपायों से अशुद्ध वातावरण को अधिकतम रूप से शुद्ध बनाने के प्रयास न्यूनाधिक मात्रा में ही सही-सफल तो होते ही हैं।

आशय यह कि यह संसार बुरा नहीं है, सांसारिकता बुरी है। यह भी माना जा सकता है कि राग, द्वेषमय सांसारिकता पूरे तौर पर कभी भी नहीं मिटाई जा सकेगी, किन्तु आज वातावरण में अशुद्धता तथा शुद्धता का जो अनुपात है, उसे तो शुद्धता की दिशा में ठोस प्रयासों के माध्यम से बढ़ाया ही जा सकता है।

सांसारिक वातावरण का शुद्धिकरण ही चरित्र निर्माण का मुख्य उद्देश्य माना जाना चाहिये। चरित्र निर्माण की दिशा ही एक मात्र दिशा है, जिसमें अग्रसर होकर संसार के वातावरण को अधिकाधिक मानवीय सद्गुणों से परिपूरित बनाया जा सकता है, ताकि संसारी जनों का जीवन अधिक सुखमय एवं विकासमय बन सके। साधक का संसार त्यागना जो कहा जाता है, वह वास्तव में सांसारिकता को

त्यागना है, बल्कि उसे भी त्यागने की साधना कहा जाना चाहिये। वास्तव में वह साधक संसार को नहीं त्यागता, अपितु संसार के सुधार का उपक्रम लेकर ही अपनी साधना का श्रीगणेश करता है और उसे परिपक्व बनाता है। वह संकुचित क्षेत्र से हटकर विशाल क्षेत्र को थामता है, ताकि अपनी क्षमताओं का समुचित विकास करते हुए वह स्व-पर कल्याण को त्वरित गति से सम्पन्न कर सके। वर्णमाला 'अ' से शुरु होती है और अपनी यात्रा 'ज्ञ' पर समाप्त करती है, उसी प्रकार इस संसार में प्रत्येक विवेकवान मनुष्य ही नहीं, अन्य विकसित प्राणी भी साधना का 'अ' जरूर साधने की कोशिश करते हैं। कौन 'अ' से शुरु होकर किस वर्ण तक या 'ज्ञ' तक पहुँच पाता है-यह क्षमता विकास का प्रश्न है। यह क्षमता विकास भी केवल प्रयत्नरत उस प्राणी या मनुष्य का ही दायित्व नहीं है, बल्कि पूरे संसार तथा सम्बद्ध समाज का भी दायित्व है कि क्षमता विकास के लिये उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाए। जब व्यक्तिगत एवं सामाजिक शक्तियाँ परस्पर जुड़ कर, तालमेल बिठा कर विकास की डगर पर चलती हैं तो कोई सन्देह नहीं कि संसार के वर्तमान विकृत स्वरूप को सुधार कर उसे सामान्य रूप से विकासशील क्षेत्र बनाया जा सकता है।

संसार अर्थात् मनुष्य लोक नहीं, क्योंकि संसार में तो चारों गति के जीव हैं?

इस मान्यता में कोई विवाद नहीं है कि यह मनुष्य लोक और यह मानव जीवन ही ऐसा स्थान और अवसर है, जहाँ से उच्चतम उन्नति की साधना सम्पन्न की जा सकती है। यह संसार ही वास्तविक कर्मभूमि है।

अत: अन्यान्य विवादों से परे हट कर इन प्रश्नों पर आज के नजरिये से सोच-विचार किया जाना चाहिये कि इस ज्ञात संसार का संसरण अथवा प्रकृति का चक्र कैसा है, विभिन्न भू-खण्डों में मानवीय वातावरण का रूप-स्वरूप क्या है, इसमें श्रेष्ठता कितनी है तथा परिवर्तन की रूपरेखा कैसी बनाई जानी चाहिये, व्यक्ति और समाज के बीच कैसा तालमेल है और उसे विकास परक कैसे बनाया जा सकता है, समाज की वरीयता कैसे स्थापित की जाय तथा कैसे सभ्यता का मापदंड सुधारा जाय, संस्कृति को विकारमुक्त बनाकर किस रीति से उसे संसार के लिये हितावह बनाई जाय, परम्पराओं को संकुचित दायरों में से निकाल कर उन्हें व्यापक स्वरूप कैसे प्रदान किया जाय और कैसे मनुष्यता को विभाजित करने वाली भांति-भांति की दीवारों को ढ़हाकर उदार संबंधों को पनपाया जाय।

यह भी विचार किया जाना चाहिये कि मनुष्य इस संसार से क्या लेता है और संसार उससे क्या मांगता है अथवा उसे इस संसार को क्या देना चाहिये? संसार के मनुष्य पर कौन-कौन से ऋण हैं और इस ऋण-मोचन के क्या-क्या उपाय हो सकते हैं? ऐसे ही कई प्रश्न हो सकते हैं, जिनके सुन्दर समाधान पर व्यक्ति-हित और विश्व-हित का सामंजस्य सध सकता है।

इन प्रश्नों का समाधान सरल नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए बिना न्याय की स्थापना नहीं हो सकती और न्याय के बिना सम्पूर्ण समाज में समता का सूत्रपात संभव नहीं। इस कठिन दायित्व का निर्वाह युवा वर्ग ही अपने कंधों पर ले सकता है, जो चरित्र निर्माण के क्षेत्र में

आगे बढ़ कर अपने आपको चरित्रनिष्ठ बनाएगा तथा अपने आदर्श को सामने रखकर सारे समाज को चरित्र निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देगा। व्यक्ति का चरित्र उन्नत होता है तभी समाज में नैतिकता एवं वैचारिकता का प्रसार होता है और यह भावनामय सामंजस्य ही व्यक्ति एवं समाज दोनों के उद्‌भव का कारगर कारण बनता है। संसार की आधार भूमि जितनी समतल, जितनी स्वच्छ एवं उर्वर बनेगी, उतनी ही व्यक्ति की उच्चतम उन्नति साधने की प्रेरणा भी प्रबल स्वरूप धारण कर सकेगी।

यह संसार चरित्रशील पुरुषों को ललकारता रहा है, आज भी ललकार रहा है :

संसार सदा गतिशील तो रहता ही है-दिशा चाहे उत्थान की हो या पतन की, परन्तु इसकी प्रगतिशीलता सदा ही चरित्रशील पुरुषों की मुखापेक्षी रही है। प्रगति का कारक वही बन सकता है जो अपने सशक्त हाथों में प्रगति की डोर को थामकर सबको साथ में चला सकता है। यह सामर्थ्य चरित्र-सम्पन्नता से ही उपजता और पनपता है। यही पृष्ठभूमि होती है कि संसार के अनभेदे रहस्य चरित्रनिष्ठ पुरुषों को ललकारते हैं कि वे आगे बढ़ें और संसार में उत्थान के नए द्वार खोलें। आज भी यह ललकार चारों ओर गूंज रही है।

संसार के रहस्यों का भेदन तभी संभव होता है, जब स्वार्थ से ऊपर उठ कर स्व-पर कल्याण का ही भाव हो तथा उससे आगे बढ़कर स्व को भी विसर्जित कर देने की उमंग हो और जब संसार का हित ही सर्वोपरि बन जाए। रहस्यों के उद्‌घाटन से पहले या बाद में जब-जब भी सत्ता एवं सम्पत्ति के स्वार्थों ने अपना दबाव बनाया है, तब-तब सर्वहित के स्थान पर तुच्छ स्वार्थ हावी हुए हैं और प्राप्त उपलब्धियों का इतना दुरुपयोग किया गया है कि वे संसार की हितकारी बनने के स्थान पर संहारक बन गई। अणुशक्ति की उपलब्धि का उदाहरण हमारे सामने है और यह उदाहरण इस सत्य को सिद्ध करता है कि उपलब्धियों का सदुपयोग चरित्रशीलता के अभाव में सुरक्षित नहीं किया जा सकता है। सर्वहित की प्रबल भावना ही रहस्योद्‌घाटन के भविष्य को निर्बाध बना सकती है। जैसे सर्प एकान्त दृष्टि से चलता है, वैसे ही एकान्त दृष्टि से चरित्र धर्म का पालन करना अत्यन्त कठिन है (**अहीवेगंत दिट्ठिए, चरित्ते पुत्त**! दुच्चरे-उत्तराध्ययन, 19/38), किन्तु ऐसी दृढ़ता ही तो चरित्र धर्म की मुख्य विशेषता होती है।

संसार के अनभेदे रहस्यों को भेदने की ओर ध्यान भी ऐसे चरित्रनिष्ठ पुरुषों का ही जाता है और उन्हीं की जिज्ञासा उन्हें जान लेने को उद्‌दाम बन जाती है। साहस उनका सम्बल बनता है और वे साधना या शोध पथ पर निर्द्वन्द रूप से आगे बढ़ जाते हैं। उनका यह वृहद (महत्) कार्य ही संसार को नई-नई उपलब्धियों के उपहार भेंट करता है कि उन उपलब्धियों के आधार पर प्रगति के नये-नये आयाम प्रकट हों।

आज तक ऐसे अनजाने रहस्यों को भेदते आए हैं ज्ञानीजन, साधक, दार्शनिक, ऋषि, मुनि आदि तो दूसरी ओर वैज्ञानिक, साहित्यकार , कवि, कलाकार आदि। इन सबकी उपलब्धियों ने संसार को श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाने की ही प्रेरणा दी है। फिर भी वांछित प्रगति नहीं साधी जा सकी अथवा किन्हीं

अर्थों में पतन की ओर भी लुढ़कना हुआ है तो इसमें दोष ऐसे चरित्रनिष्ठ पुरुषों का नहीं, बल्कि उन चरित्रहीन मनुष्यों का है, जिन्होंने उन सार्वजनिक उपलब्धियों का दुरुपयोग अपने सत्ता एवं सम्पत्ति के स्वार्थों को पूरा करने के लिए किया। दूसरे शब्दों में यह कहें कि मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ ही इस दुरुपयोग के लिए जिम्मेदार रही हैं।

अब जब चरित्र निर्माण के लिए प्रयास प्रारम्भ किए जावें तो इन सारे अनुभवों को सामने रखना होगा और संसार की नैतिकता का इतना न्यूनतम स्तर तो बनाना ही होगा कि मानवहितकारी उपलब्धियों का दुष्प्रयोग कतई न हो सके। इस प्रकार की दुष्ट वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को घटाने तथा मिटाने के लिए ही तो चरित्र-निर्माण के अभियान की आवश्यकता है।

सच्ची उपलब्धियाँ वे ही हैं जो ज्ञान-विज्ञान के नए द्वार खोलती हैं :

यह सही है कि जिज्ञासा ही साहसिक बनकर साधना व शोध के बल पर दुर्लभ रहस्यों की परतों को चीरती है और उपलब्धियों के जगहितकारी माध्यम प्रस्तुत करती है, किन्तु प्रत्येक जिज्ञासा सही हो और सही साहस ही दिखावे-यह जरूरी नहीं। यह भी जरूरी नहीं कि सही उपलब्धियाँ ही सामने आवे और तदनन्तर उनका सही प्रयोग ही किया जाए। किसी भी साधक या शोधक के मनोभाव तथा संस्कार महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि वह भीतर से अपने उद्देश्य के प्रति ईमानदार नहीं हुआ या घातक उद्देश्य को छिपाए रहा तो वह सही साधन का भी दुरुपयोग ही होगा-फिर उपलब्धि के सही प्रयोग का तो प्रश्न ही नहीं। छोटी-सी तकली सूत कातने का साधन होती है जिससे कातने वाले को रोजी मिलती है यानी कि यह लाभकारी साधन होता है। अब इस सही साधन को भी कोई दुष्ट व्यक्ति सामने वाले की आंख में घोंप (घुसेड़) कर उसे अंधा बना दे तो क्या तकली को दोष दिया जा सकता है? दोष होता है मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति का।

इस संदर्भ में चरित्र-निर्माण की महत्ता आंकी जानी चाहिये। एक सज्जन व्यक्ति घातक साधन का भी सदुपयोग ही करता है। तलवार से वह किसी को मारता नहीं, बल्कि अशक्तों की रक्षा ही करता है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो चरित्र निर्माण का अभिन्न महत्त्व है। चरित्र है तो कहीं किसी भी साधन के दुरुपयोग तथा मानवीय अहित की आशंका नहीं और चरित्र नहीं तो तकली से भी आंखें ही फोड़ी जाती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि बुरी नहीं, मनुष्य की दृष्टि ही बुरी है जो चरित्र निर्माण के अभाव में संसार को ज्यादा से ज्यादा बुरा बनाती ही जाती है। अतः चरित्र-निर्माण की सभी संभावनाओं पर आज डट कर काम करने की जरूरत है।

चारित्रिक दृष्टिकोण के अनुसार सच्ची उपलब्धियाँ वे ही मानी जाएगी जो सर्वहित में ज्ञान-विज्ञान के नए द्वार खोलती है और इस संसार को श्रेष्ठतर बनाने की कोशिशों में जुड़ती है। उपलब्धि चाहे सैद्धान्तिक, दार्शनिक या वैचारिक हो (यानी कि आध्यात्मिक अथवा पदार्थ व व्यवस्थागत और व्यावहारिक हो यानी कि भौतिक) सबका उद्देश्य संसारहित ही होना चाहिये, जिसमें प्रत्येक मानव एवं प्राणी का हित समाया हुआ हो। इन उपलब्धियों के प्रभाव से संसार के वातावरण में सर्व सुरक्षा एवं सर्व सहयोग का सद्भाव प्रसारित होना चाहिये।

ज्ञानियों एवं दार्शनिकों की गूढ़ दृष्टि ने दिखाई आध्यात्मिक राहें :

संसार के अनेक देशों में ऋषि-मुनियों, ज्ञानियों, साधकों, सन्तों, दार्शनिकों और धर्म प्रवर्तकों ने अपनी साधना, ध्यान, तप आदि की शक्तियों के बल पर नये धर्म सिद्धान्त प्रवर्तित किये, दर्शन की अनेक धाराएं बहाई और साध्य के नये आयाम उपस्थित किये। इस महद् कार्य में भारत निश्चित रूप से विश्व गुरु रहा। यहाँ जिस प्रकार की आध्यात्मिक राहें बनी, वे प्रकाश स्तंभ रूप रही जिनके प्रकाश में समस्त संसार ने अपने उत्थान के उपाय खोजे।

मनुष्य की आकांक्षा केवल जीने की ही नहीं होती, बल्कि उसकी मूल आकांक्षा गौरव के साथ जीने की होती है और यही गौरव वह अपने विविध उपक्रमों से प्राप्त करना चाहता है। उसकी सही आकांक्षा न केवल धर्म-दर्शन के प्रतिफलन में अपितु श्रेष्ठ संस्कृति एवं सभ्यता के सृजन में भी अभिव्यक्त होती है। इसी मूल आकांक्षा के निर्वाह हेतु ही श्रेष्ठ चरित्र पर आधारित परम्पराओं का ढांचा रचा जाता है ताकि मनुष्य की गौरव प्राप्त करने की आकांक्षा ही नहीं, मनुष्यता की गौरव गरिमा भी अक्षुण्ण बनी रहे।

भारत के धर्म और दर्शनों का यही आधार मुख्य रहा है। हमारे यहां की धर्म और दर्शन की प्रगति भी अद्भुत रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से 1500 ईसा पूर्व से भारतीय विचारधारा का जो विकास होना शुरू हुआ, वह निरन्तर चलता रहा है-वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि के दर्शन प्रवाह में अनेक अमूल्य सिद्धान्त प्रकट हुए जो भारतीय धर्म-दर्शन की अमूल्य निधि है। सारे संसार के दर्शनों पर इसकी छाप पड़ी है। इस निधि के उल्लेखनीय रत्न हैं- वेदों का सृष्टि विज्ञान, उपनिषदों का आत्मज्ञान, जैन दर्शन का अहिंसा और अनेकान्तवादी यथार्थ, बौद्ध मत का नैतिक आदर्शवाद, भगवद्गीता का आस्तिकवाद, सांख्यदर्शन का जीव-प्रकृतिवाद, नैयायिक दर्शन का तत्त्व निरूपण, चित्तवृत्ति निरोधक योगदर्शन, चार्वाक का लोकायत दर्शन आदि। ये तो कुछ बानगियाँ हैं, बाकी गूढ़ सिद्धांतों का अम्बार है, जिनके अनेक रहस्यों का अभी भी उद्घाटन शेष है।

दर्शनशास्त्रों के प्रादुर्भाव के उपरान्त जैन एवं बौद्ध दर्शनों के विप्लव ने भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया, क्योंकि इस विप्लव ने कट्टरता की पद्धति को अन्ततः उखाड़ कर ही दम लिया तथा एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने में सहायता दी (भारतीय दर्शन खंड 2 अध्याय 1 द्वारा सर्वपल्ली राधाकृष्णन्)।

आध्यात्मिक क्षेत्र के रहस्य और उनका उद्घाटन एक आंतरिक प्रक्रिया के बल पर होता है, जिनकी जिज्ञासा, साधना और अवाप्ति का सूक्ष्म संचरण मन की तरंगों, ध्यान के योगों तथा आत्मिक चिन्तन धाराओं में से होकर गुजरता है। परन्तु इस क्षेत्र की प्रमुख आधारभूमि चरित्र-संपन्नता ही रहती है। चरित्र की उत्कृष्टता के बिना न तो साहसिकता का समुद्भव हो सकता है और न ही रहस्य भेदन की प्रक्रिया की सफलता। पुष्ट मूलाधार पर ही गति अग्रसर हो सकती है।

वैज्ञानिकों की भौतिक उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक रही हैं :

आज से सौ वर्ष पहले की स्थिति पर नजर डालें तो लगेगा कि तब विज्ञान की प्रगति में ऐसा कुछ नहीं था जिस पर दांतों तले अंगुली दबाई जाती। यों तो सबसे पहले आग की खोज हुई तो लोगों की जीवनशैली में बड़ा बदलाव आया। फिर पहिये की खोज ने आवागमन के साधनों में नया ही चमत्कार ला दिया, लेकिन अभी-अभी जो सूचना तकनीक की नई-नई खोजें हुई हैं, उनसे तो सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। सूचना तकनीक के विकास में तो भारत का भी पहले क्रम का योगदान है-कम्प्यूटर सोफ्टवेअर में भारत का कोई सानी नहीं। वैसे संवाद प्रेषण, जानकारी संचयन आदि में कम्प्यूटर हार्ड व सॉफ्टवेअर, इन्टरनेट, वेबसाइट, ई-मेल, मोबाइल फोन आदि संसाधनों ने सारे संसार को इस तरह घनिष्ठता एवं समीपता से जोड़ दिया है, जैसे कि पूरा संसार एक छोटा-सा गाँव हो गया हो।

अन्यान्य क्षेत्रों के सिवाय चिकित्सकीय क्षेत्र में भी अद्‌भुत कारनामे सामने आ रहे हैं। टेस्ट ट्यूब बेबी, भ्रूण प्रत्यारोपण, अंग प्रत्यारोपण के बाद अब समस्वरूपांकन (क्लोनिंग) के काम में भी कामयाबी मिल गई है। इस क्लोनिंग से जहाँ अनेक दुविधाएं पैदा होने की आशंकाएं हैं, वहां इसका एक उपयोगी पहलु भी बताया जा रहा है कि इसके माध्यम से अमुक कोशिका से ऐसा प्रयोग किया जा सकेगा, जिससे नष्ट हो रहे शारीरिक अंगों का दुबारा अंकुरण करा कर उन्हें स्वस्थ अंग-प्रत्यंगों के रूप में बदला जा सके। अन्य अनेक क्षेत्रों में नये-नये अनुसंधान सामने आ रहे हैं, जिन्हें आश्चर्य जनक माना जा रहा है।

यहाँ इस वैज्ञानिक प्रगति के पीछे रही हुई शक्ति की पहचान भी की जानी चाहिये। इस प्रगति में भी वही शक्ति अनिवार्य रूप से चाहिये जो आध्यात्मिक शोधों में चाहिये-वह है चरित्र की शक्ति। यों कहें कि इसमें चरित्र की विशिष्ट शक्ति चाहिये कि विज्ञान को विनाशक न बनाया जा सके, जैसा कि आज हो रहा है। कम से कम आयुध क्षेत्र की उपलब्धियाँ महाविनाश की तलवार सिर पर लटकाए हुए है। शक्तिशाली व्यक्तियों, समाज नायकों तथा राष्ट्र शासकों में यदि चरित्र हीनता का कुसंस्कार रहता है और विज्ञान की प्रगति इसी क्रम में चलती रहती है तो कोई सन्देह नहीं कि स्वार्थवादिता की आग में सम्पूर्ण मानवता और संसार जल-झुलस जायेगा। इस दृष्टि से विज्ञान क्षेत्र में भी चरित्र की महत्ता पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

सच में यह संसार बहुविध चरित्र का ही विशाल रंगमंच है :

व्यापक रूप से संसार की दृश्यावलियों पर दृष्टिपात किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट उजागर होता है कि समस्त उपलब्धियों की सही आधारभूमि चरित्र सम्पन्नता ही है। कारण, जब-जब चरित्रहीनता उभरी और फैली है, तब-तब व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, संगठन-संगठन के बीच, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच, व्यक्ति, संगठनों व राष्ट्रों के बीच कटुता बढ़ी है, द्वन्द्व पैदा हुए हैं और युद्ध तक छिड़े हैं। क्योंकि चरित्रहीनता से नैतिकता तथा दायित्व की भावना लुप्त हो जाती है और स्वार्थ सबसे ऊपर बैठ जाता है। तब बुरे साधनों का बुरा उपयोग रुका हुआ हो तो फिर भड़क जाता है, लेकिन अच्छे साधनों का

भी दुरुपयोग शुरु हो जाता है। ऐसे दुरुपयोग की साफ तस्वीर आज के जमाने में देखी जा सकती है।

आधुनिक वातावरण धन लिप्सा एवं सत्ता लालसा की आंधी से इतना धूल धूसरित हो गया है कि सुधारने की दिशा में काम करने वाले प्रबुद्ध जनों को भी कई बार निराशा का सामना करना पड़ता है। निराशा का कारण यही होता है कि सभी प्रकार की मानवहित की उपलब्धियों का निजी स्वार्थ पूर्ति हेतु दुरुपयोग हो रहा है। इससे मानवीय मूल्यों का क्षरण ही नहीं होता, बल्कि लोप भी होता जाता है। ऐसे में दलित एवं पीड़ित लोगों की दु:ख गाथाएं सुन-देख कर ही दिल दहल जाता है।

परन्तु, यह अटल सत्य है कि प्रत्येक युग में चरित्रशील व्यक्ति संसार के विशाल रंगमंच पर उतर कर सामने आते हैं और नई उत्क्रान्ति का प्रसार करके समग्र वातावरण को सर्वजन के हित एवं सुख हेतु नया रूप-स्वरूप प्रदान करते हैं। आज भी (स्थाई निराशा का कोई काम नहीं) प्रबुद्ध एवं युवा वर्गों के चरित्र-निर्माण के सत्प्रयास अवश्यमेव सफल होंगे तथा संसार के वातावरण में नया सुखद मोड़ आएगा। इसके लिए आवश्यकता है कठिन से कठिन परिस्थितियों से लोहा लेने की और सदाचार के समर्थन में नई जन-भावना जगाने की। अब हमारे यहाँ भी चरित्र-निर्माण की हवा बहने लगी है और वातावरण सुधार की इच्छाशक्ति की झलक दिखाई देने लगी है। ऐसे में यदि चरित्र-निर्माण का एक सतत सक्रिय अभियान पूरी उमंग और निष्ठा के साथ चलाया जाए तो सुधार की प्रक्रिया में तेजी लाई जा सकती है।

जरा अपनी दृष्टि को गहराई तक ले जावें तो अवश्य समझ में आएगा कि यह संसार सचमुच ही बहुविध चरित्रों का एक विशाल रंगमंच है। जितनी भी गतिविधियाँ इस रंगमंच पर नजर में आती है, उनको दो ही रूपों में देखा जा सकता है। एक तो यह है कि यदि चरित्रशीलता है और उसका चारों ओर फैलाव है तो सभी शक्तियों का सदुपयोग है तथा उपलब्धियों के माध्यम से मानव सेवा का उपक्रम है। दूसरा, यदि चरित्रहीनता का चारों ओर माहौल है तो वहाँ उन्हीं श्रेष्ठ उपलब्धियों का भी दुरुपयोग और मानवता विरोधी कार्यों की श्रृंखला का चलता हुआ क्रम दिखाई देगा। चरित्र निर्माण के क्षेत्र में कार्य करने वालों को आकलन करना होगा कि समाज व संसार में प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग तथा सदुपयोग करने वालों का क्या अनुपात है? हमें अपने (आन्दोलनकारी) कार्यकलापों से चरित्रनिष्ठा के दायरे को बढ़ाते हुए सदुपयोग की प्रवृत्ति को इतनी प्रखर बनानी है कि दुष्प्रयोग की दुष्प्रवृत्ति कम होकर बेअसर बन जाए। एक प्रकार से पूरी तरह संसार का संचरण चरित्र के संदर्भ में प्रसारित एवं पुष्ट बन जाए।

चरित्र ही बनाता है बिम्ब, छवियाँ और महान् विभूतियाँ :

सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रूप से यह सत्य स्थापित है कि चरित्र के महात्म्य पर ही किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व पूरी भीड़ में से ऊपर उभरता है जैसे कि वह दीप्तिमान बिम्ब हो। यही बिम्ब जब अपने जीवन के विस्तृत व्यवहार एवं काल प्रवाह में उस दीप्ति को बनाए रखता है अथवा उसे वह प्रवर्धमान करता रहता है तब उसका रूप स्थायित्व में बदल जाता है और उसका उल्लेख छवि (इमेज) के रूप में होने लगता है। छवि होती है सफल व्यक्तित्व के प्रतिस्थापन की (पुष्टि की)।

समाज में तथा सर्वत्र वह व्यक्ति अपनी उस चारित्रिक छवि के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, सच्चा और प्रामाणिक माना जाता है कि उसके साथ कोई भी आंख बन्द करके पूरे विश्वास के साथ अपना व्यवहार चला सके। ऐसी छवि का अंकन एक प्रकार से चरित्र निर्माण का दूसरा चरण माना जा सकता है।

चरित्र निर्माण का तीसरा चरण उस व्यक्ति को महानता की ओर गतिशील बनाता है। बिम्ब का उभार एवं छवि की स्थापना से विभूति बनने की महायात्रा आरंभ होती है। उस पुरुष का ओज, प्रभाव और सामर्थ्य तदनुसार ऐसा प्रभाविक बनने लगता है कि लोग उसके मुख मंडल के चारों ओर एक आभा-सी चमकती हुई देखने लगते हैं। वह पुरुष अपने स्वार्थों से ऊपर उठ जाता है, बल्कि अपने निजत्व को भी महान् साध्य के हित में न्यौछावर करना शुरु कर देता है। उसका साध्य होता है प्रेम एवं सद्भाव के साथ सारे संसार का बन जाना तथा मानवता के समुन्नत मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करना। यह जीवन शैली उस चरित्रनिष्ठ व्यक्ति को महानता की पंक्ति में बिठा देती है।

वस्तुतः चरित्र सम्पन्नता की महत्ता अपूर्व होती है। इसके लिए इस संसार के विशाल रंगमंच का गहराई से अध्ययन करते रहना चाहिये।

संसार एवं चरित्रबल सदा एकीभूत रहे हैं और रहेंगे, तभी संसार चलेगा :

दृष्टिकोण का सीधा-सा अर्थ है कि दृष्टि किस कोण से डाली जा रही है। कोण अनेक होते हैं और भिन्न-भिन्न कोणों से दृष्टि डालने पर भिन्न-भिन्न दृश्य तथा मंतव्य सामने आ सकते हैं। ऐसा एक ही तत्त्व, विचार या पदार्थ के स्वरूप के संबंध में भी प्रतीत हो सकता है। इसी सत्य को इस ऋषि वाक्य में कहा गया है '**एको सद्, विप्राः बहुधा वदन्ति**'। इस विचार दशा को इस रूप में भी कहा गया है कि '**मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्नाः**'। इन उक्तियों का तात्पर्य यह है कि एक ही तत्त्व, विचार या पदार्थ का विद्वत्जन भिन्न-भिन्न प्रकार से विश्लेषण करते हैं। यदि इसमें एकान्तिक दृष्टि अपनाई जाय तो भ्रम एवं विवाद का वातावरण फैल सकता है, किन्तु अनेकान्त दर्शन अथवा स्याद्वाद के सिद्धान्त ने इस बहुधा विश्लेषण को सत्य के साक्षात्कार का साधन बना दिया। तत्त्व या पदार्थ के सभी पहलुओं को देखना-समझना तथा सामंजस्य पूर्ण समीक्षा से उन पहलुओं में स्थित सत्यांशों का संचय करके पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना इस सिद्धान्त का लक्ष्य है। सत्य शोधन की यह प्रक्रिया ही फलदायक है तथा सत्य शोधकों द्वारा अपनाई जानी चाहिये।

यहां इस सिद्धान्त के उल्लेख का संदर्भ यह है कि संसार विषयक धारणा में इस सिद्धांत का प्रयोग किया जाना चाहिये। यह सही है कि संसार में राग, द्वेष रूपी विकारों के फैलाव से वायुमंडल की शुद्धता अधिकांश रूप में प्रभावित होती है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिये कि संसार सर्वथा विकृत स्थल ही है। इसी संसार की भूमि पर महान् विभूतियों ने जन्म लिया है, इसकी माटी से सुसंस्कार पाये हैं तथा अपने पावन उद्देश्यों से सर्वक्षेत्रीय उन्नति के नये मार्ग उद्घाटित किये हैं। परन्तु, यह भी सही है कि हाथ की सभी अंगुलियाँ एक-सी नहीं होती और संसार के सभी व्यक्ति एक दिशा में साथ-साथ नहीं चल सकते। इसके उपरान्त भी अधिकतम व्यक्तियों को सन्मार्ग पर

चलने के लिये प्रेरित तो किया ही जा सकता है। आखिर महान् विभूतियां प्रेरणा देने के इस महान् गुण के कारण ही अपनी महानता बना सकी है। इन्हीं विभूतियों का भाव प्रकाश आज भी जगमगा रहा है- केवल उस ओर अज्ञानी लोगों का ध्यान आकर्षित करने एवं सामूहिक जीवनशैली में सदाचरण को प्रवर्तित करने की आवश्यकता है।

एक दृष्टिकोण जो बना हुआ है, वह है सिर्फ बुराई को देखकर ही अमुक धारणा बनाने की वृत्ति। बुराई जरूर देखनी चाहिये, लेकिन उसे अनुपात से कई गुनी बड़ी बनाकर नहीं। यदि ऐसा किया जाएगा, जैसा कि आज किया जा रहा है तो बड़ा आकार करके देखी जाने वाली इस बुराई की काली छाया में अच्छाई की तस्वीर धुंधली ही दिखेगी यानी कि जितनी अच्छाई है, उससे बहुत कम नजर में आएगी। इसका सीधा असर व्यक्ति के हृदय और जन मानस पर यह होगा कि अच्छाई पाने की ललक कमजोर होती जाएगी तथा जो बुराई जोरदार कर सकते हैं वे अपने हौंसले बढ़ा कर खूब बुराई करने पर डट जाएंगे, लेकिन जिनकी बुराई करने की हिम्मत या औकात नहीं है, वे निराश होकर अपने वजूद को भी भूलने लगेंगे। इसका बहुत तीखा असर होगा समाज और राज पर कि व्यवस्था का क्रम टूटने लगेगा, यानी चरित्रहीनता व्यक्ति-व्यक्ति से आगे बढ़ती हुई समाज और राष्ट्र को भी अपने बिगाड़ के घेरे में लेना शुरु कर देगी।

इस दृष्टिकोण को इस रूप में बदलने की जरूरत है कि बुराई को बुराई के परिमाण में ही देखें और अच्छाई को भी उसके परिमाण में, फिर दोनों के बीच के अनुपात का आकलन करते रहें, जिससे सही स्थिति का आभास हो कि कुल मिलाकर बुराई बढ़ रही है या अच्छाई। यदि बुराई बढ़ रही है तो उसके लिए उपाय करें कि अच्छाई का ग्राफ ऊपर उठे। किन्ही अंशों में अच्छाई के आकार को बढ़ा कर लोगों के सामने प्रस्तुत किया जाए तो वह लाभदायक होगा। एक ओर अच्छाई को प्रोत्साहन मिलेगा तो दूसरी ओर आम लोगों को अच्छाई की ओर आकर्षित किया जा सकेगा। इससे अच्छाई को संरक्षण मिलेगा और उसका विस्तार भी सरल बन सकेगा।

इस तथ्य को समझें कि किसी एक बुरे आदमी के हाथों एक अपराध होता है यह सभी देखते हैं, लेकिन अनेकों व्यक्तियों के सद्व्यवहार से अनेक अपराध रुकते हैं, इस अच्छाई पर किसी की नजर मुश्किल से ही जाती है। यह भी आम तौर पर होता है कि दस बार अच्छा व्यवहार करने के बाद किसी कारण विशेष से केवल ग्यारहवीं बार कोई खराब व्यवहार कर लेता है तो दस अच्छाइयों को भुला कर सिर्फ एक बुराई को इतनी बड़ी बना दी जाती है जैसे कि उस व्यक्ति ने अच्छा व्यवहार तो कभी किया ही नहीं था। इसी वृत्ति या मानस को बदलकर सम दृष्टिकोण से संसार के वातावरण को देखने और परखने का स्वभाव बनाना चाहिये। एक बुराई को ही इतनी बड़ी करके देखी जाए कि व्यक्ति और व्यवस्था सबको कोसने लगें, सारे जमाने को दोष देने लगें और आगे बढ़ते हुए सारे संसार को ही बुरा बताने लगें तो आखिर होगा क्या? संसार और जमाने से नफरत करने लगेंगे और अपने आपको भी सुधार नहीं पाएंगे। '**माया मिले न राम**' वाली हालत हो जायेगी, हो क्या जाएगी, शायद आज ऐसी ही हालत हो रही है।

अत: दृष्टिकोण ऐसा भी बनाना चाहिये कि हमारी आलोचना एकांगी न हो और दोषों को दिखाते

हुए गुणों की उपेक्षा भी न करें। यह भी हम ध्यान रखें कि असलियत में और आलोचना में भी अच्छाइयों के पलड़े को हमेशा वजनदार बनाए रखें। इतना ही नहीं, बल्कि सबको प्रत्यक्ष दिखाई भी दे कि दरअसल अच्छाइयों का पलड़ा वजनदार ही है।

भारत देश की वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में इस प्रचलित दृष्टिकोण को समझिये। सामान्य रूप से आज सभी को लगता है कि देश में कानून एवं व्यवस्था की स्थिति बड़ी खराब है, अपराधों का ग्राफ बहुत ऊपर जा रहा है और नई पीढ़ी के चाल-चलन में भी बड़ी खराबियाँ धंस गई है-यह एक दृष्टिकोण है। क्या यह दूसरा दृष्टिकोण नहीं बनाया जा सकता कि इन सबके बावजूद बहुसंख्यक लोगों की सुरक्षा हो रही है, उनके काम-धंधे अच्छे चल रहे हैं, सामान्य रूप से आपसी व्यवहार भी बहुलांश में सही है तथा इसी प्रकार का भाईचारे का माहौल भी है। यदि ऐसा न हो तो दंगे-फसाद होते रहें, चारों ओर अराजकता फैल जाए या प्रत्येक व्यक्ति का जीना दुस्वार बन जाए। लेकिन, ऐसा नहीं है और इसका साफ मतलब यही है कि समूचे वातावरण का अधिकांश अच्छा है। अच्छाई अधिक है और बुराई कम। इस बुराई को भी दूर करने की लगातार कोशिश होनी चाहिये, लेकिन उससे भी बढ़कर कोशिश अच्छाई को मजबूत बनाने की होनी चाहिये। ऐसी मानसिकता जब बनेगी तो संसार, समाज और राज को केवल कोसने की खोखली प्रवृत्ति बंद हो जायेगी।

यही लक्ष्य है चरित्र-निर्माण के सतत सक्रिय अभियान का कि बुरे संसार की बुराई को कम करने तथा अच्छे संसार की अच्छाई को बढ़ाने का कार्य निरन्तर उत्साहपूर्वक किया जाए। यह समझ लिया जाना चाहिये कि अब तक संसार का सारा काम चरित्र बल की सहायता से ही चलता आया है और दोष या बिगाड़ तभी पैदा हुआ जब चरित्र बल क्षीण हुआ। दीर्घकाल के इतिहास के तथ्यों को परखेंगे तो स्पष्ट होगा कि संसार और चरित्रबल सदा एकीभूत रहे हैं। संसार का सही स्वरूप तभी सामने आ सका है, जब चरित्रशील पुरुषों का प्रभाव सर्वोच्च रहा यानी अधिसंख्य जन चरित्र का अनुसरण एवं मर्यादाओं का पालन करने में अग्रसर रहे। जब चरित्रहीनता का दौर आता है तब संसार के अन्यान्य समुदाय भी विकारग्रस्त होते हैं और पूरे एक वृहद् घटक के नाते संसार की प्रतिष्ठा भी गिरती है।

वास्तविकता के इस प्रकाश में यह सिद्धांत सिद्ध माना जाना चाहिये कि संसार तथा चरित्रबल की एकात्मकता आज भी बनी हुई है और भविष्य में भी बनी रहेगी, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो संसार का चलना ही दुष्कर हो जाएगा अर्थात् चरित्र के पूर्ण अभाव में तो संसार में प्रलय ही आ जाएगा। किन्तु, ऐसा होगा नहीं। आवश्यकता है कि चरित्रबल को सब ओर उभारा जाए, सामान्य जन के मन-मानस में यह बल पैदा किया जाए और इस संसार में पुनः चरित्रबल से सब सबल बनें।

◆◆◆



विश्व रचना, व्यवस्था का परिदृश्य एवं संतुलन की सुई

2



विश्व रचना, व्यवस्था का परिदृश्य एवं संतुलन की सुई

चरित्र विकार क्या है और क्यों है?

विश्व रचना और वर्तमान
समय की नदी में
कितना पानी बह गया, कितना अटक गया
और कितना बह रहा है, निरन्तर
कभी पानी से पनीले दिखाई दिये
मोती, मानुष, चून
पानी उड़ गया कभी किसी का, कभी किसी का
आंधियाँ चली, बवंडर आये, बह गया खून
और आज भी समय की नदी में
दुनियां की नाव डोल रही है
अन्तराल गहरा है
है किनारा बहुत दूर
मांझी की थकावट बोल रही है
घनघोर घटा, अंधियारा भीषण
टूटती नाव रही मुसाफिरों को झकझोर
तन-मन उखड़ें हैं, संज्ञा शून्य-सी
ज्ञात नहीं, कब होगी भोर
न जाने इस प्रवाह में
कितने आये, कितने बिखर रहे

कितने डूबे, कितने तर गये
जो रहते हैं मजबूत
वे होते हैं अवधूत
न समय रोक पाता उन्हें
न कठिनतम बाधाओं की भीड़
वे चीरते ही जाते नीर को
बढ़ते ही जाते वे धीर-धीर
हर मुश्किल ही लगती है
उनको अपनी मंजिल
कोई व्यवधान न कर पाता उनको शिथिल
वह तो बन जाता है वरदान
उनका सुदृढ़ भाव, अटल प्रभाव
बन जाता भावी का अभियान
बस, तुम भी बढ़ो संगी-साथियों,
समय की बैशाखियों को तोड़
अलख जगाते चले चलो
हर सांस मिलाकर सांस-सांस में
पथ का संगीत गुंजाते चले चलो
समय की नदी में सबके साथ
समरस आनन्द बहाते चले चलो।

समय का प्रवाह तो अनवरत चलता ही है, किन्तु उसके साथ जब कभी विचारों का प्रवाह जुड़ जाए तो भावुक मन में काव्य-प्रवाह भी उमड़ पड़ता है। मेरा यह काव्य-प्रवाह भी अन्तर्मन के चिन्तन के साथ इसी तरह उमड़ा है। कुछ एकान्त-शान्त वातावरण मिला कि विचारों का प्रवाह फिर आया विश्व रचना पर, विश्व व्यवस्था के वर्तमान परिदृश्य पर और सबके केन्द्र मानव की गतिविधियों पर। सोचने लगा-समय नदी प्रवाह के समान बिना रूके निरन्तर बहता है तो इस 'समय' का क्या प्रभाव होता है इस विश्व के संसरण पर? गतिशीलता जैसे समय और नदी की लाक्षणिक पहचान है, वैसी ही पहचान इस संसार की नहीं है क्या? समय बहता है, नदी बहती है तो यह संसार भी तो निरन्तर बहता ही है। समीक्षा यही करनी होती है कि संसार की गतिशीलता कब उत्थान की ओर होती है तो कब क्यों पतन की ओर हो जाती है? समय की नदी का पानी कब मोती, मानुष, चून का पानीदार बना देता है। तो कब क्यों समय के प्रवाह में इन सबका पानी उतर जाता है? संसार में सबको अपनी-अपनी यात्रा करनी होती है, लेकिन यह किन कारणों से अकेली और किस प्रकार सांझी यात्रा बन सकती है? मन के धनी मनुष्य पर कमजोरी क्यों हावी हो जाती है और वही मनुष्य धीर-वीर बनकर मंजिल पर ही नहीं पहुँचता, बल्कि औरों के लिये भी उन्नति का आदर्श छोड़ जाता है-ऐसा क्यों? और विचारों का कहाँ अन्त आता है?

अनेक मोड़ों से गुजरता हुआ प्रवाह चलता ही रहता है, किन्तु विवेकी मन उस प्रवाह में से निष्कर्ष के मोती चुनता है और मेरे विचार प्रवाह के ऐसे ही कुछ कच्चे-पक्के मोती मेरी इस काव्य रचना में बिखरे हैं और इसी संदर्भ में मैं यहां विश्व रचना, व्यवस्था के वर्तमान परिदृश्य एवं सबके बीच ऐसी सन्तुलन की सुई के बारे में अपने विचार रख रहा हूँ कि समुचित संतुलन की शक्ति चरित्र सम्पन्नता के आधार पर स्थापित की जाए और विश्व-व्यवस्था को **सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय** अधिक समरस, सुखद एवं सुन्दर बनाई जाए।

चर्चा करें कि विश्व-रचना की शाश्वत दृष्टि क्या है? विश्व की व्यवस्था किन तत्त्वों के आधार पर संचालित होती है तथा उन तत्त्वों का पारस्परिक संबंध क्या है? इसी परिप्रेक्ष्य में आकलन करें कि आज की व्यवस्था कितनी विकृत है, क्यों विकृत है और इस विकृति को दूर करने का मनुष्य का कितना दायित्व है?

दो तत्त्वों की सत्ता के आधार पर ही रचित एवं संचालित है विश्व :

विश्व के रहस्यों को ज्ञात करने की दिशा में मानव प्रारंभ से ही प्रयत्नशील रहा है, उसकी जिज्ञासा जागती रही है और वह साधना व साहस के साथ अनुसंधानों तथा आविष्कारों की पंक्तियां खड़ी करता रहा है। आज भी उसका वही क्रम चल रहा है और भविष्य में भी उसके चलते रहने की पूरी संभावना है, क्योंकि संसार के रहस्य अनन्त हैं। कभी किसी क्षेत्र में अधिक शोध चलती है तो कभी किसी अन्य क्षेत्र में, किन्तु क्रम भंग नहीं होता। सर्वथा अज्ञात रहस्यों के प्रति अथवा भयंकर कठिनाइयों के प्रति भी उसके उत्साह में कमी नहीं आती। विश्व को एक पहेली मानते हुए मानव प्रयत्न करता रहता है उसे सुलझाने की, इस ध्येय के साथ कि वह अनबुझी न रहे।

ज्ञानियों और साधकों ने इस पहेली को गहराई से समझा है और दूरदर्शिता से उसकी सुलझन भी सामान्य जन को बताई है। विश्व का अस्तित्व मूल रूप से दो ही तत्त्वों पर निर्भर है और इन दो तत्त्वों के मेल से ही विश्व की रचना है तो इसी से विश्व-व्यवस्था का संचरण है। इन दो तत्त्वों में एक जीव कहलाता है जो शाश्वत, चिन्मय और अरूपी है तो दूसरे तत्त्व का नाम है जड़ या पुद्गल जो क्षणभंगुर, अचेतन और रूपी यानी रूपवान है। यह आपका शरीर भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की रचना ही है-जीव और जड़ का संयोग। आत्मा चेतन तत्त्व है तो शरीर अचेतन तत्त्वों का पिंड, किन्तु दोनों के संयोग से साकार जीवन उत्पन्न हो जाता है। इनके सिवाय धन, सम्पत्ति, महल, हवेली आदि के विविध दृश्य पदार्थ पुद्गल के ही अनेकानेक रूप हैं जिनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। कारण, पुद्गलों का स्वभाव ही गलना, बदलना कहा गया है (**पूरणात् गलनातीति पुद्गलः**)।

यह विशाल विश्व पुद्गल-परमाणुओं से अटा पड़ा है और इन्हीं के मिलने, अलग होने और रूप बदलने के कारण सारी दृश्यावलियों का जन्म और उनमें परिवर्तन होता है। यह जन्म, विकास और विनाश विभिन्न अवस्थाओं एवं काल क्रम के अनुसार घटित होता रहता है। किन्तु उसका प्रधान कारक है चैतन्यत्त्व, जिसके मेल से विश्व की समस्त गतिविधियाँ परिलक्षित होती हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों में पुद्गल-परमाणु क्रीड़ाएँ करते रहते हैं तथा सुन्दर-असुन्दर दृश्यों की रचना करते हैं।

विश्व-व्यवस्था की आधार शिला है-चेतन व जड़ की सत्ता। सत्ता का शास्त्रीय शब्द है-'सत्' और सत् वह है जो उत्पन्न होता है, व्यय होता है, फिर भी उसमें ध्रौव्य का अंश भी रहता है (**उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्**-तत्वार्थ सूत्र 5/29) उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से जो तदात्मक है, वह सत् है। इन तीन में से दो अंश उत्पाद और व्यय, अस्थिरता या अनित्यता के प्रतीक हैं तो तीसरा ध्रौव्य, स्थिरता एवं नित्यता का। जो ध्रौव्यता है वह द्रव्य है तथा उत्पाद व व्यय उसकी पर्याय कही गई है। जैसे सोने के कंगनों को गला कर हार बनाया गया तो इसमें हार का उत्पाद हुआ तथा कंगन का व्यय, किन्तु इन दोनों पर्यायों में जो ध्रौव्य रहा वह है सोना। द्रव्य तथा पर्यायों के परिवर्तन से ही विश्व की समूची व्यवस्था चल रही है और उसमें द्रव्य रूप ध्रौव्य तत्त्व शाश्वत है। यही सब सत् है यानी कि जड़-चेतन की सत्ता है।

सत्ता का जो चेतन भाग है, वह संवेदनशील तथा अनुभूति स्वरूप है, किन्तु जड़ भाग की शक्ति से अधिकांश प्रवृत्तियां पूर्व निर्धारित एवं हेतुमूलक होती है। अपनी इस निर्धारण की क्रिया में एवं उपयोग की धारा में चेतन पूर्ण स्वतंत्र है। चेतना या उपयोग ही तो मुख्य लक्षण है चेतन का, जीव का, जबकि जड़ सर्वथा अचेतन है यानी कि चेतना शून्य है। इसी कारण से जड़ की अपनी क्रिया में जड़ का अपना कोई हेतु नहीं होता है, फिर भी जड़ की भी क्रिया होती है और निरन्तर होती रहती है, पर होती है हेतु रहित एवं लक्ष्यहीन। हेतु एवं लक्ष्य का अस्तित्व चेतन तत्त्व की क्रियाशीलता से ही दृश्यगत होता है।

उपयोग लक्षण है जीव का, जो कभी अजीव नहीं होता :

जीव, चेतन अथवा आत्मा का लक्षण उपयोग (ज्ञान शक्ति) है (**उपयोगो लक्षणम्**-तत्वार्थ सूत्र, 2/8)। जीव अनादिसिद्ध अर्थात् स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। तात्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण चेतन को कोई भी ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से सीधे तौर पर नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान को स्व-संवेदन से होता है। आत्मा की इसी पहचान का नाम उपयोग है। आत्मा ज्ञेय है तो उपयोग उसके ज्ञान का साधन। यह विश्व अनेक जड़-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। इनमें से यदि कौनसा पदार्थ जड़ है और कौनसा चेतन, इसका निश्चय करना हो तो उसके लिये कसौटी रूप है उपयोग। जिस पदार्थ में न्यूनाधिक रूप से ज्ञान शक्ति का अस्तित्व है तो वह पदार्थ चेतन होगा और जो पदार्थ सर्वथा ज्ञान शक्ति से हीन है वह जड़ होगा। जीवों में ज्ञान-शक्ति का तारतम्य हो सकता है, किन्तु कोई भी जीव ज्ञान-शक्ति से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता।

अतः उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार (क्रियाकलाप) जीव का प्रमुख लक्षण है। बोध का कारण ही चेतन होता है और इसी से बोध-क्रिया संभव बनती है। यह बोध-क्रिया जड़ में कदापि संभव नहीं। उपयोग के आधार पर ही आत्मा को अनन्त गुण-पर्याय वाली माना गया है। कारण, आत्मा स्व-पर स्वरूप प्रकाशक होती है सो वह स्वयं तथा अन्य पदार्थों की पर्यायों का ज्ञान कर सकती है। इसके सिवाय आत्मा जिस रूप में अस्तित्व अथवा अनास्तित्व को जानती है, निर्णयों में उलझती या सुलझती है अथवा सुख या दुःख का अनुभव करती है वह सब उपयोग से ही किया जाता है, जीव की सभी पर्यायों में उपयोग मुख्य होता है।

जीव, चेतन या आत्मा के दो भेद बताये हैं-पहला संसारी, जो संसार के गति चक्र में भ्रमणशील है तथा दूसरा मुक्त, जो संसार से मुक्त होकर सिद्ध हो चुकी है (**संसारिणो मुक्ताश्च**-त. सू. 2/10)। संसारी आत्माओं के भी दो भेद हैं-मन-युक्त और मन-रहित अथवा त्रस और स्थावर। पृथ्वी, पानी व वनस्पति के जीव स्थावर कहे गये हैं तो अग्नि, वायु तथा दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले जीव त्रस बताये गये हैं-(**समनस्काऽमनस्काः, संसारिणस्त्रसाः स्थावराः, पृथिव्यऽम्बुवनस्पतयः स्थावराः, तेजोवायु द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः** - त. सू. 2/11-14) फिर पांच इंन्द्रियों का कथन किया गया है जिनके लक्षण हैं-स्पर्शन (छूना), रसन (चखना), घ्राण (सूंघना), चक्षु (देखना) तथा श्रवण (सुनना) इन पांच इन्द्रियों के सिवाय मन का कथन है जो अनिन्द्रिय कहा गया है। जीवों में मन वालों को संज्ञी तथा अन्यों को असंज्ञी कहा गया है।

आशय यह है कि उपयोग, ज्ञान, संज्ञा, चेतना ये सब एकार्थवाचक हैं और जीव के अस्तित्व-बोधक। जीव है तो तारतम्य से यह लक्षण अवश्यमेव होगा, अन्यथा वह जीव नहीं होगा, अजीव यानी जड़ ही होगा। इन दोनों तत्त्वों का परस्पर रूपान्तरण कदापि नहीं होता। न जीव कभी भी अजीव हो सकता है और न अजीव कभी भी जीव। दोनों तत्त्वों की सत्ता सदैव पृथक् रहती है परन्तु मिलकर विश्व को चलाती है।

सूक्ष्म जीवों की संवेदनशीलता एवं उनके संरक्षण से मानवीय गुणों का विकास :

यह विश्व जीवों से भरा पड़ा है जिनमें (अधिसंख्या) सूक्ष्मजीवों की अधिकता है। कोई यह प्रश्न खड़ा कर सकता है कि सूक्ष्मजीवों में भला कितना-सा उपयोग हो सकता है, जो उन्हें तनिक भी संवदेनशीलता का बोध करा सके? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सूक्ष्मजीवों की संवेदनशीलता उनके साथ तो निश्चित रूप से है ही, किन्तु उनकी संवेदनशीलता के संरक्षण में यदि मानव जैसा सर्वाधिक प्रबुद्ध प्राणी संवेदनशील बन जाए तो न सिर्फ उन छोटे-छोटे जीवों की रक्षा हो सकेगी, बल्कि स्वयं मानव का भी सर्वाधिक हित सधेगा। एक ओर प्रकृति एवं पर्यावरण की रक्षा होगी तो दूसरी ओर दया, रक्षा, करुणा, सहयोग, हार्दिकता जैसे अनेक मानवीय गुणों का विकास भी सहज रूप से हो सकेगा।

स्थावर जीव वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। जैसे एक मिट्टी के ढेले में असंख्य जीव हो सकते हैं या वनस्पति के छोटे-से टुकड़े में भी अत्यन्त सूक्ष्म जीव हो सकते हैं। यद्यपि उनकी चेतना व्यक्त नहीं दीखती है, फिर भी उन्हें सुख दुःख का संवेदन होता है। इनके एक ही इन्द्रिय होती है-स्पर्शन तथा जो उपयोग या ज्ञान होता है वह अनिन्द्रिय होता है। अनिन्द्रिय ज्ञान के दो अर्थ होते हैं-एक तो वह ज्ञान जो मन से होता है और इसका दूसरा अर्थ है ओघ-संज्ञा। आज के वैज्ञानिक भी ओघ संज्ञा की जानकारी करने के लिये प्रयत्नशील है। (आश्चर्य है कि ओघ-संज्ञा की जानकारी प्राप्त कर ली है। यह जानकारी उन्हें वैज्ञानिकों से मिली है।) उन्होंने वनस्पति के संदर्भ में 'कलेक्टिव माइंड' यानी सामूहिक मानस के रूप में इसे व्याख्यापित किया है। वनस्पति को सजीव मानने के बाद विज्ञान ने

प्रयोग से यह भी सिद्ध कर लिया है कि इन वनस्पति के जीवों के बीच बात भी होती हैं तो ये संगीत आदि कई ध्वनियों से भी प्रभावित होते हैं। दो वैज्ञानिकों-डॉ. बोगले और डॉ. वेंकस्टर ने वनस्पति पर बहुत प्रयोग किये और साबित किया कि मनुष्य और पौधे दोनों आपस में अपनी चेतना शक्ति का आदान-प्रदान भी करते हैं। पोलिग्राफ के एक संवेदनशील तार से पौधे की टूटी शाखा जोड़ी गई और पौधे ने अपनी चेतना जतानी शुरु कर दी-गेल्वेनो मीटर की सुई घूमने लगी। पता चला कि पौधा प्यासा है-पानी दिया गया, फिर सुई घूमी और पौधे ने खुशी जताई। अन्य अनेक प्रयोगों से वनस्पति की भावाभिव्यक्ति की जानकारी हुई। अभिप्राय यह है कि इन सूक्ष्म जीवों की संवेदनशीलता कहीं न्यून होती है तो कहीं अधिक भी। या कहीं क्या यह भी आ सकता है कि विज्ञान पानी में, वनस्पति में जीव नहीं मानता था, अब प्रयोग द्वारा सिद्ध हुए और मानने लगा। ध्वनि तरंगों, प्रकाश की गति और इसी प्रकार की अन्य वैज्ञानिक खोजों और विकास की स्थिति का अध्ययन करें तो पाएंगे कि जैन धर्म-दर्शन में हजारों वर्ष पूर्व यह सब तथ्य मौजूद रहे हैं। यह धर्म अपने आप में वैज्ञानिक धर्म है, लेकिन इसकी धूरी चरित्र पर टिकी है। यही कारण है कि यह धर्म मानवता के लिए उपकारी रहा है और कभी अपनी वैज्ञानिकता का दुरूपयोग नहीं किया है।

स्थावर (सूक्ष्म) जीवों की संवेदनशीलता को आचारांग सूत्र में वर्णित इस उदाहरण से भी समझा जा सकता है। एक आदमी बहरा, गूंगा और अंधा है। इन तीन इन्द्रियों के अभाव में उसका बाहर का संबंध-विच्छेद-सा हो जाता है, परंतु क्या वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता? वह बता नहीं सकता लेकिन महसूस तो करता ही है। यही तो संवेदनशीलता होती है। इसी प्रकार सूक्ष्मजीवों में निरन्तर प्राणधारा बहती रहती है सो वेदना तो होती ही है। विज्ञान ने इस प्राणधारा को नाम दिया है 'कॉस्मिक दे' (जागतिक किरण) का, जो सभी प्राणियों में प्रवाहित होती है।

विश्व के सभी प्राणियों में सर्वाधिक चेतना, प्राणधारा, विवेक, बुद्धि आदि की दृष्टि से मानव ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और इस नाते उसका सूक्ष्मजीवों के संबंध में विशेष दायित्व भी है। अतः मानव को निर्देश दिया गया कि वह प्रत्येक प्राणी की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझे और यह महसूस करे कि जैसे उसे सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वैसी ही अनुभूति एकेन्द्रिय आदि (सूक्ष्म) प्राणियों को भी होती है। यह दूसरी बात है कि वे उस अनुभूति को प्रकट करने में समर्थ नहीं होते हैं और इस दृष्टि से उनके संरक्षण के प्रति मानव का दायित्व और अधिक गहरा हो जाता है। जैसे ऑपरेशन के समय रोगी को मूर्छित कर दिया जाता है और चीरफाड़ की जाती है। चीरफाड़ से कष्ट जरूर होता है लेकिन मूर्छा के कारण वह उसे उस समय न महसूस करता है, न बता सकता है। यही स्थिति एकेन्द्रिय (सूक्ष्मजीवों) की समझी जा सकती है। ऐसे में उनके प्रति मानव का करुणा भाव प्रभावी रूप से कार्य करना चाहिये।

मानव एक विकसित प्राणी है, जबकि स्थावर जीव अतीव अविकसित होते हैं। किन्तु विकास की प्रक्रिया का मूल तत्त्व होता है-गति। विकास की गति निरन्तर चलती रहती है और जीव विकास का इतिहास इस पर पूरी रोशनी डालता है। गति ही सारे नव-निर्माण का आधार बनती है। गतिशीलता ही संसार का दूसरा नाम है। संसार का मतलब ही गतिशील होना है। स्थिरता का नाम

संसार नहीं है-यह स्पष्ट संदेश है (**एस संसारेत्ति पवुच्चई**-महावीर) यह दृश्य जगत् जो है वे त्रस जीवी हैं-स्थावर जीव दिखाई नहीं देते। त्रस जीवों (दो से पांच इन्द्रिय वाले) में भी मनुष्य ही सबका सिरमौर है। उसका अर्थ यह माना जाना चाहिये कि सर्वाधिक गतिशीलता भी मनुष्य में होनी चाहिये कि वह तत्परता से छोटे त्रस तथा सूक्ष्म स्थावर जीवों का संरक्षण करने का भार निभाता रहे। इस भार निर्वाह में उसका स्वयं का संरक्षण तथा विकास भी छिपा हुआ है-इसका उसे पक्का आभास होना चाहिये।

इस धरती का रक्षा कवच है पर्यावरण, अतः रक्षणीया है प्रकृति :

सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो विदित होगा कि प्रकृति स्वयं अधिकांश रूप से स्थावर सूक्ष्मजीवों का पिंड ही होती है, चाहे उन्नत पर्वत शिखर हो या गहन वन, सुन्दर उद्यान अथवा कल-कल करते झरनें और प्रौढ़ा-सी बहती नदियां, मुक्त पवन या मनुष्य की सेवारत अग्नि- ये सब क्या हैं? ये सब एकेन्द्रिय जीव ही तो (जीव पिंड ही तो) है।

अब मनुष्य के लिये प्रकृति क्या है और दोनों के बीच क्या संबंध रहना चाहिये-यह अधिकांश लोग समझते हैं। प्रकृति की छाया में ही मनुष्य शान्ति और सुख के साथ अपने कार्यकलाप में व्यस्त रह सकता है तथा अपने संरक्षण के साथ अपने कर्त्तव्यों का भी सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकता है। प्रागेतिहासिक काल में तो मनुष्य पूरी तरह से प्रकृति पर ही निर्भर था। फल खाता था, वल्कल पहनता था और निर्द्वन्द वन में विचरण करता था। तब उसके पास न कोई काम था, न काम करने की कला। तब उसके लिये स्वस्थ प्रकृति माँ की गोद से भी बढ़कर सुखकर थी। फिर उसने असि (तलवार), मसि (स्याही) तथा कसि (कृषि) के माध्यम से धंधे पकड़े और कमाना सीखा। वह जब ज्ञान-विज्ञान की दिशा में बहुत आगे बढ़ गया तो उसकी संपन्नता भी बढ़ी जिसके साथ उसका अभिमान भी बढ़ने लगा कि वह प्रकृति का अनुगामी नहीं, अपितु उसका विजेता बन रहा है। उसकी प्रगति के आगे प्रकृति उसके लिये अवरोध नहीं रही। तब वह प्रकृति को भार्या मानने लगा। किन्तु प्रकृति पर अधिकाधिक नियंत्रण की शक्ति पाते हुए मनुष्य का लोभ अतिशय रूप में बढ़ने लगा। तब प्रकृति के साथ उसकी लूट-खसोट शुरु हुई। उसे मात्र भोग्या मानकर वह प्रकृति को नष्ट भ्रष्ट करने लगा। विज्ञान के अति विस्तार के साथ आज मनुष्य के हाथों प्रकृति जीर्ण-शीर्ण होने लगी है, इतनी कि जैसे सारी सृष्टि ही विनाश की कगार पर खड़ी कर दी गई हो।

इस धरती ग्रह के लिये फलदायिनी है तो प्रकृति और इसका रक्षा कवच है पर्यावरण। क्या होता है पर्यावरण? धरती पर प्रकृति फलती-फूलती है और प्रकृति का वैसा आवरण जो चारों ओर प्रसारित होता है, उसी का नाम पर्यावरण है। उद्योगों की चिमनियों के जहरीले धुएं से, घातक रसायनों के फैलाव से, मानव की अशुद्ध एवं दुष्ट जीवनशैली से और सबसे बढ़कर मनुष्य की लालसाजन्य हिंसा से प्रकृति का विनाश हो रहा है तो साथ ही पर्यावरण भी बुरी तरह से प्रदूषित हो रहा है। अन्य ग्रहों से जो धरती की रक्षा करती है-ओजोन परत, उसमें भी पर्यावरण के प्रदूषणों ने कई छेद बना दिये हैं जिनमें से होकर अधिक मात्रा में सूर्य की पराबैंगनी किरणें प्रविष्ट होकर धरती की जलवायु

को कष्टकारक बनाती जा रही है।

मानव का लोभ आज उसके लिये ही घातक और संहारक बन गया है जो धरती के अस्तित्व को ही खतरे में डाल रहा है। जब तक मानव प्राकृतिक सम्पदा एवं प्राप्तियों का सदुपयोग करता रहा, तब तक उसका जीवन, उसके विचार, उसके कार्यकलाप भी शुद्ध और फलदायक बने रहे। किन्तु वैज्ञानिक उपलब्धियों के दुरुपयोग पर जब वह अपने अनियंत्रित स्वार्थ के कारण उतर आया, तभी से प्रकृति एवं पर्यावरण का विनाश आरंभ हो गया, जो क्रम इस समय तेजी से चल रहा है।

आज तो चेतावनी की वेला है कि मनुष्य अपनी विकृतियों से ऊपर उठे तथा प्रकृति व पर्यावरण में विकृतियाँ फैलाने से बाज आवे, अन्यथा सर्वनाश के मार्ग पर ही वह चल रहा है-यही माना जाएगा। यह वह नाजुक घड़ी है जब मनुष्य को पूरी तरह से जागना और चेतना चाहिए। लेकिन प्रश्न है कि पूरी मानव जाति की जागृति क्या निकट भविष्य में संभव मानी जा सकती है? मेरा उत्तर है कि असंभव नहीं और जागृति का यह शंख चरित्रबल की पुष्टता से ही बजाया जा सकता है। आज ज्ञान-विज्ञान के जिन साधनों को मानव ने अपने ही स्वार्थ साधन एवं दुरुपयोग से संहारक बना डाला है, उन्हें हितकारी स्वरूप भी मानव ही प्रदान कर सकता है। मानव के चरित्र में यदि सामान्य ऊंचाई भी आने लगे और प्रकृति व पर्यावरण को यानी कि सूक्ष्मजीवों को वह पूरा संरक्षण दे सके तो परिस्थितियों के बदलने में अधिक समय नहीं लगेगा। मानव जाति को चरित्र निर्माण के एक जबरदस्त आन्दोलन में बहा ले जाने की जरूरत है और इस जरूरत को कम संख्या में होते हुए भी चरित्रशील व्यक्ति पूरी कर सकते हैं।

व्यक्ति ही है सकल विश्व एवं उसकी समस्त व्यवस्था की धुरी :

धुरी का अर्थ आप समझते हैं? धुरी उस केन्द्र दंड को कहा जाता है जिस पर पूरा ढांचा टिका रहता है। विश्व का जो यह विशाल ढांचा है वह व्यक्ति की धुरी पर ही टिका हुआ है। विश्व यदि सबसे बड़ा घटक है तो व्यक्ति उसका सबसे छोटा घटक। विश्व एक भूगोल है, जहाँ द्वीप, महाद्वीप, सागर, महासागर, देश, प्रदेश आदि अनेकशः भूखण्ड फैले हुए हैं-यह दूसरी बात है, किन्तु भावनात्मक आदि दृष्टियों से विश्व मानव समाज का ही वृहत्तम संगठन है। इसी में निजी, सरकारी आदि अनेक प्रकार के संगठन कार्यरत हैं और उन सबका कार्य व्यक्ति पर ही निर्भर है।

यथार्थ तो यह है कि व्यक्ति ही सब कुछ है, क्योंकि व्यक्ति ही एक सजीव प्राणी है तथा ये सारे संगठन निर्जीव हैं या व्यक्ति की ही कृतियां हैं। समझिये कि एक संघ है तो संघ क्या है? उसके सदस्यों का समूह ही तो है। और समूह के सदस्य कौन? व्यक्ति ही तो। कोई भी संघ, संगठन, राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रीय संस्था व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा ही तो संचालित होता है। आशय यह कि व्यक्ति और व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है।

तो क्या वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति ही सब कुछ है शक्तियों से सम्पन्न और समाज कुछ भी नहीं, क्योंकि उसका संचालक व्यक्ति ही होता है? लेकिन वस्तुस्थिति पूर्णतया यह भी नहीं होती है। व्यक्ति की जितनी शक्ति होती है, उससे कई गुनी शक्ति समाज की बन जाती है। इसका रहस्य यह

है कि कई व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति का संचय करके संघ, संस्था या समाज की रचना करते हैं तो वह संगठन इतना शक्ति सम्पन्न हो जाता है कि उसके संगठक सदस्यों को भी उस संस्था के अनुशासन के अन्तर्गत कार्य करना होता है। इस प्रकार समाज की शक्ति व्यक्ति को नियंत्रित करने लगती है, यद्यपि उसका अस्तित्व व्यक्तियों के समूह से ही उत्पन्न होता है। व्यक्तियों की शक्ति का जुड़ाव और उसके सम्यक् विभाजन पर ही सारे विश्व की व्यवस्था आधारित है। यों व्यक्ति पर सब कुछ आधारित होने के उपरान्त भी संगठन की शक्ति उससे ऊपर होती है, जो उसे नियंत्रित भी करती है तो उसके सर्व आयामी विकास का दायित्व भी निभाती है। यही विश्व व्यवस्था का रहस्य है, व्यक्ति की शक्ति और उस शक्ति के संचय का भी।

व्यक्ति, विश्व एवं अनेकानेक संगठनों की गत्यात्मक कार्य प्रणाली :

व्यक्ति, विश्व एवं अनेकानेक संगठन-ये सब संपूर्ण विश्व-व्यवस्था के भागीदार हैं। इसे एक उदाहरण से समझें। कल्पना करें कि विश्व एक सबसे बड़ा गोला है। उस गोले में अनेक मध्यम आकार के गोले हैं तो असंख्य छोटे आकार के गोले। ये गोले (रिंग टाईप) ऐसे हैं जो बड़े गोले में स्वतंत्र रूप से भी चक्कर लगाते रहते हैं तो एक दूसरे के भीतर होकर भी गुजरते हैं। गोलों का यह आवागमन और भ्रमण निरन्तर चलता रहता है। यह जब तक सहज भाव से चलता है तो कोई व्यवधान पैदा नहीं होता, लेकिन यदि ये गोलें आपस में टकराने लगे अथवा अपने भीतर से गुजरने के मार्ग को रोक दें तो बाधाएं खड़ी होती हैं। बाधाओं को कोई पसन्द नहीं करता है और उन्हें हटाना चाहता है। तब आपस की लगातार टक्करों से एक दूसरे गोले क्षत-विक्षत होते हैं तो अवधि से पहले ही जर्जर होने लगते हैं। इन टक्करों में छोटे-बड़े गोले टूटते रहते हैं और मत्स्य न्याय चल पड़ता है कि जो जितना ताकतवर, वह अपने ये छोटे गोलों को तोड़ता रहे, अनुशासन समाप्त हो जाए और अराजकता फैल जाए। स्थिति हद से बाहर बिगड़ जाए तो मध्यम आकार के गोले विस्फोटक बन सकते हैं और सबसे बड़े गोले को घातक हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसे में असंख्य होते हुए भी कई बार छोटे गोले दुर्बल और असहाय बन जाते हैं। परंतु यह सदा सत्य रहता है कि सारी व्यवस्था का क्रम फिर से तभी सुचारु बन सकता है जब छोटे-छोटे गोले ही क्रम की कड़ियों को आपस में जोड़ने के कठिन काम में जुटते हैं।

इस रूपक को विश्व-व्यवस्था पर घटाइये। छोटे गोले का रूप है व्यक्ति और विभिन्न आकार व प्रकार के संगठनों (जाति, समाज, धर्म, राज्य, मानव सेवा आदि अनेक विषयों से संबंधित) को मध्यम आकार के गोले मानलें। इस आकार में राज्य व राष्ट्र की सरकारों अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे वृहदाकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को भी शामिल कर लें। सबसे बड़ा गोला विश्व ही है। विश्व-व्यवस्था का यही पिरामिड है।

बड़े गोले में सभी गोले अपनी-अपनी मर्यादानुसार भ्रमण करते रहें तो विकास की श्रेणियों में उत्थान होता रहता है, व्यक्ति का भी और विश्व का भी। परंतु संपूर्ण अनुशासन कठिन होता है, फिर भी एक सीमा तक अनुशासनहीनता सही जा सकती है। उसके बाद अव्यवस्था और अन्त में

अराजकता की परिस्थिति सामने आती है। ऐसी अवस्था में सच्चरित्र व्यक्तियों का सत्प्रयास आवश्यक हो जाता है।

शान्ति तथा सहयोग का मार्ग है मुक्त सम्पर्क, स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र :

छोटे से आकार व प्रकार के संगठनों से लेकर यदि बड़े से बड़े आकार व प्रकार के संगठनों के बीच मुक्त एवं अबाधित संपर्क रहे तो विभिन्न संगठनों तथा उनसे जुड़े व्यक्तियों के बीच सहयोग का वातावरण बनता है। यह सहयोग सभी प्रकार का हो सकता है और आदान-प्रदान की इस प्रवृत्ति से जुड़ाव स्थायित्व ग्रहण करता है। इससे दो प्रकार के लाभ होते हैं। पहला यह कि नीचे से लेकर ऊपर तक के व्यवस्था क्रम को भली प्रकार समझने का मौका सभी स्तरों पर सभी को मिलता है और वे व्यवस्था क्रम को दृढ़ता प्रदान करते हैं। दूसरे, इस प्रकार के गहरे संपर्क से सहमति की वैचारिकता का विकास होता है तथा संबंधित व्यक्तियों में दायित्व की भावना के साथ शुद्ध नैतिकता का प्रसार होता है जिससे अव्यवस्था एवं अराजकता के खतरों की आशंका नहीं रहती।

सबसे बढ़कर लाभ यह होता है कि सामान्य लोगों में चरित्र की शक्ति इस प्रकार समुन्नत होती जाती है जो पदस्थ लोगों के लिये एक कारगर अंकुश का काम देती है। समस्त समाज या कि शनैः शनैः सकल विश्व में चरित्र संपन्नता का सुदृढ़ीकरण एक हकीकत बनकर सामने आ सकता है। यह सुदृढ़ीकरण ही स्थायी शान्ति एवं सहयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। विश्व व्यवस्था में ऐसी परिस्थितियां स्थिर बन जाती है कि व्यक्ति का विकास एवं समाज का अभ्युदय व्यवस्थित रीति से निरन्तर चलता रहे।

यहां यह समझ लेना जरूरी है कि जहां व्यक्तिगत जीवन में आदर्श को प्राप्त कर लेना दुस्साहस भले हो, पर असाध्य नहीं होता, वहां सामूहिक जीवन में आवश्यक होता है कि आदर्श हमेशा सामने रहे तथा उस ओर गति करते रहने की प्रेरणा मिलती रहे। आशय यह कि आदर्श को समग्र रूप से प्राप्ति सामूहिक जीवन में संभव नहीं। यही हकीकत विश्व के साथ भी समझी जानी चाहिये। कभी यह संसार पूरी तरह बदल जाएगा और सुख-समृद्धि व शांति में स्वर्ग का रूप ले लेगा-यह आशा से अधिक नहीं। किन्तु आशा बनी रहे तो प्रबुद्ध एवं त्यागी कार्यकर्त्ताओं का शुभ परिवर्तन के लिये उत्साह बना रहता है और सामान्य जन भी अधिकाधिक संख्या में उनसे प्रभावित होकर अपनी जीवनचर्या तदनुसार ढालते रहते हैं। इसका यह असर होता है कि विश्व की व्यवस्था, उसके अनुशासन तथा व्यक्ति की नैतिकता एवं क्षमता का स्तर ऊपर से ऊपर उठता रहता है अथवा कम से कम इतना तो स्तर बन ही जाता है कि समाज के कंटक तत्त्व कहीं भी अव्यवस्था का वातावरण न बना सकें।

यह उपलब्धि साधारण नहीं होती, लेकिन इसकी प्राप्ति सहज नहीं तो असाध्य भी नहीं। इस उपलब्धि के लिये इस दृष्टि से सतत प्रयास किया जाए-यह सर्वथा जरूरी माना जाएगा। एक सतत सक्रिय अभियान चरित्रनिर्माण की दिशा में चलाये जाने का यही लक्ष्य रहना चाहिये।

इसी लक्ष्य को थोड़ा और स्पष्ट कर दूं। उच्चतम आदर्श की ओर गति तथा उस की प्राप्ति व्यक्ति के ही सामर्थ्य में है। किन्तु उसका मार्ग सहज बनाया जा सके तो कम सामर्थ्य वाले व्यक्ति

सहजता से अपने आदर्श पथ पर आगे बढ़ सकेंगे। समझें कि एक आदमी ऐसे रास्ते पर चल रहा है जो ऊबड़-खाबड़ है, कांटों और कंकड़ों से भरा है उस पर चल पाना कितना कठिन होगा? इतना कि वह गति तो पकड़ ही नहीं पायेगा। (अपवाद को छोड़ दे)। उस रास्ते की जगह अगर पक्की डामर या सीमेंट की सड़क बन जाए तो समर्थ ही नहीं, अर्ध समर्थ व्यक्ति भी उस पर चल सकेंगे और सामर्थ्य के अनुसार गति भी पकड़ सकेंगे।

तो ऐसे कच्चे रास्ते के स्थान पर पक्की सड़क बनाने का काम लेना चाहिये चरित्रनिर्माण का आन्दोलन चलाने वालों को। जब एक आवश्यक स्तर एक व्यक्ति की नैतिकता और विश्व की व्यवस्था रहेगी तो अधिकतम व्यक्ति अपने आदर्श के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता की आशा रख सकेंगे।

आज विश्व की व्यवस्था विश्रृंखलित हो रही है। इसका मूल कारण है अनेक स्तरों पर कार्यरत व्यक्तियों में चरित्र का अभाव। इस अभाव को जब संतोषजनक सीमा तक दूर नहीं किया जाएगा तो विश्व की व्यवस्था नहीं सुधरेगी और उसके अनुसार व्यक्तियों के विकास की क्षमता का भी समुचित रूप से निर्माण नहीं होगा। इस तरह यही चरित्र निर्माण की मूलभूत अपेक्षा है।

मुक्त संपर्क के साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता और शासन प्रणाली में लोकतंत्र की स्थापना विश्व-व्यवस्था को पूरी मजबूती देगी।

प्रतिबंधित संपर्क सूत्र फैलाते हैं गलत समझ, कटुता, वैर और हिंसा :

मुक्त सम्पर्क के स्थान पर यदि विश्व के विविध घटकों के बीच संपर्क प्रतिबंधित होता है तो सारा वातावरण एकदम विपरीत हो जाता है। चाहे तो राष्ट्रों में सैनिक या अधिनायकवादी सरकारें हों या जातिवादी संगठनों के बीच आक्रामकता बने अथवा साम्प्रदायिक संस्थाएं कट्टरतावाद का प्रचार करे तो उस दशा में व्यक्ति से लेकर संबंधित संगठन पारस्परिक संपर्क पर रोक लगा देते हैं और अपनी-अपनी मान्यताओं पर अड़ जाते हैं। प्रतिबंधों की अवस्था में पहले गलत समझ पनपती है, अफवाहों को फैलने में मदद मिलती है और कटुता का वातावरण बनता है। यही कटुता कई कारणों से वैर में बदलती है जो हिंसा तक पहुँच जाती है। इस हिंसा के अपने-अपने स्तर पर अनेक रूप होते हैं-झगड़ा, मारपीट, दंगे, खून-खराबा और राष्ट्रों के स्तर पर युद्धों की विभीषिकाएं।

सम्पर्क टूटने पर सद्भाव समाप्त होता है, क्योंकि चरित्र का आधार टूटता है और ज्यों-ज्यों चरित्रहीनता की प्रवृत्तियाँ फैलती है, त्यों-त्यों मानवीय गुणों का विनाश होता है। ऐसे में जब विकारों की आंधी चलती है तो हिंसा की आग भड़के बिना नहीं रहती।

व्यक्तिगत जीवन के अनेक पक्ष तथा संतुलन की सुई व्यक्ति के हाथ :

व्यक्ति एक होता है, किन्तु उसका जीवन बहुपक्षीय बन जाता है। परिवार में है तो उसके पारिवारिक संबंध और दायित्व होते हैं। गांव-नगर की विविध प्रवृत्तियों में उसकी भागीदारी होती है। जाति या धर्म के संगठनों में भी उसे अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। राजनीति में है तो

शासन-प्रशासन का वह अंग बनता है। आर्थिक, सामाजिक अथवा विविध विषयों से संबंधित संस्थाओं की सदस्यता है तो तत्संबंधी जिम्मेदारियां निभानी होती है। व्यापार या व्यवसाय में उसकी गति है तो वहां के उतार-चढ़ाव को उसे ध्यान में रखना होता है। इस प्रकार के अन्यान्य क्षेत्रों में एक ही व्यक्ति अपनी अलग-अलग हैसियतों में काम भी करता है तो संबन्धित जिम्मेदारियों को भी निभाता है।

यह हम जान चुके हैं कि सामूहिक शक्ति का पृथक् रूप से निर्माण होता है, फिर भी व्यक्ति की महत्ता तो रहती ही है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मुक्त संपर्क हो, परिस्थितियों को समझने का विवेक हो तथा निजी स्वार्थों से ऊपर उठ कर बहुजनहिताय कार्य करने की नि:स्वार्थ भावना हो तो उसका वर्चस्व सभी स्तर की संस्थाओं पर जम जाता है और तब वह जिम्मेदार व्यक्ति सर्वत्र किसी भी स्थिति को जनहित की दृष्टि से संभालने में सक्षम बन जाता है। अत: सभी परिस्थितियों में व्यवस्था को सुचारु बनाये रखने में व्यक्ति की बड़ी भूमिका रहती है। यही भूमिका उसके हाथ में संतुलन व नवसर्जन की कुंजी भी थमा देती है। वर्चस्व वाला व्यक्ति ही किसी भी संघ या संगठन में संतुलन बनाये रख सकता है। किसी भी व्यवस्था को सफल सिद्ध होने में मुख्यत: संतुलन की ही दरकार होती है। संतुलित व्यवस्था सुचारु भी होती है तो स्थिर और सुदृढ़ भी।

व्यक्तिगत जीवन हो अथवा सामूहिक जीवन-दोनों में संतुलन का विशिष्ट महत्त्व होता है। संतुलन बिठाना और चलाना किसी भी कला से कम नहीं। संतुलन है - सम+तुलन अर्थात बराबर तोलना। संतुलन का प्रतीक है तराजू, जो न्याय का चिह्न माना जाता है। जहां संतुलन है, वहां न्याय है और जहां न्याय है, वहां समृद्धि, सुख, शान्ति सब कुछ है। संतुलित जीवन जैसे श्रेष्ठ जीवन माना जाता है, वैसे ही संतुलित व्यवस्था जन-मन कल्याणकारी होती है।

वस्तुत: संतुलन की कुंजी वे ही हाथ सफलतापूर्वक थाम सकते हैं जो चरित्रबल के स्रोत से जुड़े होते हैं। संतुलन चरित्र की कसौटी भी है। जैसे किसी व्यक्ति का तापमान थर्मामीटर से मापा जाता है, उसी प्रकार चरित्र का थर्मामीटर लगाने से ही किसी भी संस्था तथा उसकी संतुलित व्यवस्था का आभास लिया जा सकता है। एक चरित्रशील नायक ही किसी भी संस्था की गतिशीलता में संतुलन की सुई को अपने नियंत्रण में रख सकता है तो उसे व्यापक हित की दृष्टि से घुमा भी सकता है। यों व्यक्ति का महत्त्व भी कम नहीं होता।

तभी तो दिखते हैं प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने सूर्यमुखी और अपने-अपने केक्टस-

सामूहिक नियंत्रक शक्ति के उपरान्त भी व्यक्ति की अपनी अस्मिता एवं स्वतंत्रता की महत्ता सदा बनी रहती है। वह अपनी शक्ति अर्पित करके समूह का शक्ति-वर्धन करता है, किन्तु मूल में तो शक्ति-स्रोत उसी का होता है। सामूहिक गतिविधियों के बावजूद भी उसका अपना व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी सफलता-असफलता तो रहती ही है और उसे अपना कर्मफल भोगना ही होता है।

विश्व के इस विशाल प्रांगण में तभी तो दिखाई देते हैं प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने सूर्यमुखी

(सुख) जो कर्मफल के सूचक कहे जा सकते हैं। कई प्रकार के सुख-दु:खों का कारण सामूहिक व्यवस्था भी हो सकती है, फिर भी व्यक्ति का अपना खुद का लेखा-जोखा भी होता ही है। इसी कारण अन्यान्य धार्मिक मान्यताएं व्यक्ति के जीवन सुधार पर विशेष बल देती है। वैसे भी इस विश्व के विशाल प्रासाद की नींव की ईंट तो व्यक्ति ही है अत: व्यक्ति की जीवनशैली का प्रभाव समग्र व्यवस्था पर स्वाभाविक रूप से पड़ता ही है। व्यक्ति का आचरण जैसा होगा उसकी प्रतिछाया समाज में अवश्य दिखाई देगी। यही कारण है कि व्यक्ति के चरित्र निर्माण को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है।

व्यक्ति को ही पहले अपने भीतर बैठे विकारों के राक्षस से लड़ना होगा :

चरित्र-निर्माण का अर्थ है कि व्यक्ति ही पहले अपने भीतर बैठे विकारों के राक्षसों से लड़े और उस पर विजय प्राप्त करे। जब तक वह यह विजय प्राप्त नहीं करता, उसका यह गुमान व्यर्थ है कि उसने महासागरों को, महाशिखरों को अथवा महाग्रहों को जीत लिया है। अपने विकारों को नष्ट करना तथा अपने आपको जीतना ही सच्ची सार्थकता है। प्रत्येक युग में वे ही महाविजेता माने गये हैं, जिन्होंने अपने आंतरिक शत्रुओं को समाप्त किया और अरिहन्त बने।

वर्तमान परिस्थितियों में चरित्रनिर्माण की अनिवार्य आवश्यकता है और जब व्यक्ति इस दिशा में आगे बढ़ेगा तभी समाज में भी वांछनीय परिवर्तन की आशा की जा सकती है। इसका समाधान यही है कि व्यक्ति अपनी वैचारिकता को बदले और उसके आधार पर अपने आचरण में बदलाव लावे। यह तभी संभव है जब वह अपने भीतर झांके, अपने गुण-दोषों की परख करे और मजबूती के साथ विकारों और दोषों को दूर करे। व्यक्ति अपने कार्यों का कर्त्ता तो होता ही है, लेकिन उसे अपने कार्यों का दृष्टा भी बनना पड़ेगा, ताकि वह अपने चरित्र निर्माण के पथ से भटक न सके।

यह विकारों का राक्षस कौन है और कैसा है-यह जरूर समझ लिया जाना चाहिये। सभी प्रकार के विकारों को एक शब्द में कहें तो वह है स्वार्थ और भीतर के राक्षस को स्वार्थ का राक्षस मान सकते हैं। व्यक्ति अपने स्वार्थों में अंधा बनकर सभी प्रकार के अनाचार और अत्याचार करता है। स्वार्थ ही अनेकानेक इच्छाओं तथा लालसाओं को जन्म देता है जिनके पीछे भागते-भागते व्यक्ति अपना अमूल्य मानव जीवन निरर्थक ही नष्ट कर देता है। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं **(इच्छा हु आगाससमा अणंतिया**-महावीर उत्तरा.अ. ०९) और एक इच्छा की पूर्ति करो तो नई दस इच्छाएं जाग जाती हैं। एक क्या अनेक जीवन भी इस इच्छापूर्ति में लगा दिए जाए तब भी सभी इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं। अत: स्वार्थ और लालसा मनुष्य की सबसे घातक कमजोरियां हैं। इन पर विजय चरित्रनिर्माण एवं चरित्रगठन से ही प्राप्त की जा सकती है।

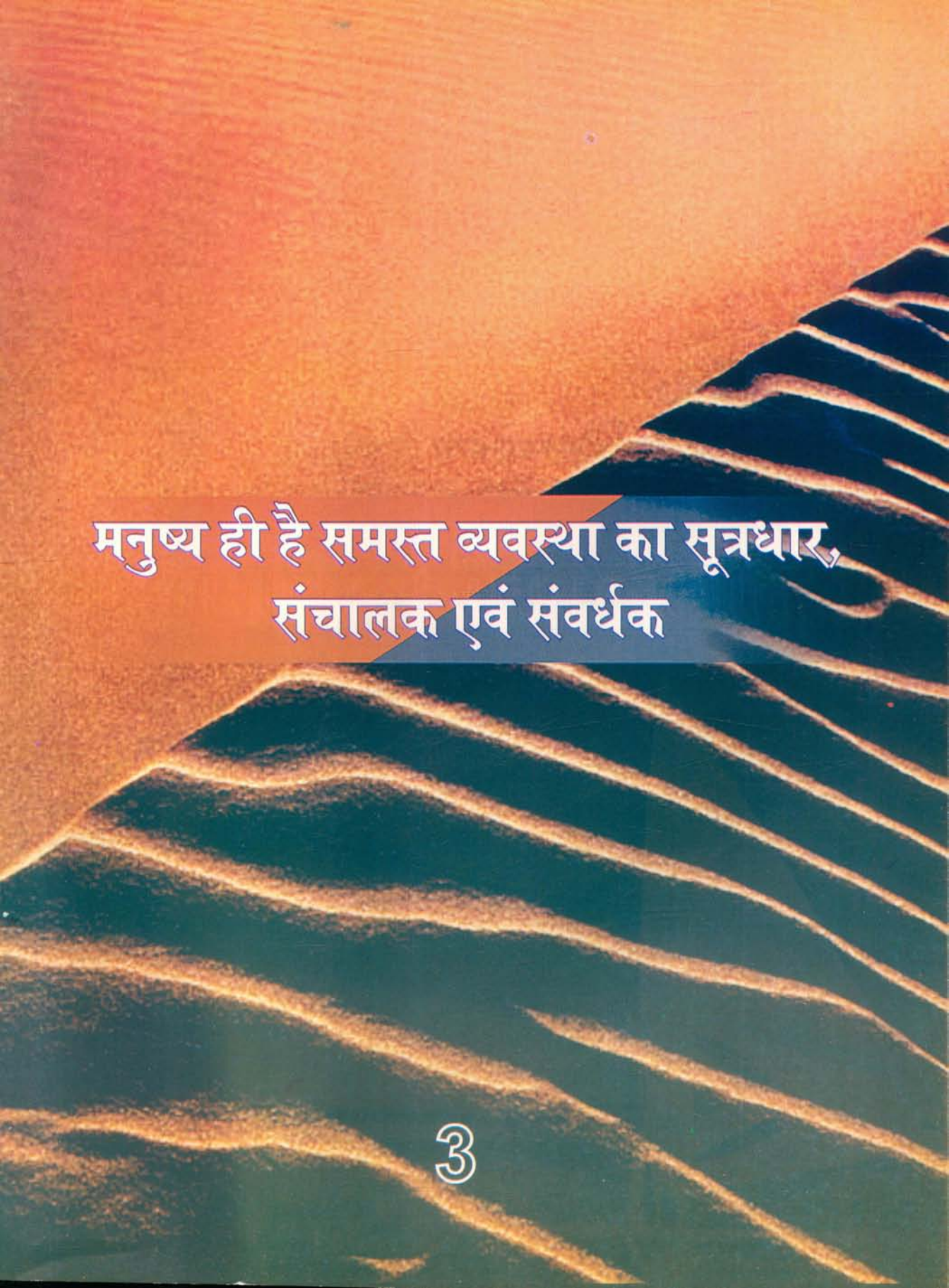
विश्व एवं व्यक्ति के बीच जितना अधिक सामंजस्य, व्यवस्था उतनी ही सुचारु :

समय बताने वाली घड़ी को जानते सभी हैं, लेकिन उसकी खूबी की तरफ कम लोगों की ही नजर गई होगी। घड़ी की भीतरी मशीनरी में छोटे-छोटे कई दरांतेदार पहिये होते हैं, जो एक दूसरे

पहिये की दरांतों से जुड़ते हुए चलते रहते हैं और नियमित समय बताने की क्रिया करते हैं। जो खूबी है वह है इन पहियों के दरांतों की। जुड़ने वाले पहियों के दरांते अगर आपस में ठीक से जुड़ते हुए चलते रहते हैं तो घड़ी में कोई खराबी नहीं आती। इसकी जगह अगर किसी भी एक पहिये का सिर्फ एक ही दरांता मेलजोल की जमावट से बाहर निकल जावे तो वह साथ के पहिये के दरांते से टकरा जाएगा और उस एक दरांते की टक्कर के साथ ही एक-एक करके सभी पहियों के सभी दरांतें आपस में टकरा कर टूट जाएंगे और घड़ी बन्द हो जाएगी।

घड़ी के उदाहरण को विश्व की व्यवस्था के साथ घटित करें तो यह सत्य उभर कर सामने आएगा कि विश्व के अनेक संगठनों तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संतुलन बढ़ता जाएगा और सामंजस्य बढ़ता रहेगा तो विश्व-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहेगी। दरांता तीखा होता है और उसी तरह तीखा होता है व्यक्ति का दंभ 'इगो', जो विभिन्न संस्थाओं तथा विश्व-व्यवस्था के माध्यम से प्रकट होता रहता है। दरांतों की तरह इगो अगर मेल-जोल के साथ व्यवस्था की घड़ी में फिट हो जावे तो सब कुछ ठीक चलेगा। लेकिन अगर इगो आपस में टकराने लगे तो सर्वत्र विवाद पैदा होंगे, द्वन्द सामने आएंगे और कटुता के साथ वैर-विरोध की आग भड़कने लगेगी। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए लोकतंत्रीय प्रणाली से मुक्त संपर्क की कड़ियां जुड़ी हुई रखी जाए तो व्यवस्था में कांटें पैदा नहीं होंगे। ऐसी व्यवस्था की स्थायी सुचारुता के लिये चरित्र निर्माण को गति देनी होगी, चरित्र के प्रति निष्ठा जगानी होगी एवं चरित्र संपन्नता की दिशा में बढ़ना होगा।

◆◆◆



मनुष्य ही है समस्त व्यवस्था का सूत्रधार, संचालक एवं संवर्धक

3



मनुष्य ही है समस्त व्यवस्था का सूत्रधार, संचालक एवं संवर्धक



चरित्र निर्माण का प्रमुख आधार : मन, मनन, मनुजत्य

गांव के बाहरी किनारे की एक झोंपड़ी में अकेली एक लकड़हारिन रहती थी। जो गरीब भी थी तो अतिशय वृद्धा भी। पास में मुट्ठी भर अन्न के सिवाय चूल्हा जलाने को लकड़ी तक न रही तो वह लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे पास के जंगल में गई। वहाँ उसे एक सूखा पेड़ दिखाई दिया। उसने आसानी से पेड़ की कई शाखाएं काटी और उनकी 'भारी' बनाई। पेड़ के तने की ओर उस की नजर गई तो उसके खोखले खड्डे में उसे एक हंडिया भी दिखाई दी। भारी उसने सिर पर रखी और हाथ में हंडिया लेकर अपनी झोंपड़ी पर लौट आई।

एक पतली लकड़ी के टुकड़े करके उसने अपना चूल्हा जलाया और साथ लाई हंडिया में अन्न को उबलने के लिये चढ़ा दिया। झोंपड़ी के सामने से एक विवेकशील सेठजी गुजर रहे थे, तभी वहां फैली हुई सुगंध से उनका तन-मन विभोर हो उठा। उन्होंने अनुमान लगाया कि यह मुग्धकारी सुगंध उसी झोंपड़ी से आ रही है। उत्सुकतावश उन्होंने उस झोंपड़ी में प्रवेश किया। उनकी पारखी आंखों से कुछ भी छिपा हुआ न रह सका। उन्होंने देखा कि बावने चन्दन की लकड़ी चूल्हे में जल रही है और उसी से उठ

रही है वह मुग्धकारी सुगंध। चूल्हे पर जो हंडियां चढ़ी है, वह कोई सामान्य हंडियां नहीं, एक रत्नजटित हंडियां है जिसके तरल प्रकाश से पूरी झोंपड़ी जगमगा रही है। वह दृश्य उन्हें अनुपम लगा।

किन्तु उन्हें यह समझने में भी देर नहीं लगी कि वह वृद्धा उन दोनों विरल पदार्थों के मूल्य से अनजान है। यह स्पष्ट था कि वह अपने अज्ञान के कारण ही चन्दन और रत्नों का दुरुपयोग कर रही थी। उन्होंने सरलता के साथ वृद्धा को पूछा-'आपको यह लकड़ी और हंडिया कहां मिली?' वह बोली-'बेटा! घर में कुछ नहीं बचा सो जंगल में गई थी जहां यह थोड़ी-सी सूखी लकड़ी ही मिली और यह हंडियां भी। लकड़ी ज्यादा नही थी सो बाजार में बेचने के लिये नहीं ले गई, घर में ही जलाने को रख ली। हंडियां ठीक लगी सो इसी में यह थोड़ा सा अन्न उबालने को रख दिया है।'

सारी राम कहानी सुनकर सेठजी ने उस अज्ञानी वृद्धा को रहस्य की बात बताई-'मां जी!, यह लकड़ी चन्दन की है, साधारण नहीं और इसकी आपको सौ स्वर्णमुद्राएं मिल सकती है। लेकिन यह हंडियां तो रत्नों की है जिसका मोल करोड़ों स्वर्णमुद्राएं हैं। इनको पाकर आप गरीब नहीं रही, अरबपति हो गई हैं।'

वृद्धा लकड़हारिन को करोड़ों-अरबों का हिसाब तो समझ में नहीं आया, लेकिन इतना वह समझ गई कि उसके पास ये दोनों वस्तुएं बहुत कीमती हैं। उसने सेठजी का आभार प्रकट किया और उन दोनों वस्तुओं का दुरुपयोग उसी क्षण रोक दिया।

आप अपने मन को टटोलिये कि आप क्या हैं अज्ञानी लकड़हारिन या विवेकवान सेठ जी? अब भी आप न समझे हों और सोचने लगें कि हमारे पास कौनसी रत्नों की हंडियां और बावना चन्दन पड़ा हुआ है कि हमसे ऐसा पूछा जाए? लेकिन आपको जो प्राप्त है वह तो रत्नों की हंडिया से भी कई गुण मूल्यवान है बल्कि अमूल्य है। अब भी आपको समझ में न आया हो तो मैं बता दूं कि आपकी वह अमूल्य प्राप्ति है आपका मानव तन और मानव जीवन। अब आप पहले प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति में हैं न? तो बताइये कि आप वृद्धा लकड़हारिन की तरह व्यवहार कर रहे हैं या विवेकवान सेठ जी जैसा आपको ज्ञान है?

अभिप्राय यह है कि यह मानव तन और मानव जीवन अमूल्य है और इसका यदि सदुपयोग किया जाए तो कल्पनातीत उपकार हो सकता है। दुरुपयोग की स्थिति में तो न सिर्फ इस अमूल्य निधि का सर्वनाश होता है बल्कि इसको हथियार बना कर संसार के सर्वनाश की राह भी बनाई जा सकती है। आवश्यकता है इस अमूल्य प्राप्ति का महत्त्व जानने की और तदनुसार मानव जीवन को सत्पथ पर लगाने की, ताकि यह मानव-तन स्व-पर कल्याण का प्रखर साधन बन जाए।

मानव तन एवं जीवन की सार्थकता है मानवता को आत्मसात् करने में :

मानव तन और जीवन स्वयं में सार्थक नहीं, क्योंकि इनकी सार्थकता इस सत्य में निहित है कि मानव अपने ज्ञान एवं आचरण से मानवता को आत्मसात् करे। यदि मानव होकर मानवता की वृत्ति और प्रवृत्ति नहीं है तो उसे शुद्ध अर्थ में मानव कहना भी उचित नहीं। मानवता के अभाव में तन से

दिखने वाला मानव वास्तव में मानव जीवन का धारक नहीं बनता। इसी दृष्टि से मानवता की उपलब्धि को दुर्लभ कहा गया है। मानवता का उदय एवं विकास हो, तब ही शास्त्रों, सद्ग्रंथों एवं जीवन निर्माण की सामग्री को सुनने, समझने तथा उस पर चिन्तन मनन का अभ्यास होता है और उसके बाद सच्चे धर्म एवं मानवीय कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा बनती है। यही निष्ठा मानव को चरित्रशील बनने तथा सदाचार का पालन करने की सफल प्रेरणा प्रदान करती है। यों ये चारों प्राप्तियां दुर्लभ कही गई है **(कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ। जीवा सोहिमणुपत्ता, आय-यन्ति मणुस्सयं।**-उत्तराध्ययन, 3/7)।

निष्कर्ष यह है कि दुर्लभता, मानव तन मिलने के बाद मनुष्यत्व की मानी गई है, क्योंकि मानव तन तो एक साधन मात्र है और साधन का सदुपयोग न किया जाए तो वह लाभप्रद नहीं बनता। यह तन निरुपयोगी रहा तो व्यर्थ हुआ और यदि इसका दुरुपयोग किया तो यह भारी हानि का कारण भी बन सकता है। मानव तनधारी एक चोर भी होता है जो छल पूर्वक दूसरों का धन आदि चुरा कर अनेकों को दुःखी करता है। मानव तनधारी एक कसाई भी है जो प्रतिदिन नृशंसता पूर्वक निरीह प्राणियों के प्राणहरण कर अपना धंधा चलाता है। यह मनुष्य ही साम्राज्यवादी बनकर राष्ट्रों को दासता की बेड़ियों में जकड़ता है तो सत्तालोलुप बनकर राजनीति को धन, बाहुबल और अपराधों पर टिकाने की कुचेष्टा करता है। मानव तनधारिणी वेश्या भी होती है जो अपने शरीर, रूप और यौवन का व्यापार चलाती है। एक नहीं, अनेकों उदाहरण दिखाई देंगे जहां इस अमूल्य मानव तन का दुरुपयोग किया जा रहा है। मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ, जो प्राप्तकर्त्ता एवं पूरे संसार के लिये एक वरदान बनना चाहिये था और यदि उसे ही अभिशाप का रूप दे दिया गया तो सबको उस अभिशाप के छींटे झेलने पड़ते हैं। इसलिये मानव तन की तब तक कोई विशेषता नहीं, जब तक मनुष्यत्व की प्राप्ति न हो। विशेषता होती है मनुष्यत्व की।

सच्चा मनुष्यत्व मनुष्य को देह-दर्शन से ऊपर उठाकर आत्म-दर्शन एवं विश्व-दर्शन की भूमिका प्रदान करता है। संसार की समस्त जीवात्माओं में अपनत्व का दर्शन ही वास्तविक मानव दर्शन है। जब स्व में सर्व को और सर्व में स्व को देखने का अभ्यास बनता है, तभी मानवता धन्य होती है। ऐसा मनुष्यत्व दुर्लभ ही नहीं, महादुर्लभ कहा जाना चाहिये। जब जीवन में मनुष्यत्व का भाव आत्मसात् नहीं होता, तब मनुष्य अन्याय, अत्याचार, अपराध, शोषण, दमन आदि कुकृत्यों के प्रपंच में पड़ता है और अपने स्वार्थों के लिये मानवता का हत्यारा बनता है। वह अपने कुकृत्यों से स्वर्गोपम इस संसार को नरक का नमूना बना देता है। अज्ञानी पशु तो फिर भी दूध, घी, भार वहन आदि सेवाओं से मानव समाज का यथोचित उपकार करता है किन्तु मानवता विहीन मनुष्य पशुओं से भी गया गुजरा जीवन व्यतीत करता है। अतः मनुष्यत्व का परम विकास साधने के लिये-

(1) सत्या सत्य का विवेक प्राप्त करें,

(2) सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को अपनावें,

(3) सर्व बन्धनों को काटने के लिये पुरुषार्थ नियोजित करे एवं

(4) सभी क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्र बने तथा स्वतंत्रता का अन्यतम विस्तार करें।

आप किस प्रकार के मानव बनना पसन्द करेंगे? :

मानव जीवन को चार प्रकार की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

(1) एक मानव जीवन वह है जो चरित्र एवं सदाचार के स्वरूप को जानता, पहचानता तो है, परन्तु न सदाचार का आचरण करता है और न ही चरित्रशील बनने का प्रयत्न।

(2) दूसरा वह है जो सदाचार का आचरण तो करता है, परंतु चरित्र एवं सदाचार का सम्यक् स्वरूप भली-भांति नहीं जानता है। उसका आचरण, ज्ञान विहीन है।

(3) तीसरा वह है जो सदाचार के स्वरूप को अच्छी तरह से जानता, पहचानता है तथा तदनुसार आचरण भी करता है।

(4) चौथा मानव जीवन वह है कि जो न तो सदाचार का सही स्वरूप जानता, पहचानता है और न सदाचार का आचरण ही करता है। वह ज्ञानहीन भी है और आचरणहीन भी है।

मानव जीवन के इन चार प्रकारों में केवल तीसरे प्रकार का मानव जीवन ही सार्थक एवं सर्वश्रेष्ठ है जो मानवता के ज्ञान एवं चरित्र दोनों से सुसंपन्न है। जीवन में किसी भी प्रकार की सफलता और मुख्य रूप से भावनात्मक एवं आध्यात्मिक सफलता उसी मानव को प्राप्त होती है, जिसके पास ज्ञान के नेत्र हों और आचरण के पैर, फिर उसके मानवता को आत्मसात् करने के पथ की बाधा कोई भी शक्ति नहीं बन सकती।

मानवता एवं चरित्रशीलता एक दूसरे के साध्य और साधन होते हैं। और जो मानव इन सद्गुणों से अपने जीवन को सजा लेता है, उसका व्यक्तित्व असाधारण प्रभाव का धनी बन जाता है। व्यक्ति और व्यक्तित्व का संबंध फूल और सुगंध के संबंध जैसा है। एक डाल पर गुलाब का फूल खिलता है तो उसकी भीनी-भीनी सुगंध चारों ओर फैल जाती है और आने-जाने वालों को अपनी ओर आकर्षित करती है। वह गुलाब अपने सौन्दर्य एवं माधुर्य का उन्मुक्त भाव से वितरण करता है। वह सिर्फ देना चाहता है, अपने लिये कुछ भी बचाता नहीं। तो यही गुलाब का व्यक्तित्व होता है। इसी प्रकार परिवार, ग्राम, नगर, राष्ट्र या किसी भी संघ या संगठन की डाली पर मानों मानवता से युक्त एक मानव का जीवन पुष्पित होता है तो उसके चरित्रशील जीवन की सुगंध उसके क्षेत्र में चारों ओर फैलती है और वह जन-जन के मन को श्रेष्ठ सुगंध से आप्लावित करके लोकप्रिय बन जाता है। त्याग जितना प्रगाढ़ होगा उतना ही उसका व्यक्तित्व सर्वजनहितकारी भी होगा तो सर्वजनप्रियकारी भी। देना, त्यागना, न्यौछावर करना, विसर्जित होना-ये सब मानवतापूर्ण व्यक्तित्व के लाक्षणिक चिह्न हैं।

मन से ही मनुष्य है जो वरदान भी है तो अभिशाप भी बन सकता है :

मनुष्य का मन एक चपल अश्व के समान होता है जो चलता या दौड़ता नहीं, हवा से बातें करता है। अश्व तीव्रगामी है तो फिर अश्वारोही का भी उतना ही कुशल होना अनिवार्य है। अगर घुड़सवार उतना ही तेजतर्रार न हुआ तो क्या नतीजा होगा, आप समझ सकते हैं? सवार काठी पर मजबूती से

टिका हुआ नहीं रह पाएगा तो लड़खड़ाता रहेगा या फिर घोड़े की पीठ से ही उसे उछाल दिया जाएगा कि वह क्षत-विक्षत हो जाए। इसका दूसरा पहलू भी समझ लीजिए। यदि घोड़ा दुबला और मरियल हुआ तो सवारी का कोई मजा नहीं रहेगा। सवार उससे कोई खास दूरी भी पार नहीं कर सकेगा। अतः अपेक्षा यह की जाती है कि घोड़ा तो कुलांचे भरने वाला ही हो, पर सवार भी उसके मुताबिक अपने आपको तेज तर्रार बनाले। फिर सवारी का मजा तो आयेगा ही, पर लम्बी-लम्बी दूरियों को आसानी से पार कर लेना भी संभव हो जाएगा। मनुष्य को अपने जीवन में उन्नति की लम्बी दूरियाँ ही तो पार करनी है और उसमें मन का योग मिले तो कहना ही क्या?

सभी धर्म प्रवर्त्तकों ने मन की जीत को अति कठिन कहा है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि मन को जीतना बड़ा कठिन है, क्योंकि मन वायु के समान चंचल है **(चंचल हि मनः कृष्ण, वायुरिव सुदुष्कर**-गीता)। बुद्ध कहते हैं कि सब धर्म, सब वृत्तियां और सब संस्कार पहले मन में ही पैदा होते हैं **(मनो पुत्वंगमा छंदा, मनोसेट्ठा मनोभया**-धम्मपद 1/1)। महावीर ने मन के दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है कि मन दुष्ट घोड़े जैसा दुस्साहसिक है **(मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई**-उत्तराध्ययन, 23)। मन जैसा कोई शत्रु नहीं, लेकिन मन के समान अनन्य मित्र भी कोई नहीं। मन ही की सारी सृष्टि है। मन उत्साहित है तो दुनिया रंगीन-सब कुछ आनन्दायक और मन उदास तो जैसे सब ओर शोक छाया हुआ हो। **मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।** मन मनुष्य के साथ ही-सवाल इतना ही है कि मनुष्य मन का स्वामी बने, उसे अपने विवेक और आदेश से चलावे या वह मन के अधीन होकर बियावान में भटक जाए। घोड़े को अपने काबू में रखा जाएगा तो वह वरदान है-कहीं भी कभी-भी निश्चिन्त होकर चल पड़ो, मंजिल तक पहुंचकर ही रुकोगे। वही घोड़ा अभिशाप हो जाएगा जो उस पर काबू नहीं रख पाए-तब उसकी पीठ पर सवार होने की बजाय उस के पांवों से बंधे घिसटते रहोगे और अपने को लहुलुहान बना लोगे। यही मन और मनुष्य के बीच का संबंध है। मन वरदान तो है ही परंतु अपनी कमजोरी से उसे अभिशाप से भी बदतर बना लोगे।

मन की गति को रोकिए नहीं, गति को गंतव्य की ओर बढ़ाइए :

लोमड़ी अंगूर के गुच्छे तक नहीं पहुंच सकी और अंगूर नहीं पा सकी तो उसने कह दिया-अंगूर खट्टे हैं। लेकिन अंगूर हकीकत में खट्टे थोड़े ही थे। लोमड़ी ने अपनी अशक्यता की गाज मीठे अंगूरों के सिर पर गिरा दी। ऐसी ही कुछ विचारकों ने मन के विषय में अपनी राय बनाई होगी-कई बार ऐसा आभास होता है। मन चपल अश्व के समान चंचल है और उसकी गति तीव्र है-यह सही है, किंतु क्या इस विचार को सही माना जाए कि उसके लिये मन की गति को रोक दो **(योगश्च चित्त वृत्ति निरोधः** पातंजलि का योगशास्त्र)? घोड़े की चाल पर काबू नहीं पाया जा रहा है तो उसे अस्तबल में बांधकर खड़ा कर दो-क्या किसी कमजोर सवार का यह फैसला उचित माना जा सकता है? शायद है लोग उस सवार की हंसी उड़ावें और सलाह दें कि घोड़े को बांध कर खड़ा मत करो, बल्कि खुद को उस अरबी घोड़े पर सवारी करने लायक बनाओ। आप कोई एक अच्छी मशीन लाए और उसे चलाना न जान सके तो क्या उस कीमती मशीन को कचरे में फैंक देंगे? ऐसा नहीं करेंगे,

बल्कि हर उपाय से उसे चलाना सीखेंगे और मशीन की पूरी क्षमता तक उसे चला कर भरपूर लाभ उठाएंगे। ऐसा ही विचार मन के लिये भी मनुष्य को बनाना चाहिये। मन की गति को न तो रोकिए और न ही घटाइए, बल्कि अपने को कुशल नियंत्रक एवं निर्देशक घुड़सवार बना कर मन की अपार शक्तियों के साथ अपने जीवन पथ को सुगम एवं सफल बनाइए।

यही सत्य स्व. उपाध्याय श्री अमर मुनि जी म.सा. ने अपनी ओजस्वी लेखनी से सुस्पष्ट किया है-'विचारकों की शिकायत है कि मन बड़ा चंचल है। किन्तु मैं पूछता हूँ कि यह शिकायत ऐसी ही तो नहीं है कि हवा क्यों चलती है? अग्नि क्यों जलती है? पानी क्यों बरसता है? सूर्य क्यों तपता है? हवा स्थिर क्यों नहीं हो जाती? अग्नि ठंडी क्यों नहीं बन जाती? पानी रूक क्यों नहीं जाता? सूर्य शीतलता क्यों नहीं देता? दिल धड़कना (गतिशीलता) बन्द क्यों नहीं कर देता? प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म होता है, स्वभाव होता है। हवा का धर्म चलना है, अग्नि का धर्म जलना है और मन का धर्म मनन करना है। मन है तो मनन है। मनन है तो मनुष्य है। मन जब मनन करेगा तो गतिशीलता आएगी ही, सक्रियता आएगी ही। मन से शिकायत है तो क्या आप एक इन्द्रिय आदि बिना मन वाले (असंज्ञी) हो जाते तो अच्छा होता? **न रहता बांस, न बजती बांसुरी**! मन ही नहीं होता तो चंचलता भी नहीं होती। बात वस्तुत: यह है कि मन कोई परेशानी और दुविधा की चीज नहीं है। यह तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, महान् पुण्य से प्राप्त होने वाली दुर्लभ निधि है। भगवान् महावीर ने कहा है- बहुत बड़े पुण्य का जब उदय होता है तो मन की प्राप्ति होती है। सम्यग्-दर्शन किसको प्राप्त होता है? संज्ञी को या असंज्ञी को? जिसके पास मन नहीं, क्या वह सम्यग् दृष्टि हो सकता है? नहीं न। सम्यग् दृष्टि की श्रेष्ठतम उपलब्धि मन वाले को ही हो सकती है। यह आप मानते हैं, तो फिर मन आपके लिये दुविधा की वस्तु क्यों है? उसे ऐसा भूत क्यों समझते हैं कि जो जबरदस्ती आपके पीछे लग गया है? मेरे बंधुओ! यह तो वह देवता है , जिसके लिये बड़ी-बड़ी साधनाएं करनी पड़ती है। फिर भी मन को मारने की बात क्यों?

निष्कर्ष यह है कि मन जैसी अमूल्य उपलब्धि का आत्मोन्नति में पूरा-पूरा उपयोग कीजिए। उसकी गति को न रोकिए, न घटाइए, बल्कि मनन की शक्ति को इतनी बढ़ा लीजिए कि गंतव्य तक पहुंचना सरल, सुगम एवं शीघ्र प्राप्य बन जाए।

मानव-मन में चलता रहता है देवासुर संग्राम पल-प्रतिपल :

पौराणिक वर्णन कि देवासुर संग्राम चलता रहा जिसका एक दृश्य समुद्र मंथन के रूप में सामने आया और उसमें से निकले रत्नों के बंटवारे के समय देवताओं और राक्षसों के बीच चल रहा संघर्ष उग्रतर हुआ। यह देवासुर संग्राम मानव मन में पल-प्रतिपल चलता ही रहता है। इस संग्राम का अहसास प्रत्येक विवेकवान् मानव कर सकता है, क्योंकि इसके लिये दृष्टा भाव की जरूरत होती है।

दृष्टा बनने का अर्थ है स्वयं अपने भीतर झांकना, झांकते रहना और मन के संकल्प-विकल्पों का लेखा-जोखा लेना, उनका विश्लेषण करना और उनकी गति में संशोधन लाकर शुद्धता का स्वरूप देना। इस सारी प्रक्रिया को समझना चाहिये। मन के संकल्प-विकल्पों के तीन रूप होते हैं-

(1)एक वह रूप जब मन मनुष्य को चलाता है और मनुष्य बेभान होकर उसके पीछे-पीछे दौड़ता-भागता रहता है उस दिशा में '**पांचों इन्द्रियां जहां को शाह को चोर**' ऐसी गति मनुष्य को क्रूर राक्षसत्व की ओर ले जाती है। राक्षस या देवता सबसे पहले इस मन में ही रहते हैं। मनुष्य अंधा बनकर जब काम, भोग, स्वार्थ में डूबता है और उसके लिये अन्याय, अनाचार व अत्याचार करता है तब वही मनुष्य राक्षस बन जाता है।

(2) दूसरा रूप मन का वह है जब मनुष्य अपने जीवन की मर्यादाओं के पालन में अपने मन का पूरा सहयोग पाता है। इसका अर्थ है कि मन मनुष्य को नहीं चलाता, मनुष्य अपने मन को चलाता है। दोनों एकरूप बनकर उन्नति पथ पर गति करते हैं। जैसे रथ और रथी संयुक्त रह कर मार्ग में दौड़ते हैं, वही रूप मनुष्य और मन का हो जाता है। मानवीय गुणों से जीवन जब सज्जित होता है तब मनुष्यत्व का यथार्थ रूप प्रकट होता है।

(3) मन का (या मन मनुष्य का) तीसरा रूप देवत्व का होता है। त्याग की श्रेणी में जब इतनी उच्चस्थ स्थिति बन जाती है कि मन और मनुष्य परमार्थी बन जाते हैं-उसके लिये अपना सर्वस्व तक त्याग देने को उद्यत हो जाते हैं तब वही मनुष्य देवता बन जाता है। जो सिर्फ देना जानता है वही तो देवता कहलाता है।

यों मनुष्य ही अपने मन की गतिनीति के अनुसार राक्षस, मनुष्य और देवता के रूप धारण करता है। मनुष्य यदि अपने मन की शक्ति को सहेजे और मन को अपने साध्य की ओर उन्मुख बनावे तो पहले वह राक्षस का रूप धरना कतई बन्द कर देगा और मनुष्य अपने स्वभाव एवं स्वरूप को ज्वलन्त बनाने के लिये कटिबद्ध हो जाएगा। मानवता को सोने का सा निखार दे देगा। सोने का वह निखार जब कुन्दन की दमक लेता है तब मानना चाहिये कि मनुष्य का मन दिव्यता की दिशा में आगे बढ़ रहा है-देव बन रहा है।

यह तथ्य है कि इस मानव के मन में, तन में व जीवन में अथ से इति तक, पौरुष से नियति तक, अनुभव से प्रतीति तक, कल्पना से कृति तक, अस्थिरता से स्थिति तक, गात से गति तक, मोह से मति तक, तिमिर से ज्योति तक पल-प्रतिपल चल रहा है देवासुर संग्राम। मनुष्य के मन की और मन के माध्यम से मनुष्य की शक्ति सर्वोपरि होती है। वह संकल्पबद्ध हो जाए तो वह असुरों का नाश कर सकता है, मनुष्यत्व को चमका सकता है और देवों का सिरमौर बन सकता है इसीलिये तो कहा है कि जिसका मन धर्म में लगा रहता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं। (**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं णमंसति, जस्स धम्मे सया मणो**-दशवैकालिक सूत्र 1/1)।

करणीय यह है कि मन या चित्त की गति निरुद्ध न करके उसे संशोधित की जाए। उसकी गति में शुद्धता और पवित्रता लाई जाए, योग को '**चित्तवृत्ति संशोधः**' का माध्यम बनाया जाए, निरोध का नहीं। स्व. आचार्य श्री नानेश का स्पष्ट मत रहा कि 'प्रचलित योग विद्याओं में योग को जिस रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें पातंजलि योग शास्त्र में परिभाषा दी गई है कि 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात चित्त की वृत्तियों का निरोध करना-यह परिभाषा पूर्ण नहीं है। क्योंकि चित्त की वृत्तियों का निरोध न तो संभव है और न ही आवश्यक। वृत्तियों की क्रियाशीलता निरन्तर बनी रहती

है-उन्हें रोकने का न सामर्थ्य है, न अर्थ। कारण वह क्रियाशीलता ही तो जीवन है। अत: श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य की योग की परिभाषा गहराई से विचारने योग्य है, जिन्होंने कहा है कि क्लिष्ट वृत्ति निरोध अर्थात् कलुषित वृत्तियों का निरोध किया जाए। चित्त की उन वृत्तियों को रोकें जिनका रूप कलुष से भरा हुआ है-अशुभ है। क्लिष्ट वृत्ति निरोध रूप योग साधना से वृत्तियों का स्वरूप बदलना होगा-उन्हें कलुषितता से मुक्त बनाकर उज्ज्वलता का रूप देना होगा। अत: योग साधना को 'वृत्ति निरोध' न कहकर 'वृत्ति संशोध' कहना समुचित रहेगा। [सर्वमंगल सर्वदा (प्रवचन संग्रह) अध्याय 4 वृत्ति संशोध द्वारा आचार्य श्री नानेश]।

सारभूत सत्य यह है कि मनुष्य अपने मन की गति को रोकें नहीं, उसे और तीव्र बनावे, लेकिन नियंत्रण अपना रखें और मन के आवरण को शुद्ध और पवित्र बनावे। काठ के घोड़े पर बैठकर गति का भ्रम बनाना नादान का काम है। विवेकी मनुष्य तो अति चंचल अश्व का आरोही बनकर उसे पवित्रता के उन्नत पथ पर आगे बढ़ा देता है।

चरित्र संपन्न व्यक्तित्व ही मन को नियंत्रित, प्रेरित एवं समुन्नत बनाता है :

अक्सर लोग कहा करते हैं कि उनका मन कहीं भी लगता नहीं है या कि मन उखड़ा-उखड़ा रहता है अथवा मन को किसी भी काम में रस नहीं आता है। इन सब शिकायतों का एक मतलब होता है कि मन में एक तरह की बेचैनी है। इस बेचैनी का कारण खोजना जरूरी है। बेचैनी कई कारणों से हो सकती है जैसे सक्रियता का अभाव, दिशाहीनता, इच्छा या लालसा की पूर्ति का नहीं होना आदि, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण कारण होता है चरित्रहीनता या सच्चे चरित्र का अभाव। चरित्र नहीं अर्थात् आचरण नहीं और आचरण के बिना कोई भी उपलब्धियां कहां मिलती है?

इस दृष्टि से मन की बेचैनी को समझना जरूरी है, क्योंकि इसी से मन की अनेक समस्याएं पैदा होती है। कभी-कभी समस्याएं इतनी उग्र हो जाती है कि मनोचिकित्सा की आवश्यकता उठ खड़ी होती है। मन बीमार रहे तो तन को भी बीमारियाँ लग जाती है। इस कारण मन के स्वास्थ्य की ओर तुरंत ध्यान देना चाहिये। मन न तो रोगी बनना चाहिये और न ही शिथिल। उसे हमेशा क्रियाशील बनाये रखें। इसके लिये आवश्यक और सही काम में रस (रुचि) पैदा करना होगा ताकि मन उसमें नियोजित हो जाए। मन को कार्यरत बनाये रखने का काम एक चरित्र संपन्न व्यक्तित्व ही सफलता पूर्वक संपन्न कर सकता है। चरित्रबल के साथ मन को नियंत्रित करने और नियंत्रित बनाये रखने, समुन्नति की दिशा में मन को प्रेरित करने एवं प्रोत्साहित बनाने तथा प्रगति के मार्ग पर मन को अग्रसर रखने में त्वरित एवं निश्चित सफलता मिलती है।

मन रस पल्लवित तभी होता है जब उस कार्य में आस्था और श्रद्धा का प्रगाढ़ भाव रहा हुआ है। मनुष्य की अमुक काम में यदि गहरी रुचि और दृढ़ आस्था हो तो उस का मन उस काम के रस में इतना डूब जाएगा कि मन को लगाने की मनुष्य को कोई कोशिश तक नहीं करनी पड़ेगी। उपनिषदों में यहां तक कहा गया है कि कोई भी लक्ष्य या साध्य क्या, स्वयं ईश्वरत्व भी रस-रूप है। तभी तो मनुष्य जहां कहीं भी रस पाता है तो उसमें निमग्न हो जाता है, आनन्द-स्वरूप बन जाता है (**रसो वै**

सः रस ह्योवायं लब्ध्वानन्दी भवति:-तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/7)।

सधे हुए मन के साथ मनुष्य व्यवस्था के एक-एक सूत्र को साध लेता है :

मनुष्य के मन का स्वभाव मधुमक्खी जैसा होता है। मधुमक्खी को सिर्फ फूलों का रस चाहिये-रस के अलावा उसकी अन्य कोई पसन्द नहीं। जिस फूल से उसे रस मिलने की संभावना दिखाई देती है, उसी फूल की ओर वह बढ़ती है और पक्की जांच-परख करने के लिये कुछ समय तक उसके ऊपर मंडराती रहती है। फिर गुनगुनाते हुए वह फूल पर बैठती है और रस खींचती है, लेकिन कितना? उसकी तृप्ति हो जाए और फूल को कोई क्षति न पहुंचे-सिर्फ उतना ही रस वह ग्रहण करती है। (**ण य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं**-दशवै0 अ0 १) उसको कोई लोभ-लालच नहीं होता अतः संचय का सवाल ही नहीं। जो रस वह अपने छत्ते तक ले जाती है वह छोटी-अशक्त मधुमक्खियों के पोषण के लिए ही। मूल स्वभाव की दृष्टि से मनुष्य का मन भी ऐसा ही होता है। उसका जो विकृत रूप स्थान-स्थान पर दिखाई देता है, वह वातावरण का कुप्रभाव है। इस कुप्रभाव को देखते हुए ही मन को साधने की प्रेरणा दी जाती है। मन को साधो यानी उसके मूल स्वभाव को पुनः प्राप्त कर लो। मूल स्वभाव में स्थित हो जाने पर उसे सधा हुआ मन माना जाता है।

ऐसे सधे हुए मन के साथ जब मनुष्य किसी भी स्तर की व्यवस्था का सूत्रपात करता है तो उस व्यवस्था में शत-प्रतिशत शुद्धता रहती है। सधे हुए मन का धारक मनुष्य वस्तुतः साधक होता है तथा साधक किसी भी व्यवस्था का सूत्रपात करता है ता वह उसके एक-एक सूत्र को इस कुशलता से संवारता है कि उसमें अशुद्धता का तनिक भी अंश न आ सके। व्यवस्था का क्रम ऐसा भी होता है कि साधक के सामने कई बार एक विशेष प्रकार की समस्या आती है। वह समस्या होती है कई विकल्पों में से एक का चुनाव। कभी-कभी कई विकल्पों से लड़ने का प्रयत्न करते-करते वह उनमें और अधिक उलझ भी जाता है। किन्तु कैसा भी संघर्ष हो, एक सधा हुआ मन अन्ततः विकल्पों से सुलझता ही नहीं बल्कि व्यवस्था को नया निखार भी दे देता है।

ग्राम स्तर की व्यवस्था हो अथवा विश्व स्तर की-मनुष्य ही प्रथमतः और अन्ततः उस व्यवस्था का सूत्रधार होता है। व्यवस्था का सूत्रपात अधिकांशतः शुद्ध इस कारण होता है कि मनुष्य मूलतः सत्स्वभावी होता है और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के समय उसमें एक नया उत्साह उभरता है कि सुचारु व्यवस्था से उसके व्यक्तित्व को भी जनप्रियता मिलेगी। उस क्षण उसके हृदय में अशुभ वृत्तियाँ हो तब भी शुभ वृत्तियाँ अधिक प्रभावशील रहती है। यदि व्यवस्था के शुद्ध प्रारंभ के साथ वातावरण में भी शुद्धता आ जाए तो बाद में मनुष्य की अशुभ वृत्तियाँ फिर असरदार नहीं रहेगी। अशुभ वृत्तियाँ उन्हीं परिस्थितियों में सिर उठाती है, जब व्यवस्था में शिथिलता आने लगती है और जागरूक वातावरण के अभाव में स्वार्थ साधन की गुंजाइश बन जाती है। वृत्तियों का उठाव या जमाव बहुधा वातावरण पर निर्भर करता है। अतः यदि चरित्रनिष्ठा का एक सामाजिक स्तर हो और प्रत्येक वातावरण तो मनुष्य की अशुभ वृत्तियों को अपना असर दिखाने का अवसर ही नहीं आएगा। शुभ वृत्तियाँ प्रभाविक बनी रहेगी और

व्यवस्था का एक-एक सूत्र गठा हुआ रहेगा। फिर जब सधे हुए मन का सम्बल मनुष्य को मिला हुआ हो तब तो कोई आशंका नहीं बचेगी कि किसी भी व्यवस्था में विघ्न या विकार आ सके।

मनुष्य धर्म को धारण करके ही व्यवस्था का संचालन करे :

व्यवस्था का संचालन तभी शुभ एवं शुद्ध बना रह सकता है जब मनुष्य धर्म को धारण करके व्यवस्था को संचालित करे। धारण करें तो धर्म है, वरना धर्म का कोई अर्थ नहीं। धर्म की विद्वत्तापूर्ण अनेक व्याख्याएं की गयी है, किन्तु धर्म का मूल तात्पर्य है कर्त्तव्य। कहां-कहां, किन परिस्थितियों में किस-किस रूप में मनुष्य को क्या करना चाहिये जिससे कि सबका हित संपादन हो और उसका स्वयं का विकास हो। मोटे तौर पर वे ही उसके कर्त्तव्य होते हैं। कर्त्तव्य का अर्थ होता है करने योग्य! और यह कर्त्तव्य किस के प्रति होता है-विश्व के प्रति, राष्ट्र के प्रति, समाज के प्रति, प्राणियों के प्रति, परिवार के प्रति अथवा स्वयं के प्रति। ऐसे कर्त्तव्य महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट सत्ता द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इन सबके साथ अपनी खुद की भीतर की आवाज कठिन से कठिन समय में भी कर्त्तव्य का निर्देश कर देती है तो इन सभी कर्त्तव्यों के पुंज एवं उनके स्वस्थ मन से पालन करने की निष्ठा को धर्म कहा जा सकता है। इस धर्म की सच्चाई यह है कि यह पूरे प्राणी जगत्, मानव समाज एवं उसकी व्यवस्था का हित चिन्तक होता है।

धर्म के इस वास्तविक स्वरूप के साथ जब तक मनुष्य का मन एकीभूत रहता है, तब तक व्यवस्था का संचालन भी शुद्ध बना रहता है तथा सुचारु भी हो जाता है। मनुष्य समुदाय में कर्त्तव्य के दृष्टिकोण की प्रमुखता स्वयमेव अधिकारों की प्रदाता बन जाती है। जिसके प्रति कर्त्तव्य का निर्वाह किया जाता है, उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह उसका समादर करे, उसके आदेश-निर्देश को माने। इस प्रकार कर्त्तव्य से अधिकार मिलता है। स्वस्थ संचालन के लिये कर्त्तव्यों पर बल दिया जाना चाहिये, अधिकारों पर नहीं, क्योंकि अधिकार तो कर्त्तव्यों से अपने आप उपज जाएंगे। परन्तु जब अधिकारों पर ही सारा बल दे दिया जाता है तो कर्त्तव्य पालन शिथिल व निष्क्रिय हो जाता है और व्यवस्था का क्रम विकृत एवं अस्थिर होने लगता है।

मनुष्य द्वारा व्यवस्था के संचालन से एक जुड़ा हुआ प्रश्न है नैतिकता का। मानव मन आज के कम्प्यूटर की तरह संस्कारित, दक्ष और प्रशिक्षित नहीं होता है अत: उसके लिये प्रशिक्षक का कार्य करती है नैतिकता। अंग्रेजी शब्दों के कारण नैतिकता का स्वरूप कुछ भ्रामक बन गया है। 'मॉरेलिटी' शब्द का उपयोग नैतिकता के लिये होता है जबकि नैतिकता का सही शब्द 'एथिक्स' है। 'मॉरेलिटी' का सही अर्थ है लोकाचार। लोकाचार या नैतिकता का आपस में कोई संबंध नहीं। अत: सही शब्द है सदाचार। व्यवस्था के सम्यक् संचालन में जिस सद्गुण की आवश्यकता होती है, वह है सदाचार। सदाचार क्या? यह व्यवस्था का स्थायी, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक गुण है। इसके विपरीत लोकाचार देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। सदाचार सदा सत्य से ही जाना जाता है, सत्य से ही अनुभूत किया जाता है एवं सत्य के साथ ही जिया जा सकता है। इसी सदाचार का दूसरा नाम चरित्र है। अत: किसी भी व्यवस्था की कसौटी यह है कि वह कैसे चरित्र के

साथ संचालित की जा रही है अथवा उस व्यवस्था के संचालन से किस प्रकार के चरित्र का परिचय मिल रहा है? अत: व्यवस्था एवं सदाचार या चरित्र का सामंजस्य होना ही चाहिये और मनुष्य को इस सामंजस्य का प्रतीक बनना चाहिए। तब सर्वत्र सदाचार का निर्वाह स्वाभाविक बन जाएगा।

एक विचार यह भी है कि धर्म को जो धारण करता है वह विज्ञान है? अत: मनुष्य का धर्म भी एक विज्ञान ही है जो त्रिविधात्मक है। इस धर्म के तीन स्वर हैं- देह रक्षा, वंश रक्षा तथा सारे सामाजिक परिवेश के साथ संतुलन। और मनुष्य का यह जो धर्म है, उसे ही सदाचार कह लें, नैतिकता कह लें या चरित्र कह लें। '**धर्मो रक्षति रक्षित:**'- राजधर्म, लोकधर्म और प्रकृति धर्म की मनुष्य रक्षा करे तो ये सब धर्म मनुष्य की रक्षा करेंगे। सदाचार का निरूपण मनुष्य धर्म के लिये ही है क्योंकि पशुओं को सदाचार की अपेक्षा नहीं होती-वे तो प्रकृति द्वारा ही मर्यादित होते हैं। बुद्धिशील एवं कर्मठ स्वभाव के कारण मनुष्य को सदाचार से बंधना चाहिये ताकि उसकी बुद्धि एवं कर्मठता अनाचार या अत्याचार की दिशा में न बढ़ सके। व्यवस्था की सुरक्षा सदाचार से ही संभव होती है।

सामाजिक समरसता के योग से मनुष्य द्वारा व्यवस्था का संवर्धन :

आप अपनी दिनचर्या का अवलोकन करें। प्रात: उठकर रात को सोने के समय तक आप जितने कार्य करते हैं, जितनी वस्तुओं का उपयोग करते हैं अथवा जितना भी व्यापार-व्यवसाय चलाते हैं- उस सबमें क्या आपको कहीं भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह बिना किसी अन्य के सहयोग से कर रहे हैं? शायद ही ऐसा प्रतीत हो अर्थात सर्वत्र किसी अन्य का सहयोग अवश्यमेव होता ही है। इसे ही सामाजिक सहयोग कहा जा सकता है। एक छोटे से उदाहरण से इसे समझें। आप खाने के लिये बैठे हैं और थाली में दाल-रोटी है-इसे क्या आप सिर्फ अपनी कमाई मानेंगे? एक बार तो यही कहेंगे कि मेरी अपनी कमाई से दाल रोटी मिली है। ठीक है-यह मान ले तब भी गेहूं या दाल का उत्पादन किसान ने अपने खेत में किया, आपकी पत्नी, मां या बहिन ने उसे साफ किया, भोजन पकाया तभी तो दाल रोटी आपकी थाली में आ सकी है। फिर इसमें काम आने वाले अनेक उपकरणों के अनेक निर्माता होते हैं। आशय यह कि पग-पग पर सामाजिक सहयोग से मनुष्य का जीवन निर्वाह होता है।

दूसरे शब्दों में कहें कि मनुष्य एवं समाज अन्योन्याश्रित है। मनुष्य अकेला नहीं अपितु उस समाज में रहता है जहां सभी लोगों की सम्मिलित भागीदारी होती है। प्रत्येक की एक दूसरे पर निर्भरता रहती है। इसी निर्भरता से उपजती है-ऋण की बात और ऋण मोचन की बात। ऋण मोचन में ही कर्त्तव्य का समावेश होता है। पहले ऋण की बात कर लें मनुष्य अपना जीवन निर्वाह हेतु निर्भर रहता है समाज पर यानी कि अपने साथियों पर, उसके बाद पशुओं पर, वृक्षों-वनों पर, प्रकृति पर, हवा, पानी, जमीन पर और इस तरह की अनेक बातों पर। अब जिसका ऋण है उसके प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य बनेगा ही कि वह अपने ऋण का मोचन करे-अपने उपकार का बदला चुकावे। इन ऋणों का स्थूल विभाजन है- 1. मातृपितृ ऋण (माता-पिता, भाई बन्धु), 2. ऋषि-मुनि ऋण (ज्ञानोपार्जन, धर्मोपदेश), 3. प्रकृति ऋण (धन-धान्य, सुख-सुविधा), 4. भूत ऋण (भूत, जीव, सत्व आदि प्राणियों का उपकार)। तो इनके ऋणों के मोचन को मनुष्य का कर्त्तव्य

माना गया है। जिसे नैतिकता भरा आचरण या सदाचार का मार्ग भी कहा गया है। ऋण मोचन के उपाय भी बताये गये हैं जैसे 1. ज्ञानोपार्जन एवं ज्ञानदान को परम्परा निभाना, 2. एक दूसरे की रक्षा एवं सहायता करना, 3. अपना काम सच्चाई व ईमानदारी से करना और दूसरों को इस दिशा में प्रेरित करना आदि। उपकारी के उपकार को मानते हुए उन्हें धर्म मार्ग में जोड़ना, धर्म मार्ग में आगे बढ़ाना, कुछ अंशों में उनके उपकारों से उऋण होना है।

यह ऋण और ऋणमोचन की बात क्या जताती है? यह बात विश्व व्यवस्था को बतलाती है। ऐसी परम्परा ढालने की बात है कि व्यवस्था के सूत्र कहीं भी कभी-भी टूटें नहीं बल्कि मजबूत होते रहें। एक दूसरे पर उपकार किया जाता रहे और नियमित रूप से उतारा जाता रहे तो व्यवस्था के भंग होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। यों व्यवस्था का संवर्धन होता रहेगा। व्यवस्था के संवर्धन हेतु प्रत्येक मानव को यह प्रतीति कराना आवश्यक है कि विश्व की समूची व्यवस्था हो अथवा राष्ट्रीय या प्रादेशिक शासन-प्रशासन अथवा किसी भी प्रकार के संघ-संगठन के नियम-अनुशासन हो, सबमें उसके सदस्यों की क्रियाशील साझेदारी है और उसके बिना इस अन्योन्याश्रित समाज में व्यक्ति या समुदाय किसी का भी काम ढंग से चलने वाला नहीं है। यद्यपि समाज एवं व्यक्ति की परस्पर निर्भरता सुस्पष्ट है, फिर भी यह भाव यदि प्रत्येक मानव के हृदय में जगा हुआ रहे तो व्यवस्था का स्वरूप सुचारु तो रहेगा ही, किन्तु वह संवर्धित भी होता रहेगा। कारण, सभी सौहार्द्र एवं सहयोग की भावना के साथ परस्पर जुड़े हुए रहेंगे। श्री राम कृष्ण परमहंस कहते हैं कि जहां कायरता, घृणा और भय व्याप्त हो, वहां शुभता प्रवेश नहीं कर सकती।

विश्व-व्यवस्था एवं मानवता का हित एक दूसरे के पूरक बनें :

विश्व के विकास-ह्रास अथवा उत्थान-पतन में मनुष्य का सर्वाधिक सहयोग रहा है, क्योंकि इस पृथ्वी पर मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित एवं प्रभावशाली प्राणी है। मनुष्य के विचार, चिन्तन, कार्य एवं उपक्रम से इस विश्व की व्यवस्था चली है, चल रही है और चलती रहेगी। अन्तर की बात यही है कि मनुष्य की सामाजिकता जितनी संघीय, सहयोगात्मक एवं दायित्वपूर्ण होती है तो विश्व की समूची व्यवस्था भी उतनी अधिकतम संख्या के अधिकतम हित से आगे बढ़कर सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय बन सकती है। यह इस तथ्य पर निर्भर है कि मनुष्य एवं विश्व का, व्यक्ति और समाज का आपसी जुड़ाव कितनी उदारता एवं हित भावना पर आधारित है? सामाजिक प्रगाढ़ता एवं मनुष्य की बुद्धिमत्ता इन दोनों का जोड़ है, क्योंकि मनुष्य, किसी भी अन्य शक्ति की अपेक्षा स्वयं की बुद्धि एवं जागरूकता से निर्देशित होता है। पशुओं में ऐसा नहीं, क्योंकि प्रकृति उनकी जीवन प्रणाली को मर्यादित बनाये रखती है। मनुष्य प्रकृति की सीमा में ही बंधा हुआ नहीं रहता। यही कारण है कि मनुष्य की समाज-व्यवस्था विधि-निषेधात्मक होती है। क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये?-यह अनुशासन मनुष्य स्वयं की सहमति एवं समाज के माध्यम से अपने पर लागू करता है। इस अनुशासन को जब वह स्वयं ही तोड़ता है तब अव्यवस्था की शुरुआत होती है। ऐसी अनुशासनहीनता मनुष्य में पैदा न हो-इसी के लिये उसके चरित्र निर्माण की आवश्यकता महसूस की जाती है।

समरस सामाजिकता के आधार पर ही मनुष्य स्वार्थ आदि विकारों में न फसते हुए एक ओर

मानवता के अपने स्वरूप को स्थायित्व दे सकता है तो दूसरी ग्राम से विश्व स्तर तक की व्यवस्था को सजग, सक्रिय एवं मानवहित में संलग्न बना सकता है। इस दृष्टि से तैयारी ऐसी होनी चाहिए कि विश्व-व्यवस्था एवं मानवता का हित एक दूसरे के पूरक बनें। इसके लिये मानव का दृष्टिकोण उदार एवं व्यापक होना चाहिये। यदि वह अपने शरीर या ज्यादा से ज्यादा परिवार तक ही सीमित बना रहे तो उस संकुचितता से मानवता का ढांचा टिकेगा नहीं।

मनुष्य का विकास क्रम या यों कहें कि उसकी मनुष्यता का विकास क्रम यदि देखा जाए तो ज्ञात होगा कि वह किस प्रकार क्षुद्र से विराट् स्थिति तक पहुंचा है। एक असहाय शरीर ने जन्म धारण किया तो आसपास में जो अन्य सक्षम शरीरधारी थे, वे उसे सहयोग करने लगे, उसके सुख-दु:ख में भाग बंटाने लगे। इस प्रकार परस्पर में स्नेह एवं सद्भाव की कल्पना जगी और वह परिवार का एकरूप बन गया। परिवार जैसी व्यवस्था बहुत पुराने युग में नहीं थी, पर जब मनुष्य आसपास के सुख-दु:ख को अपना बनाने लगा और अपने सुख-दु:ख को आसपास के पड़ौसियों में बांटने लगा तो धीरे-धीरे परिवार की व्यवस्था खड़ी हो गई। सुख-दु:ख में हिस्सा बंटाने वाले अपने 'निज' के हो गये और जो उससे दूर रहे वे पराये बन गये। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में सुख-दु:ख का विनिमय शुरु हुआ। आगे चलकर उसके जीवन में जो भौतिक और आधिदैविक दु:ख आते, उनसे भी सब सहयोगपूर्वक लड़ते, दु:खों को दूर करने का मिलजुल कर प्रयत्न करते और जो सुख प्राप्त होता उसे सद्भावपूर्वक आपस में बांट लेते, मिलकर उसका उपयोग या उपभोग करते-बस व्यक्ति के जीवन के व्यापक होने की यह प्रक्रिया परिवार को जन्म देती चली गई, समाज का निर्माण करती चली गई और पूरी मानव जाति, बल्कि पूरे प्राणी जगत् एवं विश्व को एक अकेले व्यक्ति से जोड़ती चली गई। इसी वृत्ति ने धीरे-धीरे विराट् से विराट्तर रूप धारण किया और यह क्रम, किन्हीं को आभास होता है और किन्हीं को नहीं, किन्तु अनवरत गति से आगे बढ़ता ही जा रहा है।

यही क्रम समूची विश्व-व्यवस्था को मनुष्य तथा मनुष्यता के हित को स्थायी रूप से संयुक्त करके एकीभूत बनाएगा।

अपनी मनुष्यता को पहचानें तथा सम्पूर्ण मानव जाति को एक मानकर चलें :

यह तो आप निश्चित मानते होंगे कि आप मनुष्य हैं। आपको अपने चारों ओर एवं जहां भी आप जाते हैं, वहां वैसे ही मनुष्य दिखाई भी देते हैं। तो क्या मनुष्य जाति की समानताओं पर आपने कभी सोचा है? शरीर एक-सा, अंग-उपांग एक से काटो तो खून का रंग एक-सा, स्नेह-प्रेम का हावभाव एक-सा, मुस्कुराहट का असर एक-सा, दिल और दिमाग की मौजूदगी एक-सी और अन्दर भीतर में घुसो तो सहानुभूति, सहयोगिता तथा धर्म की भावना एक-सी।

फिर भी भेद सबको सामने दिखते हैं-मान्यताएं अलग, भाषा-बोलियां अलग, क्षेत्र-देश अलग, आर्थिक स्थितियां अलग, वृत्ति-प्रवृत्ति अलग, खान-पान, रहन-सहन अलग और भांति-भांति के अलगावों के अलग-अलग अखाड़े। तो देखना यह है कि दोनों में असली क्या और नकली क्या? समानताएं असली हैं या भेद? दोनों में असलियत हो सकती है किन्तु अधिकांश भेद मानवकृत होते

हैं जिसकी कसौटी यह है कि वे मानव-प्रयत्नों से मिटाये भी जा सकते हैं? यों समानताओं और भेदों को आप किस दृष्टि से देखेंगे तथा अपना निर्णय कैसे निकालेंगे? कोई भी सही निर्णय निकालने के लिये समस्या एवं स्थिति के मूल में पहुंचना होता है, इसलिये पहुंचिए मनुष्य के यानी अपने ही मूल में, मनुष्य का मूल कहां है? उसके जन्म में या जीवन की शुरुआत में? अर्थात शिशु अवस्था में। किसी भी देश, क्षेत्र, सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, भाषा अथवा अन्य किसी भी भेद वाले एक शिशु को देखिये-उसमें सभी समानताएं दिखती हैं या सभी भेद अथवा दोनों? किसी का भी साफ उत्तर होगा कि शिशु में समानताएं तो सभी हैं, पर भेद एक भी नहीं। भेद तब पैदा होने लगते हैं, जब बड़े लोग अपने शिशु का जन्म संस्कार आदि अपने भेद के अनुसार करना शुरु करते हैं, अन्यथा गर्भ से जब कोई भी शिशु बाहर आता है तो एकसी चीख निकालता है और मां का दूध पीने के लिये एक सी आतुरता दिखाता है। यह तो होती है उसकी मूल आवश्यकता, लेकिन इतना सा पाकर वह देता कितना है-फूलों सी झरती हुई मुस्कान, मासूम चेहरे की शान और सरल प्यार की खान। जो वह छोटी अवस्था में देता है, क्या उसका शतांश भी बड़ा होकर मनुष्य दे सकता है? यह सत्य है कि मनुष्य मात्र का जीवनारंभ-'**बाहर में एक देह प्यारा और भीतर में एक सी नेह-धारा**' के साथ होता है। बस, यहीं तक सच्चा संसार है, प्रकृति है और मनुष्य की असलियत है-तन-मन एकदम शुद्ध, प्रेम से प्रबुद्ध चंचल गतिशीलता पर कहीं नहीं अवरुद्ध।

इसके आगे जो कुछ है, उसमें अधिकांश मनुष्य का अपना ही किया और बनाया हुआ है-भेदों की भयानकता, अनैतिकता की अति, घोर स्वार्थ का आचरण, अपराधों और हिंसा का दौर-दौरा, सत्ता और सम्पत्ति की भूख, नानाविध प्रदूषण और सबसे बढ़कर अपने ही साथियों का शोषण एवं उत्पीड़न। वह जैसा बना है या बनता है, अपने शिशु को भी बनाता है-अपने संस्कारों की घुट्टी पिलाता है। यह आज का बिगड़ा हुआ मनुष्य संसार की मूल रचना को अस्त-व्यस्त करता है, विकृत बनाता है तथा अपने व अपने साथियों के बीच तरह-तरह की दीवारें खड़ी करता है। ये दीवारें हैं राष्ट्रों की, सम्प्रदायों की, जातियों की, भाषाओं की, वादो-विचारों की, कार्य प्रणालियों की, वर्गों की-और इन सभी दीवारों की नींव में होता है उसका स्वार्थवाद, हठवाद, दुराग्रहवाद और कट्टरतावाद। इनका मिलाजुला रसायन बनता है-अलगाववाद यानी न तोड़े जा सकने वाले भांति-भांति के भेद। इन पर गंभीर चिन्तन होना चाहिये।

यह चिन्तन हमें दो बातों की तरफ ले जाता है-(1) हम अपने हृदयतल में दबी छिपी मनुष्यता को पहचानें और उसे बाहर प्रकाश में लाकर सक्रिय बनावें एवं (2) इस सत्य को स्थायी रूप से आत्मसात् कर लें कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है। (**एगा मणुस्स जाइ**-महावीर) और उसके बीच भेद डालने का कार्य निकृष्ट एवं जघन्य होता है।

इस विशाल मनुष्य जाति की आज की दुरावस्था की झलक एक रूपक के माध्यम से समझें एक हजारों सभागारों-कक्षों वाला विशाल भवन है और सभी में मनुष्य जाति के सदस्य रहते हैं। सामान्य तौर पर यह होना चाहिये कि सब कमरों के दरवाजें व खिड़कियां खुली रहे, एक दूसरे के कमरों में

और आंगन में लोग आते-जाते रहें-आपस में मिलते-जुलते रहें, मान-मनुहार करते रहें, हंसी दिल्लगी होती रहें और प्यार भरी खुशियों की नेक चहल-पहल चलती रहें। किन्तु आज की असलियत यह है कि अधिकांश कमरे भीतर से बंद हैं, खिड़कियां भी जुड़ी हुई, न बाहर की हवा-रोशनी आती है और न फूलों की महक। इतने बड़े भवन में हंसी के फुव्वारे नहीं छूटते। कभी-कभार किसी कमरे का दरवाजा खुलता है तो बरसते हैं ईंट-पत्थर, गोलियों की बौछारें। दिखते हैं खून के फव्वारें, तबाही के नजारे और अति हो जाए तो बजते हैं युद्ध के नगाड़े।

कितना सुरीला होता है संसार, कितना मनमोहक होता है मनुष्य का जन्म, लेकिन वही मनुष्य अपनी दुर्नीति तथा कुकृत्यों से कैसा बना देता है अपने ही संसार का लोमहर्षक दृश्य? सबका मित्र होने की बजाय अपना स्वयं का ही शत्रु क्यों बन जाता है यह मनुष्य? ऐसी परिस्थितियों के बनने और पनपने की परीक्षा आवश्यक है। यही आज की सम्पूर्ण समस्या का मूल है कि सबको सबसे मिलाने का सुखद अभियान कैसे छेड़ा जाय? चरित्र निर्माण इस नये अभियान का आधार होना चाहिये।

इस अभियान का मंत्र वाक्य हो, सारी मनुष्य जाति को एक मान कर चलो। इसी का निहितार्थ होगा-मनुष्य-मनुष्य के बीच के सारे भेदभावों को अपने मन से निकाल बाहर करो-बाहर भीतर की सारी दीवारें तोड़ दो। मान्यता भले ही अपनी रखो, पर उसे सभी मान्यताओं से मिलाओ। सम्प्रदाय अपनी ही को मानो, पर सभी सम्प्रदायों के साथ एकता का रस छानो। भाषा अपनी ही बोलो, पर सबको भाषाओं को एक मानो। राष्ट्र अपना कहो, लेकिन सभी राष्ट्रों को एक कुटुम्ब जानो। जाति अपनी में रहो, पर सभी जातियों को जोड़ो। रहन-सहन, खान-पान अपनी रुचि का हो, पर सभी रुचियों का स्वाद भी कभी-कभी चखते रहो। सभ्यताएं भिन्न-भिन्न रखो पर संस्कृति का एकीकरण करो। सभी शिशु का मन अपना लो-प्यार भरी मुस्कान दो और लो। प्रत्येक सामान्य जन का समादर करो। इस समादर का एक ही आधार हो गुणवत्ता। गुणों को ही मान दो, गुणों की ही पूजा करों। मानवीय संस्कृति को गुणाधारित बना दो-संसार स्वर्ग बन जायेगा।

◆◆◆

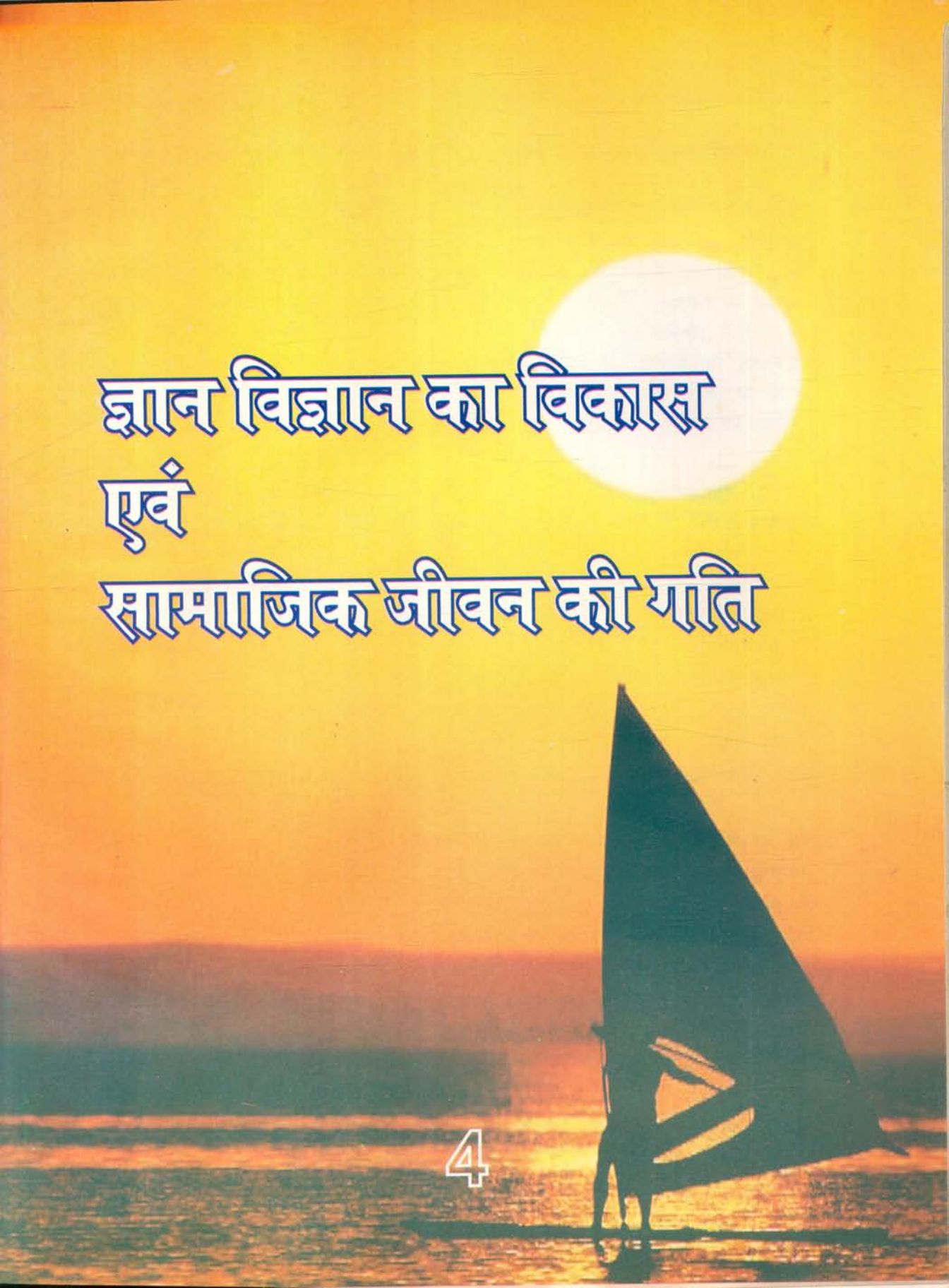


ज्ञान विज्ञान का विकास एवं सामाजिक जीवन की गति

धर्म, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में चरित्र निर्माण के बहुआयामी पक्ष

संसार में हर कोई विजय की कामना करता है, कहीं भी हारना नहीं चाहता। सब सर्वत्र विजय की खोज में गतिशील। खनखना रही हैं तलवारें विजय के लिये, झनझना रहे हैं कलम के किनारे विजय के लिये, दनदना रहे हैं छोटे-बड़े कदम विचारे बिन विचारे विजय के लिये। विजय सबको चाहिये कि वह विजेता के गौरव से अलंकृत हो, उसकी यशगाथा वायुमंडल में झंकृत हो...पर कहां है वह विजय? विजय के लिए जितने प्रयत्न किए जाते हैं, विजय दूर भागती जाती है, पराजय में बदलती जाती है, ऐसा क्यों हो रहा है?...विजय किस पर? दूसरों पर या अपने आप पर? शरीर पर या आत्मा पर?... किससे विजय? तलवार से या स्नेह-प्रेम से? सोच-सोचकर बेहाल, सुलझने की कोशिश पर बढ़ता जाता जाल। अनन्तकाल से समर भूमि में जूझ रहा हूँ विजय पथ को बूझ रहा हूँ। शान्त नहीं होती विजय की ललक, आतुर हूँ, पाने को एक झलक। पर हर जन्म एवं जीवन में क्या मिलती रही पराजय, परन्तु इस जन्म में बदलूँगा नियति को, पाऊँगा परम प्रतीति को। चलता रहेगा यह विजय अभियान, प्रसरित होगा ज्ञान-विज्ञान, उदित होगा चरित्र का स्वर्ण विहान!

ज्ञान विज्ञान का विकास एवं सामाजिक जीवन की गति



4

इस विजय की पृष्ठभूमि में बर्बरता नहीं, हृदय में उमड़ते हुए सात्विक प्रेम का निर्झर है। यह विजय दूसरों पर नहीं, अपने आप पर है। यह विजय रक्तपात के लिये नहीं, सकल आत्म शान्ति के लिये है। यह विजय पाशविकता से नहीं, सम्पूर्ण दैविकताओं के लिये है... हां, यही सच्ची शूरवीरता है और सच्ची विजय भी यही है। इस विजय की मनोभूमि से क्षुद्रताओं के सारे बंधन टूट जाएंगे, जहां सब जगह 'स्व' ही दिखाई देगा, कोई 'पर' नहीं, कोई भिन्न नहीं। सर्व में स्व के दर्शन तो स्व में सर्व के दर्शन। 'पर' की विजय में घृणा है, हीनता है, व्यथा है, व्याकुलता है और है अहंकार का विस्तृत-विकृत रूप। मैं बड़ा-वह छोटा, मैं बलवान-वह निर्बल, मैं शक्तिशाली-वह कमजोर, मैं दिव्य-वह तुच्छ, मैं सर्वस्व-वह ना कुछ... न जाने अहंकार के कितने घिनौने रूप छिपे रहते हैं 'पर' विजय की कामना में और वह विजय पाकर भी पराजित ही रहता है... जहां 'स्व' पर विजय हुई वहां पर भेद ही नहीं रहा। स्व की विजय में सर्व विजय है। पर की विजय से स्व की विजय भी संदिग्ध बन जाती है। कितना अन्तर होता है विजय-विजय में?

कहाँ तू दूसरों का दमन करता है? स्वयं अपना ही दमन कर, (**अप्पा चेव दमेयव्वो**-महावीर) अपने को जीत और अपने को जीत लिया तो दूसरा स्वयमेव जीत लिया जायेगा। जहां तू दूसरों को जीतने के लिये जाएगा वहां तू उनको जीत नहीं पाएगा बल्कि अपने आप से भी पराजित होता जाएगा।.... सत्य को समझ। दूसरों को जीतने की वासना भयंकर है, इसके कीटाणु बड़े ही जहरीले हैं, जरा बचकर रहना। इन जहरीले कीटाणुओं का असर जन्म जन्मान्तर चलता ही रहता है-किसी भी जन्म में बच नहीं पाता है। वैर से वैर बढ़ता है और प्रेम से प्रेम पसरता है। दूसरों की विजय वैर से नहीं, प्रेम से कर। वैर से कभी-भी किसी को जीता नहीं जा सका है आज तक...ऐसी जीत कभी हो भी जाए तो वह होती है क्षणिक, अस्थायी, आशंकाओं और निराशाओं से भरी।.... सुख, शान्ति, समृद्धि, उल्लास एवं सन्तुष्टि देने वाली यह विजय नहीं हो सकती। 'पर' की विजय में कितनी बढ़ती है मानसिक व्याकुलता? कितनी होती है पीड़ा? फिर यह विजय कहां? कोणिक का संहार क्यों हुआ? दुर्योधन का विनाश क्यों हुआ? रावण क्यों मारा गया?.....

विजय की सही परिभाषा, अर्थवत्ता किसमें रही हुई है? क्या उस विजय में, जहां विजेता और विजित जन्मों और पीढ़ियों के शत्रु बन जाते हैं अथवा उस विजय में जहाँ विजेता विजित के हृदयासन पर सर्वदा के लिए विराजमान हो जाता है? यह शक्ति मात्र प्रेम में रही हुई है। प्रेम ने सदा हृदयासन पर साम्राज्य बनाया और दीर्घकाल तक चलाया। क्या घृणा, वैर, तिरस्कार में वैसी तरलता कभी रही है? अतः प्रेम की अपूर्व शक्ति को पहचान, इसे अपनी शक्ति जान। तू जितना प्रेम दूसरों को देगा, उतना ही नहीं, उससे कई गुना प्रेम तू पाएगा।...हृदय की संकुचितता एवं क्षुद्रता को मिटा, स्वार्थ के घेरों को तोड़ और विराट ममत्व से नाता जोड़। फिर देख, तेरी कैसी विजय होती है? कहीं भी कोई शत्रु नहीं बचेगा, जब आत्मा ही मित्र बन जाए, तब शत्रु कौन रहेगा? तब अनुभूति होगी कि प्रेम में ही भगवत्शक्ति एवं आत्मशक्ति का अनन्त मिलन हो गया है!

भावनाओं के ऐसे ही उत्कृष्ट प्रवाह से उपजता है ज्ञान, खिलता है दर्शन, जन्म लेता है धर्म, फूटता है मर्म, निखरता है विज्ञान, आलोकित होता है जहान।

संसार एक विशाल शिक्षालय है, ज्ञान का प्रकाश फैला पूर्व के सूर्य से :

यह संसार एक विशाल शिक्षालय है। यहां के कण-कण से शिक्षा का स्रोत निकलता है। यहां काल के क्षण-क्षण से शिक्षा के मणि सूत्र बिखरते हैं। आवश्यकता है समेटने और बटोरने की। जब देखता हूँ इस धरित्री को, तो लगता है कितनी अनूठी सहिष्णुता है इसमें, कितनी क्षमाशीलता की अपूर्व रूपता है इसमें? कोई गंदगी कर रहा है इस पर तब भी कोई रोष नहीं, पूजा कर रहा है तब भी कोई तोष नहीं। न रोष, न तोष-अद्‌भुत समत्व का भाव। कैसी आश्चर्यकारी क्षमा और समता है। देखता हूँ इस निर्झर को, जो सतत बह रहा है अपने में सबको समाहित करके! अगर कोई इसके जल को अंजली में भर कर इसे प्रणाम कर रहा है तो उसको कोई प्रसन्नता नहीं और कोई अपना सारा कूड़ा कर्कट इसके जल में डाल रहा है तो कोई खिन्नता नहीं। किसी पर कोई प्रतिक्रिया नहीं-सबको अपने भीतर समा लेने की अद्‌भुत क्षमता।

देखता हूँ फलों से लदी हुई वृक्षावलियों को, जो दे रही है प्राणवायु, नवजीवन प्रदान करने वाली सरसता-न कोई स्वार्थ है, न कोई अहं, न कोई द्वेष-कितनी स्वाभाविकता है? देखता हूं मुक्त आकाश को-निर्लिप्त, असंग एवं व्यापकता-न कोई ओर दिखाई देता है, न कोई छोर!

वास्तव में प्रकृति का एक-एक कण समुच्चय शिक्षा रत्नों से दीप्तिमान है। प्रकृति के सिवाय काल भी बहुत बड़ा शिक्षक है। कल देख रहा था-एक व्यक्ति धन के अभाव में भारी दुःख झेल रहा था और आज देख रहा हूँ कि वह धन के अम्बार पर बैठा अपने को परम सुखी मान रहा है। सारे अभाव सद्‌भाव में बदल गये हैं। कल देख रहा था-एक व्यक्ति दारुण रोग से पीड़ित था-आज वह स्वस्थता का सुखानुभव कर रहा है। इसी तरह काल के इस गर्भ में न जाने कैसी-कैसी कृतियाँ-प्रतिकृतियाँ उभर रही हैं और तिरोहित होती जा रही है! कल देख रहा था-एक वृक्ष शुष्क-शुष्क नजर आ रहा था, आज वही हरितिमा से लहरा रहा है-नई-नई कोंपलों, पत्तों, फूल-फलों से महक रहा है। कल अकालग्रस्त धरती बंजर लग रही थी, आज वर्षा से आप्लावित होकर वह सरसब्ज व सुन्दर नजर आ रही है। कैसा कमाल है, इस प्रकृति का? अद्‌भुत है प्रकृति में जो कुछ घट रहा है-वह सबको शिक्षित ही तो कर रहा है जैसे कह रहा हो कि नूतनता का अहंकार मत कर और न पुरातनता का शोक मना। सुख के क्षणों में मद-मस्त न हो तो दुःख की घड़ियों में किस्मत को मत रो। देख-ये दुःख के क्षण तुझे निर्मल और पावन बनाने के लिये आते हैं क्योंकि पाप कर्मों के मैल से मलिन है तेरी आत्मा। दुःख नहीं आता तो सारे पाप कैसे धुलते? कैसे तू निर्मल बनता? पाप धुला, निर्मल हुआ-इससे बढ़ कर क्या? सुख में तो पुण्य कर्मों की क्षीणता होती है। पुण्य समाप्त हो गया और नया पुण्यार्जन नहीं कर पाया, तब क्या होगा? क्यों नहीं तू दुःखियों से शिक्षा लेता है निर्मलता की? और क्यों नहीं सुखियों से भी शिक्षा ले तू निर्लिप्तता की? यह संसार एक विशाल शिक्षालय है, जहां कदम-कदम पर शिक्षाएं बिखरी पड़ी हैं-इन शिक्षाओं को तू लेता चल और अपने दामन को भरता चल।

यों शिक्षाओं के लेते चलने तथा दामन में भरते चलने की संसार के सभी भागों में हमेशा से होड़ चलती रही है। ज्ञान के खजाने इसी बोध भूमि से निकलते रहे हैं। जहां शिक्षार्थी प्रतिभाशाली रहे,

शोधकर्त्ता रहे और साधना में रत रहे, वहां ज्ञान-विज्ञान की मणियां बहुलता से खोजी गई और वहीं से सभ्यता एवं संस्कृति का आलोक फैला। आज विश्व के विभिन्न भागों में ज्ञान-विज्ञान का विस्तार दिखाई देता है, उसका प्रारंभ पूर्व दिशा से ही हुआ था। आज तो पूर्व और पश्चिम के रूप में दो भिन्न केन्द्र दिखाई देते हैं किन्तु पूर्व का भाग सभ्यता की ऊंचाइयों पर चढ़ रहा था, तब पश्चिम ने सभ्यता का दर्शन भी नहीं किया था।

सूर्य पूर्व में उदित होता है और ज्ञान-विज्ञान का सूर्य भी पूर्व में ही उदित हुआ था तथा पूर्व में भी उसकी प्रकाश भूमि बनने का सौभाग्य भारत को ही प्राप्त हुआ था।

गूढ़ ज्ञान से उपजे दार्शनिक चिन्तन ने भारत को 'विश्वगुरु' का मान दिलाया :

भारत में ज्ञान साधना के विकास एवं विस्तार में यहां की प्राकृतिक स्थिति का विशेष योगदान रहा। सुरम्य प्रकृति, धन-धान्य की संपन्नता एवं सामाजिक समरसता की परिस्थितियों के कारण लोगों को गहरा चिन्तन-मनन करने का पर्याप्त अवकाश रहता था। यह देश उस समय तो अनेक रहस्यों को खोज निकालने की जिज्ञासा अधिक तीव्रता से ही जगाता था इस कारण भौतिक से भी बढ़ कर वैचारिक एवं आध्यात्मिक शोध की ओर लोगों की रुचि ज्यादा बनी। फलस्वरूप ज्ञान, धर्म, दर्शन आदि के गूढ़ रहस्यों की ओर साधना का जोर रहा।

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं रही-मूलभूत रूप से आध्यात्मिक, धर्म एक युक्तियुक्त संश्लेषण, मन के तीन रूप-अवचेतन, चेतन, अतिचेतन, आत्मा की चेष्टाएं तीन अवस्थाओं में-जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, बाह्यदृष्टि (इन्द्रिय) तथा अन्तर्दृष्टि (आत्मा) का दर्शन, सत्यान्वेषण आदि।

भारतीय दर्शन उपजा है गहन अध्ययन तथा गूढ़ ज्ञान से और इससे जो धाराएं प्रवाहित हुई, उन्होंने सूक्ष्म जगत् के स्वरूप का जो निचोड़ निकाला वह अपूर्व था और विश्व के किसी अन्य भाग में ऐसा सूक्ष्म अध्ययन सफल नहीं हुआ था। इसी दार्शनिक चिन्तन ने भारत को 'विश्वगुरु' होने का सम्मान दिलाया। अनेक देशों से विद्यार्थी अध्ययन हेतु यहां आते रहे।

यह दार्शनिक चिन्तन जितना गहरा है, उतना ही विस्तृत। यहां मात्र उसकी संक्षिप्त-सी जानकारी दी जा रही है-

सृष्टि विज्ञान : यह संसार कैसा है, कैसे बना, इसमें क्या-क्या शक्तियां हैं, यह कैसे चलता है आदि सृष्टि विज्ञान से संबंधित अनेक प्रश्नों पर अनेक प्रवर्तकों ने गहरा चिन्तन किया। ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति की तीन श्रेणियां बताई गई हैं-1. उच्चतम परमार्थ सत्ता, 2. केवल स्वचेतना-मैं हूं एवं 3. स्वचेतना की सीमा। पांच मूल तत्त्व माने गये-आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी-इन्हीं व अन्य तत्त्वों के संयोग से रचना बनी। पुरुष से विराट, विराट से फिर पुरुष और यों पुरुष जन भी और जन्य भी। विकास में धर्म, नीतिशास्त्र, परलोक शास्त्र आदि की धारणाएं। यह भी मान्यता रही कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने नहीं की-वह अनादि और अनन्त है।

आत्म तत्त्व : जैन दर्शन के अनुसार आत्म तत्त्व है चैतन्य और ज्ञानमय, उसका होता है जड़ से जुड़ कर संसार में भव भ्रमण, हुआ है शरीर आदि जड़ तत्त्वों-पुद्गल परमाणुओं से उसका निर्माण।

चेतन व जड़ तत्त्वों की पृथक्ता से आत्मा का मोक्ष होता है। उपनिषदों में आत्मा को विषयी तथा ब्रह्म को विषय बताया गया है। आत्मा के चार प्रकार- 1. शरीरी आत्मा 2. तैजस आत्मा 3. प्रज्ञा रूप आत्मा तथा 4. तूरीयावस्था स्थित आत्मा जो ब्रह्मलीन एवं आनन्दमय। सूत्रों में आत्मा को संसारी एवं सिद्ध रूपों में विभाजित किया गया है।

अनेकान्तवादी यथार्थ : सत्य के साथ साक्षात्कार को जीवन साधना का प्रधान लक्ष्य माना गया है। एकान्तवाद में सत्य का हठ तो है, पर सत्यता नहीं। प्रत्येक वाद में न्यूनाधिक सत्य का अंश होता है, अत: किसी भी तत्त्व या पदार्थ के सभी पहलुओं का जिसमें होता है अध्ययन। सर्वांशत: जाने बिना जिससे पूर्ण सभ्यता के दर्शन नहीं होते इसी सम्ग्र दर्शन का नाम है अनेकान्तवाद। वेदान्त के नित्यवाद तथा बौद्धों के अनित्यवाद की एकान्तिकता को जैनों के अनेकान्तवाद ने सत्य का दर्शन कराया।

नैतिक आदर्शवाद : जिसमें संसार और जन्म को दु:ख का मूल बताया गया है। बुद्ध के चार आर्य सत्य-1. दु:ख विद्यमान है, 2. इसके कारण विद्यमान है, 3. इसके निरोध के उपाय विद्यमान है और 4. इनकी सफलता का मार्ग भी विद्यमान है। नैतिक आदर्शवाद को साध्य माना गया।

नास्तिकवाद और आस्तिकवाद : जो ईश्वर की सत्ता माने वह आस्तिक और न माने वह नास्तिक। वेदों के अंधे आस्तिकवाद पर जैन व बौद्ध मान्यताओं ने चोट की तो उन्हें नास्तिक बताया गया, क्योंकि जैन आत्मा के ही परमात्म स्वरूप में समुन्नत होने के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। गीता ने धुंध खाये आस्तिकवाद को फिर से चमकाया और उसे ज्ञान व भक्ति के साथ जोड़ा। गीता का उपदेश ब्रह्म संबंधी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन कहा जा सकता है।

तर्क सम्मत यथार्थवाद : अध्यात्म विषयक समस्याओं की तार्किक समीक्षा के रूप में सामने आया न्यायशास्त्र। वाचस्पति का न्यायशास्त्र प्रमुख है। अन्य हैं गौतम, जयन्त, शंकर, धर्मकीर्ति, भद्रबाहु, विश्वनाथ आदि। न्यायशास्त्र के विषय हैं-प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, कार्य प्रमाण भाव, तर्क और वाद, स्मृति, हेत्वाभास, भ्रान्ति आदि।

परमाणु विषयक अनेकवाद : यह वैशेषिकदर्शन की उपज थी। कणाद ऋषि इसके प्रवर्त्तक थे। ज्ञान, पदार्थ तथा द्रव्य का विश्लेषण करना इनका लक्ष्य रहा। परमाणुवाद की परिकल्पना की गई। गुण को द्रव्याश्रित माना गया। कुल 24 गुण व 3 संस्कार (वेग, भावना, स्थिति) बताये गये। परमाणु विषयक अनेकवाद भौतिक जगत् की व्याख्या के लिये आवश्यक सिद्ध हुआ।

पुरुष व प्रकृति का सिद्धान्त : कपिल ऋषि के सांख्य दर्शन ने संसार को ईश्वर की रचना नहीं माना और उसे असंख्य आत्माओं तथा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम बताया। इसमें प्रकृति के गुण व विकास का नया विश्लेषण हुआ। अन्य दार्शनिकों ने सांख्य दर्शन के पुरुष और प्रकृति विषय को क्लिष्ट व भ्रामक कहा।

योगशास्त्र पर विशद विश्लेषण : योग को सामान्य रूप में एक क्रियाविधि कहा गया, जिसका क्रियात्मक रूप संयमी जीवन होता है। पातंजलि का योगशास्त्र प्रमुख है। आत्मविषयक यथार्थता की

प्राप्ति को योगकला माना गया। इसमें दिया है-यम, नियम व नैतिक साधना का महत्त्व तथा शरीर पर नियंत्रण और प्राणायाम पर बल।

इनके सिवाय दार्शनिक धाराओं में मीमांसकों (पूर्व व उत्तर) के निश्चयात्मवाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद, रामानुज के ईश्वरवाद, शैव, शाक्त तथा परवर्ती वैष्णवों की ईश्वर-जगत् विवेचना और आधुनिक काल के श्री अरविन्द के सर्वांग दर्शन का नाम भी गिनाया जा सकता है।

ज्ञान-दर्शन विकास की पृष्ठभूमि में मानव का सामाजिक विकास :

भारत के तत्कालीन ज्ञान व दर्शन के विकास की तुलना में मानव का सामाजिक विकास उतना प्रखर नहीं रहा, बल्कि समग्र जन समुदाय की दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि उच्च वर्ण के सिवाय अन्य वर्णों के लोग तो सामाजिक दृष्टि से काफी पिछड़े और उपेक्षा के पात्र बने रहे। सच तो यह है कि तब व्यक्तिवाद की ही प्रमुखता थी अर्थात् जो व्यक्ति या तो शासन व्यवस्था से जुड़े थे या राजा, सामन्त आदि अथवा धर्मोपदेश व क्रियाकांड से जुड़े थे ब्राह्मण, पुरोहित आदि-वे ही कर्त्ता धर्त्ता बने हुए थे। बहुसंख्यक समुदाय इन्हीं का कृपाकांक्षी बनने का यत्न किया करता था। वास्तविकता यह थी कि यह बहुसंख्यक समुदाय जिह्वाहीन जैसा था यानी कि राज्य प्रबंध या सामूहिक कार्यों में इनकी कोई आवाज नहीं थी। तब तक यह सामाजिक दृष्टिकोण भी पैदा नहीं हुआ था कि इस बहुसंख्यक समुदाय की अशिक्षा, निर्धनता एवं व्यावसायिकता को सुधारने की तरफ कोई अधिकृत रूप से ध्यान दिया जाय। राजा का प्रजा पालन का कर्त्तव्य अवश्य कहा जाता था किन्तु वह कर्त्तव्य उच्च वर्ण के वर्गों तक ही सीमित था। उस समय में मानव के जीवन का विकास भी अपने प्रारंभिक चरणों में ही चल रहा था। आदिमकाल की निष्क्रियता से मानव जीवन बाहर निकला ही था और निर्वाह के साधनों का वह विकास करने में लगा था। पशुपालन से आगे बढ़कर कृषि कार्य में वह नियोजित हो गया था तथा आग के अनुसंधान के पश्चात् रहन-सहन एवं खान-पान की पद्धतियों में नयापन आने लगा था। फिर बस्तियों का फैलाव हुआ और नगर बसने लगे। साथ ही व्यापार-वाणिज्य का प्रसार भी होने लगा। समर्थ वर्गों में शासक एवं धर्मशिक्षक के बाद व्यापारी का वर्ग भी शामिल हो गया। फिर भी ये तीनों वर्ग अल्पसंख्या में थे अत: इनकी जीवनशैली सामान्य जन के रहन-सहन से अलग ही रही। वैसे प्राचीनकाल का इतिहास भी असल में उन्नत वर्गों का इतिहास ही है, जिससे सामान्य जन की सामाजिक स्थिति की सही जानकारी नहीं मिलती है।

ऋषियों, तीर्थंकरों, बुद्धों, गुरुओं, पैगम्बरों ने किया धर्म सिद्धान्तों का निरूपण :

ज्ञानालोक में विचरण करने वाले ऋषियों, तीर्थंकरों, बुद्धों, गुरुओं तथा पैगम्बरों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार धर्म सिद्धान्तों का निरूपण किया। अधिकांश धर्म प्रवर्त्तकों ने अपने सिद्धान्तों में मानवता, शान्ति, सहयोग जैसे गुणों को प्रमुख स्थान दिया तो भगवान् महावीर ने व्यक्तिमत्ता के स्थान पर गुणवत्ता को सर्वोच्च कहा-व्यक्ति की नहीं, गुणों की पूजा होनी चाहिये ताकि सामान्य से सामान्य जन भी गुण ग्राहक बनकर अपने जीवन विकास की प्रेरणा पा सके। यों जहां तक सिद्धान्तों का प्रश्न है, सभी धर्मों में उन्हें उदार व मानवतावादी रूप दिया है (अपवाद को छोड़ दें) किन्तु

उनके पालन में या कि धर्म-प्रवर्तकों के उत्तराधिकारियों के समय में कई सिद्धान्तों को व्यवहार की दृष्टि से संकुचित दायरों में जकड़ दिया गया।

प्रमुखता की दृष्टि से संसार में निम्न धर्मों का महत्त्व माना जाता है-

हिन्दू धर्म : वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा भगवत्गीता के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इस धर्म के सिद्धान्त मत मतान्तरों के बावजूद विकासशील रहे हैं। उदार सिद्धान्तों के उपरान्त भी जीवन व्यवहार में अनुदारता समाई रही। 'ब्रह्मा सत्यं जगन्मिथ्या' की मान्यता के साथ संसार को मायामय माना गया अतः साधना का लक्ष्य 'सोऽहं' ही रहा। उपनिषदों में दार्शनिकता सूक्ष्मधारा में बही तो गीता ने कर्म योग पर विशद-विवेचन प्रस्तुत किया। त्रिमूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव है जो क्रमशः संसार के जन्मदाता, पालनकर्त्ता एवं संहारक माने गये हैं। देवताओं की संख्या तैतीस करोड़ है पर विशिष्ट देवताओं में द्यौः (प्रकृति), वरुण (सदाचारी), इन्द्र (विजय), ब्रह्मा (पूर्ण रूप) का स्थान है। चार युग बताये गये-1. कृतयुग (समाधि), 2. त्रेतायुग (यज्ञ), 3. द्वापर (पूजा) और 4. कलियुग (स्तुति प्रार्थना)। धर्म के आभ्यन्तर ज्ञान के दो उद्गम स्थान कहे गये-1. वस्तुनिष्ठ और 2. आत्मनिष्ठ। इस धर्म में अनेक समुदाय-उपसमुदाय बने तथा उन्होंने अपनी मत भिन्नता के अनुसार सिद्धान्तों का विश्लेषण किया। फिर भी शंकराचार्य, विवेकानन्द जैसी महान् विभूतियों ने इसका व्यापक प्रसार किया।

जैन धर्म : सूत्रकृतांग के अनुसार जैन धर्म एक वाक्य में परिभाषित किया जा सकता है कि किसी भी जीव को कष्टित-क्लेशित न करने वाला व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है और यही अहिंसा जैन धर्म का सार है और परम धर्म है। एक ही शब्द क्यों न कहें कि जैन धर्म अर्थात् अहिंसा। जैन सूत्रों में 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूलसूत्र व 4 छेद सूत्र एवं एक आवश्यक सूत्र सम्मिलित हैं। सूत्रों की संख्या के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद है। जैन साहित्य विशाल है तथा अति प्राचीन ग्रंथों की संख्या भी बहुत है। अहिंसा का सभी सिद्धान्तों तथा व्रतों पर गहरा प्रभाव है। साधु साध्वी के 5 महाव्रत तथा श्रावक-श्राविका के 12 अणुव्रत, एक प्रकार से अहिंसा का ही फैलाव है। वैचारिक अहिंसा का प्रतीक है अनेकान्तवाद तो आर्थिक अहिंसा का पालन परिग्रह त्याग या परिग्रह परिमाण (अपरिग्रहवाद) द्वारा किया जाता है। जैनों के उन्नत विचारों को दर्शाता है-जैन नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, तत्त्व विद्या, द्रव्य पर्याय वर्णन, प्रमाण नय सिद्धान्त, आत्म-परमात्मवाद आदि। कर्मवाद का सिद्धांत जैन धर्म का अति महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

बौद्ध धर्म : गौतम बुद्ध इस धर्म के प्रवर्त्तक थे जो महावीर के समवर्ती थे। इस धर्म का लक्ष्य धार्मिक विश्वास और भौतिक विज्ञान के मध्य समन्वय स्थापित करना था। बौद्ध विचारधारा जीवन का अर्थ परिवर्तन मानती है जो अनित्यवादी है। इसका साहित्य पिटक (नैतिक नियमों की पिटारियां) कहलाता है जिसके तीन विभाग है- 1. सुत्त (कथाएं), 2. विनय (अनुशासन) व 3. अभिधम्म (सिद्धांत) हैं। प्रत्येक विभाग निकाय आदि पांच भागों में बंटा हुआ है। पांच आर्य सत्य के अनुसार दुःख का कारण कही गई है, इन्द्रियों आदि साधनों की प्रबल तृष्णा एवं लालसा। ज्ञान के लिये विषयनिष्ठ केन्द्रों का होना आवश्यक माना गया है। इसके प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत के अनुसार

अविद्या से ही तृष्णा-आसक्ति आदि के संस्कार उत्पन्न होते हैं अत: अविद्या के विनाश से ही दु:ख का निदान होता है। आठ सूत्रीय आर्य मार्ग का निरूपण किया गया है-सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति तथा समाधि। यह अष्टांग मार्ग बौद्ध नैतिक जीवन का सार है।

ईसाई धर्म : पैगम्बर ईसा मसीह ने यह धर्म चलाया जिसका मुख्य लक्ष्य मानव सेवा है। ईसाई चर्च के तीन सम्प्रदाय हैं- 1. ग्रीक, 2. रोमन केथोलिक और 3. प्रोटेस्टेन्ट। इसका आधार ग्रंथ है बाईबिल, जिसमें पुराने व नये सिद्धांतों (टेस्टामेंन्ट्स) का विवेचन है। गिरजाघर ईसाई धर्म के गुरुओं (बिशप-फादर) के उपदेश व प्रार्थना के स्थल होते हैं। सिद्धांतों में परमात्मा के प्रति आस्था, सब जीवों प्रति समदृष्टि, सत्य भाषण, दीन हीन की सहायता आदि मुख्य है।

इस्लाम धर्म : पैगम्बर मोहम्मद साहब की वाणी मुख्य ग्रंथ कुरान में संग्रहित है-वही धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि आदेश-निर्देशों का स्रोत। इस्लाम शब्द का अर्थ है शान्ति। कुरान के मुख्य सिद्धान्त हैं-धर्म में हिंसा नहीं करना, कुफ्र को बर्दाश्त नही करना, सबको भाई-बहन समझ प्यार करना व नफरत नहीं करनी, खुदा को सब कुछ मानना आदि। प्रत्येक मुस्लिम का जाति फर्ज-1. जकात दे, 2. रोज चार बार नमाज पढ़े, 3. सलाम दुआ करे, 4. रमजान में रोजा रखे और 5. मक्का की हज करे। इसके सिद्धान्तों में 'सोऽहम्' की तरह अनहलक की मान्यता है, किन्तु परिस्थितियों के अनुसार मुसलमानों में कट्टरता ज्यादा पनपी और उसके दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं।

सिख धर्म : गुरु नानक सिख धर्म के संस्थापक थे। जिस समय में इस धर्म का प्रवर्त्तन हुआ उस समय मुगल बादशाहों के धार्मिक अत्याचार हुआ करते थे, अत: इसमें वीर भाव का अधिक समावेश है। जिसको अमृत चखा दिया वह जैसे धर्म का सैनिक बन गया। गुरुद्वारा सिखों का धर्मस्थल होता है जहां ग्रंथ साहिब का पाठ व प्रवचन होता है। गुरु परम्परा में सिख धर्म का विकास हुआ। इसका सुधारवादी दृष्टिकोण है।

पारसी धर्म : यह प्राचीन धर्म है तथा पैगम्बर जुरोश्त्र द्वारा प्रवर्तित हुआ। अग्नि पूजा इनका मुख्य कर्मकांड है। व्यवहार में पूर्ण पवित्रता इस धर्म की कुंजी है। मुख्य ग्रंथ अवेस्ता है जिसमें सात सिद्धांत वर्णित हैं।

दार्शनिक परम्परा, तात्त्विक चिन्तन आदि से होता रहा विचार मंथन :

प्राचीन काल में शास्त्रार्थ की परम्परा बहुलता से प्रचलित थी- इसे विद्वानों की कुश्ती का नाम दिया जा सकता है। अपने पांडित्य को विजयी प्रतिष्ठित करने का यह उपाय था जो अधिकतर राज्याश्रय में सम्पन्न होता था। विद्वानों की हार जीत के डंके बजते थे, जीते हुओं को पालखी, सरोपाव, जागीर आदि से सम्मानित किया जाता था जिससे विद्वानों की प्रतिष्ठा बढ़ती थी।

शास्त्रार्थ परम्परा का सबसे बड़ा लाभ यह था कि इस बहाने दार्शनिक मंतव्यों तथा धार्मिक तत्त्वों पर उपयोगी विचार मंथन होता रहता था। इस विचार मंथन से स्थापनाओं की पुष्टि होती थी तो नई-नई टीकाओं का जन्म होता था। आलोचना के इस मार्ग से उपयोगी संशोधनों के द्वार भी खुलते थे। इस प्रकार मूल ग्रंथों पर अन्यान्य आचार्यों एवं विद्वानों की टीकाएं, नियुक्तियां तथा अन्य प्रकार की

आलोचनाएं प्रकट होती थी जिनके माध्यम से मूल दार्शनिक मान्यताओं तथा धार्मिक तत्त्वों के संदर्भ में व्यापक साहित्य लिखा गया।

भारतीय साहित्य के इस रूप में हुए प्रसार ने कई विदेशी विद्वानों का ध्यान भी आकर्षित किया। उन्होंने इनका अध्ययन किया तथा अनेक शास्त्रों, सूत्रों का जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद किया और अपनी टिप्पणियां लिखी। जर्मन विद्वान् एफ. मेक्स मूलर, जार्ज बुल्हर, जेम्स लग्गी, एल. एच. मिल्स, हरमन जेकोबी, जुलियस जेली आदि विद्वानों ने सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य पर पूरी सीरीज प्रकाशित की है, जिसमें 50 ग्रंथ हैं। इस सीरीज में संसार भर के मूल ग्रंथों को सम्मिलित किया गया है। जिनमें मुख्य है- उपनिषद, उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग सूत्र, भगवत्गीता, धम्मपद, अन्य बौद्ध सूत्र, संदर्भ पुंडरिका, अन्य जैन सूत्र, वैदिक ऋचाएं, वेदान्त सूत्र, चीन के पवित्र ग्रंथ, कुरान, अथर्व वेद के मंत्र, गृह सूत्र आदि। इस सीरीज का अन्तिम 50 वाँ ग्रंथ इंडेक्स है तथा सीरीज का नाम 'पूर्व के पवित्र ग्रंथ' (सेक्रेड टेक्स्ट्स ऑव दी ईस्ट) है। जैन सूत्रों का सम्पादन मुख्यत: मेक्समूलर तथा हरमन जेकोबी ने किया है। इन सूत्रों की गाथाओं का अंग्रेजी में अनुवाद सटीक है तथा भूमिकाओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि इन विद्वानों ने छोटे-छोटे बिन्दुओं का भी शोध की दृष्टि से गहरा अध्ययन किया है।

विचार मंथन का क्रम भारत में शास्त्रार्थ के बाद खंडन-मंडन के रूप में चलता रहा। एक पक्ष अपने मत का मंडन करता था तो दूसरा पक्ष उसका खंडन। रूप शास्त्रार्थ का ही था, किन्तु वाद-विवाद का स्तर निम्न कोटि का होता गया, जिसका परिणाम था कि विचार मंथन कम और सिर फुटौबल ज्यादा होने लगा, क्योंकि इस प्रणाली का उद्देश्य निष्कर्ष निकालना नहीं बल्कि अपनी जो भी मान्यता हो तो, उसमें सत्यासत्य को देखे बिना किसी भी तर्क से उसकी पुष्टि करना था।

भौतिक विज्ञान की प्रगति युग परिवर्तनकारी सिद्ध हुई है :

आध्यात्मिक ज्ञान की समुन्नति के बाद भौतिक विज्ञान की प्रगति की मुख्य शताब्दी रही है बीसवीं शताब्दी और इस शताब्दी के अन्त तक विज्ञान की प्रगति न केवल आश्चर्यकारी, अपितु युग परिवर्तनकारी सिद्ध हुई है। इस प्रगति के विभिन्न पहलुओं की संक्षिप्त झलक इस प्रकार है-

बाह्य अन्तरिक्ष में जीवन : वैज्ञानिक बाह्य अन्तरिक्ष में जीवन की खोज करने में जुटे हुए हैं। इस मान्यता का आधार यह है कि पृथ्वी पर उल्कापिंडों की वर्षा में जीवन की आधारभूत संरचनाएं- अमीनो अम्ल, साइरोसीन (डी. एन. ए. अणु), पेरेफीन सदृश अणु, जीवाश्म शैवाल व परागकण आदि पाये जाते हैं। इन्हें जैविक कण माना जाता है। बाह्य अन्तरिक्ष के पिंडों से आने वाले कृत्रिम संकेतों का भी रेडियो दूरदर्शी से अंकन किया गया है। अनुमान है कि सौर परिवार में पृथ्वी जैसे अन्य सजीव ग्रह भी विद्यमान हों। अन्तरिक्ष जैविकी के विषय में गहरी खोज जारी है।

चिकित्सा क्षेत्र की नूतन दिशाएं : चिकित्सा क्षेत्र में नये भौतिकी उपकरणों-लेजर, सुपर कंडक्टर्स, माइक्रोवेव, ट्रांसमीटर्स, मेंगनेट, पार्किल एक्सेलेरेटर्स आदि का आविष्कार हुआ है। क्रिटोन का स्वचालित चिकित्सालय भी कार्यरत हुआ है। शरीर के भीतर प्रतिरोधी पद्धति (इम्यून

सिस्टम), मॉनोक्लोनल एंटी बोडी, एम. आर. आई. सिस्टम (भीतरी फोटो) आदि के आविष्कार से निदान एवं चिकित्सा आसान बनी है। कैंसर की चिकित्सा के लिये प्रोटोन किरण का उपयोग होने लगा है। न्यूट्रोन व प्रोटीन थेरेपी भी शुरु हुई है।

यांत्रिक कायाकल्प : यांत्रिक मानव, मशीन या रोबोट का विकास चरम सीमा तक हुआ है। कई प्रकार के भारी काम भी रोबोट निर्देशानुसार या स्वत: भी कर सकता है। साइबर्ग या बायो रोबोट मुख्य है। प्रमुख अंगों का प्रत्यारोपण सफलतापूर्वक हो रहा है, किन्तु कृत्रिम अंगों के विकास की दिशा में अच्छी प्रगति हुई है। कहा जा रहा है कि क्लोनिंग सिस्टम से वृक्षांकुर के समान क्षत-विक्षत अंगों का पुन: अंकुरण भी किया जा सकेगा। कृत्रिम अंगों में टांग, बांह, नाक, कान, आंख, कंठ, बाल, कूल्हा, घुटना आदि का उपयोग हो रहा है। हृदय, यकृत, गुर्दे, फेफड़े, आमाशय, स्नायु, रक्तवाहिनियों, मस्तिष्क के उत्तकों, अंडाशय आदि का प्रत्यारोपण संभव है। त्वचारोपण में भारी प्रगति हुई है। फसे टेक्नोलोजी में प्रत्यारोपण की नई खोजें हो रही हैं। हल्के प्लास्टिक की अस्थियों का विकास किया जा रहा है।

कम्प्यूटर विज्ञान में क्रान्ति : सॉफ्टवेअर, हार्डवेअर आदि की विभिन्न तकनीकों के साथ कम्प्यूटर विज्ञान बहुत उन्नत हो रहा है। अब तकनीक में यह परिवर्तन किया जा रहा है कि बाह्य वातावरण को मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न किया जा सकेगा जिससे कल्पना की जा रही है कि एक दिन कम्प्यूटर समग्र वातावरण का हिस्सा बन जाएगा। पोर्टेबल कम्प्यूटर, लेपटोप आदि अब उपकरण नहीं, मनुष्य के सहायक बन गये हैं।

परिष्कृत रोबोट : रोबोट (कृत्रिम मानव) की अब तो स्वायत्तता कायम होने लगी है। अब घरों में व्यक्तिगत रोबोट काम करने लगे हैं। इंटीग्रेड रोबोटिक प्रणाली का तेजी से विकास हो रहा है। रोबोट प्रणाली में वाणी को भी सक्रिय कर दिया गया है जिससे घर या फार्म पर तैनात रोबोट फोन पर पूछताछ का जवाब दे सकेंगे। वे उचित निर्देश ग्रहण कर तदनुसार कार्यों को सम्पन्न भी कर सकेंगे। परिवारजनों की रुचि को समझकर ये नाश्ते के सामान का आर्डर भी दे देंगे, क्योंकि इनमें कृत्रिम मस्तिष्क का विकास किया गया है।

कृषि विकास में वैज्ञानिक प्रगति : जीन नियंत्रण में सफलता प्राप्त कर लेने के कारण फसलों में इच्छित सुधार किया जा सकेगा तथा जैविक बोलिटिक उपकरणों का प्रयोग भी संभव हो जाएगा। जेनेटिक इंजीनियरिंग से जीवाणुओं के निर्माण की बात भी की जा रही है। पायलट रहित मशीनों के अनुसंधान पर भी काफी काम किया जा रहा है। बताया जाता है कि अब ट्रैक्टर खुद चलेंगे और उर्वरकों के कारण भूजल के प्रदूषण की समस्या नहीं होगी। अनाज की उपज में अभूतपूर्व क्रान्ति की आशा है। वैज्ञानिकों का दावा है कि अब वे स्थूल विषयों से आगे मन के सूक्ष्म विषय पर भी नई खोजें कर रहे हैं तथा अग्रिम अनुसंधानों में जुटे हुए हैं।

मन प्रक्षेपण : मन का मस्तिष्क के साथ गहरा संबंध माना गया है तथा वह बुद्धि, इन्द्रियों तथा स्थूल देह से सम्बद्ध रहता है। मन ऐसा स्वर्णिम ज्योतिर्मय पिंड माना गया है जो 'बुद्धि मंडल' के शिखर पर होता है। यह आंतरिक संवेदना का प्रतिबिम्ब रूप है। मन और इन्द्रियां बुद्धि की प्रेरणा से

कार्यरत रहते हैं। आधुनिक संदर्भ में 'ट्राइन ब्रेन मॉडल' की संकल्पना की गई है। जिसके तीन भाग होते है-1. रिसोप्टिव कॉम्पलेक्स, 2. लिम्बिक सिस्टम व 3. नियो कॉरटेक्स इन तीनों के अलग-अलग वैचारिक कार्य होते हैं। यह शोध मनोवैज्ञानिक फ्रायड की धारणा से मेल खाती है जिसमें मन तीन प्रकार का बताया गया है-1. इड, 2. इगो एवं 3. सुपर इगो। मन के व्यवस्थित संचालन के लिये स्मृति, कल्पना और चिन्तन से मस्तिष्क का एक विशिष्ट केन्द्र पुनर्गठित किया जाएगा और ध्यान से विशेष पुर्नसंगठन होगा कि कार्य अतीन्द्रिय रूप धारण कर ले। योग से मस्तिष्क में ऊर्जा का संचय करके उसे सूचना का भंडार बना दिया जाएगा और उसका विशेष रूप से संचालन होगा। मस्तिष्क के गुण सूत्रों पर जीन लगेगा, जहां प्रत्येक गुण सुत्र में 200 करोड़ सूचनाएं समाहित होगी। ऐसे लिम्बिक सिस्टम पर मन का प्रक्षेपण किया जायेगा।

सूक्ष्म शरीर प्रक्षेपण : परा मनोविज्ञान ने गहरी खोज की है और एक्स्टीरियल प्रोजेक्षन थ्योरी निकाली है। इसके अनुसार शरीर दो प्रकार का माना गया है-1. प्रकृत भौतिक शरीर तथा 2. साइकिक शरीर अर्थात मन। इसे डुप्लीकेट शरीर कहा जाता है जो सघन भौतिक शरीर की अपेक्षा उच्च आवृत्ति के गमन वाले इलेक्ट्रोड से सम्पन्न होता है। यह साइकिक डबल की थ्योरी है। इसके अनुसार नींद में भाव समाधि में, बीमारी की कमजोरी में यह शरीर से बाहर गमन करता हुआ भौतिक शरीर के चारों ओर रहता है, जो व्यक्ति की दृष्टि में अचेतन है। दोनों शरीरों के बीच में रजत रज्जू (सिल्वर कोर्ड) का जोड़ रहता है, जिसके टूटने पर मृत्यु हो जाती है। वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्मांड में इलेक्ट्रोमेग्नेटिक सत्ता विद्यमान है जो ग्रह नक्षत्रों की भ्रमणशीलता और आकर्षण के उभयपक्षीय प्रयोजन पूरे इसे प्राणशक्ति का प्रवाह माना गया है। अणु-परमाणुओं की संरचना तथा गतिविधियों के रूप में यह शक्ति प्रत्येक जीवधारी में दृश्यमान है। ऊर्जा के रूप में यह शक्ति मनुष्य शरीर के चारों ओर फैली है, जिस ऊर्जा को जीवधारी अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करता है। उसे ही तेजोवलय कहते हैं और इसी का प्रक्षेपण सूक्ष्म शरीर का प्रक्षेपण कहलाता है।

अतीन्द्रिय शक्ति की पहचान : संयोग से हटकर जब कई संख्याओं में परीक्षण दोहराया जाय, तब अतीन्द्रिय शक्ति की पहचान होती है। इस पर वैज्ञानिक भांति-भांति के प्रयोग कर रहे हैं। इसे टेलीपोर्टेशन की थ्योरी के माध्यम से पहचान बनाने की चेष्टाएं की जा रही है। अतीन्द्रिय शक्ति सामान्य अनुभव से परे है जो विस्मयकारी है तथा परामन या परा-मानसिक तत्त्व के साथ जुड़ी हुई है। इसी शक्ति द्वारा सम्मोहन एवं विचार सम्प्रेषण की क्रियाएं सम्पन्न की जा सकती है। सम्मोहन का चिकित्सा क्षेत्र में प्रयोग किया जा रहा है जिसे मेडिकल साइन्स में 'नर्वस स्लीप' कहते हैं। सम्मोहन का मुख्य आधार असंवेदन है। इसके द्वारा विचार एवं क्रियाकलाप का स्थगन हो जाता है। यह तब होता है जब बाह्य उद्दीपक इन्द्रियों को प्रभावित करने में असमर्थ सिद्ध होता है। यों मस्तिष्क की क्रिया पूर्णत: निलम्बित नहीं होती है। सम्मोहन तकनीक से विलुप्त हुई स्मृतियाँ पुन: जागृत होती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पूर्वजन्म की स्मृतियों को जगाना भी संभव हो जाएगा। ब्रह्मांडीय चेतना के साथ संबंध स्थापित हो जाने से परोक्ष दर्शन, पूर्वाभास, अतीत ज्ञान एवं विचार संप्रेषण तक संभव हो सकेगा।

विचार संप्रेषण की तकनीक : विचार संप्रेषण का अंग्रेजी शब्द है टेलीपेथी। यह विषयनिष्ठ

मस्तिष्क (सबजेक्टिव माइंड) की सहभागिता से होता है। यह अत्यन्त घनिष्ठ संबंधों वाले व्यक्तियों के बीच ही संभव है। मेसमर ग्रह नक्षत्र एक तरल द्रव्य द्वारा प्राणी के शरीर पर कार्य करता है, प्रभाव डालता है-जिसे 'एनीमल मेग्नेशन' कहा जाता है-यह चुम्बक से संबंधित है। मनोवैज्ञानिक शाखा द्वारा भी इसका उपयोग किया जाता है। चुम्बकीय प्रभाव से सम्मोहन किया जाता है। इसकी तकनीक है समीकरण (पॉलेराइजेशन) तथा निर्देशन (सजेशन) की। चुम्बक के तापक्रम का शरीर पर प्रभाव पड़ता है जो ग्रहों की चुम्बकीय ऊर्जा से जुड़ कर एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के मानस को प्रभावित करती है। यह अतीन्द्रिय शक्ति के सामर्थ्य से होता है।

क्वांटम भौतिकी और परा-मन-यह अतीन्द्रिय शक्ति विज्ञान की क्वांटम थ्योरी से स्पष्ट होती है। एक प्रश्न है कि क्या क्वांटम भौतिकी और परा-मन या परा-मानसिक सत्ता भौतिक स्वरूप यानी आकार में देखी जा सकती है? क्लासिकल भौतिकी की दो विस्मयकारी खोजें बताई जा रही है-1. प्रकाश का दोहरात्मक व्यवहार तथा 2. लगभग बीस नये एलीमेन्टरी कणों की खोज। ऊर्जा के असतत विकिरण से फोटोन बनता है और फोटो इलेक्ट्रिक विश्लेषण का अर्थ है इलेक्ट्रोन-उत्सर्जन जिसका व्यवहार प्रकाश कण की तरह होता है और यह दोहरा व्यवहार है प्रकाश कण का भी और प्रकाश तरंग का भी। परा-मन भी फोटोन की तरह दोहरा व्यवहार करता है। मन की उच्च आवृत्ति की तरंगें और कणीय प्रकृति भी दोहरा व्यवहार करती है। मन की गति का सुनिश्चित पथ नहीं होता और शरीर में मन की स्थिति का भी विज्ञान को ज्ञान नहीं होता। मन का केवल संभाव्य निर्धारण किया गया है-यह मन की अनिश्चितता (अनसर्टेन्टिरी) का सिद्धान्त कहा जाता है और यही क्वांटम थ्योरी है। इसी से भूतकाल की घटना की जानकारी होती है तो इसी से भविष्य का पूर्वाभास भी।

ज्ञान-विज्ञान के विकास का सामाजिक गतिक्रय के साथ तालमेल नहीं :

प्राचीनकाल से लेकर माध्यमिक काल तक आध्यात्मिक ज्ञान का अपूर्व विकास हुआ और दार्शनिक धाराएं प्रवाहित हुई। उस समय सामान्य रूप से लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। यहां 'लोगों' से आम लोगों का मतलब निकालना कुछ भ्रामक है, क्योंकि उस समय न तो सामुदायिकता की चेतना जगी थी जिससे समाज के अस्तित्व को परिकल्पना होती और न ही निम्नवर्गीय बहुसंख्यक लोगों के वजूद का ही कोई खास महत्त्व गिना जाता था।

यह आकलन वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में अधिक स्पष्ट हो जाता है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार सम्पूर्ण जनसंख्या चार वर्णों में विभाजित थी-1. क्षत्रिय (राजकाज चलाने वाला वर्ग), 2. ब्राह्मण (पठन, पाठन, क्रियाकांड कराने तथा राज्य का मार्ग निर्देशित करने वाला वर्ग), 3. वैश्य (व्यापार वाणिज्य करने तथा क्षत्रियों-ब्राह्मणों को प्रसन्न रखने वाला वर्ग) 4. शूद्र (कृषि, श्रम करने तथा तीनों वर्गों के सिवाय सबको शामिल करने वाला वर्ग)। शूद्र वर्ग को मूल रूप से ही नीच या सेवक वर्ग माना गया। ऊपर के तीन वर्णों की जनसंख्या अल्प थी तो शूद्रों की संख्या विपुल। सारा राजकाज तीनों वर्णों से न्यूनाधिक रूप से संबंधित रहता था, लेकिन शूद्र वर्ण की कहीं कोई आवाज नहीं थी।

जहां तक ज्ञान के विकास का संबंध है, उससे भी शूद्र वर्ण को अछूता रखा गया था। ज्ञानाभ्यास या

क्रियाकांड़ों में शूद्र की भागीदारी निषिद्ध थी। यहां निषेध इस अति तक था कि यदि छल या भूल से भी शूद्र वेद वाक्यों का श्रवण कर ले तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डलवा देना चाहिये। यह एक तथ्य ही स्पष्ट कर देता है कि शूद्र का तत्कालीन समाज में क्या स्थान था? द्रोणाचार्य-एकलव्य प्रसंग भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है कि उच्च वर्णों को शूद्र वर्ण की स्वोपार्जित उपलब्धि भी सह्य नहीं थी। तभी तो ज्ञानी विद्वान् गुरु द्रोणाचार्य तक ने एकलव्य से दाहिने हाथ के अंगूठे की गुरु-दक्षिणा मांग ली जिससे धनुष चलाया जाता है जबकि उन्हें गुरु-दक्षिणा पाने का कोई अधिकार नहीं था।

ऐसी जटिल वर्ण-व्यवस्था में जैन एवं बौद्ध धर्म प्रवर्तकों द्वारा सुधार के प्रभावकारी प्रयास किए गए किन्तु समयान्तर में उनकी अधिक सफलता नहीं देखी जा सकी। तभी तो माध्यमिक काल में महाकवि तुलसीदास जैसे संत कवि ने भी लिख डाला-'**ढोर, गंवार, शूद्र अरु नारी-ये सब हैं ताड़न के अधिकारी**'। अत: सामान्य रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास का समुच्चय रूप से सामाजिक गति क्रम के साथ तालमेल नहीं बैठा और तदनुसार सम्पूर्ण समाज के सभी वर्गों में उन्नति की जो धारा देखी जानी चाहिये थी, वह नहीं दिखाई दी।

संबंधों का जाल होता है समाज, जिसमें संबंधों का संकट गहराता रहा है :

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ किसी भी स्तर पर जुड़ता है तो हम कहते हैं कि उनके बीच कोई संबंध है। व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ते हुए संबंधों के ये सूत्र एक नेटवर्क तैयार करते हैं, जिसे ही हम समाज के रूप में परिभाषित करते आये हैं। संबंधों एवं उससे जन्में समाज से पृथक् व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान करना बहुत कठिन है। एक सामाजिक प्राणी इन्हीं संबंधों के सहारे अपने संबंधों का संसार इस दृष्टि से अतिविचित्र एवं विस्तृत है। जन्म से पहले और जन्म के बाद कई संबंधों में बंधा मानव स्वयं संबंधों की सीमाएं, उत्तरदायित्व तथा आवश्यकताएं निश्चित करता है-वे ही संबंधों की सफलता के मूल हैं। संबंध चाहे पति-पत्नी का हो, पिता-माता या पुत्र का, भाई-बहिन का या मित्रता का-सबमें कुछ मूलभूत बातों का ध्यान रखना जरूरी होता है। इसके विपरीत तनिक सी भूल निकटतम संबंधों में भी इतनी दूरियां बना देती है कि वापिस लौटना दुश्वार हो जाता है।

सामाजिक संबंधों का मूल आधार होती है संवेदनशीलता। संबंधित दोनों पक्ष एक दूसरे की स्थिति को समझते रहें और यथा समय यथा-शक्य एक दूसरे को सहयोग देते रहें तो उस संबंध में स्थायित्व आ सकता है। किसी भी संबंध को बनाना उतना कठिन नहीं, जितना कि उसे निभाना और समरसता के साथ स्थायित्व का रूप देना। इसके लिये हार्दिकता समान रूप से बनी रहनी चाहिये। अन्य मूलभूत बातें हो सकती हैं-परस्पर विश्वास, मर्यादा पालन, नि:स्वार्थ सहयोग, स्नेह एवं सहनशीलता आदि। संवेदनशीलता जब सभी परिस्थितियों में सर्वदा सभी स्थानों एवं अवसरों पर बनी रहती है तब संबंधों में सुदृढ़ता आती है और संबंध स्थायी बनते हैं। यह सुदृढ़ता रक्त संबंधों में प्रारंभ से न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है जिससे रक्त संबंधों की सरसता दीर्घकाल तक बनी रह सकती है। इस प्रकार संबंधों के जाल अथवा समूहों के समूह का नाम ही समाज कहलाता है।

ऐसे सामाजिक संबंध जितने अधिक व्यापक हों, सामाजिकता का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक हो

सकता है। आज की परिस्थितियों में समाज पूरे संसार तक फैला है जिसमें मानव जाति के सिवाय सभी प्राणियों (क्रूर जंगली पशु तक) का समावेश हो सकता है। प्राचीनकाल में सम्पर्क सीमित था तो संबंधों का जाल भी सीमित था, किन्तु उस समय की संस्कृति एवं सभ्यता के अनुसार संवेदनशीलता की कमी नहीं थी। धार्मिक प्रभाव भी इसका सहायक था। वैसे वर्ण-व्यवस्था की रचना भी सामाजिक संबंधों को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से ही हुई थी, किन्तु उसका उद्देश्य सामाजिक समानता का नहीं था, अत: जो शक्ति समूह थे, वे ही मुख्यत: वर्ण-व्यवस्था से लाभान्वित हुए। बाद में शक्ति समूहों द्वारा अपने हित में इस व्यवस्था का दुरुपयोग शुरु हुआ तो निचले स्तर के लोगों पर अन्याय-अत्याचार का वेग बढ़ गया। इस सामाजिक उत्पीड़न से दलित वर्गों का असन्तोष बढ़ता रहा और वे मुख्य धारा से कटने लगे। यह दशा आज भी किन्हीं अंशों में चल रही है।

परिणामस्वरूप सामाजिक संबंधों का संकट गहराता रहा है। इसमें आर्थिक विषमता ने भी बड़ी हानि पहुंचाई है। संबंधों को संवेदनशील बनाने के लिये जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे तत्त्व आर्थिक विषमता की सामाजिक स्थिति में क्षत-विक्षत होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। परस्पर विश्वास का मुख्य गुण ही जैसे लुप्त हो रहा है, जो निकटस्थ रक्त संबंधों में भी टूटता नजर आ रहा है। संबंधों को निभाने में जो उचित समय दिया जाना चाहिए, उसका भी लोगों के पास अभाव है। कठोर या अनुचित व्यवहार किया जाता है तो उसका आधार मात्र हित भाव नहीं रहा है बल्कि वह स्वार्थ से प्रभावित होता है। सबसे ऊपर निजी स्वार्थ इतना हावी हो गया है कि पति-पत्नी या पिता पुत्र के बीच भी विश्वास की डोरी मजबूत नहीं रही। अत: सामाजिक संबंधों के संकट मोचन के लिये कठिन प्रयास आवश्यक हो गये हैं।

सामाजिक संबंधों के सम्यक् निर्वाह हेतु चरित्र गठन परमावश्यक :

बहुआयामी विकास विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्टत: उभर कर आता है कि ज्ञान एवं विवेक की प्राथमिक आवश्यकता तो सदा रहती ही है, किन्तु व्यक्ति, समाज या विश्व में उन्नति या अवनति के जब-जब भी दौर चले हैं, उनमें प्रधान कारक चरित्र ही दिखाई दिया है। जब-जब व्यक्तियों में चरित्र संपन्नता रही तो समाज में भी नैतिकता एवं मर्यादा का उच्च स्तर बना रहा, लेकिन जब-जब व्यक्तिगत एवं समूहगत चरित्र में गिरावट आई है, समाज में संबंधहीनता एवं द्वन्द का दौर-दौरा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति या समाज की उन्नति या अवनति में चरित्र ही पहला और आखिरी कारक रहा है। चरित्रशीलता है तो अपने स्वार्थों की अपेक्षा समाज हित का अधिक ध्यान है और दूसरों के लिये त्याग-बलिदान का भाव है। यदि चरित्रहीनता है तो अपने स्वार्थों का अंधापन है और वैसी दशा में संघर्ष, वैर, विरोध तथा हिंसा के फैलाव के सिवाय और कैसा वातावरण हो सकता है?

सारांश यह है कि चरित्र गठन परमावश्यक है। चरित्र गठन का ही दूसरा नाम है व्यक्ति का निर्माण और मानवता का संचार। व्यक्ति चरित्रशील बनेगा तो समाज स्वत: ही सृजनशील हो जाएगा। समाज कहें या संसार, चरित्र ही इसके विकास का मूलाधार है, जिसका धारक होगा व्यक्ति या मानव और संसार संवरेगा चरित्रशीलता की चमक से ही। विजय का यही शाश्वत मार्ग है।

◆◆◆



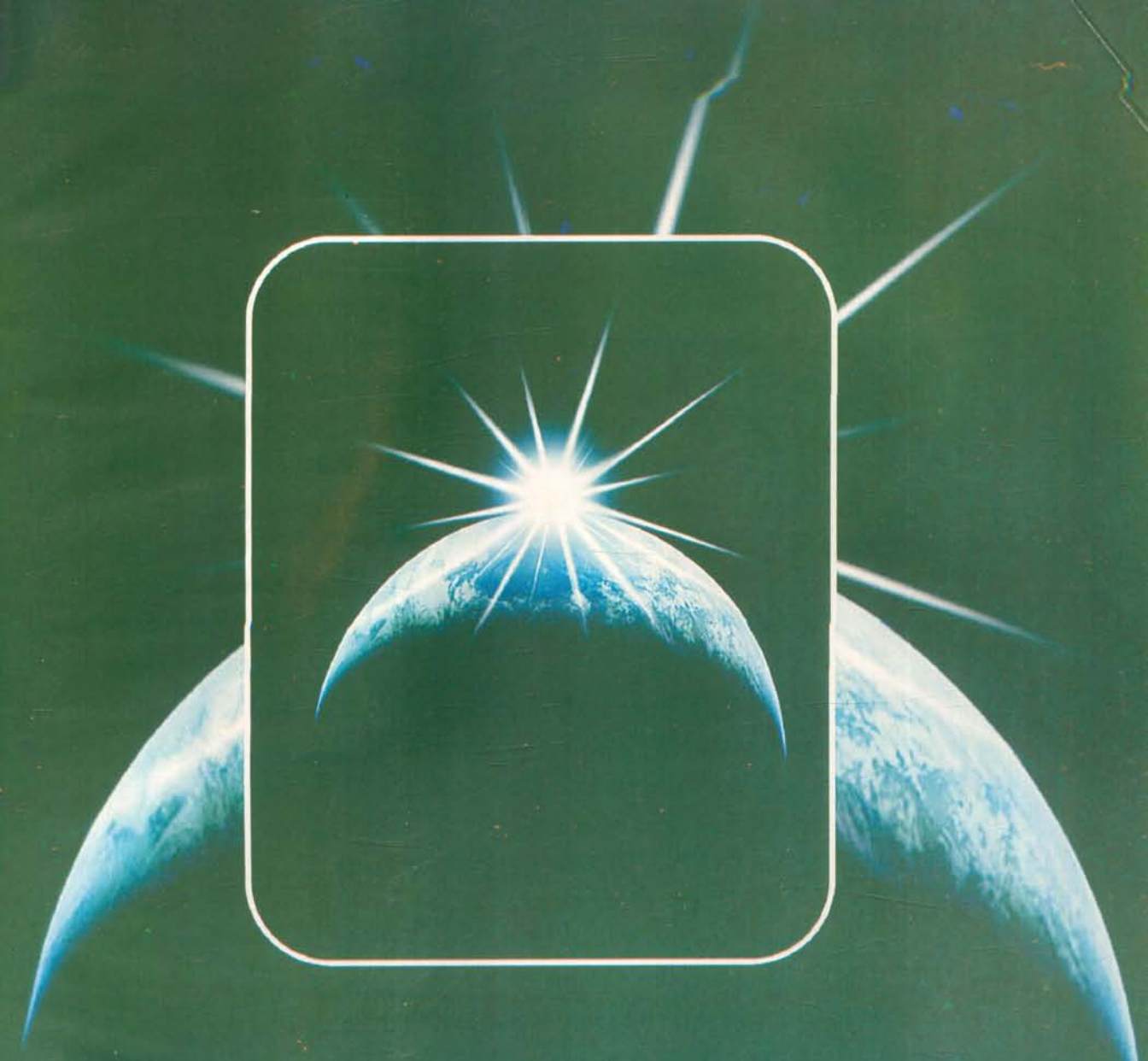
अब तक के विकास का पोस्टमार्टम अर्थात् मानव जीवन के यथार्थ की खोज

चरित्र का यथार्थ कहाँ और कैसा?

कहानी है चतुष्कोणीय चोकोर की, जिसके दो कोण एकदम एक समान तो शेष दो कोण एकदम विपरीत। किन्तु जब परीक्षा की घड़ी आई तो दो समान कोण एकदम असमान हो गए और इन्हीं से प्रकट हुआ मानव जीवन के यथार्थ की खोज का रहस्य।

जिनदत्त सेठ के दोनों पुत्र जिनरक्ष और जिनपाल इस बार पिता के स्थान पर विदेश यात्रा के लिये रवाना हुए। उनका समुद्रतटीय देशों में विस्तृत वाणिज्य था। अपने देश की विख्यात वस्तुएं वहां बेचते और वहां की विख्यात वस्तुएं अपने देश को लाते-दोनों ओर लाभ ही लाभ कमाते। जिनरक्ष और जिनपाल घर से विदा होकर अपने जहाज पर पहुंचे, सारी व्यवस्था का निरीक्षण किया और जहाज को रवाना करने का आदेश दिया।

कई दिनों तक जहाज सागर की फैली हुई नीली सतह पर आगे बढ़ता रहा, किन्तु एक रात अचानक जोरदार तूफान उठा और नींद ही नींद में कितनी बड़ी दुर्घटना घट गई, बड़ी मुश्किल से ही उसका अहसास हुआ। सुबह एक बड़े से डोलते हुए लकड़ी के पटिये पर दोनों भाई विस्फारित नेत्रों से चारों ओर देख रहे थे और उनके माल



अब तक के विकास का पोस्टमार्टम अर्थात् मानव जीवन के यथार्थ की खोज

5

से लदे पूरे जहाज का कहीं भी अता-पता नहीं था। वे विवश थे, उस परिस्थिति में वे क्या करें-उन्हें कुछ भी सुझाई नहीं दिया।

संयोग से उनका लकड़ी का पटिया एक ऐसे तट से जा लगा, जिसको उन्होंने न कभी देखा था, बल्कि उसके बारे में कभी कुछ सुना तक नहीं था। कैसे भी जीवन बचे-यही एक मात्र ध्यान था। जब किनारे की रेत पर चलते हुए वे द्वीप के भीतरी हिस्से में आगे बढ़ने लगे तो उन्हें विचित्र आभास होने लगा जैसे वह हकीकत नहीं, सपना हो। सामने अद्भुत महल से निकल कर एक सुन्दरी जैसे उन्हीं की अभ्यर्थना के लिये समीप आ रही थी। वह सामने आई तो उसके रूप-सौन्दर्य को दोनों निहारते ही रह गये। उसने मधुरता के साथ कहा-'आप समुद्री दुर्घटना से थके-हारे दिखाई दे रहे हैं, कृपया चलकर मेरे आवास में विश्राम करें।' और क्या चाहिये था-अंधों को दो-दो आंखें मिल गई।

जैसी महल की मालकिन सुन्दर थी, वैसी ही सुन्दर थी उसके महल की व्यवस्था। भोजन से तृप्त हो दोनों अपनी-अपनी कोमल शय्याओं में निद्राग्रस्त हो गये। जब तरो-ताजा होकर उठे तो वही सुन्दरी उनके समक्ष खड़ी थी, बोली-'मैं कार्यवश जरा दूर जा रही हूँ, देरी से लौटूंगी। ये चाबियाँ लीजिये-तब तक आप इस सुन्दर महल को देखिये, बस इसके दक्षिणी भाग में न जाइएगा।' यह कहकर वह चली गई।

जिनरक्ष व जिनपाल विस्मित, उनके मन में कौतूहल जागा कि निषिद्ध भाग को ही पहले देखा जाए। दक्षिणी हिस्से में ही पहले पहुंचे। वहां क्या देखते हैं कि एक व्यक्ति फांसी पर लटक रहा है, किन्तु अभी मरा नहीं है, धीरे-धीरे कराह रहा है। एक कोने में हड्डियों और खोपडियों का ढेर लगा है। वे स्तब्ध रह गये-इस सुन्दर महल में यह क्या है? वे फांसी पर लटक रहे व्यक्ति के पास तक चले गये और बोले-'बन्धु! आपकी यह दुर्दशा किसने की है?' उसने एक हिचकी ली और धीरे-धीरे कहा-'क्या आप भी समुद्री दुर्घटना में फंस कर संयोग से यहां पहुंचे हैं?' उन्होंने हां कहा तो वह बोला-'मैं भी इसी तरह पहुंचा था। यह महल की जो मालकिन है, वह मानवी नहीं, राक्षसी है। भूले भटकों को पहले आसरा देती है, अपने रूप से लुभाती है और अन्ततः उनका खून निचोड़ कर पी जाती है, उनको फांसी पर लटका कर। आज मेरी यह दशा की है, कल आप लोगों की भी यही दशा होगी।' तो क्या बचाव का कोई उपाय नहीं है?-दोनों ने पूछा। वह बोला-मुझे बाद में मालूम हुआ मेरी ही तरह मरते उस व्यक्ति से। क्या है वह उपाय, हमें बताइये, हम किसी भी तरह बचना चाहते हैं-दोनों भाइयों ने गिड़गिड़ा कर कहा। सुनो-'महल की पूर्व दिशा में एक देव का स्थान है, वह रक्षक है। तुरन्त उसी के पास चले जाओ कहते-कहते उस व्यक्ति का सिर लुढ़क गया।'

दोनों भाई भाग कर देव के स्थान पर पहुंच गये। देव से करुण विनति की, देव प्रकट हुआ। वह सब जानता था, फिर भी उसने सब सुना और निर्देश दिया-कल प्रातः यहीं पहुंच जाना, तुम्हें एक घोड़ा मिलेगा वह मैं ही होऊंगा। तुम दोनों उस पर सवार हो जाना-सवार होते ही वह आकाश में उड़ने लगेगा और तुम्हें तुम्हारे घर तक पहुंचा कर ही दम लेगा। उसने चेतावनी दी-ज्योंही घोड़ा आकाश में उड़ान भरेगा, वह राक्षसी परम सुन्दर रूप से पीछा करेगी, मोह का जाल फैलाएगी और सभी हथकण्डे करेगी, पर दोनों कतई पीछे न देखें। ज्योंही किसी की नजर पीछे चली गई तो घोड़ा उसे

अपनी पीट पर से नीचे फैंक देगा।

उस दिन जैसा उस सुन्दरी ने चाहा, दोनों भाइयों ने किया यह सोचकर कि उसे प्रसन्न करके छल से ही महल छोड़ना होगा। उनके व्यवहार से राक्षसी सन्तुष्ट हो गई और निश्चिन्त भी। जैसा देव ने कहा था, दोनों भाई वहां पहुंच गये, घोड़े पर सवार भी हो गये और घोड़ा आकाश में उड़ने भी लगा।

तभी पीछे घुंघुरुओं की झंकार के साथ नृत्यमय संगीत लहराने लगा-दोनों के कान सिहर उठे। फिर प्रणय याचना और रुदन के स्वर गूंजे। वह होगी राक्षसी, लेकिन दोनों भाइयों ने तो उसे अद्‌भुत रूपवती के रूप में ही देखा था उसका सलौना चेहरा जैसे उनकी आंखों के आगे घूमने लगा। सोचने लगे-कितना मधुर रहा उसका व्यवहार, कितना सुख दिया उसने, कैसा आकर्षक है उसका रूप-क्या करें, क्या न करें? जिनरक्ष ने मन ही मन निर्णय लिया-देव की नि:स्वार्थ रक्षा को समझना चाहिये और सुन्दरी के मोह में मन को नहीं फंसना चाहिये। वह स्थिर रहा, किन्तु छोटा भाई जिनपाल युवा था, उसके दिल में वह दामिनी की तरह बस गई थी। उसे भी सुरक्षित घर पहुंचना था, किन्तु सोचा प्रेम और रूप की मूर्ति को सिर्फ एक नजर भर देख लेने से क्या बिगड़ेगा? वह मन को नहीं रोक पाया और उसने पीछे गर्दन घुमा ली। देव वाक्य था-जिनपाल घोड़े के पीठ से गिरा तो राक्षसी ने उसे तलवारों की नोंक पर झेला। वह उसकी क्षत-विक्षत देह से रक्त पीने लगी।

समझिए चार कोणों की बात और मानव जीवन की यथार्थता का रहस्य :

इस चतुष्कोणीय चोकोर के चार कोण हैं-1. जिनरक्ष, 2. जिनपाल, 3. रक्षक देव तथा 4. हत्यारिणी राक्षसी। पहले के दो कोण सद्‌गुणी सेठ जिनदत्त के पुत्र हैं श्रेष्ठ संस्कारों की छाया में पले-बढ़े और विवेक सम्पन्न युवक बने। तीसरा कोण रक्षक देव का है यानी कि जो दूसरो की रक्षा में लगा रहता है और परोपकारी होता है, वही तो देवत्त्व है। चौथा कोण हत्यारिणी राक्षसी का है जो अन्तत: हत्या करती है किन्तु सबको अपने रूप से मोहित करती है तथा विवेक को भी मोह में लपेट कर कुन्द बना देती है। कई ऐसी राक्षसी के मोह में पड़ कर अपनी प्राप्त श्रेष्ठ उपलब्धियों को व्यर्थ कर देते हैं और अपने इस अमूल्य जीवन को पतन के गहरे गर्त में धकेल देते हैं। कई इन प्रलोचनों की ओर आकर्षित होने के उपरान्त भी जीवन के महत्त्व को समझते हैं और अपने को सम्भाल लेते हैं। अर्थात् जीवन को सचेष्ट एवं सक्रिय बना लेते हैं। इन दोनों दिशाओं के प्रतीक हैं जिनरक्ष एवं जिनपाल। यद्यपि दोनों के जीवन की पृष्ठभूमि एक-सी थी, संस्कार एक से थे, किन्तु परीक्षा की घड़ी आने पर दोनों की दृढ़ता का जो स्वरूप सामने आया, वह एकदम विपरीत बन गया।

मानवी जीवन में एक ऐसी लक्ष्मण रेखा होती है। जिसको पार कर लेने पर सारी मर्यादाएं टूट जाती हैं और सधा हुआ जीवन बिखर जाता है। जो अपने जीवन पथ पर एक बार डगमगा जाने के बावजूद समय पर सम्भल जाता है और लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन नहीं करता, वह अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति के सहारे जीवन को फिर से संवार लेता है। गिरने और सम्भलने के बीच की बहुत कम दूरी होती है और दोनों अवस्थाओं की मनोदशा में भी अधिक अन्तर नहीं आता, परन्तु जो पतन की

कगार तक पहुंच कर भी वापिस लौट आता है, वह जीवन की हारी हुई बाजी को भी जीत लेता है। यही चरित्र प्रकट हुआ जिनरक्ष का। दूसरी ओर जीवन की जीती हुई बाजी को भी एक क्षण की दुर्बलता के कारण हार गया जिनपाल और अपने जीवन को खो बैठा-जीवन खोया ही नहीं, कष्टकारी यंत्रणाओं का शिकार भी बना।

समझने की बात है कि यह लक्ष्मण रेखा कौनसी है? यह लक्ष्मण रेखा है चरित्र गठन की। चरित्र का अर्थ है दृढ़ता, संकटों से जुझ कर भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने की क्षमता एवं घनघोर अंधेरे में भी प्रकाश किरण को पाने की योग्यता। अन्य कई गुण प्राप्त होने के उपरान्त भी यदि चरित्र दुर्बल है तो पतन की आशंका बनी रहती है, किन्तु यदि चरित्र सबल है तो दूसरी कमजोरियों के दबाव को झेलते हुए भी रास्ते से भटकाव नहीं होता। इसके लिये देव को भी समझना चाहिये और राक्षसी को भी पहचानना चाहिये। देव रक्षा करता है अर्थात् अपनी ही दैविक वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियां अपने जीवन की यथार्थता को जीवन्त बनाती है तथा उस जीवट को बनाये रखती है। यदि देव को रक्षा पहले ही स्वीकार कर लें तो राक्षसी से भेंट होने का अवसर ही नहीं आता है। फिर भी राक्षसी वृत्तियाँ एवं मनोवृत्तियाँ सामान्य मनुष्य के मन में न्यूनाधिक रूप से उभरती रहती है। यदि विवेकशून्य होकर उनके मोह में मनुष्य फंस जाता है और अवसर मिलने पर भी उनसे विरत नहीं हो पाता है तो अन्य प्रकार से जीवन को कितना भी भले अच्छा क्यों न बनाया हो, उसे राक्षसी के भेंट चढ़ना ही पड़ता है।

मानव जीवन की यथार्थता का रहस्य है मनुष्य की चरित्रनिष्ठा एवं चरित्रसम्पन्नता। जीवन को स्थिरता, समतोलता एवं सुदृढ़ता देने वाली शक्ति है चरित्र की शक्ति और इस यथार्थ को यदि नहीं खोजा गया और प्राप्त नहीं किया गया तो समझिए कि अन्य सब कुछ पाकर भी कुछ नहीं पाया। इस यथार्थ को कहां-कहां खोजना होगा, यह कैसे मिलेगा, उसे जीवन में आत्मसात् किस रीति से किया जा सकेगा तथा उसके बल से जीवन को सबल एवं समुन्नत किस मार्ग पर चलकर बनाया जा सकेगा-इन सभी बिन्दुओं पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए एवं क्रियाशीलता के चरण शीघ्रातिशीघ्र उठाने चाहिए ताकि ज्ञान-विज्ञान के अब तक के विकास को उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध किया जा सके।

अब तक के विकास का पोस्टमार्टम तथा उसका उजला पक्ष :

ज्ञान-विज्ञान के अब तक के विकास पर बारीक नजर डालें तो साफ होगा कि इसने पूर्व और पश्चिम को एक करते हुए पूरे संसार के पटल पर ज्ञान एवं विज्ञान का प्रकाश फैलाया है। पूर्व ज्ञान के विकास में अग्रणी रहा तो पश्चिम विज्ञान ने दूरी पर जीत हासिल कर ली तो संसार सिमटता गया और ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश सब ओर फैलाया गया। इस प्रकाश ने सर्वत्र संस्कृति एवं सभ्यता का उन्नत वातावरण बनाया तथा एकीकृत संस्कृति एवं सभ्यता के फैलाव की प्रेरणा दी।

भारत में उत्तरवैदिक काल तक हिंसा के प्रयोग के बारे में दो धारणाएं थी-एक तो यह कि **'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति'** अर्थात् यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाकांड़ों में की जाने वाली हिंसा को हिंसा ही नहीं माना। दूसरे **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** के अनुसार हिंसा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग उचित है। किन्तु जैन धर्म ने वैदिकी हिंसा का डट कर विरोध किया और बताया कि हिंसा कैसी भी हो

हिंसा ही है और वह त्याज्य है। बौद्ध धर्म का हिंसा विरोध भी वैसा ही था। हिंसा को हिंसा से रोके, बल्कि उसका अहिंसात्मक विरोध करें-इससे जैनों की अहिंसक जीवन पद्धति का रूप सामने आया। गीता की भावना का इसके साथ संगम हुआ और अहिंसा की सूक्ष्मता ने व्यापक प्रभाव डाला।

इस संदर्भ में जैन सूत्र आचारांग एवं श्रीमद् भगवत्गीता की तुलना ज्ञानवर्धक है। इससे दो संस्कृतियों के समन्वय की झलक मिलती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वेद संस्कृति एवं जैन संस्कृति में भिन्नता नहीं हैं और यदि कोई भिन्नता दृष्टिगत भी होती है तो वह भूमिका के भेद से हो सकती है, वस्तु के भेद से नहीं। दोनों का हार्द एक है। दोनों के बीच सैद्धान्तिक समन्वय भी है तो साधनात्मक समन्वय भी। इसे कुछ उदाहरणों से समझें।

जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त है कि आत्मा का अस्तित्व है और कर्म का कर्त्ता तथा भोक्ता आत्मा ही है। ईश्वर का उसमें अकर्तृत्व है। गीता इसका समर्थन करती है-जो वस्तु नहीं होती उसका किसी भी स्थिति में भान नहीं होता है, किन्तु आत्मा के इन चर्म चक्षुओं से अदृश्य रहने पर भी उसका भान होता है तो उसका अस्तित्व है उसी तरह कि जो-जो सत् हैं उनका अस्तित्व है-**(नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सतः** -गीता 2-6)। यह आत्मा ही पुण्य कर्म से पुण्य का संचय करती है और पाप कर्म से पाप का संचय करती है (**पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मजा**-गीता 15-8)। जगत् का कर्तृत्व जीवों के कर्मों के सृजन के अनुसार होता है-इसमें ईश्वर का कोई कार्य नहीं। कर्मों का जीवों को फल दिलाने में भी ईश्वर की कोई भूमिका नहीं (**न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल संयोगः, स्वभावस्तु प्रवर्तते।** -गीता, 5-14)।

इसी प्रकार साधनों का समन्वय भी दिखाई देता है। आचारांग में वर्णित मोक्ष के साधन हैं-त्याग, समभाव, स्याद्वाद, श्रद्धा, सत्य साधना, ब्रह्मचर्य, विवेक, सहिष्णुता, अहिंसा, संयम, तप आदि तो गीता में भी नामान्तर से ये ही साधन बताये गये हैं-अनासक्ति, समता, निष्काम कर्मयोग, श्रद्धा, सत्योपासना, ब्रह्मचर्य, जागृति, सहनशीलता, अहिंसा, संयम, तपश्चर्या आदि। समभाव या समता की भाव साम्यता देखिये-पंडित साधक प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का विवेक रखकर सर्वभूतों पर समभाव धारण करता है। किसी को दुःखी देखकर हर्षित नहीं होता तो किसी को सुखी देखकर कुपित नहीं होता-(**तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुज्जे भूएहिं, जाण पडिलेह सायं समिए एयानुपस्सी**-आचारांग, 2-8-2) और कृष्ण पार्थ को कहते हैं-आत्माओं की समानता के भाव से जो सर्वभूतों के प्रति व्यवहार करता है और स्व या पर के सुख-दुःख में भी समभावी रहता है, वही योगी है **(आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः सुखं वा दुःखं सः योगी परमोमतः** -गीता, 6-32)।

दो संस्कृतियों एवं धर्मों की मौलिकता के विश्लेषण का अभिप्राय यही है कि ज्ञान के विकास ने अन्ततः सभी धर्मों में, सभी दर्शनों में, सभी संस्कृतियों एवं सभ्यताओं में एकता के तत्त्वों को उभारा तथा सिद्धान्तों को विश्वहित या मानव हित की प्रासंगिकता दी। क्रमशः हिंसा से विरत होने की अभिलाषा बढ़ी और अहिंसा को सर्वत्र स्वीकृति मिलने लगी। आधुनिक युग में गांधी जी ने अहिंसा के प्रयोग का नया पक्ष प्रस्तुत किया और स्वतंत्रता आन्दोलन को अहिंसा का आधार दिया। आज सभी देशों में युद्ध को अन्तिम विकल्प माना जाने लगा है तथा वार्ताओं व संधियों को प्राथमिकता दी जाने लगी है।

ज्ञान-विज्ञान के विकास का यह उजला पक्ष है कि व्यवहार ज्यादा बिगड़ने के बावजूद मान्यताओं में अहिंसा, सद्भाव, मानवाधिकार, प्राणी रक्षा, विश्व एकता आदि सार्वजनिक विषयों में अधिक सुदृढ़ता आई है।

सामाजिक एवं मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति जागी है, प्रखर बनी है :

ज्ञान-विज्ञान के अब तक के विकास का एक लाभप्रद बिन्दु और भी है। जहां पौर्वात्य सभ्यता में व्यक्ति ही विकास का केन्द्र बिन्दु बना रहा, वहां पाश्चात्य सभ्यता में सामाजिकता का त्वरित वैज्ञानिक विकास हुआ और समाजवाद, साम्यवाद आदि की विचारधाराएं उपजी तथा उन पर व्यावहारिक प्रयोग भी हुए। इन विचारधाराओं से पूरा संसार प्रभावित हुआ। संसार के पूर्वी भाग में भी चाहे राजतंत्र के अत्याचार हों अथवा आर्थिक विषमता का फैलता जाल-जन विरोध का युग शुरु हुआ जिस के साथ ही समाज की धारणा मजबूत बनी।

व्यक्ति जागरण इस रूप में दो प्रकार से परिवर्तित हुआ-एक तो व्यक्ति की शक्ति के साथ ही सामाजिक शक्ति का उदय हुआ और सामाजिक शक्ति को विशेष प्राभाविक माना जाने लगा। इस रूप में विश्व के कई भागों में सामाजिक चेतना की जागृति ही नहीं हुई बल्कि उसकी प्रखर अभिव्यक्ति भी सामने आई। व्यक्तिगत शासन तंत्रों की जगह-जगह समाप्ति हुई और लोकतंत्रीय शासन प्रणालियां विकसित हुई। जहां एक ओर सामाजिक चेतना जगी तो दूसरी ओर मूल्यात्मक चेतना भी जागृत होने लगी और अन्य भेदभावों से ऊपर मानवीय मूल्यों का सृजन होने लगा। इस चेतना के कई रूप सामने आए-सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध, विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह, प्रतिवाद को हटा कर समन्वय के माध्यम से पुनः वाद की प्रतिष्ठा। यह संघर्ष मूल्यों का संघर्ष कहा जाने लगा। संस्थापित मानवीय मूल्यों की पुनः-पुनः प्रतिष्ठा हेतु चेतना जगी, संघर्ष चले और नई-नई परिस्थितियां सामने आ रही हैं। यों कहा जा सकता है कि विश्व एवं मानव की प्रगति के आदर्शों के प्रति आज अधिक संकल्पबद्धता है, अधिक जागृत अभिव्यक्ति है तो अधिक लक्ष्य एकाग्रता भी है।

विज्ञान विकास से वैचारिकता बनी है तो विश्व एकता की निष्ठा बढ़ी है :

विज्ञान प्रयोग और तथ्य पर आधारित होता है, अतः उसके स्वरूप में संदेहात्मक स्थिति की गुंजाइश नहीं होती। होता यह है कि जितना जो सिद्ध हुआ तब तक वह तथ्य है और आगे चल कर जो नये तथ्य सामने आते हैं उनके अनुसार पूर्व निश्चयों में परिवर्तन हो जाता है। आशय यह कि विज्ञान के क्षेत्र में कोई निष्कर्ष अन्तिम नहीं होता, लेकिन जितना जो होता है, वह स्पष्ट होता है और उसे स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं रहती।

इस वैज्ञानिक वृत्ति का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ है और महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है-विचारशैली पर-सोच पर। यही कहा जाता है कि सोच वैज्ञानिक होनी चाहिये जिसका अर्थ है तथ्याधारित होनी चाहिए। ऐसी सोच मुख्य रूप से व्यावहारिक होती है, क्योंकि विज्ञान में कल्पना का स्थान तो होता है, किंतु बहुत ही प्राथमिक कि उसके साथ प्रयोग करके तथ्याधारित निष्कर्ष निकाले जाए। अब तक विज्ञान का जिस रूप में विकास हुआ है, उसके प्रभाव से वैचारिकता छनी है क्योंकि

उसका संबंध वर्तमान तथ्यों तथा भविष्य की योजनाओं के साथ परिणाममूलक रीति से जोड़ा जाता है। व्यक्ति की विचार शक्ति भी इस दृष्टि से व्यापक और गहरी बनी है।

विज्ञान के विकास को ही इसका अधिकांश रूप से श्रेय देना होगा कि आज विश्व में सभी प्रकारों से एकता की स्थापना के प्रति सामान्य जनता की निष्ठा बढ़ी है। किसी भी देश में रहने वाले नागरिक के मन-मानस पर संसार के किसी भी कोने में घटित होने वाली घटनाओं का असर पड़ता है, क्योंकि विज्ञान ने दूरियां काटकर दुनिया को एक बस्ती का रूप दे दिया है तो सोच के संकुचित दायरे भी तोड़ दिये हैं।

जब चरित्र गिरता है तब अच्छाई भी बुराई का साधन बना दी जाती है :

ज्ञान-विज्ञान के अब तक के विकास का पोस्टमार्टम करते समय इस सत्य का आभास अवश्य लेना चाहिए कि प्रत्येक युग में विकास या अविकास की स्थितियों में कौनसा तत्त्व मुख्य रूप से जिम्मेदार रहता है। अच्छाई या बुराई-ये सापेक्ष गुण होते हैं जो कर्त्ता पर आधारित हैं। जहां तक साधनों का सवाल है, उनकी गुणवत्ता कर्त्ता की मनोवृत्ति पर मुख्यतः आश्रित होती है। तलवार को ही ले लें-यह एक शस्त्र है जिसका उपयोग रक्षा के लिये भी किया जा सकता है तो वध के लिये भी। साधन के रूप में तलवार को कैसी मानें? वास्तव में व्यक्ति का उपयोग ही निर्णायक होता है। यदि तलवार का सदुपयोग होता है तो उससे दुर्बल एवं असहाय व्यक्तियों की रक्षा की जा सकती है, उन्हें आततायियों के अन्याय से बचाया जा सकता है अथवा केसरिया बाना पहिन कर जौहर रचाया जा सकता है। तलवार के दुरुपयोग के तो हजारों नृशंस कार्य हो सकते हैं।

अतः मूल प्रश्न है किसी भी साधन के सदुपयोग का या दुरुपयोग का। यह खेल खेलती है मनुष्य की वृत्ति एवं प्रवृत्ति। नतीजा यह निकलता है कि अच्छाई या बुराई की मौलिक जिम्मेदारी मनुष्य की ही होती है। मनुष्य की वृत्ति या प्रवृत्ति का मूल कारक होता है उसका चरित्र। इस दृष्टि से जिस युग में जब-जब मनुष्य का व्यक्तिगत तथा समाज का सामुदायिक चरित्र गिरा है, तब-तब प्रत्येक अच्छाई यानी अच्छे साधन-साधनों का दुरुपयोग अधिक हुआ है और उस रूप में उसे बुराई का साधन बना दिया गया है। यों सारी अच्छाई-बुराई या उत्थान-पतन का भार मनुष्य और उसके चरित्र पर आ टिकता है। ज्ञान-विज्ञान के विकास को इसी दृष्टिकोण से परखना और आंकना चाहिये।

ज्ञान और उसके प्रभाव से आध्यात्मिकता, धार्मिकता या नैतिकता का खूब प्रसार हुआ, किन्तु जब उसी का दुरुपयोग मठाधीशों, सत्ता के दलालों अथवा निहित स्वार्थियों ने करना शुरु किया तो वही दायित्वपूर्ण भावना शोषण एवं उत्पीड़न की मददगार बना दी गई। शीर्ष पर बैठे नायकों को यश और वर्चस्व की लालसा जगी तो सिद्धान्तों को तोड़-मोड़ कर अपनी स्वार्थपूर्ति के अनुसार उनका अर्थ निकाला जाने लगा। यह भी कोशिश हुई कि आम लोग कट्टर बनें, किन्तु जानकार न बनें, ताकि वे अंधी भक्ति और श्रद्धा के दलदल में जकड़े रहें। इस प्रकार निहित स्वार्थी लोगों तथा वर्गों ने सामाजिक हित की भावना को छोड़ कर व्यक्तिगत या वर्गगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये प्रत्येक

अच्छाई का दुरुपयोग किया और उसे बुराई के रंग में रंग दिया। इस दुष्प्रवृत्ति के कारण दो दुष्परिणाम सामने आए-एक तो अच्छाइयों का असर ओझल होता गया तो दूसरा यह कि समाज के सामान्य जन के चरित्र में गिरावट आने लगी।

समाज के शक्तिशाली वर्गों से होने वाला चरित्र का पतन पूरे सामाजिक क्षेत्र में फैलने लगता है तब सामान्य परिस्थितियां भी भयावह हो उठती है। व्यक्ति एवं समाज के जीवन में ऐसी कुप्रवृत्तियां घर करने लगती हैं, जिनका असर दूर करने के कार्य के लिये उत्साही कार्यकर्त्ताओं को एक लम्बे समय तक कठिन प्रयत्न करने होते हैं।

सामाजिक जीवन के पिछड़ेपन से अभावग्रस्तता एवं चेतना-शून्यता :

व्यक्ति के दुरुपयोग का कुप्रभाव जब फैल कर समाज को प्रभावित करने लगता है। तब आम लोगों का सोच-विचार और रहन-सहन पिछड़ता जाता है, जिसके घातक परिणाम अभावग्रस्तता तथा चेतनाशून्यता के रूप में सामने आते हैं। भांति-भांति की विषमताएं सामान्य जन को तन और मन दोनों से जर्जर बनाने लगती है, जिनके कारण उसके विकास के सभी द्वार बन्द होने लगते हैं। सामान्य जन तरह-तरह के अभावों में छटपटाता है तो उसकी प्रतिभा के साथ उसकी निष्ठा भी कुंठित होने लगती है। वह रोजी रोटी के चक्कर में ही इतना उलझ जाता है कि अन्य प्रवृत्तियों के लिये उसके पास न तो समझ बचती है और न ही समय। ऐसे में निहित स्वार्थियों के समूह सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रों पर एकाधिकार कर लेते हैं और सामान्य जन पर अधिक अन्याय एवं अत्याचार करते हैं। कभी-कभी इतना कि लम्बे अर्से तक फिर से जागृत होने और स्थितियों को बदलने की क्षमता भी उनमें नहीं बचती। आध्यात्मिक एवं धार्मिक साधना का उत्साह भी उनके टूटे मन में जगाने का काम काफी कठिन हो जाता है। अत: सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने के प्रति सबसे पहले प्रयास होने चाहिये कि ज्ञान एवं चरित्र की दीपशिखा उनके अन्त:करण में प्रज्वलित हो। यह दीपशिखा ही सभी तरह के पिछड़ेपन के अंधेरे को दूर कर सकती है। इस सत्य को कभी नहीं भुलाना चाहिये कि सामाजिक पिछड़ेपन की मूल कारणभूत बहुविध विषमताएं ही होती हैं जिन्हें समभाव एवं समतापूर्ण जीवन के विचार से समाप्त की जा सकती हैं।

शास्त्रों को बना दिया शस्त्र और समाज व धर्म हो गये स्वार्थों के अखाड़े :

विश्व के विभिन्न देशों तथा समाज-संगठनों की गत बीसवीं शताब्दी की हलचलों पर दृष्टिपात करें तो यह समझ में आता है कि ज्ञान तथा विज्ञान का जितना विकास हुआ था, उसे सार्वजनिक हित में नियोजित करने की बजाय मानव हितों के विरुद्ध उसका कितना अधिक दुरुपयोग किया गया- शायद इतना कि उसकी अन्तिम सीमा आ पहुंची है।

बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ज्ञान के धवल प्रकाश को स्वार्थों के अंधेरे में डुबोने का काल है तो उत्तरार्ध ने दिखाया है विज्ञान के दुष्प्रयोगों का भयावह दृश्य। आत्मा पर गहरी चोट पहुंचाने वाली कुचेष्टा यह रही कि शास्त्रों को शस्त्र के रूप में प्रयोग में लिया जाने लगा। प्राचीनकाल में बहुसंख्यक जनता को शूद्र होने के नाम पर वैसे ही शस्त्रों के ज्ञान से वंचित रखा गया, बल्कि शास्त्र श्रवण

तक को उनके लिये अपराध की संज्ञा दी गई। शास्त्रों के ज्ञान और क्रियाकांड़ों की पद्धति का ठेका पुरोहित वर्ग ने ले रखा था। यह लोक बिगड़ा हुआ है सो परलोक तो सुधारा ही जाए-यह आम मान्यता बनाई गई थी और प्रत्येक क्रिया या रीति शास्त्र सम्मत हो तभी परलोक सुधरेगा, यह धारणा भी आम थी। अत: पुरोहित वर्ग की चांदी थी और आम लोगों पर यह वर्ग हावी था। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखे गये साहित्य और खास करके उपन्यासों में उस समय की ग्रामीण जतना की इस बेचारगी (असहायता) का बड़ा करुणामय विवरण मिलता है। आशय यह कि पुरोहित या ब्राह्मण वर्ग ने शास्त्रों का शस्त्रों के रूप में भयंकर रीति से प्रयोग किया तथा सामान्य जन के अज्ञान का शोषण करते हुए उन्हें उत्पीड़ित किया।

शास्त्रीय ज्ञान से सामान्य जन के विवेक को जगाने और उन्हें धार्मिक व नैतिक जीवन निर्मित करने का पुण्य कार्य किया जा सकता था ताकि जागृत सामान्य जन पूरे समाज को एक जीवन्त समाज बना सकता। किन्तु ऐसा काम निहित स्वार्थियों को कैसे अभीष्ट हो सकता था? स्वार्थी वर्ग अतीव अल्पसंख्यक होता है, किन्तु शक्ति केन्द्रों पर वह काबिज होता है जिसके माध्यम से वह बहुसंख्यक लोगों को पिछड़ा बनाता है, उन्हें दबाता, कुचलता है और अपने वर्चस्व को मनाने के लिये उन्हें विवश कर देता है। यदि व्यक्ति में चरित्रसम्पन्नता होती है तो वह समाज में वैसी परिस्थितियों को ढलने नहीं देता जिनमें साधनों का दुरुपयोग सरल हो जाता है। तब समाज में भी एक स्तर तक चरित्रशीलता बनी रहती है। ऐसा दुरुपयोग तभी रोका जा सकता है जब चरित्रहीनता के प्रसार को रोका जा सके। चरित्रहीनता के फैलाव को रोकने में जब अशक्यता पैदा हो जाती है तब चाहे समाज का क्षेत्र हो अथवा, धर्म-सम्प्रदाय का क्षेत्र, वे सब हीन स्वार्थों की पूर्ति के अखाड़ें बन जाते हैं। पुरोहित वर्ग के समान ही धर्मगुरुओं ने भी बाद में अपनी यश-महिमा बढ़ाने के हीन उद्देश्यों को लेकर धर्म के नाम पर लोगों को विभाजित किया और उन्हें कट्टरवादिता का जामा पहना कर विवेक शून्य बना दिया। यही मुख्य वजह थी कि एक ही प्रवर्तक का धर्म भी अनेकों सम्प्रदायों तथा उप-सम्प्रदायों में बंट गया। स्वार्थवादिता के कारण मानव धर्म क्षत-विक्षत हुआ और समाज जुड़ने की बजाय अनेक टुकड़ों में बँट गया, जबकि ये टुकड़ें भी आपस में हमेशा किसी न किसी बात पर संघर्षशील रहने लगे। यों धर्म आन्तरिकता से हटकर बाह्य अतिवाद से ग्रसित हो गया।

विज्ञान सत्ता के भूखे भेड़ियों की दाढ़ों में जा फंसा और खून उगलने लगा :

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विज्ञान जैसी मानवीय शक्ति के दुरुपयोग का चक्र चल रहा है और यह खेल-खेल रहे हैं *सत्ता के भूखे भेड़िये बने शासक, प्रशासक व राजनेता! जिनका साथ दे रहे* हैं व्यवसायी-व्यापारी! यह बताया जा चुका है कि कितने ही क्षेत्रों में जो आश्चर्यजनक वैज्ञानिक अनुसंधान एवं आविष्कार हुए हैं उनका यदि विश्व को सुविधा सम्पन्न तथा मानव को सुख संपन्न बनाने के लिये सदुपयोग किया जाता तो सफलता निश्चित थी। किन्तु जो ज्ञान की उपलब्धियों की दुर्दशा हुई, उससे भी बढ़कर दुर्दशा विज्ञान की उपलब्धियों की हो रही है। दुर्दशा इसलिये कि उसके सदुपयोग से जहां सामान्य जन को सुख-सुविधा मिलनी चाहिये थी, वहां उसके दुरुपयोग से सामान्य जन के कष्ट अधिक बढ़ गये हैं। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान सत्ता के भूखे भेड़ियों की दाढ़ों

में जा फंसा है और खून उगल रहा है।

1945 में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन हुआ। इसमें अमेरीका द्वारा जापान में अणु बम डालने पर घटित महाविनाश से विज्ञान के दुरुपयोग का भयंकर दृश्य प्रस्तुत हुआ था और सारे विश्व में आतंक फैल गया था। तब से परमाणु शस्त्रों के निर्माण की होड़-सी मच गई तथा कई राष्ट्र परमाणु शस्त्र सम्पन्न राष्ट्र बन गये। अणु अस्त्रों से भी अधिक खतरनाक रासायनिक व जैविक शस्त्र भी बने हैं और विकसित राष्ट्रों ने आत्मरक्षा के नाम पर ऐसे शस्त्रों के अम्बार खड़े कर दिये हैं। यह शस्त्रों का अम्बार इतना भीषण है कि पूरी पृथ्वी एक ही बार में विनष्ट की जा सकती है।

यहां भी वही बात है कि यदि अणु शक्ति का सदुपयोग मानवहित एवं विश्व शान्ति के कार्यों में किया जाए तो दुनिया से गरीबी पूरी तरह से खत्म की जा सकती है। गरीबी के साथ बेरोजगारी, बीमारी और अशिक्षा का अन्त भी संभव हो सकता है। बस बात सदुपयोग की और चरित्रनिर्माण की ही उभर कर सामने आती है।

ज्ञान-विज्ञान के दुरुपयोग से उपजी है घृणा, स्वार्थवादिता, कटुता और हिंसा :

प्रेम से सहयोग का जुड़ाव होता है तो घृणा से कष्टकारक टूट। व्यक्ति भी टूटता है और समाज भी टूटता है। व्यक्ति की टूट तो सबको दिखाई दे जाती है, इस कारण से उसका उपाय भी शीघ्र किया जा सकता है किन्तु समाज, संघ, संगठन या संस्थाओं की टूट के स्पष्ट होने में समय लगता है तथा राष्ट्रों में हो रही भीतरी टूट को तो जानने में भी वर्षों लग जाते हैं। इस तरह-तरह की टूट को समझना और समय से उसका उपाय करना आसान नहीं होता है। यही कारण है कि उपाय का आरंभ व्यक्ति से करने को प्राथमिकता दी जाती है। आखिर व्यक्ति ही तो इन सारी ईकाइयों की मूल ईकाई होती है। मूल ईकाई की मजबूती को सबसे बड़ी ईकाई विश्व तक फैलाने का काम तभी तो आसान हो सकता है।

ज्ञान-विज्ञान के साधनों के दुरुपयोग से विश्व, समाज एवं व्यक्ति पर कितना बुरा असर गिरता है-यह ऊपर के विवरण-विश्लेषण से स्पष्ट होता है, किन्तु यह भी समझने की बात है और ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है कि ऐसे दुरुपयोग के व्यापक दुष्परिणाम हुए हैं और उनके कारण आज बड़ी से लेकर छोटी ईकाई तक विकृति की कितनी कालिख बिखरी है। इसी से आभास होगा कि मनुष्य जाति का सच्चा विकास कितना बाधित हुआ है।

ज्ञान-विज्ञान के साधन तो हमारे लिये सतत उन्नति की सीढ़ियां थीं और जिन पर चढ़ कर व्यक्ति को चरित्रशील, नीतिमान तथा धार्मिक बनाया जा सकता था और जिससे समाज को प्रेम एवं सहयोग के सुखद वातावरण से संवारा जा सकता था, उन्हीं साधनों का जब शक्ति संपन्नों ने दुरुपयोग शुरु कर दिया तो उससे चाहे उनकी जन विरोधी शक्ति विनाश के मार्ग पर भले आगे बढ़ती रही हो परन्तु बहुसंख्यक समाज की कमर टूटती रही और चारित्रिक क्षमता बिखरती रही। इतना ही नहीं हुआ, बल्कि इस दुरुपयोग के जो विनाशकारी दुष्परिणाम सामने आये हैं उनके असर को पूरी तरह

मिटा कर व्यक्ति व समाज को स्वस्थ बनाना एक महद् कार्य हो गया है।

जब प्रेम टूटता है तो घृणा पैदा होती है। प्रेम त्याग पर पनपता है तो घृणा स्वार्थवादिता से भड़कती है। घृणा सर्वत्र राग-द्वेष की कारक बनती है। विश्व के अधिकांश देशों तथा भारत में भी ऐसा ही हुआ है कि साधनों के दुरुपयोग से व्यक्ति स्वार्थ केन्द्रित बनता गया, उसका दायरा ज्यादा से ज्यादा संकुचित होने लगा और वह अपनी पूर्णता को भूला बैठा। सम्पूर्ण मानव जाति का अपने को सदस्य मानने की बजाय आज व्यक्ति ने परिवार तक से अपने को काट लिया है-संयुक्त परिवारों के बिखरने के पीछे स्वार्थ का भाव ही तो है। स्वार्थ से राग उपजता है और द्वेष से घृणा तथा राग एवं द्वेष से संसार के समस्त विकार उत्पन्न होते हैं (**रागस्स हेउं समणुन्न माहु, दोसस्स हेउं अमणुन्न माहु**-उत्तराध्ययन सूत्र, 32-36)। राग और द्वेष के बाद कटुता का फैलाव होता है तथा कटुता से हिंसा का। इस हिंसा की कोई सीमा नहीं है, बल्कि इसका कितना विकराल रूप हो सकता है, आज के युग में उसकी कल्पना करते हुए भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह हिंसा किन्हीं दो व्यक्तियों की गुत्थमगुत्था से लेकर राष्ट्रों की गुत्थमगुत्था यानी युद्ध की विभीषिका तक फैल सकती है। वैसे बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में घटे छोटे-बड़े विवाद, साम्प्रदायिक दंगे, जातियों के खूनी झगड़े, आतंकवादी हादसे और युद्ध की गर्जनाएं सभी की याद से मिटे नहीं होंगे। हिंसा की धार भी विज्ञान के दुरुपयोग से काफी पैनी हुई है। अपराधी और आतंकवादी ऐसे आधुनिकतम शस्त्रों का प्रयोग करते हैं जैसे शस्त्र पुलिस और सेना को भी उपलब्ध नहीं होते। आग की हिंसा, अणु, रसायन व जैविक बमों, मिसाइलों आदि के रूप में सर्व-संसार संहारक बन गई है।

इस संदर्भ में एक सत्य को बार-बार याद करें कि सारी बुरी ताकतों के बावजूद अच्छी ताकतें कम असरकारक नहीं होती है, कमी यही रहती है कि अच्छी ताकतें जागती और कर्मरत बनती है जरा मुश्किल से और यह मुश्किल उठानी पड़ती है प्रबुद्धों, चरित्रशीलों और उत्साहियों की छोटी-सी संख्या को। आज भी यही स्थिति है। आज की लाईलाज दिखने वाली दुर्दशा से भी निराशा का कोई कारण नहीं है। हर हाल में अच्छाई जीतती है और अन्ततः सत्य एवं न्याय की ही विजय होती है। आज का हिंसा भरा विश्व भी बदलेगा, राग-द्वेष पतले पड़ेंगे, घृणा और कटुता की कर्कशता कम होगी तथा प्रेम, नीति, धर्म, सहयोग एवं मानव सेवा की पवित्र गंगा प्रकटेगी और बहेगी।

पोस्ट-मार्टम के बाद समझें कि जीवन के यथार्थ को कहां व कैसे खोजें?:

किसी भी परिस्थिति का पोस्टमार्टम (शल्य रूप विश्लेषण) सदा सोद्देश्य किया जाता है। हमारा यह पोस्टमार्टम भी इस उद्देश्य से किया गया है कि आधुनिक युग के विकास चक्र को देखें, उसके अच्छे-बुरे असर को मापें और वर्तमान में आदर्शोन्मुख दिशा का अध्ययन करें। यह अध्ययन हमें अपना वह रास्ता दिखता है जिस पर हम आगे बढ़ें, समाज को आगे बढ़ावें तथा संसार व समाज में उन्नति का नया युग लाने की चेष्टा करें।

अब तक संक्षेप में संसार के घटना क्रम और उसके विश्लेषण पर कुछ रोशनी डालनी चाहिये और इस रोशनी में खोजना चाहिए कि वस्तुतः इस मानव जीवन की यथार्थता को पाने के लिये हमारी

दिशा और दशा में क्या-क्या बदलाव लाए जाने चाहिए।

पहले देखें कि मानव जीवन का यथार्थ क्या है? एक शब्द में इसका उत्तर दें तो वह होगा-स्व-पर कल्याण। कल्याण का अर्थ उत्थान, उद्धार आदि से लिया जा सकता है। सोचें कि स्व और पर क्या? यह विश्व का मोटा-सा विभाजन है-स्व का अर्थ है स्वयं और व्याकरण के अनुसार 'मैं' और पर का अर्थ है अन्य-मैं के सिवाय सब। मैं के साथ पर को जोड़ दें तो पूरा संसार बन जाता है। 'मैं' प्रमुख होता है, उत्थान के मार्ग पर भी और पतन के मार्ग पर भी। कहीं-भी पतन की कारण होती है मैं की विवेकहीन प्रमुखता अर्थात् स्वार्थ केन्द्रित प्रमुखता। मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सब कुछ बनूँ और मैं ही सबका आदर पाऊँ-इस लालसा से जब व्यक्ति अंधा हो जाता है तो कोई भी अकरणीय नहीं बचता जो वह न करें या न करना चाहे। यह होता है मैं का विकृत रूप। परन्तु वही 'मैं' जब परोपकार को प्राथमिक बना लेता है और स्व से भी ऊपर 'पर' को स्थान दे देता है तब त्याग का क्रम शुरु होता है। त्याग, संयम और तप के माध्यम से 'मैं' तपता जाता है, स्व को विगलित और विसर्जित करता जाता है कि स्व तिरोहित होता है। जब स्व नहीं रहता स्व-अर्थ की दृष्टि से तो पर कहां रहेगा? तब तो एक ही तत्त्व बचेगा और जो कहलाता है पूर्ण। पूर्णत्त्व ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

तो जीवन का यथार्थ हुआ पूर्णत्व, जिसका प्रारंभ था स्व-पर कल्याण। वैसे भी स्व और पर के कल्याण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। स्व की जागृति के बिना पर के उपकार या कल्याण का भाव ही पैदा नहीं होता है और परोपकार का कार्य उत्साहपूर्वक तभी चल सकता है। जब स्व की गति त्याग और संयम के पथ पर अग्रसर बने। वास्तव में यह कल्याण पथ एक ही है। जब तक गृहस्थ रहते हुए पर सेवा का कार्य करता है तब तक वह उसमें पूरा समय नहीं दे सकता और न ही अपनी पूरी ऊर्जा उसमें लगा सकता है। किन्तु सांसारिकता छोड़ कर जब वह साधुवृत्ति में प्रवेश करता है तब वह संकुचित सीमा से निकल कर असीम हो जाता है। पूरे विश्व का हो जाता है। उस समय वह स्व के कल्याण में भी उच्चस्थ होता है तो पर के कल्याण में भी।

'जिन खोजा, तिन पाइयां' की उक्ति के अनुसार कोई अपनी संपूर्ण निष्ठा से अलभ्य को भी खोजने निकले तो उसे निराशा कभी भी हाथ नहीं लगेगी। उसकी खोज अवश्य सफल होगी। फिर मानव जीवन के यथार्थ की खोज में कोई लगे तो उसे यथार्थता का मूल और विस्तार सब कुछ अवश्य प्राप्त हो जाएगा। जब लक्ष्य स्पष्ट हो और खोज का वस्तु विषय तो उसे कहां और कैसे खोजा जाय-उसके संबंध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहेगा। आवश्यकता है कि खोज का श्री गणेश कर लिया जाए। पथ और गतिक्रम सही है तो आगे बढ़ते रहने में कोई अड़चन नहीं रहेगी तथा आने वाली कठिनाइयों का समाधान भी सहजतापूर्वक होता जाएगा।

यथार्थ मिलेगा मनुष्य के अपने ही भीतर और पथ दिखायेगा चरित्र :

''मनः एव कारणं बंधमोक्षयो'' का रहस्य मनुष्य को यथार्थ की झलक दिखाएगा। मनुष्य की शक्ति का स्रोत होता है मन, क्योंकि जो कुछ मन में निश्चित होता है, वही वचन से प्रकट होता है

और वही आचरण में उतरता है। मन की भूल हो या मन का विवेक-वही जग जाहिर होता है। इस कारण अपनी दुर्बलता या अकर्मण्यता पूरे जीवन को न घेर लें, इसके लिये मन के स्रोत को स्वच्छ बनाना नितान्त आवश्यक है। जीवन का यथार्थ भी मनुष्य के अपने ही भीतर मिलेगा और उसका ऋण मन में ही होगा।

मन सदा गतिशील रहता है, लेकिन वह कहाँ तथा किस ओर गति करें एवं कहां और किस ओर गति न करें-यह नियंत्रण मनुष्य को करना होता है। मन की पृष्ठभूमि को पुष्ट बनाने में सहयोगी होता है जो कुछ बाहर दिखाई देता व महसूस होता है। वह सब एवं जो पढ़ा, सोचा तथा मनन किया जाता है वह भी सब। ज्ञान और ध्यान मिलकर मनुष्य का भाव गढ़ते हैं। यदि मनुष्य का विवेक जागृत होता है तथा मन शुद्ध तो मन उसी दिशा में गतिशील होता है। जो दिशा उसके यथार्थ की होती है। गति उग्र से उग्रतर होती जाती है और यथार्थ की छवि भी स्पष्ट से स्पष्टतर। वस्तुत: कहा जा सकता है कि यथार्थ तो मनुष्य के भीतर ही रहा हुआ है उसके मन में, जो यदि सध जाए तो यथार्थ के मोक्ष को प्राप्त कर ले और यदि भटक जाए तो ऐसा बंध जाए कि यथार्थ का कोर-किनारा भी न दिखाई दे।

यथार्थ की खोज इस दृष्टि से मनुष्य को अपने भीतर ही करनी होगी और भीतर की अवस्थिति ही परिपक्व होने पर बाहर प्रकट होगी। इसके बाद वचन और कर्म के रूप में जो गतिशीलता प्रारंभ होगी उस का पृष्ठबल होगा मनुष्य का अपना चरित्र। विश्व के विकास के अध्ययन में यह जाना जा चुका है कि चरित्र ही उत्थान या पतन का सदैव प्रमुख कारण रहा है और चरित्र की संपन्नता अथवा हीनता ने मनुष्य को भी और उसके संसार (क्रियाशीलता के केन्द्र के रूप में) को भी उन्नति की सीढ़ियों पर चढ़ाया है या पतन के खड्डे में नीचे गिराया है।

सारांश में कहा जा सकता है कि मानव जीवन का यथार्थ है स्व-पर कल्याण की चरम परिणति तक पहुंचना। उसके लिये चाहिए सधे हुए मन की प्रखरता तथा चरित्रसंपन्नता की गतिशीलता। यों समुच्चय में चरित्रशीलता को समग्र प्रगतिशीलता का कारक कह सकते हैं। चरित्र का निर्माण है तो व्यक्तित्व निर्माण तथा जागतिक विकास का निर्माण सुनिश्चित है।

◆◆◆



क्या विश्व की विकृत व्यवस्था मानवीय मूल्यों की मांग नहीं करती ?

6



क्या विश्व की विकृत व्यवस्था मानवीय मूल्यों की मांग नहीं करती?

❀

मानवीय मूल्यों की सुरक्षा एकमात्र चरित्र निर्माण से!

मानव क्या था, कैसा हुआ और अब किस प्रकार के रूप-स्वरूप में रंग गया है-इस का सम्यक् परिचय करायेगी ये तीन झलकियाँ!

पहली झलक : राजा मेघरथ (या राजा शिवि) अपनी राज्य सभा में सिंहासन पर बैठे राज-काज संबंधी चर्चा कर रहे थे-तभी अचानक एक फड़फड़ाता हुआ लहूलुहान कबूतर उनकी गोद में आ गिरा। वह थर-थर कांप रहा था। उन्होंने उसकी पीठ पर अपने मृदुल हाथों का स्पर्श देते हुए आश्वस्त किया-'जब तुम मेरी शरण में आ गए हो तो भय मुक्त हो जाओ। अब तुम्हारा जीवन सुरक्षित है।' तभी फड़फड़ाता हुआ बाज भी सभागार में पहुंच गया, आवेश के साथ बोला-'यह कबूतर मेरा शिकार है, आप इसे लौटा दीजिये।' राजा तनिक से चकित हुए-कबूतर आया और यह बाज आया-यह सब क्या हैं?

राजा ने कहा-'यह कबूतर मेरी शरण में आ चुका है और मैं इसे जीवन का आश्वासन दे चुका हूं सो यह तो तुम्हें नहीं मिलेगा। इसके बदले में तुम चाहो सो मांग लो। शरणागत की रक्षा हमारा धर्म है।' बाज ने धृष्टतापूर्वक कहा-'ठीक है, मैंने अपने भोजन के लिये इसे अपना शिकार

बनाया था। आप इस कबूतर के भार के बराबर अपने शरीर का मांस मुझे दे दें। मुझे कोई आपत्ति नहीं रहेगी।' दयालु राजा तुरन्त तत्पर हो गए।

एक तराजू मंगाया गया। एक पलड़े में कबूतर को बिठा दिया गया और दूसरे पलड़े में राजा अपनी जंघा का मांस काट-काट कर रखने लगे, लेकिन आश्चर्य कि कबूतर वाला पलड़ा भारी होकर टस से मस नहीं हो रहा था। एक के बाद एक अंग और उपांग काट कर धरते रहे, किन्तु पलड़ा वहीं का वहीं। भावोद्रेक से वे पूरे के पूरे ही पलड़े में बैठ गए। तभी राज्यसभा में एक अद्‌भुत प्रकाश कौंधा, कबूतर व बाज दोनों गायब थे, उनकी जगह दो देवता हाथ बांध खड़े थे और राजा भी पूर्ववत् अपने सिंहासन पर विराजमान थे।

देवताओं ने मानव को नमस्कार किया, आखिर क्यों? प्राचीनकाल में तो देवता ही वन्दनीय माने जाते थे, क्योंकि मानव उन्हें प्रसन्न करके वरदान मांगता था। यहां मानव की सेवा में देवताओं ने अपना सिर झुकाया था। कारण, राजा ने अहिंसा के लिये संयमपूर्वक तप किया था और उसके सामने देवत्व भी छोटा पड़ गया। अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल का कारण होता है और जो ऐसे धर्म से सदा के लिये अपने मन को जोड़ लेता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। (**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवावि तं णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो**-दशवै : कालिक सूत्र, 1-1)।

दूसरी झलक : मिश्र देश के विख्यात पिरामिड में एक मानवाकार की मूर्ति है। आकार मानव का है किन्तु कुछ विचित्र है और गूढ़ अर्थ से भरा हुआ। इस मूर्ति की आकृति में चेहरा तो मानव का है, लेकिन शरीर पशु का है और दोनों तरफ ऐसे पंख लगे हैं जैसे कि वह उड़ने ही वाला हो। उसकी वह स्थिति गुरुत्मान् की स्थिति है। इसके अनुसार मानव त्रिविधात्मक रूप वाला हुआ-1. पशुत्व विद्या, 2. नरत्व विद्या एवं 3. अतिक्रमित विद्या अर्थात् ऊपर उड़ान भरने वाली विद्या।

इस त्रिविधात्मक रूप में मुनष्य के आचार का प्रश्न समाया हुआ है जो वस्तुतः मानव विज्ञान से ही संबंधित प्रश्न है। आचार का अभिप्राय सदाचार से है। सदाचार स्थायी, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है। सब क्षेत्रों में, सब समयों में सदाचार का एक ही शाश्वत स्वरूप होता है। दूसरे शब्दों में सदाचार सत्य का प्रतिरूप है। सदाचार मात्र मनुष्य की समस्या है तो समाधान भी। सदाचार बदलता नहीं सो वह भगवत्स्वरूप है। जो बदलता है, वह अनाचार या झूठ है जो इस्लाम की भाषा में 'कुफ्र' है। पैगम्बर मोहम्मद साहब ने मानव की परिभाषा करते हुए बताया है कि जो बदलता है वह कुफ्र है और बदलने वाला काफिर, लेकिन जो नहीं बदलता, वह खुदाई तक पहुंचा हुआ मानव है (**मैं खूब जानता हूं कि तुम कौन हो, क्या हो। गर कुफ्र न होता तो मैं कहता की तुम खुदा हो**)।

यथार्थ में मानव कुफ्र या खुदाई की या सत्य और अनृत (झूठ) की ग्रंथि है। तभी तो उस की एक विधा पशुत्व विधा है, जिसे शरीर की विधा कह लीजिये। मानव शरीर की मूल बातें दो हैं-1. जिजिविषा अर्थात् जीवित रहने की लालसा और 2. भोगेषणा अर्थात् अनुकूलता की बुभुक्षा। नीतिकारों ने कहा है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्तियां मानव और पशु में समान रूप से है। पशु से मानव की विशेषता है तो मात्र धर्म या कर्त्तव्यपालन की (**आहार निद्रामय मैथुन च,**

सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां। धर्मो ही तेषामधिकोविशेषो, धर्मेणहीना: पशुभि: समाना:।) मानव और पशु में आहार, निद्रा, भय और मैथुन यह कि इन प्रवृत्तियों के बारे में पशु तो प्रकृति द्वारा नियंत्रित होते हैं, जिसके कारण नियमित भी होते हैं। किन्तु मानव चूंकि बुद्धि व विवेक से संपन्न होता है। अत: इन प्रवृत्तियों में स्वतंत्र होता है। पशु भोग में नियंत्रित और परतंत्र, परन्तु मानव अनियंत्रित एवं स्वतंत्र, जिसकी स्वतंत्रता स्वच्छन्दता में भी बदलती रहती है। यही मानव की अस्थिरता है और इससे ही सदाचार तथा अनाचार अथवा असदाचार का प्रश्न सदैव सामने खड़ा रहता है। अनाचार ही मानव को पशु बनाता है। सदाचार मानव का स्वरूप देता है तो गरुड़ के पंख देकर देवत्व की महिमा में ढालता है। इसी कारण सदाचार की महत्ता मानी गई है।

तीसरी झलक : आज के एक अति विकसित देश की राजधानी और वहां स्थित एक जन्तु आलय। उसमें रखे हुए हैं, भयानक जंगली जानवरों के पिंजड़ें। ऐसे पशुओं की सैंकड़ों प्रजातियाँ वहां प्रदर्शित की गई है। इन सैंकड़ों पिंजड़ों के केन्द्र में एक दिलचस्प पिंजड़ा भी रखा हुआ है। आप ताज्जुब करेंगे यह जानकर कि उस पिंजड़े में रखा हुआ क्या है? उस पिंजड़े के बाहर बड़े-बड़े हर्फों में लिखा है-'सबसे ज्यादा खतरनाक जानवर'। लोग उस पिंजड़े के सामने जाते हैं और विभ्रमित हो जाते हैं। उस पिंजड़े के भीतर ठीक सामने बहुत बड़े आकार का आईना रखा हुआ कि जो भी दर्शक वहां पहुंचता है, उसका पूरा प्रतिबिम्ब उसमें उतर आता है। इसके सिवाय उस पिंजड़े में कुछ भी नहीं है।

आदमकद आईना और सबसे ज्यादा खतरनाक जानवर-अनेक दर्शक चक्कर खा जाते हैं। समझने वाला समझ जाता है कि इस आईने में जो छवि दिखाई दे रही है यानी कि उसकी अपनी छबि-उसे ही सबसे ज्यादा खतरनाक जानवर मानने का आग्रह है। इसका यह अर्थ हुआ कि आज के सच को आईना दिखाया गया है। आज का आदमी यानी सबसे ज्यादा खतरनाक जानवर। खतरनाक का विशेषण भी समझने लायक है कि सारे क्रूर, भयानक तथा नृशंस जंगली जानवरों में सबसे ज्यादा खतरनाक।

मानव के बदलते, बिगड़ते, बनते रूप-स्वरूप की इन झलकियों की रोशनी में कुछ गहराई से समझने की कोशिश की जा सकती है।

मानव ने ही गढ़े-बिगाड़े और रचे-संवारे हैं मानवीय मूल्य :

यह प्राकृतिक स्वभाव है कि अपनी ही रचना को सामान्य रूप से कोई नष्ट नहीं करता। प्राणवान रचनाओं (सन्तान) की बात तो बहुत ऊंची है, किन्तु कोई एक कलाकृति भी बनाता है तो उसके प्रति उसका कितना रक्षणीय भाव होता है। अपनी कृति अपनत्व के बोध से परिपूरित होती है और उसके लिये सदा सहेजने-संवारने की वृत्ति रहती है। किन्तु इसका अपवाद भी होता है। जहां अपनी रचना के लिये निजता की भावना होती है। वह मानवीय है तथा जहां अपनी ही रचना को बिगाड़ने या नष्ट करने की दुर्भावना पैदा होती है। उसे दानवीय कहना होगा। यह दानव अन्य कोई नही स्वयं मानव ही दानवी वृत्ति अपना कर दानव बन जाता है।

मानव और दानव का भेद समझने लायक है। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नयन काल में स्वयं मानव ने अपनी जीवन प्रणाली को सुघड़ बनाने के लिये वांछित गुणों का निर्धारण किया।

तदनुसार उन गुणों को अपनाते हुए पारस्परिक व्यवहार एवं विनिमय किया जाने लगा जो शिष्ट एवं संभ्रात माना गया। वह व्यवहार अपने अन्दर की स्वस्थ विचारणा एवं भावना के आधार पर निर्मित हुआ था, अत: चाहे वार्तालाप हो या कार्यकलाप, उसमें उस विचारणा व भावना का स्पष्ट प्रभाव स्थिर होने लगा। इस श्रेष्ठ व्यवहार के साथ ही सामाजिक गतिविधियां चलने लगी जिनसे निर्मित हुई सभ्यता और उसकी स्थायी स्थापना से ढली परम्परा तथा प्रखर बनी संस्कृति। समुन्नत बनी सभ्यता और संस्कृति से ही निखरे मूल्य, जिन्हें कहा गया मानवीय मूल्य और ये मानवीय मूल्य बन गये कसौटी मानवता की।

कसौटी आप समझते हैं न? कसौटी पर सोने की परख की जाती है। सोना हमेशा सोना होता है। किन्तु हमेशा उसकी शुद्धता एक-सी नहीं रहती। शुद्ध सोना 99 टंच या 24 कैरेट जैसा परखा जाता है। 99 टंच या 24 कैरेट में जितनी कमी हो, उतना सोना अशुद्ध होता है। कसौटी की तरह ही मानवीय मूल्यों के आधार पर एक मानव की परख की जा सकती है कि उस का विचार, वचन और व्यवहार कितना अशुद्ध है अथवा कितना शुद्ध है। कसौटी पर परख लेने के बाद तैयारी होती है कि उस सोने को निश्चित रासायनिक प्रक्रियाओं से गुजार कर पूर्ण शुद्ध बनाया जाए। अशुद्ध सोना किसी को रास नहीं आता है।

कैसी विडम्बना है कि मनुष्य सोने की अशुद्धता तो पसन्द नहीं करता, लेकिन अपनी निज की शुद्धता-अशुद्धता का उसे भान तक नहीं है-उसे परखने तथा शुद्ध बनाने की तैयारी तो आगे की बात है। यह हकीकत है कि मानवीय मूल्यों को स्वयं मानव ने ही गढ़ा है और उन्हें मानदंड़ के रूप में प्रस्थापित एवं प्रतिष्ठित किया है। जिसको शुद्ध सोना चाहिए, वह कसौटी को कभी नहीं तोड़ेगा। कसौटी वही तोड़ता या वही उसका उपयोग बन्द करता है जो अशुद्ध सोने का काला व्यापार करना चाहता है। यही स्थिति मानवीय मूल्यों की भी है। श्रेष्ठ एवं चरित्रशील मानव सदा मानवीय मूल्यों को अपनाना तथा सक्रिय बनाए रखना चाहता है। वह प्रत्येक संभव उपाय द्वारा और आवश्यकता पड़ जाए तो प्राणपण से उनको बचाने की तत्परता दिखाता है। इसे मानवीय स्वभाव या प्रवृत्ति कहना होगा। किन्तु अपने स्वार्थों में अंधे बनकर कई मानव इन मानवीय मूल्यों की अवहेलना करते हैं या उन्हें नष्ट भ्रष्ट करते हैं तो वे अपनी ही रचना को कलंकित करने वाले कहे जाएंगे। अपनी ही रचना को नष्ट करने वाला स्वभाव या आचरण दानवीय कहा जाएगा। मानव-मानव में ही मानवीय या दानवीय अन्तर की यही पृष्ठभूमि है।

मानवीय मूल्यों को जो गढ़ते हैं, वे मानव कहलाते हैं और अपने गढ़े मूल्यों को ही जो बिगाड़ते हैं, उन्हें दानव कहना होगा। किन्तु एक मानव सदा मानव ही बना रहेगा या एक बार दानव बना मानव सदा दानव ही बना रहेगा-ऐसा नहीं होता, क्योंकि यह एक भावनात्मक मन:स्थिति होती है। ऐसी परिस्थितियां आ जाती है कि दृढ़ता रखते-रखते भी मानव दानवीय प्रवृत्ति से जुड़ जाता है और स्वार्थवश जानबूझ कर भी कोई मानव दानव बन जाता है तो यह अशुद्धता का न्यूनाधिक रूप माना जाएगा। अब जो शुद्धता एवं मानवीय मूल्यात्मक दृष्टि से मानव है और प्रखर मानव हैं, उन्हें कसौटी अपने हाथ में लेनी होती है और दानव बनती मानवता की परख करनी होती है। तब उनके हाथों उस

समय बिगड़ते हुए मानवीय मूल्यों को विविध भावनात्मक एवं आन्दोलनात्मक प्रक्रियाओं के माध्यम से फिर से बनाना-गढ़ना होता है और सबके साथ मिलकर उन्हें संवारना होता है। इस प्रकार मानव ही मानवीय मूल्यों को गढ़ता-बिगाड़ता और रचता-संवारता है।

यह चक्र निरन्तर चलता रहता है तथा यही विश्व की व्यवस्था है। शुद्ध सोना काम में लाया जाता है, मैला होता है, फिर उसे गलाया और तपाया जाता है और पुनः शुद्ध बना दिया जाता है। इस चक्र को वे ही चलाने में समर्थ होते हैं जो मानवीय मूल्यों की मशाल सजगतापूर्वक अपने सशक्त हाथों में थामे रखते हैं।

आज के मानव जीवन को कसौटी पर चढ़ाने की बेला आ गई है :

आज अधिकांश सन्तों, साधकों तथा विचारकों का ख्याल है कि सोना 99 टंच या 24 कैरेट से नीचे खिसक कर 20-25 टंच या 5-6 कैरेट तक पहुंच गया है यानी कि मानवीय मूल्यों का चिन्ताजनक स्थिति तक क्षरण हुआ है और वह होता जा रहा है। यह क्षरण सर्वत्र एकसा नहीं है, फिर भी कसौटी पर आज के मानव जीवन को चढ़ाये बिना अशुद्धता की निश्चित पहचान नहीं की जा सकती है। कसौटी पर चढ़ाने का मतलब है जांच-परख की बात कि जिसके आधार पर उपाय सोचे जा सके, निर्धारित किये जा सके और अमल में लाये जा सके! ताकि अशुद्धता को समाप्त करके मानव जीवन में अधिकतम शुद्धता लाई जाए। इस दृष्टि से स्वयं सोचना एवं सामान्य जन को समझना होगा कि मानव जीवन आज कैसा बन गया है और उसे कैसा बनाया जाना चाहिये, कैसे बनाया जाना चाहिये।

पहले देखें कि आज का मानव जीवन अधिकांश रूप में कैसा हो गया है? निर्मिति के नजरिये से आत्मा और शरीर दोनों की युति का नाम जीवन है। युति का क्या अर्थ है? केवल युति का जीवन तो मानव ही नहीं, सभी प्राणी भी जीते हैं किन्तु वास्तव में जीने की क्षमता मानव को प्राप्त है और वह यदि जीने की कला में कुशल हो जाय तो उसका जीवन यथार्थ रूप से सार्थक बन जाता है। ऐसी सार्थकता आज के मानव जीवन में मुश्किल से ही दिखाई पड़ती है। यह क्षमता जागृतावस्था की क्षमता होती है और इसका अभाव बताता है निद्रावस्था। मतलब कि मानव जीवन सो रहा है और **जो सोवत है, वह खोवत है।** कुछ करता और पाता वह है जो जागृत होता है-**जो जागत है सो पावत** है। संक्षेप में आज का जीवन मूर्छाग्रस्त है।

जीवन एक यात्रा है और यात्रा में सर्वाधिक महत्त्व गति का होता है कि गति की दिशा व दशा दोनों कैसी है। गति की दिशा और दशा को सुघड़ एवं सुव्यवस्थित करने की कला का नाम ही जीवन की कला है। यह कला जीवन को सोद्देश्य, सक्रिय एवं सार्थक बनाती है। जब कसौटी पर आने वाला टंच खोट बताने वाला हो तब जीवन की कला को अधिक प्रखर, अधिक व्यापक बनाना होता है। आज जीवन को कसौटी पर चढ़ाने की तथा जीवन की कला सिखाने की कठिन बेला आ गई है।

गहराई से सोचें कि आज का मानव जीवन निद्राग्रस्त या मूर्छाग्रस्त क्यों है? मूल कारण यह है कि मानव स्वार्थ केन्द्रित हो गया है, परमार्थ को भूल गया है। स्वार्थों का केन्द्रीकरण भी इतना जटिल कि जिसे बारीकी से समझना कठिन और उस जकड़ को ढीला करना बहुत कठिन। आज दो स्वार्थ मुख्य

हैं-सत्ता का स्वार्थ और सम्पत्ति का स्वार्थ। सत्ता के केन्द्रित स्वरूप का कुछ अंशों में विकेन्द्रीकरण होने के बाद यह तथ्य साफ हो रहा है कि सत्ता की ललक में पतन की कोई सीमा नहीं रहती और न अन्याय व अत्याचार की कोई हद। यह नहीं है कि यह लाईलाज बात है, पर सुदृढ़ चरित्र के बिना सत्ता स्वार्थों पर अंकुश लगा पाना अत्यन्त कठिन होता है। यही बात सम्पत्ति के स्वार्थों के प्रति आसक्ति, लालसा या मूर्छा अपार रूप से बढ़ी हुई है। जिसके पास सत्ता और सम्पत्ति जुटा रहता है। जिसके पास सत्ता और सम्पत्ति नहीं है, उसकी भी लालसा अपार है और प्रयास अथक है। यानी कि तृष्णा वैतरणी नदी बनी हुई है। एक ओर सत्ता और सम्पत्ति की सीमाहीन मूर्छा है तो दूसरी ओर सत्ता और सम्पत्ति से हीन दीन लोग अपने निर्वाह मात्र की ऐसी कशमकश में कसे हुए हैं कि वे बेजान और बेसहारा हैं। इस प्रकार चारों ओर जीवन मूर्छाग्रस्त है। यह परिग्रह की मूर्छा है। स्वयं परिग्रह सत्ता-सम्पत्ति आदि की अपेक्षा इसके प्रति जो मूर्छाभाव है, आसक्ति है वह अधिक विघातक होती है (**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**-महावीर) और इसी मूर्छा से आज का जीवन अपने जीवन तत्त्व को ही भूला बैठा है। चारों ओर मूर्छावस्था की कुंठा फैली हुई है। इस अवस्था में जागृति का अभाव है, वैचारिकता का अभाव है, भावना का अभाव है और कार्य कर्त्तव्य का अभाव है। इन अभावों के बीच कहाँ है जीवन, कहाँ है मन और कहाँ है मानव? मन निद्रागत है, विकास के द्वार बन्द हैं, उन्नति का पथ अवरुद्ध है।

अन्तर से आवाज उठे-खोल मन, दरवाजा खोल :

हमें अपने मन का द्वार-अन्तरंग का दरवाजा खोलना है। दरवाजा अगर बंद हो तो कोई कैसे बाहर से भीतर जावे अथवा बाहर वाला भीतर आवे? द्वार खुले तभी आवागमन संभव है। यह छोटी-सी बात है और छोटा-सा बालक भी इसे समझता है, लेकिन मन के द्वार के विषय में तो गंभीर चिन्तन आवश्यक है। कारण, इस द्वार को खोलने के लिये विशेष उपक्रम करना पड़ता है। मन अदृश्य होता है तो उसका द्वार भी अदृश्य ही रहेगा, अतः मनन से ही द्वार को खोलना होगा। मन का धर्म मनन है और मनन से ही मानव है (**मननात् मनः, मनन् शीलास्वभावात् मानवः**)। अतः मनन से मन का द्वार खुलेगा और उसे सही गतिशीलता मिलेगी। मन को इन काव्य-पंक्तियों के माध्यम से उद्‌बोधन कर रहा हूँ-

अखिल विश्व की हलचल के,
मन, सूत्रधार तुम्हीं हो।
प्रगति या पतन अथवा गति परिवर्तन के
प्राणाधार तुम्हीं हो।
चित्त चंचलता के वाहक-संवाहक
अन्तर्द्वन्दों के, शब्द, रूप, रस,
गंध, स्पर्श के दावेदार तुम्हीं हो।
अद्‌भुत है निर्माण तुम्हारा
नहीं समझ में आया है।

क्षण में तुष्ट, रुष्ट अगले क्षण
कैसा खेल रचाया है।
विधि-विधान से बंधी सृष्टि
वह कौन भला, तुमको बांधे,
कर लेते, मन, मनमानी तुम
अजब तुम्हारी माया है।

सचमुच में मन बड़ा ही कौतुकी है। इस मन के द्वारा हमें गमनागमन को उपयोगी तथा उद्देश्यवान बनाना है। अच्छा भीतर में आवे इसके लिये मन को विराट बनाना होगा, बुरा बाहर निकले इसके लिये मन को लचीला बनाना होगा। तब निर्बाध गमनागमन हो सकेगा। नये को प्रवेश देने के लिये पुराने को बाहर करना होता है और फिर भीतर-बाहर की प्रक्रिया से शुद्धता का वातावरण बनता है। जिस कमरे के कपाट बंद होते हैं, उसमें हवा, रोशनी नहीं जाती तो कूड़ा कचरा जमा हो जाता है, सीलन लग जाती है और मैल की परतें जम जाती है। उसके कपाट खोलने पर वातावरण बदलता है- नयापन आता है, पुरानी गंध मिटती है। यही दशा मन की है मन का दरवाजा खुलने से कुसंस्कारिता और जड़ता बाहर निकलेगी तो सत्संस्कारों तथा चेतना की सुवास भीतर रमेगी। गमनागमन होगा तो मन को गति मिलेगी, मनन की धारा गंभीर बनेगी। मनन और चिन्तन से भावमयता, आत्मालोचना एवं विशुद्ध वैचारिकता का प्रवाह बहता है।

खोल मन, दरवाजा खोल। खोलने के लिये चाबी चाहिये। चाबी, ताला खोलती भी है और उसे बन्द भी करती है। आपके पास ऐसी ही चाबी होनी चाहिए जिससे जब जरूरत हो, मन के दरवाजे को खोल-बन्द कर सकें। इस चाबी का नाम है मानवीय मूल्य, जो मन को नियंत्रण में रखते हैं और मानव को अकरणीय से बचाते हैं। मानवीय मूल्य गुप्त एवं सुप्त मन के दरवाजे बन्द कर देते हैं और जागृत एवं विवेकी मन के दरवाजे खोल देते हैं। इसी प्रकार बद्ध मन बुद्ध बनता है तो अशुद्ध मन शुद्ध होता है।

मानव मन की वर्तमान परिस्थितियां विचित्र हैं, क्योंकि मानव अपने ही मूल्यों का अवमूल्यन कर रहा है और अपने को मानवता से गिरा कर दानवता का मुखौटा ओढ़ रहा है। ऐसी दुर्दशा में दानवी वृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ चारों ओर चिंघाड़ रही है और दानवी रूप धारण किये मानव अपने ही साथी मानवों पर अत्याचार ढ़ा रहे हैं। जिससे व्यक्ति का चरित्र मलिन हो रहा है तो सामाजिक चरित्र कलंकित। दानवता से इसके द्वार ही नहीं खुलते बल्कि दरारें फटती हैं और दीवारें खड़ी हो जाती हैं। चाहे व्यक्ति का सबसे नीचे का स्तर हो तो उसका मन लालची, घमंड़ी, क्रोधी और क्रूर बन जाता है और सामुदायिक रूप से चाहे ग्राम संगठन हो या नगर, राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हों, दानवी प्रवृत्तियाँ उन्हें शोषण, अन्याय, दमन और उत्पीड़न के मंच बना देती हैं।

विश्व तक की वर्तमान व्यवस्था विकृत है मानवीय मूल्यों के क्षरण से :

मानव जब अपनी गुणवत्ता से पतित होता है, तब नीचे से लेकर ऊपर तक की समूची व्यवस्था उस पतन से प्रभावित होती है। कारण, व्यवस्था का मूल तो मानव पर ही टिका होता है। मानव के मन, वचन, कर्म में जितने अंशों में मानवीय मूल्यों का क्षरण होता है। उतने ही अंशों में संबंधित

व्यवस्था में विकारों का समावेश होता है। व्यक्ति की विकृति परिवार पर असर डालती है, वहां समान व्यवहार के स्थान पर भेद बुद्धि से विषमता बढ़ने लगती है। इसी क्रम में गांव, नगर और राष्ट्र तक की व्यवस्था पर विपरीत असर पड़ता है। राष्ट्रों की कटुता अथवा शीत युद्ध जैसी स्थिति का भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की कार्य क्षमता एवं प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दो राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर तो व्यवस्था छिन्न-भिन्न जैसी हो जाती है। व्यक्ति का अवमूल्यन हुआ तो समझिए कि संबंधित सारी व्यवस्था के मूल्यांकन का मापदंड़ नीचे गिरने लगता है। इस प्रकार मानवीय मूल्यों का महत्त्व स्पष्ट है।

परिवार से लेकर विश्व तक की सारी व्यवस्था मानवीय मूल्यों के क्षरण से क्यों विकृत बन जाती है--इसके कारणों को समझना चाहिये। सामूहिक हितों पर चोट पहुंचाकर जब मानव निजी स्वार्थों में लिप्त होता है तथा उन स्वार्थों को निहित कर लेता है तब उसकी कर्त्तव्यबुद्धि नष्ट होने लगती है। जिस पद पर या जिस क्षेत्र में वह कार्य करता है, वह उस पद या क्षेत्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भुला कर अधिकारों पर बल देने लगता है। कर्त्तव्य पालन के अभाव में अधिकारों का अस्तित्व ही कहां बनता है? कर्त्तव्यों का पालन नहीं होता है तो व्यवस्था दोषपूर्ण तथा पक्षपातपूर्ण बनती है। आज किसी भी स्तर की व्यवस्था में ये विकार खुले तौर पर देखे जा सकते हैं।

कर्त्तव्यों की अवहेलना तथा अधिकारों पर ही बल देने का दुष्परिणाम होता है। धीरे-धीरे व्यवस्था का प्रभावहीन होते जाना। इस प्रभावहीनता से क्रियाशीलता प्रभावित होती है तथा समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इससे भी आगे निहित स्वार्थी वर्गों तथा व्यक्तियों द्वारा अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है। जो व्यवस्था को चौपट ही करता जाता है। व्यवस्था के शिथिल होते जाने से स्वार्थियों का अभिमान आसमान छूने लगता है। तब वे अपने सामर्थ्य की सीमा को भुला कर अभिमान के आवेश में कोई भी अकर्म करने से नहीं हिचकिचाते। उन के माथे पर अहंकार का भूत सवार हो जाता है। अहंकार के साथ कितने विकार जुड़ जाते हैं इसका कोई हिसाब नहीं।

वर्तमान परिस्थितियों पर उपरोक्त विश्लेषण को घटाया जाए तो कोई संदेह नहीं रह जाएगा कि परिवार के संगठन से लेकर विकृत/अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की व्यवस्था कितनी विकृत एवं कितनी उत्तरदायित्व विहीन होती जा रही है। इसी की रोशनी में आकलन करना होगा कि आज का मानव अपने स्वभाव से कितना दूर होता जा रहा है और क्यों विभाव की अंधेरी गलियों में भटकता जा रहा है। अराजकता एवं अव्यवस्था की जड़ में है मानवीय मूल्यों का क्षरण, जब मानवता से ऊपर दानवता का वर्चस्व बढ़ेगा तो सुव्यवस्था स्थापित रह ही कैसे सकती है?

आचार हीनता आज के मानव की समस्या है तो उसका समाधान है सदाचार :

निष्कर्ष यह निकलता है कि आज के मानव की सबसे बड़ी समस्या है आचारहीनता। मानवीय गुणों का ह्रास होने की स्थिति में आचार ही तो बिगड़ेगा। गुण या मूल्य वह तत्त्व है जो मन, वचन तथा व्यवहार में रच-बस जाता है। जैसे किसी चोट से काफी खून बह जाए तो उसका शरीर की शक्ति पर कुप्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार गुणशील आचार अर्थात् चरित्रशीलता की हानि से मनोबल तथा

आत्मशक्ति की क्षति होती है। यह क्षति व्यक्ति की जीवनचर्या को दूषित बनाती है तो सारे सामाजिक ढांचे को भी क्षत-विक्षत करती है। अत: व्यक्ति की आचार की समस्या का सच्चा और स्थायी समाधान यही है कि वह सदाचारी बने। सदाचार ही वह आत्म बल है जो कहीं भी किसी से भी पराजित नहीं होता, बल्कि दूसरों को भी पराजित नहीं करता-उनके दिलों को जीत लेता है।

यह बताया जा चुका है कि सदाचार स्थायी, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है। इस दृष्टि से सदाचार का ज्ञान, अनुभव एवं स्वरूप सत्य से ही किया जा सकता है। जैसे सत्य तीनों लोकों में व्याप्त रहता है तथा तीनों काल में शाश्वत (एक जैसा) रहता है। उसी प्रकार सदाचार भी शाश्वत होता है। यह सदाचार मानव मात्र के लिये अनिवार्य है, क्योंकि अन्य प्राणी जगत् तो प्रकृति द्वारा नियंत्रित एवं नियमित रहता है। परन्तु मानव प्रकृति से ऊपर है और उसे अपनी व्यवस्था स्वयं करने की बुद्धि एवं शक्ति प्राप्त है। वह स्व-नियंत्रित होता है तथा सदाचार उसी स्व-नियंत्रित व्यवस्था का ही दूसरा नाम है।

सदाचार तथा असदाचार (अनाचार) का प्रश्न इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। प्राचीन धारणाओं के अनुसार शास्त्र सम्मत आचरण को सदाचार कहा है तथा असम्मत आचरण को असदाचार। ऐसा क्यों कहा गया है? शास्त्र का अर्थ है अन्तर्ज्ञानी की आवाज अन्तर्ज्ञान कैसे होता है- जैन मतानुसार जो चार घनघाती कर्मों को क्षय कर लेता वह अंतर्ज्ञानी (सर्वज्ञ) होता है। मूलत: भावनाओं की उत्कृष्टतम अनुभूति ही अर्न्तज्ञान को प्रस्फुटित एवं प्रकाशित करती है। इस अन्तर्ज्ञान का समग्र विश्व या मानव जाति के लिये यही सन्देश होता है कि मानव जिजिविषा एवं भोगेषणा की पशु वृत्तियों को मर्यादित करें। पशुत्व से ऊपर उठकर मानवता के स्तर तक पहुंचने के लिये मर्यादा एवं सीमा का प्रश्न प्रमुख है। मर्यादाओं की जीवन में समन्वितता का नाम ही सदाचार है।

कहा है कि जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है और जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में। मानव के पिंड में ब्रह्मांड के सभी स्थूल एवं सूक्ष्म स्पन्दनों को ग्रहण करने की क्षमता है किन्तु उस क्षमता का उपयोग तभी संभव बनता है जब मानव देह उसके लिये उतनी संस्कारित, दक्ष एवं प्रशिक्षित हो। इस देह के स्वस्थ उपयोग का प्रशिक्षक है नैतिकतापूर्ण सदाचार। यह मध्य की कड़ी है जिससे मानव बनता है। स्फिंक्स के गुरुत्मान् नर-पशु का रूपक और वह पशुत्व को मर्यादित कर देता है। इस स्तर से मानव एक प्रकार से पशुपति बन जाता है। फिर इस नैतिकता का अतिक्रमण करने के बाद वह नरत्व से नारायणत्व की दिशा में अग्रसर होता है। तब सहज ही में पूर्ण सदाचार की उपलब्धि हो जाती है।

सदाचार की आधारशिला यह है कि मानव के लिये ही सारे विधि-निषेध होते हैं क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। उससे सारा पर्यावरण भी संबंधित होता है। सारे सामाजिक संबंधों की पृष्ठभूमि में होता है कर्म का विज्ञान, जो जीवनान्तर तक चलता है। कर्म सिद्धान्त के आधार पर ही सुख एवं दु:ख की फलश्रुति होती है। 'मॉरैलिटी' व्यावहारिक पहलू है तो 'मेटाफिजिक्स' उसका दार्शनिक छोर। सामाजिक मर्यादाओं (नार्म्स) को बनाये रखने को सामान्यता अर्थात् 'नोर्मल' रहना कहते हैं।

आधुनिक युग में सर्वाधिक दुर्दशा हो रही है मर्यादाओं की और अन्तत: सदाचार की। पाश्चात्य संस्कृति की एक उक्ति है-**वेल्थ इज लोस्ट, नथिंग इज लोस्ट, हेल्थ इज लोस्ट, समथिंग इज**

लोस्ट बट केरेक्टर इज लोस्ट, एवरीथिंग इज लोस्ट (यानी धन गया, कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया परन्तु चरित्र गया तो सब कुछ चला गया), लेकिन यह उक्ति मानो आज एकदम उलट गई है। इस तरह कि चरित्र गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, परन्तु धन चला गया तो सब कुछ चला गया। यह युग धन प्रधान हो गया और मानव की प्रधानता नीचे गिर गई है। अर्थात् जड़ आज चेतन पर शासन कर रहा है। इसका ही कु-प्रभाव सदाचार पर पड़ा है-मर्यादाओं का लोप हो रहा है तो सीमाएं टूट रही है और ऐसा जब होता है तो पशुत्व की ही नहीं बल्कि दानवता की छाया मानवता को घेर लेती है। इस छाया को हटाने के लिये सदाचार की पुनः प्रतिष्ठा अनिवार्य है।

मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हेतु लक्ष्य बनावें आत्मोपलब्धि का :

आत्मोपलब्धि का क्या अर्थ? सीधा-सा अर्थ है अपने आपको पा लेना, परन्तु यह 'पा लेना' बड़ा ही कठिन कार्य है। अपने आपको केवल आप में ही नहीं पाया जा सकता है। आज व्यक्ति और समाज के संबंध अपने आपमें इतने गुंथ गये हैं कि उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। स्वत्व और परत्व में पृथक्ता धर्म और दर्शन को भी मान्य नहीं है। स्वत्व को परत्व में जिस प्रकार और जितनी मात्रा में उतार पाते हैं, उसी रीति से पर को स्व में देख पाते हैं और इतनी ही उपलब्धि तथा समाधान का अनुभव कर पाते हैं। यह शेष के साथ एकता की जो अनुभूति है, वही आत्मोपलब्धि का स्वरूप है। सबको पा जाना अपने को पाना है और अपने को पा लेने में सबको पा लेना है। स्व और पर यानी शेष की अपने भीतर जो प्राप्ति है, वही आत्मोपलब्धि है। कारण, अपने को अपने भीतर पाने के साथ अपने को शेष में भी पाना होता है तभी उसे पाने की पूर्णता हो सकती है। अपने को हम शेष में ही पा सकते हैं, अन्यथा किसी विध पा नहीं सकते। अगर वृत्तियों को संयत नहीं कर पावें तो अहंकार जाग जाता है और अहंकार में जकड़ कर भीतर में बंद हो जाने के बाद आत्मोपलब्धि की स्थिति से डगमगा जाते हैं।

मानव जीवन का लक्ष्य आत्मोपलब्धि का होना चाहिये जो उसमें अन्तःस्थ रहता है। उस अन्तःस्थता की व्याप्ति और विस्तार ही वास्तविक लक्ष्य है। आज का सच यह है कि मेरा पाप या मेरा मैल मेरे तक ही सीमित नहीं रहता। जिस घनिष्ठता से संपूर्ण विश्व अनेक प्रकारों से आपस में जुड़ा है और सामाजिकता का विकास हुआ है, उसको देखते हुए मेरा पाप या मेरा मैल सारे विश्व को मैला करने वाला है। वह केवल मेरा ही मैल नहीं रहता असर के नजरिये से। अतः वह मुझे ही कष्ट नहीं देता, सारे विश्व के कष्ट का कारण बन सकता है। उसे अपना मानकर मैं अपने को शुद्ध भी कर लूं या क्षमा भी कर दूं किन्तु यह क्षमा इस कारण व्यर्थ हो सकती है कि पाप मुझ तक ही सीमित नहीं रहता, वह अपना त्रास चारों और फैलाता है। आज दृष्टि और वैचारिकता उत्तरोत्तर अधिकाधिक सामाजिक बनती जा रही है और तदनुसार अध्यात्म का फैलाव भी जरूरी है। संदर्भ अब निजता से फैलकर परस्परता से सम्बद्ध हो रहा है और दृष्टि को उसी अनुक्रम में अग्रगामी बनाना होगा, नहीं तो दृष्टि व वैचारिकता प्रतिगामी बन जाएगी तथा वह मुक्ति का कारण बनने की बजाय बंधन का कारण हो जायेगी। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपने में अभाव और आकांक्षा का अनुभव करता है और इस अनुभव से मुक्ति आत्मोपलब्धि में ही सिद्ध होती है, कारण उसमें स्व और पर का सुन्दर समन्वय

समाया हुआ रहता है। ऐसी आत्मोपलब्धि को मानव जीवन का लक्ष्य बनाने से स्वहित तथा परहित का विकास भी होगा तथा विस्तार भी। और इस समय तो उन मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा का प्रश्न है, सो उसे भी इस लक्ष्य से सुलझाया जा सकेगा।

मानवीय मूल्यों का निर्माण संभव होगा सत्य की भूमिका पर :

सभी दर्शनों का निर्विवाद मत है कि सत्य भगवान् है (**सच्चं खलु ही भगवं**-महावीर) तथा सत्य के साक्षात्कार को भगवत् स्वरूप का दर्शन कहा गया है। सत्य का साक्षात्कार या पूर्ण दर्शन गहन साधना का प्रतिफल होता है। सत्य की स्थिति को स्वर्ण के दृष्टान्त से समझें। सोना ढलाढ़लाया डलियों, बिस्कुटों या पाटों में नहीं मिलता। उसके कण तो बड़ी-बड़ी चट्टानों में इस तरह बिखरे और चिपके होते हैं कि उसका भाग शतांश से भी कम होना कहा जाता है। अपार परिश्रम तथा रासायनिक प्रक्रियाओं के बाद संचित किए हुए सोने को विक्रय हेतु अलग-अलग आकार दिये जाते हैं। सौ गुने परिश्रम की तुलना में एक गुना सोना प्राप्त होने के कारण ही सोने का मूल्य इतना ज्यादा होता है। यह तो स्थूल बात है, किन्तु इसी को सूक्ष्म रूप में लें तो सत्य का संकलन भी दुरुह सत्य का संकलन करना पड़ता है और उसी से उसका पूर्ण रूप संभव बनता है। सत्य का संकलन करें, आकलन करें, विश्लेषण करें और समीक्षा से तपावें तब जाकर सत्यांश का स्वरूप निखरता है और यह साधना चलती रहती है।

सत्यांशों को समझने तथा विश्लेषित करने की सफल दृष्टि है-अनेकान्तवादी दृष्टि। दर्शन शास्त्र को भगवान् महावीर की यह अनुपम भेंट है। एकान्तवादी दृष्टि रखने से किसी भी वस्तु या तत्त्व का एक पहलू ही दृष्टिगत होगा। दृष्टि को अनेकान्तवादी बनाएंगे तभी उसके सारे पहलू यानी उसका पूरा स्वरूप समझ में आ सकेगा। अंधों और हाथी की कहानी से इस दृष्टि की वास्तविकता साफ होती है। अपनी ही मान्यता का आग्रह न रख कर सभी की भावनाओं को सुनना, समझना तथा उसमें रहे हुए सत्यांश को पकड़ना चाहिए। इन्हीं सत्यांशों के संकलन से पूर्ण सत्य का चित्र उभरता है। अनेकान्तवाद विचार समन्वय का सम्बल है और विचारों के विवादों को सुलझा कर एक दूसरे को समान वैचारिकता से जोड़ता है। यही दृष्टि सत्य की दृष्टि होती है। सत्य की इसी भूमिका पर नये मानव का निर्माण करना होगा तभी मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा प्रभावशाली बन सकेगी।

व्यक्ति की अपार इच्छाओं के नियंत्रण हेतु सामाजिक व्यवस्था भी चाहिए :

हम यह जान चुके हैं कि व्यक्ति की अपार तृष्णा तथा स्वार्थवादिता से ही मानवीय मूल्य आहत होते हैं और कई बार व्यक्ति का यह आवेग इतना जबरदस्त हो जाता है कि राज्य की या अन्य सामूहिक शक्ति के द्वारा भी उसे रोक पाना कठिन हो जाता है। यह भी जाना जा चुका है कि व्यक्ति के कार्यों से पूरा समाज और विश्व प्रभावित होता है तो सामाजिक शक्ति का भी व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। यह सही है कि निष्ठा और संयम के धनी साधक स्वयं ही अपने मन और जीवन पर सम्यक् नियंत्रण कर लेते हैं तथा सारे विश्व के लिये आदर्श प्रस्तुत कर जाते हैं किन्तु ऐसे विरल महामानवों की संख्या का कुल मानव जाति की संख्या के साथ अनुपात नगण्य-सा होता है। अतः

विशाल जनसंख्या की असीमित इच्छाओं पर नियंत्रण के लिये स्वयं के सिवाय अन्यों का असरदार नियंत्रण भी होना चाहिए।

स्व पर स्व के नियंत्रण के लिए अनेक धर्म दर्शनों ने मार्ग सुझाया है और जैन दर्शन ने तो ऐसा अनुपम मार्ग सुझाया है कि स्व के नियंत्रण का प्रभाव पूरे समाज पर पड़े। जैनों की अहिंसक जीवनशैली, अपरिग्रहवादी विचारधारा आदि का ऐसा मार्ग है जिसके अनुसार न सिर्फ धन, सम्पत्ति की ही, बल्कि उपयोग-उपभोग के सभी पदार्थों की भी मर्यादा ग्रहण करनी होती है ताकि एक ओर संग्रह वृत्ति न बढ़ जाए तो दूसरी ओर सभी पदार्थों का समाज में विकेन्द्रित वितरण होता रहे। मूल में सदाचार की यही प्रेरणा है कि प्रत्येक पदार्थ की सीमा निश्चित करो, आचरण की मर्यादाएं बनाओ और पाशविक वृत्तियों से बच कर रहो।

आज के विकसित विज्ञान के युग में सुख सुविधाओं के इतने साधनों और उपकरणों की उपलब्धि हुई है कि इच्छाओं के दौर-दौरे को नियंत्रण में ले पाना स्वयं व्यक्ति के लिये असाध्य जैसा हो गया है। ऐसे में सामाजिक नियंत्रण से ही काम बन सकता है। यह नियंत्रण राज्य शक्ति का भी हो सकता है तो सामूहिक संगठनों का भी! जिससे व्यक्ति की मनमानी नहीं चलेगी और उसे निर्धारित मर्यादाओं के अनुशासन में चलना पड़ेगा। सामाजिकता एवं परस्परता का भी आज ऐसा विकास हो गया है कि व्यक्ति को निश्चित सीमाओं के भीतर भौतिक उन्नति करने के काम में इस शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है। वैसे भी समाज को आज इस रूप में सुगठित करना होगा कि वह सामान्य व्यक्ति के विकास पथ को कांटों-भाटों के बिना समतल भूमि पर सुगम बनावें ताकि व्यक्ति अपने आत्म बल को समेट कर उस पर द्रुत गति से चल सके और अपने साध्य को पा सके।

व्यवस्था की समूची प्रणाली अहिंसा पर आधारित की जाए :

आश्चर्य न करें, ये परमाणु बम और अन्य अतिघातक शस्त्र अहिंसा का पाठ पढ़ा रहे हैं। यह जो अणुशक्ति प्रकट हुई है तो उसकी पहली सार्थकता अणुबम के रूप में पहचानी गई है। यह पहली बार है कि सम्पूर्ण विश्व ने तथा प्रत्येक मानव ने हिंसा की भीषण संहारक शक्ति का परिचय पाया है और जानकारी ली है कि वह हिंसा का कितना बड़ा दारुण उपकरण है। जापान के नगर-हिरोशिमा और नागासाकी पर जब अणुबम गिराये गये थे और उसके कारण जैसा महाविनाश का दृश्य सबके सामने उपस्थित हुआ था, सबकी आंखें खुल गई हैं कि इन अणु अस्त्रों के धारक देश के शासकों के मन की तनिक सी विकृति किस प्रकार सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है। अभी तक इसी कारण किसी भी परमाणु सम्पन्न राष्ट्र ने फिर से अणु-अस्त्र का प्रयोग करने की भूल नहीं की है।

सबको यह अनुभव हो गया है कि हिंसा का भाव किस सीमा तक घातक हो सकता है और इसीलिये अहिंसा का विचार कितना आवश्यक बन गया है। हिंसा की अति ही आज अहिंसा का पाठ पढ़ा रही है। अनेकों धर्मशास्त्र तथा दर्शन साहित्य इतने काल से जिस कठोर सत्य को मानव मन के निकट प्रत्यक्ष नहीं कर पाए। हिंसक कहे जाने वाले इस अणु आयुध के आविष्कार ने वह पाठ मानव के मानस में एक साथ उतार दिया है। यह विचारणीय वस्तु स्थिति है कि इतिहास में से हिंसा

नहीं निकलती है, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के विस्तार के लिये आज जिस प्रकार की पुष्ट आधार भूमि तैयार हुई है। वैसी शायद पहले नहीं हुई हो और यह आधार भूमि प्रेरित करती है कि विश्व की समूची व्यवस्था अहिंसा पर आधारित की जाए तथा यह अहिंसा मात्र व्यवहार की ही बात न हो, अपितु सम्पूर्ण जीवनशैली का रूप धारण कर ले।

आज बाह्य दर्शन की हिंसा जैसे अन्तर्दर्शन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने को ही सामने आई हो। इस घोर हिंसा की स्थिति ने सबके मन मानस में अहिंसा की ललक पैदा कर दी है। हिंसा और अहिंसा के बल के विषय में मनोवैज्ञानिक स्थिति पर भी ध्यान देने की जरूरत है। सोचें कि एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर अत्याचार करता है तो जिस पर अत्याचार किया जाता है वह तो मात्र हिंसा का उपलक्ष्य होता है तथा लक्ष्य तो स्वयं उसका निज होता है। इस मनोविज्ञान के अनुसार वे लोग, जो सत्ता और शस्त्र लेकर उसकी प्रतिष्ठा में लगे हुए हैं, असल में वे कहीं अपने भीतर की शंका से ही लड़ना चाह रहे हों। मूल रूप से आततायी की मन: स्थिति दयनीय होती है, वह आतंक के द्वारा अपने अहं की तुष्टि चाहता है। अच्छाई और सच्चाई के लिये भी जिन्होंने हिंसक बल का प्रयोग किया, उनमें कहीं आत्म-बल की न्यूनता अवश्य रही होगी। सत्य के साथ बल के रूप में अहिंसा का ही मेल हो सकता है। साम्यवादी शासन का प्रयोग एक अच्छे उद्देश्य के लिये हुआ था किन्तु हिंसा को आधार बना लेने के कारण अन्ततोगत्वा वह विफल हुआ।

वस्तुत: अहिंसा का बल ही सच्चा बल है-अब इस दिशा में पूरे विश्व की दृष्टि घूम गई है। यह दूसरी बात है कि अहिंसा के विचार को कार्यान्वित करने में कुछ समय लगे, किन्तु आज हिंसा की कोई भी देश वकालत नहीं करता है। अहिंसा के पक्ष में बन रहे इस विश्वजनीन वातावरण का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाना चाहिये। अहिंसा के निष्ठावान अनुयायियों द्वारा इस आन्दोलन को अग्रता प्रदान करते हुए कि अहिंसा को सभी संगठन और धीरे-धीरे सभी राष्ट्र अपनी नीति बना लें ताकि निचले स्तरों पर तो हिंसा का चलन पूरी तरह बंद हो सके।

अन्तर्बाह्य जीवन के सृजन से विकास का चक्र नित चलता रहे :

दो प्रकार की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया करता है-एक अन्तर्मुखी तो दूसरी बहिर्मुखी। ये दोनों साधन रूप होती है जिसका साध्य है एकता या एकरूपता। जो अन्दर से एक बनता है, बाहर से साथ भी उसका सामंजस्य बढ़ता है अथवा जो बाहर के प्रति अपना संबंध सही बनाता है, वह भीतर में भी शान्त और तृप्त रहता है। आशय यह कि अन्तर्बाह्य जीवन की एकरूपता किसी घिरे वृत्त में या बंद वातावरण में सिद्ध नहीं हो सकती है, कारण वह व्यवहार से निरपेक्ष नहीं रह सकती है। व्यवहार सदा परस्पर के संबंधों के आधार पर बनता है और व्यक्तित्व की आन्तरिक एकता इन संबंध सूत्रों के माध्यम से बाहर प्रभाव एवं सद्भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती है। व्यक्ति जो विराट बनता है उस विराटता की प्रक्रिया यही है। कोई अपने ही में बड़ा हो-इसका कोई अर्थ नहीं। ऐसा मनमाना बड़प्पन अन्तर्बाह्य एकता का परिचय नहीं देता, बल्कि अहं

का भाव प्रदर्शित करता है। अतः बाहर और भीतर के जीवन में सच्ची एकता साधी जानी चाहिए।

वर्तमान समय में अक्सर कहा जाता है कि लोग अपने चेहरों पर कई-कई मुखौटे ओढ़े रहते हैं। जिसका मतलब यही होता है कि उनके चरित्र में यानी बाहर-भीतर की जिन्दगी में एकरूपता नहीं है। जो वह सोचता है, बोलता उससे कुछ अलग है और जो बोलता है, काम उसके दूसरे ही होते हैं। मन से, वचन से और कर्म से जो अलग-अलग हो, वह दुर्जन है। सज्जन का स्वभाव निश्छल और सरल होता है-मन, वचन, एवं कर्म से एक। सज्जन चरित्रशील होता है। यों मुखौटे यानी कि दोगलापन दुर्जनता की निशानियां हैं। जीवन का सम्यक् विकास तभी संभव और सफल बनता है जब अपनी अन्तर्मुखिता तथा बहिर्मुखिता में एकरूपता पैदा हो, एकरूपता बनी रहे तथा वह एकरूपता इतनी स्पष्ट हो कि वह सब पर अपना सुप्रभाव डाल सके। यह एकरूपता सभी उन्नतिकामियों के लिये साध्य रूप है।

मौलिक रूप से यही प्रश्न सर्वत्र उभरता है कि चरित्र का निर्माण एवं चरित्र की सुरक्षा की दिशा में सदैव सजगता बनी रहनी चाहिये। मन, वचन, कर्म की एकता के बिना न व्यक्तित्व का गठन होता है और न ही गतिशीलता पैदा होती है। यह एकता चरित्र के निर्माण से साधी जा सकती है। चाहे व्यक्ति का निजी जीवन हो अथवा उसका सामाजिक जीवन-उसकी गतिविधियों से छल का दोष निकले तभी सरलता का प्रवेश हो सकेगा। छल ही भांति-भांति के मुखौटे घड़ता है और उन मुखौटों से सच की हत्या करवाता है। इसीलिये निश्छल जीवन की महता है और शिशु की निश्छलता सराहना पाती है। चरित्र संपन्नता के साथ ही सरल एवं निश्चल जीवन का आरंभ होता है और व्यक्तित्व विराटता की दिशा में गति करता है। अन्तर्बाह्य एकता ही जीवन विकास की मूल है।

एकता के आधार पर किये गये सृजन से ही जीवन का सच्चा विकास होता है, क्योंकि चरित्रशीलता के सम्बल के साथ साधा जाने वाला विकास उच्चस्थ शिखर तक पहुंचता है तो संपूर्ण मानव जीवन को वैसे विकास के लिये प्रेरित भी करता है। भाव प्रवाह में जैसे ये काव्य पंक्तियां सर्जित होती चली गई (मानव को सम्बोधित करते हुए)-

सृजन कर ऐसे सुमन, जिनकी नई सुवास हो
दुर्गंधमय संसार में जिनकी जरूरत खास हो
सृजन कर ऐसे वचन, जो सृष्टि को स्वीकार हो
नित रोशनी देते रहें जो सृष्टि के श्रृंगार हो
सृजन कर निष्काम पूजा, जिसमें न इच्छा, काम हो
निष्काम होकर भी जो पूरे, और कामना तमाम हो
सृजन कर ऐसी शिक्षा, विश्वतम को हर सके
कलम्ष सारे दूर कर जो ज्योति नई भर सके
सृजन कर तू छांद ऐसे, प्रेरणाएं जो भर सके
संगीत से जो शून्य हैं, उन्हें संगीतमय कर सके
सृजन कर ऐसी गति, जिसका न विराम हो

चलते चलो चलते चलो, चलना ही जीवन धाम है
सृजन से विकास का यह चक्र नित चलता रहे
दूर कर कठिनाइयाँ, उत्साहित भरता रहे।

सृजन और विकास का ऐसा चक्र प्रत्येक मानव के जीवन में चले, समाज के जीवन में चले ताकि द्वन्दों और विवादों से मन दूर हट जाए। जब किसी रचनात्मक कार्य में कोई प्रवृत्त होता है तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि उसका मन उस में तल्लीन हो जाए। ऐसी तल्लीनता में व्यर्थ विवाद को अवकाश ही कहां रह जाता है? धर्म के क्षेत्र में भी जब सृजन का क्रम चलता है तो ज्ञान-ध्यान की प्रवृत्ति चलती है और चरित्र निर्माण की दृष्टि से आचरण की प्राभाविकता बढ़ती है। जीवनी शक्तियों का सृजन ही सबसे बड़ा रचनात्मक कार्य होता है। इस में तल्लीन रहने के बाद स्वभाव सरल होता है, व्यवहार मधुर बनता है तथा सौहार्द्र एवं सहयोग की धारा व्यक्ति से लेकर सकल समाज में प्रवाहित होने लगती है। वचन, शिक्षा, संगीत, गति और विकास में जब सृजन का क्रम पल्लवित हो जाता है। तो फिर विकास का क्रम भी निराबाध तथा निरन्तर बन जाता है। विकास की निरन्तरता में चरित्र शक्ति की सुदृढ़ता बनी रहती है, निष्काम भावना पुष्पित होती है तथा मन, वचन एवं कर्म की एकरूपता का उच्चतम लक्ष्य प्रतिफलित होता है। अनवरत प्रयत्न हो कि सृजन एवं विकास चक्र नित चलता है।

◆◆◆



चरण चमत्कार से हो सकता है कैसा भी जीवन महिमा-मंडित



साध्य-साधन और साधक के परिप्रेक्ष्य में चरित्र निर्माण

परमात्मा के चरणों में आस्था का प्रगाढ़ भाव हो, आत्मा के चरणों में उन्नति के उत्साह का प्रभाव हो तो मंजिल कितनी ही दूभर क्यों न हो, चरण गति न रुकेगी, न थकेगी, न झुकेगी बल्कि ऐसी सुस्थिर, सुघड़ एवं सुगम हो जाएगी कि मंजिल मिल कर ही रहेगी....

यों विचार तरंगें मन मानव में उद्वेलित होने लगी और प्रवाह चलता रहा....

मन की चंचलताओं से परेशान हूँ। यह मन चंचल, आतुर एवं दुर्जय है जो मुझे खींच कर ले जाता है। वासनाओं के दलदल में यह कभी स्वादों के रस में पलता है, कभी आंखों से सुन्दर वस्तुओं दृश्य, पदार्थों को देखने में मगन होता है। वह हाथों से सुकोमल पदार्थों का स्पर्श करना चाहता है। उसकी हर चाह में कभी क्या तो कभी क्या? वह न जाने क्या-क्या चाहता रहता है? उसके चक्कर में लगता है कि मैं राह भूल चुका हूँ और मन की मंजिल को ही अपनी मंजिल मान चुका हूँ... और इस बेखबर राह में कितने मन अटके हुए हैं, भटक रहे हैं इसे ही अपना ध्येय मान कर... सोचता और अनुभव करता हूँ कि व्यक्तियों के मन इसी तरह बेखबर राह पर गुमराह हो रहे हैं और

चरण चमत्कार से हो सकता है कैसा भी जीवन महिमा-मंडित

7

वह भी न जाने कितने दीर्घकाल से। क्या यह मन कभी ठिकाने पर आएगा, आज्ञा में चलेगा और सही राह में आगे बढ़ेगा? कभी वर्तमान में इन्द्रिय जन्य, आस्वादों, प्रमादों और विवादों में ग्रस्त बना रहता है तो कभी-कभी इनसे विमुख भी हो जाता है, अतीत की कल्पनाओं में रम जाता है और भविष्य की योजनाओं में निमग्न हो जाता है।

....सागर की तरंगों की तरह विचारों की तरंगें भी कभी समाप्त नहीं होती...एक के बाद एक तरंगें उठती जा रही है, पूर्व संस्कारों की चट्टानों से टकरा रही है, कभी विलीन हो रही है तो कभी मन को पीछे धकेल रही है....कभी आशा की झलक तो जैसे कभी अन्तहीन निराशा का अंधकार...चिन्ताओं, कल्पनाओं की तरंगों पर तरंगें-क्या होगा, कुछ समझ में नहीं आता। तनावों की जकड़, चिन्ताओं की पकड़ और मन की उल्टी सीधी कुलांचे, जैसे थकान बढ़ती जा रही है, दिशाहीनता का अनुभव होता है और परमात्मा को पुकारता हूँ प्रभो! बचाओ मुझे, संभालो मुझे, मेरा सहारा बनो, मुझे यह दिखाओ.... मैं इस मनमाने मन की दासता से मुक्त होना चाहता हूँ, बल्कि इस मन का मैं सच्चा स्वामी होना चाहता हूँ कि मैं अपने मन को अपने अनुशासन में रखूँ, अपनी आज्ञा में चलाऊँ। तब मेरे ये चरण चलेंगे, तीव्र गति से चलेंगे, सही राह पर चलेंगे और मंजिल तक पहुंच कर ही चैन लेंगे। चरणों की इस गति का सम्बल मेरा मन होगा और मन की लगाम मेरे सुदृढ़ हाथों में होगी, फिर भला राह से मैं क्यों कर भटक सकूँगा?

.... और इस चिन्तन के साथ ही जैसे नई स्फूर्ति मेरे मन मानस में छाने लगी, गति में नई शक्ति महसूस होने लगी और चेहरे पर नई आभा झलक आई। मैं जहां गुमराह हो रहा था, वहां राह ही कहां थी? अब तो जैसे प्रकाश फैलता जा रहा है और मुझे राह नजर आने लगी है, मेरे चरण तेजी से चलने लगे हैं। परमात्मा के चरणों में पहुंच जाने को उत्सुक हं। मेरा मस्तक प्रार्थना में झुक गया है....मेरी राह में उजाला भर दो स्वामी, मेरे संजीदा मन का बल लेकर चरण चलते रहें, चलते रहें, अथक चलते रहें.....अविराम चलते रहें जब तक कि मंजिल न पा जाऊं।

चरण चमत्कार से जीवन की समुन्नति सुगम हो जाए, भावनाओं की उत्कृष्ट परिणति अनुपम बन जाए और जागृत हो जाए। एक-एक पल, गति अक्लान्त, अविरल, मन, वचन, कर्म बने शुद्ध-धवल, चहुं ओर समग्र दृश्य-स्पर्श्य हो जाए उज्जवल....और अब मन मानने लगा है कि-सब कुछ होगा अवश्यमेव सफल।

चरण बल प्राप्त होता है एक लम्बे अभ्यास एवं आयाम के पश्चात् :

वर्ण व्यवस्था ने भले ही क्षुद्रों की उपमा चरणों से दी हो, किन्तु चरण केवल सेवक ही नहीं होते, वे सेव्य भी होते हैं। क्या भगवत् चरण सेव्य नहीं होते? इससे यह रहस्य भी स्पष्ट होता है कि चरण की महिमा सर्वोपरि होती है-सेवक एवं सेव्य दोनों रूपों में। साथ ही यह सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित होता है कि जीवन की गति चरण से चरण तक ही सम्पन्नता पाती है। सेवक से सेव्य बनने की गति, नर से नारायण बनने की अनुभूति अथवा आत्मा से परमात्मा में रूपान्तरित होने की प्रतीति। यों पूरा शरीर चरणों के बल पर ही टिका रहता है और चरण गति ही जीवन की प्रगति बनती है। परन्तु चरणों का

यह सम्बल सरलता से प्राप्त नहीं हो जाता है। इसके लिये दीर्घकालीन अभ्यास एवं आयाम की आवश्यकता होती है।

सोचिये कि एक शिशु मां की कोख से बाहर आता है, उस समय उसके चरण अवश्य होते हैं किन्तु वे गति-शक्ति से सम्पन्न नहीं होते। उसके चरण निष्क्रिय भी नहीं होते-सोते-सोते भी शिशु उन्हें हवा में उछाला करता है जैसे कि वह अपनी आकांक्षा प्रकट कर रहा हो कि इन चरणों को गतिशील बनाना है। जब वह कुछ बड़ा होता है तो घुटनों के बल सरकता है, धीरे-धीरे कुछ दूरी पार करता है। उस छोटी, लेकिन महत्त्वपूर्ण गति से उत्साहित होता है। घुटनों के बल फिर वह बार-बार और तेजी से चलना शुरु करता है। उसका अभ्यास चलता रहता है। दूसरे दौर में वह कुछ भी पकड़ कर खड़ा होने की कोशिश करता है और किसी आत्मीय की अंगुली जब उसके सामने आती है तो उसे वह पकड़ कर अपने पांवों से चलने की कोशिश करता है। इस दौर में वह स्वतंत्र रूप से भी उठता है, खड़ा होता है, चलने की कोशिश करता है, लड़खड़ाता है, गिर पड़ता है और फिर से उठ कर उत्साहपूर्वक उसी क्रम को दोहराता रहता है। शिशु की इस लीला में ध्यान में लेने लायक तथ्य यह दिखाई देता है कि बार-बार गिर कर भी उसके अभ्यास में शिथिलता नहीं आती, बल्कि उसका उत्साह बढ़ता रहता है और उसके उस अभ्यास की पुष्टि होती रहती है। सच तो यह है कि शिशु काल में जो अमित उत्साह दिखाई देता है, यदि उसकी स्फूर्ति वैसी ही जीवनपर्यन्त बनी रहे तो कोई शक्ति नहीं, जो उसके सम्पूर्ण विकास को प्रतिबाधित कर सके।

फिर जल्दी ही वह समय भी आता है, जब उसके चरण धरती पर जम कर आगे से आगे बढ़ने लगते हैं। शिशु से किशोर और किशोर से युवा होने पर उन चरणों में एक अद्‌भुत शक्ति का प्रवेश भी होता है, जो उसे धरती पर ही जम कर नहीं चलाती, बल्कि उसे सफलता पूर्वक हवा में दौड़ाती रहती है। यदि वे चरण चरित्र के बल से पुष्ट होते हैं तो उनके चलने से धरती धूजती है, पहाड़ हिलते हैं और आसमान में राह बन जाती है। चरण वे ही सच्चे अर्थ में हितकारी मर्यादाओं में ढलते हैं तथा लोकहित में अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने के लिये मचलते हैं। ये शरीर के चरण ही चरित्र के रूप में आत्मा के चरण बन जाते हैं-सेवक से सेव्य हो जाते हैं। चरण बल चरित्र बल बन कर सम्पूर्ण विश्व का रक्षक एवं संरक्षक बन जाता है, परन्तु इसके लिये अपेक्षित है कठिन अभ्यास एवं सोत्साह आयाम।

चरण विधि, संस्कार की भूमिका एवं चरित्र गठन से व्यक्तित्व का निर्माण :

चरण चलने के प्रतीक भी होते हैं तो सम्बल भी। चलना विधिपूर्वक होना चाहिए तभी गति से प्रगति की ओर अग्रसर है, अन्यथा इस चलने का क्रम अविधिपूर्वक बन गया तो समझिए कि गति तो विगति बनेगी ही किन्तु वह पतन के ऐसे गहरे गर्त में गिरा देगी, जहां से उठ पाना और निकल पाना असाध्य नहीं तो दुस्साध्य तो अवश्य ही होगा। यह जो चलने की बात की जा रही है, वह सिर्फ बाहर के चलने की ही बात नहीं है बल्कि उससे भी कई गुनी अधिक भीतर में चलने की बात है। ये जो चरण बाहर के चलने की नजर से पांव, पग या पाद कहलाते हैं, वे ही चरण अन्तर्गति को लेकर चरित्र का रूप धर लेते हैं। चरण और चरित्र दोनों शब्द 'चर' धातु से बनते हैं। जिसका अर्थ है

चलना। यह चलना बहिर्जगत् में भी होता है तथा अन्तर्जगत् में भी होता है किन्तु दोनों जगत् एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। भीतर का चलना बाहर की चाल में प्रकट हुए बिना नहीं रहता और बाहर की सुघड़ चाल भीतर के चलने को स्वस्थ बनाती है। चरण और चरित्र परस्पर गुंथे हुए क्रियाकलाप होते हैं तथा इनको विधि में ढालना चाहिये। विधि में ढले हुए चरण और चरित्र जीवन को विगति की ओर कदापि नहीं जाने देंगे।

चरण विधि को बारीकी से समझने के लिये जीवन के एक गंभीर संकट को भी बारीकी से समझ लेना चाहिये। जीवन में कई बार जो गंभीर संकट हमारे अनुभव में आते हैं, वे मूलत: बाहरी आघातों के कम अपितु वे अधिकांशत: हमारे ही घोर अन्तर्विग्रह से उठे हुए होते हैं। यह हम जान चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के मन-मानस में प्रतिक्षण देवासुर संग्राम चलता रहता है-कभी दानव हावी होता है तो कभी देवत्व की दिव्यात्मा की झलक भी दिखाई देती है। ऐसा ही मानवता का ऊंचा-नीचा बहाव चलता रहता है। हर घड़ी छिड़े इस देवासुर संग्राम के कारण विषमता एवं व्यग्रता का अनुभव होता रहता है। इस युद्ध स्थिति के तत्कालीन परिणाम भी व्यक्ति के विचार एवं आचार में अभिव्यक्त होते रहते हैं। इस दशा में चरण गति तभी स्थिरता पकड़ती है जब वह चरण विधि से संस्कारित हो।

ये संस्कार क्या हैं? संस्कारों का चरण विधि में क्या महत्त्व है तथा चरित्र गठन में संस्कारों की क्या भूमिका होती है? इन प्रश्नों के उत्तर देने से पहले इस पर विचार करना चाहिए कि संस्कारों के स्रोत कहां-कहां हो सकते हैं? प्राणी जब जन्म लेता है, जिनकी जड़ें गहरी होती है। माता-पिता के गुण उनकी सन्तति में आते हैं-यहां तक कि शक्ल-सूरत तक पर माता-पिता की छाप होती है। उसी तरह उसके माता-पिता भी आनुवांशिक प्रभावों से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार आज जन्म लेने वाला प्राणी आनुवांशिक श्रृंखला के माध्यम से पूरे समाज, उसके इतिहास तथा भाग्य के साथ जुड़ा हुआ होता है।

यदि ऐसा न होता तो जैविक विज्ञान, नृतत्व शास्त्र आदि का अस्तित्व ही नहीं होता। फिर पूर्वजन्म के संस्कार भी आत्मा के साथ जुड़े होते हैं और उनका प्रभाव भी इस जन्म में दिखाई देता है। अत: चेतना का आरंभ जन्म पाने वाले जीव से मानना वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं है। आरंभ जन्म से व्यक्तिमत्ता का है, गुणवत्ता का नहीं, क्योंकि संस्कारों में इन सभी स्रोतों में मिले हुए गुण व्यक्ति के इस जीवन में स्पष्टत: प्रभावपूर्ण होते हैं। ये सभी गुण संस्कार रूप ही होते हैं तथा निरन्तर संशोधित होते रहने के कारण ही इन गुणों को संस्कार का नाम दिया गया है।

व्यक्तिगत रूप से हो अथवा सामूहिक रूप से-संस्कार काल एवं व्यवहार के प्रवाह में निरन्तर नवीनता पाते रहते हैं, किन्तु इस नवीनता के संबंध में ऐसे प्रयासों की आवश्यकता होती है कि यह नवीनता व्यक्ति एवं समूह के हित में हो-ऐसी न हो कि वह किसी भी रूप में किसी का अहित करे। हित वृत्ति वाले संस्कार सुसंस्कार तथा अहित वृत्ति वाले संस्कार कुसंस्कार कहलाते हैं। चरित्र का गठन हो और उसके आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण-इसमें संस्कारों तथा उनके सु तथा कु रूपों की महती भूमिका होती है। संस्कार वह आधारभूमि है जिस पर खड़ा होकर प्राणी अपने जीवन का निर्माण करता है। आधारभूमि जितनी पुष्ट होगी, चरित्र उतना ही सुगठित होगा एवं व्यक्तित्व भी उतना ही प्रभावपूर्ण बनेगा। इसी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में संस्कार शुद्धि के अनेक स्तरों पर विविध

प्रयास किये जाते हैं। संस्कार शुद्धि के आधार पर ही विकासशील व्यक्तित्व सामने आते हैं तो सुचारु सभ्यता एवं प्रेरक संस्कृति का प्रसार होता है।

आज नये मानव का सृजन अपेक्षित है जो होगा चरित्र के निर्माण से :

वर्तमान में मानव का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि से जो रूप-स्वरूप बना है, वह मानवता के स्तर पर वांछनीय नहीं है। काल प्रवाह में आज के मानव के मन मानस पर धर्म दर्शन एवं अन्य प्रगतिशील विचारधाराओं के श्रेष्ठ सिद्धान्तों की क्रिया कम तथा प्रतिक्रिया अधिक दिखाई दे रही है। वह स्वभाव में रमण करने की अपेक्षा विभाव के अंधकार में अधिक भटक रहा है। उन मानवीय मूल्यों का उसके जीवन में अधिक प्रभाव नहीं बचा है जो उसे मानव का सच्चा स्वरूप प्रदान कर सके। आशय यह कि आज नये मानव का सृजन अपेक्षित है। नये मानव के सृजन का अर्थ यही कि नये मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो तथा व्यक्ति एवं समाज की शक्तियाँ संयुक्त होकर उनके कार्यान्वयन को सफल बनावें।

नये मानव का सृजन-यह कोई सामान्य कार्य नहीं है। इसके लिये भगीरथ प्रयत्न की अपेक्षा रहेगी। इस प्रयत्न की दिशा होगी चरित्रनिर्माण की दिशा। व्यक्ति का निजी एवं सामाजिक चरित्र इस तरह गढ़ा जाये कि उसके सुसंस्कार प्रतिफलित हों तथा वह अपने नये मानवीय स्वरूप के साथ समाज एवं विश्व को नये धरातल पर प्रस्थापित करे। यों यह कार्य उतना कठिन नहीं, जितना कि करने के पहले प्रतीत होता है। मानवीय प्रयत्न के साथ प्रकृति का पूरा सहयोग इसमें प्राप्त होता है। प्राकृतिक नियम यह है कि मानव जीवन सदा के लिये सुषुप्त अथवा निष्क्रिय कदापि नहीं रहता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व में भी उत्थान-पतन की एक साईकिल चलती है यानी कि समय बदलता रहता है। कल, आज और कल अर्थात् तीनों काल परिवर्तन की सूचना करते ही हैं। पतन के बाद उत्थान का क्रम होता है और आज के मानव की पतनावस्था के बाद उसके उत्थान की दिशा में प्रयाण अवश्यंभावी है। इस अवश्यंभावी को हम अपने प्रयत्नों से समीप से समीपतर ला सकते हैं तथा ऐसा करने का कम से कम प्रबुद्ध जनों का परम कर्त्तव्य है।

इस परम कर्त्तव्य का निर्वाह किया जा सकता है चरित्रनिर्माण का एक सतत एवं सक्रिय अभियान चला कर और उसे व्यापक स्तर पर फैला कर। चरित्रनिर्माण ही वह कुंजी है जिससे विकास के सभी लक्ष्यों की दिशा में गतिशीलता उत्पन्न होती है, अग्रसर बनती है। चरित्रवान सदस्यों का कोई भी संगठन उन्नति के शिखर तक अवश्यमेव पहुंचेगा। कारण, चरित्रशीलता व्यक्ति को उदार, सदृश्य, सहयोगी एवं सदाचारी बनाती है। जहां चरित्रशीलता है, वहां ऐसी कोई सम्पदा नहीं जो उसके चरणों में समर्पित न हो।

धर्म के क्षेत्र में तो चरित्रशीलता का मौलिक एवं मुख्य रूप से महत्त्व है। चरित्रनिर्माण की सुदृढ़ भूमिका पर ही धर्म की सच्ची आराधना संभव बनती है। चारित्रिक निष्ठा से जिस ऊर्जा का प्रस्फुटन होता है, वही व्यक्ति को धर्म एवं समाज के उत्थान हेतु क्रियाशील बनाती है। एक उक्ति है-**धर्मो रक्षति रक्षितः**। धर्म रक्षा करता है, किन्तु कब? यह तभी संभव है, जब पहले धर्म अर्थात् धर्म भावना

को सुरक्षित बनाई जाए और धर्म की सुरक्षा की गारंटी होता है चरित्र। चरित्र रक्षित है तो धर्म रक्षित है और धर्म रक्षित है तो वह सब प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ है। धर्म को धारण करने से कल्याण होता है, मगर धर्म का मात्र कथन ही किया जाता रहे तो वह कल्याण का कारण नहीं बन सकता है। धर्म को धारण करने का अर्थ है उसे जीवन के आचरण में उतारना। यह आचरण की विधि है उसी का नाम चरण विधि है। चरण अर्थात् आचरण और आचरण से चरण गतिशील होते हैं तथा उच्चतम विकास साध कर वे चरण ही भगवत् चरण में रूपायित हो जाते हैं-सेवा से सेव्य के लक्ष्य तक।

धर्म ताना है तो चरित्र बाना और इसी ताने-बाने से बना वस्त्र ही सार्थक जीवन का श्रृंगार बनता है। धर्म जीवन में नहीं है तो इसका साफ मतलब है कि जीवन में चरित्र नहीं है। एक चरित्रहीन कभी-भी धार्मिक पुरुष नहीं हो सकता है। धर्म या कर्त्तव्य तथा चरित्र की एकजुटता आवश्यक है।

चरित्र सम्पन्नता के पथ पर पुरुषार्थ चतुष्टय का योगदान :

पौरुष से पुरुष शब्द बना है। पौरुष का अर्थ होता है पराक्रम या साहस। किसी भी प्रयोजन को प्राप्त करने अथवा साध्य को सिद्ध करने के लिये पराक्रम या साहस की आवश्यकता होती है कि प्रयोजन या साध्य को प्राप्त करने तक किसी प्रकार की विचलितता अथवा शिथिलता नहीं व्यापे। ऐसे पौरुष का धनी ही सच्चे अर्थ में पुरुष कहलाता है। पुरुष से ही पुरुषार्थ शब्द की उत्पत्ति है। जो पुरुष के लिये हो, उसके पौरुष के प्रयोग के लिए हो अथवा जीवन की सफलता के लिये हो, वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का दूसरा नाम श्रम भी है-पुरुष हो, अत: पुरुषार्थ करो।

भारतीय संस्कृति में यह पुरुषार्थ चार प्रकार का बताया गया है। चार के क्रम में पहला है धर्म का पुरुषार्थ और अन्तिम है मोक्ष का पुरुषार्थ। बीच में रखे गये हैं अर्थ और काम के पुरुषार्थ। इन चारों पुरुषार्थों का मर्म समझें और यह जाने कि व्यक्ति की चरित्र संपन्नता में इन पुरुषार्थों का क्या योगदान है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किस प्रकार व्यक्ति के तथा सामुदायिक जीवन में चरित्र का निर्माण करके जीवन को समस्त विकारों से मुक्ति दिलाते हैं? जीवन का यही तो लक्ष्य है कि वह सभी प्रकार के विकारों तथा बंधनों से छुटकारा प्राप्त कर ले और समग्र समाज व संसार का धरातल ऐसा समतल बन जाय कि फिर कभी विकारों की आंधियां न चल सके और बंधनों की बेड़ियां पांवों में न पड़े। सबको ऐसा मोक्ष मिले और जो आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष का स्वरूप वर्णित किया गया है, इस मोक्ष से उस मोक्ष की ओर भी गति सहज बने।

धर्म किसे कहें? शास्त्रीय व्याख्याओं से कुछ अलग हट कर सरलार्थ में कहें तो धर्म कुछ ऐसा होना चाहिये जहां से हमारे हृदय को एवं हमारी भावनाओं को पोषण मिले। धर्म आज भले ही संगठित मतवाद और पूंजीवाद का नाम बन गया हो किन्तु हृदय को प्रभावित करने वाला धर्म सदा उपयोगी रहा है और रहेगा। सामान्य रूप से व्यक्ति या पदार्थ के साथ समझ का मेल बिठा कर व्यवहार चला लिया जाता है, किन्तु भीतर में एक भावनात्मक भूख बनी रहती है जो बाहर के व्यवहार से भिन्न होती है। धर्म इसी तल की अभिव्यक्ति है। यह निश्चित मानिए कि वर्तमान भौतिक उन्नति से जब आज का व्यक्ति और समाज अघा जायेगा तब वह ऐसे धर्म की संभावनाओं

की ओर ही मुड़ेगा। जब भावनाओं के सिर पर कोरा विचार बैठ जाता है तब संस्कारिता क्षरित होती है, सभ्यता खोखली हो जाती है तथा संस्कृति के तत्त्व भी नष्ट-भ्रष्ट होने लगते हैं, क्योंकि इन सबका आधार चरित्र पतित हो जाता है। चरित्र का पतन ही धर्म का पतन बन जाता है। अत: भावनायुक्त धर्म को फलीभूत करना है तो चरित्र का नव-निर्माण करना होगा। मानवीय मूल्यों को अर्थ और विग्रह के दलदल से बाहर निकाल कर मानव धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी और वास्तव में आज ऐसे लक्षण प्रकट होने लगे हैं जिनसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि सच्चे धर्म की संभावनाओं के खुलने और खिलने का समय अब ज्यादा दूर नहीं है। जहां धर्म के प्रति केवल विश्वास का प्रश्न है तो वह अन्तिम आश्रय है, परन्तु उसे बुद्धि का पूरक भी होना चाहिए। धर्म के सद्भाव में केवल अंकगणना से ही व्यवहार नहीं चलेगा, बल्कि लोकभावना की भी प्रतीति होगी।

अर्थ और काम का क्रम धर्म के पश्चात् रखा गया है। लोकभावना से अनुरंजित होकर धर्म इतना प्रभावशाली बन जाएगा कि अर्थ (सत्ता-सम्पत्ति) स्वयं अपने विकास में स्वार्थ भाव से इतना ऊंचा उठ जाएगा कि परमार्थ की धारणा केवल धार्मिक आदर्श न रहकर सांसारिक व्यवहार की संज्ञा बन जायेगी। अर्थ के लिये किये जाने वाले प्रयत्न का जन्म काम या कामना के गर्भ से होता है। प्रयत्न का मूल काम है और अर्थ उसका फल है। अपने चारों ओर सब जगह अर्थ के मूल में काम को देखा जा सकता है। इसीलिये अर्थ की उलझनों को काटने के लिये निष्कामता का अभ्यास सुझाया गया है। कामना का लोभ कभी रुकता नहीं है और इस कारण सभी कामनाओं की पूर्ति भी असंभव है। अत: निष्काम होना अर्थ को निष्प्रभावी करना है। अर्थ काम पर टिका है, स्वंतत्र नहीं है अत: काम को व्यवस्थित कर लिया तो अर्थ अपने आप व्यवस्थित हो जाएगा। फिर धर्म के प्रभाव से सदैव संतुलन बना रह सकेगा।

मोक्ष मंजिल है, यात्रा नहीं और यदि यात्रा सफल हो जाती है तो मंजिल फिर दूर कहां रहती है? यात्रा की सफलता टिकी है पहले के तीनों पुरुषार्थों पर। धर्म, मूलभाव और मूल दृष्टि है, वहीं अर्थ और काम को इन दो तटों की ओर जीवन को विस्तार देने वाले भाव-रूप बनाया जा सकता है। वही दृष्टि फिर दोनों की पारस्परिक अपेक्षा में व्यवस्था देती हुई मोक्ष में समाहित हो जाए तो मान लेना चाहिए कि पुरुषार्थ चतुष्टय का इष्ट परिपूर्ण हो गया है। इस परिपूर्णता की उच्चतम श्रेष्ठता का नाम ही चरित्र संपन्नता है।

चरण गति और चरण शक्ति समाज तथा संसार में नवप्राण फूंकेगी :

शिशु के दुर्बल चरण सबल होने लगते हैं जब वे गति करने लगते हैं। गति जितनी सधी हुई और तेज होती है, चरण शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। 'चलो और चलते रहो' की प्रेरणा सब ओर नये उत्साह को जन्म देती है। जो गतिमान है वह श्लाघ्य है और तेजी के आज के युग में तो गति के ग्राफ में जो उछाल आया है उसकी तो पहले कल्पना तक नहीं हुई थी। वामनावतार की तरह आज सूचना तकनीक या तीव्र वाहन वेग से धरती को तीन पग में नाम सकते हैं। इन बाहरी चरणों की तुलना में अधिक भीतरी चरण, आचरण और चरित्र की अधिक गति-शक्ति बन जाए तो निश्चय ही एक ऐसे नये समाज और संसार की रचना हो सकती है। जहां मानव अपनी स्वस्थ मानवता से भी ऊपर

उठकर देवत्व की दिशा में अग्रसर होते रहने की अभिलाषा रखेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि बढ़ती हुई चरण गति एवं उभरती हुई चरण शक्ति समाज एवं संसार में अवश्य ही नये प्राण फूंकेगी।। सभी देखते हैं कि जब समाज एवं संसार में चारों ओर शिथिलता तथा निष्क्रियता दिखाई देती है तो महसूस होता है जैसे मनुष्य जाति भी निष्प्राण हो गई हो। ऐसी चरित्रशीलता के शंख जब गूंजते हैं, चरणों की धमक जब फैलती है और आचरण से जीवन जब ओत-प्रोत होते हैं तो पूरे समाज एवं संसार में भी नये प्राणों का जैसे सब ओर संचार होने लगता है। चरित्र निर्माण के प्रभाव को प्रसारित होने से तब रोका नहीं जा सकता है।

चरण गति एवं चरण शक्ति का स्रोत व्यक्ति से ही फूटेगा किन्तु वह प्रवाहित होगा। समाज तथा संसार के विशाल प्रांगण में। वह प्रवाह जितने अधिक वेग वाला होगा, उतने ही दूरस्थ क्षेत्रों तक भी वह फैलेगा एवं वहां के लोगों को प्रभावित करेगा। महापुरुषों के अमित प्रभाव विस्तार का यही रहस्य है। उनका जीवन इतना तेजस्वी, उनकी वाणी इतनी ओजस्वी तथा उनकी साधना इतनी यशस्वी होती है कि उनका प्रभाव कालजयी बन जाता है। यह चरित्र की उत्कृष्ट स्थिति होती है। चरित्रशीलता की प्राभाविकता अपार ही नहीं, अनुपम भी होती है।

चरित्र की उत्कृष्टता की कसौटी है परमार्थ, परहित एवं लोक-कल्याण :

चरित्र का जब ह्रास होता है अथवा चरण गति एवं चरण शक्ति का जब विपरीत दिशा में भटकाव होता है तब स्वार्थ भड़कता है, अहंकार फुफकारता है और अन्य अनेक विकार उबलते व उफनते हैं। स्वार्थ बढ़ते-बढ़ते दैत्याकार हो जाता है और अहंकार किसी को नहीं देखता, किसी की नहीं सुनता। चरित्रहीनता की दशा में विकार क्या फैलते हैं कि उसका सारा जीवन हिंसापूर्ण बन जाता है, बल्कि वहां से हिंसा की जो लपटें उठती हैं वे समाज को भी जलाने लगती है।

स्वार्थ अपना दायरा बढ़ाता हुआ शोषण पर उतरता है। शोषण का मतलब है दूसरों के श्रम को लूटना, उनके हितों को कुचलना। शोषण के लिये शुद्ध शब्द हिंसा ही है। शोषण की राह में जब बाधाएं आती है तो स्वार्थ दमन पर उतरता है। यही स्वार्थ वर्ग सत्ता एवं सम्पत्ति के बल के माध्यम से बहुसंख्यक, दुर्बल तथा असहाय लोगों पर शोषण तथा दमन की क्रूर हिंसा ढाते हैं। वे शस्त्रों से प्राणियों का प्रत्यक्ष वध भले न करते हों, किन्तु इन के हितों पर घातक आघात करते हुए उनके प्राणों को क्षत-विक्षत कर देते हैं।

अहंकार का नाग भी कम नहीं होता है। किसी भी प्रकार की भौतिक शक्ति जब किसी को प्राप्त हो जाती है और वह उस शक्ति को अपने आत्म बल से पचा नहीं पाता है तो उसके मन में मद पैदा हो जाता है। यही मद अहंकार, अभिमान या घमंड़ में फूटता है। तब वह व्यक्ति अपने आपको वैसा समझना शुरु कर देता है जैसा वह वास्तव में होता नहीं है और जैसा वह वास्तव में होता है, वैसा समझने की उसकी समझ नहीं बचती है। अहंकार की भ्रान्ति उसकी दृष्टि हर लेती है। अंधेपन और पागलपन में कितना अनर्थ हो सकता है, उसका कोई हिसाब नहीं। स्वार्थ और अहंकार से उपजे अन्यान्य विकारों की गिनती करना भी कठिन है। तो ऐसा होता है चरित्रहीनता का दुष्परिणाम।

इस कारण चरित्र सम्पन्नता की कसौटी भी कठोर होती है। चरित्र विकास के आरंभिक दौर की यह फलश्रुति मानी जाए कि व्यक्ति स्वार्थ, अहंकार आदि विकारों की जटिलताओं से प्रत्यागमन करे-पीछे हटे और इतना पीछे हटे कि उसका कोई भी व्यवहार परपीड़क न हो। दूसरे दौर में वह अपने स्वार्थों को सीमित व मर्यादित बना दे तथा साथ ही परमार्थ की ओर गति बढ़ावे। अन्ततः व्यक्ति के स्वार्थ विलीन होते जाए तथा परहित का आकार वृहत्तर बनता जाए। इस अन्तिम दौर में चरित्र की उत्कृष्टता इस रूप में निखर उठे कि आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण के क्षेत्र एकीभूत बन जाय जैसे कि सभी प्राणियों के हित एकरूपता में ढल गये हों। जो एक को जानता है वह सबको जान लेता है तथा जो सबको जानता है, वह एक को तो जानता ही है। (**जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ**-आचारांग सूत्र 1-3-4)।

चरित्र विकास की उत्कृष्ट श्रेणियों में व्यक्ति स्व-पर भेद को क्षीण करता जाता है एवं एकात्मकता की अनुभूति लेने लगता है। तब जीवन में परमार्थ प्रमुख बन जाता है एवं लोकहित के मार्ग पर कैसा भी त्याग उसके लिये बड़ा नहीं होता है। संयम एवं त्याग की अटल साधना उसके चरित्र को उत्कृष्टता की दिव्यात्मा से अनुरंजित बना देती है।

चरण गति ही व्यवस्था को परमार्थ से तथा क्रान्ति को आदर्श से जोड़ेगी :

आज प्रगतिगामी क्षेत्रों से क्रांति की आवाज गूंजती है और मांग की जाती है कि वर्तमान व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। परिवर्तन का नाम क्रान्ति है और वह परिवर्तन होना चाहिए व्यापक जनहित की भावना एवं योजना से प्रेरित होकर! क्रान्ति को जो हिंसा पर आधारित मानी गई थी। वह भ्रम अब मिट चुका है। तोड़-फोड़ या खूनखराबा क्रांति के लक्षण नहीं। मानव सभ्यता एवं संस्कृति के जो मूल्य काल प्रवाह अथवा आचरण शिथिलता से विकृत हो जाते हैं। उनका शुद्धिकरण करके उन्हें फिर से प्रतिष्ठित करने के उपक्रम को ही वास्तव में क्रांति कहा जाना चाहिये। ऐसा परिवर्तन और ऐसी क्रान्ति आज आवश्यक मानी जा रही है।

कोई भी व्यवस्था-चाहे वह ग्रामस्तरीय संगठन की हो अथवा राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की या चाहे पारिवारिक संगठन की ही क्यों न हो-वह तभी विकृत बनती है जब उसमें परमार्थ का तत्त्व *क्षरित होने लगता है तथा स्वार्थ वृत्ति का घुन लग जाता है। इसी प्रकार अब तक विभिन्न देशों में हुई* क्रांतियों के स्वरूप से यह भ्रामक मानसिकता बन गई है कि हिंसा के बल पर टिके शोषण व दमन के निहित स्वार्थियों का अन्त भी हिंसा का सहारा लिये बिना नहीं किया जा सकता है। यह बात नहीं रही कि इन क्रान्तियों के कोई आदर्श नहीं थे। साध्य स्पष्ट था किन्तु साधन के बारे में ही विवाद रहे। इस युग में महात्मा गांधी ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के संदर्भ में कहा कि साध्य की शुद्धता के साथ साधन की शुद्धता भी अनिवार्य मानी जानी चाहिए। इस दृष्टिकोण से उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन को सत्याग्रह, अवज्ञा आदि के अहिंसात्मक प्रयोगों पर आधारित किया और सफलता भी प्राप्त की।

तो आज समस्या यह है कि हम व्यवस्था तो बदलें किन्तु उसे परमार्थ पर आधारित बनावे। इसी प्रकार क्रान्ति को इसके सभी चरणों में आदर्श से जोड़े हुए रखे। इस समस्या के सही समाधान के

लिये चरण गति अर्थात् चरित्र गठन इस रूप में ढालना होगा कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा से लड़ा जाए और समग्र मानव-संबंधों को अहिंसा पर प्रतिष्ठित किया जाए। यह संघर्ष प्रत्येक वृत्ति तथा प्रवृत्ति में निरन्तर चलता रहे। ऐसे संघर्ष के दौरान ही यह अनुभव होगा कि समाज और राज्य की व्यवस्था में शोषण को समाप्त करने का जो अभियान है, वह निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, अपितु उसके अंग रूप में ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के सिद्धान्त भी अनिवार्य होते हैं। शोषण समाप्ति का अभिप्राय है वर्गहीनता के विषय में जो भ्रामक मान्यता है कि उसमें व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं रहता उसे दूर कर देनी चाहिए। यथार्थ तो यह है कि वर्गहीन व्यवस्था में अपनी-अपनी विलक्षणता के कारण व्यक्तित्वों के खिलने निखरने के विशेष अवसर प्राप्त होंगे। तब हिंसा बल और उसके साधन उतनी ही मात्रा में बचेंगे जितनी मात्रा में अहिंसक शक्ति का अभाव रहेगा। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति पर चलेगा और किसी को यह मानने की स्थिति नहीं रहेगी कि वह शोषक है अथवा शोषित है। अपने आपको सब एक दूसरे के पूरक अनुभव करेंगे और उस भावना के साथ परस्पर की पूर्णता में सहायक बनेंगे। वर्गहीनता के लिये वर्गों को मिटाना नहीं है, बल्कि संबंधों में वैसी सहयोगिता तथा स्वस्थता को प्रवेश दिलाना है कि जिसमें वर्ग चेतना ही अनावश्यक हो जाए। वर्गहीनता की ऐसी मानसिकता से ही उत्पन्न होगी व्यवस्था की परमार्थता। तब सबका संयुक्त अर्थ ही परम अर्थ बन जाएगा। यही नहीं, परमार्थ तत्त्व स्थायी रूप से व्यवस्था के साथ घुल-मिल जाएगा। सर्वत्र व्यवस्था का आधार परमार्थ होगा और कोई भी व्यक्तिगत स्वार्थ उसे प्रभावित अथवा विकृत नहीं बना सकेगा।

चरण गति के ऐसे विकास क्रम में क्रान्ति की दिशा और दशा कभी-भी भटकेगी नहीं। जिस आदर्श को लक्ष्य बना कर क्रान्ति की जाएगी, वह उस आदर्श के साथ जुड़ी हुई रहेगी। क्रान्तियों के मूल में आदर्शवाद की जो मरीचिका दिखाई गई थी, वह इसी कारण वास्तविकता नहीं पकड़ सकी कि उस आदर्श को अन्त:करण की स्वीकृति नहीं मिली थी। साम्यवादी क्रान्ति रही हो या समाजवादी क्रान्ति उसमें व्यक्ति के अस्तित्व को गौण मान लिया गया। अत: अन्त:करण की स्वीकृति ओझल ही रही, परिणामस्वरूप वे क्रान्तियां काल के गाल में अकाल में ही समा गई। क्रान्ति के साथ आदर्श संयुक्त रहे, इसके लिये व्यक्तिगत चरित्र की महत्ता स्थापित करनी होगी। विचारधाराएं टिकती है और हटती है लेकिन मनुष्य हमेशा टिकता है। वाद नये पुराने बनते हैं, मनुष्य सनातन रहता है। सच यह है कि मनुष्य कसौटी है और सब वाद उस पर कसे, परखें और असफल होने पर फैंके जायेंगे। मनुष्य को सम्पूर्ण प्रगति के केन्द्र में लेना अनिवार्य है और मनुष्य को केन्द्र में लेने का सीधा अर्थ है कि उसके चरित्र निर्माण को सर्वाधिक महत्त्व देना।

चरण चमत्कार से ही बदलेगी दृष्टि और नई दिखाई देगी सृष्टि :

सृष्टि तो यथावत् है, किन्तु दृष्टा अपनी बनती, बिगड़ती, बदलती दृष्टि के कारण उसी सृष्टि को विविध आकारों, प्रकारों, रूपों और रंगों में देखता है और तदनुसार सृष्टि का स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा करता है। यों सृष्टि जो बदलती हुई दिखाई देती है वह व्यष्टि के कारण ही। व्यक्ति का जो रूप-स्वरूप होता है, वही सृष्टि के स्वरूप में प्रतिबिम्बित होता है। दृष्टा का रूप-स्वरूप,

उसकी दृष्टि का रूप-स्वरूप और उसकी कृति का रूप-स्वरूप-यहीं सब मिलकर तो सृष्टि का रूप-स्वरूप बनाता है और उसे बदलने की बात भी तो दृष्टा ही करता है अपनी दृष्टि में नये रूप-स्वरूप की कल्पना करके। अभिप्राय यह हुआ कि सृष्टि और दृष्टि का अभिन्न संबंध है तथा सृष्टि को बदलने की बात दृष्टि को बदलने के साथ जुड़ी हुई है।

आज की दृष्टि आज की सृष्टि के परिवेश को किस रूप-स्वरूप में देख रही है? वह इस प्रकार है-सब ओर हिंसा का खून छितरा हुआ है, आक्रामक स्वार्थवादिता का तैलीय कीट चढ़ा हुआ है, भ्रष्टाचार का कीचड़ लिपटा है, क्रूरता के तेजाबी छींटें पड़े हैं, सत्तालिप्सा का विष्टा सना है और अन्य असंख्य बुराइयों के दाग लगे हैं। परिवेश जब ऐसा कालिमामय है तो भलाई का नाम और काम मुश्किल से ही मिलेगा। यहां विचारणीय बिन्दु यह पैदा होता है कि सृष्टि के ऐसे परिवेश को क्या सहन करते चले जाना चाहिए? कोई भी कहेगा कि नहीं सहना चाहिए। तब यह सोचना होगा कि सृष्टि के परिवेश की ऐसी दुर्दशा किसने की है? जिसने या जिन्होंने भी की क्यों की, कैसे की और किन छिछले स्वार्थों के लिए की तथा अब भी क्यों करते चले जा रहे हैं-यह जानना भी जरूरी है। उनकी पहचान पहले की जानी चाहिए क्योंकि इसके बिना न तो दुर्दशा करने वालों को बदला जा सकता है। 'कौन' का अर्थ तो साफ है, मनुष्य के सिवाय अन्य कौन? किन्तु देखना यह है कि मनुष्यों का कौनसा वर्ग किन व्यक्तिगत या समूहगत लिप्साओं में समाज व सृष्टि पर यह अन्याय ढाये जा रहा है? वह क्यों सर्वहितैषी विचार तथा सर्वसुखदायी आचार से भ्रष्ट हुआ है? क्या विचार और आचार की चमक ही तो मंद नहीं हो रही है? क्या व्यक्ति का चरित्र ही पतनोन्मुख नहीं हो गया है? इसलिये मनुष्य के स्वभाव, विचार तथा आचार की विकृति पर सोचना आवश्यक है। मनुष्य अपने मूल स्वभाव से सरल और सदाशयी होता है किन्तु वातावरण की विकृतियां उस पर अपनी काली छाया डालती रहती है और उसे कलंकित बनाती रहती है। कई बार उसकी दृष्टि भी इस कालिमा से काली हो जाती है और उसी दृष्टि से अपनी कालिमा को देखने की अपेक्षा सृष्टि को कालिमामय देखने लग जाती है। सृष्टि की प्रकृति कभी काली नहीं होती है, काली होती है दृष्टि, अतः दृष्टि को बदलने की बात प्राथमिक है। यह दृष्टि बदलेगी चरित्र निर्माण से, क्योंकि चरित्र दृष्टि के कालेपन को हटाकर उसे उज्जवलता प्रदान करेगा। दृष्टा स्वयं का रूप-स्वरूप बदलेगा तो उसकी दृष्टि का रूप-स्वरूप भी बदलेगा और उसके साथ ही उसे सृष्टि नये रूप-स्वरूप में दिखाई देने लगेगी।

आज अपेक्षा है चरण चमत्कार की यानी चरित्र निर्माण के अभियान में अभूतपूर्व तेजी लाने की। यह तेजी दृष्टि को सही ढंग से बदलने में रामबाण का काम करेगी। दृष्टि बदलेगी, सृष्टि बदलेगी तथा सृष्टि दृष्टिमय एवं दृष्टि सृष्टिमय हो जायेगी।

कितना ही निकृष्ट भी क्यों न हो, वह जीवन महिमा मंड़ित होगा चरण चमत्कार से :

प्रतिदिन सात हत्याएं करने वाला घोर पापी अर्जुन माली भगवान् महावीर की चरण सेवा में पहुंचा तो उसका उद्धार हो गया। अनेक वध करके उनकी अंगुलियों की माला पहिनने वाला

अंगुलिमाल डाकू भी महात्मा बुद्ध से चरित्रोपदेश पाकर महात्मा बन गया। रामायण के रचयिता ऋषि बाल्मिकी भी पहले एक नृशंस डाकू ही थे। चरण-चमत्कार जब होता है तो कितना ही निकृष्ट जीवन क्यों न हो, वह महिमा मंड़ित होकर संसार के लिये पूजनीय बन जाता है।

चरण चमत्कार का प्रधान कारक होता है भाव! यह भाव जब हीन और मलिन होकर दुर्भाव का रूप लेता है तब चरण पिछड़ते हैं, चरित्र का पतन होता है तथा मनुष्यत्व पशुत्व एवं राक्षसत्व की ओर लुढ़कता है। यही भाव जब सरल, उदार और सदाशयी बनकर सद्भाव का सद्रूप धारण करता है तब चरित्र गठन एवं विकास, श्रेष्ठ होता हुआ चरण-चमत्कार के रूप में दृश्यमान होता है। भावों की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता से ही चरित्र का उत्थान और पतन होता है।

श्रेणिक राजा एक बार भगवान् महावीर के दर्शनार्थ उनकी सेवा में पहुंचे। मार्ग में उन्होंने एक सन्त को ध्यानस्थ देखा था तथा उनकी सौम्य मुद्रा से राजा अत्यन्त प्रभावित हुए थे, अतः उन्होंने भगवान से प्रश्न किया-'प्रभो! मैंने मार्ग में एक ध्यानस्थ मुनि के दर्शन किये थे, यदि वे इस समय कालग्रस्त हो जाएं तो किस गति को प्राप्त करेंगे?' महावीर कुछ देर शान्त रहे, फिर बोले-'राजन्! तुमने उनके दर्शन किये उसके और यह प्रश्न पूछने तक के समय के बीच भारी अन्तर आ गया है। वे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि मुनि हैं और इस समय यदि वे मरण को प्राप्त हों तो निकृष्टतम गति सातवीं नरक में जावें।'

राजा आश्चर्यचकित, इतने प्रभावशाली मुनि और ऐसी गति? राजा कुछ भी समझ नहीं पाए। तब भगवान् ने ही समझाया-राजन्! जब तुमने उनके दर्शन किये तब वे सौम्य भावों में रमण कर रहे थे और उनका मुखमंडल वैसी ही आभा से देदीप्यमान था। किन्तु उसके तुरन्त बाद उनके राज्य के दो सेवक सुमुख और दुर्मुख उस मार्ग से गुजरे तथा अपने पूर्व राजा को मुनिवेश में ध्यानस्थ देखकर जोर-जोर से कहने लगे-अरे, हमारे ये राजा तो यहां खड़े हैं और उधर इनके राज्य पर पड़ौसी राजा ने आक्रमण कर दिया है तथा राजकुमार गंभीर संकट में फंस गये हैं। वे तो यह कह कर चले गये, किन्तु राजर्षि मुनि अपने वर्तमान को भूल कर भावों ही भावों में अतीत में चले गये। शरीर वही यथावत् खड़ा था किन्तु राजा तलवार भांजने लगे, शत्रुओं का पीछा करने लगे और शौर्य्य के साथ नरमुंड़ों के पहाड़ खड़े करने लगे। अपने भावों की निकृष्टतम दशा में अभी वे गोते लगा रहे हैं।

महावीर का भाव-विश्लेषण समझ कर राजा श्रेणिक ने थोड़ी-थोड़ी देर से एक ही प्रश्न बार-बार पूछना शुरु किया कि इस समय यदि मुनि प्रसन्नचन्द्र मरण धर्म को पावें तो पुनर्जन्म में कौनसी गति प्राप्त करें। भगवान् भी उत्तर देते गये-नरकों से देवलोक, ग्रेवैयक आदि स्वर्ग भूमियों तक। तभी आकाश में देव-दुन्दुभियां बजने लगी और पुष्प वर्षा प्रारंभ हुई। श्रेणिक को इससे अन्तिम उत्तर मिल गया कि मुनि प्रसन्नचन्द्र को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा अब वे मोक्षगामी हो गये हैं।

यह भावों के ही निकृष्ट तथा उत्कृष्ट श्रेणियों का परिणाम है कि पलों में नरक से स्वर्ग और मोक्ष की गति बन गई। चरण चमत्कार भावों के ही ऐसे उत्थान से प्रतिफलित होता है जिसे जान-समझ कर सभी आश्चर्य से चकित रह जाते हैं। आत्म-स्वरूप की निकृष्टता अथवा उत्कृष्टता स्थायी नहीं होती, भाव प्रवाह के साथ वह परिवर्तित होती रहती है। यह भाव प्रवाह पर निर्भर होता

है कि परिवर्तन त्वरित गति से होता है अथवा मंथर गति से अथवा उच्च श्रेणियों से निम्न श्रेणियों में होता है या निम्न श्रेणियों से उच्च एवं उच्चतर श्रेणियों में। यह साधक के आत्म-नियंत्रण का प्रश्न है कि वह भावों के शुभ प्रवाह को यानी कि अपनी चरित्रशीलता को न्यूनतम समय में सफल बनाकर चरण चमत्कार को साकार कर दे।

तभी तो भव्य चरण कहते हैं-चलो, मजबूती से चलो और चलते रहो :

तभी तो भावुक के, प्रबुद्ध के, सन्त के, साधक के भव्य-चरण कहते हैं-चलो, निरन्तर चलो, मजबूती से चलो, सही दिशा में चलो और चलते रहो। जो चलते रहने का आनन्द है, जो यात्रा का उत्साह है, जो सफर का जोश है, वैसा आनन्द, उत्साह और जोश क्या बाद में भी बना रहता है? चरण गति से चरण शक्ति और चरण शक्ति से चरण चमत्कार। चरित्र विकास के आभ्यन्तर आल्हाद का क्या कहना? ऋषि मुनि कहते रहे हैं-**चरेवेति, चरेवेति।** गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने तो यहां तक कहा कि और किसी का साथ न हो तब भी अकेले ही चलो परन्तु चलो अवश्य। लेटे मत रहो, बैठे मत रहो- न शिथिलता, न निष्क्रियता, प्रमाद और अकर्मण्यता भी नहीं। इसीलिये जागो, उठो और चलना आरंभ कर दो। जीने का नाम ही जिन्दगी नहीं है, चलना इस जिन्दगी का मूलमंत्र है। ज्ञान और प्रेम की गंगा बहाते-चलो, खट्टी-मीठी खुशियों की फुहारों से सबके मन-मानस को भिगोते हुए चलो और थोड़े गिले शिकवों से जीवन में नित नया उत्साह एवं माधुर्य को भरते हुए चलो। इन्हीं इन्द्रधनुषी रंगों से अपने व सबके जीवन को सरोबार करते हुए चलो और मस्ती में चलते रहो।

आओ, जीवन को इन्द्रधनुषी रंगों से सजाने की कला सीखें-सिखावें। सुखपूर्वक जीवन जीने की अहम शर्त है कि व्यक्ति वर्तमान में जिए। सामान्यतः व्यक्ति अपने अतीत की स्मृतियों में खोया रहता है या फिर भविष्य के सुनहरे सपने संजोता रहता है। एक की स्मृति और दूसरे की चिन्ता-कल्पना में वर्तमान के कर्मठ पल यों ही निरर्थक बीत जाते हैं। समय के अनुसार बदलते परिवेश में जीने का अभ्यास होना चाहिए। गिलास जितना भरा है उस भराव को देखकर खुश होना सीखें, उसे अधिक भरने का उत्साह पैदा करें लेकिन उसके खालीपन को कोसे नहीं, उस खालीपन को लेकर न निराश व हताश होवें और न ही कुंठाग्रस्त बनें। गिलास जितना भरा है पहले उसका सदुपयोग करें परन्तु उसके खालीपन पर ही अपने पूरे ध्यान को केन्द्रित करके समय का अपव्यय न करें।

जीवन को रुचिकर तथा खुशहाल बनाने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति सर्वप्रथम स्वयं को ही भरपूर स्नेह एवं विश्वास दे। आत्म-स्नेह तथा आत्म-विश्वास से भरा व्यक्ति ही दूसरों को भरपूर स्नेह एवं विश्वास प्रदान कर सकता है। उसी में सहानुभूति एवं सहयोग की भावना बलवती होती है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को एक सूत्र में बांधने में ये दोनों गुण अत्यन्त ही उपयोगी होते हैं। इनके बिना व्यक्ति का स्वयं का जीवन तो नीरस बनता ही है, बल्कि परिवार तथा समाज की सरसता एवं समरसता भी आगे नहीं बढ़ पाती है।

अच्छी दोस्ती जीवन को खुशहाल बनाने में अहम् भूमिका अदा करती है। कारण, जब कभी-भी व्यक्ति अपने को किसी परेशानी या समस्या से घिरा हुआ महसूस करता है तो एक अच्छे दोस्त से

प्राप्त सही सलाह से उसे सुकून मिलता है। अच्छे दोस्त से व्यक्ति सहजता और हल्कापन पाता है। दिलो-दिमाग को तनावमुक्त रखने के लिए अच्छा है कि किसी सच्चे दोस्त से अपना सुख-दु:ख बांट लिया जाए। ध्यान रखें कि जो व्यक्ति हर वक्त अपने ही दु:खों का रोना रोता रहता है, सुख व खुशियां उसके दरवाजे से ही लौट जाती हैं।

जब भी हम अपना मन जरा-सा भी उदास या उखड़ा हुआ पाएं तो किन्हीं पसंदीदा गीतों तथा भजनों में तल्लीनता से खो जाएं। सच, आप अपने उदासी भरे मन के किसी कोने में खुशी की गुदगुदाहट महसूस करेंगे। संगीत जीवन के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है जो मन की उदासी का श्रेष्ठ समाधान है। थोड़ी-सी सूझबूझ और धैर्य से यदि काम लें तो खुद के व दूसरों के दामन को खुशियों से भर देंगे। जीवन के प्रति निराशावादी या नकारात्मक दृष्टिकोण कदापि न रखें। सदैव आशावादी बने रहने एवं नया उत्साह, विश्वास और प्रेम भरते रहने का प्रयत्न करें। जीवन सर्वदा आनन्दमय रहेगा।

चरण सतत क्रियाशील रहें, चलने का आनन्द लेते रहें, चरण शक्ति प्राप्त होती रहे, निरन्तर पुष्ट होती रहे, चरित्र की तेजस्विता निखरती रहे, उसके प्रकाश में समाज व राष्ट्र एकता के सूत्र में बंधते रहे, सारी मानव जाति परस्परता का समादर करते हुए मानवीय मूल्यों को प्रखर बनाती रहे तब चरण चमत्कार का सुख मिलता ही रहेगा।

◆◆◆



चरित्र एवं समानार्थ शब्दों की सरल सुबोध व्याख्या



जीवन का अर्थ और जीवन की इति है "चरित्र"

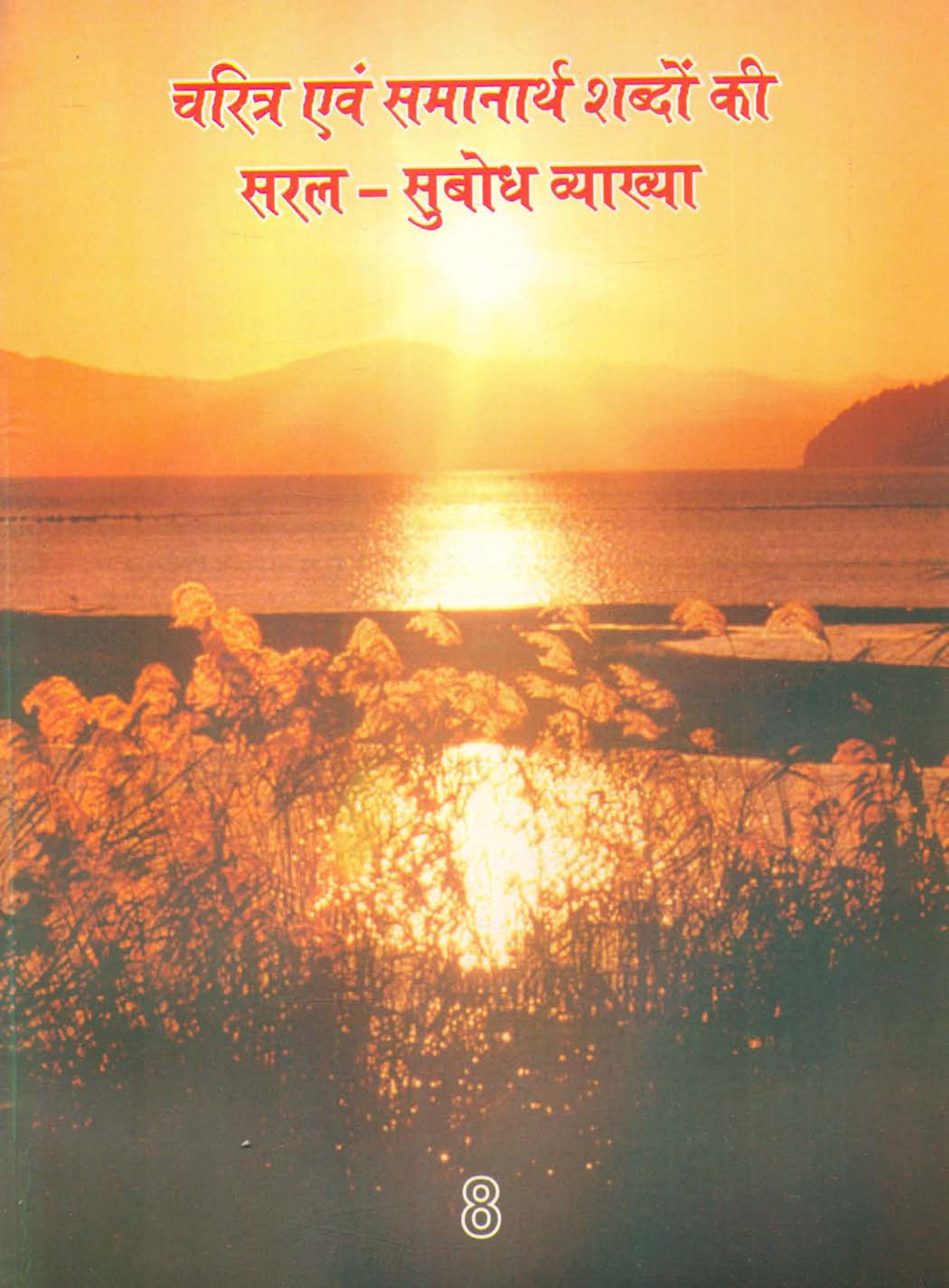
ग्रंथों में एक आख्यान है गुरु चंद्ररुद्राचार्य का। वे एक साधक अवश्य थे, किन्तु अपने क्रोध को किंचित् मात्र भी साध नहीं पाए थे। वे अपने नाम के अनुरूप चन्द्र कम और रुद्र अत्यधिक थे। परन्तु गुरु-शिष्य की युति भी अति विचित्र थी। जहां एक ओर गुरु रुद्र रूप क्रोधी थे, वहीं दूसरी ओर उनका शिष्य अतिशय अक्रोधी सरल और विनयवान था। उसके मन में सदा यही चिन्तन चलता रहता था कि वह अपने गुरु के गुणों को ही देखे और उनके प्रति परम श्रद्धा-भाव रखे यह सोचते हुए कि

गुरु-गोविन्द दोनों खड़े, किनके लागूं पायः
बलिहारी गुरु-देव की, गोविन्द दियो बताय।

वह गुरु के क्रोध को अग्नि के समान नहीं, चन्द्र के समान शीतल महसूस कराने के लिये हमेशा तत्पर रहता था।

एक बार गुरु-शिष्य सुदूर प्रदेश के लिए विहार पर निकले। बीच में बियावान वन को भी उन्हें पार करना पड़ा। वह वन भाँति-भाँति के घने वृक्षों-वल्लरियों आदि से इतना आच्छादित था कि दिन में भी '**हाथ को हाथ न सूझे**' इतना अँधेरा छाया हुआ था। गुरु वृद्ध एवं दुर्बल थे, अतः शिष्य विहार में उन्हें अपने कंधों पर बिठा कर ले

चरित्र एवं समानार्थ शब्दों की सरल - सुबोध व्याख्या



8

जाया करता था। उस दिन भी वे अपने शिष्य के कंधों पर चढ़े हुए थे। घनघोर अंधेरे के कारण शिष्य अतीव सावधानी से धीरे-धीरे चल रहा था, फिर भी रास्ता कच्चा और पत्थरों, काँटों आदि से भरा हुआ सो ध्यान रखते-रखते भी शिष्य का पैर उचकता रहता और वह ठोकर खाते-खाते बचता। लेकिन इस तरह के झटके खाना गुरु को कतई बर्दाश्त नहीं था। गुरु का क्रोध भड़कने लगा। ज्यों ही उन्हें झटका लगता कि गुरु का डंडा शिष्य के माथे बरस पड़ता। झटके लगते गए और डंडे बरसते गए। शिष्य वेदना से तड़प रहा था, फिर भी वह गुरु से अपने अविनय की हार्दिक क्षमा मांगता रहता। वह अधिक सावधान हो जाता और आगे बढ़ता रहता। सघन अंधकार में आखिर चर्म चक्षु जितना काम कर सकते थे, उतना ही तो शिष्य आगे देख पाता। लेकिन गुरु का क्रोध रौद्र रूप धारण करता रहा और शिष्य के सिर पर क्रूर प्रहार होते रहे।

अचानक एक आश्चर्य घटित हुआ। यद्यपि वन की सघनता गहराती जा रही थी और तदनुसार अंधकार की गहनता भी किन्तु शिष्य के पैरों का उचकना एकदम बन्द हो गया। उसे उस सघन अंधकार में भी सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा था। उसकी आँखों में उज्ज्वल प्रकाश समा गया था और वही दिव्य प्रकाश उसके लिये चारों ओर प्रसारित हो गया था। गुरु तत्काल आश्चर्यान्वित हो उठे, ज्ञानी तो थे ही, बोले-कहीं तुझे कैवल्य ज्ञान (सर्वोच्च परम ज्ञान) तो नहीं हो गया? शिष्य तो अतिशय विनीत था, उसने इतना सा ही उत्तर दिया-'सब गुरुदेव की कृपा है।' और वह सधे हुए कदमों से आगे बढ़ता रहा। कुछ और परख कर लेने के बाद गुरु स्तब्ध रह गये। उनका डंडा प्रहार तो बंद हुआ ही, उनके क्रोध का आवेश भी एकदम शान्त हो गया। वे करीब-करीब चिल्लाते हुए बोले- रुक जाओ शिष्य, अब मैं तुम्हारे कंधों पर चढ़ा रह कर एक केवली की आशातना करते हुए पाप का भागी नहीं बनूँगा। तुम निश्चय ही केवली हो गए हो और मेरे लिये भी वन्दनीय। शिष्य तब और अधिक सरल एवं विनयावनत हो गया।

शिष्य की इस सरलता और विनम्रता को आप क्या कहेंगे? अपने-अपने सोच के अनुसार अलग-अलग उत्तर हो सकते हैं। कोई कह देगा कि गुरु के हाथों ऐसे प्रहार झेलना और विनयवान बने रहना कोई व्यावहारिक बात नहीं। उससे गुरु की उद्दंडता बढ़ती ही रही। कोई कहेगा कि यह गुरु की अयोग्यता तथा तिस पर भी शिष्य की अयोग्यता का स्पष्ट प्रमाण है। शिष्य की योग्यता के बारे में दो राय नहीं हो सकती। वास्तव में यह उसकी सफल चरित्र निष्ठा का प्रमाण है। अपना चरित्र निर्माण इतना सुदृढ़ बना लिया जाए कि उसके फौलादी कवच को दुनिया की कोई भी बुराई तनिक भी भेद न सके। यों अपने जीवन में उच्च कोटि के चरित्र का निर्माण करना तथा उसके प्रति निष्ठावान बने रहना कठिन से कठिनतम परिस्थितियों के दौरान भी इससे बढ़कर अन्य कोई साधना नहीं। चरित्रशील बनने से जिस प्रकार की सहनशीलता के गुण का विकास होता है, वह साधक को सर्वांगीण उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँचा देता है- सर्वदा सबका वन्दनीय।

किन्तु ऐसी अनुपम सहनशीलता का विकास होगा कब? तभी न जब वह सहनशीलता कठोर परीक्षा की अग्नि में तप कर और कुन्दन बनकर बाहर निकलेगी। और ऐसी परीक्षा लेने के लिए ही कोई न कोई तो चाहिए, जिसका प्रहार क्रूरतम और असह्य हो जाए और फिर भी चरित्रनिष्ठ उसे

विनयपूर्वक सहे तथा उत्कृष्ट भावों में रमण करता रहे। ऐसे में गुरु चन्द्ररुद्राचार्य के क्रोध को भी श्रेय तो देना ही होगा कि जिसके बिना शिष्य को सहिष्णुता का उच्चतम प्रमाण पत्र कैसे मिलता और कैसे उसे कैवल्य ज्ञान की परम सिद्धि प्राप्त होती?

स्वच्छ एवं सुदृढ़ चरित्र निर्माण के लिये सदैव प्रतिकूल परिस्थितियों की आवश्यकता हुआ करती है कि जिनमें से एक चरित्रनिष्ठ साधक सरल भाव एवं समग्र साहस के साथ गुजरे। उन प्रतिकूल परिस्थितियों की आग में वह साधक अपने जीवन को जलाए नहीं, बल्कि सोने की तरह इस प्रकार तपा कर निखारे कि वह अपने आत्मिक गुणों के साथ कुन्दन की तरह दमक उठे।

चरित्र का शब्दार्थ, भावार्थ एवं उसकी सार्थकता का समग्र जीवन पर प्रभाव

चरित्र शब्द संस्कृत के 'चर्' धातु से बना है, जिस का व्याकरण में क्रिया पद होने के अनुसार अर्थ होता है-चलना। इसका भावार्थ हुआ कि चलने से बनता है चरित्र। तो चरित्र का रहस्य साधारण चलने में भी है और विशेष चलने में भी। साधारण चलने का मतलब सभी बखूबी जानते हैं कि अपने पैरों के आधार पर रास्ता तय करना और गन्तव्य तक पहुँचना। कहीं भी चलने से ही पहुँचा जा सकता है और जीवनभर मनुष्य करता क्या है-चलता है और चलता ही तो रहता है। कहते हैं **'जो सोवत है सो खोवत है और जो जागत है सो पावत है'**, लेकिन पाना केवल जग जाने से ही संभव नहीं होता है। उसके लिए जग कर उठना होता है, अपने पैरों पर अडिग खड़े होना होता है तथा प्राप्ति की दिशा में स्थिर गति से चल देना होता है। मूल में चलना ही मुख्य है।

चलने और चलते रहने से चरित्र बनता है। लोकभाषा में चलने को नाम दिया गया है चाल का और पारखी लोग किसी की चाल देख कर ही उसका सारा रंग-ढंग पहिचान लेते हैं। जैसे चलने की सफलता का नाम चरित्र है, उसी प्रकार कामयाब चाल को चलन कहा जाता है। यों चरित्र का सरल तथा सुबोध अर्थ है चाल-चलन। इसीलिये कहा जाता है कि चाल चलन सुधारो यानी चरित्र का निर्माण करो। चरित्र बस चरित्र होता है अर्थात् सधी हुई चाल। यह एक गुण है-ऐसा गुण जिस पर जीवन की सार्थकता निर्भर करती है और समग्र मानव जाति की विकास गति।

गुण गुण होता है, उसका कोई रंग नहीं होता। उसकी होती है एक शक्ति जिसका उपयोग किया जा सकता है। यही गुण उपयोग या परिणाम की दृष्टि से दो प्रकार के रूप ले सकता है। यदि गुण का उपयोग हितकारी है तो उसे सद्गुण कहा जाएगा। इसी गुण का उपयोग यदि अनिष्टकारी होगा तो वह दुर्गुण बन जाएगा। यों शक्ति एक होती है और उसके प्रयोग दो। चारित्रिक शक्ति की भी यही दशा होती है। सदुपयोग पर सत्चरित्र तथा दुरुपयोग पर दुष्चरित्र। इसका अर्थ यह निकलता है कि चरित्र का निर्माण इस विवेक और नजरिए के साथ किया जाए जिससे सर्वहित का क्षेत्र निरन्तर विकसित एवं प्रसारित होता जाए। यह आचरण का विषय है।

सारांश में आचरण को चरित्र कहा जा सकता है। चरित्र आचरण को संयमित बनाने की शक्ति प्रदान करता है और इस शक्ति के माध्यम से व्यक्ति कामनाओं एवं वासनाओं पर नियंत्रण स्थापित करता है तथा इन्द्रियों को आत्मिक अधिकार में लेकर उनसे शुद्ध प्रवृत्तियाँ करवाता है। चरित्र के दो

पक्ष हैं- एक विचार, दूसरा आचार। विचारों की विमलता एवं आचार की पवित्रता ही उन्नत चरित्र का प्रतीक बनती है। न तो विचार शून्य आचार और न ही आचार शून्य विचार का कोई अर्थ होता है, जीवन विकास के लिये दोनों समान रूप से अनुपयोगी होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वयं के विशुद्ध चिन्तन-मनन से उद्‌भुत विचारों को जीवन-व्यवहार में साकार रूप देना ही आचार का सच्चा लक्षण है। जिस प्रकार के आचार से राग-द्वेष रूपी दुर्भावों का अन्त किया जाए, आत्म स्वरूप पर छाये हुए कर्मों के आवरणों को हटाया जाए एवं अपनी सारी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में सरलता तथा शुद्धता का समावेश किया जाए, वही आचार उच्च तथा श्रेष्ठ कहा गया है। ऐसे आचार को जीवन में अपनाने से चरित्र निर्माण की दिशा में त्वरित गति से प्रगति संभव होती है।

चरित्र की सार्थकता का जीवन पर अपूर्व प्रभाव पड़ता है चाहे वह जीवन व्यक्ति का हो अथवा किसी भी प्रकार के सामूहिक संगठन का, क्योंकि किसी भी संगठन के नियामक में और संचालक व्यक्ति ही होते हैं। हमें यह सोचना छोड़ देना चाहिए कि हम अज्ञानी और अकर्मण्य हैं। निम्नस्तरीय विचारों के कारण हमारे मानस में हीन मनोवृत्ति की जटिल ग्रंथि जड़ पकड़ लेती है और वह इस तरह संपूर्ण व्यवहार को जकड़ लेती है कि मनुष्य की अक्षमता कभी भी दूर नहीं की जा सकती है। हम भी यदि इस ग्रंथि की पकड़ में आ जाते हैं तो मानिए कि जीवन में कभी भी उन्नति नहीं कर पाएंगे। हमें सदैव इस विश्वास को दृढ़ बनाना चाहिये कि हमारी अन्तरात्मा में पूर्णता निहित है, जिसे अपने चरित्र बल से हम प्राप्त कर सकते हैं। सब कुछ साधने की हमारे भीतर शक्ति मौजूद है और वह है चरित्र की शक्ति। इस शक्ति का यदि पूर्ण उत्साह, विश्वास एवं साहस के साथ प्रकटीकरण किया जाए और उसे निरन्तर सुदृढ़ बनाई जाए तो अपने को अज्ञ या अल्पज्ञ मानने की हीन मनोवृत्ति का समूल अन्त हो जाएगा।

मूलतः चरित्र की यथार्थता है उसकी अशुभता से शुभता की ओर गति

चरित्र की सरल एवं सुबोध व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस शक्ति के प्रभाव से व्यक्ति का जीवन अशुभ कार्यों से निवृत्त होवे तथा वह शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करे **(असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्तो य जाण चरित्तं)** और शुभ क्या- यह सब लोग व्याख्यात्मक दृष्टि से भले ही न जानते हो; किन्तु अनुभवात्मक दृष्टि से पूरी तरह जानते हैं। अपना और सबका भला हो वैसी वृत्ति तथा प्रवृत्ति शुभ मानी जाती है। इससे विपरीत वृत्ति तथा प्रवृत्ति अशुभ कही जाएगी। संक्षेप में चरित्र की यही व्याख्या है कि अशुभता से शुभता की ओर चलो तथा निरन्तर चलते रहो।

वस्तुतः चरित्र ही एक ऐसी भव्य शक्ति तथा दिव्य ज्योति है जिसके बल और प्रकाश से मानव न केवल अशुभ कार्यों को त्यागते हुए शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करता है, अपितु असंभव कार्यों को भी संभव बना लेता है। सूर्य का प्रकाश दिन में रहता है, रात्रि में नहीं और उसके प्रकाश में तप्तता होती है शीतलता नहीं, परन्तु चरित्रशीलता के प्रकाश में बस प्रकाश ही प्रकाश होता है- पथदर्शक एवं शीतल प्रकाश जिसकी अनुभूति मात्र सर्वत्र जीवन विकास को प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। सभी प्रकार के तापों तथा संतापों का हरण करने एवं आनन्द को वरण करने की शक्ति चरित्र के प्रकाश में निहित होती है। उन्नत चारित्रिक शक्ति जीवन शुद्धि के सभी क्रिया-कलापों में अपना गहरा प्रभाव

छोड़ती है। जिसकी चारित्रिक शक्ति सुगठित, शुद्ध एवं सुदृढ़ बन जाती है, उस व्यक्ति के दैनिक जीवन में भी किसी के अहित का, अनिष्ट का, अमंगल का विचार या आचार में तनिक-सा भी अंश नहीं रहता है। वह सर्वहित का साधक बन जाता है। उसकी प्रत्येक क्रिया सर्व मंगलमय, सर्वसुखद तथा सर्वोत्तम बन जाती है। यही चरित्र की उपयोगिता, सार्थकता एवं महत्ता है।

मानव जीवन का सर्व सुखद पहलू है उसका पवित्र चरित्र। यह जितना विकसित होता जाता है उतना ही स्वभाव-मधुरता, मित्रता, प्राणीवत्सलता, आत्मोपम्य भावना, सहिष्णुता एवं समग्रता बढ़ती जाती है। परिणामस्वरूप एक चरित्रवान व्यक्ति स्व-पर में सुख-शान्ति एवं अखूट आनन्द की अनुभूति करता है। बाहर के चलने से भी यह भीतर का चलना अधिक गंभीर, अधिक सुखदायक तथा अधिक हितकारक होता है। बाहर के चलने की भौतिक दूरी तो दिखाई देती है लेकिन भीतर चलने की आत्मोन्नति की दूरी का कोई माप नहीं, वह चन्द्ररुद्राचार्य के शिष्य के समान कैवल्य ज्ञान तक पहुँच सकती है। यह चरित्र का चरम उत्कर्ष होता है। इस दिशा में जो साधक एवं महापुरुष अग्रगामी होते हैं, उनका जीवन ही चरित्र का जीवन्त रूप धारण कर लेता है। तभी तो वैसे जीवन को चरित्र कहा जाता है, जैसे कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का जीवनोल्लेख उनका जीवन चरित्र कहा जाता है तो महाकवि तुलसीदास ने श्रीराम की जीवन गाथा को 'रामचरित मानस' नाम दिया। आशय यह कि उत्कृष्ट जीवन को ही चरित्र की संज्ञा दे दी जाती है। आखिर महापुरुष का चलना आदर्श चलता तो होता ही है।

इस दृष्टि से चलने यानी चरित्र का सम्बन्ध जीवन की प्रत्येक क्रिया से होता है- कैसे उठना, कैसे बैठना, कैसे सोना, कैसे खाना, कैसे बोलना और कैसे चलना आदि। इन सबका सम्यक् समाधान हमें चरित्र के द्वारा प्राप्त होता है। चरित्र को चाल-ढाल या चाल-चलन का प्रतीक माना गया है। यदि जीवन के सारे कार्य सावधानी, सतर्कता एवं यतनापूर्वक होते हैं तो वह निष्पापता का संकेत होता है (**जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं मासे, जयं सए, जयं भुजन्तो भासन्तो, पाव कम्मं न बंधई**- महावीर) यह यतना चरित्र का लक्षण है। ये सब कार्य मानव को अशुभता से दूर करते हैं तथा शुभता की ओर आगे ले जाते हैं। मूलत: चरित्र की यही प्रामाणिकता एवं सार्थकता है कि अशुभ कार्यों से निवृत्ति होती जाए एवं शुभ कार्यों में प्रवृत्ति बढ़ती जाए।

चरित्र के समानार्थक शब्दों का अन्तर्भाव एक, पर व्यवहार के रूप अनेक

चरित्र के अनेक समानार्थक शब्द हैं, यथा-चरण, आचरण, आचार, चरति, चरैवेति, चाल-चलन आदि, किन्तु प्रत्येक शब्द का मूल 'चर्' धातु में ही समाविष्ट है। प्रत्येक शब्द का बोध 'चलने' में ही रहा हुआ है। यह अवश्य जानने की बात है कि कि चलना किस प्रकार, किस दिशा में और कहाँ तक?

सब समानार्थक शब्दों के भाव की एकरूपता को दृष्टि में रखते हुए सबसे पहले यह जानना होगा कि हमारी मंजिल क्या है? उसका मार्ग कौनसा है? हमें कहाँ जाना है और हम जा कहाँ रहे हैं? यह निर्धारित कर लेने के बाद का चलना ही असल में चलना है। उस ओर तब तक चलना है जब तक हमें हमारी मंजिल न मिल जाए। एक साधक उस प्रकार का यात्री होता है, जिसको सतत चलना

ही चलना होता है, बीच में कहीं विश्राम नहीं होता (**इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना : किन्तु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं- जयशंकर प्रसाद**) इस प्रकार चलते रहना ही मानव जीवन का मंत्र है और उसका चरित्र।

ब्राह्मण ग्रंथों में एक मंत्र आता है- **चरैवेति चरैवेति**। इसका अर्थ है- चलते रहो, चलते रहो। चलते रहने का विश्लेषण किया गया है- कर्त्तव्य पथ में सोने वाले के लिये कलियुग है, जम्हाई लेने वाले के लिये द्वापर है, उठ-बैठने वाले के लिये त्रेता है और पथ पर चल पड़ने वाले के लिए सतयुग है- इसीलिए कहा गया कि चलते रहो, चलते रहो अर्थात् चरैवेति, चरैवेति। चलते रहने वाले के लिये सदा सतयुग रहता है। संसार में यदि कोई कहीं स्थायी डेरा जमाना भी चाहें तो महाकाल किसी को कहाँ जमने देता है? अब यह दूसरी बात है कि चलते रहने के बावजूद कोई विपथगामी तो जाता है। उसकी विपथगामिता या उल्टा चलना चरित्रहीनता का द्योतक बनता है। यों चलने के बारे में भी कहा गया है कि चलो और चलते रहो लेकिन संभल कर। जैसे सर्प गरुड़ के निकट डरता हुआ बहुत संभलकर चलता है कि कहीं वह गरुड़ के चंगुल में न फँस जाए, उसी प्रकार मानव को सांसारिकता की मोहक कामनाओं, अन्तरहित इच्छाओं तथा पतन कराने वाली वासनाओं से सतर्क रहते हुए चलना चाहिए (**गिद्धोवमे उ नच्चाणं कामे संसार वड्डणे : उरगो सुवण्ण पासेव्व संकमाणो तणुं चरे**- उत्तराध्ययन 14/47)।

चरण, आचरण और आचार शब्दों का भी अन्तर्भाव एक ही है किन्तु इन शब्दों का व्यवहार अलग-अलग रूप से किया जा सकता है। जैसे जीवन में सामान्य रूप से सद्गुणों को अपनाने का नाम आचरण है तो आचार उस साधना पद्धति का संकेत माना जाता है जो आत्मा के भीतर चलने का बल और संबल प्रदान करती है। इस आचार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है- आचार शब्द 'आ' उपसर्ग चर् (गति भेसंणिया) धातु से निर्मित है। गति भेक्षणार्थक चर् धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने पर 'आचार' शब्द बनता है। इसमें 'आ' उपसर्ग मर्यादा के अर्थ में तथा 'चार' चलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यों कालनियमादि के लक्षण से मर्यादापूर्वक चलना आचार है। आचार के लक्षण के रूप में मर्यादापूर्वक चलना, मर्यादित जीवन बिताना हो सकता है अगर व्यक्ति अपने जीवन को मर्यादापूर्वक नहीं रखता है तो उसका आचरण भी कदापि शुद्ध नहीं रह पाता है। जैन परम्परा में जो अनुष्ठान जीवन व्यवहार अथवा आचरण ज्ञानादि पंचविध आचारों के अनुकूल हो, वह आचार कहलाता है और जो इनके प्रतिकूल हो वह अनाचार (**आ मज्जाया वयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो : सो होई णाण दंसण चरित्ततव-विरिय वियप्पो**-अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-2 पृष्ठ 330/368)।

चरित्र को समझने के लिये सामान्य जन हेतु 'चाल-चलन' शब्द बहुत उपयुक्त है। चरण शब्द शुद्ध रूप से चलने के अर्थ में सम्पन्न है तथा पैरों का यह परिष्कृत नाम चलने की सफलता, श्रेष्ठता एवं अजेयता का प्रतीक है- तभी तो चरण शरण मांगी जाती है अर्थात् उन महापुरुषों के चरणों में शरण मिले जो चरण चलते रहने के बाद लक्ष्य प्राप्त कर चुके हैं। चरणों में जो प्रणाम किया जाता है, वह वरिष्ठ जन से महापुरुष एवं प्रभु के चरण तक पहुँचता है। यों चरण प्रणम्य माना गया है। लेकिन

उस चरण का ही तो गुण है चलना और यह चलना जब शुरू होता है और निरन्तर होता रहता है तभी तो अपरिपक्वता की स्थिति से परिपक्वता की स्थिति तक पहुँचता है। चलना एक नादान का भी होता है और एक साधक का भी। चलना बेडोल भी होता है तो चलना सधा हुआ भी। कभी चलना किसी भी प्रकार की अस्थिरता से ग्रस्त होता है तो वही चलना पक कर स्थिर एवं सुदृढ़ भी बन जाता है। आम आदमी की बोली में इस चलने को चला का नाम दिया गया है और इस चाल का जो रंग-ढंग सामने आता है उसे चलन कहा जाता है। इस प्रकार चाल चलन शब्द पूरे चरित्र शब्द का बोध होता है। सामान्य रूप से जब किसी व्यक्ति के चाल-चलन की आलोचना की जाती है तो उसका अभिप्राय उस व्यक्ति के चरित्र का स्वरूप बताना ही होता है। कुल मिला कर चरित्र एवं उसके समानार्थक शब्दों का मूल अन्तर्भाव एक ही होता है। यह अलग बात है कि एक-एक शब्द का व्यवहार विभिन्न परिस्थिति एवं समय के संदर्भ में किया जाता है।

चरित्रशीलता गुण और कर्म के महल खड़े करती है नैतिकता की नींव पर

सभी जानते हैं कि अंधकार को समाप्त करने के लिये सूर्य को कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता है। सूर्योदय होते ही जैसे अंधकार स्वयं ही भाग जाता है, वैसे ही चरित्रशील बनते ही व्यक्ति की अनेकानेक विपत्तियाँ स्वत: ही समाप्त हो जाती है। यही नहीं, नैतिकता की नींव पर खड़ी की गई चरित्रशीलता गुण और कर्म के ऐसे ऊँचे प्रतिमान स्थापित करती है कि जो संसार के लिये पथ प्रदर्शक आदर्शों का रूप धारण कर लेते हैं। इन ऊँचे प्रतिमानों को गुण और कर्म के महल की उपमा दी जा सकती है।

चरित्रशीलता की पहली सीढ़ी होती है नैतिकता। नैतिक बने बिना कोई व्यक्ति चरित्रशील नहीं बन सकता है। नैतिक जीवन की ओर कदम बढ़ाना वास्तव में मानवता की ओर कदम बढ़ाना है। जो व्यक्ति नैतिकता के मार्ग पर चल पड़ता है, अन्य व्यक्ति ही नहीं, पूरा समाज उसका अनुकरण करने लगता है। इस दृष्टि से जो नैतिकता की नींव मजबूती से डाल दी तो समझिए कि आपने जीवन के सारभूत तत्त्व को प्राप्त करने की दिशा में तेजी से कदम बढ़ा दिया है। यह समझने की बात है कि नैतिकता एक प्रकार की स्वस्थ जीवन प्रणाली का नाम है। इस पर किसी भू-भाग, धर्म-सम्प्रदाय या कि वर्ग संगठन का रंग नहीं होता। नैतिकता को न पूर्व का पक्षपात है, न पश्चिम का। उसे न काले आदमी का, न गोरे-पीले आदमी का पक्षपात है, न ही अन्याय सम्प्रदायों का। नैतिकता को कोई भी अपना सकता है और उनके अनुसार अपने जीवन-व्यवहार को शुद्ध एवं सद्गुणमय बना सकता है, नैतिकता को जिस व्यक्ति ने भी अपनाई है फिर जहाँ भी वह व्यक्ति जाता है, वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। नैतिकता की पक्की सड़क चरित्रशीलता की मंजिल तक जाती है। जहाँ पहुँचने में साधना के उस यात्री को किन्हीं विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। इस संदर्भ में यह सुनिश्चित है कि नैतिकता से अर्जित की गई कम आमदनी भी उस व्यक्ति को जितना अन्दर-बाहर का सुख देती है, उतना सुख अनीति से प्राप्त अपार धन के स्वामी को भी नहीं मिलता। जो अनीति से धन प्राप्त करके सुख का अनुभव करना चाहता है, वह मानों कच्चे घड़े में पानी भरकर उससे अपनी प्यास बुझाना चाहता है।

नैतिकता की नींव पर चरित्रशीलता का त्वरित एवं श्रेष्ठ विकास होता है जिस के माध्यम से उत्तम गुणों एवं कार्यों की जैसे श्रृंखला ही चल पड़ती है। गुण और कर्म के आधार पर ही चरित्रशील अथवा चरित्रहीन या मानवता अथवा दानवता की पहिचान होती है। जहाँ जीवन और गुण एकमेक हो जाते हैं, वहाँ मानवता के सुमन खिले बिना नहीं रहते। जैसे दूध में शक्कर, दाल में नमक, फूल में सुगंध और दीपक में प्रकाश एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही जीवन और सद्‌गुण एकमेक हो जाए तो कहना ही क्या?

हमारे अन्तरंग मूल्यों का मापक यंत्र हमारा चरित्र है। जीवन व्यवहार में कोई व्यक्ति सफल है या विफल अथवा सर्वहित के क्षेत्र में वह उन्नति कर रहा है अथवा अवनति - उसका मूल्यांकन उसके चरित्र के आधार पर ही किया जा सकता है। चरित्र ऐसी कसौटी है जिस पर रगड़ कर किसी भी जीवन की परख की जा सकती है कि वह कितने टंच तक खरा है। एक व्यक्ति को बिना कुछ कहे-सुने मात्र उसके बोलने, सुनने, समझने व कार्य करने के ढंग को देखकर जाना जा सकता है कि वह कैसा है? जिस व्यक्ति के भीतर में अपने चरित्र को उन्नत बनाए रखने की तमन्ना होती है, वह कभी भी सत्य एवं श्रम से विमुख नहीं होता। उसकी श्रम के प्रति सच्ची निष्ठा होती है कि वह जो कुछ भी अर्जित करेगा, वह अपने श्रम के बल पर ही करेगा तथा श्रम से अर्जित आय से ही अपना निर्वाह चलाएगा। साथ ही वह अपने जीवन में सत्य को इस प्रकार आत्मसात् कर लेता है कि असत्य, छल, कपट के अंश तक को अपने व्यवहार से दूर कर लेता है। वह जैसे श्रम एवं सत्य के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है। जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप में वह श्रम एवं सत्य को सर्वोच्च स्थान देता है तो समाज के विशाल प्रांगण में भी वह श्रम एवं सत्य की प्रतिष्ठा के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने के लिये सदैव तत्पर रहता है। इस रूप में वह अपने जीवन को श्रेष्ठ सिद्धांतों पर आधारित बना देता है और सर्वत्र चरित्रशीलता के प्रसार का प्रेरक वातावरण रच देता है।

अपने मन से एक प्रश्न पूछिए। इस संसार में धर्म सम्प्रदाय अनेक हैं तो जाति एवं वर्ण व्यवस्थाएँ भी अनेक हैं। इन सबके बीच कटुता एवं संघर्ष का व्यवहार तो दिखाई देता है, किन्तु क्या इन सबको एकता के सूत्र में पिरो कर स्थायी शान्ति का सूत्रपात किया जा सकता है? यह जटिल प्रश्न है, सोचिए कि ऐसी कौनसी शक्ति है जिसके माध्यम से सच्ची एकता स्थापित की जा सकती है? गहन विचार मंथन के बाद आपको इसका उत्तर मिलेगा, अवश्य मिलेगा। वह सब एक मात्र शक्ति है चरित्र की शक्ति। चरित्र से प्राप्त आत्म बल कौनसा लक्ष्य है जिसे पा नहीं सकता? जब एक-एक व्यक्ति का चरित्र उभरता है और अपने व्यवहार की प्रेरणा सब ओर फैलाता है तब वहाँ निश्चित रूप से पूरे समाज और संसार में सबको जगाने वाला विशिष्ट आन्दोलन जन्म ले लेता है। यह आन्दोलन सबके जीवन में चरित्र शीलता को एक नया आयाम देता है। चरित्र की शक्ति तब सब में समानता एवं समता जगा देती है।

क्यों बिखर जाता है चरित्रहीन व्यक्ति मिट्‌टी के एक ढेले की तरह?

यह अनुभूत सत्य है कि अर्थ या भौतिक साधन-सुविधाओं के अभाव में व्यक्ति उतने कष्ट का अनुभव नहीं करता, जितना घोर कष्ट वह अपनी चरित्र हीनता के कारण से भुगतता है। एक व्यक्ति

की चरित्रहीनता उसके लिये ही कलंक का कारण नहीं बनती, बल्कि उसके दुष्प्रभाव से पूरा समाज भी नहीं बच पाता है। सच तो यह है कि चरित्र हीनता सम्पूर्ण मानव जाति को कलंक का टीका लगाती है।

गहराई से सोचने, समझने एवं उपयुक्त निर्णय लेने का विषय है कि क्या प्राप्त डिग्रियों, उपाधियों और पदवियों से किसी भी व्यक्ति को योग्य माना जा सकता है? योग्यता मापने के कई मापदंड हो सकते हैं किन्तु सच्ची योग्यता को मापने का खरा मापदंड उसके स्वयं के चरित्र के सिवाय अन्य नहीं हो सकता? वास्तव में चरित्रशीलता का सर्वतोमुखी विकास हुए बिना हितकारक योग्यताएँ प्रकट ही नहीं होती। योग्यता का मुख्य आधार ही किसी का अपना चरित्र विकास है। वही नागरिक सद्नागरिक है जिसके चरित्र में हिंसा, शोषण, अपराध एवं पाप वासनाओं को समूल नाश का संकल्प जाग गया हो।

विभिन्न बाह्य चिह्नों, वेश-भूषाओं तथा उपासना पद्धतियों के रहते सभी धर्मों को एक करना कठिन है किन्तु चारित्रिक मूल्यों की समानता के आधार पर धर्मों में स्थायी एकता कायम की जा सकती है। चरित्र ही वह आधार है, जहाँ सबका सबके प्रति अटूट विश्वास उत्पन्न हो सकता है। अन्यान्य विषयों व संदर्भों को लेकर तो किसी भी धर्म सम्प्रदाय, जाति, वर्ग आदि में विरोध या विवाद पैदा हो सकता है और बना रह सकता है, किन्तु सच्चरित्रता को लेकर कभी कोई विवाद पैदा नहीं हो सकता और टिका नहीं रह सकता। कारण, प्रत्येक धर्म चरित्रशीलता का समर्थक एवं सम्पोषक रहा है। धार्मिक, नैतिक अथवा सामाजिक राष्ट्रीय समस्याएँ इतनी गंभीर नहीं है जितनी गंभीर समस्या है चारित्रिक पतन की यानी चरित्रहीनता की। चारित्रिक पक्ष जितना सजग और सशक्त होगा, उतनी ही सरलता से अन्यान्य सभी समस्याओं का सर्वमान्य समाधान निकाला जा सकेगा। हकीकत में सारी समस्याएँ चरित्र-सम्पन्नता के वातावरण में स्वत: ही समाहित होती जाती है। चरित्र सम्पन्न वातावरण की तो यह विशेषता होती है कि समस्याएँ पैदा ही नहीं होती हैं। चरित्र का अभाव ही समस्याएँ पैदा करता है और उनका हल नहीं निकलने देता। माना जाना चाहिए कि चरित्र ही समाज तथा राष्ट्र का मेरूदंड है। शरीर में जो आधारगत स्थान मेरूदंड का है, वही स्थान जीवन में चरित्र का है।

चारित्रिक पतन के कई कारण हो सकते हैं, किन्तु उनमें बड़ा कारण है। व्यसन-व्यसन बढ़ते जाते हैं और चरित्र गिरता जाता है और जीवन उतना ही निरर्थक बनता जाता है। अधिकतर व्यसन ही व्यक्ति को अनीति, शोषण, असहिष्णुता, अन्याय, आक्रमण, अपहरण, असामाजिकता आदि के मार्ग पर ले जाते हैं। जीवन से लेकर जगत् तक का सौन्दर्य चरित्र की उज्ज्वलता में ही समाया हुआ होता है। इस कारण चरित्र का ह्रास उस सौन्दर्य को कुरूपता में बदलता रहता है। चरित्र के ह्रास के अन्य कारण- (1) शक्ति के साथ अहं। (2) सम्पत्ति के साथ मद, अविवेक एवं दुर्बुद्धि। (3)शौर्य्य के साथ स्वच्छंदता। (4) सम्मान की उद्दाम लालसा व यशलिप्सा। (5) अधिकारों के प्रति स्वार्थलोलुपता। (6) ज्ञान के साथ उन्माद। (7) भौतिक संसाधनों का आकर्षण आदि। ये दोष जब जीवनचर्या के साथ जुड़ जाते हैं, तब मानव का चरित्र पतन की राह पर आगे बढ़ता जाता है। इन कारणों के सिवाय कभी-कभी विवशता का शिकंजा भी इतनी कड़ाई से कस जाता है जो एक चरित्रनिष्ठ व्यक्ति को

भी पतित बना देता है। आज के विषम समाज में कई बार ऐसे विवशताजन्य पतन के दृश्य देखे जा सकते हैं। अन्यान्य प्रकार की विषमताओं में आर्थिक विषमता बड़ी कष्टदायक होती है। एक गरीब सच्चाई और ईमानदारी में पक्का विश्वास रखता है और अपने चरित्र को बेदाग रखना चाहता है लेकिन अर्थाभाव में ऐसी कठिन परिस्थिति सामने आ जाती है जो उसे अपने अब तक के साफ चरित्र को गिरा देने को मजबूर बना देती है। समझिए कि एक गरीब की माँ सख्त बीमार है और उसकी जीवन रक्षा के लिये अमुक सर्जरी जरूरी है। उसमें हजारों रूपये चाहिये और उसके पास एक पैसा भी नहीं। इस पर वह कोई अपराध करके आवश्यक धन जुटाता है तो इसे उसकी मजबूरी माननी होगी। एक ओर जहाँ मजबूरी से चरित्र का ह्रास होता है तो दूसरी ओर धनाढ्य व्यक्ति मदोन्मत्त बन कर अपराध करते हैं और अपने चरित्र का पतन करते हैं। चरित्र की स्वस्थता के लिये सामाजिक विषमताओं को दूर करना पहली आवश्यकता है। चरित्र विकास के लिये समुचित धरातल का निर्माण जरूरी है।

चरित्रशीलता को एक सतत प्रवहमान नदी का रूप दिया जाए तो संस्कार और सदाचार उस नदी के दोनों किनारे होंगे। संस्कार जितने सुन्दर और सदाचार जितना सुदृढ़ होगा, नदी का प्रवाह भी कभी अवरुद्ध नहीं होगा, न ही वह कभी जलहीन होकर शुष्क बनेगी। किन्तु व्यक्तिगत लिप्सा, सामाजिक विषमता अथवा व्यवस्था की असंगतता के कारण जब वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवन में चरित्र का ह्रास होने लगता है तो नदी का प्रवाह मन्द होता है, जल सूखने लगता है और वैसी दुर्दशा में दोनों किनारे भी बिखरने लगते हैं। संस्कार और सदाचार जब बिखरते हैं तब व्यक्ति कहाँ बचता है? चरित्रहीन व्यक्ति मिट्टी के एक ढेले की तरह बिखर कर चूर-चूर हो जाता है। चरित्र निष्ठा के साथ जिस व्यक्ति एवं समाज को मणि के समान दमकना चाहिए वही व्यक्ति या समाज चरित्र के अभाव में अस्त-व्यस्त, विश्रृंखल एवं शून्यवत् बन जाता है।

आध्यात्मिक जगत् में चरित्र या चारित्र की ऊँचाइयों की थाह लीजिये!

जैसी कि चरित्र की सामान्य व्याख्या दी गई है कि चरित्र अशुभ कार्यों से निवृत्ति दिला कर व्यक्ति को शुभ कार्यों में प्रवृत्त करता है, यह सामान्य व्याख्या निम्नतम स्तर से लेकर विशिष्ट एवं सर्वोच्च शिखर तक भी लागू होती है- यह दूसरी बात है कि अशुभता से निवृत्ति उसकी छोटी-छोटी बारीकियों तक ली जाती है तो शुभता के अति सूक्ष्म छोरों को प्रवृत्ति की सीमा में सम्मिलित किया जाता है। बाह्य जीवन की स्थूलता से लेकर अन्तर्जीवन की सूक्ष्मता तक चरित्रशीलता व्याप्त हो जाती है तो उस चरित्रशीलता का स्वरूप भी गहन ज्ञान तथा कठिन आचार वाला बन जाता है।

आध्यात्मिक जगत् में चरित्र या चारित्र की ऊंचाइयों की थाह लेना निश्चय ही आनन्द एवं प्रेरणा का विषय है। जब अन्तस में आनन्द पैदा होता है तो वह अन्दर-बाहर सब ओर फैल जाता है। ऐसे आनन्द से एक प्रेरणा फूटती है कि चरित्र विकास की स्थूलता से हम भी उसके सूक्ष्म क्षेत्र में आगे बढ़ें तथा उन ऊँचाइयों की और गमन करने की चेष्टा करें।

यह परिपूर्ण चारित्र की परिभाषा है कि विशुद्ध आत्मा का विशुद्ध चारित्र ही एक अखंड और

वास्तविक चारित्र है और वही परिपूर्ण है- (**एगे चरित्ते**-स्थानांग सूत्र 1-44)। जीवन में निरन्तर प्रवेश करते हुए दोषों को और उनसे बंधने वाले पाप को रोकना है तो वह सम्यक् चारित्र के द्वारा ही संभव है। चारित्र के अभाव में दोषों से छुटकारा नहीं मिलता (चरित्तेण निगिण्हाइ उत्तराध्ययन 28/35)। तो ऐसे चारित्र का स्वरूप कैसा है? जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन चारित्र का मूलाधार है। यह अज्ञान को सुज्ञान में, अचारित्र को सुचारित्र में तथा अतप को सुतप में परिवर्तित कर देता है। सम्यग्दर्शन के पहले मिथ्यात्व की दशा होती है और मिथ्यात्व चारित्र विकास का बाधक होता है। इस दर्शन में मोक्ष को परम लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग बताया गया है- सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र का मार्ग। यह मार्ग ही धर्म का प्रतीक है। समन्वित रूप में यह धर्म दो प्रकार का कहा गया है- श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। (दुविहे धम्मे पण्णते, तंजहा-सुयधम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव- स्थानांग सूत्र 2-1-72)। श्रुतधर्म में ज्ञान और दर्शन का समावेश है तो चारित्र धर्म में सम्यक् चारित्र का।

आध्यात्मिक दृष्टि से चारित्र किसे कहें? चारित्र वह अनुष्ठान विशेष है जिसके द्वारा आत्मा को विशुद्ध अवस्था में स्थिर रखा जा सकता है। विकल्प में चारित्र मोहनीय कर्म से क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाले विरति परिणाम को चारित्र कहा है। पूर्व संचित कर्मों को जो रिक्त करे वह भी चारित्र है- (चित्तं रिक्तं करोतीति चारित्रम्-नियुक्ति)। मोक्षाभिलाषी आत्मा पूर्वसंचित कर्मों को दूर करने के लिये सर्वसावद्य योग की निवृत्ति करती है, वही चारित्र कहलाता है (**एयं चयरित्तकरं चारित्तं होई आहिय**- उत्तराध्ययन 28/33)।

भावों की शुद्धि के उतार-चढ़ाव या तरतम भाव की अपेक्षा से चारित्र के पांच भेद हैं- (1) **सामायिक चारित्र**- समभाव में स्थित रहने के लिये समस्त अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। समभाव का अर्थ है राग-द्वेष को घटाना-मिटाना, आत्मशुद्धि को प्राप्त करना तथा सांसारिकता से विरक्ति लेने का अभ्यास करना। इसके लिये हिंसाजन्य यानी सावद्य कार्य कलाप छोड़ने होते है और अहिंसक प्रणाली अपनानी होती है। कालावधि की दृष्टि से सामायिक चारित्र के दो भेद कहे हैं- (अ) इत्वरकालिक अर्थात् अल्पकालिक जिसकी स्थिति अन्तर्मुहुर्त से लेकर छः माह तक की हो सकती है। (आ) यावत् कथित अर्थात् जीवनपर्यन्त की सामायिक। इसे यावत् जीवन के लिये अँगीकार करना होता है। यह दीक्षामंत्र है। (2) **छेदोपस्थापन चारित्र**- इस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद करके महाव्रतों का पुनः उपस्थापन-आरोपण होता है। यह चारित्र भरत-एरावत क्षेत्र में प्रचलित है। (3) **परिहार विशुद्धि चारित्र**-जिसमें विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है वह परिहार विशुद्धि चारित्र है। इसे कर्मों और दोषों का विशेष रूप से परिहार करने वाला और कर्म निर्जरा द्वारा विशिष्ट विशुद्धि लाने वाला चारित्र भी कहा जा सकता है। इस चारित्र के दो भेद हैं- (अ) निर्विश्या मानक तप करने वाले पारिहारिक साधु और (आ) निर्विष्ट कार्यिक तप करके वैयावृत्य करने वाले आनुपहारिक साधु। (4) **सूक्ष्म सम्पराय चारित्र**- जिस चारित्र में कषाय भाव (साम्पराय) अतीव सूक्ष्म रह जाता है उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों के चार प्रकारों में सिर्फ संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश ही इस चारित्र में शेष रहता है। इसके दो भेद है- (अ) विशुद्धयमान- क्षपक से उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध होते है। (आ) संक्लिश्यमान- उपशम श्रेणी से

गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेशयुक्त होते हैं। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है। (5) **यथाख्यात चारित्र** - कषाय का तनिक भी उदय नहीं होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध शुद्ध स्वरूप वाला चारित्र यथाख्यात चारित्र है। कषाय रहित साधु का यह यथार्थ निरतिचार चारित्र होता है। इस के दो भेद हैं- (अ) छद्मस्थ- ग्यारहवे व बारहवे गुणस्थान में उपशान्त एवं क्षीण मोह रूप चारित्र। (आ) केवली- सयोगी और अयोगी के रूप में इस चारित्र की उपलब्धि तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में होती है। जैन मान्यतानुसार इस पांचवे आरे में पहले के सामायिक और छेदोपस्थापन अर्थात् दो चारित्र ही पाये जाते हैं।

यों चारित्र के अन्यथा दो भेद भी किये हैं- (1.) सर्व विरति चारित्र यानी अनगार (साधु) का चारित्र जिसमें सम्पूर्ण अशुभ कार्यों से पूर्ण विरति ले ली जाती है। (2.) देश विरति चारित्र अशुभ कार्यों की पूर्णरीति से नहीं, आंशिकरूप से निवृत्ति ली जाती है, वह देशविरति चारित्र है। यह अगार अर्थात् श्रावक चारित्र कहलाता है। इस चरित्र में दो प्रकार के गुण होते हैं जो मूल गुण तथा उत्तरगुण नाम से जाने जाते हैं। मूल गुण पूर्णतया पालनीय होते हैं जिनके पालन के बिना चारित्र में पतन की स्थिति उत्पन्न होती है। उत्तर गुणों में उल्लंघन प्रायाश्चित से संशोधित किया जा सकता है। चारित्र की आराधना को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि जो साधक चारित्र गुणों से हीन है, वह बहुत सारे शास्त्र पढ़ लेने के पश्चात् भी संसार समुद्र में डूब जाता है। (चरण गुण विप्पहीणो, बुड्ढई सुबहुं पि जाणंतो- अभिधान राजेन्द्र कोष 6/442)। यहाँ तक कहा गया है कि शास्त्रों का बहुत-सा अध्ययन भी चरित्रहीन के लिये किस काम का? क्या करोड़ों दीपक जला लेने पर भी अंधे को कोई प्रकाश मिल सकता है? (**सुबहुंपि सुयमहियं, किं काही चरणविप्पहाणस्सः अंधस्स जह पलित्ता, दिवसयसहस्स कोडिवि**- आवश्यक निर्युक्ति-98)। आत्मा के उच्चतम विकास में ज्ञान सहित चारित्र का महत्त्व है।

अन्तर्वृत्ति एवं बाह्य प्रवृत्ति का दर्पण होता है चरित्र

चरित्र ऐसा दर्पण है जिसमें न सिर्फ व्यक्ति की बाह्य प्रवृत्तियों का ही परिचय मिलता है, बल्कि उन बाह्य प्रवृत्तियों का मौलिक रूप से संचालन करने वाली अन्तर्वृत्तियों का भी स्पष्ट दर्शन हो जाता है। चरित्र सच्चरित्र है अथवा दुष्चरित्र- दोनों ही अवस्थाओं का अन्तवृत्तियों एवं बाह्य प्रवृत्तियों की परख-परीक्षा से स्पष्ट चित्रण प्राप्त हो जाता है। जैसे किसी की आँखों में उसके दिल की झलक देखी जा सकती है, वैसे ही चरित्र के संदर्भ से मनुष्य के जीवन की वास्तविकता का ज्ञान किया जा सकता है। चरित्र निर्माण का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति के चरित्र को सच्चरित्रता में रूपांतरित किया जाए। निर्माण की प्रक्रिया में निष्ठा जमती है और बनी रहती है। चरित्र निष्ठा के परिणामस्वरूप मानव आत्मानुशासन, इन्द्रियों पर संयम, मानसिक सन्तुलन तथा प्रत्येक व प्रतिकूल परिस्थिति में सम बने रहने की कला सीखता है। यह कला ही जीवन की सच्ची कला है जिसके आचरण से जीवन में वास्तविक विकास एवं अनुपम आनन्द के स्थायी स्रोत प्रस्फुटित होते हैं।

चरित्र निर्माण की मूल विशेषता होती है कि अशुभ के प्रति ग्लानि, बुराई के प्रति प्रकम्पन एवं दोषों से निवृत्ति प्रभावक बन जाती है। इनके स्थान पर शुभ एवं अच्छाई के प्रति स्वाभाविक आकर्षण

एवं अभिरुचि पैदा हो जाती है। यह परिवर्तन ही मानव को सुदृढ़ रूप से चरित्रनिष्ठ बनाता है। चरित्रनिष्ठ मानव सर्वबली एवं सर्व विजेता बनता है, किन्तु इसका यह बल मनोबल तथा आत्मबल होता है और उसकी विजय हृदय को जीत लेने वाली विजय होती है। वह अकेला होता हुआ भी सदैव निर्भय रहता है- किसी से भी कभी भयभीत नहीं होता। उसका अटल विश्वास अस्त्र-शस्त्रों पर नहीं बल्कि अपनी आत्मिक शक्ति पर होता है। चरित्रबल जहाँ है, वहाँ अन्य सारे बल न भी हो तब भी उस व्यक्ति के शौर्य प्रदर्शन में कोई अन्तर नहीं आता है। कारण, उसके विवेक का दीप सदा प्रज्वलित रहता है। उसी के प्रकाश में वह अपना मार्ग बनाता रहता है और कैसी भी परिस्थिति में मार्ग से विचलित नहीं होता है।

यह खेद का विषय है कि भौतिक सुख-सुविधाओं एवं प्राप्तियों के लोभ में आज मानव को चरित्र निर्माण के प्रति आस्था डगमगाने लगी है। वह अनास्था के वृत्त में भ्रमित है। किन्तु उसे चरित्र निर्माण के प्रति पुनः आस्थावान बनाना अतीव कठिन नहीं। एक सतत अभियान एवं आन्दोलन के माध्यम से मानव को जगाया जा सकता है क्योंकि वह जाग्रत होकर ही चरित्रहीनता के भीषण दुष्परिणामों का सही आकलन कर सकता है। कई बार पढ़े-लिखे लोगों को चरित्रहीन होते हुए देखना कष्टकारक होता है जबकि अनपढ़ लोग आसानी से चरित्र निर्माण का महत्त्व समझ लेते हैं। देखा जाए तो अणु बम तथा परमाणु शस्त्र भी उतने खतरनाक नहीं होते, जितनी खतरनाक चरित्रहीनता होती है। ये शस्त्र तो एक बार विनाश करते हैं किन्तु चरित्रहीनता सदियों तक मनुष्य को, उसके संगठनों को, उसके समाज और संसार को महाविनाश की ओर धकेलती जाती है। चरित्रहीनता ही मूल में होती है जो सर्वत्र हिंसा, प्रतिशोध, घृणा, वैमनस्य एवं आपराधिकता का राक्षसी वातावरण सब को संकटग्रस्त बनाये रखती है। सत्यतः चरित्र निर्माण के सिवाय उन्नति, शान्ति और सुख की और कोई राह नहीं। आगे या पीछे इस राह पर चले बिना न व्यक्ति का विस्तार है और न ही विश्व का। सत्य का साक्षात्कार शुद्ध चरित्र की पराकाष्ठा पर ही संभव है।

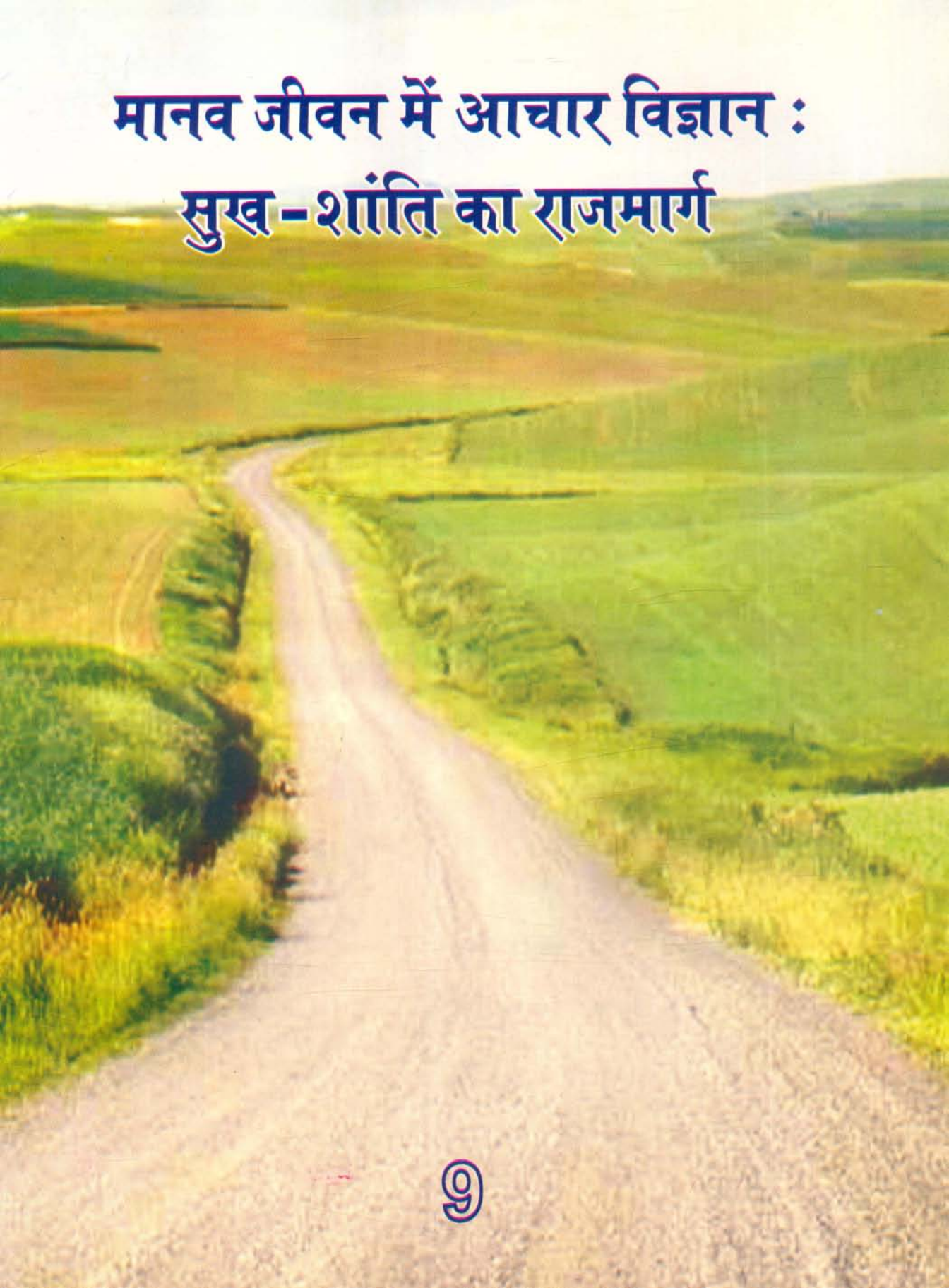
चरित्र की व्याख्या को समझें, उसका विश्लेषण करें और शुभता को अपनावें!

चरित्र की व्याख्या अति गूढ़ भी है तो अतीव सरल भी। सरलता के शब्दों में कहा जा सकता है कि अपने चाल-चलन को सुधारो। इस में विश्लेषण का भी समावेश हो जाएगा और संशोधन का भी। पहले स्थूलता को और बाहरी प्रवृत्तियों को भलीभाँति समझ कर चाल-चलन को तदनुरूप ढालना शुरू कर दिया तो आगे बढ़ने में कोई कठिनाई सामने नहीं आवेगी। चाल-चलन को सुधारने का मतलब ही यह होगा कि बुरे विचार और बुरे काम छोड़ों और अपने विचारों तथा कार्यों को अपनी अच्छाई और सबकी भलाई में लगाओ। इससे अशुभता से दूर हटने और शुभता को अपनाने का विवेक भी जाग जाएगा। इसके साथ ही चरित्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी।

चरित्र निर्माण से चरित्र गठन, उससे चरित्रशीलता और चरित्रनिष्ठा- फिर सूक्ष्मता के द्वार अपने आप खुलते जाएंगे और आत्मोन्नति के भी।

◆◆◆

मानव जीवन में आचार विज्ञान : सुख-शांति का राजमार्ग



9



मानव जीवन में आचार विज्ञान : सुख शांति का राजमार्ग

आचार : धर्म का प्रेरक, प्रहरी और प्रस्तोता

जीने की कला वही सीखता, उसे अमल में लाता और जीवन में सुख-शान्ति का संचार करता है, जो चरित्र निर्माण की दिशा में स्थिर गति से आगे बढ़ता है। चरित्र कहें या आचार-यह साधना का मार्ग होता है। आचार के मार्ग पर आगे बढ़ने का सबसे बड़ा अवरोध होता है मानव का स्वयं का अहंकार। योग्यता उपयुक्त है या नहीं अथवा प्राप्ति पर्याप्त है या नहीं-आज जिधर देखें, लोगों के सिर पर 'मैं' का भूत चढ़ा रहता है। अहंकारी व्यक्ति अन्य को कुछ समझता ही नहीं है। उस अहंकार के वशीभूत होकर वह अपने अधिकारों का अतिक्रमण करता है, अपनी सीमाओं को लांघकर दूसरों की सीमा में घुसता है और अपने सामर्थ्य से बाहर जाकर सब कुछ करने की सोचता है तो वैसे व्यक्ति की सुख-शान्ति क्या विलीन नहीं हो जाएगी?

शान्ति का मार्ग तब मिलेगा जब व्यक्ति आचारनिष्ठ बनेगा और वह आचारनिष्ठ तब बनेगा जब अपने अहंकार का शमन कर लेगा। चरित्र निर्माण के मार्ग पर कोई अधिक तीव्र गति से तब बढ़ सकता है जब उसके सामने किन्हीं आचारनिष्ठ साधक का आदर्श जीवन अनुभव में

आवे। ऐसी ही एक कहानी है जो आप को आचारनिष्ठ बनने तथा शान्ति की राह पर खोजने के महद् कार्य में प्रेरक बनेगी।

एक मुनि के पास एक बार एक भक्त पहुँचा। उसने भावपूर्वक वन्दन किया और कहा-महाराज! मेरे मन को शान्ति प्राप्त हो सके-ऐसा कुछ उपदेश दीजिए, मुनि ने उत्तर दिया-'सुनने से देखने का ज्यादा असर होता है। मैं तुम्हें ऐसे व्यक्ति के पास भेज रहा हूँ जिनके जीवन की झलक पा कर तुम्हें शान्ति का मार्ग मिल जाएगा।' भक्त प्रसन्न हुआ, बोला-'वे आदर्श पुरुष कौन हैं? मैं शीघ्र उनकी सेवा में पहुँच जाना चाहता हूँ।' मुनि ने अमुक नगर के नगर सेठ का नाम बताया और उनके पास पहुँचने का निर्देश दिया।

भक्त शीघ्रातिशीघ्र नगर सेठ के वहाँ पहुँच गया, उसने उनसे निवेदन किया--अमुक मुनि महाराज ने उसे उनके पास भेजा है। कृपा करके मुझे शान्ति का मार्ग बतलाइए। सेठ ने उस भक्त को एक पारखी दृष्टि से ऊपर से नीचे तक देखा और कहा-तुम यहाँ कुछ दिन मेरे साथ रहो और सब कुछ देखते रहो। भक्त कुछ दिन वहां रहा और जो कुछ उसकी आँखों के आगे घटता-गुजरता वह रुचिपूर्वक देखता रहता।

सेठ ने भी उसके बाद कई दिनों तक न कुछ पूछा और न अपनी ओर से उसे कुछ कहा। सेठ तो रात-दिन अपने काम धंधे में जुटे रहते। उनके वहाँ सैंकड़ों व्यापारी आते-जाते और मुनीम गुमाश्ते ढेर सारे बही खाते लिखते रहते और सेठ सब में व्यस्त रहते। देखते-देखते भक्त घबरा गया, सोचने लगा कि जो स्वयं रात दिन माया के चक्कर में फँसा है और जिसे पलभर की भी शान्ति नहीं है, भला वह उसे क्या शान्ति का मार्ग बताएगा? मुनि ने मुझे बिना सोचे समझे कहाँ भेज दिया?

एक दिन सेठ अपनी गद्दी पर बैठा था और भक्त भी पास ही में बैठा था। तभी एक मुनीम घबराया हुआ आया और बोला-सेठ साहब! गजब हो गया। अमुक जहाज जिसमें अपना दस लाख का माल लदा हुआ था अब तक भी वह बन्दरगाह पर नहीं पहुँचा है। पता चला है कि समुद्री तूफान में फँसकर जहाज कहीं डूब गया है। सेठ ने गंभीरता पूर्वक कहा-मुनीम जी! शान्त रहो। घबराते क्यों हो? डूब गया तो क्या हुआ? क्या यह अनहोनी है? प्रयत्न करने पर भी डूबने से जहाज को नहीं बचाया जा सका तो नहीं बचाया जा सका। अब बिखरे हुए दूध पर घबराना कैसा?

उस वार्तालाप को कुछ ही दिन बीते थे कि एक दिन फिर मुनीम जी दौड़े-दौड़े आए और खुशी से नाचते हुए से बोले-सेठ साहब! भारी खुशखबरी है। जिस जहाज को हम डूब गया समझ रहे थे, वह अब सही सलामत बन्दरगाह पर पहुँच गया है। हमारा माल उतरने से पहले ही दुगुने भाव में बिक गया जिससे हमें दस की बजाय बीस लाख की धनराशि प्राप्त हो गई है। सेठ तब भी शान्त रहे-वैसे ही गंभीर। सेठ ने उसी पहले जैसे शान्त मन से कहा-ऐसी क्या बात हो गई? अनहोनी तो कुछ नहीं है। फिर फालतू में फूलना और खुशी से नाचना कैसा? हानि-लाभ तो अपने भाग्य से जुडे हुए हैं, हम क्यों इसके पीछे कभी रोएं और कभी हँसें?

भक्त ने यह सब देखा तो वह स्तब्ध रह गया। दस लाख की हानि तब भी शान्ति और बीस लाख

का लाभ तब भी शान्ति-क्या यही शान्ति तो सेठ की परम उपलब्धि नहीं है? उसका अन्त:करण प्रबुद्ध हो उठा-सेठ के अर्न्तस्वरूप का दर्शन करके जैसे वह धन्य हो गया। सोचने लगा-सेठ को कहीं भी न अहंकार छूता है और न दैन्य। यह गृहस्थ है या परम योगी। वह विगलित होकर सेठ के चरणों में लोट गया, कहने लगा-जिस शान्ति की खोज में मुनि महाराज ने मुझे यहाँ भेजा था, वह शान्ति मुझे यहाँ साक्षात् मिल गई है। शान्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी इसका गुरुमंत्र मुझे आपसे प्राप्त हो गया है। सेठ ने कहा-जिस गुरु ने तुम्हें यहाँ भेजा, उन्हीं गुरु के उपदेश से ही मुझे ऐसा शान्ति का मार्ग मिला है। मैंने कभी भी अपने भाग्य पर अहंकार नहीं किया, न मुझे हीनता का बोध हुआ। मेरे आचार में यह सत्य समा गया कि हानि-लाभ के इस चक्र में मैं कोई कर्त्ता नहीं हूँ, बस निमित्त मात्र हूँ-विश्व में गति चक्र की बहुत बड़ी मशीन का केवल एक छोटा सा पुर्जा। इस कारण न मुझे अहंकार होता है और न ही हीनता या शोक का अनुभव।

अपने आपको सब कुछ कर सकने वाला कर्त्ता मान लेने का जो अहंकार है, वही आचार निष्ठता अथवा चरित्र निर्माण का सबसे बड़ा शत्रु है और इस आत्म शत्रु से विजय प्राप्त करने के लिए समस्वभाव को ढालना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यही बात उपरोक्त दृष्टांत से सिद्ध होती है।

आचार भारतीय चिन्तन का मूल केन्द्र और वही संस्कृति का प्राण

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान रही है और धर्म का प्राण होती है, उसे पाने के लिए की जाने वाली साधना। साधना एक पद्धति होती है जिस का आधार होता है आचार। यों आचार भारतीय चिन्तन का मूल केन्द्र रहा है। यही मूल केन्द्र संस्कृति और उसके माध्यम से समाज को प्राणवान बनाता है। अत: आचार को ही धर्म का प्रेरक, प्रहरी और प्रस्तोता मानना होगा। इस आचार साधना के बल पर ही माना गया कि मोह साथ न हो तब भी अकेले ही धर्म का आचरण करना चाहिए (**एगे चरेज्ज धम्म**-अभिधान राजेन्द्र कोष 1/544)। यही बात उपनिषदों में भी कही गई है कि धर्म पर चलो (**धर्म चर**)। तथागत बुद्ध ने भी आचार को प्राथमिकता दी है। आचार के नियमों की व्याख्याएँ विभिन्न हो सकती है और सभी आचार पद्धति का विश्लेषण अलग कर सकते हैं किन्तु इस सत्य को मानने में कोई विवाद नहीं है कि आचार ही श्रेष्ठ धर्म है। जैनागमों में कहा गया है कि आचार ही पहला धर्म है (**आयारो पढमो धम्मो**)। मनुस्मृति में भी यह मान्यता पुष्ट हुई है कि आचार पहला धर्म है और वह मनुष्यों के लिए कल्याणकारी है (**आचार: प्रथमो धर्मो, नृणां श्रेयस्करो महान्**)। इस दृष्टि से भारतीय परम्परा में आचार का जो व्यापक एवं विशिष्ट विवेचन मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। भारतीय साधना की हर सांस जैसे आचार की सांस होती है और प्रत्येक चरण आचार का चरण होता है। यही कारण है कि भारत में चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन हो या धार्मिक जीवन-सर्वत्र ही आचार की महिमा गाई जाती है-आचार का स्वर मुखरित होता है।

वास्तविकता भी यह है कि मानव जीवन में पग-पग पर और उससे संबंधित विविध साधनाओं में आचार का योगदान सर्वोपरि होता है। यह आचार ही है जो जीवन को सौम्य, निरभिमानी, निर्मल, सात्विक तथा सर्वांगपूर्ण बनाता है। आचार साधना ऐसी दिव्य साधना है जिसके बल पर गृहस्थ और

साधु समान रूप से अपने-अपने जीवन में परिपूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। आचार संसार के व्यवहार को भी संवारता है तो आध्यात्मिक जीवन को भी मुक्ति के द्वार तक पहुँचा देता है। सच यह है कि आचार समग्र साधना का मूलाधार होता है।

वस्तुत: विश्व के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय अथवा समाज में आचार की अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं तथा उसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता पर पूरा-पूरा बल दिया गया है, परन्तु जैन धर्म में आचार के स्वरूप, भेद-प्रभेद, साधना प्रक्रिया आदि को लेकर जितना सूक्ष्म एवं गंभीर चिन्तन किया गया है उतना अन्य धर्मों में विरल ही है। आचार पर जैन मनीषियों ने न केवल चिन्तन ही किया अपितु उसे अपने जीवन में उतारने हेतु विशेष बल भी दिया। इसी कारण जैन श्रमण संस्कृति की आचार संहिता अत्यधिक कठोरतम है।

मानव जीवन की लक्ष्य साधना का मूलाधार है आचार

मानव बुद्धि सम्पन्न प्राणी है, इस कारण उसके प्रत्येक कार्य के पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। उसके पास बुद्धि से विचार तथा विचार से निर्णय की विशिष्ट शक्ति होती है जिसकी सहायता से वह छोटे-मोटे प्रयोजन नहीं, अपने समग्र जीवन के लक्ष्य का भी निर्धारण करता है। लक्ष्य का अभिप्राय यह कि आचार की दिशा से वह भटके नहीं और लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता ही जाए। जब जीवन का लक्ष्य निर्धारित होता है तो उसकी प्राप्ति का मार्ग भी निश्चित किया जाता है। साध्य के साथ साधनों का तालमेल जरूरी है। अत: सम्पूर्ण ज्ञान का प्रयोग होता है साध्य को समझने में तथा उसकी उपलब्धि के लिए आचार पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। यों मानव जीवन की लक्ष्य साधना का मूलाधार होता है-आचार।

चिन्तनीय विषय यह है कि मानव जीवन का लक्ष्य क्या है? लौकिक दृष्टि से भी और आध्यात्मिक दृष्टि से भी? यों लौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों में जो भेद किया जाता है वह न तो समुचित है और न ही स्वाभाविक। जीवन को खंडों में विभाजित करके देखना हितकारक नहीं। जीवन को समग्र रूप में देखना चाहिए और उसकी समग्रता यह है कि मानव संसार में जन्म लेता है, संसार के ही वातावरण में बड़ा होता है, संसार की मिट्टी से ही ज्ञान और आचार के पाठ सीखता है तथा इसी संसार में अपने जीवन को उन्नति के चरम शिखर तक भी ले जाने की क्षमता रखता है। नर से ही नारायण का तथा आत्मा से परमात्मा का स्वरूप समक्ष आता है। अत: इस मानव जीवन का लक्ष्य भी एक ही होना चाहिए।

मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष है। यह लक्ष्य प्रारंभिक भी है और परम भी यानी आरंभिक भी और अन्तिम भी। मोक्ष का सीधा सादा अर्थ है छुटकारा। मनुष्य छुटकारा चाहता है अप्रिय एवं अहितकारी स्थिति से। ऐसी स्थिति में छुटकारा पाने की मनोदशा क्या मानव जीवन में पग-पग पर पैदा नहीं होती? सब अनुभव करते होंगे कि कभी किसी स्थिति में और कभी अन्य स्थिति से मनुष्य अपना छुटकारा चाहता है। ऐसे मोक्ष का अभिलाषी वह हमेशा बना रहता है। अब मोक्ष के विषय में जो आध्यात्मिक मान्यता है, वह उसका एक अन्तिम छोर है तो दूसरा छोर यहीं पर संसार में है। संसार के

छोर को पकड़ कर ही अन्तिम छोर तक पहुँचा जा सकेगा। संसार में जब भी जहाँ भी किसी बुराई का सामना हो तो उससे छुटकारा पाने का प्रयास मोक्ष हेतु किया जाने वाला प्रयास ही माना जाना चाहिए। मोक्ष की आध्यात्मिक व्याख्या उसका अन्तिम छोर है। इस अन्तिम छोर को ही पकड़े रखें और दूसरी ओर के छोर को छुएं भी नहीं तो क्या अन्तिम छोर हमें तार देगा? दोनों छोरों को थामे रखने से ही सकल मोक्ष हो सकेगा। इस दृष्टि से सभी मानवों के लिए मोक्ष चाहिए और वह सिर्फ अन्त में ही नहीं चाहिए बल्कि जीवनारंभ से ही चाहिए। अतः मोक्ष को मानव जीवन का लक्ष्य मानना सर्वथा समुचित है। अन्तिम मोक्ष प्राप्ति के लिए जैन आचार पद्धति में त्रिविध साधन बताए गए हैं, जो हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र (**सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थ सूत्र 1/1-उमास्वाति**)। यही समूचे जैन दर्शन का मूल है। ज्ञान और दर्शन की अपने-अपने स्थान पर महत्ता है किन्तु चारित्र के बिना इनकी सार्थकता नहीं है। इस दृष्टि से चारित्र यानी आचार को मोक्ष का प्रधान कारण कहा गया है (**तस्मात् चारित्रमेव प्रधान मुक्ति कारणं-अभिधान राजेन्द्र कोष 6/337**)।

तो सिद्ध हुआ कि मानव जीवन की सकल लक्ष्य साधना का मूलाधार है-आचार। आचार ही जीवन का मुकुट है जिसकी महिमा अचिन्त्य है। आचार जीवन का दर्पण है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा-परखा जा सकता है और आचार साधना से उसे उन्नत बनाया जा सकता है। आचार समग्र जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर एवं सुन्दरतम बनाता है।

आचार को विज्ञान के रूप में देखना और समझना है तो जैन साहित्य का गंभीर चिन्तन मनन करना होगा। स्वयं भगवान् महावीर का जीवन आचार का साक्षात् जीवन्त स्वरूप है। आचार मानव की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का एक थर्मामीटर है। आचार शब्द का अर्थ इतना व्यापक और विशाल है कि उसमें जीवन को निम्नतम स्तर से उच्चतम शिखर तक पहुँचाने वाले समग्र साधनों का समावेश होता है। भारतीय ऋषि महर्षि इस बात पर एकमत हैं कि इन्द्रियों के विषय-उपभोग से वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। जो आनन्द मिलने का आभास होता है वह भी क्षणिक और दुःखान्त रूप होता है। इसलिए सच्चा और स्थाई आनन्द तो आचार अर्थात् आचरण से ही प्राप्त होता है क्योंकि वह स्वेच्छा से अपनाया जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय संस्कृति में आचार का स्थान सदा ऊँचा रहा, रहता है और रहेगा, क्योंकि आचार ही मानव जीवन की समग्र लक्ष्य साधना का मूलाधार है।

आचार विज्ञान का बहुआयामी स्वरूप : मूल्य एवं मूल्यांकन

धर्म साहित्य में आचार की विभिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं, किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष में आचार शब्द की परिभाषा और अर्थ के बारे में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा गया है- जो अनुष्ठान अथवा प्रवृत्ति मोक्ष के लिए हो या जो आचरण या व्यवहार अहिंसा आदि धर्म से सम्मत एवं शास्त्र विहित हो वह आचार है (**आचारो मोक्षार्थमनुष्ठान विशेषः शास्त्र विहितो व्यवहारः इति**-2/368)। अथवा पूर्व पुरुषों के द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि आचार कही जाती है तो

दूसरी ओर गुणवृद्धि के लिए किया जाने वाला आचरण ही आचार कहलाता है (**आचरणं आचारः, आचरयेते इति वाऽचारः, पूर्वपुरुषा चरिते ज्ञानाद्य सेवनविधौ।** आचरयेते गुणवृद्धये इत्याचारः- 2/368)। आचार शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में भी प्रयोग हुआ है, यथा (अ) ज्ञानाचारादि पंचविध आचारों में मर्यादा पूर्वक चलने के अर्थ में, (आ) साधु समाचारी के विषय में किए जाने वाले आचरण के अर्थ में, (इ) ज्ञानादि आवेसन रूप अनुष्ठान विशेष के अर्थ में (ई) श्रुतज्ञानादि विषय आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष जो काल अध्ययन आदि में किए जाने वाले आचरण के अर्थ में, (उ) साधुओं द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि के अर्थ में, (ऊ) अनुष्ठान विशेष के अर्थ में किया जाने वाला आचरण (2/368)। इस प्रकार आचार शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में हुआ है। आचार के अर्थ रूप में इनका भी उल्लेख है-आत्मचिंतन, आज्ञापालन, आत्मविश्वास, आनन्द देने वाला अथवा आत्मसंयम, आत्म-जागृति, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-आलोचना का प्रदाता।

आचार का वर्गीकरण भी विविध प्रकार से है। आचार निक्षेप चार प्रकार का है-(1) नामाचार-नाम (2) स्थापनाचार-स्थापना (3) द्रव्याचार-नामन, धावन, वासन, शिक्षापन और (4) भावाचार-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य। आचार पांच प्रकार का भी है-(1) ज्ञानाचार-नये ज्ञान की प्राप्ति एवं प्राप्त ज्ञान की रक्षा-आठ उपभेद-कालाचार, विनयाचार, बहुमानाचार, उपधानाचार, अनिह्ववाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और तदुभयाचार। (2) दर्शनाचार-सम्यक्त्व की शुद्ध आराधना-आठ उपभेद-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। (3) चारित्राचार-सर्वसावद्य योग निवृत्ति में पांच समिति और तीन गुप्ति रूप-पांच प्रकार-सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय एवं यथाख्यात। (4) तपाचार-इच्छा निरोध रूप तप का सेवन-बारह भेद-अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता (बाह्य) प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं ध्यान (आभ्यन्तर)। (5) वीर्याचार-चारों आचारों के पालन में आत्मशक्ति का उपयोग-छत्तीस भेद यानी चारों आचारों के कुल भेद। क्या आचार है और क्या अनाचार है? इसके स्वरूप को समझने के लिए कहा गया है कि अतिक्रम, व्यक्तिक्रम, अतिचार और अनाचार के दोषों से संयुक्त होने पर आचार का स्वरूप अनाचारमय हो जाता है। आचार का अभाव अनाचार होता है। आचार तथा अनाचार के लिए आचीर्ण और अनाचीर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। चार आचीर्ण बताए गए हैं-द्रव्याचीर्ण, क्षेत्राचीर्ण, कालाचीर्ण और भावाचीर्ण।

आचार को एक महान् निधि बताया गया है जिसे नाम दिया गया है-आचार प्रणिधि अर्थात् आचार की उत्कृष्ट निधि। जिस साधक को यह प्रणिधि प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार विवेकयुक्त होता है। संक्षेप में इस प्रणिधि की तीन उपलब्धियाँ हैं-(1) कषाय-विषय आदि से अपनी रक्षा करने और कर्म शत्रुओं को हराने में वह साधक समर्थ हो जाता है। (2) आग में तपे सोने के समान वह पूर्वकृत कर्मों के मैल से रहित बन जाता है। (3) अभ्रपटल मुक्त चन्द्रमा की भांति वह कर्म पटल मुक्त सिद्धात्मा बन जाता है। इसी प्रकार आचार समाधि का भी अमित महत्त्व है। जिस आचार के द्वारा आत्मा का हित होता हो वह है

आचार समाधि। आचार समाधि के पालन में ये चार उद्देश्य नहीं होने चाहिए-(1) इहलौकिक उद्देश्य न हो-सांसारिक स्वार्थ साधना की कामना न रहे। (2) पारलौकिक उद्देश्य भी न हो कि स्वर्ग के भोगोपभोग मिले। (3) कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि या स्तुति प्रशस्ति का भी उद्देश्य न हो तथा (4) वीतराग पद प्राप्ति के उद्देश्य के सिवाय अन्य कोई भी उद्देश्य न हो। ऐसा करने पर ही आचार से सच्ची शान्ति एवं सच्चा सुख प्राप्त होता है। सच कहें तो आचार विज्ञान मानव जीवन के लिए सुख-शान्ति का राजमार्ग है।

मानव जीवन में आचार विज्ञान का क्या मूल्य है तथा उसका अंकन किस रूप में किया जाना चाहिए-इसके लिए विचारणा की गहराई में उतरना चाहिए। आचार तो जीवन में अभिव्यक्त होता है और वह जीवन के विभिन्न रूपान्तरों में स्पष्ट दिखाई देता है-यदि उसे देखने की पारखी दृष्टि हो। आचार तो परम धर्म है और जो धर्म व्यवहार में दिखाई दे, उसे शब्दों में कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? जिस प्रकार विज्ञान प्रयोगसिद्ध होता है, वैसे ही आचार भी प्रयोगसिद्ध होता है इसी कारण आचार को विज्ञान बताया गया है। विज्ञान के लिए वर्णन नहीं, प्रयोग ही महत्त्वपूर्ण होता है। शब्द विज्ञान का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते, तदनुसार आचार का भी शाब्दिक मूल्यांकन उपयुक्त नहीं होगा।

आचार तो जीवन में जिया जाता है जो जन्म से ही प्रारंभ हो जाता है। फिर आचार पग-पग पर सीखा भी जाता है, समझा भी जाता है और अपनाया भी जाता है। आचार किसी एक दर्शन की बपौती नहीं, वह तो प्रत्येक जागरूक व्यक्ति की अन्तरानुभूति में प्रकट होने वाला सामर्थ्य है। आचार जब जीवन में प्रवेश पा लेता है तब जीवन में एक नया आयाम खुल जाता है, एक नवीन अनुभूति अन्तःकरण को स्पर्श करने लगती है। वहाँ शब्द और भाषा दोनों मौन हो जाते हैं और आचरण की वाणी इतनी मुखरित हो उठती है कि उसका सद्प्रभाव सबको नई प्रेरणा देने लगता है। आचार का यही जीवन्त, जागृत तथा शाश्वत स्वरूप है जो सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है तथा सार्वकालिक है। विश्व की सभी साधना पद्धतियाँ इस सत्य को स्वीकार करती हैं।

श्रमणाचार में आचार के उत्कृष्ट स्वरूप का दर्शन होता है!

उत्तर वैदिक काल में दो संस्कृतियाँ अतिविख्यात रही-एक श्रमण संस्कृति और दूसरी माहण संस्कृति। इनमें श्रमण संस्कृति आचार-प्रधान संस्कृति रही है। आचार ही श्रमण संस्कृति की मूलभूत आत्मा है और श्रमण संस्कृति का मूल आधार है 'श्रमण'। श्रमण का प्राकृत रूप है '**समण**', जिसका अर्थ है श्रम करना अर्थात् अपने ही श्रम द्वारा स्वयं का विकास। मनुष्य अपने उत्कर्ष या अपकर्ष के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में जो व्यक्ति स्वयं के श्रम से कर्म बन्धन को तोड़ता है अथवा स्वयं को कर्ममुक्त बनाता है, वह श्रमण है। अपने मोक्ष के लिए श्रमण स्व के अतिरिक्त अन्य किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता। उसका एक मात्र आदर्श होता है-कठोर साधना और श्रम। सुश्रमण की एक शास्त्रीय व्याख्या है कि जो परीषहों को सहता हुआ अथवा मध्यस्थ भाव का अवलम्बन लेता हुआ साधना मार्ग में कुशलजनों के साथ रहता है, जो सभी को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है-ऐसा समझ कर त्रस या स्थावर किसी भी जीव को परिताप, संक्लेश या पीड़ा नहीं

पहुँचाता है तथा पृथ्वी की भांति सब प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहता है, वह महामुनि 'श्रमण' या श्रेष्ठ श्रमण कहा जाता है (**उवेहमाणो कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खा तसथावरादुही: अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहादि से सुस्समणे समाहिए**-आचारंग 2/16)। तात्पर्य यह है कि श्रमण तप, त्याग, संयम, परीषह आदि की अग्नि में तप कर अर्थात् स्वयं के कठोर परिश्रम से आत्मा को मुक्त कर 'श्रमण' नाम को सार्थक करता है।

श्रमण के समग्र आचार को सुव्यवस्थित रूप देने हेतु उसके दो भाग किए जा सकते हैं-(1) सामान्य श्रमणाचार से सम्बन्धित विचार तथा (2) विशेष श्रमणाचार से सम्बन्धित विचार। यों दोनों में कोई भिन्नता नहीं है तथा दोनों का हेतु आत्मशुद्धि ही है।

जो आचार नियम श्रमण-श्रमणी के जीवन में नित्य प्रति आचरणीय होते हैं, वह सामान्य श्रमणाचार है। इसके अन्तर्गत इन पहलुओं का समावेश किया जा सकता है-(1) पांच महाव्रत एवं उनकी पच्चीस भावनाएँ-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। (2) पांच समितियाँ-ईर्या समिति (उठने, बैठने, चलने आदि का विवेक) भाषा समिति (भाषा विवेक, असत्य और मिश्र भाषा का त्याग कर सत्य व व्यवहार भाषा का प्रयोग) एषणा समिति (आहार, वस्त्र, पात्र आदि की गवैषणा खोज-सदोष आहार न लें) आदान निक्षेपण समिति (उपकरणों, वस्तुओं आदि को उठाने-रखने में सम्यक् प्रवृत्ति व विवेक) परिष्ठापनिका समिति (मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का एकान्त, निर्दोष, निरवद्य एवं निर्जीव भूमि में विवेकपूर्वक व्युत्सर्जन)। (3) तीन गुप्ति-मनोगुप्ति (मन की चचंलता का गोपन तथा कुत्सित संकल्पों से निवृत्ति) वचन गुप्ति (सदोष वाणी को त्याग वाणी संयम का पालन, वचन विशुद्धि रहे) काय गुप्ति (शारीरिक प्रवृत्तियों की शुद्धि व कायिक संयम) (4) बारह अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोकस्वरूप, बोधि दुर्लभ एवं धर्म। (5) दस विध मुनि धर्म (नैतिक सद्गुण)-क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये पंच महाव्रतों के उपशामक हैं। (6) अवग्रह याचना अर्थात् आज्ञा माँगने सम्बन्धी आचार-आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या (पीठ, फलक, उपाश्रयादि) तथा संस्तारक आदि संयम साधना में सहायक उपकरणों के लिए गृहस्थ से आज्ञा का विधान। तृण जैसी तुच्छ वस्तु का आज्ञा से ही ग्रहण होता है। साधु अदत्त पदार्थ ग्रहण नहीं करता। (7) इन्द्रिय निग्रह-रागद्वेष या आसक्तिपूर्वक अच्छे बुरे शब्दों, दृश्यों या इन्द्रिय विषयों के सेवन का प्रयत्न या संकल्प करने का तथा तद् हेतु गमनागमन करने का निषेध ताकि स्वाध्याय ध्यान आदि में विघ्न न आए। (8) पर क्रिया और अन्यान्य क्रिया सम्बन्धी आचार-गृहस्थ द्वारा की जाने वाली सेवा का निषेध। सामान्य स्थिति में साधु-साधु के बीच तथा साध्वी-साध्वी के बीच भी सेवा शुश्रूषा का निषेध। (9) चातुर्मास एवं मासकल्प-चातुर्मास में तथा अन्यथा ठहरने योग्य स्थान आदि का विवरण।

विशेष श्रमणाचार उन नियमों का नाम है जिनका श्रमण-श्रमणी विशेष प्रसंगों पर अपने पूर्वसंचित कर्मों की विशेष रूप से निर्जरा करने के लिए कड़ाई से पालन करते हैं, यथा-कठोरतम तप, ध्यान, समाधि की साधना जो अति कष्टपूर्ण होती है। ये साधनाएँ सामान्य साधक के लिए अति कठिन होती है। विशेष श्रमण ही घोर परीषहों पर विजय पा सकते हैं। इसी प्रकार विशेष अवसरों पर विविध प्रकार

के अभिग्रहों के साथ तप का आसेवन करना भी विशेष साध्वाचार है। साधना को पूर्णत: सफल बनाने हेतु समाधिमरण (संथारा) रूप आचार का पालन करना भी श्रमण की एक विशिष्ट चर्या है।

विशेष श्रमणाचार के अन्तर्गत प्रधान रूप से तीन बातों पर विचार किया जाता है (1) तप - श्रमण-श्रमणियों के चारित्रिक निखार, दृढ़ आत्मसंयम तथा अन्तर्शुद्धि हेतु तपश्चर्या की महती आवश्यकता है। तप एक प्रकार की अग्नि है, जिसके द्वारा पुराने कर्मों को शीघ्र ही भस्मीभूत किया जा सकता है (आचारांग 1-4-3)। सम्यग् ज्ञान रूपी चक्षु के धारक मुनि के द्वारा कर्म रूपी मैल को दूर करने के लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं (पद्मनन्दिविंशतिका)। बाह्य तप के छ: तथा आभ्यन्तर तप के भी छ:, यों तप के कुल बारह भेद होते हैं-अनशन, ऊनोदरी या अवमोदर्य, वृत्ति परिसंख्यान या भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, संलीनता या विविक्त शय्यासन (बाह्य) तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान व कायोत्सर्ग (आभ्यन्तर)। (2) परीषह-जो सहा जाए, वह परीषह है। श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य है-समत्व, जिसे गीता में समत्व योग कहा है। इस समत्व को भंग करने वाली अनेक अनुकूल-प्रतिकूल, बाधाओं, कष्टों या परिस्थितियों का साधु-साध्वियों को सामना करना पड़ता है जो उनके लिए कसौटियाँ कही जाती हैं। इन कसौटियों पर खरा उतरने वाला साधक ही अनासक्त और सफल कहलाता है। यों तो परीषह अनेक हो सकते हैं किन्तु आचार में सामान्य रूप से बाईस परीषहों का उल्लेख है-क्षुधा, पिपासा, शीत, ऊष्ण, दंसमसक, नाग्न्य (अचेल या अल्प वस्त्रत्व) अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान तथा अदर्शन। समभाव से इन परीषहों को सहने करने का श्रमणाचार में निर्देश दिया गया है। (3) समाधि-समाधिमरण भी एक कला है। इस रूप में जैन साधना आनन्दपूर्वक जीने की साधना है। आचार मर्यादाओं में आबद्ध जीवन जीने की कला भी सिखलाता है तो मरने की कला भी। मरण भी एक प्रकार की बन्धन मुक्ति है। मल-मूत्र मुक्ति से जैसे कोई राहत की सांस लेता है और मोह मुक्ति से भी अन्त:करण में तृप्ति का अनुभव होता है तो देह मुक्ति का भी अपना आनन्द होना ही चाहिए। लेकिन मृत्यु स्वयं नहीं, बल्कि मृत्यु का भय प्राणियों को अधिक भयभीत करता है। इस भय से मुक्त होने का श्रेष्ठ उपाय है समाधि मरण अर्थात् मृत्यु को सहर्ष निमंत्रण देना, मन को पहले ही मृत्यु-भय से मुक्त कर देना। सब जानते हैं कि जीवन का अवश्यंभावी अन्त मृत्यु है फिर भी इससे सबको भीति लगती है और मृत्यु भय सबसे बड़ा भय माना जाता है। ऐसे में मृत्यु को जीवनमय बना देने का समाधिकरण का उपक्रम अद्वितीय है। वही साधक सफल माना जाता है जो मरने की कला में भी निष्णात हो जाता है। वह मृत्युंजय कहलाता है। समाधि मरण से साधक कर्म क्षय कर्त्ता बन सकता है और वह मृत्यु उस के लिए कल्याण प्रद होती है। (आचारांग 1/8/8)।

आचार विज्ञान के रसायन रूप हैं सर्व शुद्धाचारी पांच व्रत

हिन्दू धर्म में वेद, जैन धर्म में अंग आगम, बौद्ध धर्म में त्रिपिटिक, ईसाई धर्म में बाईबिल, इस्लाम धर्म में कुरान, पारसी धर्म में अवेस्ता आदि अपनी-अपनी आचार पद्धति के प्रमुख स्रोत हैं। अंग (द्वादश) आगमों में आचारांग सूत्र आचार के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला सारपूर्ण

स्रोत है। सम्पूर्ण जैन साहित्य को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है, जो इस प्रकार है-(1) द्रव्यानुयोग - तात्त्विक, दार्शनिक तथा कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रंथ, (2) गणितानुयोग-भूगोल, गणित व ज्योतिष विषयक ग्रंथ, (3) धर्म कथानुयोग-आख्यानात्मक कला साहित्य एवं (4) चरण करणानुयोग-श्रमणों व श्रावकों के आचार से संबंधित ग्रंथ। चरण का अर्थ आचार से लिया जाता है तथा चरण करण का दूसरा नाम ही आचार विज्ञान है। आचार विज्ञान प्रयोग तथा आचरण से मानव जीवन के साथ सदा जुड़ा रहता है।

चरण करणानुयोग के प्रधान स्तम्भ पाँच व्रत हैं-(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य तथा (5) अपरिग्रह। पालन करने की दृष्टि से इन पांच व्रतों को 'महा' तथा 'देश' रूप दो विभाग किए गए हैं। महाव्रत श्रमण-श्रमणियों के लिए पालनीय होते हैं और समग्र रूप से पालन के कारण ये पांचों महाव्रत कहलाते हैं, किन्तु श्रावक-श्राविकाओं (गृहस्थों) के लिए इनके आंशिक पालन का विधान है जिससे ये पांचों व्रत देशव्रत या अणुव्रत कहलाते हैं। आशय यह है कि इन पांच व्रतों की भावना सम्पूर्ण मानव समुदाय में व्याप्त रहनी चाहिए और पालन अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार किया जाए। इस प्रकार ये पांचों व्रत श्रमणाचार तथा श्रावकाचार दोनों प्रकार की आचार प्रणालियों के लिए मूलभूत बिन्दु हैं।

प्राय: प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनेक छोटे बड़े दोष विद्यमान रहते हैं, किन्तु मूलभूत दोष पांच हैं जो शेष समस्त बुराइयों, दोषों और पापों को पैदा करते हैं। ये हैं-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह (संग्रह)। आत्मा को इन पांच दोषों से सर्वथा मुक्त करना ही श्रमणाचार का प्रमुख लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति इन पांचों महाव्रतों से ही संभव है। पात्र भेद की अपेक्षा से ही इन व्रतों के दो भाग हैं-महाव्रत एवं अणुव्रत। ये दोनों श्रमणाचार तथा श्रावकाचार के आधार स्तम्भ हैं। सम्पूर्ण भारतीय धर्म दर्शनों में पांच व्रतों, यमों या शीलों को मानव जीवन एवं चरित्र का आधार माना गया है।

1. **अहिंसा** :- भारत के प्राय: सभी धर्म दर्शनों तथा आध्यात्मवादी विचारकों ने जीवन शैली या आचार पद्धति की दृष्टि से अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया है तथा अहिंसा को परमोधर्म कहा है। अहिंसा का सिद्धान्त किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग, देश या काल से बंधा हुआ नहीं है, अत: इसे सार्वभौम धर्म भी कहा गया है। यही नहीं, अहिंसा को सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिमान भी माना गया है। जो व्यक्ति, समाज या देश अहिंसा की दिशा में जितना अग्रगामी बनता है उतना ही उसे सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी अग्रणी माना जाता है। अहिंसा की सार्वभौमिकता को सर्वत्र मान्यता मिली है कि अहिंसा का आचरण किसी जाति, देश, अवस्था या काल विशेष तक ही सीमित नहीं है (**जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्ना: सार्वभौमा: महाव्रतम्**-योगदर्शन 2/31)। अत: समग्र मानव जाति को सभी परिस्थितियों और सभी कालों में अहिंसा का पालन करना चाहिए।

अहिंसा के स्वरूप को 'आत्मौपम्य' शब्द से भी विवेचित किया गया है। इस शब्द का अर्थ है-संसार के समस्त प्राणियों में आत्मवत् भावना का होना। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दु:ख से डरता है, अत: किसी की हिंसा नहीं करना चाहिए। जब कोई प्राणी मात्र को आत्मवत् समझने लगेगा तो निश्चय है कि वह दूसरों के प्रति वैसा ही आचरण करेगा जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है।

अहिंसा सम्बन्धी उसके विचार स्पष्ट हो जायेंगे कि-मैं, किसी की हिंसा नहीं करूँ, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाऊँ, सबको समान समझूं और सबसे आत्म तुल्यता का व्यवहार करूं तथा ये विचार उसके आचरण में ढल जाएंगे। इस प्रकार अहिंसक जीवन शैली की प्रक्रिया का प्रारंभ हो सकता है। ज्ञानियों के ज्ञान का सार यही कहा गया है कि किसी प्राणी के हनन की इच्छा तक मत करो (आचारांग 1-5-5 तथा सूत्रकृतांग 1-11-10)।

विभिन्न धर्मों में अहिंसा की अवधारणा विद्यमान है। तथागत बुद्ध कहते हैं कि दंड और मृत्यु सबके लिए कष्ट कर होते हैं, अत: सबको अपने समान समझ कर किसी की हिंसा मत करो (धम्मपद 10-1, 10-4)। जैसा मैं हूँ, वैसा अन्य है-इस प्रकार सभी को आत्मवत् समझ कर किसी का घात नहीं करना चाहिए और न दूसरों से करवाना चाहिए (सुत्तनिपात, 3-3-7-27)। महाभारत में अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम संयम, परम मित्र और परम सुख कहा है। जिस प्रकार मनुष्य अपने ऊपर दया रखता है, उसी प्रकार से दूसरों पर भी रखनी चाहिए। (अनुशासन पर्व 115,116, 145 व 215)। पतंजलि ने कहा है कि भीतर से अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके निकट सब प्राणी अपना स्वाभाविक वैर भाव त्याग देते हैं। (योग सूत्र 2-35)। इस्लाम भी अल्लाह को करुणा की मूर्ति बताता है जिसका अर्थ है कि वहां भी किसी सीमा तक अहिंसा की अवधारणा है (**बिस्मिल्लाह रहीमानुर्रहीम**-कुरान शरीफ 5-35)। महात्मा ईसा की अहिंसा तो उच्चस्तरीय मानी जाती है। वे कहते हैं कि तू अपनी तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सभी तलवार से ही नष्ट किए जाएंगे। तुम अपने दुश्मन से भी प्रेम करो और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो (बाइबिल 2-51-52 तथा 5-45-46)। यहूदी धर्म में भी व्यक्ति के आत्म सम्मान तक पर कभी चोट न पहुँचाने का निर्देश दिया गया है (मेतलिया-58)। कन्फ्यूशियस ने भी कहा है कि जो चीज तुम्हें नापसन्द है, वह दूसरों के लिए हरगिज मत करो (तोरा 19-17)। किन्तु जैन धर्म के आचारांग सूत्र में जिस गंभीरता, विशुद्धता तथा मार्मिकता से अहिंसा के स्वर को मुखरित किया है, वह अनुपम है।

हिंसा मूल शब्द है जिसका निषेध है। अहिंसा तथा अहिंसा का विधेयात्मक स्वरूप भी व्यापक है। हननार्थक 'हिंसि' धातु से हिंसा शब्द बना है। हिंसा का अर्थ होता है किसी को मारना या सताना। आचारांग में हिंसा के लिए प्राणातिपात (प्राण+अतिपात) शब्द का व्यवहार हुआ है। इसका अर्थ है प्राणों का नाश करना। प्राण दस प्रकार के कहे गए हैं, अत: इनमें से किसी प्राण का नाश न करना। कैसे व्यक्ति प्राणों का नाश करता है तथा हिंसा का आचरण करता है? कहा गया है कि व्यक्ति प्रमाद के वशीभूत होकर जीवों का हनन, छेदन-भेदन, ग्रामघात और प्राणघात करता है (आचारांग, 1-1-2-7)। इस रूप में हिंसा की परिभाषा होती है कि प्रमाद, रागद्वेष या असावधानी से प्राणवध करना हिंसा है (**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**-तत्वार्थ सूत्र 7-8)। कषाय और प्रमाद मानसिक हिंसा है तो प्राणवध कायिक हिंसा। वास्तव में हिंसा का मूल मनुष्य के संकल्प में होता है। जब किसी के प्राण विच्छेदन में मन का दु:संकल्प जुड़ता है-राग द्वेष की भावना प्रेरक बनती है तब हिंसा होती है। यों कषाय और प्रमाद ही हिंसा का मूल आधार है। हिंसा के व्यक्ति की वृत्तियों के अनुसार

अनेकानेक कारण हो सकते हैं जो कषाय और प्रमाद से पैदा होते हैं। फिर भी हिंसा के कारणों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि प्रमत्त मनुष्य संयोगार्थी एवं अर्थ लोलुप बन कर बारंबार शस्त्र का प्रयोग करता है। वह शरीर बल, जाति बल, मित्र बल, लौकिक बल, देव बल, राज बल, चोर बल, अतिथि बल आदि के साथ भी हिंसा का प्रयोग करता है (आचारांग 1-1-2, 1-6-1)। हिंसा के रूप भी विविध होते हैं षड्जीवकाय की दृष्टि से। हिंसा के चार प्रकार होते हैं-(1) संकल्पी हिंसा, (2) आरंभी हिंसा, (3) उद्योगी हिंसा तथा (4) विरोधी हिंसा। हिंसा के परिणाम के विषय में भी उल्लेख हैं कि संसार के जितने भी दु:ख एवं बन्धन हैं, वे सब हिंसा से ही उत्पन्न होते हैं (**आरंभजं दुक्खं**-आचारांग, 1-3-1)। हिंसा को ग्रंथि, बंधन, मृत्यु और नरक कहा है (आचारांग 1-1-2)।

अहिंसा का शब्दश: अर्थ होता है-हिंसा नहीं करना। यह निषेधात्मक है, किन्तु यह इसका एक पहलू है। दूसरा पहलू है कि विधि रूप और इस प्रकार अहिंसा न एकान्त रूप से निषेध परक या निवृत्तिपरक है और न ही एकान्त रूप से विधिपरक या प्रवृत्तिपरक। प्राणि मात्र को आत्मतुल्य समझना और किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना, इन दो सूत्रों में अहिंसा का विधेयात्मक तथा निषेधात्मक स्वरूप स्पष्ट है। इसके विधि रूप में सबके प्रति दया, करुणा, मैत्री, रक्षा, सेवा आदि का सन्देश समाविष्ट है तो किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाने के संदेश में सब प्रकार की हिंसा का निषेध है। श्रमण -श्रमणियों द्वारा पालनीय पंच महाव्रतों में अहिंसा पहला महाव्रत है तथा इसका विधि रूप पांच समिति में तथा निषेध रूप तीन गुप्ति में परिलक्षित होता है।

मूल प्रश्न यह उठावें कि अहिंसा का पालन क्यों किया जाए? इसका मनोवैज्ञानिक उत्तर है कि सभी जीव जीना चाहते हैं अत: सभी को अपना जीवन प्रिय है तथा मृत्यु अप्रिय है। प्रत्येक प्राणी के भीतर एक जिजीविषा है, अपना अस्तित्व बनाए रखने की कामना है (**सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला**-आचारांग 1-2-3)। यही जीवनाकांक्षा अहिंसा का मूल है। अहिंसा का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी चेतना के समान ही दूसरों की चेतना को समझे। अहिंसा का साधक विश्व की समस्त आत्माओं को समदृष्टि से देखता है और जैसा देखता है, वैसा ही व्यवहार करता है। अहिंसक भयभीत या कायर नहीं होता, उसकी अहिंसा तो भय और प्रलोभन की बाधाओं को चीरती हुई अपने श्रेष्ठतम शौर्य का परिचय देती है। अहिंसा एक आदर्श मात्र नहीं, वह व्यवहार का पुष्ट धरातल है। अहिंसक व्यवहार एक नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रयोग है जिसकी सफलता ही श्रमण और श्रावक को अपने-अपने क्षेत्र में साधक का दर्जा दिलाती है। सच तो यह है कि अहिंसा की विशद व्याप्ति में शेष चारों व्रतों-सत्य (वैचारिक अहिंसा), अस्तेय (सामाजिक अहिंसा), ब्रह्मचर्य (पारिवारिक अहिंसा) तथा अपरिग्रह (आर्थिक अहिंसा) का समावेश हो जाता है। हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि यदि अहिंसा जलाशय है तो सत्य, अस्तेय आदि उसकी रक्षक पाल हैं (योगशाला प्रकाश-2)। वस्तुत: इस विराट विश्व में यह अहिंसा ही भगवती है (प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवर द्वार-1)। आचार्य समन्तभद्र ने भी अहिंसा की महत्ता को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हुए उसे परम ब्रह्म कहा है (नेमिनाथ जिन स्तुति गाथा 119)। इस युग के महान् अहिंसक महात्मा गांधी ने तो अहिंसा को एक स्वयंभू शक्ति बताई है।

श्रमणाचार की दृष्टि से अहिंसा महाव्रत की प्रतिज्ञा है-जीवन पर्यन्त के लिए सर्व प्राणातिपात विरमण। इससे सम्बन्धित पांच भावनाओं का भी उल्लेख है, जो इस प्रकार है-(1) गमनागमन सम्बन्धी सावधानी, (2) मन की निष्पापकता, (3) वाणी की निष्पापकता, (4) आदान निक्षेप सम्बन्धी सावधानी तथा (5) आलोकित पान भोजन।

2. सत्य :- अहिंसा की प्रतिज्ञा के पश्चात् सत्य की प्रतिज्ञा का क्रम है। असत्य है झूठ और इसकी परिभाषा है-असत् कथन करना (**असदभिधानमनृतम्**-तत्त्वार्थ सूत्र 7-9) असत् शब्द में कथन के साथ चिन्तन एवं आचरण का भी समावेश है। असत् का आचरण भी प्रमत्त योग से ही होता है। जो वस्तु जिस रूप में नहीं है अथवा जो है ही नहीं, उसे सत् कहना या अन्यथा रूप से कहना असत्य है। इसके साथ ही सत्य होने पर भी जो वचन पीड़ाकारी है, वह बोलना भी असत्य है। नीतिकारों ने यही कहा है-'**सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात सत्यमप्रियम्।**' इसके विपरीत सत्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि असत्य बोलने के कारणों के मौजूद रहने पर भी मन, वचन और काया से असत्य नहीं सोचना, असत्य नहीं बोलना और असत्य आचरण नहीं करना ही सत्य महाव्रत है (आचारांग-215)। प्रयोजन होने पर भी साधु को सदा हित, मित एवं सत्य बोलना चाहिए (आचारांग 215)। इस प्रकार सत्य महाव्रत के मूल में भी अहिंसा की भावना ही निहित है।

आचारांग में कहा गया है कि तू सत्य में धृति कर (**सच्चम्मिं धितिं कुव्वह**-आचारांग 1-3-2) क्योंकि सत्य में अधिष्ठित साधु समस्त पापों का शोषण करता है। अन्ततः सत्यशील साधक परमात्म् पद प्राप्त करता है। सत्य को भगवान् तक कहा गया है और लोक में सारभूत तत्त्व (**तं सच्चं खु भगव**-प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार 1)। महात्मा गांधी ने भी इस कथन का पुरजोर समर्थन किया है, वे कहते हैं-परमेश्वर सत्य है यह कहने की अपेक्षा सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना अधिक उपयुक्त है (गांधी वाणी पृ. 12-18)। जो सत्य को जानता है, मन से, वचन से और काया से सत्य का आचरण करता है वह परमेश्वर को पहचानता है। इतना ही नहीं, सत्य साधक आत्म-साक्षात्कार कर लेता है (आचारांग 1-3-3)।

श्रमणाचार की दृष्टि से सत्य महाव्रत की प्रतिज्ञा है-जीवन पर्यन्त के लिए सर्वमृषावाद विरमण। इससे सम्बन्धित पांच भावनाएँ-(1) वाणी विवेक, (2) क्रोध त्याग, (3) लोभ त्याग, (4) भय त्याग तथा (5) हास्य त्याग। व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि के निमित्त पापकारिणी, पाप का अनुमोदन करने वाली, दूसरे के मन को पीड़ा पहुंचाने वाली असत्य भाषा बोलता है, अतः प्रज्ञावान साधु को क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। ये हिंसा के समान ही असत्य वचन के भी कारण हैं। जिस प्रकार असत्य हिंसा का पोषक है, उसी प्रकार सत्य आदि अन्य व्रत अहिंसा के पोषक हैं। सत्य और अहिंसा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य के स्वरूप पर गंभीर चिन्तन किया जाना चाहिए।

3. अस्तेय :- अहिंसा और सत्य व्रत की रक्षा के लिए श्रमण जीवन में अस्तेय व्रत का पालन भी अनिवार्य है क्योंकि चौर्य कर्म करने वाला हिंसक होने के साथ-साथ असत्यभाषी भी होता है।

अस्तेय शब्द का अर्थ है-चोरी नहीं करना। चोरी वह कहलाती है जहाँ बिना दिए कुछ ले लिया जाता है (**अदत्तादानं स्तेयम्**-तत्त्वार्थ सूत्र 7/10)। जिस वस्तु पर किसी दूसरे का स्वामित्व हो, भले ही वह वस्तु तृणवत् मूल्यरहित ही क्यों न हो, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना चौर्य बुद्धि से उसे ग्रहण करना चोरी है। मन, वचन, काया द्वारा दूसरे के अधिकारों का स्वयं हरण (शोषण) करना, दूसरे से हरण करवाना या उसका अनुमोदन करना चोरी है। जिस वस्तु आदि पर वास्तविक रूप में अपना अधिकार नहीं है, उस पर बिना उसके स्वामी की आज्ञा के अधिकार करने को, उसे अपने काम में लेने और उससे लाभ उठाने को चोरी कहते हैं। लौकिक दृष्टि से चोरी की गणना में वे ही कार्य आते हैं जिनके करने से शासकीय कानूनों के अनुसार दंड की व्यवस्था है, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में वे सब कार्य चोरी में गिने जाते हैं जिनके द्वारा दूसरों के न्यायोचित अधिकारों का अपहरण होता है। चोरी के अनेक कारण हैं किन्तु मुख्य कारण धनलिप्सा है। व्यक्ति जब विषयों का लालची बनता है-भोगों के लिए लालायित रहता है, तब वह उन्हें प्राप्त करने के लिए चोरी करने में संकोच नहीं करता। सामाजिक कुप्रथाओं, मान-सम्मान के लालच अथवा दिखावा करने की होड़ में पड़ कर भी व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से चोरी के कुकर्म में अपने आपको लगाता है।

धन मनुष्यों का बाह्य प्राण माना गया है, अत: उसका अपहरण करने से उनका प्राणघात हो जाता है। यही कारण है कि अदत्तादान या चोरी में हिंसा का दोष भी स्पष्ट है। इस संदर्भ में कहा गया है कि जलकाय की हिंसा अर्थात् पानी की बर्बादी भी चोरी है (आचारांग 1-1-3)। इससे स्पष्ट विदित होता है कि किसी भी जीव की हिंसा सिर्फ हिंसा ही नहीं है, अपितु हिंसा के साथ-साथ चोरी भी है। अहिंसा के विषय में यह अति तार्किक एवं सूक्ष्म विवेचन है। इसी तरह चौर्य कर्म करने वाला असत्य भाषण से भी नहीं बच सकता है। इसी अभिप्राय से अहिंसा और सत्य व्रत के बाद अस्तेय व्रत को तीसरा स्थान दिया गया है।

धर्मशास्त्र तो यहाँ तक सतर्क करते हैं कि यदि कोई साधु वस्तुत: तपस्वी, ज्ञानी अथवा उत्कृष्ट आचारादि से सम्पन्न नहीं है और दूसरा व्यक्ति उसे वैसा बताता है तो उस साधु को नि:संकोच कह देना चाहिए कि आप मुझे जैसा समझ रहे हैं, वास्तव में मैं वैसा हूँ नहीं। ऐसा न करके यदि वह साधु झूठी प्रशंसा पर मौन धारण कर लेता है और अनधिकार रूप से मान, सम्मान, प्रतिष्ठा या प्रशंसा प्राप्त कर लेता है तो वह उसका चौर्य कर्म ही कहा जाएगा। अत: साधक जीवन के लिए यह अनिवार्य बताया गया है कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म चौर्य कर्म के पाप से बचे और समस्त दु:खों से मुक्त होने के लिए अस्तेय व्रत का सम्यक् रूप से पालन करे (आचारांग 2-7-1)। जो साधक तप, अवस्था, आचार और भाव को छिपाता है, दूसरों के द्वारा पूछे जाने पर स्पष्ट नहीं बताता, वह साधु होने पर भी किल्विष (नीच) देव की योनि में उत्पन्न होता है (**तव तेणे वय तेणे रूव तेणे य जे नरे: आयार भाव तेणे य कुव्वइ देवकिव्विसं**-दशवैकालिक सूत्र)। अपने पर जिसका उपकार है, जिनसे अपने को सहायता मिली है उसका बदला न चुकाना भी चोरी है (**तैर्दत्ता न प्रदायेभ्यो भुंक्ते स्तेन एव स:**-गीता)। इस रूप से चौर्य कर्म की बारीकियों को गहराई से समझ कर चोरी से अलग रहना चाहिए।

श्रमणाचार की दृष्टि से अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा है-जीवन पर्यन्त के लिए सर्व अदत्तादान

विरमण। इससे सम्बन्धित पांच भावनाएँ-(1) सोच विचार पूर्वक मितावग्रह की याचना, (2) अनुज्ञापित पान भोजन ग्रहण करना, (3) अवग्रह का अवधारण करना, (4) अभीक्ष्ण (पुनः पुनः) वस्तुओं की मर्यादा करना तथा, (5) साधर्मिक से परिमित पदार्थों की याचना करना। इन भावनाओं पर आचरण करने से हिंसा से बचने और अहिंसा के परिपालन में पूर्ण सहायता मिलती है।

4. ब्रह्मचर्य :- भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की साधना को अन्य सभी साधनाओं की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया गया है। वेदों, उपनिषदों, बौद्ध सूत्रों एवं जैनागमों में ब्रह्मचर्य की महत्ता का वर्णन प्रभावशाली ढंग से किया गया है। इस व्रत से नैतिकता का श्रेष्ठ निखार होता है। मन, वचन और काया से देव, मनुष्य एवं तिर्यंच शरीर सम्बन्धी सब प्रकार के मैथुन सेवन का परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार श्रमण कृत, कारित अनुमोदित तथा मन, वचन और काया से जीवन भर मैथुन का त्यागी होता है। मैथुन हिंसा का कारण है, इससे जीवों का घात होता है (आचारांग 2/15)। महात्मा गांधी के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ है-मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम (गांधी वाणी पृ. 94)।

अब्रह्म का त्याग ब्रह्मचर्य है तो यह अब्रह्म क्या है? काम राग जनित नर-नारी की चेष्टाओं को अब्रह्म कहते हैं। याने मैथुन अब्रह्म है (**मैथुनमब्रह्मः**-तत्त्वार्थ सूत्र)। यथार्थ में मिथुन की प्रवृत्ति को मैथुन कहा जाता है। संक्षेप में जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है-जिसके पालन व अनुसरण से सद्गुणों की वृद्धि हो। इस दृष्टि से जिस ओर जाने के कारण सद्गुणों में वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो वह अब्रह्म है। मिथुन की प्रवृत्ति ऐसी है कि इसमें पड़ते ही सारे दोषों का पोषण और सद्गुणों का ह्रास प्रारंभ हो जाता है, इसलिए मैथुन को अब्रह्म कहा है।

आचारांग में ब्रह्मचर्य के पालन की दृष्टि से स्पष्ट निर्देश मिलता है, जैसे-एक ब्रह्मचारी पुरुष स्त्री सम्बन्धी तथा ब्रह्मचारिणी स्त्री पुरुष सम्बन्धी काम कथा न करे, उन्हें वासनायुक्त दृष्टि से न देखे, परस्पर कामुक भावों का प्रसारण न करे, उनके प्रति ममत्व न रखे, उनके चित्र को आकृष्ट करने के लिए शरीर की विभूषा या साज सज्जा न करे, वचन गुप्ति का पालन करे और मन को संवृत्त रख कर पाप कर्म से सदा दूर रहे। ब्रह्मचर्य की आराधना का यह मार्ग है (आचारांग 1-5-4)। सूत्रकार इस तथ्य के ज्ञाता थे कि साधक के सुखशील होने पर काम वासना उभरती है और वासना पीड़ादायक बनती है अतः काम निवारण के छः उपाय बताए गए हैं-(1) साधु को नीरस भोजन करना चाहिए, (2) ऊनोदरी तप (कम खाना) करना चाहिए, (3) कायोत्सर्ग अर्थात् विविध प्रकार के व्यायाम-आसन करने चाहिए, (4) ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए, (5) आहार का परित्याग कर देना चाहिए तथा (6) स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होने वाले मन को सर्वथा विमुख रखना चाहिए (शीलांक टीका (आचारांग) पत्रांक 198)। साधक को इनमें से अनुकूल उपाय या उपायों का अभ्यास करना चाहिए।

अपने यथार्थ रूप में ब्रह्मचर्य वह अग्नि है जिसमें तप कर आत्मा की परिशुद्धि हो जाती है। ब्रह्मचर्य की साधना शरीर और आत्मा दोनों को पुष्ट करती है। अहिंसा, सत्य आदि जहाँ आत्मबल को बढ़ाते हैं वहाँ ब्रह्मचर्य की साधना एक साथ दोनों को अपरिमित बल प्रदान करती है। ब्रह्मचर्य

उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन आदि का मूल है (प्रश्न व्याकरण, संवर द्वार 4-1)। जिसने अपने जीवन में केवल एक ही व्रत ब्रह्मचर्य की उपासना की है समझिए कि उसने उत्तमोत्तम सभी तपों की आराधना कर ली है। ब्रह्मचर्य स्थिर होने से वीर्य लाभ होता है (योगदर्शन 2-38)। ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है (सूत्रकृतांग 1-6-23)। ब्रह्मचर्य अन्य व्रतों की अपेक्षा दुष्कर है और इस व्रत की आराधना करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गंधर्व सभी नमस्कार करते हैं (उत्तराध्ययन 16/16-17)। इसी प्रकार योगशास्त्र (2-104), ज्ञानार्णव (11-3) अथर्ववेद (11-5/1-2-19-24) आदि में भी ब्रह्मचर्य की महत्ता का वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति पाश्चात्य विद्वान भी आकर्षित हुए हैं। डॉ. फर्नेंडो वेल्लिनी ने कहा है कि भगवान महावीर के व्यक्तित्व में सर्व प्रधान गुण मेरी दृष्टि में अनन्तवीर्य रहा है एवं उसी के बल पर ये प्रसिद्ध तीर्थंकर अपने समकालीन प्रवर्त्तकों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ते रहे।

श्रमणाचार की दृष्टि से ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा है-जीवन पर्यन्त के लिए सर्व मैथुन विरमण। इससे सम्बन्धित पांच भावनाएँ-(1) स्त्री कथा का वर्जन, (2) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन, (3) पुर्वानूभूत काम क्रीड़ा की स्मृति का निषेध, (4) अति मात्रा और प्रणीत पान भोजन का वर्जन तथा (5) स्त्री, पशु आदि से संसक्त शय्यासन का वर्जन। ये सभी काम वासना के हेतु हैं अत: साधु को इनसे बचना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो धर्म से च्युत होता है। ब्रह्मचर्य की सदा रक्षा करनी चाहिए, ये उपाय समाधि के स्थान कहे गए हैं (आचारांग 2-15, स्थानांग-आस्रवद्वार पृष्ठ 42, उत्तराध्ययन 16/2-14)। ब्रह्मचारी को इन्द्रियजन्य सुखों तथा आनन्ददायक पदार्थों से दूर रहना चाहिए (मनुस्मृति 6-41-49, गौतम सूत्र 3-11)।

5. अपरिग्रह :- संसार के सभी प्राणी सुख प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील हैं, फिर भी क्या कारण है कि सुख नहीं मिल रहा है? यह विचारणीय विषय है कि आखिर दु:ख का मूल कहाँ है? गहराई से सोचने पर ज्ञात होगा कि दु:ख का मूल परिग्रह ही है। व्यक्ति परिग्रह का संचय करने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि के निकृष्टतम कृत्यों को भी करने में हिचकिचाता नहीं है। अर्थलोभी या धनलिप्सु व्यक्ति परिग्रह की पूर्ति हेतु दूसरों का वध करता है, उन्हें कष्ट देता है तथा अनेक प्रकार से यातनाएँ पहुँचाता है। यहाँ तक कि वह धन प्राप्ति के लिए चोर, लुटेरा और हत्यारा भी बन जाता है (आचारांग 1-3-2)। अत: यह संग्रह वृत्ति सभी पापों की जड़ है। यह परिग्रह संसारवर्ती जीवों के लिए महाभय रूप होता है (आचारांग 5-2)। अत: श्रमण को अपरिग्रह व्रत की आराधना करनी चाहिए।

अपरिग्रह का अर्थ है-परिग्रह का त्याग। तो परिग्रह क्या है? सामान्य रूप से धन सम्पत्ति, सोना-चांदी, धान्य, पशु आदि को परिग्रह कहा जाता है किन्तु परिग्रह की व्याख्या अधिक गहरी है। मूर्छा अर्थात् आसक्ति ही वास्तव में परिग्रह है (**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**-दशवैकालिक 6-21)। सारी बाह्य सम्पत्ति किसी के पास न हो तो वह मात्र इसी तथ्य से अपरिग्रही नहीं कहा जा सकेगा। बाह्य सम्पत्ति उपलब्ध न होने पर भी यदि परिग्रह के प्रति मूर्छाभाव और आसक्ति है तथा उसकी प्राप्ति के प्रति तृष्णा और लालसा, तो वैसा व्यक्ति परिग्रही ही माना जाएगा। इसी प्रकार बाह्य सम्पत्ति ऋद्धि-सिद्धि सहित होने पर भी यदि व्यक्ति के मन में उसके प्रति तनिक भी मूर्छाभाव या आसक्ति नहीं है तो वह सम्पत्तिवान होते हुए भी अपरिग्रही माना जाएगा। आशय यह है कि परिग्रह का सम्बन्ध पहले भावों

से जुड़ा हुआ है।

आज के आर्थिक युग में परिग्रह की संग्रहवृत्ति, अधिकाधिक पाने की लालसा तथा तृष्णा-वितृष्णा के चारों ओर वीभत्स दृश्य देखे जा सकते हैं। यह संग्रह वृत्ति ही आज चारों ओर उथल-पुथल मचाए हुए हैं। धन का अर्जन आज नीति तथा श्रम के बल पर करने की प्रवृत्ति घटती जा रही है और सशक्त व्यक्ति या वर्ग समाज में शोषण एवं अन्याय मचा कर संग्रह के अम्बार लगा रहे हैं। दूसरी ओर उनकी परिग्रह के प्रति ऐसी घातक संग्रह वृत्ति के कारण करोड़ों व्यक्ति बेरोजगारी और गरीबी के दलदल में गहरे से गहरे धँसते जा रहे हैं। यह मात्र अधर्म की ही स्थिति नहीं है, बल्कि समाज एवं मानवता के घात की भी स्थिति है। बाइबिल में इस संग्रह वृत्ति की कड़ी आलोचना करते हुए कहा गया है कि सुई की नोक में से ऊँट कदाचित् निकल जाए, परन्तु धनवान व्यक्ति स्वर्ग में कदापि प्रवेश नहीं पा सकता है।

श्रमण या साधु को इस दृष्टि से निर्ग्रंथ कहा गया है जिसके परिग्रह की कोई ग्रंथि नहीं बचती। वह जीवन पर्यन्त सजीव या निर्जीव अल्प या बहुत, स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की वस्तु का स्वयं संग्रह नहीं करता है, दूसरों से संग्रह नहीं करवाता है तथा संग्रह करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है। परिग्रह के पाप से अपनी आत्मा को सर्वथा विरत रखना ही अपरिग्रह है (आचारांग 2-15)। साधु परिग्रह मात्र का त्यागी होता है। वह पूर्ण रूप से अनासक्त एवं मूर्छारहित होता है। संयम की साधना के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता। सच्चा साधक वही है जिसे अपने शरीर तक का भी ममत्व नहीं होता। वैसा साधक ही मुक्ति पथ का दृष्टा होता है।

श्रमणाचार की दृष्टि से अपरिग्रह व्रत की प्रतिज्ञा है-जीवन पर्यन्त के लिए सर्वपरिग्रह विरमण। इससे सम्बन्धित पांच भावनाएँ-(1) मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में राग द्वेष नहीं करना, समभाव रखना, (2) मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में रागद्वेष नहीं करना, समभाव रखना, (3) मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में रागद्वेष नहीं करना, समभाव रखना, (4) मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में रागद्वेष नहीं करना, समभाव रखना तथा (5) मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में रागद्वेष नहीं करना, समभाव रखना। इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत की सुरक्षा के लिए पांचों इन्द्रियों के पांचों विषयों-शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श के प्रति समभाव रखने का विधान किया गया है। इस व्रत की सामान्य पालना से कई सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पांचों व्रत सर्वपरित्याग के कारण श्रमण द्वारा पालनीय होने पर महाव्रत कहलाते हैं, वहीं श्रावकों-गृहस्थों के लिए इनके आंशिक पालन का प्रावधान है, जहाँ इनकी संज्ञा अणुव्रत हो गई है यानी बड़े और छोटे व्रत। ये पांचों व्रत नैतिक जीवन में शाश्वत तत्त्व है। काल और देश की सीमा का भी इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ये मानवीय नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्त हैं।

श्रावकाचार के अनुसार व्यक्ति को सद्गृहस्थ (श्रावक) बनने के लिए श्रुत-चारित्र रूप धर्म तथा व्रतों की नैतिक मर्यादाओं को स्वीकार करना होता है। इस स्वीकृति के बाद वह पैंतीस गुणों का

धारक मार्गानुसारी बनता है। तब वह श्रावक के बारह व्रतों को स्वीकार करने योग्य बन जाता है। श्रावक के पांच अणुव्रत इस प्रकार हैं-(1) स्थूल प्राणातिपात विरमण, (2) स्थूल मृषावाद विरमण, (3) स्थूल अदत्तादान विरमण, (4) स्थूल मैथुन विरमण तथा (5) परिग्रह परिमाण व्रत। श्रमण के व्रतों में जहाँ 'सर्व' शब्द का उल्लेख है, वहाँ श्रावक को स्थूल त्याग ही करना होता है। देखा जाए तो श्रावक की कक्षा से उत्तीर्ण होकर साधक श्रमण बने तो उसकी साधना की सफलता सुनिश्चित हो सकती है। श्रमण पांचों प्रकार के पापों से सर्वांशतः विरत होता है और श्रावक अंशतः, अतः दोनों आचारों को सर्व विरति और देश विरति भी कहा जाता है। श्रावक के बारह व्रतों में इन पांच अणुव्रतों के सिवाय तीन गुणव्रत-दिशा परिमाण, उपभोग परिभोग परिमाण तथा अनर्थदंड विरमण एवं चार शिक्षाव्रत-सामायिक, देशावकाशिक, पौषध तथा अतिथि संविभागव्रत भी सम्मिलित हैं। ये सभी मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं।

इस प्रकार श्रमणाचार एवं श्रावकाचार मिलकर ऐसी आचार पद्धति का निर्माण करते हैं, जिसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व में सुख एवं शान्ति के वातावरण का सृजन किया जा सकता है। व्यक्तियों द्वारा अपने व्रतों के पालन का समाज और संसार की व्यवस्था पर यह प्रभाव पड़ता है कि आत्मानुशासन की सुदृढ़ता के कारण बाहरी व्यवस्था पर अधिक दबाव नहीं रहता तथा नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के प्रसार के कारण सभी ओर चरित्र का निर्माण होता है, वह सुगठित बनता है और उसके प्रति निष्ठा मजबूत बनती है। इस आधारभूमि पर सभ्यता, संस्कृति एवं परम्पराओं का सर्वहितकारी रूप ढलता है।

सभी धर्मों का सार-अहिंसा किन्तु वहाँ तक पहुँचने की समस्या

विश्व के सभी धर्म दर्शनों ने अहिंसा को मान्यता दी है। उनकी परिभाषाओं या अवधारणाओं में अन्तर हो सकता है किन्तु अहिंसा ने नाम पर किसी का विरोध नहीं है। किन्तु समाज विकास के इतिहास पर एक सरसरी नजर डालें तो दिखाई देगा कि अपनी जीवन शैली में और अपनी उपासना पद्धतियों में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने में दीर्घ समय व्यतीत हुआ है तथा कई उतार चढ़ाव देखने पड़े हैं।

भगवान् महावीर तथा भगवान् बुद्ध के पूर्ववर्ती काल में लौकिक कार्यों में तो हिंसामय कार्य होते ही थे किन्तु धार्मिक कार्यों में भी हिंसा का पूरी तरह प्रचलन था। यज्ञ आदि में पशुओं की बलि दी जाती थी-नरमेध यज्ञ में तो मनुष्य को ही बलि पर चढ़ा दिया जाता था। इस पर भी यह सिद्धान्त बना लिया गया था कि वेद सम्मत धर्म कार्यों में की जाने वाली हिंसा को हिंसा नहीं माना जा सकता-**"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"**। महावीर काल में हिंसक आचरण पर बड़ी चोट लगी, यज्ञ-याग में हिंसा का विरोध हुआ। सबसे बढ़कर अहिंसा की जो सूक्ष्म विवेचना उन्होंने की तथा तदनुसार जीवनचर्या ढाली-उससे अहिंसा के विकास एवं प्रसार को बड़ा बल मिला। इतना ही नहीं हिन्दू विचारकों ने भी अहिंसा को प्रधानता देनी शुरू की। तदनन्तर भारत के समूचे वातावरण में अहिंसा का समर्थन बढ़ता ही गया है। सामान्य आचरण में भी अहिंसा का विस्तार हुआ है।

परन्तु अन्य धर्मों की आचार पद्धति में अहिंसा का प्रवेश धीरे-धीरे ही हुआ है। इस्लाम धर्म देश

के बाहर से आया और उसके प्रचारक वे लोग बने जो इस देश पर विजय पाकर शासन करने लगे। इतिहास बताता है कि अकबर बादशाह के अलावा अन्य शासकों ने जोर-जबरदस्ती से ही इस्लाम का प्रचार किया और औरंगजेब ने तो जोर जबरदस्ती की भी हद कर दी। यों इस्लाम शब्द का अर्थ शान्ति होने के बावजूद इसके धर्मानुयायियों के व्यवहार में हिंसा की ही प्रबलता रही है। सिख धर्म को बादशाहों के जुल्म झेलने पड़े-इस कारण सिख गुरुओं का बहादुराना मिजाज रहा। बाबर के दुर्व्यवहार के बावजूद गुरु नानक ने बदले की भावना से कार्य नहीं किया, न ही अपने अनुयायियों को हिंसा की ओर धकेला। गुरु अर्जुनदेव भी क्षमाशील रहे, परन्तु नवमे गुरू तेग बहादुर को अन्याय के विरुद्ध हथियार उठाने पड़े, फिर भी हिंसक विरोध आम नहीं बना। मुगलों के हाथों दसवें गुरु गोविन्दसिंह को भारी आतंक का सामना करना पड़ा इसलिए उन्होंने बैशाखी के दिन अमृत चखाकर खालसा के रूप में संत सिपाही की टोलियाँ धर्मयुद्ध के लिए बनाई। कहने का अभिप्राय यह है कि हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने का ऐसे कई कारणों से क्रमिक विकास धीमा रहा। ईसाई धर्म में करुणा एवं मानव सेवा के व्यवहार का स्थान ऊँचा रहा। अहिंसा को सबसे बड़ी विजय महात्मा गांधी ने दिलाई। उनका अहिंसा का प्रयोग राष्ट्रीय स्तर पर हुआ जिसका सुप्रभाव न केवल इस देश पर बल्कि पूरी दुनिया पर पड़ा। वर्तमान युग में देखें तो पूरी दुनिया एक प्रकार से अहिंसा का समर्थन कर रही है। इस्लाम के जेहाद के आतंकवाद के विरुद्ध अमेरिका सहित अनेक देशों ने कमर कसी है कि इसके नाम पर हिंसा को जारी नहीं रखने देंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ के नेतृत्व में युद्ध रोकने के अनेक अहिंसक उपाय अपनाए जाते हैं तथा वार्ता-चर्चा के जरिए समस्याएं व विवाद सुलझाने पर पूरा बल दिया जाता है।

आज जबकि अहिंसा का प्रसार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पूरे संसार में हो रहा है तो अहिंसा को परम धर्म मानने वाले विचारकों, धर्मों तथा वर्गों को अहिंसा के त्वरित विस्तार के लिए कठिन प्रयास करने चाहिए। इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि बाकी सारी चीजें जल्दी ही हाशिए पर चली जाएगी और अहिंसा ही सब धर्मों के सार रूप में विचार व व्यवहार में अपनाई जाएगी। जीवन शैली में अहिंसा को प्रधानता दे पाने में काफी समय लगा है और अभी भी समस्या है कि समग्र रूप से अहिंसा का इतना व्यापक विस्तार अवश्य हो जाए कि कम से कम धर्म के नाम पर तो जनता हिंसा में न उलझे जैसी कि कई बार हिन्दू मुस्लिम या अन्य साम्प्रदायिक दंगे घटित हो जाते हैं। अहिंसा का भविष्य पूरी तरह सुन्दर है किन्तु उसे शीघ्र लाने के लिए चरित्र निर्माण के अभियान चलाए जाने चाहिए और अहिंसा को जीवन के सभी क्षेत्रों में रमा देना चाहिए। अहिंसा ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो मानव जाति ही नहीं समस्त प्राणियों के साथ हमारे सम्बन्धों की विवेचना करता है और सोचने को विवश करता है कि हम कितने सभ्य हैं और कितना होना है।

आचरण का आधार जीवन का परम सुधार

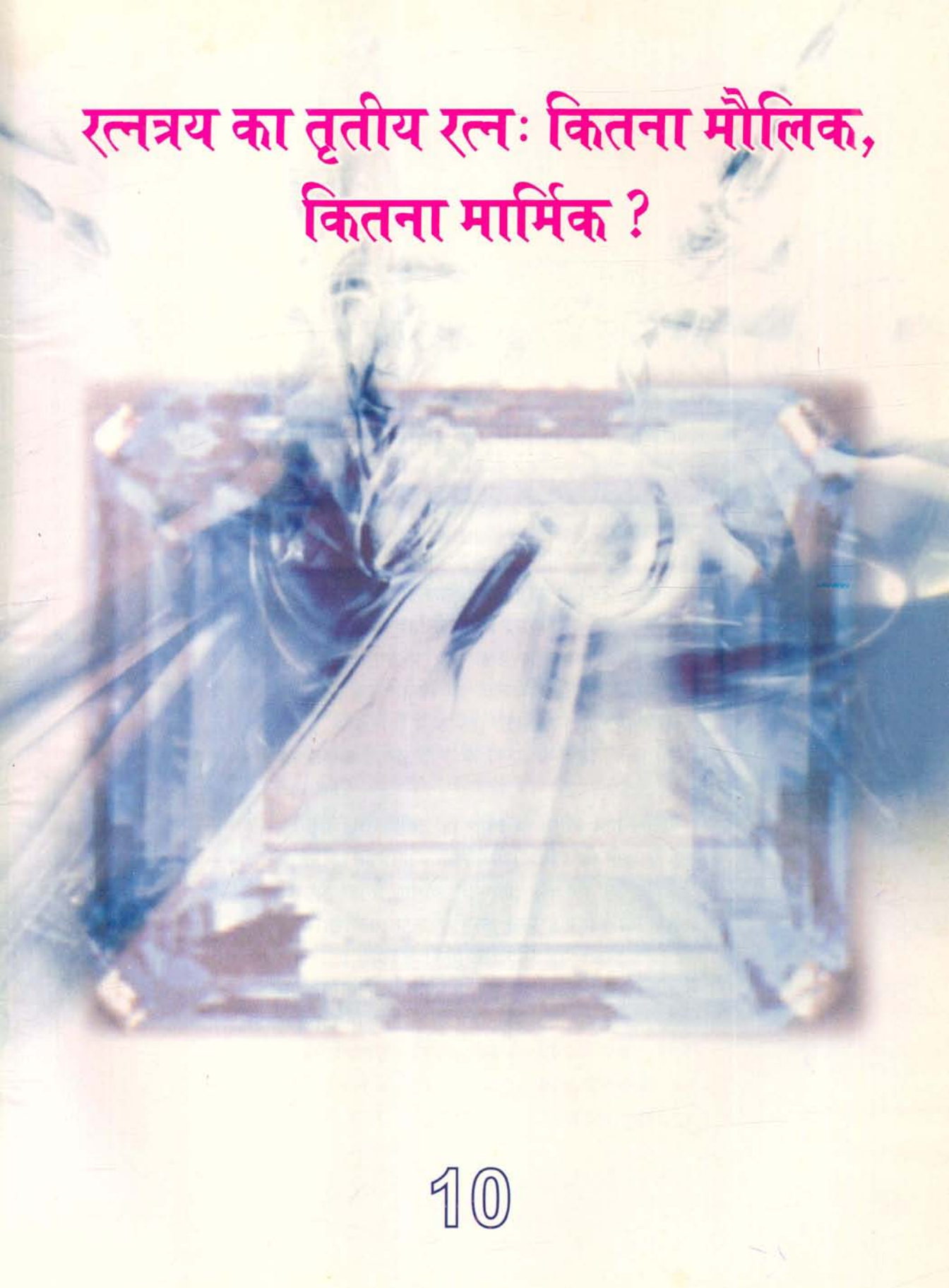
यह मानव जीवन जो हमें प्राप्त हुआ है, अतीव दुर्लभ कहा गया है तो क्या ऐसी दुर्लभ प्राप्ति यों ही गंवा देनी चाहिए? किसी के हाथ एक मूल्यवान रत्न आ जाए तो क्या वह उसे फेंक देगा? मूर्ख की बात अलग है, समझदार ऐसा कदापि नहीं करेगा। चिन्तनीय यह है कि हमें इस दुर्लभ जीवन का

किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए। हमें ऐसी जीवन शैली अपनानी चाहिए कि हमारा जीवन सच्चे अर्थों में सुखी बने और यथासाध्य दूसरों के जीवन को भी सुखी बनाया जा सके। इस लक्ष्य तक पहुँचने का राजमार्ग एक ही है और वह है चरित्र निर्माण का, अपने विचार और आचार को शुद्ध बनाने का तथा समाज व संसार में जीवन व्यवहार की अहिंसक शैली के सृजन का। यही सम्पूर्ण जगत् के लिए सुख एवं शान्ति का राजमार्ग है।

हम इस लक्ष्य को सामने रखें कि **लें आचरण का आधार, करें जीवन का परम सुधार।** आचरण को स्वस्थ एवं सुचारू बनाए बिना प्रगति का कोई मार्ग नहीं खुलता--न तो एक व्यक्ति के लिए और न ही सामूहिक संगठनों, राष्ट्रों या पूरे संसार के लिए। आज जो चारों ओर अराजकता, असहिष्णुता तथा अशान्ति का वातावरण दिखाई दे रहा है उस के पीछे मुख्य रूप से चरित्र हीनता ही है। अत: चरित्र निर्माण की ध्वजा को ऊपर उठाइए और जागरण का शंख बजाइए ताकि चरित्र निर्माण एक जनान्दोलन बन जाए तथा जो सतत रूप से चलता रहे।

◆◆◆

रत्नत्रय का तृतीय रत्नः कितना मौलिक, कितना मार्मिक ?



10



रत्नत्रय का तृतीय रत्न कितना मौलिक, कितना मार्मिक?

ज्ञान और चरित्र की परस्पर अनिवार्यता

पहले एक प्रतीकात्मक दृष्टान्त लेते हैं। एक वृक्ष के नीचे एक अंधा व्यक्ति बैठा हुआ था। उसे यशवंतपुर पहुँचना था, जो वहाँ से करीब दस कोश की दूरी पर था। वहाँ शीघ्रताशीघ्र पहुँचना अति आवश्यक, लेकिन वह क्या करें, कैसे पहुँचे? वह जानता है कि उसके शरीर में बल है और पाँवों में शक्ति, चलने लगे तो हवा से बातें कर सकता है, पर दृष्टि के बिना पांवों की शक्ति किस काम की?

इस अंधे व्यक्ति को चरित्र या चारित्र मान लीजिये, आचार या आचरण कह लीजिये। चारित्र को मोक्ष के द्वार तक पहुँचना है, प्रत्येक विषमता, मलिनता एवं अशुभता से उसे छुटकारा पाना है। परन्तु समस्या वही है कि उसके पास चरण शक्ति है किन्तु ज्ञान दृष्टि नहीं। उसे ज्ञात नहीं कि विषमता कैसी होती है, मलिनता किन-किन क्षेत्रों को विकृत बना देती है अथवा अशुभता का रूप-स्वरूप कितना विशाल और व्यापक हो जाता है अतः इनके छुटकारा पाने के लिये किस प्रकार समता, उज्ज्वलता एवं शुभता से मन मानस को नियमित संयमित एवं शुद्धाचरित बनाया जा सकता है।

वृक्ष के नीचे बैठा अंधा व्यक्ति हताशा में डूबा हुआ था तथा विचारों से अनिश्चय एवं असमंजस की स्थिति से गुजर रहा था, तभी उसे अपने पास आती हुई पैरों की आहट का आभास हुआ। कौन हो सकता है इस समय, जो उसके समीप आ रहा है। आने का यह तो साफ मतलब निकाला जा सकता है कि आने वाला दृष्टिहीन तो नहीं है। देख सकता है, तभी तो चला आ रहा है। हाँ, उसके मन में यह शंका जरूर उठी कि आने वाले के पैरों की आवाज शायद समताल नहीं है। पैरों के पड़ने की जो आवाज आ रही है, वह लड़खड़ाने जैसी आवाज है। ऐसा क्या है- वह अनुमान लगाने लगा।

'भाई! वृक्ष के नीचे अकेले बैठे-बैठे क्या कर रहो हो? किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहे हो क्या? कहीं जाने का विचार है?' इतने सारे प्रश्न एक साथ सुन कर अंधे व्यक्ति का उत्साह जगा और वह बोला- 'भाई! तुम देख रहे होओगे कि मैं दृष्टिहीन हूँ। अकेले इसलिये बैठा हूँ कि कोई संगी-साथी मिल जाए और मैं अपनी मंजिल तक पहुँच जाऊँ। ऐसे किसी साथी की ही प्रतीक्षा है, मुझे यशवंतपुर जाना है।'

आने वाला व्यक्ति लंगड़ा था। वह चलने से मजबूर था- कुछ कदम घिसटते-घिसटते मुश्किल से ही चल पाता था। हाँ, भली-भाँति देख सकता था वह। उसने खुश होते हुए जवाब दिया- 'भाई! मुझे भी यशवंतपुर ही जाना है, लेकिन लंगड़ा हूँ और भली-भाँति चल भी नहीं सकता हूँ। देखने की क्षमता मेरे पास है।'

इस लंगड़े व्यक्ति को ज्ञान का प्रतीक मान लीजिये। ज्ञान जान सकता है, समझ सकता है, समाधान और निर्णय ले सकता है लेकिन मंजिल की राह पर ठीक से चल पाने में असमर्थ होता है। राह को जानना एक बात है लेकिन राह पकड़ कर मंजिल तक पहुँचना तो चले बिना संभव नहीं। देखने वाले को चलने वाला चाहिये और चलने वाले को देखने वाला। राह तय करके मंजिल तक पहुँच पाना तभी संभव है।

लंगड़े व्यक्ति ने अंधे व्यक्ति को संबोधित करते हुए कहा- भाई! हम दोनों समय से यशवंतपुर पहुँच सकते हैं और उसके लिये मेरे पास एक अर्थपूर्ण सुझाव है। यदि इस सुझाव को तुम मान सको तो हम दोनों का मन्तव्य सफल हो सकता है। अंधे को इस आश्वासन से बढ़कर और क्या चाहिये था, उत्सुकता से उसने पूछा- भाई! आपका सुझाव बताइये, मैं उसे मानने को तैयार हूँ। लंगड़े व्यक्ति ने कहा- मैं चल नहीं सकता, लेकिन दूर-दूर तक देख सकता हूँ। तुम देख नहीं सकते, लेकिन तेज चाल से चल सकते हो। हम दोनों मिल जाएं तो हमारा काम बन सकता है। तुम मुझे अपने कंधे पर बिठालो, मैं राह सुझाता जाऊँगा और तुम चलते जाना। अपने-अपने अभाव के उपरान्त भी हम अपने लक्ष्य तक यथासाध्य शीघ्र पहुँच जाएंगे।

ज्ञान का प्रस्ताव चारित्र ने स्वीकार कर लिया। ज्ञान, चारित्र का पथ दर्शक बन गया और चारित्र पथ चालक। दोनों का संयोग इस कारण बैठ सका कि दोनों के बीच में विश्वास का सूत्र बैठ गया। यह बीच वाला दर्शन था- लंगड़े और अंधे की युति की आस्था की कड़ी। यों लक्ष्य के लिये मार्ग सध गया-जानो, मानो और करो।

ज्ञान और चारित्र की परस्पर अनिवार्यता की एक पौराणिक कथा भी ले लें। पांडव और कौरव

पुत्रों के शिक्षा गुरु थे द्रोणाचार्य। अपने आश्रम में वे उन राजपुत्रों को बहु आयामी शिक्षा प्रदान कर रहे थे। एक दिन सबको यह पाठ याद करने के लिये दिया गया कि **'सत्यं वद'** (सत्य बोलो)। इतना छोटा सा पाठ और तीक्ष्णबुद्धि वाले राजकुमार-कोई कठिनाई नहीं थी सब के लिये सिवाय एक राजकुमार के। दूसरे दिन सभी ने अपना याद किया हुआ पाठ सुना दिया। परन्तु युधिष्ठिर चुप रहा। आचार्य ने कुछ रोष के साथ पूछा- क्या तुम्हें इतना-सा पाठ भी याद नहीं हुआ। युधिष्ठिर ने अपना सिर हिला दिया- अभी तक मुझे यह पाठ याद नहीं हो पाया है, गुरुदेव! प्रतिदिन इनकार करते-करते आखिर दस-पन्द्रह दिन बाद युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया- 'गुरुदेव! अब मुझे पाठ भलीभाँति याद हो गया है।' द्रोणाचार्य ने सन्तोष की साँस ली, लेकिन वे अपनी चिन्ता को छिपा नहीं सके, पूछ बैठे- 'युधिष्ठिर! इतने छोटे से पाठ को याद करने में तुम्हें इतना समय लगा?' युधिष्ठिर ने कहा- 'गुरुदेव! सत्य बोलना सरल कार्य नहीं। बिना आचरण के एक बात जान लेना अलग बात है, किन्तु मेरे विचार में कोई भी पाठ तभी याद किया माना जा सकता है जब उस पर सफल आचरण करके आश्वस्त हो जावें। अब मैंने अभ्यास कर लिया है और आश्वस्त भी हो गया हूँ कि मैं अपने जीवन में सदा सत्य ही बोलूंगा। मैंने सत्य बोलने को अपने ज्ञान तथा आचरण दोनों में समाविष्ट कर लिया है।'

यह कथा ज्ञान और चारित्र के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर गहरा प्रकाश डालती है और स्पष्ट संकेत देती है कि दोनों में से केवल एक तत्त्व का समर्थन जीवन को सार्थक नहीं बना सकता है।

तीन रत्नों को पहिचानिये और उनका मोल आंकिये!

भारत के अध्यात्मवादी दर्शनों ने, जिनमें जैन दर्शन भी सम्मिलित है, जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को मान्यता दी है। सामान्य रूप से मोक्ष या मुक्ति का नाम है किसी भी अनचाहे बन्धन को तोड़ कर स्वतंत्र हो जाना। बन्धन का विपर्यय मोक्ष है। धर्म दर्शन जिस मोक्ष की बात करते हैं, वह एक प्रकार से अन्तिम मोक्ष है, क्योंकि सबसे बड़ा बन्धन यह शरीर माना गया है जो जन्म-जन्मान्तर में बना रहता है। इस बन्धन को तोड़ने का अर्थ है जन्म-जन्मान्तर का समाप्त हो जाना तथा आत्मा का शुद्ध आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाना। यों सामान्य जीवन में भी भाँति-भाँति के बन्धन जीवनी शक्ति को जकड़ते हैं, जिनसे मुक्ति पाने पर भी भीतरी आनन्द का अनुभव होता है। इस दृष्टि से मोक्ष या मुक्ति की अभिलाषा पग-पग पर और अंतिम रूप से भी सभी को रहती है। मनुष्य बन्धन को सदा ही कष्टकारक मानता है और उससे मुक्ति को आनन्ददायक। आचार्य उमास्वाति ने मोक्ष के स्वरूप को अति संक्षेप में बताया है कि बंध के कारणों का अभाव होने पर जो आत्मिक विकास परिपूर्ण हो जाता है, वही मोक्ष है। दूसरे शब्दों में ज्ञान और वीतराग भाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है। (तत्त्वार्थ सूत्र-गुजराती पृष्ठ 4)

मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही त्रिविध साधना पद्धति का विधान है। जैन दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान है। इस साधना का मूल आधार सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय है। ये तीन रत्न हैं, जो मोक्ष पथ को प्रकाशित करते हैं अर्थात् साधक इन तीन सिद्धांतों की सम्यक् साधना करके मोक्षगामी हो सकता है। रत्नत्रय की एकता को ही मोक्ष मार्ग

कहा है। रत्न त्रय का स्पष्ट उल्लेख पहली बार आचार्य उमास्वाति ने किया है और अपने ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र के पहले अध्याय के पहले सूत्र के रूप में इस मोक्ष मार्ग का उल्लेख किया है- '**सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्ताणि मोक्षमार्गः**', अर्थात: सम्यग् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र- ये तीनों मिल कर मोक्ष का साधन बनते हैं। यों आचारांग में इस त्रिविध साधना मार्ग के लिये सीधे-सीधे कहीं एक साथ दर्शन, ज्ञान और चारित्र शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। एक सूत्र के माध्यम से अहिंसा, प्रज्ञा और समाधि के रूप में त्रिविध साधना मार्ग का विधान है। (आचारांग 1-6-1)।

त्रिविध साधना मार्ग का उल्लेख अन्य धर्म दर्शनों में भी मिलता है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा रूप त्रिविध साधना मार्ग बताया गया है। गीता में भी ज्ञान, भक्ति (श्रद्धा) और कर्म के रूप में त्रिविध साधना मार्ग का वर्णन हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी मानवीय चेतना के तीन पक्षों का ही पूर्ण विकास अनन्त ज्ञान-दर्शन अनन्त सौख्य (आनन्द) और अनन्त वीर्य (अनन्त शक्ति) के रूप में उल्लिखित हुआ है। सामान्यतया मुक्ति के दो साधन भी कहे गये हैं- '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**' अर्थात् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है। सूत्रकृतांग सूत्र में '**अहिंसु विज्जा चरणं पमोक्खो**' (1-12-11) भी कहा गया है जिस का अर्थ है कि विद्या और आचरण मोक्ष के साधन हैं।

इस प्रकार तीन रत्न माने या दो- आशय एक ही है। ज्ञान और चारित्र मुख्य है ही और दर्शन दोनों की कड़ी है। दर्शन का अर्थ होता है दृष्टि या विजन, जो सत्य तत्त्व का साक्षात्कार कराता है या श्रद्धा के सूत्र से ज्ञान और चारित्र को जोड़ता है। कुछ जाना जाए और उस जानकारी पर विश्वास न हो तो उस जानकारी को आचरण में उतार पाना मुमकिन नहीं होता। ज्ञान किया है और मन ने उसका मान नहीं किया तो वह चरित्र का अंग कैसे बन सकेगा? आस्था के बिना ज्ञान पर आचरण संभव नहीं और सच तो यह है कि ये तीनों तत्त्व अलग-अलग नहीं है- तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। तीनों में से किसी एक तत्त्व की भी उपेक्षा फलदायी नहीं होगी। सबसे पहले सम्यक् शब्द का प्रयोग किया गया है कि तीनों कार्य सही होने चाहिए अर्थात् सही जानो, सही मानो और सही करो। न लंगड़ा मंजिल पा सकेगा और न अंधा- दोनों को विश्वासपूर्वक सहयोग करना होगा, तभी मंजिल मिलने की आशा जागृत हो सकेगी।

इस प्रकार की त्रिविध साधना न केवल चरम मोक्ष के लिये आवश्यक है, अपितु, जीवन की गति को प्रगतिमय बनाये रखने के लिये भी यह त्रिविध साधना पद्धति उपयोगी एवं लाभदायक है।

जानो, मानो और करो की श्रृंखला में 'करो' का मौलिक महत्त्व

त्रिविध साधना पद्धति के उपरोक्त तीनों साधन एक प्रकार से संयुक्त श्रृंखला के रूप में है और तीनों के सफल संयोग से लक्ष्य प्राप्ति संभव हो सकती है किन्तु एक-एक साधन की महत्ता की अलग से मीमांसा भी इस कारण आवश्यक है कि तीनों का तालमेल सम्यक् रीति से बिठाया जा सके।

जानो, मानो और करो की श्रृंखला में तीनों के पहले सम्यक् विशेषण अनिवार्य है। मिथ्या ज्ञान या दर्शन या चारित्र महत्त्वहीन हैं। सम्यक् का अर्थ है यथार्थ। ज्ञान यथार्थ होना चाहिये और उसी रूप में दर्शन और चारित्र भी यथार्थ होने चाहिये। सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा या प्रतीति ही सम्यक्त्व का आधार

है। व्यक्ति स्वयं यथार्थ दृष्टिकोण के माध्यम से सत्य तत्त्व का साक्षात्कार करे या आप्त वचनों पर दृढ़ आस्था रखकर श्रद्धा के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करे-कोई अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य अभिप्राय यह है कि ज्ञान और चारित्र का पल्लू आपस में पूरी सात्विकता से बंधा रहना चाहिये। इनके बीच में शंका का कोई स्थान न रहे, बल्कि विवेक और विश्वास के साथ साधना का संकल्प सुदृढ़तर होता रहे। दृष्टि सम्यक् रहे तभी ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् बने रहते हैं।

त्रिविध साधना मार्ग के रूप में ज्ञान का आधारगत महत्त्व है। जानने पर ही करने का शुभारंभ हो सकता है। जानने के बिना करना तो मात्र अंधापन है। एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करनी है तो उसके मार्ग की जानकारी जरूरी है। उसके बाद ही यात्रा का क्रम शुरू किया जा सकता है। कैसा भी छोटा-बड़ा काम हो, वह काम तभी कामयाबी से किया जा सकेगा, जब उसकी पूरी-पूरी जानकारी पहले ले ली जाए। जीवन में भी आचरण का अभ्यास करना हो, व्यवहार विधि निश्चित करनी हो अथवा चारित्र या आचार की साधना करनी हो तो पहले तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का प्रथम चरण है जिज्ञासा- नया नया और अधिकाधिक जानने की अभिलाषा। यह अभिलाषा स्रोत रूप है। जिज्ञासा के मार्ग में सन्देह से भी सामना होता है, किन्तु संदेह स्वाभाविक है तो बुरा नहीं। जो संशय को जानता है वह सम्यक् रूप से संसार के स्वरूप को जान लेता है। ज्ञान से ही हेय (त्यागने लायक), उपादेय (ग्रहण करने लायक) तथ ज्ञेय (जानने लायक) तत्त्वों की पहिचान होती है और ज्ञान की उसी धारा से ज्ञाता ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है। परन्तु जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार के स्वरूप को भी नहीं जानता है (आचारांग, 1-5-1)। जब तक किसी पदार्थ के विषय में संशय नहीं होता तब तक उसके सम्बन्ध में ज्ञान के नये-नये उन्मेष भी नहीं खुलते हैं। संशय का सही अर्थ है- वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा और ऐसा जिज्ञासामूलक संशय मनुष्य की ज्ञान वृद्धि का सबसे बड़ा कारण बनता है। संशय अर्थगत और अनर्थगत दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु ज्ञान के विकास की यात्रा दोनों प्रकार के संशयों के आधार पर आरम्भ होती है। इसी से ज्ञेय-उपादेय की जानकारी और हेय की त्याग करने प्रवृत्ति पनपती है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है और उस अनन्त का ज्ञान अनन्त ही कर सकता है। इसका आशय यही है कि जिसने किसी वस्तु को सम्पूर्ण रूप से जान लिया है, वह अन्य सभी वस्तुओं को सम्पूर्ण रूप से जान सकता है (**जे एगं जाणइ, से सव्वे जाणइ: जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ:** आचारांग, 1-3-4)। केवलज्ञान के रूप में ज्ञान का सम्पूर्ण विकास सम्पन्न होता है और केवलज्ञान अनन्त स्वरूपी होता है। जानने की शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति ही मानव जीवन का अन्तिम साध्य है।

रत्न त्रय में तीसरे रत्न चारित्र का मौलिक तथा मार्मिक महत्त्व है, क्योंकि साधना की सफलता का यही निर्णायक अंग है। चारित्र या चरित्र का उद्देश्य होता है जीवन को बन्धन-मुक्त बनाना-वह बन्धन चाहे कैसा भी हो, उससे मुक्ति आवश्यक होती है। सम्यक् चारित्र का निश्चयात्मक अर्थ है-

स्वस्वरूप में रमण करना और स्व का दायरा उतना विशाल माना गया है, जिसमें पूरे विश्व का समावेश हो जाता है। जैन दर्शन में चारित्र के दो रूप मान गए हैं-(1) व्यवहार चारित्र (बाह्य) तथा (2) निश्चय चारित्र (आन्तरिक)। निश्चय चारित्र के रूप में समता एवं स्व स्वरूप रमणता का विवेचन है, जबकि व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत आचरण के बाह्य विधि-विधानों, नियमोपनियमों आदि का निरूपण है। व्यवहार चारित्र को निश्चय चारित्र की प्राप्ति का साधन बताया गया है। सामाजिक दृष्टिकोण से व्यवहार चारित्र ही प्रमुख होता है।

चारित्र, चरित्र, आचार या आचरण की महत्ता ज्ञान की तुलना में अधिक मौलिक है, क्योंकि आचार रहित ज्ञान को अनुपयोगी माना गया है। वही मानव महामानव बन सकता है जिसका आचार उच्च कोटि का हो। कारण, चारित्र ही जीवन कहा गया है (कंडक्ट इज लाईफ)। आचरण के लिए जीवन की उपमा गूढार्थ लिए हुए है। समझिए कि मानव के शरीर में जीवन को कायम रखने के लिए रक्त हो, विश्व की स्थिति को समझने के लिए ज्ञान हो और वह सत्य को सम्यक् रूप से जानता भी हो, फिर भी यदि इन सब का उपयोग चरित्र निर्माण में नहीं किया जाता हो तो उस ज्ञान, जानकारी और जीवन का क्या लाभ? ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती (**न नाणमित्तेण कज्ज निप्फति**-अभिधान राजेन्द्र कोष 4/1989)। ज्ञान और जानकारी उसी प्रकार व्यर्थ हो जाएगी जिस प्रकार सम्पूर्ण खाद्य पदार्थों के विषय में पूरी जानकारी हासिल करके भी उन्हें न खाने पर भूख ज्यों की त्यों बनी रहती है। वस्तुत: ज्ञान के क्रियात्मक रूप को ही आचरण कहा जाता है। आचरण के अभाव में कोरा ज्ञान कभी अर्थपूर्ण नहीं बनता। जो ज्ञान आचरण में नहीं उतरा, वह तो सिर्फ बोझा है। जैसे चन्दन का बोझा ढोने वाला गधा उसे सिर्फ बोझा ही समझता है उसकी सुगन्ध से अनजान होने से, वैसे ही आचरणहीन विद्वान् मात्र ग्रंथों का बोझा ही उठाता है।

पाश्चात्य विद्वान स्वीनॉक कहता है कि बिना चारित्र का ज्ञान शीशे की आँख के समान है जो देखने के लिए नहीं सिर्फ दिखलाने के लिए होती है और होती है एकदम उपयोगिता रहित। महात्मा गांधी का भी मंतव्य है कि चारित्रहीन बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है। शास्त्रों का ढेर सारा अध्ययन भी चरित्रहीन के लिए किस काम का? जो साधक चरित्र गुण से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी सांसारिकता के समुद्र में डूब जाता है (**चरणगुण विप्पहीणो बुडुइ सुबहुं पि जाणंतो**-अभिधान राजेन्द्र कोष 6/442)। यह गहराई से समझ लेना चाहिए कि आचारहीन ज्ञान और ज्ञानहीन आचार दोनों नष्ट हो जाते हैं, अत: ज्ञान और क्रिया का सुन्दर समन्वय साधा जाना चाहिए।

ज्ञान और दर्शन की निष्ठा साकार रूप लेती है आचार की आराधना में

"**पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए**" के अनुसार पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसके बाद चारित्र की आराधना। ज्ञान के बिना चारित्र की आराधना संभव नहीं, किन्तु जो ज्ञान प्राप्त करके भी तदनुसार आचरण नहीं करते, वे अपनी आत्माओं को धोखा देते हैं और दूसरों को भी धोखा देते हैं। अपनी पंडिताई पर अभिमान करने वाले चरित्रहीन व्यक्ति नाना प्रकार की भाषाएँ भले ही जानते हों, मगर वे भाषाएँ दु:ख से उनकी रक्षा नहीं कर सकती है, क्योंकि आचरण के बिना ज्ञान महत्त्वहीन हो जाता है।

क्रान्तिकारी विचारक आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. ने आचरण को स्वतंत्रता के साथ जोड़ते हुए अपने आचरण को स्वतंत्र बनाने पर बल दिया है। ज्ञान और चारित्र शीर्षक वाले उनके एक प्रवचन के विचार मननीय है। वे कहते हैं-अपना काम अपने हाथ से करने की बात पर गहराई के साथ विचार करने पर आपको मालूम होगा कि स्वतंत्रता का मूल्य क्या है? अगर आप सावधान होकर देखें तो आपको पता लगेगा कि आपके सब काम पराधीन हैं। भोजन खाना तो आप में से सभी को आता है, लेकिन भोजन बनाना कितनों को आता है? ....मगर लोग तो इस भ्रम के शिकार हैं कि हाथ से काम नहीं करेंगे तो पाप से बच जाएंगे, मगर क्या यह पाप से छूटने का रास्ता है? भोजन के समान ही अन्न, वस्त्र आदि में उत्पादन में भी वही स्थिति है। आप स्वाधीन किसी भी चीज के लिए नहीं हैं। आपके ख्याल से कपड़ा बनाना नीच का काम है और पहिनना ऊँचे लोगों का काम। क्या यही समदृष्टि का लक्षण है? स्वतंत्रता को भूल जाने से आज धर्म में भी गुलामी हो रही है। आप में से बहुतों को धर्म भी वही रुचिकर होगा जिसके सुनने पर क्रिया नहीं करनी पड़े, मगर विचार करना चाहिए कि क्या यह उचित है? ....मेरी इस बात को याद रखो कि ज्ञानयुक्त क्रिया के बिना और क्रियायुक्त ज्ञान के बिना आप धर्म और संसार को नहीं जान सकते हैं। अत: जो भी क्रिया सामने आवे उस पर विचार करो कि यह क्रिया मैंने की है या नहीं? अगर नहीं की है तो मैं उस पर अभिमान कैसे कर सकता हूँ? इस प्रकार विचार कर उस क्रिया का बदला देने की चिन्ता रखो। ऐसा नहीं किया तो सिर पर ऋण चढ़ा रहेगा। आज आप सीधा खाते हैं तो यह मत समझिए कि यह आपको यों ही मिल गया है। आपको जो प्राप्त होता है, वह आपकी किसी क्रिया का फल है। इसे खाकर अगर आपने इस संसार और धर्म की सेवा नहीं की तो मानिए कि आपने अपनी संचित पूँजी गंवा दी है (बीकानेर के व्याख्यान, पृष्ठ 139-145)।

कितनी सत्योक्ति कही है विचार क्रान्ति के सूत्रधार आचार्य श्री ने? जिसने संसार के कार्यों तथा अपनी जीवन चर्या में आचरण का महत्त्व नहीं समझा और नहीं अपनाया तो भला वह धर्म के क्षेत्र में क्या कुछ सार्थक कर सकेगा? तात्पर्य यही है कि ज्ञान और दर्शन के प्रति निर्मित निष्ठा तभी फलवती बन सकती है जब वह आचार की आराधना में-कर्मण्यता के क्षेत्र में एक शूरवीर के समान अपने पराक्रम का परिचय दे तथा संसार को सिखावें कि सारी बुराईयों की जड़ यह चरित्रहीनता है और चरित्र का सुचारू गठन करके ही ज्ञान और दर्शन को साकार रूप दिया जा सकता है।

आचार मीमांसा के आदिग्रंथ के एक अध्याय लोकसार का सार

जैन आगमों में आचारांग को आगम शिरोमणि कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें वह सब कुछ है जो आचार संबंधी अन्य ग्रंथों में है, बल्कि उनसे भी बहुत अधिक है। इसे आचार की मीमांसा का आदि ग्रंथ कहा जा सकता है। साधना जीवन विकास की एक सतत् प्रक्रिया होती है अत: उसकी एकरूपता एक आचार पद्धति के अन्तर्गत ही बनी रहती है। आचार पर विशेष बल देने का यही मुख्य कारण है। आचार सम्यक् होना चाहिए अन्यथा साधक मकड़ी के जाले की तरह स्वयं ही स्वकृत अनाचार के जाल में फँस जाता है। आचारांग का आचारपरक दृष्टिकोण प्रकाश स्तंभ के समान बंधन मुक्ति की दिशा में प्रस्थान करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करता है।

आचारांग का सम्पूर्ण विषय वस्तु आचार के आधारभूत तत्त्वों, असदाचार के कारणों, पंचाचार विश्लेषण, आचार की मीमांसात्मक दृष्टि, साधना के स्वरूप आदि सम्बन्धित सभी विषयों का गहनता से आकलन करता है। यहाँ इस आगम के 'लोकसार' नामक मात्र एक अध्याय का संक्षिप्त विवेचन इस उद्देश्य से प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि पाठक पूरे आगम की गहराई की एक झलक पा सकें।

लोकसार आचार के आदि ग्रंथ का पांचवां अध्ययन है, जिसमें छः उद्देशक हैं-चारित्र प्रतिपादन, चारित्र विकास के उपाय, वस्तु विवेक, स्वातंत्र्य मीमांसा, अखंड विश्वास तथा सत्पुरुषों की आज्ञा का फल। अध्ययन का आरंभ सारगर्भित है क्योंकि वह सार-वर्णन के साथ आगे बढ़ता है। प्रश्न किया गया है कि लोक अर्थात् संसार का सार क्या है? साथ ही उत्तर है-संसार का सार धर्म है। फिर प्रश्नोत्तर चलते हैं-धर्म का सार क्या है? धर्म का सार ज्ञान है। ज्ञान का सार क्या है? ज्ञान का सार संयम है। संयम का सार क्या है? संयम का सार मोक्ष है। मोक्ष का सार क्या है? मोक्ष का सार आनन्द है। सार रूप यह वर्णन स्वाभाविक और मार्मिक है। सार का यह क्रम समझने योग्य है। संसार में रहते हुए धर्म/कर्त्तव्य का पालन किया जाए तो एकता एवं समता की स्थिति सुदृढ़ बनेगी। इस शान्तिमय एवं सहयोगी वातावरण में अवश्य ही सब ओर ज्ञान की जिज्ञासा जागृत होगी तथा ज्ञान का अधिकतम विस्तार संभव बनेगा। ज्ञान के विस्तार का सुनिश्चित प्रभाव आचरण पर पड़ेगा और चरित्र गठन का भाव प्रबल बनेगा। चरित्र गठन का सुपरिणाम संयम ही होता है। संयम का अर्थ है ऐसा आत्मानुशासन कि जो संसार के समस्त प्राणियों के लिए हितावह सिद्ध हो। संयम का सार मोक्ष कहा गया है-यह गूढ़ विषय है। संयम की साधना से ही वह शक्ति उत्पन्न होती है जो प्रत्येक प्रकार के बन्धन से छुटकारा दिलाने में सक्षम होती है। यह सक्षमता सबसे पहले यहाँ और इस जीवन में मोक्ष की झलक दिखाती है। यह सत्य है कि मोक्ष का सार आनन्द है। किसी भी प्रकार के बन्धन से जब मुक्ति मिलेगी तो यह निश्चित है कि उसका पहला प्रभाव आनन्द के रूप में ही प्रकट होगा। ऐसी आनन्दानुभूति के लिए यह सार वर्णन क्रमिक, सचोट और सुन्दर है।

लोकसार अध्ययन के छः उद्देशकों (उपाध्ययनों) में वर्णित विषय हैं-कामनाएँ-वासनाएँ : उनके कारण व निवारण के उपाय, अप्रमाद की महत्ता का प्रतिपादन, परिग्रह त्याग तथा काम विरक्ति का सन्देश, अपरिपक्व साधु के एकाकी विहार की सम्भावित हानियाँ, कर्मबंध एवं उसके विवेक का निरूपण, आचार्य की महिमा, सत्य, श्रद्धा, मध्यस्थ भाव, अहिंसा एवं आत्मस्वरूप का सम्यक् विवेचन, मुक्तात्मा के स्वरूप का मार्मिक वर्णन आदि। मोक्षमार्ग के तीन रत्नों में तीसरे रत्न आचार या चारित्र का पूरे आगम में व्यापक विवेचन है और उसकी सारपूर्ण झलक इस अध्ययन में स्पष्टता से परिलक्षित होती है।

संसार का सार धर्म बताया गया है और धर्म की यथार्थ व्याख्या है-वस्तु का जो मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म माना जाएगा। जैसे एक लकड़ी के टुकड़े का मूल स्वभाव पानी की सतह पर तैरना है तो इसे उसका धर्म कह दीजिए। स्वभाव के साथ विभाव भी होता है। लकड़ी के टुकड़े को लोहे की पेटी में बन्द करके पानी में डाला जाएगा तो वह तैरेगा नहीं, डूब जाएगा। इसी प्रकार आत्मा का

मूल स्वभाव है सभी बंधनों को तोड़कर हल्कापन लाते हुए ऊर्ध्वगामी बनना। संसार में आत्माएँ न्यूनाधिक रूप से अपने असदाचार से बन्धन रूप आवरण युक्त बनी रहती है। इन आवरणों को यानी वर्तमान विभाव को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से तोड़ना होता है। सब आवरणों का हट जाना और आत्मा का अपने मूल स्वभाव में पहुँच जाना ही उसका मोक्ष -चिर आनन्दमय स्थिति की उपलब्धि होता है। तो धर्म उस साधना का नाम है जिससे हम अपने मूल स्वभाव को पा सकें। यों धर्म का मूल स्वरूप मानव धर्म होगा।

इसलिए इस संसार में सर्वप्रथम जो प्राप्य है, वह है वस्तु स्वभाव का ज्ञान। वस्तु स्वरूप की चितवृत्ति पर संस्कार रूप में जिस की स्थापना होती है उसका नाम है ज्ञान। ऐसा सम्यक् ज्ञान हो जाने के बाद सत्य की जिज्ञासा जागती है। यह जिज्ञासा मानव को उसके विभाव से उसे शनैः शनैः दूर करते हुए स्वभाव की ओर गति कराती है। यह स्वभाव की ओर गति कराने वाली जो साधना या शक्ति है, उसी का नाम है चारित्र या आचार। चारित्र गठन के बाद मन की वृत्तियों पर विजय पाने का एक अभियान सा चलता है जिसका समापन सम्पूर्ण विजय के साथ ही होता है। चित्त संस्कारों में सर्वथा क्षय की दशा का नाम मोक्ष है। इस प्रकार आनन्द, सुख और शान्ति के ध्येय को प्राप्त करने के लिए सद्धर्म की आराधना अनिवार्य है। सच्चे धर्म के सिद्धान्त वे हैं जो मानव को कामनाओं और वासनाओं के सुखाभास से दूर करके सच्चे सुख की शोध में मन, इन्द्रियों तथा शरीर को प्रेरित करे और ऐसे धर्म सिद्धान्तों के आचरण में जो जुट जाता है, उसे ही सच्चा चरित्रवान् जीवन कहा जा सकेगा।

हिंसा की भर्त्सना करते हुए बताया गया है कि मनुष्य दूसरों को मारने से पहले वास्तव में अपना ही वध करता है। इस कारण जब तक आत्माभिमुखता और आत्मवत् भावना पैदा नहीं होगी तब तक वह सबके साथ मैत्री भाव से दूर ही रहेगा। इस अज्ञानवस्था की उसकी सारी क्रियाएँ स्व पर घातक ही सिद्ध होती है। भूल का मूल अज्ञान है और भूल करने वाले से भी भूल को छिपाने वाला बड़ा अपराधी होता है। भूल का भान मनुष्य को चरित्र के मार्ग पर आगे बढ़ने के बाद ही होता है और तब जिज्ञासा, ज्ञान, निर्णय और संयम का क्रम चलता है।

चरित्र का विकास आन्तरिक बल की नींव पर ही संभव है। चरित्र वास्तविकताओं के गर्भ से जन्म लेता है तथा उसको गठित एवं विकसित करने के लिए विशिष्ट उपायों का उल्लेख किया गया है। सदा विवेक जागृत रहना चाहिए तथा दूषित प्रवृत्तियों से दूर हटने का कार्य बाधित न हो। उपयोग की जब भी शून्यता आती है तो उससे अधर्म भड़क जाता है। साथ ही आसक्ति का विचार करना चाहिए जिससे परिग्रह का त्याग सहज बन सके। सत्य में श्रद्धा और विचारों में समभाव को अपनाने से ही चरित्रबल पल्लवित एवं पुष्पित होता है तथा सभी प्रकार के कर्मों के बन्धन नष्ट होते हैं।

चरित्र गठन एवं उसके विकास के उपायों को अपनाने व आजमाने के बाद परिग्रह के प्रति मूर्छा या आसक्ति की वृत्ति मन्द होने लगती है तथा अपरिग्रह वृत्ति की प्रबलता बढ़ती जाती है। बाह्य परिग्रह पास रहे तथा उसका उपयोग भी किया जाए, किन्तु यदि उसके प्रति आसक्ति या ममत्व न रहे तो वह परिग्रही वृत्ति नहीं। असल में भीतर की जो परिग्रह वृत्ति होती है वही परिग्रह है। परिग्रही वृत्ति

तब भी हो सकती है जब पास में भले ही बाह्य परिग्रह कुछ भी न हो। इस वृत्ति को समझने और इससे छुटकारा पाने के लिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का विचार बहुत उपयोगी है क्योंकि उसके द्वारा वस्तु के विविध पहलुओं को एक साथ समझते हुए परिग्रह वृत्ति का शमन किया जा सकता है। साथ ही समभाव का विवेक प्रबल रूप धारण करना चाहिए जिससे त्याग भाव जाग्रत हो। समता और त्याग की युति कार्यक्षम होती है। सच्चा त्याग वही माना जाएगा, जो समता से उत्पन्न हो। तभी वृत्तियों के शुद्धिकरण का प्रयास प्रारंभ होता है। सत्य की शोध की ओर भी ध्यान तभी जाता है। सत्य के लिए आग्रह नहीं होना चाहिए और विरोधियों के कथनों में भी सत्यांश खोजा जाना चाहिए- यही अनेकान्तवाद का मंतव्य है। चरित्र की साधना और सत्य की साधना एकरूप हो जानी चाहिए।

इसमें स्वतंत्रता की विचारणा का प्रतिपादन करते हुए स्वतंत्रता तथा स्वच्छंदता के बीच का भेद स्पष्ट किया गया है। स्वच्छंद मानस साधना का विरोधी होता है। जहाँ नियमितता, व्यवस्थितता तथा विवेक बुद्धि होती है, वहीं स्वतंत्रता रहती है और यही विकास का मार्ग है। स्वच्छंदता में विनाश होता है। साधक को स्वतंत्र, दीर्घदर्शी, ज्ञानी, सहिष्णु, पवित्र, उपयोगमय कहा गया है और इन विशेषणों का रहस्य यही है कि उसके जीवन में इन गुणों का विकास होना चाहिए। साधक को बार-बार चेताया गया है कि वह अपनी चैतन्य शक्ति को वासना के दलदल में गिरा कर उसका दुरुपयोग न होने दे। क्योंकि विकृति में शक्ति का सीधा ह्रास होता है। इस दिशा में अल्प एवं नीरस भोजन का भी अमित महत्त्व है। इन्द्रियाँ उत्तेजित न हो तथा संयमित बनी रहे-यह साधक के लिए आवश्यक है। रसमिश्रित वस्तुओं का उपयोग करने से जीवन खाने के लिए हो जाता है, जीवन के लिए खाने की वृत्ति मंद होने लगती है। किसी भी रूप में हो, वासना पतन की जड़ बन जाती है। स्त्री या पुरुष कोई भी नरक का द्वार नहीं है। नरक के द्वार हैं वासना और मोह। मोह विजय ही पूर्ण स्वतंत्रता का मार्ग है।

साधक को विभिन्न प्रसंगों के निमित्त से अनुभव का लाभ उठाना चाहिए। अनुभवों के साथ विवेक के प्रयोग से अन्तःकरण में समन्वयात्मक क्रिया का क्रम शुरू होता है। जलाशय और महर्षि के दृष्टांतों से बताया गया है कि निश्चित मार्ग के लिए संशय नहीं रहना चाहिए, बल्कि श्रद्धा के साथ साधना में निरत होना चाहिए, क्योंकि श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना समाधि नहीं मिलती। अनुभवी पुरुषों के अनुभव, शास्त्रीय वचन तथा स्वयं की सत्यशोधक बुद्धि इन तीनों का समन्वय करके सत्कार्यों में पुरुषार्थ प्रयोग करना चाहिए। तीनों के समन्वय में श्रद्धा कभी अन्ध श्रद्धा नहीं बन सकेगी।

साधकों को निर्देश दिया गया है कि वे सत्पुरुषों की आज्ञा में चलें। आज्ञा को धर्म की संज्ञा भी दी गई है। उसे आज्ञा का आराधक होना चाहिए, किन्तु गुरु की आज्ञा का अनुसरण करते समय वह सतर्कता आवश्यक है कि कहीं गुरु स्वकीर्ति अथवा मान के विकार से ग्रस्त तो नहीं है। अखंड श्रद्धा का फल अखंड पुरुषार्थ के रूप में प्रकट होना चाहिए। जो अपने मन को वश में रखता है, वही साधक स्वावलंबी बनेगा। कल्पना और अनुभव के अन्तर का आकलन करना चाहिए कि भोग आनन्द का अपहरण करता है, तो संयम सदा आनन्द को समर्पित रहता है। सांसारिकता की आसक्ति को त्याग देने पर संसार का सार प्राप्त हो जाता है। आसक्ति के अधीन रहने से संसार निस्सार होता जाता है।

चरित्रशीलता के मार्ग पर चलिए और नए सच्चरित्र समाज की रचना कीजिए

आचार और चारित्र के विश्लेषण का अभिप्राय यही है कि आज जो चरित्र का संकट गहराता जा रहा है तथा जिसके कारण समाज, राष्ट्र और संसार में विषमता, अन्याय और अत्याचार का दौर है, उसमें चरित्रशीलता की मशाल जलाई जाए। विचारकों, प्रबुद्धों तथा युवाओं को आगे आना चाहिए कि वे स्वयं चरित्रशीलता के मार्ग पर चलें और अपने आदर्श से दूसरों को भी इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। उनका ध्येय बनना चाहिए कि वे एक नया अभियान चलावें, जन-जन को आन्दोलित करें तथा एक ऐसे नए समाज की रचना का संकल्प लें जहाँ चरित्र गठन का उद्देश्य और अभ्यास सर्वोपरि रहे। आज विकृतियों तथा विषमताओं की ओर बढ़ते हुए कदमों को उधर से रोकने का इसके सिवाय अन्य कोई कारगर उपाय नहीं है।

चरित्र निर्माण की प्रक्रिया न तो विशिष्ट होती है और न ही एकांगी। चरित्र जीवन से अलग कुछ नहीं, बल्कि कहा जा सकता है कि जीवन चरित्रमय होना चाहिए और चरित्र जीवनमय। चरित्र का शाब्दिक अर्थ ही है चलने की क्रिया। फिर चलने में शरीर की अन्य सारी क्रियाएँ सम्मिलित माननी होगी। सही तरीके से चलना सीखना है इसका यही तो मतलब होगा कि सही तरीके से उठना, बैठना, सोना, बात करना आदि प्रत्येक क्रिया पूरी की जाए। यही तो सब चरित्र है और चरित्र निर्माण की प्रक्रिया इस कारण सामान्य रूप से सतत रूप से चलती रहती है। अतः चरित्र निर्माण के मर्म को गहराई से समझने की जरूरत है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति सुघड़ और सहज हो और इतना ही नही, वह हमारी अन्तर्वृत्ति की स्पष्ट परिचायक भी हो। यों भीतर बाहर जब चाल चलन सही यानी सम्यक् हो जाता है तो सामान्य रूप से समझिए कि चरित्र निर्माण की प्रक्रिया ने गति पकड़ली है।

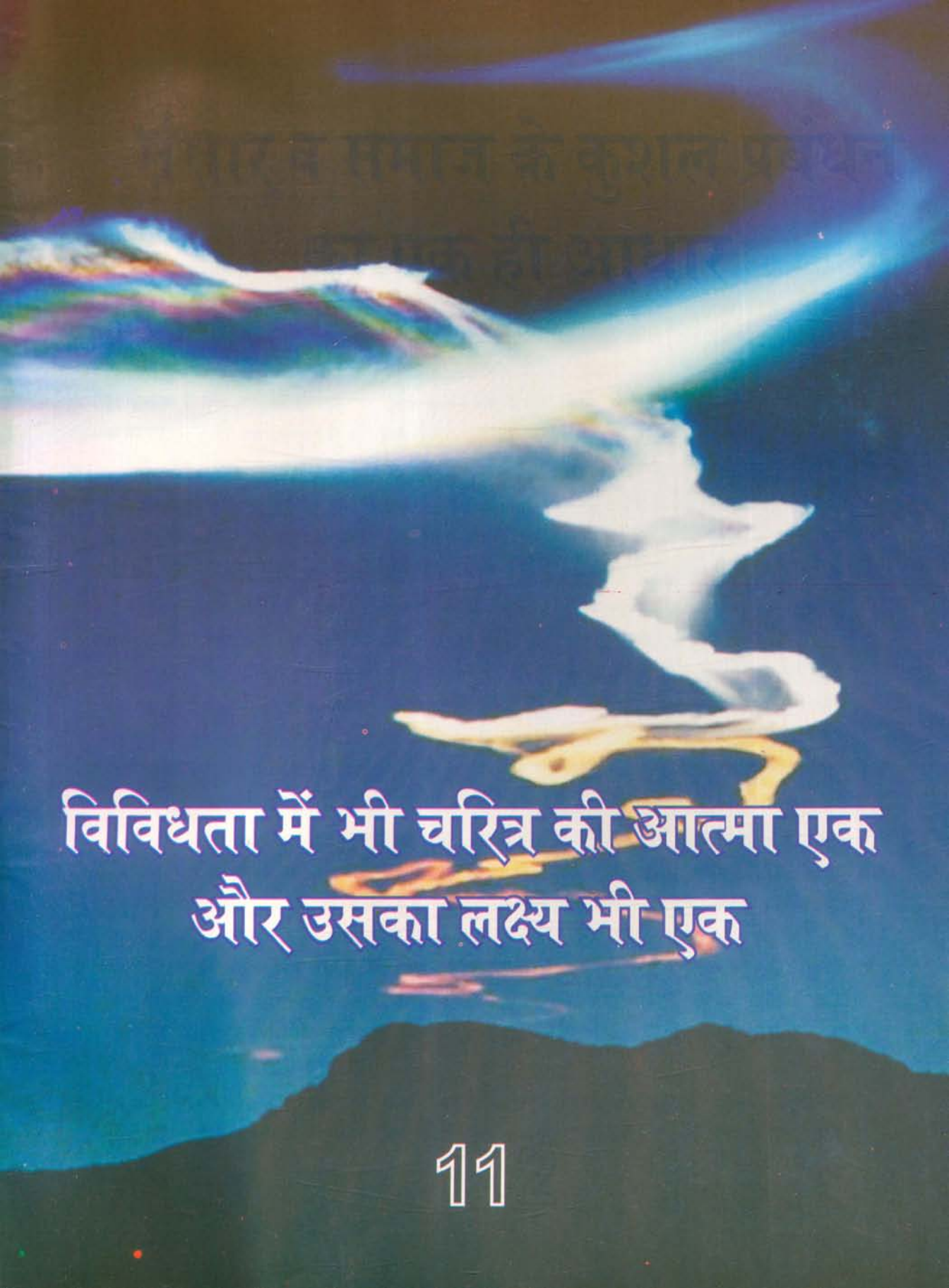
◆◆◆



विविधता में भी चरित्र की आत्मा एक और उसका लक्ष्य भी एक

समता का आदर्श ही राष्ट्र उत्थान की संजीवनी

नागरिकों में भरत चक्रवर्ती की उत्कृष्ट चरित्रशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की भारी चर्चा थी। अनेक नागरिकों का मत था कि हमारे शासक भरत महाराज की श्रेष्ठ चरित्र निष्ठा तथा निष्परिग्रही सात्विकता को देखते हुए ऐसी प्रशंसा सर्वथा उचित है और प्रशंसा के इन स्वरों में हमें भी अपने स्वर मिलाने चाहिए। किन्तु कुछ नागरिक शंका को बढ़ावा दे रहे थे। उनका मानना था कि छः खण्डों की निरंकुश सत्ता और अपरिमित सम्पत्ति के बीच दिन-रात राज-काज में व्यस्त रहने वाला शासक निष्काम और निरासक्त हो सकता है अथवा निष्परिग्रही रह सकता है, यह कतई संभव नहीं। परिग्रह के बीच धंसे हुए व्यक्ति की चरित्रशीलता के सम्बन्ध में ऐसी प्रशंसा चाटुकारिता के सिवाय कुछ नहीं। ऐसे नागरिकों में भी एक व्यक्ति बहुत ही मुखर था। स्थान-स्थान पर चर्चा में अग्रणी भाग लेते हुए वह भरत चक्रवर्ती की चरित्र निष्ठा का खंडन करता- शंका से आगे बढ़कर उसने प्रशंसित चरित्र की संभावना से ही नकारना शुरू कर दिया। उसका तर्क था कि अद्‌भुत साज-सज्जा वाले महलों, रूपवती महारानियों तथा इन्द्रियों के रसमय सुखों का भोग करना और सत्ता के



विविधता में भी चरित्र की आत्मा एक और उसका लक्ष्य भी एक

11

अहंकार में मदोन्मत्त रहना-फिर भी उसे अपरिग्रही बताना, यह नितान्त मिथ्या है।

नगर में चर्चा के तेवर चढ़ते गये और उसके तीखे स्वरों की भनक भरत चक्रवर्ती को भी लगी। वे निस्सन्देह एक चरित्र सम्पन्न शासक थे अत: अपनी सारी आलोचना पर भी वे उत्तेजित कतई नहीं हुए किन्तु उनके मन में यह विचार अवश्य उमड़ा-घुमड़ा कि उनके निजी चरित्र के विषय में अनर्गल रूप से जो भ्रम फैलाया जा रहा है, उसे निर्मूल करना तो अति आवश्यक ही है। उन्होंने उस मुखर व्यक्ति को राज्यसभा में बुला भेजा।

भरत महाराज अपने सिंहासन पर बैठे थे और राज्यसभा के सभी सदस्य भी उपस्थित थे। वह मुखर व्यक्ति भरत महाराज के ठीक सामने खड़ा था- वह मुखर था लेकिन साहसी भी था। भरत ने पूछा- 'तुम्हें मेरे चरित्र में संदेह क्यों हैं?' वह बल देकर बोला- 'मैं नहीं मानता कि अपार राजसुख में रहते हुए कोई सात्विक चरित्रवाला अपरिग्रही हो सकता है।' भरत ने फिर उसे छेड़ा- 'ऐसा भी तो हो सकता है कि उन अपार सुखों के प्रति उसके मन में कोई मूर्छा, आसक्ति या ममत्त्व न हो।' वह अड़ा रहा- 'नहीं महाराज! यह असंभव है।'

तब सैनिकों को आदेश दिया गया कि उस व्यक्ति के हाथ में लबालब तेल से भरा एक कटोरा देकर सारे नगर में उसे घुमाया जाए। नगर में स्थान-स्थान पर रमणीय नाटक आदि आयोजित किये जाएं। अन्य कोई भी क्रिया वह व्यक्ति भले करे- बस इतना कड़ा ध्यान रखा जाए कि तेल के कटोरे से अगर एक भी बूंद बाहर झलक जाए तो तत्क्षण तलवार से इसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाए।

आदेशानुसार सैनिक उसे नगर में घुमाने के लिये ले चले। वह मुखर व्यक्ति तब अत्यन्त भयभीत और सावधान कि कहीं तेल की एक बूंद कटोरे से बाहर न झलक जाए। उसका सारा ध्यान केवल कटोरे पर केन्द्रित हो गया। उसके पांव चल रहे थे- इसके सिवाय उसे कुछ नहीं मालूम हुआ कि वह कैसे सारे नगर में घूमकर फिर से राज्यसभा में पहुँच गया है। उसकी दोनों आंखें पूरे नगर भ्रमण में खुली थी, लेकिन सिवाय उस कटोरे के वे अन्य कुछ भी देख नहीं पाई। यहाँ तक कि बूंद गिरने की आहट से कंपित उसके कान भी न गीत-संगीत सुन पाए और न ही नागरिकों के आनन्दित स्वर। उसका सारा ध्यान, सारी शक्ति जैसे उस छोटे से कटोरे में समा गई थी।

'कहो, नागरिक! तुम नगर भ्रमण कर आए'- भरत महाराज ने पूछा। हाँ, महाराज! उसका दबा-दबा जवाब था। फिर पूछा गया-बताओ, नगर की सजावट तुम्हें कैसी लगी? नाटकों के पात्र कैसा मन मोहक अभिनय कर रहे थे? गीत-संगीत की मधुर स्वर-लहरियों ने तो तुम्हें आत्म-विभोर बना दिया होगा। उसे कुछ भी समझ में नहीं आया- न उसने कुछ देखा और न कुछ सुना। अर्थात् उसने कहा- 'यह आप क्या कह रहे हैं, महाराज! कहीं भी कुछ नहीं था।' तब सैनिकों को पुन: आदेश मिला कि अब उसे फिर से खुले हाथ और खुले दिमाग से नगर भ्रमण कराया जाय। वैसा ही किया गया। उसके लौटने पर फिर पूछा गया कि क्या सब दृश्य उसने देखे और श्रव्य सुने। वह पुलकित होकर बोला-'सब कुछ अद्‌भुत है।'

अब भरत महाराज की बारी थी, कहा- तेल के कटोरे के साथ पहले यह सब कुछ तुम क्यों नहीं देख पाए? नागरिक बोला- मृत्यु के भय से समूचा ध्यान तेल के कटोरे पर केन्द्रित हो गया, अत:

पहले कुछ भी देख-सुन नहीं पाया। तब भरत महाराज ने समझाना शुरू किया- भाई! तुमने मृत्यु भय को स्थूल रूप में महसूस किया अत: विवशता थी, किन्तु मृत्यु का सूक्ष्म चिन्तन करो और मन को संयमित बना लो तो वह स्वयंमेव सात्विकता तथा चरित्रशीलता में ढल जाएगी और यह सब स्वैच्छिक होगा। चरित्र के सुगठित हो जाने पर भले ही कोई सत्ता और सम्पत्ति के अम्बार पर बैठा रहे तब भी वह निष्परिग्रही हो सकता है। अपने अनुभव से अब मेरे चरित्र के लिये तुम्हारा क्या मत है? नागरिक के मुँह से कोई बोल नहीं फूटा- बस आँखों से पश्चात्ताप के आंसू झरते रहे और उसका सिर भरत महाराज के चरणों में लोट-पोट हो गया।

चरित्र प्रयोग के भाँति-भाँति के क्षेत्र परन्तु आन्तरिकता एक

व्यक्ति सबसे छोटा घटक (ईकाई यूनिट) है तो विश्व सबसे बड़ा घटक। इन दो के बीच में घटकों का जाल बिछा हुआ है। व्यक्ति के अपने सम्पर्कों के संकोच या व्यापकता का सवाल है कि कोई भी कितने अधिक घटकों के साथ अपने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध जोड़ता है। ये सम्बन्ध ही उसकी सामाजिक मनोवृत्ति का परिचय देते हैं तथा इन्हीं से स्पष्ट होता है कि कोई भी व्यक्तित्व कितना लोकप्रिय अथवा अलोकप्रिय है या जाना अथवा अनजाना। सामाजिक सम्बन्ध ही व्यक्ति के विकास का धरातल भी बनते हैं जिनकी पृष्ठभूमि पर व्यक्ति विश्व के स्तर तक प्रगति कर लेता है।

यह सही है कि मूल घटक तो व्यक्ति ही होता है और शेष सभी घटकों को उसकी रचना कहा जा सकता है। किन्तु व्यक्ति की एकलता और सामूहिकता में भारी अन्तर आ जाता है। एक व्यक्ति अनुशासित भी रह सकता है और अनुशासन से बाहर भी जा सकता है। लेकिन कोई भी संगठन विधान, परंपराओं अथवा नियमों से बांध दिया जाता है कि पूरे संगठन के अनुशासनहीन होने का अवसर बहुत मुश्किल से ही आता है। इनमें भी अधिकतर अनुशासन से हीन होता है तो कोई उसका सदस्य ही यानी कि व्यक्ति।

फिर भी कई ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिनमें विधान भी ठुकराए जाते हैं, परम्पराएँ भी तोड़ी जाती है और विरोध तथा विद्रोह की स्थिति में अराजकता का वातावरण भी बन जाता है। वर्तमान विश्व में अनेक देशों की स्थिति इस रूप में आंकी जा सकती है। आशय यह है कि बीच के घटकों में अनुशासनहीनता समा जाती है तो वह सम्बन्धित घटक की क्षेत्र अथवा कार्य व्यापकता के अनुसार अस्थिर, अशान्त और अराजक हो जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि व्यक्ति-व्यक्ति की अनुशासनहीनता उतनी हानिप्रद नहीं होती जितनी हानि भयावह बीच के घटकों की अनुशासनहीनता से हो जाती है। तो इस दृष्टि से यदि व्यक्ति व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अथक कोशिश की जाती है तब उसका दोहरा लाभ सुनिश्चित है। व्यक्ति यदि चरित्रवान् बना तो उसके जीवन के संवरने में कोई संदेह नहीं रहेगा--यह एक लाभ, लेकिन दूसरा लाभ इतने विशाल पैमाने पर और स्थाई रूप से होगा कि अन्य सारे घटकों में अनुशासनबद्धता एवं कार्यकुशलता गहरे तक पैठ जाएगी। मूलत: व्यक्ति के चरित्र निर्माण से अधिक अन्य कोई रचनात्मक कार्य हो, ऐसा नहीं माना जा सकता है।

इस संदर्भ में देखें कि व्यक्ति से ऊपर विश्व के स्तर तक ऐसे कौनसे प्रमुख घटक हैं जो व्यक्ति

के विकास तथा व्यक्तित्व के विस्तार में अधिक सहायक होते हैं और जिनमे व्यक्ति के चरित्र निर्माण का अथवा उसकी चरित्रशीलता का तुरन्त और तेज असर हो सकता है। सबसे पहले परिवार को लें। व्यक्ति की सबसे पहली क्रीड़ा भूमि, शिक्षा भूमि और कर्म भूमि परिवार की भूमि ही होती है। परिवार के पास कोई लिखित विधान नहीं होता, उसका कार्य स्थापित परम्पराओं और सदस्यों के चरित्र बल के आधार पर ही चलता है। परिवार की जड़ खून के रिश्ते में जमती है, परम्पराओं में पनपती है, फिर भी कई बार उसके सदस्यों की चरित्रहीनता के कारण परिवारों की दु:खान्तिकाएँ सामने आती है। आज तो संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और एकल परिवारों में भी विश्वास तथा शान्ति का माहौल बिगड़ रहा है। तभी तो तलाक का ग्राफ गणित में ऊपर चढ़ता ही जा रहा है। मतलब कि परिवार का घटक आज संकटग्रस्त है।

परिवार से आगे बढ़ें तो उन संगठनों को लें जिनके साथ प्रत्येक व्यक्ति का परोक्ष या अपरोक्ष सम्बन्ध रहता ही है। इनमें सामाजिक, जातीय, प्रादेशिक और विभिन्न प्रवृत्तियों से सम्बन्धित संगठनों को शामिल कर सकते हैं। इनसे ऊपर राष्ट्रीय संगठन अर्थात् देश का शासन तंत्र है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जो मानवता की दृष्टि से राष्ट्रों को शान्ति की दिशा में मोड़ने तथा पीड़ितों व दलितों की दशा सुधार के क्षेत्रों में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाने का काम करते हैं।

यह निश्चित तथ्य है कि अधिकांश संगठनों के अपने विधान या संविधान तथा सभी प्रकार के नियमोपनियम होते हैं, फिर भी इनका संचालन तो व्यक्ति ही करते हैं। अत: मूलत: जब व्यक्ति चरित्रहीन हो जाता है तो उनके दुश्चरित्र का कुप्रभाव इन इन संगठनों पर साफ दिखाई देने लगता है। यह तब होता है जब अधिकांश सदस्यों का चरित्र शिथिल या भ्रष्ट होने लगता है। आज की राजनीति या कि नौकरशाही के संदर्भ में ऐसी विकृति खुले तौर पर दिखाई दे रही है।

ऐसे में यह मानना होगा कि विभिन्न घटकों के विभिन्न क्षेत्रों में चरित्र के स्वरूप में विविधता रहेगी। कार्यक्षेत्र अनेक प्रकार के होने के कारण कार्यों का स्वरूप विभिन्न होगा तो कर्त्तव्यों के निर्वाह क्रम में भी विविधता होगी। किसी क्षेत्र में भावना का विशेष महत्त्व होता है, किसी में सच्चाई और ईमानदारी का अधिक महत्त्व तो किसी में कार्यकुशलता की प्राथमिकता रहती है।

परन्तु एक बात निश्चित है कि सभी क्षेत्रों में आवश्यक चरित्र की आन्तरिकता अर्थात् उसका मूल भाव एक ही होगा। ऐसी चरित्रनिष्ठा सर्वत्र और सर्वदा आवश्यक होती है। जहाँ कहीं भी नींव मजबूत हो तो उस पर किसी भी प्रकार का या कितना भी बड़ा भवन निर्मित किया जाए- वह सदा सुदृढ़ रहता है। कच्ची नींव पर छोटा-सा भवन भी सुरक्षित नहीं रह सकता है। इस रूप में स्वस्थ एवं कर्मठ जीवन की नींव रूप होती है चरित्र निष्ठा, निर्माण जहाँ चरित्र का प्रारंभिक रचनात्मक चरण होता है तो निष्ठा उसका स्थायित्व।

चरित्र का लक्ष्य भी एक है कि विकृतियाँ टूटें तथा समता भाव फूटें!

जहां कहीं या जिस किसी क्षेत्र में वांछित बदलाव लाना है अथवा स्वस्थ परिवर्तन करना है तो इस कार्य को दो चरणों में पूरा करना होता है। पहला यह कि पहले की सड़ी हुई जर्जर व्यवस्था को

समाप्त किया जाए और दूसरे समाप्त की गई व्यवस्था के स्थान पर नई सर्वहितैषी व्यवस्था स्थापित की जाए। पहले चरण को विनाशात्मक या नकारात्मक (निगेटिव) कहेंगे तो दूसरे को सर्जनात्मक या सकारात्मक (पोजिटिव) चरण। समाज में जब बड़े पैमाने पर परिवर्तन की धुरी घुमानी हो तब दोनों चरण क्रमिक रूप से साथ-साथ चलाए जा सकते हैं।

आज हमारे सामने केवल किन्हीं एक या दो लोगों में ही बदलाव लाने की समस्या नहीं है, बल्कि यह बदलाव बड़े पैमाने पर पूरे जीवन में लाने की आवश्यकता आन पड़ी है। क्योंकि समूची व्यवस्था शोषण, दमन, अन्याय और अत्याचार पर आधारित हो गई है जिसका अधिकांशतः संचालन चरित्रहीनता तथा अनुशासनहीनता की स्वार्थी शक्तियों के हाथों में चला गया है। इन शक्तियों को परास्त करने एवं दलित व्यवस्था को खत्म करने की पहली जरूरत है। उसके साथ ही या बाद में नवनिर्माण का दौर चलाना होगा ताकि समाज का एक बदला हुआ आकार सामने आवे और उसे स्थिरता तथा हितावहता में ढालने के लिये सतत प्रयास जारी रहें।

सार रूप में यह वर्तमान समस्या है तो चरित्र निर्माण इस समस्या का तात्कालिक समाधान भी है और चरित्रबल इसका स्थाई समाधान निकालने हेतु प्रयासरत रखा जा सकता है। वास्तव में चरित्र का यही प्रमुख लक्ष्य भी है। चरित्र उज्ज्वलता का प्रतीक होता है और उसे कहीं भी मलिनता अपितु शिथिलता भी सह्य नहीं होती है। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में ही लक्ष्य स्पष्ट होने लगता है कि सच्चरित्रता से समाज में फैली हुई विकृतियों को दूर किया जाए तथा सब लोगों में समता पूर्ण भावों एवं उनके व्यवहार को प्रबल बनाया जाए।

समता दर्शन प्रणेता स्व. आचार्य नानेश ने न केवल समत्व भाव, समता तथा समता समाज की रचना पर अविरल प्रवचन धारा प्रवाहित की अपितु इस दिशा में व्यावहारिक एवं रचनात्मक कार्यक्रमों को भी प्रोत्साहन दिया। समाज में फैली विकृतियों एवं विषमताओं को समाप्त करने के आह्वान के साथ आचार्य श्री ने इन्दौर चातुर्मास के अपने एक प्रवचन में समता के आदर्श की पुर्नप्रतिष्ठा पर बल देते हुए उपदेशित किया- व्यक्तियों की जागृति में शिथिलता अर्थात् चरित्र में दुर्बलता से सामाजिक रीतियों के पालन में शिथिलता आई तो उस शिथिलता ने सामाजिक नियंत्रण तथा सावधानी को कमजोर बनाया। तब व्यक्तियों के मन में कर्त्तव्य भावना के स्थान पर अकर्त्तव्य की सुषुप्ति पनपने लगी और असावधानी से किसी में भी विकृतियों का पैदा होना और पनपना स्वाभाविक होता है। प्रचलित रीतियों में इसी प्रकार विकृतियां समा गई और रीतियाँ-कुरीतियाँ बन गई। यह भी मुख्य कारण रहा कि मनुष्य की स्वार्थपरता हीन भावना और कुत्सित कार्य प्रणाली ने रीतियों में नाना प्रकार की विकृतियों का विस्तार किया। ... इन्हीं रीतियों में जब तरह-तरह की इतनी और ऐसी विकृतियाँ समाती जाती हैं, जो समाज के बहु-संख्यक भाग के लिये कष्टकर और पीड़ादायक बन जाती है। तब अधिकांश प्रबुद्ध लोगों का ध्यान उस ओर जाता है कि वे रीतियाँ सारे समाज में संत्रास फैला रही है और कैसे उसका निवारण किया जाए? यों कहें कि रीतियों में जब विकृति की अति होने लगती है, तब उनके विरुद्ध प्रतिरोध की जागृति भी उत्पन्न होती है और एक प्रबल इच्छा शक्ति जागती है कि उन रीतियों के मूल्यों में क्रान्ति की जाए। ... मनुष्य की चेतना और

जागृति सदा शिथिल एवं सुषुप्त नहीं बनी रहती है और विकृतियों की अति को देखकर उस चेतना में जागृति का एक नया दौर आ जाता है। वर्तमान समय को बारीकी से देखें तो आपको प्रतीत होगा कि समाज में प्रचलित सभी कुरीतियों के विरुद्ध इस समय में प्रबल विरोध जागृत है। आवश्यकता है प्रतिरोध को सही दिशा देने की और उसके बाद रीतियों में शुभ भावनाओं की नई प्राण प्रतिष्ठा करने की। इस ओर समाज का रचनात्मक दृष्टिकोण बनना चाहिये। ... सम्पूर्ण मानव जाति की दयनीय स्थिति मिटाने का एक ही मार्ग है और वह है समता का आदर्श। इस आदर्श को उपस्थित करने के लिये व्यर्थ के भार स्वरूप रीति-रिवाजों को छोड़कर परिवार, समाज, राष्ट्र के समुचित विकास के लिये आवश्यक है। रीति-रिवाजों के संदर्भ में समता का आदर्श यही कहता है कि समाज में सबको उनके पालन की समान रुचि हो तथा उनका प्रभाव सब पर समान रूप से सुखकारी भी हो। ... समता का आदर्श ही वह संजीवनी औषधि है जो आज के पतनशील परिवार, समाज और राष्ट्र में नव-जीवन फूँक सकती है तथा प्रगतिशील आधारों पर इन ईकाईयों का नव निर्माण किया जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तःकरण में समता का आदर्श जागना चाहिये तभी उसकी सामूहिक विकासशीलता सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में मुखरित हो सकेगी। (संस्कार क्रान्ति, पृष्ठ 251-54)।

वस्तुतः चरित्र निर्माण का लक्ष्य यही है कि सर्वत्र विकारों का अन्त हो तथा सबके विचार, वचन तथा व्यवहार में समत्व का ऐसा मधुर रस घुल जाए कि सौहार्द, भ्रातृत्व एवं सहयोग समाज का आधार बन जाएं। सभी आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है (**समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइयं**- आचारांग 1-8-3)। ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करें-यह अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है-बस इतनी-सी बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये (**एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणः अहिंसा समय चेव, एतावन्तं वियाणिया**- सूत्रकृतांग 1-1-4-10)। समभाव उसी को रह सकता है जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है (सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए णदंसए- सूत्रकृतांग 1-2-2-17)। चरित्र ही ऐसी समता का वाहक बनता है।

समता को आरंभ और अन्त की कड़ी बनाओ : सदा सुख पाओ!

समता की भावना होती है, समता की प्रवृत्ति होती है और समता की व्यवस्था भी होती है। कारण, भावना ही भाषण और कर्म में प्रतिफलित होती है। समता की सर्वत्र प्रखरता को समझने के लिए आप इन दो दृश्यों पर दृष्टि डालें, तुलना करें और मानव मन की मूलवृत्ति पर अपना निष्कर्ष निकाले। दृश्य एक- (1) एक गृहस्थ ने चार लोगों को भोजन पर अपने घर आमंत्रित किया और उन्हें एक ही पंक्ति में बिठाया। जब चारों के सामने चार थालियाँ रखी गई तो उसकी दृष्टि अपनी थाली के बाद बाकी की तीन थालियों पर दौड़ी। एक थाली में पाँचों पकवान व दर्जनों व्यंजन, दूसरी में मूंग की दाल का हलवा और दही बड़े, तीसरी में खीर पुड़ी तो चौथी में गुड़ घी का चूरमा। सभी थालियों के व्यंजन सरस और स्वादिष्ट। किन्तु यह क्या? चारों की मुख मुद्राओं पर भिन्न-भिन्न भाव। पहली थाली वाले का माथा घमंड से तना हुआ, दूसरे के चेहरे पर मिश्रित भाव, तीसरे की भृकुटि चढ़ी हुई तो चौथे का मुँह क्रोध से विद्रूप। आप सोचिये कि ऐसा क्यों हुआ? क्या गुड़ घी का चूरमा कड़ुआ और बेस्वाद होता है? दृश्य दो- (2) एक दूसरे गृहस्थ ने भी खाने पर चार लोगों को बुलाया

और उसी तरह एक पंक्ति में बिठाया। चारों की थालियों में लेकिन एक जैसे खाद्य पदार्थ- मकई की मोटी रोटियाँ, पत्तीदार सब्जियाँ और घी-गुड़ बस। चारों ने चारों थालियाँ देखीं- किसी की भी सहज मुद्रा में कोई भेद नहीं उभरा। सब एक से प्रसन्न, भोजन के लिये उत्सुक और भोजन के बाद सभी के मुख से भोजन तथा मेजबान दोनों की सराहना। इस मन:स्थिति पर भी आप सोचिये कि एक सामान्य जन के लिये भी पदार्थ का अधिक महत्त्व है अथवा समतापूर्ण व्यवहार का।

आप बाहर के पदार्थों से हटकर जब भीतर की भावना तक पहुँचेंगे तो इन दो दृश्यों का सारा रहस्य उजागर हो जाएगा। एक से एक बढ़कर मूल्यवान और स्वादिष्ट व्यंजन सामने हो, फिर भी भावना को सन्तोष नहीं मिलता। दूसरी ओर सामान्य व्यंजन, किन्तु समता भावना का सुख अपार। यही दोनों दृश्यों का साफ अन्तर है। समझ लें कि भीतर प्रसन्नता तो बाहर सब खुशनुमा और भीतर में असन्तोष तो बाहर कैसी भी प्राप्ति से कोई सुख नहीं, बल्कि रोष और आक्रोश। इस मन:स्थिति को दो शब्दों में समेटें तो कहेंगे समता और विषमता अथवा समानता और असमानता। भावनात्मक रूप से प्रत्येक मनुष्य को समता सर्वदा और सर्वत्र प्रिय, अनुकूल तथा प्रमोदकारक लगती है लेकिन किसी भी स्थिति में विषमता लगती है अप्रिय, प्रतिकूल और खेदजनक। इन्हीं भावनाओं को नानाविध व्यावहारिक रूपों में प्रतिबिम्बित करेंगे तो व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के अनेक चित्र अपनी वास्तविकता में आपकी आंखों के सामने चित्रित हो जाएंगे, जो आपके साथ प्रतिदिन की चर्या में जाने-अनजाने घटित होते रहते हैं।

समता को आरंभ की कड़ी बनावें अपनी अन्त:करण की भावना से। समता मानव-मन को अधिकतम मधुर महसूस होने वाली भावना होती है- उसके सामने बहुमूल्य पदार्थ या बाहर की सारी प्राप्तियाँ नगण्य बन जाती है। मनुष्य छोटा हो या बड़ा, धनी हो या निर्धन, बली हो या निर्बल, ज्ञानी हो या अज्ञानी- सभी अपने प्रति व्यक्त या व्यवहृत की गई समता की भावना को बखूबी समझाते हैं और उसे सदा चाहते हैं। परन्तु यह किसी का स्वार्थ या अज्ञान ही होता है कि जैसी भावना वह अपने लिये चाहता है, वैसी ही भावना दूसरों के प्रति व्यक्त या व्यवहृत नहीं करता। आशय यह है कि मानव मन के मूल में समता की ही चाह होती है। अत: वैसे चरित्र निर्माण की प्राथमिक आवश्यकता है कि आप चरित्रनिष्ठ बनकर सब को समता की चाह का सम्यक् बोध करावें, उस की भावना को जागृत करें तथा समता के व्यापक व्यवहार का सार्वजनिक रूप से अभ्यास करावें। समस्या यही है, किन्तु इसका समाधान कठिन नहीं है। एक स्वस्थ बदलाव के साथ व्यवहार की धारा को नया रूप देना होगा। इस धारा का एक बार बहाव आरम्भ हो जायगा तो फिर वह विवेक के साथ चलता रहेगा। यही समता की आरंभ की कड़ी होगी।

अन्त की कड़ी का अर्थ है कि यह धारा एक स्थाई व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो जाए अर्थात् समता अन्त की कड़ी बनकर सदा प्रवर्तित रह सके। समता के समरस में डूबे समाज के लिये समता साधन भी होगी तो वह साध्य भी बनी रहेगी। सत्य यह है कि वह अन्त की कड़ी अन्त की न रहकर मोक्ष के अनन्त का विस्तार बन जाएगी। अब समता की व्यवस्था को जरा गहराई से समझें। प्रकृति के साम्राज्य में कहा जाता है कि किन्हीं भी दो मनुष्यों की आकृति, ध्वनि या प्रकृति एकदम समान कतई

नहीं होती-भिन्नता रहती ही है। प्रश्न उठता है कि फिर इस भिन्नता पर समता की व्यवस्था कैसे खड़ी की जा सकती है? किन्तु सच यह है कि भिन्नता की श्रेणियों में ही अभिन्नता का धरातल रचा जाना आवश्यक होता है ताकि वह भिन्नता समान धरातल पर चले और अवसरों की समानता के आधार पर समानता के रंग में रंगती हुई बढ़े। और शाश्वत सत्य यह है कि भिन्नता है या बनाई जाती है मात्र बाह्य उपलब्धियों में, जब कि सबकी आत्मा में समता ढली रहती है। आन्तरिक भावनाओं में स्व पर के संयुक्त कल्याण एवं रक्षा भाव में, सर्वहितैषिता व समृद्धि के लक्ष्य में तथा समता की समाज के सभी श्रेयों में स्थाई स्थापना में। समता की नींव में यह समझ गहरी बन जानी चाहिये कि जो मेरे लिये प्रियकारी एवं हितकारी है, वह सबके लिए भी प्रियकारी एवं हितकारी होगा और जो मैं अपने लिये चाहता हूँ, वैसा ही दूसरों के लिये भी करूँ। जब यही प्रत्येक विचारणा और धारणा में ढलेगा, तब तदनुसार समतामय व्यवहार पुष्ट बनेगा और समता ही सामाजिक व्यवस्था का एक मात्र आधार बन जाएगी।

यह भी सही है कि एक व्यक्ति की विचारणा भी सदा एकसी नहीं रहती या अनेक व्यक्तियों की विचारणा भी समय-समय पर बदलती रहती है। किन्तु विचारणा से बनी धारणा सहज में नहीं बदलती, क्योंकि धारणा परम्परा बन जाती है और जीवन के साथ जुड़ जाती है। किसी गहरे धक्के से यह सब भी बदले तब भी धरातल मुश्किल से ही बदलता है। यों देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी वांछनीय होते हैं। बस, आवश्यक होता है तो यह कि शाश्वत तत्त्व न बिगड़ने चाहिए और न बदलने चाहिए। यह समता भी ऐसा ही शाश्वत तत्त्व है। यह सुनिश्चित माना जाता है कि समतापूर्ण व्यवस्था सामान्यतया दीर्घजीवी ही होती है। न केवल व्यक्ति के, अपितु विश्व के सामूहिक जीवन में समता को आरंभ से अन्त तक बनाए रखने का रहस्य इस वस्तुस्थिति में छिपा है कि समतापूर्ण प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे और जन समुदाय में नई चेतना जगाती रहे ठीक उसी तरह कि चरित्र निर्माण की प्रक्रिया एक सतत एवं सक्रिय प्रक्रिया होती है तथा निरन्तर जन जीवन को आदर्शोन्मुख बनाये रखती है। चरित्र निर्माण की आधारशिला पर निर्मित होने वाला समतापूर्ण समाज सदैव चरित्रशील भी बना रहेगा तथा पीढ़ियों को समान रूप से प्रगतिशील तथा सहयोगी बनाए रखेगा।

सारे संसार को अपना घर मानो : बाहर युद्ध रोको, भीतर युद्ध लड़ो!

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भारतीय आदर्श रहा है। कोई भी आदर्श केवल आदर्श ही नहीं होता कि वह यथार्थ को नहीं छूता। यथार्थ की उत्कृष्ट अवस्था को ही आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है- एक प्रकाशस्तंभ के समान कि उस प्रकाश को लक्ष्य बनाकर चलते रहो। हो सकता है लक्ष्य तक पहुँच जाओ, हो सकता है कि न पहुँच पाओ, किन्तु कोई आदर्श अनुकरणीय नहीं होता- ऐसा कभी नहीं समझना चाहिये। सारी वसुधा यानी पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब मानो- यह आदर्श भले ही बड़ी दूर की कौड़ी लगती हो, लेकिन कोरी कल्पना कतई नहीं। जैसा आपका एक परिवार होता है, उसको आप चाहते हैं, अपना योगदान देते हैं और उसके सुख-दु:ख को बाँटते हैं। अपनी इसी महसूसगिरी को पूरे संसार तक विस्तृत क्यों नहीं की जा सकती है? यह अपने हृदय की विशालता और उदारता की ही तो बात है। यह आदर्श कोई एकदम प्राप्त नहीं किया जा सकता है। किन्तु यदि कई लोग मिल कर विश्व-परिवार की बात करे समझें-समझावें, दिल को बड़ा करें-

करावें और विश्व के समस्त प्राणियों के साथ संवेदना को महसूसें और महसूसावें तो एक ऐसा दिन क्यों नहीं आ सकता जब पूरे विश्व के प्रति उसका प्रत्येक नागरिक पारिवारिक अनुभूति लेने लगे? प्रत्येक नागरिक के लिये उसका संसार कितना होता है-इसका उल्लेख पहले हो चुका है। पहली बात यह है कि उस संसार को अपना परिवार मानो। यह महसूस करने की बात है। अपने परिवार में भी आप महसूस ही तो करते हैं कि वे आपके आत्मीयजन हैं और उसी दृष्टिकोण से पारस्परिक सम्बन्धों को बनाते और गाढ़े बनाते हैं। यही विचार पूरे संसार के लिये बनाने की जरूरत है। वैसे भी अपने विविध सम्पर्कों के आधार पर निकट सम्बन्ध तो बनते ही हैं-उनको अधिक प्रगाढ़ बनाने की बात रहती है। प्रगाढ़ता आने से पारिवारिक अनुभूति स्वत: ही उत्पन्न हो जाती है।

विश्व परिवार के आदर्श के विरुद्ध एक कठिन समस्या है। प्रत्येक नागरिक सुबह से लेकर रात तक अपने काम के सिलसिले में हर तौर पर अपना अलग या विशेष स्थान बनाने की चेष्ठा करता रहता है। ट्रेन या बस में अपना एक रूमाल छोड़कर अपनी जगह सुरक्षित कर लेता है, घर या हॉस्टल में अपने नाम की अलग आलमारी जमाता है या कि बड़े पैमाने पर व्यापारी अपने उत्पादों के अलग बाजार खड़े करते हैं। राजनीति में तो नेता लोग कुर्सियों पर ऐसा कब्जा जमाते हैं कि आसानी से छोड़ना ही नहीं चाहते। गर्ज कि हर कोई अपनी जायदाद (टेरीटोरी) अलग से बनाना चाहता है। राष्ट्रों के बीच तो टेरीटोरी (अधिकृत भूमि) तो हमेशा विवाद का विषय बनी रहती है तथा उसके लिए युद्ध तक होते आए हैं यानी कि भूमि के लिये रक्तपात।

स्वार्थ एक ऐसी बड़ी बाधा है जो विस्तृत पारिवारिक अनुभूति को रोकती है। लोगों के स्वार्थ के जो कार्य बाहर दिखाई देते हैं, वे कहीं बाहर की उपज नहीं होते। वे मन में ही पैदा होते हैं, इस कारण यदि उस मन में ही पहले अनुकूल परिवर्तन लाया जाए और नया मनोविज्ञान बनाया जाए तो बड़े परिवार का नक्शा तैयार हो सकता है। इस दृष्टि से पहला भावनात्मक चरण यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति पूरे संसार को अपना घर मानने का संकल्प ले और वैसा विचार बनावे।

सकल संसार को अपना घर मानें- इस के लिये अगले दो चरण होने चाहिए। एक, बाहर यानी बाह्य वातावरण में छोटे से बड़े विवादों को रोका जाए और सबसे ऊपर युद्ध को रोका जाए और दो, युद्ध अपनी आन्तरिकता में लड़े जाए अर्थात् सब अपने दुर्गुणों, दोषों और भाव शत्रुओं से भीतर में लड़ें। अन्तरात्मा में ऐसा युद्ध चले कि जिसमें नष्ट होने से न स्वार्थ बचे, न अहंकार अथवा अन्य ऐसे विचार जो हृदय की विशालता तथा उदारता को पनपने नहीं देते। जो अपने घनघाती कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं, जैन दर्शन में उन्हें अरिहन्त कहा जाता है तथा वे प्रथम पद पर सबके वन्दनीय होते हैं। बौद्ध ग्रंथ धम्मपद में कहा गया है कि घृणा को घृणा से समाप्त करना संभव नहीं है, वह तो प्रेम से ही दूर की जा सकती है और यह शाश्वत नियम है। भीतर रहे हुए शत्रुओं में घृणा का असर भी भयावह होता है। घृणा के लिये ही मार्टिन लूथर का कथन है-घृणा और कटुता से भय का रोग मिटता नहीं है। यह चिकित्सा तो प्रेम ही कर सकता है। घृणा से जीवन लकवा मार जाता है लेकिन प्यार उसे स्वस्थ बना देता है। प्रेम से शान्ति और प्रकाश प्राप्त होता है, वहीं घृणा जीवन को अंधकारमय बना देती है।

आज की हकीकत यह है कि दुनिया में ठौर-ठौर पर वैर, विरोध, हिंसा, प्रतिहिंसा का जो कटु

वातावरण बना हुआ है, उसके लिये स्वार्थ के समान ही घृणा का दुर्गुण भी जिम्मेदार है। दूसरी ओर घृणा का विरोध भी सारे संसार में विवेकशील पुरुष कर रहे हैं। कामना, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, अभिमान और सबसे ऊपर घृणा रूप अपने आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने का आज उपयुक्त अवसर है जिसके लिये उत्कट चरित्र एवं अमित उत्साह से अपने आपको सम्पन्न बनाओ (स्वामी चिद्विलासानन्द)। घृणा पूर्ण रूप से विनाशात्मक है- दोनों के लिये, एक जो घृणा करता है और दूसरा जो घृणा को झेलता है। यह निरर्थक वृत्ति है जो किसी को भी खुशी नहीं देती (बेट्टी साईन, विख्यात पश्चिमी दार्शनिक)। जो घृणा करने में आनन्द मानते हैं वे ऐसा जहर खा रहे होते हैं जो धर्म की आत्मा को खा जाता है (विलियम हेजलिट)। सी एन एन पर एक संदेश प्रसारित हुआ था कि ओसामा बिन लादेन (आतंकवादियों का मुखिया) या तालिबान हकीकत में दुश्मन नहीं हैं। दुश्मन है नफरत। इस तथ्य को अगर आप भी अपने भीतर महसूस करें तो लगेगा कि आप इस दुश्मन को परास्त कर रहे हैं।

चरित्र की आत्मा है- सम्पूर्ण मानव जाति की एकता

संसार के समग्र वातावरण को अच्छाई और बुराई के तराजू में तौलकर निष्कर्ष निकालना चाहिए-यही चरित्रशीलता का तकाजा होता है। भारतीय जन जीवन में जन्म से जो संस्कार बालक को दिये जाते हैं उनमें मुख्य यही होता है कि बालक भलीभांति समझे, अच्छाई के स्थानों को तथा बुराइयों को फिसलन को। दरअसल बुराई का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता, वह एक तरह से अच्छाई का अभाव है, जैसे ज्ञान नहीं तो अज्ञान, निर्देशन नहीं तो भूल, स्मरण नहीं तो विस्मरण, शिष्टता नहीं तो मूर्खता, प्रकाश नहीं तो अंधकार, न्याय नहीं तो अन्याय, स्वास्थ्य नहीं तो रोगग्रस्तता, धन नहीं तो दीनता, शक्ति नहीं तो दुर्बलता और जीवन नहीं तो मृत्यु। अच्छाई के साथ तुलना करने पर ही बुराई का अस्तित्त्व बनता है। सोचें कि सांप या बिच्छु में जो जहर होता है, क्या वह अच्छा है या बुरा? सांप और बिच्छु के हिसाब से सोचें तो वह बुरा नहीं है, क्योंकि वह उनकी सुरक्षा का साधन है। इसका गहरा अर्थ यह निकलता है कि प्रकृति ने सब कुछ अच्छा ही अच्छा रचा है, बुरा कुछ भी नहीं।

फिर दुनिया में बुराइयाँ क्यों उभरकर आती है और क्यों वे इतनी भयानक हो उठती है कि रक्तपात और नरसंहार का कारण बन जाए? इस आतंकवाद को ही देखिए कि वह निर्दोषों की जान लेने पर तुला हुआ है। बुराइयाँ मनुष्य के मन में जन्म ले लेती है, प्रकृति के राज्य में नहीं। किसी मानव वर्ग के द्वारा स्वार्थ और लापरवाही का बर्ताव किया जाता है तो वह नये अभाव-अभियोगों को प्रकाशित करता है। एक ओर की चरित्रहीनता दूसरी ओर भी चरित्र को गिराती है। इसी चरित्रहीनता के कारण कई बार व्यक्ति के अधिकारों तथा समाज की स्वाधीनता के बीच ठीक से संतुलन नहीं रहता तो चारों ओर चरित्र का पतन प्रारंभ हो जाता है। चरित्र के पतन का सीधा-सा अर्थ होता है- बुराइयों का पैदा होना और पनपना। जब बुराइयाँ पनपती है तो अच्छाइयों का क्षरण होता है और अन्याय का माहौल बनता है। यह अन्याय का माहौल चरित्रहीनों को अपराध से आतंकवाद तक ले जाता है।

ऐसी दशा में आज नया चारित्रिक दृष्टिकोण ढल रहा है कि संकुचित एवं हिंसक उद्देश्यों की जगह विश्व नागरिकता तथा सम्पूर्ण मानव जाति की एकता व खुशहाली का सिद्धांत अपनाया जाना चाहिए। राष्ट्रीयता एक सीमा तक बुरी नहीं है, किन्तु जब वही कट्टर बन जाए तो वह भी बुराइयों

की जड़ बन जाती है। नया उद्देश्य इस रूप में सामने आ रहा है कि सम्पूर्ण मानव जाति एक है तथा सभी मनुष्य आपस में प्रेम से रहें। कट्टर राष्ट्रीयता से उपजे नाजीवाद, फाँसीवाद या आतंकवाद को मिटा देने का यह सर्वोत्तम उपाय माना जाने लगा है कि विश्व-नागरिकता की व्यवस्था आरंभ की जाए। जैसे किसी भी प्रान्त में रहने वाला उस राष्ट्र का नागरिक माना जाता है, उसी प्रकार किसी भी राष्ट्र में रहने वाला विश्व का नागरिक माना जाए। सच यही है कि पूरी पृथ्वी एक देश है और पूरी मानव जाति के सदस्य उसके नागरिक, यह कथन है फारसी के एक विद्वान् बहादल्लाह का।

इस संदर्भ में वर्तमान विश्व में फैली उत्तेजना तथा सामाजिक विश्रृंखलता को ऐसा नाजुक दौर मानना चाहिये जिससे गुजर कर सारे संसार का सम्मान युद्धोन्मादी विश्व को शान्तिपूर्ण बनाने का ही होगा। इसलिये आज जो विश्व की एकता का आन्दोलन फैल रहा है या यों कहें कि नये चरित्र का जो उत्थान हो रहा है उसे फूट, मतलबखोरी और नफरत की माली ताकतों से लड़ना होगा, जिसमें उसकी जीत सुनिश्चित है। प्रत्येक राष्ट्र में यह जागृति फैलानी होगी तथा चरित्र को विकसित करना होगा कि दैन्य, युद्ध, हिंसा, कटुता, रोग और चरित्र पतन से ग्रस्त जन समुदाय जागे और विश्व शान्ति के आन्दोलन में सम्मिलित हो।

आज का सच यह है कि एक संसार समाप्त हो रहा है और दूसरा संसार जन्म लेने के लिये संघर्षरत है। ऐसे समय में आवश्यकता इस बात की है कि पूरी दुनिया के लोग एक नये विश्वास और संकल्प के साथ वांछित परिवर्तन को लाने के काम में जुट जाए। उनका चरित्र बल एवं आत्मविश्वास उन्हें उस स्थान तक पहुँचा सकता है जहाँ उनकी पैदा की हुई सारी बुराइयों का अन्त हो जाए और अच्छाई घनीभूत बन कर सबको अपने आगोश में ले ले। सम्पूर्ण मानव जाति की एकता को ही वास्तव में चरित्र की आत्मा समझा जाना चाहिए।

विचार, आचार में समता और सर्वत्र समता ही चरित्र का ध्येय

मानव जाति की एकता के प्रयासों के साथ समता के प्रयास भी सक्रिय हो जाने चाहिए, क्योंकि एकता मात्र साधन है, जबकि समता साध्य है। समता के लिये एकता होगी तभी वह प्रतिफलित हो सकेगी। दिवंगत आचार्य श्री नानेश ने समता के स्वरूप का सचोट वर्णन किया है तथा आह्वान किया है कि विचार तथा आचार के संघर्षों को दूर किया जाए ताकि समता का सर्वत्र प्रसार हो सके- 'दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता और अपेक्षा नहीं होती, तब उस की नजर के सामने जो कोई या कुछ भी आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थ भाव से दूषित। वह दृष्टि निरपेक्ष बन जाती है अर्थात् स्वभाव में स्थित हो जाती है। इसी दृष्टि से विचार और आचार में समता की सृष्टि होती है। विचार और आचार में समता का यह अर्थ है कि किसी समस्या पर सोचें या किसी सिद्धांत पर कार्यान्वयन करें तो उस समय समदृष्टिता एवं समभाव रहे। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक में भेड़ वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन का कृतित्त्व स्वातंत्र्य का लोप नहीं होना चाहिये। समदृष्टि एवं समभाव के साथ बड़े से बड़े समूह का भी चिन्तन या आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमें दिखाई देगा कि सभी एक-दूसरे की हित चिन्ता में विरत है और कोई भी ममत्त्व या मूर्छा का मारा नहीं है।

निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार समता में ही प्रकट होगा, किन्तु यदि उस चिन्तन में दंभ, हठवाद या यश लिप्सा की बुराई घुस जाए तो वह विचार संघर्षशील बनता है, अन्यथा नहीं। ऐसे संघर्ष का निवारक है, जैन दर्शन का अनेकान्तवाद।'

... वर्तमान विश्व में वैचारिक संकट के लिये अनेकान्तवाद एक अमृतौषधि है। आज मुख्य विवाद यही है कि प्रत्येक वाद या विचार स्वयं को ही सम्पूर्ण मानता है-सत्य मानता है तथा अन्य सभी को मिथ्या। तो यह वैचारिक हठवाद हो गया और हठ में सत्य के दर्शन नहीं होते। आपेक्षिक दृष्टि से सामान्यतया यह माना जाना चाहिये कि प्रत्येक वाद या विचार में कोई न कोई ग्राह्य तत्त्व हो सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि किसी भी वाद या विचार के प्रति पूरी तरह से आंखें बन्द नहीं कर लेनी चाहिए और न ही बिना जाने उसका विरोध किया जाना चाहिये। होना यह चाहिए कि प्रत्येक वाद या विचार का सम्मान करें, उसमें रही हुई उपादेयता को शोधें तथा मिल-बैठकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण को विकसित करें। यही विचार समता तथा समता के माध्यम से सत्य दर्शन का मूल है। ... विचार संघर्ष को समाप्त करने के समान ही जैन दर्शन में स्वार्थ संघर्ष को कम करने या मिटाने के उपायों पर भी सम्यक् प्रकाश डाला गया है। अहिंसा उसकी आधारशिला है। अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन के साथ एक ऐसी आचार संहिता की रचना होती है जो व्यक्ति एवं समाज के जीवन संचालन की नियंत्रक बनाई जा सकती है। ... व्यक्तिगत एवं समाजगत जीवन के स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने के लिये यह आवश्यक शर्त है कि उसमें फैल रहे विचार व आचार व संघर्षों को कम किया जाए तथा धीरे-धीरे मिटाया जाए। यही समता स्थापना का महत्त्वपूर्ण कदम होगा (समता दर्शन और व्यवहार, पृष्ठ 55-58)।

विचार व आचार में समता से ही सर्वत्र समतामय वातावरण बन सकेगा तथा वह वातावरण निरन्तर की जागरूकता के सर्वदा भी बना रह सकेगा। समता का अर्थ है पहले समतामय दृष्टि बने क्योंकि यही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति में उतरती है। इस तरह समता सर्वांग रूप से समानता की वाहक बन सकती है समता कारण रूप है तो समानता कार्य रूप। जीवन में जब समता का प्रवेश होता है तो सारे प्राणियों के प्रति समभाव का निर्माण होता है।

यही समता चरित्र निर्माण का ध्येय बननी चाहिये। चरित्र गठन से अच्छाई पनपेगी और अच्छाई मानव एकता का आधार बनेगी। मानव एकता मानवीय समता में रूपान्तरित हो सकेगी।

◆ ◆ ◆

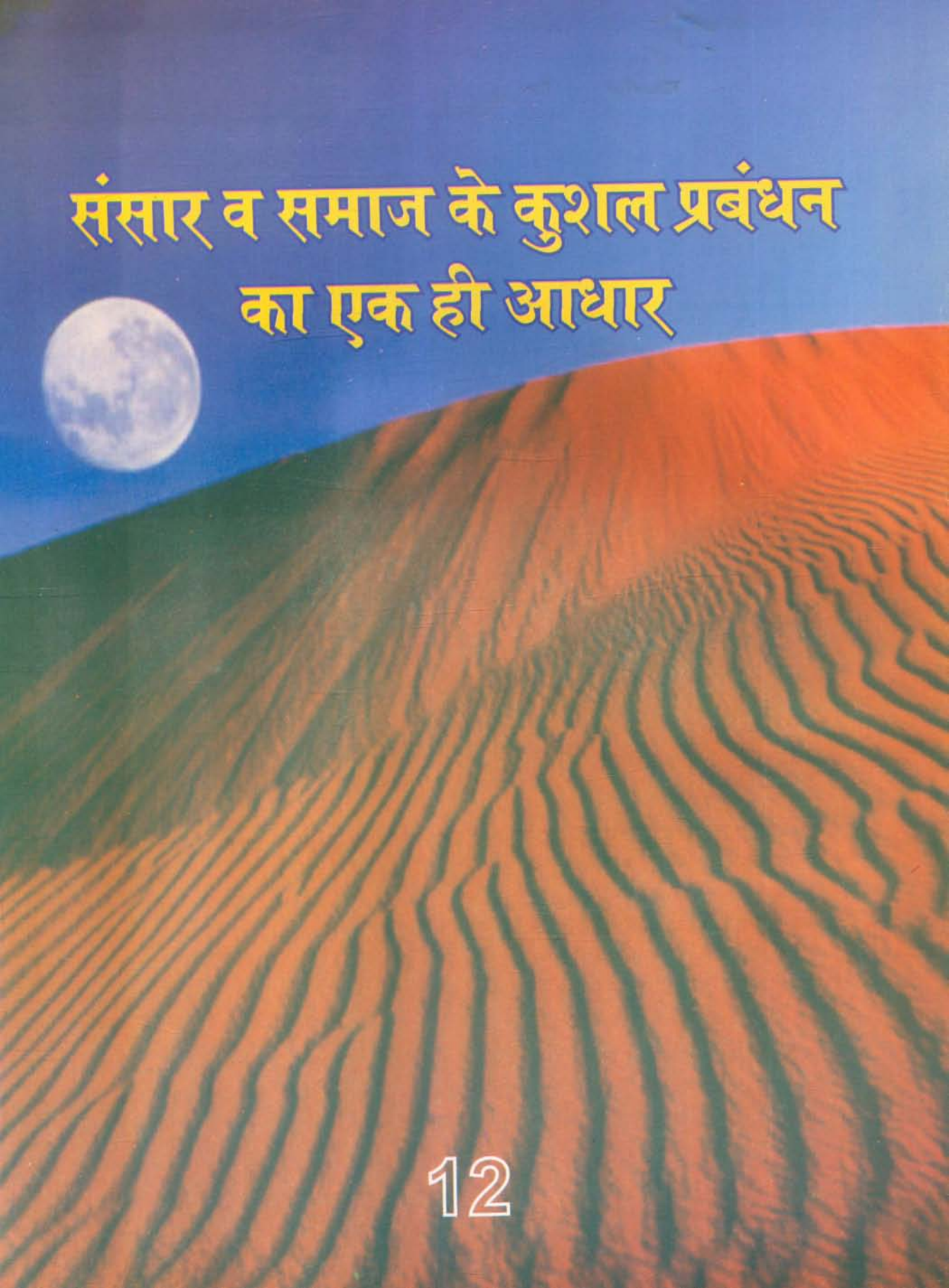


संसार व समाज के कुशल प्रबंधन का एक ही आधार चरित्र

चरित्रवान व्यक्तित्व से ही मानवता का कल्याण

ग्रंथों में उल्लेख है कि जब युगलियों का युग था। तब एक ही युगल (एक पुत्र तथा एक पुत्री) सन्तान उत्पन्न होती थी। वही युवा होने पर पति-पत्नी बन जाते थे तथा युगल का क्रम चलता रहता था। वे प्रकृति के उत्पादों पर निर्भर थे, जो उन्हें भरपूर मात्रा में प्राप्त होते थे, अत: वे अर्जन विधि जानते ही नहीं थे। उन्हें उसकी जरूरत ही नहीं थी। सब प्रकृति का प्रबंध था, उन्हें अपने प्रबंधन की कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे प्रकृति के उत्पादों में कमी आने लगी, तब उनके बीच टकराव शुरू हुआ। यह संघर्ष बढ़ता रहा, ज्यों-ज्यों उत्पाद घटते रहे। इसी समय में भगवान् ऋषभदेव का शासन प्रारंभ हुआ और उस समय संसार तथा समाज में सर्वांगीण कुशल प्रबंधन की उपादेयता समझ आ गई। जनता को अर्जन-कुशल नहीं बनाया गया तो अराजकता फैलने की आशंका उत्पन्न हो गई।

ऋषभदेव चरित्रसिद्ध पुरुष थे और वह ऐसा सुदृढ़ आधार था कि कुशल ही नहीं, आदर्श प्रबंधन की रचना हो गई जिससे न केवल आर्थिक सुप्रबंधन का स्वरूप ही सामने आया, अपितु एक आदर्श जीवन शैली की भी


संसार व समाज के कुशल प्रबंधन
का एक ही आधार
12

स्थापना हुई। कुशल प्रबंधन का ही सुपरिणाम रहा कि टूटते-टूटते भी उस आदर्श जीवन शैली के कई तत्त्व वर्तमान जीवन शैली में भी विद्यमान हैं।

तत्कालीन कुशल प्रबंधन के तीन सूत्र जनता को सिखाए गए और उन तीन सूत्रों में संसार व संसार के समग्र कुशल प्रबंधन का रहस्य समाया हुआ था। वे तीन सूत्र थे

(1) असि-इस शब्द का अर्थ होता है तलवार अर्थात् समाज का एक वर्ग असिधारी बनाया गया। यह तलवार सार्वजनिक रक्षा के लिए थी। जो शारीरिक तथा मानसिक स्थितियों से साहसी, त्यागी और सर्व जन सहयोगी थे, उन का एक वर्ग बनाया गया। उसे संसार व समाज की सुरक्षा का भार सौंपा गया। उनका कर्तव्य निर्धारित किया गया कि वे अपने प्राणों की बलि देकर भी जन जीवन की रक्षा करें।

(2) मसि-इस शब्द का अर्थ होता है स्याही अर्थात् लिखने का साधन। स्याही का कार्य उन लोगों के वर्ग को सौंपा गया जो जन-जन के आध्यात्मिक, नैतिक तथा लौकिक जीवन के उत्थान में रुचि रखते थे। इस वर्ग ने एक ओर विचार व आचार को स्वस्थ रूप देने के लिए उपयुक्त साहित्य लिखा तो जीवन सुधार सम्बन्धी शिक्षण-प्रशिक्षण का क्रम बनाया ताकि अगली पीढ़ी में सुसंस्कारों की स्थापना की जा सके। दूसरी ओर हिसाब किताब रखने की विधियाँ विकसित की गई तथा व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन दिया गया।

(3) कृषि-इस शब्द का अर्थ है खेती। उस समय में उपजाऊ धरती तथा जल संसाधन का बाहुल्य था। अत: कृषि उत्पादों पर टिकी आजीविका ही प्रमुख बनी। जिन लोगों की असि या मसि के क्षेत्रों में या तो रुचि नहीं थी या क्षमता नहीं थी, वे सभी लोग इस कार्य में जुट गए जिसके कारण संसार व समाज में धान्य आदि की बहुलता हो गई। जब समाज इस रूप में सम्पन्न हो जाता है तब उसमें संघर्ष का नामोनिशान नहीं बचता है।

उस समय में ऐसा कुशल प्रबंधन कैसे हुआ और क्योंकर सभी लोगों ने उसे मान्य किया? यह गंभीरता से सोचने का विषय है। पहले भी किसी प्रकार के प्रबंधन से हीन युगलिया समाज था और जब अभाव की स्थितियाँ सामने आई तो भगवान् ऋषभदेव का शासक के रूप में तुरन्त सर्वांगीण प्रबंधन का क्रम शुरू हो गया। संघर्ष का क्रम गहरा हुआ उससे पहले ही सुव्यवस्था का स्वरूप कार्यान्वित कर दिया गया तो वह संघर्ष विकृत न हो पाया। इससे उनकी चारित्रिक क्षमता का तनिक भी क्षरण नहीं हुआ। उन्हें नेतृत्व मिला ऐसे युग पुरुष का जो स्वयं चरित्र के प्रकाश स्तंभ थे, तब जन-जन में न तो चारित्रक पतन का अवसर था और न ही अर्जन के तथा अन्य क्षेत्रों में अभाव अथवा असन्तोष का। प्रबंधन कुशलता का परिणाम इस प्रकार निकले कि आम लोगों में न असन्तोष पनपे और न उनके चरित्र पर आघात लगे तभी उस कुशलता को सफलता का श्रेय मिलता है।

जब स्वच्छ और सात्विक प्रबंधन जनता को मिलता है तथा जनता में समझ व विवेक पर्याप्त होता है तब उस प्रबंधन को सब की मान्यता मिलने में कोई बाधा नहीं रहती है। मान्य प्रबंधन को पूरा जन सहयोग भी मिलता है। जब जनता के और राज्य के प्रयास संयुक्त हो जाए तो उस कार्य की

सफलता भी सुनिश्चित हो जाती है। राज्य जनता का और जनता राज्य की बनकर रहती है तब वहाँ अभाव-अभियोग नहीं रहते तथा असन्तोष की जड़ तक नहीं जमती। इस प्रकार के तंत्र को कोई भी नाम दें लेकिन वही जनता का असली तंत्र कहलाएगा। यह सब कुशल प्रबंधन का ही चमत्कार होता है। ऐसा कुशल प्रबंधन चिरस्थायी भी रहता है तभी तो असि, मसि, कृषि के सुप्रबंधन का स्वरूप आज भी जीवन्त गौरव है। मर्म की बात यही है कि संसार तथा समाज में कुशल प्रबंधन की नींव चरित्र की आधारशिला पर ही रखी जा सकती है और श्रेष्ठ चरित्रशीलता की झलक शासक एवं शासित दोनों में स्पष्ट होनी चाहिए।

प्रबंधन है आज का प्रश्न, समाधान और उद्देश्य भी

इस तथ्य में कोई विवाद नहीं कि वर्तमान परिस्थितियाँ कई कारणों से इतनी उलझी हुई है कि उनका निराकरण विशेष आधार पर संभव हो सकता है। अव्यवस्था एवं अराजकता का दौर किसी न किसी रूप में चारों ओर फैला हुआ है। चरित्रशीलता का अभाव या कमी जनता में भी है तो शासक भ्रष्ट राजनीति के दलदल में गहरे डूबकर अधिकांशत: चरित्रहीन हो गए हैं। ऐसे में गंभीर प्रश्न है कि किस आधार पर संसार व समाज में अर्थपूर्ण परिवर्तन लाया जा सकता है?

प्रबंधन या मेनेजमेंट आज के इस जटिल प्रश्न का उत्तर माना जा रहा है। अभी खासतौर पर व्यापार-वाणिज्य क्षेत्र में तो प्रबंधन का चलन फैल ही रहा है, किन्तु उसे अपनाने की हर क्षेत्र में होड़ सी भी लगी है। छात्र भी एम.बी.ए. की डिग्री हासिल करने में अपने कैरियर के उन्नत बनने की आशा रखते हैं। प्रबंधन तकनीक का विस्तार विकास कार्यों में भी होने लगा है। यहाँ तक कि सूखाग्रस्त क्षेत्रों में जल प्रबंधन ने भी जोर पकड़ा है।

संक्षेप में सोचें कि क्या होता है प्रबंधन? जल प्रबंधन का ही उदाहरण लें। जिन अभावग्रस्त क्षेत्रों में वर्ष के अधिकांश भाग में सिंचाई की बात तो दूर, पेयजल तक की कमी रहती है, वहाँ के लोग क्या करें? जैसा कि आज होता है इन अभावग्रस्त क्षेत्रों के लोग होहल्ला मचाते हैं, जनान्दोलन चलाते हैं और सरकार भी चालू उपाय कर देती हैं कि पानी की रेलगाड़ियाँ इधर-उधर भेज दी जाती है। चीखते-चिल्लाते वक्त निकल जाता है और हर साल यही सब दोहराया जाता रहा है। लोकतंत्र में सरकारों का रंगढंग ऐसा रहता है कि समस्याओं का उतना ही अस्थाई हल निकालो जिससे उनकी वोट की राजनीति चलती रहे। समस्या का स्थाई रूप से समाधान किया जाए और आम लोगों को खुशहाल बनाया-यह कहा तो जाता है, किया नहीं जाता। दोनों ओर चरित्र की कमी होने से परिस्थितियों की जटिलता मिटती नहीं, बल्कि ज्यादा गहराती रहती है। इस समस्या या सच कहें तो प्रत्येक समस्या का सुन्दर समाधान होता है स्वावलम्बन। जो लोग राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भू-भाग से परिचित हैं जहाँ अधिकतर अकाल की काली छाया घिरी रहती है, वे जानते हैं कि वहाँ दीर्घकाल से स्वैच्छिक जल प्रबंधन चला आ रहा था। प्रत्येक घर में टांकें (जल संग्रह घर) बनाए जाते थे जिनमें छत पर गिरा बरसात का सारा पानी संग्रह कर लिया जाता था। उसका उपयोग वर्ष भर सुविधापूर्वक होता रहता था। उस जल प्रबंधन के सहारे परिवार ही नहीं गाँव के गाँव स्वावलम्बी बने रहते थे। नई व्यवस्था ने प्राचीन स्वावलम्बन को तोड़ दिया-यह दूसरी बात है। तो प्रबंधन का अर्थ

यह किया जाना चाहिए कि समस्या जटिल बने उससे पहले ही भावी दीर्घदृष्टि बनाकर ऐसा अग्रिम प्रबंधन किया जाए कि समस्या का न केवल स्थायी समाधान ही निकले अपितु उससे लम्बे समय तक स्वावलम्बन की रक्षा भी हो जाए। स्वावलम्बी पराश्रित नहीं रहता किन्तु स्वावलम्बन टिकता तभी है जब जनता की भी समस्या के समाधान में भागीदारी हो और जो संचालन का दायित्व शनैः-शनैः ग्रहण कर ले।

यह तो एक उदाहरण है किन्तु आज भी यदि जनकल्याण और विकास के कार्यों को पूरे करने के लिए उचित व्यवस्था के साथ प्रबंधन तकनीक का सहारा लिया जाए तो स्वावलम्बन की दिशा में प्रगति की जा सकती है। आज के विकारपूर्ण चरित्र की दशा में जिम्मेदारी जब जनता पर डाली जाए और उसे जागृत किया जाए कि उस कार्य का सारा लाभ उसे ही मिलने वाला है तो प्रबंधन तकनीक की सफलता के साथ आम लोगों में राष्ट्रीय चरित्र का विकास भी हो सकेगा। सभी जानते हैं कि करोड़ों-अरबों रुपयों का व्यय हो जाता है लेकिन आम लोगों को उस विकास का तनिक भी लाभ नहीं मिलता। सारा जनधन भ्रष्टाचारी नेता, नौकरशाह और दलाल हजम कर जाते हैं। यह अनुमान की बात नहीं, पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी के एक भाषण में भी स्पष्ट हुई थी कि एक रुपए में 15 पैसों का ही विकास पर व्यय होता है, 85 पैसे भ्रष्टाचारी खा जाते हैं। स्वावलम्बन को प्रोत्साहन देने वाला प्रबंधन निश्चय ही भ्रष्टाचार को भी समाप्त कर देगा।

सही परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रबंधन आज की सबसे बड़ी समस्या है तो प्रबंधन ही समाधान भी। प्रबंधन को ही उद्देश्य भी बनाया जाए तो दीर्घकालिक स्वावलम्बी व्यवस्था भी सभी क्षेत्रों में स्थापित की जा सकती है। लौकिक क्षेत्र के उपरान्त धार्मिक क्षेत्र में भी उपयुक्त प्रबंधन की आवश्यकता महसूस की जा सकती है। भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक झंडों के तले वास्तविक धर्म का विकास असंभव नहीं तो दूभर अवश्य होता है। एक ही सिद्धान्त को कोई किस रूप में कहता है तो दूसरा किसी दूसरी तर्ज पर कि अनुयायी भ्रमित हो जाता है। राजनीति में वोट की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी साम्प्रदायिक अधिक से अधिक संख्या में बढ़ाने की होड़ लगी रहती है-धार्मिकों की संख्या वृद्धि से कम ही प्रयोजन होता है। ऐसे में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक क्षेत्र में भी चरित्र विकास की और मानवता के कल्याण हेतु कुशल प्रबंधन की नितान्त आवश्यकता है।

प्रबंधन की कुशलता हेतु व्यावसायिकता पर्याप्त या भावनात्मकता भी जरूरी?

प्रबंधन की कुशलता हेतु पहले वर्तमान विचार धारा का विश्लेषण करें और सोचें कि क्या वह कुशलता की कसौटी पर खरी उतरती है? प्रबंधन या मेनेजमेंट को आज एक तकनीक का नाम दिया गया है और मान्यता है कि कोई भी तकनीक एकदम व्यावसायिक यानी कि प्रोफेशनल होनी चाहिए। इसका अर्थ होता है कि इसमें दया-करुणा यानी कि भावना की कोई गुंजाइश नहीं तथा किन्हीं समुचित कारणों को लेकिन किसी के पक्ष या विपक्ष में भी सोचने की जरूरत नहीं। किसी भी प्रकार के प्रबंधन में सिर्फ व्यावसायिकता का थर्मामीटर लगा रहना चाहिए और व्यवसाय का मतलब होता है मात्र हानि-लाभ का विचार। वर्तमान अर्थशास्त्रियों का मानना है कि किसी भी प्रबंधन की कुशलता हेतु व्यावसायिकता का विचार ही पर्याप्त हैं। यह विचारणीय बिन्दु है।

वर्तमान वैज्ञानिक अथवा विचारक इतने जड़ग्रस्त हो गए हैं कि उनके लिए पदार्थ (मेटर) का तो मतलब है लेकिन चेतना शक्ति (लाईफ) उनकी विचार सीमा में नहीं आती। क्या इस विचारणा का भयंकर दुष्परिणाम आज हमारे सामने नहीं है? भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुए आधी शताब्दी से अधिक का समय हो गया है। अब तक बाहरी निर्माण आदि विकास के कार्य हुए होंगे लेकिन मानव का निर्माण नहीं हुआ और उससे सर्वत्र मानवता का ह्रास ही हुआ है। ऐसे निर्माण को क्या कुशल प्रबंधन कहा जा सकता है? आधुनिक प्रबंधन की विचारधारा में भी इसी मानवीय तत्त्व का अभाव है। सब कुछ पदार्थ तथा हानि-लाभ की दृष्टि पर आयोजित किया जाता है तो इसकी सफलता भी संदिग्ध ही रहेगी। इसका मुख्य कारण है वांछित चरित्र का अभाव। प्रबंधन कार्य में यदि चरित्र नहीं तो समझिए कि भावना भी नहीं, कोरी तकनीक रहती है। भावना नहीं तो संवेदना नहीं और संवेदना नहीं तो चेतना शक्ति का प्रभाव कहाँ तथा मानवता का विकास कहां?

अत: प्रबंधन के विशेषज्ञों को सभी तथ्यों का विश्लेषण करना चाहिए कि क्या सिर्फ व्यावसायिक विचार से संसार तथा समाज का सच्चा विकास हो सकेगा एवं मानवता का प्रतिमान बढ़ सकेगा? क्या प्रबंधन की सफलता और स्वावलम्बन की पृष्ठभूमि बिना चरित्र गठन एवं भावनात्मकता से ही साधी जा सकेगी? चेतन तत्त्व की भूमिका से आँखें नहीं मूँदी जा सकती है। भारत में अब तक उस चेतन तत्त्व का विकास न होने से क्या दूसरा समूचा विकास निरर्थक जैसा नहीं है? मानवीय तथा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं प्रगति नहीं बनी तो सारा भौतिक विकास भ्रष्टाचारिता अथवा अपराध वृत्ति ही निगल गई है और विकास का सच्चा हकदार आम नागरिक तो आज भी नंगा और भूखा है। इस परिणाम से शिक्षा लेने की नितान्त आवश्यकता है कि पहले मानव का विकास हो और फिर पदार्थ का। मानव का चरित्र विकास हो जाने पर न विकार घर करेंगे और न भ्रष्टाचार सारी योजनाओं का सत्यानाश करेगा। तब पदार्थ का विकास सुरक्षित हो जाएगा और उसका सबके बीच समान रूप से वितरण भी, तब संविभाग ही प्रबंधन का मूल मंत्र होगा क्योंकि संविभाग स्वावलम्बन के धरातल पर ही पल्लवित एवं पुष्पित होता है।

इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि कुशल प्रबंधन के लिए व्यावसायिकता से भी पहले भावनात्मकता की आवश्यकता है, क्योंकि मानवीय संवेदना से रहित कोई भी प्रबंधन जन कल्याणकारी नहीं हो सकता है। यह सत्य भी सदा याद रखा जाना चाहिए कि मानवता सभी कार्यों, व्यवस्थाओं अथवा प्रबंधनों के केन्द्र में सदा रहनी चाहिए। सारे विकास कार्य, सारी व्यवस्थाएँ, सारे प्रबंधन या समूचा शासन मानव के लिए होता है जिसका सीधा-सादा अर्थ है कि मानव इनके लिए नहीं है अत: इन सबका संचालन मानव को केन्द्र में रखकर उसके हित तथा विकास की दृष्टि में किया जाना चाहिए। जहाँ मानवता को प्राथमिकता है वहाँ मानवीय मूल्यों का सर्वोच्च सम्मान है तथा जहाँ मानवीय मूल्य मुख्य हैं, वहाँ चरित्र निर्माण का सम्मान सर्वोपरि है तथा जहाँ प्रबंधन कुशलता भी दलित, पतित तथा उत्पीड़ित मानव समुदाय की उन्नति को साधने वाली होती है। इस दृष्टि से प्रबंधन को केवल तकनीक कहना उचित नहीं, उसे जीवन शैली का आवश्यक अंग मानना तथा बनाना होगा। मानवीय मूल्यों से वंचित रखकर किसी भी प्रबंधन को सर्व जन हितकारी नहीं बनाया

जा सकता है। अत: प्रत्येक प्रबंधन का मूल स्वावलम्बन की भावना एवं स्थापना में होना चाहिए जिसका संविभाग एक अनिवार्य तत्त्व हो। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि जो असंविभागी है- प्राप्त सामग्री का समुचित रूप से वितरण नहीं करता तथा असंग्रह रुचि है अर्थात् अपने साथी मानवों के लिए समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर खाने में रुचि नहीं रखता, मर्यादा से अधिक भोगने वाला लालची है, वह चोरी का दोषी है (**असंविभागी असंगह रुई...अप्पमाण भोई से ताहिसए नाराहए वयमिणं**, 2-3)। कुशल प्रबंधन सदा ही चेतना और चरित्र पर आधारित रहेगा।

चरित्र निष्ठा के बिना किसी भी प्रबंधन की सफलता संदिग्ध रहेगी

कोई भी प्रबंधन, कोई भी आयोजन या कि कोई भी प्रोजेक्ट कैसे सफल हो सकता है जब जिसको लाभ पहुँचाना उस प्रबंधन, आयोजन या प्रोजेक्ट का उद्देश्य हो और उसके कार्यान्वय में उसी की उपेक्षा की जाए। भारत में अनेक विफलताओं का यही प्रधान कारण रहा है। ऐसा करने में यह स्पष्ट तथ्य सामने आता है कि जो लोग कार्यान्वय के जिम्मेदार होते हैं, उनमें चरित्र निष्ठा का नितान्त अभाव पाया जाता है। भारत जैसे पिछड़े देश में इस तथ्य से तो सभी परिचित हैं कि जिन वर्गों के लाभ के लिए कोई भी प्रबंधन आदि शुरू किया जाता है, वे तो अज्ञान, दैन्य आदि के कारण चरित्राभाव से ग्रस्त होते ही हैं। किन्तु यदि शासन के प्रतिनिधि भी अपनी भ्रष्टता के कारण चरित्र से पल्ला झाड़ लें तो वह स्थिति घातक अवस्था में पहुँच जाती है। चरित्र निष्ठा इस दृष्टि से यदि दोनों ओर हो तो कोई भी समस्या जटिल रूप नहीं लेगी किन्तु प्रबंधन आदि के लिए उत्तरदायी व्यवस्थापक चरित्र निष्ठा का मार्ग त्याग दें तो पिछड़ों का उत्थान एकदम कठिन हो जाता है। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि चरित्र निष्ठा के बिना किसी भी प्रबंधन आदि की सफलता संदिग्ध ही रहेगी।

यदि चरित्र निष्ठा का दोनों ओर अभाव है तो छोटे संगठनों या प्रोजेक्टों का प्रबंधन भी कामयाब नहीं बनाया जा सकता है, फिर संसार और समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों का कुशल प्रबंधन कर पाना अमित साहस, सूझबूझ और धीरज भरा काम ही होगा। अत: ऐसे प्रबंधनों की सफलता के लिए तो ऐसे कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होगी जो एक ओर जागरणहीन लोगों में चरित्र की प्रेरणा भरेंगे तो दूसरी ओर प्रबंधन के सूत्रधारों को चरित्र निष्ठा की सीमा में कार्यरत बनाए रखने का कठिन प्रयास करेंगे।

कुशल प्रबंधन हेतु चरित्र गठन की प्राथमिक अनिवार्यता एवं विकास की क्रमिकता

संसार व समाज के अन्यान्य संगठनों के कुशल प्रबंधन हेतु तो चरित्रशीलता अनिवार्य ही है, किन्तु व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन विकास का कोई भी क्षेत्र चरित्रशीलता के बिना उन्नति की दिशा में गति नहीं कर सकता है। कुशल प्रबंधन के क्षेत्र में कार्यरत होने से पूर्व ही उसके संचालकों का चरित्रगठन हो जाना चाहिए। यह प्राथमिक अनिवार्यता है। इतना ही नहीं, उन संचालकों का चरित्र कार्य संचालन के दौरान क्रमिक रूप से विकसित भी होता रहना चाहिए। चरित्र गठन से चरित्रशीलता विकसित होगी। चरित्रशीलता एक नई निष्ठा को जन्म देगी और वह निष्ठा उसकी चरित्र सम्पन्नता को पुष्ट एवं परिपक्व बनाती रहेगी।

सही जानो (सम्यग् ज्ञान), सही मानो (सम्यग् दर्शन) के बाद जब सही करो (सम्यक् चारित्र) का चरण उठता है तभी चरित्र गठन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। यह प्रक्रिया आचरण की परिपक्वता के साथ प्रबल तथा प्रखर होती रहेगी। सही करो का आरंभ व्रत धारण करने से होता है। व्यसनों तथा पाप कार्यों की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से दूर रहने के लिए जो उपाय किए जाते हैं, उन्हें व्रतों का नाम दिया गया है, क्योंकि व्रत विरति रूप होते हैं (**हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**-तत्वार्थ सूत्र 7-1)। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह रूप पाप कार्यों से विरत होना व्रत है। व्रतों को आचरण में उतारना होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार व्रत धारण करता है, फिर भी आरंभिक तौर पर व्रत धारण आंशिक होता है। सामान्य रूप से और वह आंशिकता पुष्ट होते-होते पूर्णता की दिशा में गति करती है। आंशिक व्रतों के साथ अशुभ कार्यों से निवृत्ति होती है और सत्कार्यों के आचरण से शुभता के क्षेत्र में प्रवेश होता है। अशुभ प्रवृत्तियों पर अंकुश लगने से स्वयमेव शुभ प्रवृत्तियों में आचरण का चरण आगे से आगे बढ़ने लगता है। अंधकार हटने का परिणाम ही प्रकाश के आगमन के रूप में सामने आता है।

व्रतों का आंशिक पालन चरित्रगठन के लिए प्राथमिक रूप से अनिवार्य माना जाना चाहिए कि एक सामान्य व्यक्ति अथवा गृहस्थ इन व्रतों को धारण करके चरित्रशीलता के मार्ग पर अग्रगामी हो सकता है-

(1) अहिंसा अणुव्रत-स्थूल प्राणातिपात रूप हिंसा का त्याग। स्वशरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा न करना, न करवाना मन, वचन और काया से। इस व्रत के पांच अतिचार हैं जहाँ व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत को भंग किया जाए, उसे अतिचार कहते हैं- 1. बंध-द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु आदि) आदि को लापरवाही के साथ क्रोधवश निर्दयतापूर्वक गाढ़े बंधन से बांध देना। 2. वध-कोड़े आदि से मारना वध है। यह अतिचार है जब अनर्थ और निरपेक्ष रूप से किया जाए। 3. छविच्छेद-शस्त्रों से अंगोपांगों का छेदन करना और निष्प्रयोजन या प्रयोजन होने पर भी हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना। 4. अतिभार-द्विपद, चतुष्पद आदि पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना। 5. भक्तपान विच्छेद-निष्कारण निर्दयता के साथ द्विपद, चतुष्पद के आहार पानी का विच्छेद करना। इन अतिचारों का व्रतधारक को परिहार करना चाहिए।

(2) सत्य अणुव्रत-स्थूल मृषावाद का त्याग। दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य या झूठ स्थूल मृषावाद होता है। अविश्वास आदि के कारण-स्वरूप व्रतधारक इस स्थूल मृषावाद का दो करण (न बोलना, न बुलवाना) तथा तीन योग (मन, वचन तथा काया) से त्याग करता है। यह पांच प्रकार का हैं- वर कन्या सम्बन्धी झूठ गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ भूमि सम्बन्धी झूठ किसी धरोहर को दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना तथा झूठी गवाही देना। अतिचारों का परिहार होना चाहिए क्योंकि अतिचार का लक्षण होता है कि व्रत भंग की पूरी तैयारी कर ली गई है। पांच अतिचार हैं-1. सहसाभ्याख्यान-बिना विचारे मिथ्या आरोप लगाना 2. रहस्याभ्याख्यान-एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप लगाना 3. स्वदार मंत्र भेद-

स्वस्त्री के साथ एकान्त में हुई विश्वस्त मंत्रणा को दूसरों से कहना 4. मृषोपदेश-बिना विचारे अनुपयोग या किसी बहाने से दूसरों को असत्य उपदेश देना तथा 5.कूट लेखकरण-झूठ लेख या लिखत लिखना, जाली दस्तावेज, मोहर आदि बनाना। व्रत की अपेक्षा हो पर अविवेक हो तो अतिचार होता है।

(3) **अचौर्य अणुव्रत**-स्थूल अदत्तादान का त्याग। खेत, मकान आदि से सावधानी, असावधानी या भूल से रखी हुई स्थूल वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा के लेना स्थूल चोरी होती है। इसमें खात खनना, गांठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग में चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि शामिल है। व्रतधारक ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता है। इसके पांच अतिचार हैं- 1. चोर की चुराई हुई वस्तु को कम मोल में खरीदना या यों ही छिपा कर ले लेना 2. चोरों को चोरी के लिए उकसाना, चोरी के उपकरण देना या बेचना 3. शत्रु राज्यों के राज्य में तस्करी हेतु आना जाना 4. झूठा यानी कम-ज्यादा तौलना व मापना, ज्यादा तोल माप से वस्तु लेना और कम तोल माप से उसे बेचना 5. बढ़िया वस्तु में घटिया वस्तु की मिलावट करके बेचना या नकली को असली वस्तु बताकर बेचना।

(4) **स्वदार सन्तोष**-स्वदार अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री में ही सन्तोष करना। अन्य सब औदारिक शरीरधारी मनुष्य, तिर्यंच के शरीर को धारण करने वालों के साथ एक करण व एक योग (काया) से मैथुन सेवन का त्याग। इसके पांच अतिचार हैं- 1. भाड़ा देकर कुछ समय के लिए अपने अधीन की हुई स्त्री से गमन करना 2. वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि के साथ गमन करना 3. काम सेवन के प्राकृतिक अंगों के सिवाय अन्य अंगों से क्रीड़ा करना, सन्तान के सिवाय अन्य का विवाह करवाना तथा 4. पांच इन्द्रियों के विषय-शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श में आसक्ति होना, रति क्रीड़ा में सुख मानना।

(5) **इच्छा-परिग्रह परिमाण**-खेत, वस्तु, धन, धान्य, घर बिखरी रूप परिग्रह की मर्यादा करना। इनमें हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद आदि शामिल हैं। मर्यादा के उपरान्त व्रतधारक समस्त परिग्रह का एक करण तीन योग से त्याग करता है। तृष्णा, मूर्छा व आसक्ति को कम करके सन्तोष में रत रहना ही इस व्रत का प्रमुख उद्देश्य है। इसके पांच अतिचार हैं- 1. खेत (सिंचित व असिंचित कृषि भूमि) तथा वस्तु (घर मकान) आदि की जो मर्यादा ली है उसका अतिक्रमण करना 2. सोने, चांदी, जेवरात, जवाहरात आदि की मर्यादा का अतिक्रमण करना 3. चार प्रकार के धन (गणिम, धरिम, मेय, परिच्छेद्य) तथा चौबीस प्रकार के धान्य की स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना 4. द्विपद सन्तान, स्त्री दास, पक्षी आदि तथा चतुष्पद गाय, घोड़ा आदि के अंगीकृत परिमाण का उल्लंघन करना तथा 5. सोना-चांदी के सिवाय अन्य धातु तथा घर बिखरी की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना व्रत धारक को उचित नहीं।

(6) **दिशा परिमाण व्रत**-पांच अणुव्रतों के बाद 6-8 तक के तीन गुणव्रत कहलाते हैं। इस गुणव्रत से छः दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अधो, ऊर्ध्व) के क्षेत्रों की आवागमन हेतु

मर्यादा बांधना तथा मर्यादा के उपरान्त आगे के क्षेत्रों में जाने-आने की क्रियाओं का त्याग करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. ऊर्ध्व यानी ऊँची दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण 2. अधो यानी नीची दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण 3. तिरछी दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन 4. एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा लेना तथा 5. ग्रहण की हुई मर्यादा का स्मरण न रहना अर्थात् स्मृतिभ्रंश होना।

(7) **उपभोग परिभोग परिमाण व्रत**-उपभोग (एक बार भोगी जा सकने वाली भोजनादि वस्तुएँ) तथा परिभोग (अनेक बार भोगी जाने वाली वस्त्र, आभूषण आदि वस्तुएँ) सम्बन्धी वस्तुओं की इच्छानुसार मर्यादा रखना और मर्यादा के उपरान्त सभी वस्तुओं के उपभोग-परिभोग का त्याग करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. परिमाण से अधिक सचित्त वस्तु का आहार करना 2. मर्यादा उपरान्त सचित से सम्बन्ध रखने वाली अचित्त वस्तु को खाना-भोगना 3. अनुपयोग से अग्नि में बिना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना 4. बुरी तरह से अग्नि में पकाई अधपकी औषधि का पकी हुई जानकर भक्षण करना तथा 5. असार औषधियों का भक्षण करना, अल्प तृप्ति की गुणवाली चीजें खाना।

(8) **अनर्थ दंड विरमण व्रत**-निष्प्रयोजन ही अपने को पापपूर्ण कार्यों में लगाने का त्याग करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. काम उत्पन्न करने वाले वचन तथा राग, हास्य या मोहमय विनोद का प्रयोग करना 2. अंगों को विकृत बनाकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा करना 3. धृष्टता के साथ असत्य अनर्गल वचन बोलना 4. संयुक्त उपकरणों को एक साथ रखना तथा 5. मर्यादा के उपरान्त उपभोग की वस्तुओं को अधिक परिमाण में रखना।

(9) **सामायिक व्रत**-अणुव्रत, गुणव्रत के बाद 9-12 तक शिक्षाव्रत हैं। मन, वचन, काया को पाप और आरंभ से हटाना तथा पाप और आरंभ न हो-इस प्रकार की प्रवृत्ति करना इस सामायिक व्रत की आराधना होती है। इसके लक्षण हैं-ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों का चिन्तन करना तथा आत्म गुणों की अपेक्षा सर्वजीवों को समान समझ कर समता भाव धारण करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. मन का दुष्ट प्रयोग करना, बुरी प्रवृत्ति में लगाना 2. वचन का दुष्ट प्रयोग करना व असभ्य, कठोर, सावद्य वचन बोलना 3. काया का दुष्ट प्रयोग करना-बिना दोषी, बिना पूंजी भूमि पर हाथ पैर आदि अवयव रखना 4. सामायिक की स्मृति नहीं रखना, प्रमादवश भूल जाना तथा 5. अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग से तो शेष दो अतिचार प्रमाद से अधिक सम्बन्धित हैं।

(10) **देशावकाशिक व्रत**-मन, वचन, काया के योगों को स्थिर करना, एक स्थान पर बैठकर धर्म ध्यान करना तथा मर्यादित दिशाओं से बाहर पाप कार्यों को नहीं करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. मर्यादित क्षेत्र के बाहर से स्वयं न जा सकने के कारण दूसरे से द्रव्य आदि मँगाना 2. नौकर चाकर आदि को भेजकर द्रव्य आदि मँगाना 3. मर्यादा अतिक्रमण के भय से बाहर के निकटवर्ती लोगों को छींक, खांसी आदि आवाज से ज्ञान कराना 4. अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखा कर बाहर से बुलाना तथा 5. ढेला कंकर आदि फेंक कर बुलाना।

(11) **पौषध व्रत**-चार प्रहर से लेकर आठ प्रहर तक सावद्य व्यापार-हिंसापूर्ण कार्यों का

त्यागकर समता भाव को धारण करना तथा स्वाध्याय, ध्यान में प्रवृत्ति करना। इसके पांच अतिचार हैं- 1. शय्या-संस्तारक का निरीक्षण न करना या असावधानी से करना 2. इन्हें अनुपयोग पूर्वक पूंजना 3. मल-मूत्र आदि करने के स्थान को न देखना या असावधानी से देखना 4. उच्चार प्रस्रवण भूमि को न पूंजना या असावधानी से पूंजना तथा 5. आगमोक्त विधि से पौषधोपवास का पालन न करना, अग्राह्यक की इच्छा रखना।

(12) अतिथि संविभाग व्रत-सदैव पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों एवं स्वधर्म बंधुओं को यथाशक्ति आहार आदि देना अतिथि संविभाग व्रत है। इसमें स्वयं को या शिष्य को ज्ञान दान देना तथा सिद्धान्तों के उपदेश सुनना-सुनाना भी शामिल है। इसके पांच अतिचार हैं- 1. साधु आदि को नहीं देने की कपट बुद्धि से सचित्त पर अचित्त पदार्थ को रखना 2. इसी कपट बुद्धि से अचित्त को सचित्त पदार्थ से ढकना 3. उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना 4. आहार आदि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना तथा 5. ईर्ष्या भाव से दान देने में प्रवृत्ति करना, मांगने पर कुपित होना और नहीं देना।

चरित्र गठन के भली प्रकार संगठित करने वाले इन इक्कीस गुणों की भी एक व्रतधारक को प्राप्ति करनी चाहिए-(1) अक्षुद्र-गंभीर स्वभाव (2) स्वरूपवान-सांगोपांग (3) सौम्य प्रकृति-स्वभाव से विश्वसनीय (4) लोकप्रिय-गुण सम्पन्न (5) अक्रूर-कलेश रहित (6) भीरू-पाप संकोच (7) अशठ-निष्कपट (8) सदाशिष्य-परोपकार हेतु उत्सुक (9) लज्जालु-पाप संकोच (10) दयालु-पर दु:ख द्रवित (11) मध्यस्थ-तटस्थ विचारक (12) सौम्य दृष्टि-स्नेहालु (13) गुणानुरागी-सद्गुण समर्थन (14) सत्कथक, सुपसियुक्त, उपदेशक व न्यायी (15) सुदीर्घदर्शी-दूरंदेशी (16) विशेषज्ञ-हिताहित ज्ञाता (17) वृद्धानुगत-अनुभवियों का अनुगामी (18) विनीत-नम्र (19) कृतज्ञ-उपकार मानने वाला (20) परहितार्थकारी-सदा दूसरों का हित साधने वाला तथा (21) लब्ध लक्ष्य-विधाभ्यासी।

व्रतों की उपरोक्त रीति से आंशिक पालना चरित्र गठन के एक चरण को सम्पन्न कर लेती है, जिसके आधार पर संसार और समाज के विभिन्न संगठनों, आयोजनों तथा कार्यक्रमों में कुशल प्रबंधन की स्थाई स्थापना संभव हो सकती है।

कुशल प्रबंधन के क्षेत्रों की पहचान करो तथा नई व्यवस्था की रूपरेखा बनाओ!

समझें कि किसी के पेट में दर्द होने लगा, किन्तु रोग क्या है-उसका पता तो मेडिकल टेस्ट्स से ही लग सकता है कि गुर्दे खराब हैं, गाल ब्लेडर में पथरी है या एपेंडीसाइटिस की तकलीफ है अथवा कुछ और। ऐसे में पक्की जांच के बाद ही चिकित्सा संभव होती है। लेकिन अगर पूरे शरीर पर विष का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता हो तो पहचान की ज्यादा जरूरत नहीं रहती, बल्कि विष की तीव्रता एवं शरीर के विभिन्न अंगोपांगों पर पड़ रहे असर के अनुसार शीघ्रातीशीघ्र चिकित्सा का क्रम आरंभ कर दिया जाता है। इसी प्रकार आज के विभिन्न प्रशासनों, संगठनों या कार्यक्रमों में फैली विकृतियों की पहचान करने जाएंगे तो विरले ही मिलेंगे जिनमें कोई खास तरह की विकृति ही हो। किन्तु अधिकांश

ऐसे हैं जो पूरी तरह सड़ान से ग्रस्त हैं यानी कि पूरे के पूरे विकृत हो चुके हैं। ऐसे अधिकांश संगठनों में सुधार के कदम तुरन्त ही उठाए जा सकते हैं-उनमें ज्यादा जांच परख की जरूरत नहीं। वर्तमान परिस्थितियों में कुशल प्रबंधन के अधिकांश स्थानों पर अभाव को भलीभांति पहचाना एवं जाना जा सकता है। वास्तविक समस्या तो यह है कि उपयुक्त कार्यकर्त्ता सामने आवें तथा नई संशोधित व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जाए।

संसार, राष्ट्र, समाज या किसी भी संस्था में जब गुणों का सम्मान नहीं रहता और अपने छल-बल से जब भौतिक प्राप्तियों को ही ध्येय बना लिया जाता है तब जन-जन के आत्मसम्मान को रौंदती हुई दमन एवं शोषण की बुराई भड़क उठती है और अव्यवस्था का दौर शुरू हो जाता है। अव्यवस्था का दुष्परिणाम ही कुशल प्रबंधन के टूट जाने के रूप में समक्ष आता है। ऐसे में सामाजिक दृष्टि से पिछड़ जाने पर सामान्य जन आर्थिक, राजनीतिक या प्रशासनिक क्षेत्र में अपने प्रभाव से हाथ धो बैठते हैं और सारे अधिकारों पर अन्यायी वर्ग कब्जा कर लेता है। फिर अन्यान्य क्षेत्रों में भी सामान्य जन का वर्चस्व समाप्त होता जाता है और छोटा सा अन्यायी वर्ग सारी सम्पदा का सत्ता का अपने स्वार्थ में शोषण करने लगता है। यों कुशल प्रबंधन का तो ढांचा ही टूटने लगता है।

यह स्पष्ट है कि यह सारा बिगाड़ चरित्रहीनता के कारण पैदा होता और फैलता है। इस से यह भी स्पष्ट होता है कि चरित्रशीलता से ही सारी अव्यवस्था दूर की जा सकती है और नई व्यवस्था का सूत्रपात किया जा सकता है। अत: चरित्र गठन का ही वह मूल क्षेत्र है जिसे सुधारा जाए तो बाकी सब कुछ आसानी से सुधारा जा सकता है-**एकै सुधरे, सब सुधरे**। चरित्र गठन का क्षेत्र है स्वयं व्यक्ति का जीवन क्षेत्र। सार की बात यह है कि व्यक्ति का जीवन निर्माण सर्वोपरि है-उसके आचरण में शुद्धता, सच्चाई और दृढ़ता आवे, विचार व विवेक सदा जागृत रहे, संयम तथा त्याग की भावना से स्वार्थ व अहंकार शमित हो, परहित में क्रियाशीलता बढ़े, सबके हित में हर वक्त कुछ न कुछ 'सेक्रीफाईस' करने की लगन हो और संसार व समाज के प्रभावशाली संगठनों को कुशल प्रबंधन के निर्धारित लक्ष्य की दिशा में अग्रगामी बनाने का सामर्थ्य सक्रिय बना रहे- ये कुछ मोटी-मोटी बातें हैं। हम इसका छोटा-सा नाम दे दें कि नैतिकता और संयम का क्षेत्र अर्थात् चरित्रगठन का क्षेत्र। नैतिकता का व्यक्ति के जीवन में प्रवेश उस के अपने आचरण से भी पहले उसके संस्कारों में होना चाहिए। ये संस्कार बनने और ढलने चाहिए माता-पिता के लालन-पालन में, शिक्षकों के शिक्षण-प्रशिक्षण में तथा प्रचलित प्राचीन श्रेष्ठ परम्पराओं के पालन में। व्यक्ति के संस्कारों में जब नैतिकता पुष्ट होती है तो वह चरित्र गठन, आचरण एवं सामाजिक व्यवहार में अवश्यमेव परिलक्षित होगी। यह नैतिकता वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की आधारशिला होती है। इसे बल मिलता है आन्तरिक जागरण एवं प्रेरणा से, जो निखरती है चरित्र गठन से, विचार क्रांति से, मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति से तथा त्याग व बलिदान की भावना से। यह विकसित होती है मानवीय मूल्यों के आग्रह से, आदर्शों के प्रति संकल्पबद्ध होने से, कर्त्तव्य पालन के ऊँचे मानदंडों से तथा अव्यवस्था को दूर करके नई सर्वहितैषी व्यवस्था स्थापित करने से।

अत: किसी भी नई व्यवस्था की सचोट रूपरेखा बनाते और उसे अमल में लाते समय इस तथ्य

को भलीभांति समझ लें कि बुनियादी तौर पर चरित्र निर्माण का प्रश्न मौलिक रहेगा। इस संदर्भ में पूर्व भूमिका की दृष्टि में कुछ सुझाव इस प्रकार हो सकते हैं :-

(1) बाह्य निर्माण से पहले आन्तरिक निर्माण की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। सच्चा और अच्छा मानव न बन सका तो समझ लें कि कुछ भी नहीं बन सकेगा। मनुष्यता के निर्माण का आधार भावनात्मक होना चाहिए।

(2) संसार और समाज के सभी क्षेत्रों में जीवन निर्वाह की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पहले हो लेकिन दीनहीन और शोषित-पीड़ित वर्गों को उचित संरक्षण दिया जाना चाहिए। पूंजीपतियों तथा धनाढ्यों की भावना जगा कर उनकी अतिरिक्त धन सम्पत्ति का समाज हित में त्याग कराया जाए।

(3) सर्वत्र स्त्री और पुरुष का समान स्थान तथा समान सम्मान हो। पुरुष न तो अपने ही को कर्त्ता या भोक्ता समझे और न स्त्री को क्रिया या भोग्या ही। दोनों की स्वतंत्र किन्तु सहयोगी समान सत्ता समझी जानी चाहिए।

(4) भावनात्मक आधार इस प्रकार तैयार किया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहधर्मिणी के सिवाय अन्य सब स्त्रियों को मातृवत् समझे, अपने पास के मर्यादित धन आदि के सिवाय शेष को सामाजिक ट्रस्ट, सभी प्राणियों के प्राणों को आत्मवत् मानते हुए उन की रक्षा का उत्तरदायित्व ले यानी कि ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा अहिंसा के भाव सबके आचरण तथा जीवन शैली में रम जाए।

(5) लोकतंत्र केवल राजनीतिक प्रणाली में न रहकर समग्र जीवनशैली बने, जिसका विस्तार परिवार से विश्व तक तथा आर्थिक-सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में हो। पहले तो राजनीतिक क्षेत्र का शुद्धिकरण आवश्यक है। लोकतंत्र के व्यावहारिक आचरण के साथ प्रत्येक नागरिक का व्यक्तित्व स्वतंत्र स्वरूप ग्रहण करे, ताकि आश्रितता, हीनता या दीनता की दशा न रहे।

(6) समाज में अर्थ की विषमता को दूर करने के साथ कामनाओं (डिजायर्स) पर स्वाभाविक नियंत्रण विधि का अध्ययन किया जाय तथा उपभोग-परिभोग की सामग्री सबकी आवश्यकता के अनुसार समान रूप से सुलभ कराई जाय।

(7) नई व्यवस्था की रूपरेखा तैयार करने में- (अ) सिद्धांत तथा नीतियाँ प्रारंभ से ही निश्चित हो, (ब) चरित्रशील एवं समर्पित व्यक्तियों को ही नई व्यवस्था हेतु नियोजित किया जाए तथा (स) व्यवस्था की प्रणाली निश्चित नीतियों के अनुसार ही कार्यान्वित की जाए। साथ ही हृदय परिवर्तन कराने, चरित्र गठन को प्रोत्साहित करने एवं आचरण को सुधारने की प्रक्रिया भी शुरू कर दी जानी चाहिए।

संसार व समाज का कुशल प्रबंधन तथा अहिंसक जीवन शैली का माध्यम

व्यक्ति के व समूह के जीवन में अहिंसा का प्रचलन होगा तभी संसार व समाज में सुरक्षा का भाव पल्लवित हो सकेगा। जन सुरक्षा निश्चित बनेगी तब शान्ति का वातावरण स्थाई रूप ले सकेगा।

शान्ति की स्थिति में ही बाह्य एवं आंतरिक सभी प्रकार के विकास कार्यों को सफलता के साथ सम्पन्न किया जा सकेगा। यह विकास सच्चे सुख एवं आनन्द का प्रवाह प्रवाहित करेगा, जिसका सुपरिणाम सर्वत्र सुख की अनुभूति के प्रसारण के रूप में प्रतिफलित हो सकेगा।

अहिंसक जीवन शैली का एक मुख्य बिन्दु यह भी होना चाहिए कि सब विचारवान तथा विवेकवान बने परन्तु उनके विचार व विवेक में सत्य की प्रमुखता हो तथा सत्य को खोजने की अभिलाषा भी प्रमुख हो। यह तभी संभव है जब सब अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र रूप से सभी प्रश्नों एवं समस्याओं पर विचार करें किन्तु दूसरों के विचारों को भी तल्लीनतापूर्वक समझे और सब मिलकर विचार-समन्वयन का मार्ग अपनावें। इसे ही अनेकान्तवाद का मार्ग कहा जाता है, जिसमें विचार व्यक्तिकरण तथा प्रसारण की स्वतंत्रता (**फ्रीडम ऑफ दी स्पीच एंड एक्सप्रेशन**) होती है। अप्रतिबंधित विचार प्रकाशन से सबको अपनी समझ का सत्य बताने का तथा सबके विचारों में सत्य को खोज निकालने का अवसर मिलता है। अहिंसक जीवनशैली में अहिंसा के साथ अनेकान्तवाद से बड़ा अन्य सत्य नहीं तथा अपरिग्रहवाद से बढ़कर कोई आर्थिक व सामाजिक समाधान नहीं।

अहिंसा के एक ऐतिहासिक विरोधाभास का यहाँ उल्लेख करना समुचित होगा। '**अहिंसा परमोधर्म**' की गूंज पूरे महाभारत में सुनाई देती है, लेकिन खेद कि पूरा महाभारत हिंसा से भरा हुआ रहा है। किन्तु यह सब तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह अजीब लगेगा कि महाभारत की सारी हिंसा फिर भी न्याय के हेतु के लिये हुई कि पांडवों तथा कौरवों के बीच सत्ता का न्यायपूर्ण विभाजन हो। जहाँ न्याय के लिये हिंसा अनिवार्य ही हो जाए तो वह गृहस्थों के लिये अग्राह्य नहीं, जैसे कि गणाधिपति चेटक को न्याय के लिये सम्राट कुणिक के साथ भीषण युद्ध करना पड़ा। जब चारों ओर हिंसामय वातावरण हो तभी अहिंसा का पक्ष प्रबल होता है, झूठ व मिथ्या प्रचार जब सर चढ़े हो तभी सत्य की ललक जागती है और जब मानव हृदयों में भय और आतंक डराने लगते हैं तथा निर्भयता का प्रश्न उठता है। क्षमा तथा सहिष्णुता की नींव पर ही शान्ति का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। और इन सबको मिलाकर तैयार होती है अहिंसक जीवन शैली जिसका केन्द्र बिन्दु होता है चरित्र।

चरित्र का निर्माण सिखाता है कि अणु-परमाणु शस्त्रों से भी अधिक घातक होते हैं अपने ही दिल में जलते हुए घृणा एवं प्रतिशोध के भाव। परमाणु शस्त्रों के विनाश का क्षेत्र तो सीमित होता है, किन्तु क्रोध, घृणा तथा बदले की भावना कितना महाविनाश कर सकती है उसकी कोई सीमा नहीं। इससे यह सबक मिलता है कि बाहर के घातक शस्त्रों का नियंत्रण ऐसे लोगों के हाथों में कतई नहीं रहना चाहिये, जिनका अपनी मनोवृत्तियों पर, मस्तिष्क पर और विचारणा पर कोई नियंत्रण न हो। यह नियंत्रण भी कुशल प्रबंधन के समान चरित्रशील व्यक्तियों के हाथों में ही होना चाहिये।

◆◆◆


मानव चरित्रशील बनेगा तो
समग्र समाज सृजनशील
13



मानव चरित्रशील बनेगा तो समग्र समाज सृजनशील

समाज के विकास की बुनियाद : चरित्रवान व्यक्ति

मानव चरित्रशील बनेगा तो अवश्य बनेगा समग्र समाज सृजनशील-यह कोई सामान्य कथन नहीं, इतिहास का अनुभूत सत्य है। और चाहे उस मानव की चरित्रशीलता प्रारंभ में एकाकी ही रहे पर वह यदि प्रगाढ़, प्रबल एवं प्रेरणास्पद होंगी तो उसका प्रभाव समग्र समाज पर पड़े बिना नहीं रहेगा तथा शुभ परिवर्तन का चक्र घूमेगा ही। आधुनिक भारत को स्वतंत्रता-संघर्ष के समय को स्मृति में लावें तो क्या यह सही नहीं है कि अकेले महात्मा गाँधी की चरित्रशीलता ने पूरे भारत को प्रभावित किया तथा करोड़ों लोगों को एक व्यक्ति के रूप में जोड़ दिया और जगा दिया। यहाँ इतिहास का एक उदाहरण देते हैं राजा श्रेणिक का, जिन्होंने अपनी लघुवय और गहन दायित्व के उपरान्त भी पूरे मगध राज्य में वह चारित्रिक परिवर्तन तथा बहुआयामी उन्नयन कर दिखाया जो तत्कालीन राजाओं के लिये संभव नहीं हो सका।

मगध नरेश महापद्म मृत्यु शय्या पर लेटे थे। उन्हें अपनी मृत्यु का कोई विचार नहीं था, चिन्ता थी तो अपने राज्य के सुशासन की और अपने पन्द्रह वर्षीय राजकुमार बिम्बिसार की कि दोनों का भविष्य क्या सुखद हो सकेगा?

महापद्म ने अपनी निराशा को दबाते हुए टूटते स्वर में कहना शुरू किया-पुत्र बिम्बिसार! अब मेरे पास अधिक समय नहीं है, अत: यह विह्वलता छोड़ो और मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनों। तुम्हारे लिये यह सिद्ध करने की वेला समझो आ गई है कि तुम एक वीर पिता के वीर पुत्र हो, चरित्र निष्ठ हो, धीरजवान व विवेकवान हो और हो प्रत्येक परिस्थिति का सफल सामना कर सकने वाले सत्पुरुष। अपने सुदूर भविष्य की ओर तुम्हें देखना है और वर्तमान को तत्पर बनाना है। इस मगध की माटी को तुमसे ढेर सारी अपेक्षाएँ हैं... महापद्म हांफने लगे तो आँखें बन्द कर शान्त लेटे रहे।

राजकुमार बिम्बिसार भी जैसे कुछ ही क्षणों में प्रौढ़ हो चला हो, उसका मन-मानस आन्दोलित हो उठा। पिता के शब्दों की गूंज ने उसे वर्तमान की जड़ता से बाहर निकाल कर कर्त्तव्य के सुघड़ मंच पर खड़ा कर दिया। चरित्र निर्माण की जो गहन शिक्षा उसे अब तक मिली थी, वह वैसे अनन्त गुणी सुदृढ़ होकर उसे ललकारने लगी-अरे बिम्बिसार! तूं आयु से भले ही छोटा है, तेरे में सृजनशीलता के प्रसार की महती क्षमता है और तेरे लिये उसका सफल प्रयोग अनिवार्य होगा। राजकुमार भावी योजनाओं के उत्साह में फड़क उठा।

पिता के अन्तिम शब्द उसके कानों में पड़े-पुत्र, मैं आशा के साथ जा रहा हूँ कि तुम मगध राज्य और उसकी राजधानी राजगृही नगरी के गौरव को मात्र अक्षुण्ण ही नहीं रखोगे, अपितु अपनी अटल चरित्रशीलता एवं लोकप्रिय प्रशासनिक प्रतिभा से उसे तुम निरन्तर अभिवृद्ध करते रहोगे-तो राजकुमार बिम्बिसार को जैसे लगा कि उनकी आयु कुछ ही समय में कई गुनी हो गई है और चरित्रनिष्ठा का शौर्य जैसे उसके रोम-रोम में समा गया। उसकी वय गौण हो गई और उसका विवेक प्रौढ़ता की देहरी पर चढ़ गया। वह कड़क कर खड़ा हो गया-जैसे एक नये बिम्बिसार ने जन्म ले लिया हो, चरित्र की शक्ति जब प्रस्फुटित होती है और विस्तार पाती है तब उसकी कोई सीमा नहीं रहती। राजकुमार मृत पिता के चरणों में गिर कर धीर-गंभीर वाणी में घोषणा करने लगे-पिताश्री! आप मरे नहीं, मेरे लिये सदा जीवित रहेंगे--आखिर आप ही तो मेरे चरित्र निर्माण के परम स्रोत रहे। मैं आपके आदेश का अपनी सम्पूर्ण चरित्रनिष्ठा, शक्ति एवं योग्यता के साथ जीवनपर्यन्त पालन करता रहूँगा और मगध राज्य के गौरव के नये शिखर तक पहुँचाऊंगा।

और छोटा बिम्बिसार मगध के राजसिंहासन पर बैठकर सर्वजनहित एवं सर्वदेशीय प्रगति की बहुत बड़ी पीड़ा में समा गया-शासन को सुशासन एवं उन्नतिशील शासन बनाने के महद् कार्य में पूरे तन-मन से जुट गया कि राज्य की सारी जनता नई सृजनशीलता में दत्तचित्त बन जाए। अपने चरित्र बल, गहन विवेक एवं मंत्रियों की मंत्रणाओं के आधार पर राजा बिम्बिसार ने निष्कर्ष निकाला कि मात्र राजप्रासाद में बैठकर नहीं बल्कि जनता के निकट सम्पर्क में जाकर उसकी आकांक्षाओं को जानना होगा, महत्त्वाकांक्षाओं को उभारना होगा तथा मगध के नये गौरवपूर्ण भविष्य के लिये उसे प्रत्येक प्रकार से सृजनशील बनाना होगा। उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं सब कुछ जानेंगे, जनमानस को परखेंगे तथा वांछित विकास के लिये प्रेरणा जगाएंगे।

यों राजा बिम्बिसार बन गए एक अश्वारोही और प्रत्यक्ष परिचय पाने लगे अपने मगध की एक-एक पग भूमि का। अथक भ्रमण में उन्हें अनुभव हुआ कि मगध पिताश्री की दीर्घ रूग्णावस्था के

कारण शासन के अत्याचार से विक्षुब्ध एवं दु:खी बना हुआ है। सुदूर ग्रामीण अंचलों में तो जन आतंकित एवं भयभीत भी है। शासन के नाम पर अधिकारी क्रूर बने जनता को लूट रहे हैं, जो अपने भ्रष्ट कर्म में इतने दुस्साहसी हो गये हैं कि लोगों में उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस भी नहीं बचा है। वे सब ओर घूमते रहे और परिस्थितियों का आकलन करते रहे।

अपने समूचे आकलन पर राजा बिम्बिसार ने अन्तिम निर्णय लिया कि शासन व्यवस्था सुधार के स्तर से नीचे गिर गई है, अत: उसमें अब आमूलचूल परिवर्तन ही लाना होगा। बस, फिर क्या था, परिवर्तन का शंख गूंज उठा। शासन को भ्रष्ट अधिकारियों से मुक्त करके एक दीर्घकालीन योजना का श्रीगणेश किया गया। पूरे मगध राज्य को अट्ठारह श्रेणियों में विभक्त किया गया। एक-एक श्रेणी की श्रेणी सभा और उसका श्रेणीपति मनोनीत किया गया। सभी श्रेणियों को स्थानीय शासन की पूरी स्वायत्तता प्रदान की गई। यह आज्ञा प्रचारित की गई कि समस्त श्रेणीपति समय-समय पर राजधानी राजगृही में एकत्रित हों, परस्पर अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करें तथा मगध नरेश के साथ अपनी समस्याओं पर वार्ता करके आवश्यक निर्देश ग्रहण करें। समुचित पृष्ठभूमि की संरचना के साथ ही राजा अपनी योजना के पूर्ण कार्यान्वय में जुट गये। चरित्र, स्नेह और साहस उन के सहज साथी बन गये। फिर सफलता को कौन रोक सकता था?

अभियान चलता रहा, समय बीतता रहा और मगध का कायाकल्प होता रहा। एक चरित्रनिष्ठ, कुशल शासक तथा स्नेहसिक्त सत्पुरुष की छवि के तले एक नया शक्तिशाली एवं चरित्रनिष्ठ मगध पल्लवित होने लगा। सदा की भांति एक बार मगध की सभी अट्ठारह श्रेणियों के श्रेणीपतियों का सम्मेलन आयोजित था। राजा बिम्बिसार सबके साथ विचार-विमर्श में व्यस्त थे, तभी श्रेणीपतियों ने एक स्वर में निवेदन किया- मान्यवर मगधपति! आपने अल्पवय में ही जिस अद्‌भुत चरित्रनिष्ठा तथा वीरता का परिचय दिया है उसकी कोई मिसाल नहीं और श्रेणी-राज्य का गठन तो इतिहास में लोकराजा के रूप में सदा अमर रहेगा। इस श्रेणी राज्य के प्रतीक स्वरूप हमारा निवेदन है कि अब से आप 'श्रेणिक' के नाम से विख्यात हों। और तब से राजा बिम्बिसार राजा श्रेणिक कहलाने लगे।

देह स्वार्थी मानव क्षुद्र होता है, उसे विराटता की ओर ले जाता है समाज!

देह स्वार्थी मानव की दृष्टि संकुचित होती है। वह शरीर के वैयक्तिक सुख-दु:ख के भोग में अपने सीमित क्षेत्र में ही घूमता रहता है तथा उसकी सारी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ तब केवल इस 'पिंड' को लेकर ही चलती है। कभी-कभी तो उसका देहस्वार्थ इतना अंधा हो जाता है कि वह अपने परिवार, समाज आदि को भी भूल जाता है। उस समय उसका चरित्र लिजलिजा और अप्रभावी बन जाता है। अपने देहस्वार्थ की क्षुद्र दृष्टि को लेकर ही वह जीवन के संकुचित दायरे में कैद होकर रह जाता है और इस कारण से क्षुद्र स्वभावी हो जाता है।

परन्तु अपने अन्तरतम में मानव कभी भी क्षुद्र नहीं होता है। जब उसके शरीर से देहस्वार्थ का पीलिया रोग दूर होता है और वह अपनी इच्छाओं तथा सद्‌भावनाओं को विराट् एवं व्यापक रूप देता है अर्थात् वृहद् से वृहत्तर समाज के साथ अपने जीवन की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को जोड़ लेता है तो

उसका दृष्टिकोण विस्तृत होने लगता है और वह क्षुद्र से विराट् होता चला जाता है। अभिप्राय यह कि सामाजिक सम्पर्क व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक आयाम देता है और यह सम्पर्क जितना अधिक सहयोगी एवं घनिष्ठ होता जाता है, उसके स्वयं के विकास का क्षेत्र भी वृहत्तर होता चला जाता है। समाज जब व्यक्ति को सहयोग तथा स्नेह के सूत्र से बांधता है तो अनन्त भविष्य के चिन्तन में वह तल्लीन होता जाता है। यह तल्लीनता इतनी घनी हो सकती है कि व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं रहता और एक सामाजिक संस्था का स्वरूप ओढ़ लेता है। अध्यात्म की भाषा में वह आत्मा से परमात्म तत्त्व की ओर या जीव से शिव की ओर गतिमान बन जाता है। यह व्यक्ति का समाज की ओर जो बढ़ना है, वह जैसे अग्नि की एक क्षुद्र चिनगारी का एक प्रकाशमान ज्योति के रूप में बदलना है। जब व्यक्ति अपने स्वार्थ को विश्व के सर्वार्थ में विलीन कर देता है, अनन्त के प्रति स्वयं समर्पित हो जाता है तथा अपने हृदय के असीम स्नेह, सहयोग और करुणा को समस्त प्राणियों के हित में नियोजित कर देता है तब उसकी विराट् भूमिका का सामाजिक चेतना के दर्पण में स्पष्ट दर्शन होने लगता है। 'स्व' के विस्तार का यह उपक्रम ही व्यक्ति को समाज के रूप में और आत्मा को परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

व्यक्ति की उन्नति एवं चरित्रशीलता समाज के अतिशय महत्त्व को दर्शाती है। प्रश्न यह है कि क्या मानव व्यष्टि रूप इकाई में जीता है अथवा समष्टि रूप समाज में? चिन्तन, मनन और अनुभव के बाद देखा गया है कि मानव अपनी देह की क्षुद्र इकाई में बंध कर अच्छा और सच्चा जीवन नहीं जी सकता है, अपनी बुद्धि व भौतिकता का समुचित विकास नहीं कर सकता है तथा न तो अपने जीवन की सुख-समृद्धि के द्वार खोल सकता है और न ही अध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका का ही निर्वाह कर सकता है। इस पृष्ठभूमि में मानव ने समूह और समाज का महत्त्व समझा और अपनी जटिल से जटिल समस्याओं को वह सामाजिकता के वातावरण में सही ढंग से सुलझाने लगा। सामाजिक या संघीय भावना में उसकी निष्ठा बढ़ती गई। साधना के क्षेत्र में भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकलकर संघीय-सामूहिक साधना की ओर आता गया। जीवन की समृद्धि तथा उन्नति के लिये समाज और संघ का महत्त्व निरन्तर अभिवृद्ध होता रहा है।

विश्व एक वृहत्तम संगठन है तो समाज, राष्ट्र संघ से लेकर परिवार तक के संगठन अपने-अपने प्रकार के व्यवहार के तथा उद्देश्य के संगठन होते हैं। संगठन को एक हरे भरे विशाल वृक्ष की उपमा देते हैं। वृक्ष के बड़ी-बड़ी शाखाएँ, फिर छोटी टहनियों और हजारों-हजार पत्ते रहते हैं और इन्हीं में फूल खिलते हैं तथा फल पकते हैं। ऐसे वृक्ष की सुन्दरता व शोभा उसकी विराटता की झलक दिखाती है। हरे-हरे पत्ते हवा में लहराते हैं, फूलों की सुगंध सब ओर आनन्द बरसाती है तो फलों का रस लेकर अनेक प्राणी तृप्त होते हैं। सोचें कि अगर पत्तों, फूलों और फलों को उस वृक्ष से अलग कर दें तो फिर क्या रह जाएगा? उसकी सुन्दरता समाप्त हो जाएगी और उसका अस्तित्व तक डूब जाएगा। वह वृक्ष ठूंठ भर रह जाएगा। व्यक्ति सिर्फ ठूंठ होता है और समाज उसको पत्तों, फूलों और फलों से संवारता है, उसे रसमय, आनन्दमय और चैतन्यमय बनाता है। जीवन में प्रेम, सद्भाव और सहयोग का जो रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल प्राण है। रस सूखा तो समझिए कि

व्यक्ति निष्प्राण हुआ। यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रह कर हल नहीं कर सकता, उसे समूह, संघ, समाज आदि के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय तथा सजीव बनाये रखना होता है। कोई भी संगठन गणित की एक इकाई होता है। एक के अंक के आगे धन का चिन्ह लगा कर फिर एक का अंक लिखे तो उसका जोड़ होगा दो मात्र। यह व्यक्ति का गणित है। समाज के गणित में व्यक्ति व्यक्ति के बीच अन्तर नहीं रखा जाता सो एक के अंक के आगे बिना किसी चिह्न या अन्तर के एक का अंक लिखिये तो वह बनेगा ग्यारह का अंक। दो और ग्यारह का भेद होता है व्यक्ति तथा समाज की गणित में। जीवन में गणित के इस सिद्धांत को लागू करने की जरूरत है। सभी प्रकार के संगठनों में यह सिद्धांत अवश्यमेव फलदायी होगा।

परिवार हो, समाज हो, धर्म संघ हो, राष्ट्र हो या समस्त विश्व-समस्याएँ सब ठौर हैं। कारण, सब ठौर मानवीय दुर्बलताएँ मौजूद हैं। सभी इन दुर्बलताओं को बढ़ावा देना नहीं चाहते, उनका शीघ्र और समुचित हल निकालना चाहते हैं। सवाल है कि उनका हल कैसे निकाला जाए? इस हल के लिये एक दूसरे के साथ नफरत ठीक नहीं, शोरगुल और थोथी घोषणाएँ भी व्यर्थ हैं और दल-सम्प्रदाय आदि का परिवर्तन भी उपयोगी नहीं। इसके लिये चाहिये सद्भाव, सहिष्णुता और सहयोग जो धीरे-धीरे समभाव या समता में बदलता जाए। इसके लिए अपने ही स्वार्थ साधन से दूर एक-दूसरे के लिये त्याग की वृत्ति भी अपनानी होगी और यह सारा विकास सामाजिकता को सुदृढ़ बना कर ही किया जा सकता है।

व्यक्ति कर्म और सामाष्टिक कर्मः कर्म का सर्व सम्बद्ध स्वरूप

समाज में व्यक्ति निजी हैसियत से भी कार्य करता है और सामूहिक हैसियत अर्थात् किसी भी संगठन के क्रियाशील सदस्य के रूप में भी कार्य करता है, जिन्हें क्रमशः नाम दिये जा सकते हैं- व्यष्टि कर्म तथा समष्टि कर्म। यह देखने की बात है कि क्या व्यष्टि कर्म नितान्त व्यष्टि का ही होता है अथवा समष्टि से भी प्रभावित? देखा या सुना जाता है कि हवाई जहाज में आग लग गई और उसके सारे के सारे यात्री मारे गये। उनके किस कर्म के परिणामस्वरूप सबको एक साथ एक-सी मौत मरना पड़ा। इसे सामुदायिक (समदानी)कर्म कहा गया है। समुदाय ने बांधे और समुदाय ने भुगतें। किन्तु स्थिति यही सामने आती है कि व्यष्टि के अधिकांश कर्म समष्टि से प्रभावित रहते हैं। समझिए कि एक व्यक्ति ने एक यात्री की जेब काट ली। उसे पैसे की सख्त जरूरत थी अपनी मरती हुई माँ के ईलाज के लिये। जेब काटना फिर भी अपराध तो है और पाप कर्म भी है। क्या उसके इस पाप कार्य में समाज भी भागीदार नहीं है? समाज में फैली घातक विषमताओं को मिटाना पूरे समाज की जिम्मेदारी है। समाज की इस तरह गैर जिम्मेदारी रही कि वह व्यक्ति इतना गरीब रहा कि अपनी जन्मदायिनी माँ का ईलाज तक कराने में अक्षम था। इस दृष्टि से देखें तो कर्म का फल तथा व्यक्ति का महत्त्व गुणानुगुणित हो जाता है। समष्टि का संदर्भ मिल जाने से व्यष्टि के पाप कर्म का आकार भी बड़ा हो जाता है।

अब तक विस्तार तथा प्रतिष्ठा पाए सामाजिक विचार ने स्पष्ट कर दिया है कि अपनी गरीबी के लिये गरीब ही जिम्मेदार नहीं है, बल्कि अमीर अधिक जिम्मेदार माना जाता है। यह विचार लोगों की

मन-बुद्धि में उतर चुका है। कर्म सिद्धांत के तत्त्ववाद को शुभ की मर्यादा से आगे खींच कर अब उसे असामाजिक भाव और कृत्य का आश्रय बना लिया गया है। इससे उसकी सत्यता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिए गए हैं। याद रखना चाहिए कि सापेक्ष सत्य तक ही मनुष्य का वंश है। यही नहीं, वह सत्य मानव-सापेक्ष होता है बल्कि यह भी कि वह देश काल-सापेक्ष होता है।

व्यष्टि के पाप कर्म के प्रभाव पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिये। व्यष्टि जो पाप कार्य करता है, क्या वह सारी दुनिया को मैला करने वाला नहीं होता अपने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव से। वह पाप उस व्यक्ति को ही कष्ट नहीं देता, सारे समाज को कष्टित करता है। चूँकि पाप उस पाप करने वाले व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, उस व्यक्ति की अपनी क्षमा प्रार्थना भी पूरी कैसे होगी? उस पाप का त्रास चारों ओर फैलता है। आज दृष्टि और विचार को उत्तरोत्तर सामाजिक तथा सामाष्टिक बनाने का समय आ गया है। सच पूछें तो स्वयं अध्यात्म का भी यह तकाजा है, अथवा मान्यता प्राप्त अनेक धर्म और दर्शन समय का साथ देने में असमर्थ बन कर टूट जाने की स्थिति में पहुँच सकते हैं। आज का यह सच है कि अब संदर्भ निजता से हटकर परस्परता की श्रेणी में पहुँच गए हैं, अत: विचार को उसकी अनुक्रम से आगे बढ़ना होगा अन्यथा विचार प्रतिभागी बनेगा जो मुक्ति की दिशा में ले जाने की बजाए बन्धन में डाल देगा। दृष्टि को भी विचारानुकूल होना होगा।

व्यष्टि कर्म और समष्टि कर्म के इस विश्लेषण का सार यह है कि कर्म का स्वरूप आज सर्व सम्बद्ध हो गया है। सामाजिक कार्य एवं प्रभाव का दायरा इतना बड़ा हो गया है कि व्यक्ति कहीं भी उससे अनछुआ नहीं बच सकता, फिर उसका कोई भी कर्म अकेले उससे ही सम्बद्ध कैसे रह सकता है? उसके निजी पाप कर्म के कारण और परिणाम गहराई से खोजेंगे तो वे समाज की जड़ों में ही मिलेंगे। एक क्षुद्र मानव जब समाज का सहारा पाकर ही विराट् बन सकता है तो उस मानव का प्रत्येक कर्म शुभ अथवा अशुभ कहीं न कहीं समाज को प्रभावित करता ही है।

चरित्र के प्रति निष्ठा एवं समर्पण व्यक्ति व समाज की जागृति के मुख्य बिन्दु

जीवन में चरित्र निर्माण के बाद उसका समुचित रीति से विकास करना होता है ताकि चरित्र की अतुल शक्ति का यथार्थ आभास हो सके। इस प्रकार के आभास के पश्चात् ही चरित्र के प्रति अटूट निष्ठा उत्पन्न होती है। सच्ची निष्ठा किसी भी तत्त्व के प्रति तभी पैदा होती है जब उसकी प्राभाविकता का अनुभव हो जाता है। इस निष्ठा के बल पर ही चरित्र सम्पन्नता चिरस्थायी बन जाती है तथा इसी निष्ठा की उत्कृष्ट मन:स्थिति में चरित्र साधक चरित्र संवर्धन के प्रति समर्पित भी हो जाता है। इस निष्ठा और समर्पण भावना से जिस प्रकार की अद्‌भुत जागृति सामने आती है उस से व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार के जीवन आन्दोलित हो उठते हैं। इस दृष्टिकोण से चरित्र निष्ठा और उसके प्रति समर्पण भावना- ये दोनों वैयक्तिक एवं सामाजिक जागृति के दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु बन जाते हैं। इन्हीं बिन्दुओं के फलित में अहिंसा, अपरिग्रह तथा अध्यात्म के शिखर तक पहुँचा जा सकता है।

चहुंमुखी उन्नति की इस दौड़ में व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक बनते हैं। यह दौड़ तभी सफल हो सकती है जब दोनों एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी रहें। व्यक्ति समाज से

अलग रह कर न अपना विकास कर सकता है और न ही समाज व्यक्ति विहीन होकर अपने अस्तित्व तक को बचा सकता है। व्यक्ति का विकास अपने साथियों के सहयोग पर आश्रित होता है- बिना किसी के सहयोग के व्यक्ति किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। व्यक्ति अपने जीवन निर्वाह तथा विकास के लिये समूहबद्ध हुआ और उसने उसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के संगठनों की रचना की। इन्हीं संगठनों में सबसे पहले परिवार का संगठन बना और इस परिवारों के संगठन ने ही समाज का स्वरूप ग्रहण किया। समाज की व्याख्या इस दृष्टि से यही होगी वह वह समाजों का समाज है। किसी भी जागरूक समाज का सबसे बड़ा दायित्व व्यक्ति के शुद्ध चरित्र निर्माण का रहा है और है। वस्तुत: जो समाज चरित्रमय व्यक्तित्व के निर्माण में चिन्तनशील, जागरूक और सक्रिय नहीं, उसे समाज का नाम देना भी न्यायसंगत नहीं। आपसी समझ, परस्पर प्रेम व सहयोग से ही समाज का स्वरूप शुद्ध और भव्य बनता है। समझ के अभाव में मनुष्यों के समूह और पशुओं के समूह में कोई भेद नहीं रह जाता है। इस समूह की भेद रेखा ही होती है जो मनुष्य को मनुष्य अथवा पशु की संज्ञा देती है। ऐसी समझ का पैदा होना और पनपना चरित्र निर्माण तथा उसके विकास पर ही आधारित रहता है।

जिस समाज में चरित्र गठन को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाता है, वह समाज किसी भी क्षेत्र में कभी पिछड़ नहीं सकता है। उसका प्रभाव और वर्चस्व सदा बना रहता और वैसा समाज ही जागृत, उन्नत और समृद्ध समाज कहलाता है। सामाजिक गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्त्ता का कर्त्तव्य बनता है कि वह अपने ज्ञान, विवेक तथा आचरण को जागृत रखकर ऐसा कोई कार्य न करे जिससे उस के सामाजिक जीवन की शुद्धता में प्रश्न चिह्न लगे। उसे अपने तथा समाज के हिताहित का सतत चिन्तन करते रहना चाहिये, क्योंकि व्यक्ति के आचार-विचार की शुद्धता या अशुद्धता का प्रभाव उसके परिपार्श्व में पड़े बिना नहीं रहता।

चरित्र निर्माण के माध्यम से व्यक्ति-सुधार का प्रयोग ही एक दिन सामूहिक सुधार का आधार बन सकता है। व्यक्ति न सुधरे तो समाज के सुधार की आशा कैसे की जा सकती है? समाज की इकाई व्यक्ति है, अत: प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्त्तव्य तथा महत्त्वपूर्ण दायित्व बन जाता है कि वह शुभ संकल्प, पूर्णनिष्ठा एवं समर्पण के साथ स्वयं के सुधार का मानस बनावे और चरित्र निर्माण हेतु तत्पर बने।

चरित्र निर्माण के महद् अभियान में महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका से नकारा नहीं जा सकता है। आखिर वे भी तो समाज का आधा अंग हैं और इस नजरिए से वे भी पुरुष के समान ही स्थान तथा सम्मान की अधिकारिणी हैं तो कर्त्तव्य निर्वाह के कार्य में भला उन्हें पीछे कैसे छोड़ सकते हैं? जिस परिवार और समाज में नारी प्रबुद्ध एवं विवेकवान होती है, वहाँ वह पुरुष को भी उन्मार्गगामी नहीं बनने देती हैं। नारी की चारित्रिक महत्ता का प्रभाव समूचे परिवार पर पड़े बिना नहीं रह सकता है। नारी की सत्य निष्ठा का, चारित्रिक शुद्धता का, कथनी-करनी की समानता का, उनकी संतोषवृत्ति, सादगी तथा सहिष्णुता का जिस परिवार व समाज पर अमिट प्रभाव अंकित रहता है वह परिवार व समाज खंडित नहीं होता-सदा अखंड रहता है। समय और परिस्थितियों के झंझावात भी उस प्रभाव

को कभी धूल-धुसरित नहीं बना सकते हैं। इन गुणों की पृष्ठभूमि में सदैव चरित्र बल ही प्रधान आलम्बन होता है।

आधुनिक युग की चरित्र सम्बन्धी दो विडम्बनाएँ

संसार के पटल पर से जब राजतंत्र या अधिनायक तंत्र मिटने लगे तो नई शासन-प्रणाली का जन्म हुआ लोकतंत्र के रूप में। लोकतंत्र अर्थात् जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिये राज **(गवर्नमेंट ऑफ दी पीपुल, बाइ दी पीपुल एंड फॉर दी पीपुल)**। लोकतंत्र आम आदमी को समान अधिकार देने वाली अच्छी शासन प्रणाली मानी गई, लेकिन राजनीति में जब चरित्रहीनता समाने लगी तो इसी प्रणाली का दुष्प्रयोग किया जाना प्रारंभ हो गया। एक-एक आम आदमी की आवाज सुनकर उसकी समस्याओं का हल निकालने की बजाय लोकतंत्र के नाम पर जन प्रतिनिधि शासक अपने लिये वोटों की शतरंज जमाने लगे। यह दुष्प्रयोग चरित्रहीनता के कारण शुरू हुआ तो इसका दुष्परिणाम भी चरित्रशीलता पर आघात के रूप में सामने आने लगा।

लोकतंत्रीय प्रणाली के बिगाड़ के कारण चरित्र सम्बन्धी दो विडम्बनाएँ सामने आई हैं जो चरित्र बल पर सीधा आघात लगाने वाली साबित हो रही हैं। ये दो विडम्बनाएँ हैं - (1) सच्चरित्र का चरित्र हनन (केरेक्टर एसोसिऐशन)- लोकतंत्रीय प्रणाली से एक नया बदलाव आया। यहाँ की भारतीय परम्परा में किसी को उसकी योग्यता, प्रतिभा आदि के अनुसार पदासीन करने का प्रस्ताव व समर्थन सदा दूसरे करते रहे हैं, लेकिन इस प्रणाली में स्वयं का प्रस्ताव व समर्थन स्वयं को ही करना पड़ता है अर्थात् चुनाव में खड़ा होने वाला उम्मीदवार अपनी खूबियाँ खुद ही बताता है और उसे समर्थन देने की अपील भी वह खुद ही करता है। इस होड़ में ही चरित्रहनन का अर्थ है कि एक सच्चरित्र व्यक्ति पर भी अपने स्वार्थ के लिये झूठे आरोप लगाए जाए, गलत प्रचार किया जाए और एक अच्छे भले व्यक्ति को बदनाम कर दिया जाए। राजनीति में यों तो पग-पग पर सत्ता स्वार्थ के लिये चरित्र हनन का क्रम चलता रहता है, लेकिन खास तौर पर निर्वाचन के समय में चरित्रहनन का क्रम तेज हो जाता है। अधिकांश जनता के अनपढ़ और अनजान होने के कारण चरित्रशीलता अप्रतिष्ठित होती रहती है। सच हमेशा छिपा नहीं रहता, फिर भी इस दुष्प्रवृत्ति से चरित्रशीलता पर आघात तो लगते ही हैं। इस प्रवृत्ति पर कड़ी रोक लगनी चाहिए क्योंकि चरित्र हनन का प्रयोग एक हथियार के रूप में किया जा रहा है। यह अति निन्दनीय है। (2) दूसरी विडम्बना है- दुष्चरित्र का महिमामंडन (ग्लोरीफिकेशन)- जो चरित्रहीन है यानी दुष्चरित्र है, अपराधी है, तस्कर है, माफिया है और जनहितों का शत्रु है, वही अपने धन-बल, भुज-बल और छल-बल से अपने को चरित्रशील बता कर एक सच्चरित्र पुरुष की महिमा से अपने को मंडित करवा लेता है। भोली जनता इस तरह के प्रचार के फेर में भी भ्रमित हो जाती है। ऐसे विरोधाभासी प्रचार के कारण आम आदमी अच्छे व बुरे व्यक्ति का फर्क आंकने में भूल करता रहता है और अपने वोट के दुरुपयोग से अपने शोषकों तथा उत्पीड़कों को ही अपने प्रतिनिधि चुन लेता है।

चरित्रहनन और महिमामंडन- इन दोनों दुष्प्रवृत्तियों को सामान्यजन को भ्रमित करने के लिये आजमाया जाता है और हथियार के रूप में इनका प्रयोग होने से चरित्रशीलता को आघात सहने पड़ते

हैं तो चरित्रहीनता का हौंसला बढ़ता जाता है। यह दुष्प्रवृत्ति लोकतंत्र के लिये, देश और समाज के लिये परम घातक बन गई है, अतः इसे जड़ से उखाड़ फैंकने के लिये चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में सामान्य जन को जागरूक बनाया जाना चाहिये। ये दोनों विडम्बनाएँ हैं।

व्यष्टि एवं समष्टि के सम्बन्धों को नवीनता देने का प्रश्न

व्यष्टि, व्यक्ति, पुरुष या आदमी (जिसके अर्थ में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों सम्मिलित हैं) ही मूल में सारी शक्तियों का स्रोत हैं। समष्टि यानी समाज का निर्माता भी वही है। फिर भी उसके द्वारा रचित होने के उपरान्त समष्टि अपने आप एक पृथक् शक्ति समाहित कर लेती है। यही शक्ति व्यक्ति से नियंत्रित एवं अनुशासित भी बनाती है। यही कारण है कि व्यष्टि तथा समष्टि के सम्बन्धों पर तब से विचार होता आया है जब से व्यक्ति ने एकाकीपन छोड़कर अर्जन का दायित्व लिया और परिवार बनाया, बस्तियाँ बसाई और देश जैसे बड़े संयुक्त घटक का भी निर्माण किया। कारण साफ है। व्यक्ति और समाज की शक्तियाँ आपस में घुल-मिलकर जब एक-दूसरे के हित में कार्यरत होती है, तब समाज इतनी सुदृढ़ व्यवस्था का सूत्रपात कर सकता है कि व्यक्ति को अपने विकास पथ में उबड़-खाबड़ जमीन नहीं, बल्कि सीधी, सपाट और सहज भूमि मिले और तब व्यक्ति भी उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँच सकता है। यही है व्यष्टि एवं समष्टि के संयुक्त सदाशय का सुपरिणाम।

यही लक्ष्य प्रारम्भ से विचारणीय रहा है। जिसके साधन भी खोजे गए, पथ संचरण भी हुआ, लेकिन देश काल की परिस्थितियों के अनुसार नई-नई समस्याएँ भी जन्म लेती रही। व्यष्टि एवं समष्टि के सम्बन्धों के विषय में बड़े पैमाने पर नये-नये प्रयोग भी हुए और अब तक विचारकों ने निष्कर्ष निकाला है कि समष्टि की शक्ति सुव्यवस्थित रूप से परिवर्धित होनी चाहिए जो व्यक्तियों के बीच की सारी विषमताएँ समाप्त करने का दायित्व भी ले तो व्यक्ति की असामाजिक प्रवृत्तियों पर भी कड़ी रोक लगावे। शासन प्रणाली में व्यक्ति तंत्र की समाप्ति का यही मुख्य कारण रहा है, क्योंकि व्यक्ति की वृत्तियाँ सदा एक-सी नहीं रहती और एक व्यक्ति की शुभ-अशुभ, अच्छी-बुरी धारणाओं पर अनेक व्यक्तियों के भाग्य को नहीं छोड़ा जा सकता है। कोई भी संगठन अपने आदर्शों अथवा उद्देश्यों से आसानी से नहीं गिराया जा सकता है, अतः सामान्य जन का किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा संगठन के प्रति विश्वास जमा हुआ रह सकता है। इस दृष्टि से आधुनिक युग को समष्टिपरक कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। आज का प्रधान प्रयास यही है कि व्यष्टि एवं समष्टि के बीच समष्टि की कार्य क्षमता अधिक सक्रिय रहे तथा सभी प्रकारों से दोनों के बीच स्वस्थ सन्तुलन की विद्यमानता भी रहे।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में दोनों के सम्बन्धों की समस्याओं के साथ एक नई समस्या और जुड़ गई है और वह है विज्ञान की 'भीषण' प्रगति, जो जैविक तथा जीन के क्षेत्रों में साधी गई है और क्लोन बनाने तक पहुँच गई है। यह प्रगति भी साधी तो व्यक्ति ने ही है समाज के सहयोग से, किन्तु यदि ऐसी प्रगति बेरोकटोक, आगे बढ़ती रही तो आम आदमी समाज के शक्तिशाली वर्ग का रोबोट मात्र बन कर रह जाएगा। तब व्यक्ति असहाय और समाज पंगु हो जाएगा। जैसे ऑटोमेशन तथा कम्प्यूटरीकरण से श्रमिकों या अन्य कर्मियों के हाथ कट गये हैं, वैसे ही बन्द ग्रीन हाऊसों में जैविक विधियाँ अपार

कृषि उत्पादन करने लगी तो किसानों के पाँव ही कट जायेंगे। कम्प्यूटरों को बनाया तो व्यक्ति के दिमाग ने ही, लेकिन ये बनावटी दिमाग व्यक्ति के ही सिर पर चढ़ गए हैं, क्योंकि असली दिमाग तो छोटी-बड़ी भूलें कर सकता है, लेकिन यह नकली दिमाग छोटी से छोटी भूल नहीं करता है। जीन तकनीक जब भांति-भांति के क्लोनों की लाईन लगा देगी, तब कहाँ रहेगा असली व्यक्ति और कैसे होगी उस की पहिचान? कहने का आशय यह है कि यह जो व्यष्टि तथा समष्टि की शक्तियों के साथ तीसरी शक्ति जिन भावी आशंकाओं के साये में उभर रही है, वह हर तरह से 'अति भीषण' सिद्ध होने वाली है।

यह चरित्र निर्माण तथा विकास के लिये भी कठिन वेला है। यदि व्यष्टि तथा समष्टि की शक्तियों को सहयोगी न बनाया जा सका तथा दोनों के बीच सन्तुलनात्मक व्यवस्था कायम नहीं की जा सकी तो यह भीषण विज्ञान सम्पूर्ण मानव जाति को विनाश की कगार तक पहुँचा देगा। आज युवा शक्ति को आगे आना होगा, अपने चरित्र सामर्थ्य को सक्षम बनाना होगा तथा विज्ञान को मानव कल्याण की दिशा से भटकने नहीं देना होगा। इस स्वस्थ सम्बन्ध के लिये व्यक्ति को अपने अहंकार, अन्याय और अत्याचार की निरंकुशता त्यागनी होगी तो यह ध्यान रखना होगा कि सर्व शक्तियों को केन्द्रित करके समाज भी व्यक्ति हंता न बन जाए। यह नियंत्रण भी साधना होगा कि विज्ञान अपनी मानव कल्याण की पटरी से नीचे न उतर सके। विज्ञान व्यक्ति के वजूद पर ही प्रश्न चिह्न लगाने लगे- यह तो कदापि सह्य नहीं होना चाहिए।

आज की इन परिस्थितियों का तकाजा है कि व्यष्टि तथा समष्टि के सम्बन्धों को नवीनता दी जाए। परन्तु कैसे भरें नवीनता के रंग और गुंजित करें समरसता के स्वर? यह चमत्कार चरित्र बल से ही संभव हो सकता है। व्यष्टि व समष्टि के सम्बन्धों का बिगड़ना या कि विज्ञान की प्रगति का भीषण रूप ले लेना-यह सब चरित्र के अभाव में ही हो रहा है। जब व्यक्ति स्वयं अपनी स्वार्थपूर्ति में निरंकुश बन जाता है, तब वह समाज को तोड़ता है अर्थात् सामाजिक नियमों या लक्ष्मण रेखाओं का उल्लंघन करता है। इस कारण स्वच्छंदता तथा अराजकता का वातावरण बन जाता है तो व्यक्ति एवं समाज दोनों की स्वस्थ प्रगति को रोक देता है। निरंकुश व्यक्तियों का यह दुराचरण ही सर्वत्र चरित्रहीनता को बढ़ावा देता है। चरित्रहीन व्यक्ति सुव्यवस्थित समाज का कभी भी सहायक नहीं बन सकता है।

चरित्र के मूल बिन्दु पर आकर हमें ठहरना होगा और विचार करना होगा कि व्यक्ति तथा समाज की उन्नति अथवा अवनति में चरित्रशीलता अथवा चरित्रहीनता का क्या रोल होता है? यह समीक्षा हमें मार्ग दिखाएगी कि चरित्र निर्माण का कार्य ही बुनियादी है और इसके बिना किसी भी शुभ परिवर्तन का श्रीगणेश नहीं किया जा सकता तथा न ही उस शुभ परिवर्तन को स्थायी बनाया जा सकता है। अत: चरित्र निर्माण का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एक चरित्रशील व्यक्ति अपनी चारित्रिक प्रतिभा से चरित्र निर्माण का सफल विस्तार कर सकता है तो व्यष्टि तथा समष्टि के बीच सहयोगी सम्बन्धों का निर्माण भी। जब व्यक्ति और समाज चरित्र विकास के मार्ग पर अग्रगामी हो जाते हैं तब समाज में सारी विषमताओं का अन्त हो जाएगा-न आर्थिक विषमता व्यक्तियों के चरित्र को पतित कर

पाएगी और न ही सत्ताकामी राजनीति अयोग्यों को आगे लाकर लोकतंत्र के स्वरूप को विकृत कर सकेगी। व्यक्ति तथा समाज के सर्वांगीण विकास का चरित्र निर्माण ही मूलाधार है।

मानव चेतना अदम्य है, अविजेय है और है सामाजिक सृजन की मौलिक धारा

यह शाश्वत सत्य है कि मानव चेतना अदम्य है और अविजेय है। यह चेतना अपने अन्तरतम पटल को छू कर और छेद कर बाहर आएगी तो वह तांत्रिक राजनीति और अर्थनीति के जाल में फंसेगी नहीं, बल्कि स्वयं उनको मुक्त करती हुई उत्थानगामी बनेगी। वास्तव में आज इस प्रकार की चेतना से युक्त मानवावस्था की आवश्यकता है जो तंत्रों (टेक्निकल) तथा यंत्रों (मेकेनिकल) की विवशताओं के पार देखे और तकनीकी उद्योगों तथा राजनीतिक आदेशों को अपनी ओर से नये संस्कार एवं नई दिशा दे। ऐसी चेतना ही समाज में व्याप्त होकर सामाजिक सृजन को बढ़ावा देती है तथा इस प्रकार की चेतना के विकास का एक अकेला माध्यम है जन-जन का चरित्र निर्माण तथा सामाजिक चरित्र की प्रतिष्ठा।

समाज, संस्था तथा सामुदायिकता के केन्द्र में व्यक्ति ही होता है, इसीलिये कहा गया है कि केन्द्र व्यक्ति है, क्योंकि वास्तविकता यही है। अन्य संज्ञाएँ धारणात्मक ठहरती है और भावावेश के साथ उनकी सत्यता चमकती-बुझती है। सच यह है कि मानव टिकता है, सिर्फ नारे बदलते हैं। वाद नये पुराने बनते हैं, मानवता सनातन रहती है। वस्तुत: मानव ही वह कसौटी है, जिस पर कस कर सभी वादों को परखा जाता है और फैंका जाता है। मानव के लिये वाद न रह कर जब वाद के लिये मानव बन जाता है, तब वही दशा होती है, जहाँ गाड़ी घोड़े को खींचती है, पर असल में तो गाड़ी खिंचने को है और घोड़ा उसे खींचता है। वाद की पंक्ति में ही पंथों तथा सम्प्रदायों का भी स्थान है। ये पंथ और सम्प्रदाय जीर्ण होते और टूटते हैं उस समय जब मानव इनके बीच में से गायब हो जाता है यानी कि मानव इनके न तो केन्द्र में और न अन्यत्र रहता है। मानवता का अस्तित्वहीन होना किसी भी वाद या पंथ के लिये शुभ नहीं और समाज के लिये कतई नहीं, क्योंकि उसके बिना सारी सृजनात्मक गतिविधियाँ लुप्त हो जाती है। मानवता नहीं यानी कि मानव चरित्र नहीं तो फिर भला समाज में सृजनशीलता कहाँ से आ पाएगी?

मानव चेतना के विभिन्न स्तर हैं-यह तथ्य मानना होगा, क्योंकि उसकी चेतना बंटी हुई होती है। वह एकीकृत और एकत्रित नहीं है। इसी कारण अस्त-व्यस्त चेतना वालों के लिये कह दिया जाता है कि ये मानव तो मानव ही नहीं हैं और जिस मानव की चेतना बिखर जाती है, चित्त एकदम विघटित हो जाता है उसे तो पागल मानकर शिकंजों में ताला लगाकर बन्द कर दिया जाता है। मानव अमानव हो जाता है जबकि वह अपने ही चित्त से विमुक्त और विक्षिप्त हो जाता है। अत: मानव का मूल्य इसमें है कि उसमें चित्त है, अन्त:करण है, विवेक है और मूल चरित्र है। मानव का चित्त से सम्बन्ध ढीला हुआ, अन्त:करण उलझा, विवेक बिखरा और चरित्र बिगड़ा तो समझिए कि उसी मात्रा में उसका मूल्य खंडित और नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत मानव अपनी अन्तश्चेतना एवं चरित्र शक्ति से जितना युक्त, संयुक्त एवं अभिन्न बनता है उतना ही उसका मूल्य बढ़ जाता है। मानवीय

मूल्यों का यही रहस्य है। पूर्ण आत्मनिष्ठ और आत्मवान् पुरुष में मानो सबको आत्मदर्शन होता है जिसे सद् दर्शन कहा जाता है तब वह पुरुष एक न रहकर सब हो जाता है। व्यष्टि न रहकर समष्टि बन जाता है। उस नर में सहसा नारायण भाव तथा आत्मा में परमात्म भाव आ जाता है क्योंकि प्रत्येक के परम अभ्यंतर में वही तो है जो सर्व और सर्वत्र है। उस अभ्यन्तर के साथ व्यक्ति चेतना का पूर्ण योग हो तो व्यक्तित्व उसकी सीमा नहीं, अपितु उस का प्रकाश बन जाता है।

अत: सार्थक वस्तुस्थिति यही है कि मानव को केन्द्र में लिया जाए तथा मानव को ही उसकी धर्म-धारणा और कर्म विचार का मध्य बिन्दु बनाया जाए। फिर मानव का जो भी आयोजन-प्रयोजन अथवा कार्यक्रम होगा, वह लाभप्रद ही रहेगा। हमारी रीति-नीतियाँ, अर्थनीतियाँ, राजनीतियाँ, समाजनीतियाँ आदि सभी नीतियाँ बहुत अधिक बौद्धिक बनती जा रही है जो मानव को लांघ रही है बल्कि उस अतिक्रमण के आधार पर ही मानव का कल्याण साधने का दम भी भरती हैं। यह सब विभ्रमपूर्ण हो गया है। आदमी के भले का नाम लेकर उसे ही ईंधन बना कर युद्ध की भट्टी में झोंक दिया जाता है। यह अब तक हुआ सो ठीक लेकिन विज्ञान के अगले चरण के साथ भी मगर यही प्रक्रिया चालू रही तो कुछ भी कुशल नहीं। वह मानव जाति के संहार का समय भी हो सकता है।

यह मानना होगा कि मानव और समाज दोनों अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति चरित्रहीन होता है तो उसकी काली छाया समाज को भी घेरती है किन्तु सामाजिक नियंत्रण पर ब्रेक लगाकर उसके फैलाव को रोका भी जा सकता है। मूल बात यह है कि समाज का स्रोत व्यक्ति सदा स्वस्थ रहना चाहिये और उसके सुस्वास्थ्य का रक्षक होता है चरित्र बल। इस कारण व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र निर्माण प्रथमत: अनिवार्य है। जहाँ चरित्र है, वहाँ अहिंसा है। जहाँ अहिंसा है, वहां सुरक्षा है। जहाँ सुरक्षा है, वहाँ शान्ति हैं। जहाँ शान्ति है, वहाँ सृजन है। मानव चरित्रशील बनेगा तो समग्र समाज सृजनशील-यह निश्चित धारणा है।

◆◆◆

चरित्र निर्माण का पारम्परिक प्रवाह एवं उसका सैद्धांतिक पक्ष

14



चरित्र निर्माण का पारम्परिक प्रवाह एवं उसका सैद्धांतिक पक्ष

प्रेरक चरित्रों से बनती है विराट संस्कृति व सभ्यता

राजा हरिशचन्द्र की कथा सभी जानते हैं। सपने में वचन देने पर भी उन्होंने अपने समूचे राज्य को दान में दिया तथा सामान्य जीवन जीने की दृष्टि से वे अपनी महारानी तारा तथा राजकुमार रोहित के साथ अपने राज्य की सीमा से दूर अन्य राज्य में चले गए। किन्तु उनकी परीक्षा का काल तो उस के बाद शुरु हुआ। महारानी तारा ने एक ब्राह्मण के घर में अपने सुकोमल पुत्र रोहित की देखरेख करते हुए जब दासी की नौकरी की तो वहां उन्हें क्या-क्या भुगतना पड़ा-यह आंसुओं से भरी कहानी है। उधर राजा हरिशचन्द्र को चाकरी मिली एक चाण्डाल के यहां, जिसने उन्हें श्मशान में नियुक्त किया कि वे अन्तिम क्रिया हेतु शवों को लाने वालों से कर वसूले। परीक्षा की अति संकटमय घड़ी तो तब उपस्थित हुई जब सर्पदंश से मृत्यु पाए अपने पुत्र रोहित का शव लेकर अकेली ही अन्तिम संस्कार हेतु तारा श्मशान पहुंची। तारा के पास कर देने को कुछ नहीं था और हरिशचन्द्र ने चाण्डाल की चाकरी में कर्त्तव्यनिष्ठ बन तारा को पहचान कर भी नहीं पहचाना, पुत्र के मृत्यु कष्ट के आंसुओं को खून का घूंट पीकर रह गए, लेकिन तारा को कर चुकाने का हठ करने

लगे जिसके न चुकाने तक शव का अन्तिम संस्कार संभव नहीं। तारा ने अपनी पहनी हुई एक मात्र साड़ी का आधा भाग कर चुकाने के लिए फाड़ कर दिया और यों हरिशचन्द्र सपरिवार परीक्षा में सिर्फ सफल ही नहीं हुए बल्कि कष्टों की आग में तप कर कुन्दन की तरह निखर कर बाहर आए।

क्या आवश्यकता थी सपने में दिये गये वचन के पालन करने की? दान में राज्य दिया भी तो अपरिचित बनकर अन्य राज्य में उन्होंने जान बूझ कर कष्टों को आमंत्रित क्यों किया? क्यों उन्होंने अपने हीन स्वामियों के हाथों यातनाएं झेलने को अपनी नियति मान ली? क्या कारण रहा कि हरिशचन्द्र ने पुत्र-प्रेम, पत्नी-प्रेम सबको एक बार तिलांजलि ही दे दी? कौनसी शक्ति उनके साथ थी कि वे अपने वचन तथा कर्त्तव्य पालन पर इतने अटल रह सके? उनके मन मानस में क्या लक्ष्य था जिसके लिये अपने सर्वस्व न्यौछावर को भी उन्होंने अपना अकिंचन प्रयास माना? उनके संदर्भ को आज भी जीवन में किस दृष्टि से देखा जा सकता है? इतने सारे प्रश्नों के उत्तर खोजना निश्चय ही एक प्रेरणाप्रद तथा आनन्ददायक विषय है।

जो अपने जीवन को बहुत हल्के में लेते हैं यानी कि अपने जीवन के अपूर्व महत्त्व को आत्मसात् नहीं करते बल्कि उसके महत्त्व को समझते भी नहीं अथवा समझना भी नहीं चाहते, उनके लिये उपरोक्त प्रश्नों के उत्तरों की शायद उपयोगिता न हो, किन्तु ऐसे समझदार पर विवेकहीन व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं होती। अधिकांश व्यक्ति इस जीवन की महत्ता को समझते भी हैं और मानते भी हैं। वे मार्ग भी खोजते हैं कि जिस पर चल कर इस जीवन को सार्थक बना सकें और ऐसे व्यक्तियों के लिये इन प्रश्नों के उत्तर सर्वोच्च महत्त्व रखते हैं।

भारत की चारित्रिक परम्परा में **'प्राण जाहि पर वचन न जाहि'** के अनुसार वचन पालन पर अटलता रखने का विधान रहा है। पालन में न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु कोई उसके पालन का आदर्श भी प्रस्तुत कर सकता है। आदर्श तक जो पहुंचता है वह तदनुसार कुछ अद्‌भुत भी करता ही है। क्या अन्तर पड़ा उस आदर्श पुरुष के लिये सपने में वचन देने में अथवा जागते में वचन देने में? वचन वचन होता है उसके लिये। हरिशचन्द्र का यह चरित्र आदर्श का वह प्रकाश स्तंभ है जिसके प्रकाश में हर कोई अपने चरित्र की नौका को अपने सामर्थ्य के अनुसार तिरा सकता है। यह चरित्रनिष्ठा की ही बात थी कि त्याग के बाद भी भोग की इच्छा क्यों शेष रहे? अपने राज्य में रहते तो प्रजाजन उन्हें कोई कष्ट थोड़े ही होने देते? फिर तो दान और त्याग का महत्त्व ही नहीं रहता। कष्टों को न्यौता देना, धैर्य पूर्वक उन्हें सहना और कष्ट सहिष्णु बनना वीरोचित कार्य हैं, तब क्या हरिशचन्द्र अपनी वीरता पर कलंक लगाते? उन्होंने सामान्य जन बन कर अपार कष्ट सहे और कर्त्तव्य पालन में आनन्द की अनुभूति की, क्योंकि उनके चरित्र का पृष्ठबल उनके साथ था और चरित्र संपन्नता कभी-भी सत्य का दामन नहीं छोड़ती। कर्त्तव्य और न्याय की वेदी पर पत्नी, पुत्र क्या, स्वयं की भी बलि चढ़ा देने में चरित्रशील पुरुषों को कभी कोई संकोच नहीं होता। चरित्र बल उनका सुदृढ़ सम्बल होता है और सत्य उनका अन्तिम लक्ष्य। वह पुरुष महानता का वरण ही कैसे करेगा, जो अपनी लक्ष्य प्राप्ति के लिये अपने सर्वस्व को न्यौछावर कर देने में झिझकता हो? सबसे बड़ी बात यह है कि क्या राजा हरिशचन्द्र आज भी हमारे लिये प्रेरणा के स्रोत हो सकते हैं और हो सकते हैं तो वह प्रेरणा क्या

है? राजा हरिशचन्द्र के जीवन की तेजोमयता यह है कि वह उत्कृष्ट चारित्रिक परम्परा तथा श्रेष्ठ चरित्र साधना पर आधारित था और उनकी उस चरित्र सम्पन्नता का प्रधान लक्ष्य था-सत्य का साक्षात्कार। उनके चरित्रनिष्ठ जीवन के रोम-रोम में सत्य समाया हुआ था। उन का उठना-बैठना, सोना-जागना, बोलना-कहना सब कुछ सत्य के आलोक में ही होता था। तो क्या आज भी उनका चरित्र और सत्य किसी प्रगतिकामी और प्रगतिगामी के लिये आदर्श नहीं हो सकता है? जीवन की सार्थकता ही चरित्र निर्माण तथा सत्यशोध में रही हुई है और जो अपने जीवन को सार्थक नहीं कर सकता है, मानिये कि वह अपने ही हाथों अपने अपूर्व जीवन का नादानी में गला घोंट रहा है। इस पर आज अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि वर्तमान के विषम एवं विश्रृंखल समाज में राजा हरिशचन्द्र का आदर्श सर्वाधिक प्रासंगिक एवं अनुकरणीय-आचरणीय है। यदि इस युग में चरित्र एवं सत्य की पताका फहरा दी जाए तो जीवन का वह सब कुछ श्रेष्ठ प्राप्य हो सकता है, जो चरित्रहीनता के अंधकार में लोप होता जा रहा है।

सभ्यता, संस्कृति, धारणा, परम्परा एवं चरित्र निर्माण :

भारतीय विचारकों ने इन चार शब्दों-सभ्यता, संस्कृति, धारणा व परम्परा में मानव के सम्पूर्ण विकास को सन्निहित किया है। मानव जब मानव तो था शारीरिक दृष्टि से, किन्तु विकास की दृष्टि से बहुत आदिम था, तब उसे इन चारों शब्दों का न ज्ञान था और न अनुभव। अनुभव का प्रश्न ही पैदा नहीं होता जब ज्ञान और आचरण दोनों न हो। मानव विकास के वैज्ञानिक इतिहासकारों का मानना है कि आग की खोज ने सभ्यता की नींव का पहला पत्थर रखा, फिर पहिये की खोज ने उसके आवागमन को पंख लगाये। ज्यों-ज्यों लोगों का आपस में सम्पर्क बढ़ने लगा त्यों-त्यों सामूहिक आचरण विधि पनपी और सामाजिकता ने जन्म लिया। यह सामूहिक आचरण या व्यवहार की ही बात है कि चरित्र का पहलू उजागर हुआ। व्यवहार की रीति-नीति ने चरित्र के पक्ष में कई रंग उभारे तो उत्कृष्ट भावनाओं के प्रभाव से धर्म और दर्शन प्रकट हुए।

इस सारे विकास के साथ चरित्र के रूपों का निर्धारण हुआ और उनमें से जो रूप सर्वहितैषी मान कर समाज द्वारा मान्य किये गये उनका व्यापक क्षेत्र में प्रचलन प्रारंभ हुआ। प्रचलन के विस्तार के साथ व्यवहार के जो गुण लोकप्रिय हुए उनके संबंध में आम धारणा बनने लगी। धारणा का अर्थ आम पसन्दगी और उसे बनाए रखने की इच्छा। यही धारणा जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंची और उस ने जो स्थायी रूप लिया, उसे परम्परा का नाम दिया गया। परम्परा के नाम से किसी भी प्रचलन के गुण-दोष परखने की जरूरत नहीं है। उस पर मान्यता की मोहर लगी हुई मान लिया गया। व्यक्ति तथा समाज के जीवन में संबंधित ऐसी मान्य परम्पराओं का समूह उस समाज की पहचान बन गया। यह पहचान ही सभ्यता के नाम से जानी गई।

सभ्यता का अर्थ है कि हम करते क्या हैं अर्थात् एक समाज, संगठन या राष्ट्र के निर्धारित करणीय और अकरणीय कार्यों का संयुक्त रूप उस समाज, संगठन या राष्ट्र की सभ्यता के नाम से विख्यात हुआ। ऐसी सभ्यताएं अपने गुण दोषों के आधार पर स्थाई बनी या गर्त में समा गई। उत्तम सभ्यताओं ने क्षेत्रों के दायरे भी तोड़े और उनका प्रभाव दूर-दूर तक फैला। ऐसी सभ्यताओं में

भारतीय सभ्यता भी एक है। यह सभ्यता परिपक्व बनकर जब गुणों का भंडार हो गई तो उसी ने संस्कृति की संज्ञा प्राप्त कर ली। यों श्रेष्ठ संस्कृति अति दीर्घायु होती है और उन्नति पथ पर चलने के लिये अनेकों की प्रेरणा स्रोत बनती रहती है। हम क्या करते हैं? (**वॉट वी डू**)-यह होती है हमारी सभ्यता और हम क्या है (**वॉट वी आर**)? उसकी पहचान कराती है हमारी संस्कृति। किन्तु इन चारों चरणों से गुजर कर सांस्कृतिक मूल्य उसी तत्त्व को मिलता है जो चरित्र सम्पन्न समाज के पृष्ठबल से पुष्ट होता है। चरित्र की निष्ठा जब प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक ज्ञान बिन्दु तथा आचरण पक्ष के साथ घनिष्ठता से जुड़ती है तभी किसी रीति-नीति के प्रति व्यापक धारणा बनती है जो परम्परा के रूप में रूपान्तरित होती है। श्रेष्ठ परम्पराएं सभ्यता में ढलती है और वही कालान्तर में अमुक समाज की संस्कृति के नाम से प्रख्यात होती है।

चरित्र का संदर्भ मानव विकास के इन चारों चरणों के साथ संयुक्त होता है यानी मानव और समाज के जीवन का प्रमुख गुण बनता है। यदि चरित्र निर्मित, गठित और विकसित है तो वैसा व्यक्ति और समाज प्रगति की दौड़ में सबसे आगे होता है तथा उसकी सभ्यता और संस्कृति सर्वत्र तथा सर्वदा सराही जाती है। चरित्र निर्माण, विकास की नींव का वह पत्थर है जिस पर एक पीढ़ी का वैयक्तिक या सामाजिक जीवन ही नहीं टिकता, बल्कि कई पीढ़ियां उस नींव के पत्थर पर अपनी उन्नति के महल खड़े करती रहती हैं। इतना ही नहीं, उस सुदृढ़ चरित्र निर्माण के फलस्वरूप ढलने वाली सभ्यता और संस्कृति अनन्तकाल तक मानव जाति को उसके विकास का पथ-दर्शन कराती रहती है।

शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ चरित्र निर्माण की क्रमिकता :

मानव के शरीर विकास के साथ उस का मानसिक विकास भी होता रहा, यद्यपि मानसिक विकास की गति बहुत ही धीमी रही। कइयों का शरीर तो विकास कर जाता, लेकिन मन नादान ही बना रहता। आज भी कई ऐसे मानसिक विकलांग देखे जा सकते हैं। किन्तु फिर भी समस्त प्राणियों में मानव ही ऐसा प्राणी है जो बुद्धि का धनी बना। इस बुद्धि ने ही उसे यह विशिष्टता दी है कि वह अपने जीवन की सार्थकता के बारे में जानें, सब प्राणियों के कल्याण की बात सोचे और सारे संसार को सबके समान हितों का निवास स्थान बनावे। इस बुद्धि ने ही उसके अपने सर्वोच्च विकास के शिखर भी खोजे और मानव जाति के बीच सन्तुलन, समन्वय तथा सामंजस्य के तार जोड़े। मानसिक विकास से बुद्धि बल बढ़ा, बढ़ी हुई बुद्धि ने ज्ञान के द्वार खोले। ज्ञान ने चहुंमुखी प्रगति के पथ को दर्शाया और आचार विधियां स्थापित की जिनको लेकर अनेक धर्म एवं दर्शन प्रकट हुए तो ज्ञान विज्ञान के रूप में ढल कर प्रत्यक्ष प्रगति का पथ संजोने लगा। तभी यह समस्या भी सामने आई कि विविध धर्म, दर्शनों, वादों, विचारों, वैज्ञानिक प्रयोगों-परिणामों के बीच मानव अपने और सम्पूर्ण विश्व के साथ कैसा विचार और आचार संस्थापित करे कि संसार समतामय वातावरण में अपने नाम के अनुरूप सम+सार वाला यानी सर्व सुखद स्थान बन जाए।

सम+सार वाला संसार का मूलाधार है चरित्र निर्माण-व्यक्ति के घटक से लेकर सबसे बड़े घटक विश्व तक का चरित्र निर्माण जो व्यक्ति से प्रारंभ होगा और सामूहिक स्वरूप लेते हुए सर्वत्र

प्रसारित हो सकेगा। इस दृष्टि से चरित्र निर्माण के क्रम को समझने की जरूरत है और यह भी समझने की जरूरत है कि चरित्र निर्माण की क्रमिकता को कैसे नियमित एवं स्थायी बना सकते हैं? स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार चरित्र निर्माण का कार्य अव्यक्त रूप से होता रहता है। यह रूप गढ़ता है परिवार में, जहां नवजात शिशु वहां के वातावरण से संस्कार ग्रहण करता है। जैसे परिवार के संस्कार परम्परा के पथ से निर्मित हुए होंगे, उनका आरोपण परिवार के नये सदस्य के हृदय में होता है। यह आरोपण उस समय से ही आरंभ हो जाता है जब गर्भाधान होता है, माता-पिता आदि के जीन का प्रभाव भी गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है, जिसकी व्यवस्था की जाती है। यह व्यक्त रूप प्रत्यक्ष होता है-शिक्षा, दिशा निर्देश, उपदेश, स्वाध्याय आदि के माध्यम से। यदि शिक्षा का प्रबंध उत्तम है तो बालक का सर्वांगीण विकास उसके द्वारा ऐसा होगा कि वह चरित्र निर्माण को जीवन का आधार बना कर ही आगे गति करेगा। कुछ शिक्षित हो जाने पर हितैषी लोगों के दिशा निर्देश भी उसके जीवन को प्रभावित करते हैं। अध्ययनकाल हो या सेवाकाल-अनुभवी लोगों के दिशा निर्देश भी जीवनोपयोगी होते हैं। उपदेश का क्षेत्र तो पूरे जीवन भर के लिये खुला होता है जो चरित्र निर्माण एवं चरित्र विकास में सतत सहायक बनता है। उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान आदि उन सन्त पुरुषों के प्रभावशाली होते हैं जिन्होंने अपने अनुभव से कुशलता, उदारता, त्याग आदि का पाठ पढ़ा है और जो सदाचरण की शिक्षा देते हैं। आत्मिक और आध्यात्मिक विकास के लिये तो उपदेश आदि अमृत के समान होते हैं। उपदेशों से श्रोता का आन्तरिक जागरण होता है जिसके बिना चरित्र निर्माण संभव नहीं। इस जागृति के साथ ही जब स्वाध्याय में प्रवृत्ति होती है तो चिन्तन-मनन का दौर चलता है, जो व्यक्ति को चरित्रनिष्ठ बनाता है। अन्त:करण एवं भावना की प्रबलता के साथ सामूहिक चरित्र विकास की गति तीव्र होती है। परिणामस्वरूप चरित्र जागरण के अभियान आदि में सफलता का वातावरण बनता है। समूह में चरित्र निर्माण का कार्य दोनों पक्ष की दृष्टि से सरल हो जाता है। यह व्यक्तिगत एवं सामूहिक चरित्र निर्माण ही आचरण के प्रगतिशील मानदंड निर्धारित करता है। फिर निर्धारण से धारणा, परम्परा, सभ्यता और संस्कृति का क्रम चल पड़ता है।

चरित्र निर्माण की ऐसी क्रमिकता स्थापित की जानी चाहिए कि पीढ़ियों तक व्यक्तियों की तथा समाज की चरित्र श्रेष्ठता बनी रहे। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि चरित्र निर्माण का प्रभाव गहरा और व्यापक होता है तथा क्रमिकता उसे स्थायी रूप प्रदान करती है। यह अवश्य है कि चरित्र निर्माण की दिशा होनी चाहिए ज्ञान की दृष्टि से भी और आचरण की दृष्टि से भी। अशुभता को त्यागना तथा शुभता को अपनाना ऐसी संकल्पबद्धता के साथ हो कि शुभ निरन्तर शुभतर बनता रहे और यही चरित्र निर्माण की कसौटी होगी। सही चरित्र निर्माण की क्रमिकता से ही ऐसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है जो दीर्घजीवी होते हैं।

परम्परा के प्रवाह में महापुरुषों का योगदान एवं चरित्र बल के चमत्कार :

चारित्रिक परम्परा का प्रगाढ़ प्रवाह बहता है महापुरुषों की चरित्र साधना से। उनकी चरित्र साधना की शक्ति विश्व के कण-कण में व्याप्त हो जाती है और वही शक्ति चरित्र निर्माण की प्रवृत्ति को प्रेरित करती रहती है। व्यक्ति की आन्तरिकता में भी और समूह की हार्दिकता में भी। यह चरित्र

निर्माण की प्रवृत्ति होती है। चरित्र निर्माण की जो सार्वजनिक लौ भगवान् ऋषभदेव ने प्रज्वलित की, उसी लौ को आगे से आगे साधना का तेल मिलता रहा और यों लौ जलती रही कभी तेज तो कभी मंदी। जब-जब लौ मंदी हुई, उसे सम्भाला है किसी न किसी महापुरुष ने। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने जब राक्षसी वृत्ति फैल रही थी उसे रोका और सबको जीवन की श्रेष्ठ मर्यादाओं का भान कराया जिन पर चरित्र निर्माण की प्रक्रिया आधारित थी। राम के बाद कर्मयोगी कृष्ण, अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर, करुणाकरण भगवान् बुद्ध आदि अनेक महापुरुषों ने अपने आदर्श जीवन के माध्यम से चरित्र निर्माण की परम्परा के प्रवाह को हितावह एवं सुखद बनाकर जन जीवन को चरित्र से विभूषित किया। यह प्रवाह कभी भी अवरुद्ध नहीं हुआ। आधुनिक युग में भी महात्मा गांधी ने चरित्र निर्माण को व्यापक आधार पर प्राभाविक बना कर जनता को इस रूप में आन्दोलित किया कि चरित्र निर्माण की परम्परा के प्रवाह में एक नया तेजोमय स्वरूप सामने आया और सारा विश्व प्रभावित हुआ।

परम्परा के प्रवाह के सुपरिणाम भी सदा सामने आते रहे हैं जिन्हें चरित्र बल के चमत्कारों के रूप में देखा जा सकता है। अर्जुन माली तथा अंगुलीमाल के उदाहरण आश्चर्यजनक हैं। यक्ष के वशाधीन अर्जुन माली प्रतिदिन सात-सात हत्याएं कर रहा था और उस कारण पूरे नगर में आतंक छाया हुआ था किन्तु सुदर्शन श्रमणोपासक की प्रेरणा से जब वह भगवान् महावीर की शरण में गया तो उसके जीवन का कायाकल्प ही हो गया। हत्यारा अर्जुन सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों का भी रक्षक और संयम साधक बन गया। भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व का भी डाकू अंगुलीमाल पर ऐसा ही शुभ प्रभाव पड़ा जो प्रतिदिन अपने द्वारा वध किये हुए लोगों की अंगुलियों की माला पहना करता था और तो और भगवान् महावीर के पैरों में दंश देकर भी चंडकौशिक सर्प ने अपनी विषाक्तता इस प्रकार तजी कि वह सबकी क्रूर प्रतिक्रिया को भी शान्ति के साथ सहने के लिये तत्पर बन गया। ये चरित्र प्रभाव की बानगियां हैं। महानता चरित्र प्रभाव की होती है जो एक सामान्य व्यक्ति भी विशेष अवसर पर विशिष्ट सफलता का परिचय देकर प्रकट कर सकता है। पश्चिमी देश का एक उदाहरण है केसाब्लांका का। वह एक किशोरवय का युवक था और अपने माता-पिता का आज्ञाकारी पुत्र। उसके पिता एक जलयान में कप्तान थे, उनका पुत्र भी पिता के साथ जहाज पर काम करता था। एक बार पिता ने उसे एक स्थान पर तैनात किया और आज्ञा दी कि जब तक उसे फिर से आदेश न दिया जाए वह उसी स्थान पर डटा रहे। इस बीच उस जहाज पर आग लग गई और उसके पिता आग बुझाने के कार्य में लग गये और अपने पुत्र की तैनाती को भूल गए। आग फैलती गई और उसने चारों ओर से केसाब्लांका को घेर लिया। वह अपने पिता की आज्ञा के लिये चिल्लाता रहा कि वह आग से बच जाए लेकिन आज्ञा के अभाव में वह वहां से हटा नहीं। फलस्वरूप वह उस आग में जल मरा। उसके इस चारित्रिक गुण की आज तक सराहना की जाती है।

आधुनिक युग की इस घटना को आश्चर्य ही माना गया कि ब्रिटेन के शाही दरबार में जहां निर्धारित पोशाक के बिना कोई आमंत्रित भी नहीं घुस सकता है, वहां महात्मा गांधी जैसे अल्प वस्त्री पुरुष को ससम्मान प्रवेश देना पड़ा। यह गोलमेज सम्मेलन की बात है जो लन्दन में आयोजित हुई थी। यह भी गांधीजी के चरित्र बल का ही चमत्कार था।

चरित्र निर्माण में प्रार्थना की परम्परा का प्रभाव :

चरित्र निर्माण में प्रार्थना का अनुपम महत्त्व माना गया है। प्रार्थना में प्रार्थी यदि भयाक्रान्त रहता है तो उसकी प्रार्थना यथार्थ रूप नहीं लेती है। प्रार्थना में सत्साहस की आवश्यकता होती है और यह सत्साहस कोई भी अपना चरित्र निर्माण करके ही प्राप्त कर सकता है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि ओ अनन्त शक्ति के स्वामी!, तुम्हारी भक्ति में हम इतने शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं कि हमारे मन में कोई भय नहीं रहता। हम इस विजेता की पूजा करते हैं, जो अविजेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल का अभिमत है कि 'अंधविश्वास का मूल कारण भय होता है और यह क्रूरता पैदा करने वाला होता है। इस कारण भय पर विजय पाना चरित्र निर्माण तथा बुद्धि कौशल का प्रारंभ माना जाएगा।' तमिल कवि एवं दार्शनिक सुब्रह्मन्यम् भारती ने कहा है कि 'भय के दैत्य को जिसने परास्त कर दिया है और झूठ के नागराज को मार दिया है, वही वेदों के निर्देशित मार्ग को प्राप्त कर सकता है और ब्रह्म ज्ञान तक पहुंच सकता है।' पैगम्बर खलील जिब्रान का कथन है-'यदि तुम भय को समाप्त करना चाहते हो तो ध्यान कर लेना कि भय का स्थान उसके हाथों में नहीं है जो तुम्हें डराता है बल्कि उसका स्थान तो तुम्हारे अपने दिल में ही होता है।' पश्चिमी साहित्यकार मार्कट्वेन ने बताया है कि 'साहस भय का प्रतिरोधी है, उसका विजेता है, मात्र भय का अभाव नहीं है।' ये कथन इंगित करते हैं कि चरित्र निर्माण के द्वारा भय को समूल नष्ट कर दो और सत्साहस के साथ प्रार्थना में निमग्न होओ ताकि अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये कुछ उल्लेखनीय कर सको।

अणु शस्त्र, आतंकवाद और नाना प्रकार के भय से ग्रस्त आज के इस विश्व में प्रत्येक विवेकवान् की यही आशंका और उत्सुकता है कि यह चरित्रहीनता का पागलपन कब तक चलेगा और हमें पतन के किस छोर तक लुढ़काएगा? आज यह भयाक्रान्तता वास्तविक है। इतना भय व्याप्त है तो चरित्र निर्माण की महत्ती आवश्यकता है और प्रार्थना की परम्परा को व्यापक पैमाने पर पुनर्प्रतिष्ठित करके ही चरित्र का सच्चा विकास साधा जा सकता है। प्रार्थना एक ऐसा माध्यम होता है, जिसे जीवन में रमा कर अमिट प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। यह प्रत्येक युग में सत्य सिद्ध हुआ है कि प्रार्थना से प्राप्त शक्ति विशाल पर्वतों को भी हिला सकती है, परन्तु प्रार्थना की ऐसी एकाग्रता की पूरी साधना के साथ खोज करनी होगी। यह खोज प्राचीन साधकों ने की थी और अपनी प्रार्थना शक्ति का परिचय भी दिया था। बाईबिल में कहा गया है कि 'मनुष्य को सदैव प्रार्थना करते रहना चाहिये।' एक दार्शनिक बेंजामिन फ्रेंकलिन ने तो यहां तक कह दिया कि प्रार्थना इतनी तल्लीनता से करो जैसे कि तुम्हारी मृत्यु कल ही होने वाली है।' योगी अरविन्द के लिये तो प्रार्थना ऐसा उच्च कोटि का कर्त्तव्य है जिसकी शक्ति मनुष्य को अनन्त के साथ संयुक्त कर देती है। परमहंस रामकृष्ण का कथन है कि 'उस परम प्रभु की प्रार्थना तुम किसी भी विधि से करो जो तुम्हें पसन्द हो, क्योंकि यह सुनिश्चित है कि वह तुम्हारी सुनेगा, वह तो एक चिऊंटी के पांव की आवाज भी सुन सकता है।' 'मस्जिद ऊपर मुल्ला पुकार, क्या साहिब तेरा बहरा है, चिऊंटी के पग नैवर बाजे वह भी साहिब सुनता है (संत कबीर)।'

चरित्र निर्माण एवं प्रार्थना की परम्परा की जीवन्तता के लिये इस आस्था में सबको एक हो जाना

चाहिए कि प्रार्थना ही मनुष्य जाति को भय एवं हिंसा के मार्ग से हटा कर पुन: आध्यात्मिक उन्नति, सकारात्मक क्रियाशीलता एवं जीवन के शुभ परिवर्तन अर्थात् चरित्र गठन की दिशा में अग्रगामी बना सकती है। प्रार्थी में पहला गुण होना चाहिए कि वह अत्यन्त विनम्र हो कि अहंकार का लेशमात्र न रहे। वह अपने को एक अकिंचन प्राणी माने और विश्व के सभी प्राणियों की हितकामना करे। दूसरा गुण यह हो कि प्रार्थी सदा जागृत रहे, क्योंकि प्रार्थना से हमारे विचार और आचार निरन्तर शुभता में परिवर्तित होते रहते हैं। प्रार्थना में यह जागरण रहना चाहिए कि मेरी आत्मा में भी सभी परमात्म गुण विद्यमान हैं-आवश्यकता है अपनी चरित्रनिष्ठा से उन्हें प्रकट कर लेने की। तीसरा गुण उदारता का होना चाहिये कि "**आत्मवत् सर्वभूतेषु**"-सभी प्राणियों के साथ अपने को सुखकारी लगे वैसा ही व्यवहार करना। इसमें स्वार्थ का संकोच टूटता जाना चाहिए। चौथा गुण आनन्द की अनुभूति में निहित है। प्रार्थना करते समय तथा परिपक्वता आ जाने पर सर्वदा प्रार्थी के हृदय में आन्तरिक आनन्द का प्रवाह बहता रहना चाहिए। समस्त संसार की आनन्दमयता उसका ध्येय बन जाना चाहिए। पांचवां और अन्तिम गुण यह है कि प्रार्थना से अन्त:करण में दया और करुणा का अनन्त निर्झर प्रस्फुटित होना चाहिए। प्रार्थी समस्त प्राणियों का सच्चा सहयोगी बन कर सेवा हेतु तत्पर रहे। सच्ची प्रार्थना सम्पूर्ण संसार के कल्याण के लिए होती है। प्रार्थना एक ऐसा प्रभावपूर्ण माध्यम है जो पूरी मनुष्य जाति को परस्पर जोड़ती है जहां शक्तिशालियों तथा अशक्तों, अपराधियों और निर्दोषों, शोषकों और शोषितों सबको प्रेमपूर्वक समतामय बनने की सीख देता है। सच्ची प्रार्थना की शक्ति से ही संसार का रूपान्तरण संभव है। प्रार्थना घृणा द्वारा किये गये घावों पर प्यार का मरहम लगा कर स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करती है। प्रार्थना की शक्ति के विषय में मदर टेरेसा ने कहा-'अस्वीकृत की अपेक्षा स्वीकृत प्रार्थनाओं में अधिक अश्रुपात होता है और ये आनन्द के अश्रु होते हैं।' ऐसे ही भाव अरविन्द आश्रम की श्री मां ने भी व्यक्त किये हैं कि प्रार्थना के प्रभाव से शनै: शनै: क्षितिज स्पष्ट होता जाता है, मार्ग साफ दिखाई देने लगता है और हम महान् ने महतर बनने की ओर सधे कदमों से आगे बढ़ते रहते हैं। सार संक्षेप यह है कि चरित्र निर्माण के मार्ग में प्रार्थना की परम्परा वह रामबाण औषधि है जिसके सेवन से आत्मा द्वारा परमात्मा के पद तक लम्बी छलांग लगायी जा सकती है।

चरित्र निर्माण का केन्द्र है मानव और उसे सदा केन्द्र में ही रखना चाहिए :

मानवता अर्थात् यह आपका, हमारा और सबका 'अपनापन' क्या है? यह अपनापन अपना होकर भी आज हमारे पास क्यों नहीं है? कैसे इस अपनेपन को सबके मन में जगावें और कैसे मानव को केन्द्र में स्थापित करें? किन्तु केन्द्र कैसा और किसका? फिर इसमें प्रत्येक मानव का करणीय क्या है? यह सबको विदित है कि मन की विशेषता को धारण करने से ही संसार का यह प्राणी मानव कहलाया है, परन्तु समझें कि उसका यह मन है कैसा? मन है एकदम चंचल उसे खुला छोड़ दें तो उद्दंड और अवश हो जाए लेकिन उसे ही यदि अनुशासित बना ले तो वह सक्षम तथा कर्मठ भी बन जाए। इस तरह मन को एक चपल अश्व मान लो और समझो कि मानव उस अश्व पर सवार है। अगर इस अश्व की लगाम नहीं है तो वह किधर भी भागे-राह पर या बीहड़ वन में-उसे रोका नहीं जा सकता। घोड़ा सवार को न गिरा दें-इसकी भी कोई गारंटी नहीं। लेकिन अगर उसके मजबूत

लगाम लगी हो और मजबूत हाथों में उसकी पकड़ हो तो न घोड़ा भटकेगा और न सवार गिरेगा। फिर सीधी राह पर सीधी यात्रा हो सकेगी ठेठ मंजिल तक।

आशय यह कि मन ही मनुष्य को बांधता है या बन्धन से छुड़ाता है अपनी अवस्थिति के अनुसार। मन चंचल है यानी गतिशील है सो वह तो ऐसा ही रहेगा बल्कि ऐसा ही रखा जाना चाहिए। चंचलता का निरोध करो तो वह मर जाएगा। पातंजलि ने अपने योगसूत्र में कहा है कि चित्त वृत्तियों के निरोध का नाम योग है (**चित्तवृत्तिश्चम् निरोधः योगः**), किन्तु स्व. आचार्य नानेश ने योग की मार्मिक व्याख्या की है और वह यह कि योग के लिये चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं, संशोधन किया जाना चाहिये (**चित्तवृत्तिश्च संशोधः योगः**)। वास्तव में मन की चंचलता यानी कि गतिशीलता का निरोध नहीं, संशोधन ही अपेक्षित है। इस चंचलता को अनुशासित करो आत्मबल के साथ और मन को सुनियोजन एवं प्रयोजन के लक्ष्य से सफलता के मार्ग पर तीव्र गति से दौड़ाओ। यह है मानव की मूल बात-उसके मन की ऊर्जा की बात। अब देखें कि मानवता क्या है, जो मानव होकर भी मानवों में दुर्लभ होती जा रही है?

मानव का अपनापन उसका मूल स्वभाव है और यह उसकी सक्रिय अभिव्यक्ति भी होती है। यह मूल स्वभाव ही मानवता के नाम से पहचाना जाता है। आज जो कहा जाता है कि मानवता का अभाव सा है अथवा मानवता के मूल्य लुप्त हो रहे हैं-उसका क्या अर्थ लिया जाय? मानवता न रहेगी तो फिर मानव ही कहां बचेगा? किन्तु स्थूल रूप से मानव है तो सही-कम से कम अपने शरीर से, पर यदि सूक्ष्म रूप से उसमें मानवता का भाव नहीं हुआ तो यह कहना और मानना सही है कि यथार्थ मानव को खोजने अथवा मानवों में उनकी यथार्थता जगाने का ही तो प्रश्न सम्मुख है।

यह स्थापित सत्य है कि मानव ही सम्पूर्ण प्रगति का मूल है और इसी दृष्टि से संसार की सारी गतिविधियों का केन्द्र भी। अतः उसका मूल स्वभाव है-सम्पूर्ण संसार की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर गति करना, सहभाव और सहकार से प्रगति करना तथा स्वहित से भी ऊपर परहित करके प्रसन्न होना। ऐसे ही होते हैं मानवता के मूल मूल्य, जो शताब्दियों से संस्कारित होकर परम्पराओं में ढलते, सभ्यता एवं संस्कृति में रचते-बसते तथा आने वाली पीढ़ियों के चरित्र निर्माण को प्रभावित करते आये हैं। इसी रूप में सदा जीवित रहती है मानवता और प्राभाविक रहते हैं उसके मार्मिक मूल्य। यह सही है कि कई कारणों से सभी मानव एक सी योग्यता नही रखते यानी कि आचरण में एक से नहीं ढलते। अधिकांश लोग अपना मूल स्वभाव छोड़ कर ओछे स्वार्थों में पड़ते हैं, अपने ही साथियों को उत्पीड़ित करते हैं और हृदयहीन क्रूरता को धारण करके राक्षस रूप हो जाते हैं। यह उन के चरित्र पतन का अतिरेक होता है। तभी मानवता के लोप होने की परिस्थितियां पैदा होती हैं। वर्तमान समय में बहुत कुछ ऐसा ही है और इन्हीं को यथार्थ मानव बनाने की समस्या है-उनके चरित्र निर्माण एवं विकास की समस्या है।

इसी परिप्रेक्ष्य में कहा जाता है कि अब मानव को केन्द्र में स्थापित करो-सारे संसार के केन्द्र में, राज-समाज के संचालन के केन्द्र में और उन्नति के सकल-एकल प्रयासों के केन्द्र में। मानवता को केन्द्र में रखने की बात का अर्थ यह है कि केन्द्र में मानव का सूक्ष्म शरीर हो, कोरा स्थूल शरीर नहीं।

निष्कर्ष है कि केन्द्र में यथार्थ मानव ही रहे-चरित्रनिष्ठ तथा चरित्र सम्पन्न मानव। चरित्र निर्माण या दूसरे शब्दों में मानवता को सर्वत्र प्रभावी बनाने के लिये तीन चरणीय नई व्यवस्था स्थापित करनी होगी-

(1) नई व्यवस्था जो बनानी है वह मानवता की होनी चाहिए-मानवीय मूल्यों की होनी चाहिए न कि धन, सत्ता, या अन्य किसी स्थूल जड़ शक्ति की।

(2) नई व्यवस्था का उद्देश्य मानवता का उन्नयन हो और मानवता या चरित्र विकास के लिये ही सारी गतिविधियां चलें। मूल में मानवता को जगावें तथा उसे स्थिर करें-सारे व्यवहारों का चलन इसी धरातल पर हो।

(3) मानवता का विकास और प्रसार मुख्य रूप से मानवता के द्वारा हो यानी कि उन जागृत युवक, युवतियों तथा युवा शक्तियों के प्रतिनिधियों द्वारा, जो स्वयं मानवता का पाठ भली प्रकार पढ़ लेंगे और फिर सबको वह पाठ पढ़ायेंगे। यही आज का सबसे बड़ा करणीय है।

पहले यथार्थ मानव स्वरूप को समझना होगा, अपने भीतर से समाज में नई व्यवस्था का संचालन करना होगा। यह सब साथ-साथ चलेगा। ध्यान में लेने योग्य तथ्य है कि मानव अकेला नहीं रहता है, समूह में रहता है और समाज में रहता है, बल्कि हकीकत तो यह है कि आज सामाजिकता की शक्ति (परिवार से लेकर-देश दुनिया तक) व्यक्ति को संचालित कर रही है सर्वजनहित और सम्पूर्ण विकास के उद्देश्य से। समाज के विभिन्न घटकों के संबंधों से मानव विलग नहीं हो सकता है। इसका कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति के साथ-साथ सामुदायिक शक्ति को भी जगाना होगा-सर्वत्र मानवता को जगाने के लिये और व्यक्तिवादी उद्दंडता व उच्छृंखलता को मिटाने के लिये। साथ ही मानवता को केन्द्र में रखना कभी-भी भूलना नहीं होगा क्योंकि सबके बीच से जब भी मानवता के मूल्य घटे या मिटे तो स्वार्थ के दैत्य को पुनः आने से रोकना कठिन होना। अतः चरित्र निर्माण के अभियान में इन सभी तत्त्वों को स्मरण में रखना चाहिये ताकि चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में मानवता का जागरण हो तथा चरित्र विकास के क्रम में मानवता के मूल्यों की स्थाई स्थापना हो।

चरित्र निर्माण का एवं उसका फलितार्थ सैद्धान्तिक पक्ष :

व्यक्ति या समूह द्वारा सम्पादित होने वाला कोई भी कार्य, आयोजन आदि हो, उसका एक सैद्धान्तिक पक्ष अवश्य होना चाहिए तथा वह स्पष्ट और मान्य होना चाहिए, तभी कार्यसिद्धि की आशा की जानी चाहिए। मनुष्य का छोटे से छोटा कार्य हो या बड़े से बड़ा कार्य उसका स्पष्ट-अस्पष्ट कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। जहां प्रयोजन की स्पष्टता आवश्यक है वहीं उसके कारण व परिणाम की भी जानकारी होनी चाहिए तभी कार्य को सम्पन्न करने में आवश्यक उत्साह एवं सक्रियता बनी रहती है। समझें कि आप प्रवचन सुनने आए और आपने एक या अधिक सामायिक का प्रत्याख्यान भी किया तो आपका यह एक धार्मिक कार्य हुआ। यह क्यों किया और इसके करने का लाभ क्या-जब तक इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होगा तो प्रवचन में आना और सामायिक लेना एक अनबूझे व अंधे रिवाज जैसा ही हो जाएगा। उसके वांछित लाभ के होने की सारी संभावना

समाप्त हो जाती है। इस दृष्टि से सैद्धान्तिक पक्ष का आधारगत महत्त्व माना जाना चाहिए।

चरित्र निर्माण एक व्यक्ति के लिये करणीय कार्य है तो समूह (समाज, देश, दुनिया) के लिये अभियान भी हो सकता है या घने प्रचार के नजरिये से जन-जन का आन्दोलन भी हो सकता है, उसका स्पष्ट तथा मान्य सैद्धान्तिक पक्ष अवश्य है और प्राथमिक रूप से उसकी जानकारी चरित्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ होने के साथ ही ले लेनी जरूरी है। इस सिद्धान्त पक्ष को दो कोणों से समझा जाना चाहिये। पहला है कि चरित्र निर्माण की आवश्यकता क्यों है, उस की जीवन निर्माण के संबंध में महत्ता कैसी है और क्या कारण होते हैं जो निर्मित चरित्रशीलता को विकृत बनाते हैं तथा चरित्र को हीनता तक पहुंचा देते हैं? इसे कारणों की समीक्षा और वर्तमान की लक्ष्य धारणा के रूप में देख सकते हैं। ऐसा करने पर अपनी जमीन की पक्की जानकारी हो जाएगी कि अभियान कैसे धरातल पर खड़ा किया जा रहा है तथा उसकी प्रक्रिया के प्रभावशाली होने की संभावना कैसी है? सैद्धान्तिक पक्ष का दूसरा कोण है अभियान का फलितार्थ अर्थात् उसका परिणाम। कारण और परिणाम का ज्ञान जितना परिपक्व होगा उतनी ही परिपक्वता से दोनों के बीच की प्रक्रिया चलेगी और उतनी ही मात्रा में सफलता हाथ लग सकेगी।

अब चरित्र निर्माण के सैद्धान्तिक पक्ष की स्पष्ट चर्चा कर लें। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि चरित्र निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलनी चाहिए और सतत रूप से चलनी चाहिए। इसके लिये विशिष्ट अवसर भी होते हैं तब विशिष्ट अभियान चलाने के प्रश्न भी सामने आते हैं। जब कभी व्यक्ति और समूह के चरित्र में पतन का दौरदौरा गंभीर रूप ले लेता है और मानवीय मूल्यों का चिन्तनीय रूप से क्षरण होने लगता है तब चरित्र निर्माण के अभियानों में विशेष उत्साह तथा सक्रियता की जरूरत होती है और वैसे अभियान भी विशेष तैयारी के साथ चलाए जाने होते हैं। वर्तमान समय कुछ ऐसा ही है जब विशेष अभियान विशेष संगठन के साथ चलाए जाने अनिवार्य हो गये हैं और इस दृष्टि से इनका सैद्धान्तिक पक्ष भी भली-भांति समझ लिया जाना चाहिये, ताकि धरातल, मार्ग और मंजिल की साफ जानकारी हो जाए। इस सैद्धान्तिक पक्ष का त्रिकाल विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है। आज के चरित्र निर्माण का अतीत है, स्थान-स्थान और क्षेत्र-क्षेत्र में चरित्रहीनता का फैलाव, जिसके कारण सत्ता सम्पत्ति के स्वार्थ, सामाजिक विषमताओं आदि से जुड़े हुए हैं। इसका वर्तमान यह है कि ऐसी जीवनशैली की रचना की जाए जो चरित्र विकास को प्रोत्साहित करे। इसका भविष्य है पूर्ण स्वतंत्र, सहकारी तथा समतामय समाज का सर्जन जो सत्याधारित हो। संक्षेप में कहें तो आज के अभियान के तीन चरण हो सकते हैं जो साथ-साथ उठेंगे तथा अपने-अपने स्तर से शुभ परिवर्तन का चक्र घुमाएंगे-

(1) चरित्रहीनता का उन्मूलन,
(2) अहिंसक जीवनशैली का निर्माण तथा
(3) सत्य से साक्षात्कार।

अहिंसक जीवनशैली के प्रारंभ के साथ ही निजी व सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टता की समाप्ति होने लगेगी, स्वार्थों का दायरा संकुचित किया जाएगा, सहकारिता के क्षेत्र बढ़ेंगे पारस्परिक

सहयोग का भाव प्रबल बनेगा और समाज में एकता, प्रेम तथा समता के सूत्र सुदृढ़ होंगे। परिणामस्वरूप चरित्रहीनता का वातावरण लुप्त होने लगेगा और चरित्र निर्माण की नई-नई संभावनाओं के द्वार खुलेंगे। सत्य के साक्षात्कार का लक्ष्य साफ होगा तो वर्तमान की गतिविधियों में सर्वत्र सत्य की शोध की वृत्ति रहेगी और आचरण सत्याधारित बनेगा और फलितार्थ की बात करें तो वह इन रूपों में प्रस्फुटित होगा-नैतिकता का प्रसार, आध्यात्मिकता की अनुभूति, विश्वात्मकता का भाव, सम्पूर्ण मानव जाति की एकता तथा समग्र प्राणियों व एकल विश्व के कल्याण के प्रयत्न। ये फलितार्थ चरित्र विकास को उसकी सर्वोच्चता के शिखर तक पहुंचाएंगे। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में विवेक के मूल महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मुनि संतबाल जी कहते हैं-"जागृति आने का अर्थ होता है विवेक बुद्धि की प्राप्ति। बुद्धि तो मानव मात्र में होती है किन्तु जब तक बुद्धि का अन्तःकरण के साथ संबंध नहीं जुड़ता तब तक वह केवल विकल्पात्मक होती है, निर्णयात्मक नहीं और निर्णयात्मक बुद्धि के बिना प्रगति की दिशा स्पष्ट नहीं होती। सत्यासत्य का निर्णय चरित्र विकास के बाद ही संभव है, लेकिन निर्णयात्मक बुद्धि का पनपना पहले जरूरी है और यही विवेक बुद्धि है। विवेक बुद्धि जागी, ध्येय स्पष्ट हुआ तभी समझें कि पुरुषार्थ सधता है। यह पुरुषार्थ होता है आचरण विकास का। आचरण विकास के आधार हैं-1. शास्त्र (आत्मिक) दृष्टि, 2. महापुरुषों के कथन तथा 3. विवेक बुद्धि का उपयोग-प्रयोग। इन कसौटियों से साधक को गुजरना होता है। तब अपनी ही भूमिका पर अपने ही चरित्र एवं आचरण के विकास को सम्पन्न बनाते हुए साधक सुयोग्य सिद्ध होता है (श्री आचारांग सूत्र नो संक्षेप-गुजराती-भाग 4 पृष्ठ 28-29)।"

चरित्र निर्माण का प्रवाह बाधित हो सकता है, अवरुद्ध कदापि नहीं :

यह सनातन सत्य है कि चरित्र निर्माण का प्रवाह किसी भी युग में कभी-भी न अवरुद्ध हुआ है, न आज अवरुद्ध है और न कभी भविष्य में भी अवरुद्ध होगा। प्रवाह सतत चलता रहा है, क्षीण दशा में ही सही आज भी चल रहा है और चरित्रशील महापुरुषों की प्रेरणा से निकट तथा सुदूर भविष्य में भी शुभ-सत्वर गति से चलता रहेगा जो शुभाकांक्षियों को शुभता के पथ पर बढ़ते रहने को अनुप्राणित करेगा। यह दूसरी बात है कि शुभता की शक्तियों की दुर्बलता से और अशुभता की काली ताकतों के जोर पकड़ने से इस प्रवाह में बाधाएं आती रही हैं और आज तो ये बाधाएं चुनौती भरी है। किन्तु इन बाधाओं पर विजय पाने का संकल्प सर्वोपरि रहना चाहिए और ठोस प्रयत्नों से चरित्र निर्माण एवं विकास के पारम्परिक प्रवाह को वेगपूर्ण बनाया जाना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा में जब परमात्मा बनने की शक्ति समाई हुई है तो हम क्यों समझते हैं कि किसी भी महत्तर कार्य के लिये हम अक्षम और असमर्थ हैं। अपनी क्षमता तथा समर्थता के आह्वान की आज उपयुक्त वेला है।

◆◆◆

विभिन्न धर्मग्रंथों, वादों - विचारों में चरित्र निर्माण की अवधारणाएँ

15



विभिन्न धर्मग्रंथों, वादों-विचारों में चरित्र निर्माण की अवधारणाएँ

साहित्य में समाया विश्व का संरक्षण व संवर्धन

दो भाई थे। एक रंगरैलियों में मस्त रहने वाला भोगी, जो वेश्याओं के कोठों पर जाता, उन के सुरीले गाने सुनता, थिरकते हुए नाच देखता और मस्ती मार कर घर लौटता। दूसरा भाई त्यागी, जो नित्य संतों के प्रवचन में जाता, धार्मिक क्रियाएं करता और सन्त दर्शन व संत सेवा करके प्रसन्न होता। यों ये दो भाई हुए भोगी और त्यागी। प्रतिदिन दोनों घर से साथ-साथ ही निकलते और अपने-अपने ठिकाने पर पहुंच जाते।

दोनों भाइयों के लिये एक दिन अति विचित्र बन कर आया। सदा की भांति दोनों अपने-अपने ठिकाने पर पहुंच गये और कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। क्या संयोग मिला कि एक साथ दोनों के आन्तरिक भावों में उथल-पुथल मच गई। भावनाओं का ऐसा तूफान उनके मन-मानस में उठा कि उनका बाह्य तो बाह्य ही रहा, किन्तु आन्तरिकता पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व होने लगी। जो उन दोनों ने कभी सोचा भी नहीं होगा, वैसे परिवर्तन से दोनों के अन्त:करण आन्दोलित हो उठे और अन्ततः वह परिवर्तन अपने अन्तिम छोर तक पहुंच भी गया।

बड़ा भाई पहुंचा था वेश्या के कोठे पर, हमेशा की

तरह गाना और नाच चला रहा था, लेकिन आज के नाच-गाने ने उसके मन को तनिक भी आकर्षित नहीं किया। नाच-गाने के रंगारंग में हमेशा से कोई कमी नहीं थी, पर बड़े भाई का तो मन ही बदलता जा रहा था। उसने गाने वाली और नाचने वाली की सुन्दर मुखाकृति की तरफ आंख भी नहीं उठाई तो दाद देने का मौका ही नहीं आया, और न ही रुपये लुटाने का। उसका शरीर जरूर रोज वाले गादी तकियों पर बैठा हुआ था, पर उसका मन तो चिन्तन की गहराई में डूबता जा रहा था। उस की भावधारा चल रही थी-कितना नीच और अधम हूँ मैं? अनमोल जीवन को वासनाओं के दलदल में फंसा कर नष्ट कर रहा हूँ। जब मृत्युकाल आएगा तब कैसा होगा मेरा लाभ-हानि का तलपट? पास की सारी पूंजी गंवा कर कोरा कंगाल नहीं रह जाऊंगा मैं? अभी तो समय है-मुझे चेत जाना चाहिए-चाहिए क्या, बस मैं चेत ही जाऊं अभी इसी क्षण और पश्चात्ताप करूं अपनी भोगवादी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों पर और तत्काल अपने अन्तःकरण के सारे मैल को धो लूं और उसे सजालूं चरित्रनिष्ठा की धवल उज्ज्वलता से, आत्मानुशासन के आवेग से और संयम की साधना से...। उसकी आत्मा चरित्रहीनता से चरित्रशीलता की ओर, असदाचार से सदाचार की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर भागी जा रही थी, अपूर्व उमंग और उत्साह के साथ।

दूसरी ओर संत जन के प्रवचन में बैठा छोटा भाई भी आन्तरिक भावों के अलग प्रकार के तूफान में बुरी तरह फंसता जा रहा था। प्रवचन चल रहा था परन्तु संतों के श्री मुख से प्रवाहित हो रही पवित्र वाणी का एक भी शब्द उसके कान ग्रहण नहीं कर रहे थे। उसकी आंखों के सामने संत विराजमान थे, पर वे उनको देख ही नहीं रही थीं। उसका मन-मानस उलझ रहा था एक अजीब से बदलाव के जाल में। उसका बाह्य शरीर अवश्य धर्म स्थान में बैठा था परन्तु उसकी आन्तरिकता बदलाव के उस जाल में इतनी तेजी से अधिकाधिक उलझती जा रही थी जैसे कि शायद ही उस जाल से कभी उसका छुटकारा हो। वह पागल बना सा सोच रहा था-मेरा बड़ा भाई कितना खुशकिस्मत है जो जिन्दगी के मजे लूट रहा है और मैं परम मूर्ख ही साबित हुआ हूँ। क्या पाया है आज तक इन उबाऊ प्रवचनों को सुन कर यानी कि तथाकथित सन्तों की सेवा करके? अपने यौवन के अमूल्य क्षणों को मैं बराबर खो रहा हूँ-क्या मेरी जवानी फिर से लौट सकेगी? अब तो संभल ही जाऊँ-बाकी बची जवानी का भरपूर मजा ले लूं। यहां से उठते ही सीधा उसी वेश्या के कोठे पर जाऊँगा, जहां बड़े भाई जाते हैं और मैं भी उनके साथ अपनी जिन्दगी को रंगरेलियों में सरोबार कर दूंगा...वह शरीर से कहाँ था और मन से कहाँ जा पहुंचा और क्या-क्या भोग भोगने लगा?

कैसी विडम्बना घटित हो रही थी कि भोगी भाई सम्पूर्ण रूप से त्यागी हो रहा था वेश्या के कोठे पर और त्यागी भाई सुरा-सुन्दरी के मोह में गहरा धंसता जा रहा था प्रवचन में बैठा हुआ। कोई भी आश्चर्य में डूबे बिना नहीं रह सकता कि बाह्य वैसा का वैसा लेकिन अन्तर में हो गया मामूली बदलाव नहीं बल्कि आमूलचूल परिवर्तन। भीतर ही भीतर भाव युद्ध चलता रहा और दोनों के विपरीत परिणाम पैदा हुए। भाव युद्ध का विरोधाभास भाव प्रवाह के कैसे स्वरूप की ओर संकेत करता है? यह सब विश्लेषण के योग्य है।

भावों के प्रवाह का अतुलनीय महत्त्व होता है जो वर्षों का काम पलों में पूरा कर देता है, चाहे वह

पतन से उत्थान की तरह बहा हो अथवा उत्थान से पतन की ओर। जिस परिवर्तन को लाने में बाह्य प्रवृत्तियों को लम्बा समय लग जाता है, वही परिवर्तन भाव प्रवाह यदि आन्तरिकता में प्रबलता से बहे तो कुछ ही क्षणों में आ जाता है। अब प्रश्न उठता है उत्कृष्टता और निकृष्टता का और यहीं पर प्रश्न आता है मानव के मन का तथा उसके चरित्रगठन का। चरित्र सधा हुआ है तो उसके द्वारा मानव उस प्रबल भाव धारा को असद् से सद् और अशुभ से शुभ की ओर मोड़ लेगा तथा उन्नति की ऊँचाइयां देखते-देखते प्राप्त कर लेगा। किन्तु वैसी प्रबल भाव धारा जो चरित्रहीन के मन में बही तो वही उसे पतन के गहरे गर्त में गिरा देगी। इसमें मुख्य है चरित्र निर्माण की बात, जो पहले अन्तःकरण को बदलता है, फिर बाह्य उसके अनुरूप ढलता है। तत्पश्चात् चरित्र विकास के क्रम में चरित्रगठन दृढ़तर होता जाता है और पतन की सारी संभावनाओं को समाप्त कर देता है। इस कारण सिर्फ बाहर को देखकर निर्णय निकाल लेना सही नहीं होता, बल्कि शुद्ध आन्तरिकता भी यदि सुदृढ़ चरित्र से कसी नहीं गई है तो वह भी पतन की ओर जा सकती है। चरित्र निर्माण ही वह कसौटी है जिस पर मानव के बाह्य और अन्तर की शुभता या अशुभता की परख की जा सकती है तथा तदनुसार चरित्रगठन एवं विकास का सही निर्धारण किया जा सकता है। विभिन्न धर्मग्रंथों या वादों-विचारों में चरित्र निर्माण के लक्ष्य पर सहमति हो सकती है लेकिन आचरण विधियों की सार्थकता के अनुसार ही लक्ष्य सिद्धि प्राप्त होती है।

मनुष्य जाति की एकता पर स्थित है चरित्र निर्माण की मूल अवधारणा :

जब महावीर ने यह घोषणा कि की सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक (एकरूप) है (**एगा मणुस्स जाई**-आचारांग निर्युक्ति, गाथा-19), तब व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही चारों ओर छाया हुआ था-सामाजिकता की कल्पना भी बहुत दूर थी। उक्त घोषणा से पहली बार इस विचार को जन्म मिला कि एक मनुष्य और पूरी मनुष्य जाति की शक्तियों के बीच अन्तर आंकना चाहिए और यह परखना चाहिए कि सामाजिकता से विश्व को किस प्रकार लाभान्वित किया जा सकता है। यह एक प्रकार से सामाजिकता को प्रोत्साहित करने का संकेत था कि पूरी मनुष्य जाति की एकता का अर्थ है सम्पूर्ण संसार की एकता। इसके साथ ही उपजा चरित्र निर्माण का विचार क्योंकि अधिकतम सम्पर्क की स्थिति में व्यक्ति तथा समूह का व्यवहार शुभ, शुद्ध और सहयोगी होना चाहिए और ऐसे व्यवहार को स्थाई रूप से विकसित बनाये रखने के लिये आवश्यक माना गया कि सब ओर चारित्रिक गुणों के आचरण को पुष्ट बनाया जाए। कम सम्पर्क की अवस्था में अथवा सम्पर्क के अभाव में चरित्र गठन की महत्ता उतनी स्पष्ट नहीं होती, जितनी विश्व स्तर के सम्पर्क की दशा में। व्यापक सम्पर्क एवं उन्हें मधुर बनाये रखने के लिये तो चरित्र निर्माण अनिवार्य है बल्कि वह सम्पर्क सबके लिये हितैषिता, सत्कारिता एवं समता का वाहक बने, उस उद्देश्य के लिये तो चरित्र का श्रेष्ठतम विकास भी अपेक्षित होता है।

मनुष्य जाति की एकता के संदर्भ में ही यह कहा गया कि चरित्र का प्रथम एवं अन्तिम लक्ष्य समभाव ही होना चाहिए (**चारित्रं समभावो**-पंचास्तिकाय 107), जो संसार को स्नेह के सूत्र में बांधे रख सके। जितने चारित्रिक गुण हैं और उनका जो उच्चतम विकास हुआ है, उसके पीछे '**वसुधैव**

कुटुम्बकम्' का उदार भाव ही रहा हुआ है, क्योंकि यह भाव हार्दिक उदारता का अन्यतम लक्ष्य है। आप अपने आप को गौण रखो और पारिवारिक हित को ऊपर रखो तो वैसा व्यवहार सराहनीय माना जाता है। उसी प्रकार सामाजिक हित को वरीयता दी जाए, उससे भी ऊपर राष्ट्रीयता की विशालता अपनाई जाए तथा सर्वोपरि समस्त मनुष्य जाति को आत्मीयता की भावना से विभूषित किया जाए तो उस सराहना की क्या कोई सीमा हो सकती है? संकुचित दायरों में न बंधते हुए अधिक से अधिक बड़े दायरों में अपने व्यक्तित्व को प्रसारित करना तथा संसार के समस्त प्राणियों में वैरभाव को त्याग कर अपनी मैत्री का आरोपण करना (**मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ**) चरित्र विकास का सर्वोच्च बिन्दु बन जाता है और वही समभाव के रूप में व्यक्त होता है। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि **'यह मेरा है और यह तेरा है'**-ऐसा मानना छोटे या ओछे दिल वालों का होता है-उदार चरित्र वाले तो सदा पूरी पृथ्वी को एक परिवार और अपना परिवार मान कर ही चलते हैं। विश्व एकता तथा चरित्र श्रेष्ठता-दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि चरित्र की मूल अवधारणा ही मनुष्य जाति की एकता पर स्थित है। चरित्र का श्रेष्ठतम विकास होगा तभी विश्वात्मकता का भाव भी सफल बनेगा। विश्वात्मकता अथवा एक मनुष्य जाति का भाव तभी विकास पा सकता है जब इस बीच में आने वाले छोटे और बड़े सभी भेदभावों को भुलाया जाए तथा संकुचित दायरों को तोड़कर एकरूपता को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाए। सच यह है कि सभी दायरे अपने-अपने स्थान तक सीमित रखे जाए तो उनसे हित ही सधेगा-किसी का अहित नहीं होगा। वे अहितकारी और विनाशकारी तब तक होते हैं जब उस दायरे को ही पूरा दायरा मान कर उसके साथ अपनी कट्टरता का हठ सख्ती से बांध दिया जाता है। परिवार का दायरा अच्छा है-छोटा घटक है जो संयुक्त रह कर सभी सदस्यों का हित साधता है लेकिन कोई कट्टर बन जाए कि उसका परिवार ही ऊंचा और अच्छा है, इस कारण अन्य परिवारों के साथ समान संबंध बनाना अपमानजनक है तो वह कट्टरता परिवार और समाज के लिये घातक बन जाती है। ऐसा ही हाल सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा, प्रदेश या जाति आदि की कट्टरता का भी होता है। अभी जो राष्ट्रभक्ति के नाम से उत्तेजना फैलाई जाती है कि हमारा राष्ट्र ही गौरवमय है और अन्य राष्ट्र उसके समकक्ष नहीं अथवा अन्य राष्ट्रों के साथ भेदभाव आवश्यक है तो यह कट्टरता भी अन्य प्रकार की कट्टरताओं के समान ही जघन्य है। चूंकि अभी तक विश्वात्मकता के भाव का समुचित विकास नहीं हुआ है अत: राष्ट्रवाद को अति महत्त्व दिया जाता है-यह जान कर भी कि इस अतिरेक ने कई अधिनायकों को जन्म दिया तथा नाजीवाद, फासीवाद जैसे मानवता विरोधी तंत्रों का शासन चला। अब समय आ गया है कि प्रदेशवाद की तरह राष्ट्रवाद को भी उचित स्थान दिया जाए और मानववाद की आत्मीयता सब में विकसित की जाए। मानव जाति की एकता की भावना के साथ मानव चरित्र का जो दिव्य स्वरूप उभर कर आएगा, वह एक ओर मानवीय व्यक्तित्व का उदारीकरण करेगा तो दूसरी ओर, सांसारिक सामाजिकता को समता सूत्र से आबद्ध कर देगा।

धर्म और समाज की परस्परता तथा चरित्र गठन पर बल :

विश्व की सामाजिकता के संरक्षण तथा संवर्धन के लिये ही मानव में कर्त्तव्य बुद्धि एवं कर्त्तव्य

भावना दोनों का उत्तम विकास अपेक्षित है तथा इस विकास का प्रायोजक एवं साधक है धर्म। यह किसी नामचीन धर्म की बात नहीं है-यहां धर्म प्रधान रूप से कर्त्तव्यों का पुंज है। धर्म के प्रसार तथा विस्तार का आधार होता है चरित्र, जिसके गुण एक ओर धर्म को धृतियोग्य बनाते हैं तो दूसरी ओर मानव को पूरी मानव जाति के प्रति उत्तरदायी। जहां तक समाज का प्रश्न है इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण मानव समाज के लिये किया जाना चाहिए। यों धर्म और समाज परस्पर जुड़ते हैं-मानव व्यक्तित्व से तथा मानवीय मूल्यों से-जिनका जनक होता है मानवीय चरित्र। समझिए कि एक मानव हो अथवा सम्पूर्ण मानव जाति-इसके उच्चतम विकास की नींव का पत्थर है-मानव का चरित्र। इससे चरित्र निर्माण की अनिवार्यता समझी जा सकती है। यही कारण है कि सभी क्षेत्रों में चरित्रगठन पर सर्वाधिक बल दिया जाता है।

परिवर्तनशील परिस्थितियां सदैव मानव समाज के लिये चुनौती के रूप में सामने आती हैं और उनका सामना करने के लिये जो प्रयत्न किये जाते हैं तथा कष्ट उठाये जाते हैं, उनसे सभ्यताओं का जन्म एवं विकास होता है। प्राणी द्वारा अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के अनवरत प्रयत्न का नाम है जीवन। अनुरूप ढाल लेने से प्रगति होती है और न ढाल पाने पर विनाश। प्रगति या उन्नति को भौतिक या तकनिकी दृष्टि से नहीं नापा जा सकता है। यह अंकन आत्मा के संसार में सृजनात्मक प्रयत्नों की दृष्टि से ही होता है। इन्हें सृजनात्मक प्रयत्न कह सकते हैं-आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आदर, सत्य एवं सौन्दर्य के प्रति प्रेम, धर्म परायणता, न्याय, दया, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व में विकास। इन गुणों के पुंज को चाहे चरित्र कहिए या धर्म-एक ही बात है, बल्कि आज इन्हीं गुणों को व्यापक रूप से सम्पादित करके अपनी गौरवशाली सभ्यता तथा संस्कृति को आधुनिक सभ्यता के साथ रूपान्तरित करके संरक्षित बना सकते हैं।

प्रत्येक सभ्यता किसी न किसी धर्म की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि धर्म मानवता के परम मूल्यों में विश्वास तथा उन मूल्यों को उपलब्ध कराने के लिये जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है। यदि हमें यह विश्वास न हो कि वे मूल्य जो किसी सभ्यता में निहित हैं-परम हैं तो उस सभ्यता के नियम निर्जीव अक्षर बन जाएंगे और उस की संस्थाएं नष्ट हो जाएगी। धार्मिक विश्वास हमारे मन में किसी जीवन पद्धति पर डटे रहने के लिये उत्साह भरता है और यदि उस विश्वास का ह्रास होने लग जाए तो धर्म के प्रति आज्ञापालन घट कर मात्र आदर रह जाता है। इसी कारण जो आगमोक्ति है **'आणाए धम्मो'** अथवा आज्ञा में धर्म है के प्रति बाद में आदर भी समाप्त हो जाता है।

निर्मूल धर्म निरपेक्षता अथवा मनुष्य और राज्य की पूजा जिसमें धार्मिक भावना का हल्का सा पुट दे दिया गया है, आधुनिक युग का धर्म है। धर्म का आधार मानव के सारभूत मूल्य तथा गौरव का उद्‌घाटन और वास्तविकता के उच्चतर संसार के साथ मानव का संबंध है। इसे धर्म विज्ञान (थियोलोजी) कहना उचित नहीं, बल्कि इसे धर्म का व्यवहार एवं अनुशासन कहना होगा। धर्म आत्मा की पीड़ा को दूर करने वाली एक मात्र औषधि है। जब मानव धर्म के स्रोतों और शर्तों की अवज्ञा करता है तब वह उन्मत्त, आत्मघाती तथा चरित्रहीन हो जाता है। मानव और समाज के बीच लुप्त हो गए संबंध को पुनः स्थापित करना ही धर्म का लक्ष्य होना चाहिए। सच पूछें तो धर्म का सार

उन धर्म सिद्धान्तों, धार्मिक मतों, विधियों और संस्कारों में नहीं है जिनसे हम में से अनेकों को विरक्ति होती है, अपितु युगों की गंभीरतम बुद्धिमत्ता में, अनवरत तत्त्वज्ञान में, सनातन मूल्यों में धर्म का सार है, जो आधुनिक विचार की किंकर्तव्यविमूढ़ता और आधुनिक अस्तव्यस्तता में हमारा एकमात्र पथ प्रदर्शक है। विभिन्न धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि सत्य के उन विभिन्न पक्षों और धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें कि लोग विश्वास कर रहे हैं। यही कारण है कि चरित्र निर्माण के संबंध में सभी धर्मों की सहमति होने के उपरान्त भी चरित्र निर्माण एवं विकास की उनकी प्रक्रियाओं में एकरूपता नहीं है। अत: चरित्र निर्माण की रूपरेखा को सर्वसम्मत बनाने का यत्न किया जाना चाहिये। धर्म और समाज की परस्परता का निर्वाह सम्यक् चरित्र के आधार पर ही संभव है।

विभिन्न धर्म ग्रंथों में वर्णित है उत्कृष्ट चारित्रिक गुण :

इसे भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्परा का प्रभाव कहिए कि प्रत्येक पौर्वात्य धर्म के ग्रंथों में चारित्रिक गुणों का विशद् वर्णन ही नहीं मिलता है, बल्कि सब धर्मों ने चरित्र निर्माण को प्राथमिकता भी दी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पाश्चात्य अथवा अन्य धर्म ग्रंथों में चरित्र निर्माण को प्रमुखता नहीं दी गई है। सभी धर्मों तथा दर्शनों ने चारित्रिक गुणों का उल्लेख भो किया है तथा उन्हें जीवन में अपनाने पर भी बल दिया है।

डॉ. ऐनीबिसेन्ट ने संसार के धर्मों में सात को प्रमुख माना है (ग्रंथ-सेवन ग्रेट रिलीजन्स), जिनके नाम हैं-हिन्दू धर्म, पारसी धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म तथा सिख धर्म। चरित्र निर्माण के संदर्भ में इन धर्मों के ग्रंथों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जो उल्लेख आये हैं, उन्हें यहां सार रूप में अंकित किया जा रहा है।

1. **चरित्र सम्पन्नता के लिये इच्छाओं का त्याग :** हिन्दू धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य ईश्वरत्व में विलीन होना कहा है और उसके लिये चरित्र सम्पन्नता के नित निरन्तर बढ़ते हुए चरण चाहिए। इसके लिये मन में सतत रूप से उठने वाली इच्छाओं का त्याग करते रहना चाहिए। त्याग-बलिदान का क्रम ही बराबर चलते रहने से परमात्म भावों की जागृति होती है। बौद्धिक एवं भावनात्मक रूप से जब चरित्र गठित होता है तब जीवन में आध्यात्मिक सत्य प्रकट होता है (मुंडकोपनिषद्)। अपने चरित्रबल से ईश्वर को समझ लो- उसकी रचनात्मकता को समझ लो तो संसार का सब कुछ दर्पणवत् स्पष्ट हो जाता है (वृहदारण्यकोपनिषद्)। तब वह द्वैत से अद्वैत हो जाता है-मैं (अहम्) का चार चरणों में रूपान्तरण होता है-(अ) मैं तुम्हारा हूँ, (ब) तुम तुम्हारे हो, (स) मैं तुम्हारा भक्त हूँ तथा (द) मैं 'वह' (ईश्वर) हूँ। उस आत्मा को त्रिमूर्ति स्वरूप मिलता है-(अ) सत् (आस्तित्व-एग्जिसेटेन्स), (ब) चित् (शिवदैविक-डिवाइन), (स) आनन्द (ब्रह्मा, विष्णु वरदानब्लिस)। अन्तिम लक्ष्य को चरित्राधारित माना गया है।
2. **प्रत्येक कार्य की पवित्रता आवश्यक :** पारसी धर्म (जोरेस्त्रियनिज्म) में इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है कि प्रत्येक कार्य में पवित्रता का होना आवश्यक है जो चरित्र निर्माण से प्राप्त होती है। यह पवित्रता व्यवहार में उतरनी चाहिए जो निजी या सार्वजनिक सभी कार्यों में दिखाई दे।

प्रधान धर्म ग्रंथ 'अवेस्ता' में सात सिद्धान्तों का उल्लेख है-1. शुद्ध व स्पष्ट मन-मानस (वाहुमान), 2. उच्च कोटि की पवित्रता (आसा बहिस्ता), 3. शक्ति सम्पादन (क्षत्रावर), 4. प्रेम (स्पेंडार), 5. स्वास्थ्य (होरवता), 6. अमरता (अमेरेतेड), 7. प्रतीक अग्नि। चरित्र निर्माण एवं विकास की अवस्था में इन सिद्धान्तों का आचरण शक्य बनता है। धर्म का मूलाधार अन्तर्बाह्य पवित्रता को माना गया है। अग्नि इसका प्रतीक है।

3. **चरित्र ही धर्म है (चरित्तो धम्मो) :** जैन धर्म ने सर्वाधिक बल सम्यक् चारित्र (राइट कंडक्स) पर दिया है। सम्यग् ज्ञान (राइट नोलेज) तथा सम्यग् दर्शन (राइट फेथ) का सम्पादन सम्यक् चारित्र की साधना से पूर्व हो जाना चाहिए। सर्व बन्धन मुक्ति के लिये इस साधना को 'रत्न त्रय' का नाम दिया गया है-सही करो के साथ सही जानो और सही मानो। जैन धर्म की समस्त शिक्षाओं का सार यदि एक वाक्य में बताना हो तो वह होगा कि ज्ञानी होने का सार यही है-किसी भी प्राणी की हिंसा न करें-अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है-बस इतनी सी बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये (**एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणः अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया**-सूत्र कृतांग 1-1-4-10)। इस प्रकार जैन धर्म का मूल लक्ष्य है शान्ति जिसे स्थान देना है मानव और मानव के बीच, मानव और प्रत्येक प्राणी के बीच तथा सर्वत्र। इतना ही नहीं, सर्वजीव भूत आदि के साथ पूर्ण सौहार्द्र भी स्थापित किया जाना चाहिए। आचारांग सूत्र में ऐसी सुघड़ आचार विधि का उल्लेख है, जो अद्वितीय है। इस प्रकार मुक्ति का मूलाधार चरित्र निर्माण एवं उसके उच्चतम विकास को माना गया है।

4. **चरित्रहीनता को प्रोत्साहित करते हैं ये मुख्य दुर्गुण :** बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्य-1. जन्म से, रोग से, मृत्यु से, घृणा योग्य वस्तुओं के साथ से तथा प्रियकारी वस्तुओं के विलग होने से उत्पन्न होने वाले दुःख-कष्ट, 2. उनकी मौजूदगी (दुःख समुदय) तथा 3. उनका अन्त (दुःख निरोध) व 4. प्रतिपत्ति को प्रमुखता मिली है। कष्टों के कारणों का उल्लेख है-1. अविद्या-अज्ञान, 2. संस्कार, 3. चेतना, 4. नाम व रूप, 5. छः दृष्टि शक्ति, 6. संसर्ग, 7. रोमांच, 8. इच्छा तथा 9. राग, जो दुर्गुण चरित्रहीनता के प्रतीक हैं। शान्ति और सम्बोधि पाने की दृष्टि से अष्ट मार्ग सुझाया गया है-1. सही आस्था (फ्रेथ), 2. सही महत्त्वाकांक्षा (एस्पिरेशन), 3. सही वाणी (स्पीच), 4. सही चरित्र (कंडक्ट), 5. सही निर्वाह (लाइव्लीहुड), 6. सही उपक्रम (एंडेक्ट), 7. सही स्मृति (मेमोरी) तथा 8. सही ध्यान (मेडीटेशन)। एक निश्चित आचरण विधि का भी निर्धारण हुआ है जो सात कक्षाओं (सेविन क्लासेस) के नाम से जानी जाती है। प्रमुख बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' का कथन है-यह केवल आज की ही बात नहीं, पुराना रिवाज है कि वे उन लोगों पर दोषारोपण करते हैं, जो शान्त रहते हैं, वे उन लोगों पर भी दोषारोपण करते हैं जो बहुत बोलते हैं और वे उन लोगों पर भी दोषारोपण करते हैं जो नपे तुल शब्दों में बोलते हैं। संसार में कोई नहीं है जो दोषारोपित नहीं किया जाता हो। ऐसा व्यक्ति भी कभी न था, न होगा और न अभी है जो पूरी तरह से दोषारोपित हो। अथवा पूरी तरह से प्रशंसित। परन्तु दिन प्रतिदिन निरीक्षण करने के बाद बुद्धिमान उस व्यक्ति की सराहना करते हैं जिसका चरित्र निष्कलंक है, कुशल है तथा ज्ञान व गुणों से सम्पन्न है।

5. **चरित्र निर्माण व नैतिकता पर सम्पूर्ण बल :** ईसाई धर्म (क्रिश्चिएनिटी) में अधिकांश साहित्य चरित्र व नैतिकता से संबंधित है, जैसे कि गोस्पेल्स ऑव मेरी, ऑव पीटर, ऑव जेम्स आदि। प्रधान ग्रंथ बाइबिल है, जिसमें पुराने व नये टेस्टामेन्ट्स का उल्लेख है। महात्मा ईसा की मुख्य शिक्षाएं-1. परमात्म तंत्र (किंगडम ऑफ गॉड) के रहस्यों का ज्ञान करो, 2. अपनी पवित्रता को चरित्रहीनों से कुचलने न दो, न ही अपने मोतियों को दुष्टों के पांवों तले रौंदने दो, 3. विद्वानों के बीच में बुद्धिमानी की बात करो, सामान्य लोगों के बीच नहीं, 4. परमात्मा का आशीर्वाद उन्हें मिलता है जो हृदय से पवित्र तथा चरित्र से शुद्ध होते हैं-उन्हें ही परमात्म-दर्शन होता है, 5. जो औरत को वासना की नजर से देखता है समझें कि उसने दिल से दुराचरण कर लिया, 6. अपने दुश्मनों से भी प्यार करो, श्राप देने वालों को वरदान दो, नफरत करने वालों का भी भला करो, 7. एक धनिक का स्वर्ग में प्रवेश उतना ही कठिन है जितना कि सुई के छेद में से ऊंट का निकल जाना आदि। सच्चे ईसाई का चरित्र बताया गया है-जो रोज दिखाई देने वाले अपने भाई को प्यार नहीं करता, वह भला अदृश्य परमात्मा से कैसे प्यार कर सकता है? (टेन कमांडमेन्स)।

6. **व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है सदाचार :** इस्लाम के पैगम्बर मोहम्मद साहब ने प्रमुख धर्म ग्रंथ 'अल कुरान' में व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य बताया है सदाचार और उसकी व्याख्या कही गई है कि व्यक्ति चरित्रशील पुरुषों व महिलाओं के साथ समानता का व्यवहार करे, माता पिता के प्रति बर्ताव में कोमलता रखे तथा गुलामों के साथ उदार व्यवहार करे। कुरान में अंकित प्रमुख आचरण बिन्दु-1. धर्म के कामों में कभी-भी हिंसा न हो, 2. काफिर वह नहीं जो गैर मुस्लिम है, बल्कि वह जो अन्यायपूर्ण बुरे काम करता है, 3. आपस में भाइयों की तरह प्यार करना सीखो, द्वेषी व कट्टर की तरह किसी से नफरत न करो, 4. अल्लाह एक है, उसे संसार का शासक मानो, 7. अल्लाह के पैगम्बरों में भरोसा रखो-प्रत्येक पैगम्बर अल्लाह का पैगाम लाता है, 6. इस्लाम का मतलब है अल्लाह की मर्जी के आगे हर हाल में सिर झुकाना। अन्य धर्मों की तरह इस्लाम में भी शेख (गुरु) और मुरीद (शिष्य) के वार्तालापों का उल्लेख है। जैसे हिन्दू धर्म में **'सोऽम्'** शब्द है, वैसा ही इस्लाम में है-'अन-उल-हक' अर्थात मैं ही परमात्मा हूँ। इसी तरह तुम परमात्मा हो का हिन्दू धर्म में 'तत् त्वमसि' और इस्लाम धर्म में 'हक-तू-आई' वाक्यांश है।

7. **चरित्रनिष्ठा एवं वीरोचित चरित्र का आन्दोलन :** गुरु नानक (1469-1539 ईस्वी) द्वारा प्रवर्तित सिख धर्म का प्रमुख ग्रंथ है गुरु ग्रंथ साहब। इनके बाद नौ गुरु और हुए जिनके नेतृत्व में चरित्रनिष्ठा के साथ वीरोचित चरित्र निर्माण का सतत रूप से आन्दोलन चलता रहा। मुख्य शिक्षाएं हैं-परमात्मा के सेवक बनो जो एक है, अविभाज्य है, स्वयं भू है, अविजेय है, सर्वत्र व्याप्त है।

वादों-विचारों में चरित्र निर्माण के प्रश्न सुलझे भी, उलझे भी :

संसार में चरित्र निर्माण के प्रयत्न सदा से नवोद्घाटित वादों तथा विचारकों के विचारों के माध्यम से भी होते रहे हैं। वाद को पूर्व निश्चित विचारधारा कहा जा सकता है। राजतंत्रों के पतन के बाद सर्वोच्च सत्ता में सबमें फैलाव की विचाराधाराओं पर जोर पकड़ा। एक ओर उदारवादी विचारधारा

लोकतंत्र के रूप में प्रकट हुई तो सामाजिक विषमताओं के प्रति कड़ा रूख अपनाने वालों की ओर से समाजवाद तथा साम्यवाद (मार्क्सिज्म) की विचारधाराएं सामने आई। लोकतंत्र का उद्देश्य रहा कि प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार और अवसर मिले तथा सबके चरित्र का निर्माण हो। चरित्र का निर्माण वामपंथी विचारधाराओं का भी उद्देश्य रहा, किन्तु उनका संबंध चरित्र को कोई महत्त्व मिला, न ही धार्मिकता-आध्यात्मिकता को। परिणाम स्वरूप भौतिक विकास तो हुआ किन्तु मानवीय चरित्र का विकास उपेक्षित रहा। इस स्थिति में जिन-जिन देशों में साम्यवादी शासन व्यवस्था कायम हुई, वहां-वहां के शासकों ने अधिकारों के केन्द्रीकरण के कारण तानाशाही रुख अपना लिया और आन्तरिक चरित्र के अभाव में संघर्ष से वे भोगवाद पर उतर आए। यही साम्यवाद के पतन का प्रधान कारण बना।

परन्तु आधुनिक युग में भारत में अंग्रेजों की दासता के विरुद्ध जो स्वतंत्रता-संघर्ष चला, उसमें महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय जन-जन में चरित्रनिष्ठा की ऐसी लहर फैली जिसे चरित्र निर्माण के राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में प्रभावकारी मानी जा सकती है। इन दो विपरीत उदाहरणों से कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में जहां नये वादों, विचारों और आन्दोलनों से चरित्र निर्माण के कई प्रश्न सुलझे भी कि सदियों से गुलामी की नींद में सोया अपने चरित्र को भूला भारतीय सजग हुआ और नई चरित्रनिष्ठा से जुड़ा, वही साम्यवाद से प्रभावित देशों में यथार्थ चरित्र का प्रश्न अधिक उलझ गया और साम्यवाद के पतन के बाद भ्रष्टाचार का दौरदौरा फैल गया-मार्क्स का दर्शन और लेनिन का क्रियान्वय, दोनों ने एक बार तो विफलता की चादर ओढ़ ली।

चरित्र निर्माण के संबंध में यहां कुछ विचारकों के विचार इस प्रयोजन से उद्धृत किये जा रहे हैं कि जो चरित्र निर्माण के नये अभियान में नई प्रेरणा का संचार कर सके।

1. **किसे कहें चरित्र? (महात्मा गांधी) :** चरित्र के बिना शिक्षा कैसी और वह चरित्र कैसा जिसमें प्रारंभिक निजी पवित्रता का भी अभाव हो? चरित्र की शुद्धि और मुक्ति हृदय की पवित्रता पर आधारित होती है। एक चरित्रशील व्यक्ति अपने आपको किसी भी प्रदत्त दायित्व वहन के लिए योग्य बना लेता है। चरित्र निर्माण का अर्थ है जीवन को गुण सम्पन्न आचरण में रचा-बसा लेना (केरेक्टर शब्द का विश्लेषण-ग्लोरियस थॉट ऑव गांधी द्वारा एन. बी. सेन)।

2. **चरित्र साधना प्रतिपल चलती है (स्व. श्रीमद नानेशाचार्य) :** सदाचरण एवं सच्चरित्रता को एक शब्द में कहना हो तो वह है शील। शील, चरित्रशील व्यक्तित्व का प्राण होता है। जीवन की सभी वृत्तियों-प्रवृत्तियों तथा गतिविधियों में जो शुभता की रक्षक वृत्ति है वही शील वृत्ति है। शील की साधना अहर्निश की साधना है-मन, वचन एवं काया के प्रत्येक योग व्यापार की साधना है। शील की साधना प्रतिपल चलती है और प्रतिपल के आचार-विचार में उसकी झलक देखने को मिल सकती है। शील की साधना इस प्रकार दैनंदिन की अथवा सम्पूर्ण जीवन व्यवहार की साधना है, जो श्रेष्ठतम मर्यादाओं में प्रतिफलित होती है (संस्कार क्रान्ति, पृष्ठ 169)।

3. **मूल स्वभाव का नाम चरित्र (एच. जेक्शन ब्राउन जुनियर) :** हमारा चरित्र वास्तव में वह है जो हमारे प्रत्येक कार्य में झलकता है-वैसे कार्य में जिसके लिये हम सोचते हैं कि उसे कोई नहीं देख रहा है। (टी ओ आई-सेक्रेड स्पेस)।

4. **विचार-आचार का सही चुनाव तो आदर्श चरित्र (स्वामी शिवानन्द)** : विचार एवं आचार के पुनरावर्तित चुनाव के आधार पर चरित्र का निर्माण होता है, इसलिये सही चुनाव करो तो तुम अपने चरित्र को सुदृढ़ एवं आदर्श बना सकोगे। (टी ओ आई सेक्रेड स्पेस)।

5. **चरित्र निर्माण से सर्वत्र सफलता (हेलेन केलर)** : चरित्र का विकास आसानी से और चुपचाप नहीं होता। केवल लगातार की कष्ट सहिष्णुता से ही आत्मभाव सुदृढ़ होता है, महत्त्वाकांक्षाएं अनुप्राणित बनती हैं और सफलता झोली में गिरती है। (टी ओ आई-सेक्रेड स्पेस)।

6. **बोलने से पहले करने वाला सच्चा चरित्रशील (कन्फ्यूसियस)** : शिष्य ने पूछा-'कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र को सुधार कैसे सकता है?' गुरु ने कहा-'यदि व्यक्ति पुराने ज्ञान को सहेजता रहे तथा नये ज्ञान की उपलब्धि करता रहे तो वह दूसरों का शिक्षक हो सकता है।' शिष्य ने फिर पूछा-'व्यक्ति महान् कैसे चरित्र से बनता है?' गुरु ने पुन: कहा-'जो बोलने के पहले आचरण करता है और तब अपने आचरण के अनुरूप बोलता है-यही चरित्र की महानता है' (टी ओ आई सेक्रेड स्पेस)।

दोनों पहियों की असमानता में नहीं चलता है चरित्र का रथ :

मनुष्य सदा से प्रार्थना करता आया है कि वह अंधकार से प्रकाश में पहुंचे (**तमसो मा ज्योतिर्गमय**) क्योंकि प्रकाशमय जीवन को चरित्र का उत्कर्ष माना गया है। जब किसी का मन-मानस प्रकाश से प्रेरित एवं प्रकाशित होता है तब श्रेष्ठ विचारों का अभ्युदय होता है, विचार तब वाणी और कर्म में अभिव्यक्त होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ चरित्र का निर्माण होता है। इस निर्माण के लिये आवश्यक होती है समुचित शिक्षा तथा नियमित अभ्यास प्रणाली। यह प्रतिदिन चलनी चाहिए और यही अंधकार से प्रकाश में पहुंचने का सुरक्षित मार्ग है। यह हकीकत याद रखी जानी चाहिए कि एक अंधविश्वासी मन-मानस को कभी-भी प्रकाश की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अंधविश्वास उसके मस्तिष्क की एक भी खिड़की को खुलने नहीं देता और उसके बिना अंधेरा मिट नहीं सकता। अंधकार से घिरा हुआ मन-मानस स्वस्थ कभी नहीं होता, रोगी बना रहता है। यह रोग उसके अंधविश्वासों के घनत्व को बढ़ाता रहता है तथा प्रकाश के प्रकटीकरण की संभावनाओं को समाप्त कर देता है। अत: प्रकाश पाने का सुनिश्चित मार्ग है चरित्र का निर्माण-ऐसे चरित्र का निर्माण जिसका सम्यग् ज्ञान और क्रिया के संयोग से सारी विकृतियों से मुक्ति पाने का दृढ़ संकल्प हो तथा वह आत्मविश्वास से सदा भरा पूरा रहे। आत्मविश्वास सफलता का सबसे बड़ा स्रोत होता है। दृढ़ आत्मविश्वास किसी को फांसी के फन्दे से भी वापिस लौटा सकता है। आत्मविश्वास और अंधविश्वास के अन्तर को पाट देता है चरित्र का निर्माण और एक आत्मविश्वासी चरित्र कहीं भी कभी-भी असफल नहीं होता है।

सच्चरित्रता, चरित्रशीलता, चरित्रनिष्ठा आदि को यदि एक रथ की उपमा दें तो हमें मानना होगा कि उसके दोनों पहिये होंगे-अहिंसक जीवनशैली तथा सत्यदर्शन की अभिलाषा। रथ को सही चाल से चलाने और तेज गति से दौड़ाने के लिये उसके दोनों पहियों का समान आकार-प्रकार होना नितान्त

आवश्यक है। ये दो पहिये हैं सत्य और अहिंसा के। यह शाश्वत सिद्धान्त है तथा आधुनिक युग के वैज्ञानिक वातावरण में भी अहिंसा को मानव जाति की तथा सारे संसार की हितकारिणी मान लिया गया है। हिंसा से मुक्त होने के लिये अहिंसा का आह्वान जरूरी है। अहिंसा भारत के स्वाधीनता संघर्ष काल की तरह सार्वजनिक जीवन में भी ओतप्रोत हो और उसके आधार पर एक नई सर्वसहयोगी जीवनशैली का विकास हो-आज सारे-संसार के कदम इस दिशा में बढ़ने शुरू हो गये हैं। वैर-वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-डाह, दुःसंकल्प, क्रोध, दुर्वचन, अभिमान, दंभ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की चरित्र विनाशिनी ध्वंसमूलक विकृतियां हैं-ये सब हिंसा के ही रूप हैं। मानव मन और चरित्र इस हिंसा के विविध प्रहारों से निरन्तर आहत होता रहता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि मानव सम्यग् ज्ञान के अभाव में वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से अथवा हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहता रहा है बल्कि करता रहा है और यही घोर अज्ञान है। भगवान् महावीर ने इस अज्ञान को दूर किया और उत्तम चरित्र पथ दर्शाया-"**क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दंभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष व उदारता से जीतो। इसी प्रकार भय को अभय से और घृणा को प्रेम से जीतो।**" विजय की यही सात्विक प्रक्रिया है तथा ऐसे अभ्यास से ही अहिंसक जीवनशैली का निर्माण किया जा सकता है।

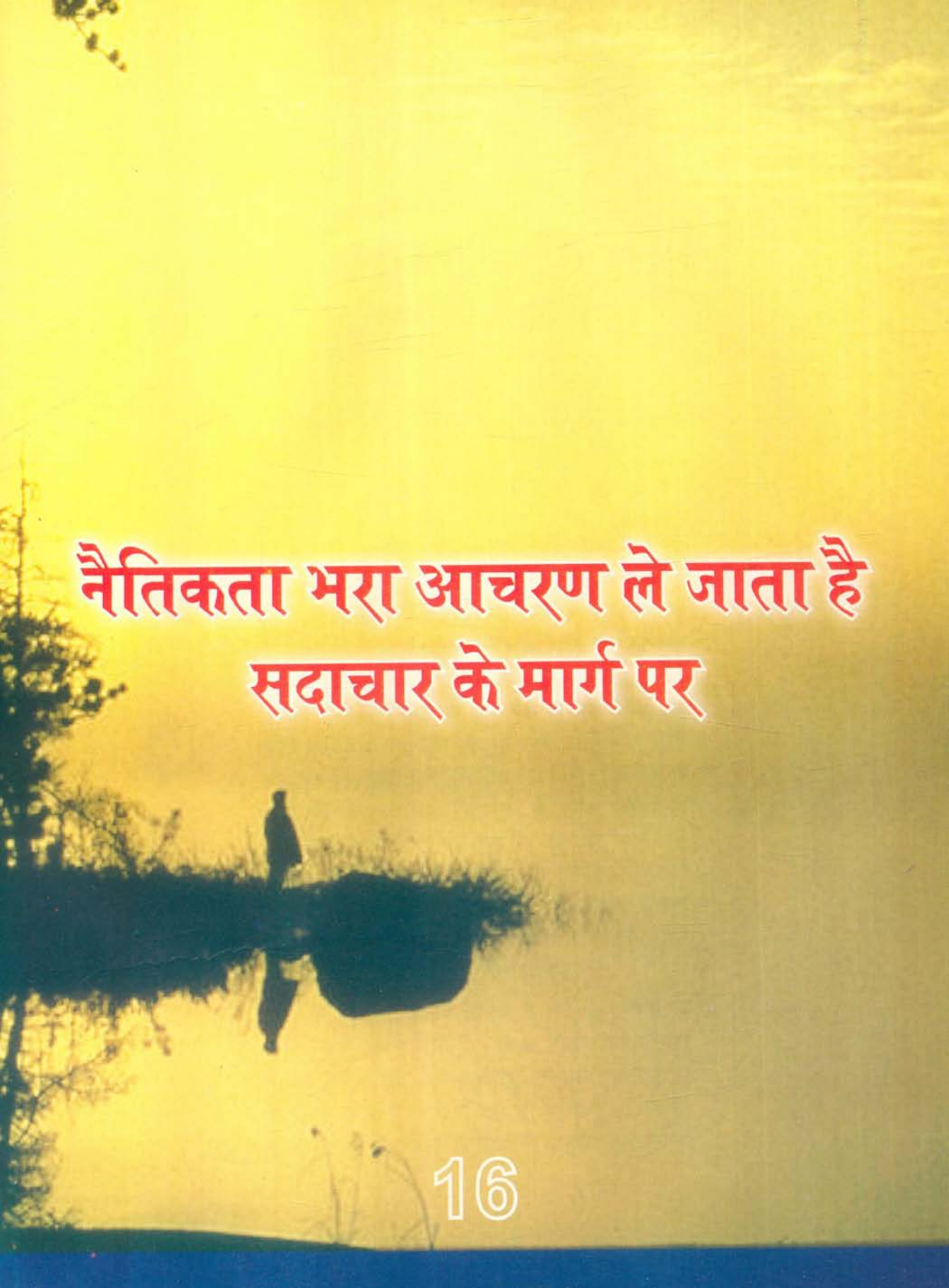
अहिंसा की इस अन्तर्दृष्टि को गहराई से समझें और अपने आचरण में आत्मसात् करें। वैर हो, घृणा हो, शोषण, दमन, उत्पीड़न हो या कोई भी हिंसक कार्य हो, अंततः सब लौट कर पुनः कर्त्ता के पास ही आते हैं। यह मत समझो कि जहां पर आपने बुराई फैंकी है, वह वही पर रहेगी और आपके पास लौटकर नहीं आएगी। यह विभ्रम है। वह बुराई निश्चित रूप से अपना दुष्परिणाम लेकर आपके पास लौटेगी, क्योंकि कृत कर्म (शुभ या अशुभ दोनों) कभी निष्फल नहीं जाता। कुएं में की गई ध्वनि वापिस अवश्यमेव लौटती है, प्रतिध्वनि के रूप में तो अहिंसा की सूक्ष्म दृष्टि यह है कि तू पीड़ा देने वाला और वह जो तुमसे पीड़ा पा रहा है, दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वह भी चैतन्य है और तू भी चैतन्य है। यदि तू दूसरे को सताता है तो वह दूसरे को सताना कैसे हुआ? वह तो तू अपने आप को ही सता रहा है। यह आध्यात्मिक ध्वनि है कि **जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।** अहिंसा का यह स्वर सबकी शान्ति और सुख का स्वर है तथा चरित्र रूपी रथ का एक सुदृढ़ पहिया है।

चरित्र रथ का दूसरा सुदृढ़ तथा समतोल पहिया है-सत्य दर्शन की अभिलाषा। जीवन के व्यवहार में जहां-जहां सत्यांश मिलें उनका चयन करना, संचय करना तथा पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की सदा अभिलाषा एवं चेष्टा रखना-यह चरित्र निर्माण की सक्रियता रहनी चाहिए। श्रुत और दृष्ट-दोनों सत्य के स्रोत होते हैं और इनमें भी श्रुत की अपेक्षा दृष्ट का अधिक महत्त्व है क्योंकि इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह गहरा और स्थाई होता है। श्रुत से चिन्तन की धारा चलती है और दृष्ट से विविध अनुभव प्राप्त होते हैं अतः यह प्रक्रिया सत्य के समीप ले जाती है, उसकी उज्ज्वलता को निखारती है तथा सत्यदर्शन के प्रति प्रबल प्रभाव उत्पन्न करती है।

चरित्र निर्माण है सबका साध्य :

इसमें कोई विवाद नही कि संसार भर के धर्म, दर्शन, वाद या विचार मानव के चरित्र निर्माण को अनिवार्य मानते हैं तथा उसके लिये अपनी-अपनी आचरण पद्धतियों का भी निर्देश करते हैं। सबके बीच चरित्र के वांछित स्वरूप का अन्तर हो सकता है तो उसे गठित, शील और सम्पन्न बनाने के साधनों में भी भेद हो सकते हैं। किन्तु ये अन्तर या भेद ऐसे नहीं हैं जिनका समन्वय संभव न हो। अशुभ प्रवृत्तियों से दूर होने तथा शुभ प्रवृत्तियों को अपनाने जैसी चरित्र की सर्वसम्मत व्याख्या हो सकती है, भले ही शुभ क्या है और अशुभ क्या है-इसके विवरण में सामान्य अन्तर हो। यह बताने का कारण यह है कि आज चलाये जाने वाले चरित्र निर्माण के अभियान को न सबका समर्थन ही मिले बल्कि भरपूर सहयोग भी।

◆◆◆


नैतिकता भरा आचरण ले जाता है
सदाचार के मार्ग पर
16



नैतिकता भरा आचरण ले जाता है सदाचार के मार्ग पर

सापेक्षिकता और नैतिकता के सिद्धांत के बीच

यह एक दिलचस्प कहानी है–शायद सत्य कथा ही हो। मुम्बई से एक उद्योगपति को एक खास लाईसेंस की मंजूरी के लिये दिल्ली जाकर एक मंत्री से मिलना था और उन्हें बतौर रिश्वत पांच लाख की राशि भी देनी थी। उस उद्योगपति ने अमुक बैंक से राशि निकलवाई और दिल्ली के लिये गाड़ी पकड़ी। बैंक से एक जेबकतरा उनके पीछे लग गया और वह भी उनके साथ उसी गाड़ी और डिब्बे में चढ़ गया। उसे पांच लाख की राशि के सारे तथ्य ज्ञात थे–यहां तक कि नोटों के नम्बर भी। नहीं मालूम कर सका वह तो यह तथ्य कि वह राशि कहां रखी गई है–अटेची में, बैग में या उद्योगपति के जेब में? मुम्बई से गाड़ी के चलते ही वह जेबकतरा खोज–शोध में लग गया–अपनी सारी हिकमतें उसने काम में ले ली, मगर राशि का उसे अता पता नहीं चल सका।

एक हकीकत जानने लायक है कि अपराधियों के अपने–अपने गिरोह होते हैं, उनका गिरोह का सरगना होता है और उनकी आपसी कारगुजारी पूरी ईमानदारी से अंजाम दी जाती है। धंधे में जरा सी बेईमानी भी बर्दाश्त नहीं की जाती है, क्योंकि धंधेबाज गैरकानूनी धंधा होने से

अदालत में नहीं जा सकते हैं। अतः धंधे की जान होती है ईमानदारी। जेबकतरों का भी अपना गिरोह था और सरगना अपने मेम्बरों की कारगुजारियों पर कड़ी नजर रखता था और वह दिल्ली में रहता था। उद्योगपति के पीछे जो जेबकतरा मुम्बई से चला था, उसके काम की हद रतलाम तक ही थी। इस कारण रतलाम पर उसने, उद्योगपति को दस हजार रुपयों में अपने गिरोह के एक साथी को बेच दिया और राशि संबंधी सारे तथ्य उसे बता दिए। अब रतलाम से वह जेबकतरा उद्योगपति की खोज-तलाश करने लगा, परन्तु उसे भी कामयाबी हाथ नहीं लगी। उसकी हद भी सवाई-माधोपुर पर खत्म हुई और वहां पर उसने उद्योगपति को पांच हजार में बेच दिया। खरीदने वाला और कोई नहीं, उनके गिरोह का सरगना ही था। अब वह उद्योगपति की सर्च में लग गया। दिल्ली का स्टेशन आ गया, पर उसे भी राशि का पता नहीं चला। वह हैरान हो गया इसलिये नहीं कि उसे राशि नहीं मिली, बल्कि इसलिये कि कहीं उसके उस गिरोह में बेईमानी तो नहीं चल पड़ी है जो उस गिरोह के सदस्यों ने झूठमूठ ही उस उद्योगपति को खरीदा और बेचा और कुछ भी हो लेकिन गिरोह में बेईमानी किसी कदर नहीं चलनी चाहिए। फिर वह गिरोह का सरगना है तो इस हालत में कैसे बर्दाश्त कर सकता है?

उद्योगपति गाड़ी से उतर कर रिटायरिंग रूम (स्टेशन) में चले गये और निवृत्त होने लगे। अचानक दरवाजे पर खटखटाहट हुई। उन्होंने दरवाजा खोला तो एक संभ्रांत-सा युवक उनके सामने खड़ा था। उसने निवेदन किया कि वह उनके साथ कुछ जरूरी बात करना चाहता है। उद्योगपति ने उसे भीतर सोफे पर बिठा दिया और कहा-'बोलो, क्या कहना चाहते हो?' युवक बोला-'पहले तो मैं आपको आश्वस्त करना चाहता हूँ कि आप एकदम सुरक्षित है।' उद्योगपति चौंके कि इसे यह कैसे मालूम? फिर युवक ने ही बात आगे बढ़ाई, मुम्बई से पीछे लगे अपने गिरोह के मेम्बरों की कारगुजारियां बताई, फिर अपना तजुर्बा बयान किया और शराफत से पूछा-'यह हमारे गिरोह की ईमानदारी का सवाल है, इसलिये मैं जानना चाहता हूं कि आपकी राशि संबंधी ये सारे तथ्य सही हैं या गलत हैं उसने सारे तथ्य बता दिये।' इस उद्योगपति को रोष चढ़ आया और वे बोले-'तुम जेबकतरे ईमानदारी की बात करते हो, शर्म नहीं आती। हां, तुमने जो तथ्य बताए, वे सब सही हैं।' युवक ने राहत की सांस ली कि गिरोह में बेईमानी कतई नहीं घुसी है। राशि नहीं मिली तो कोई बात नहीं। हंसते हुए उसने पूछ ही लिया-'अब आपकी राशि को कोई खतरा नहीं, जानकारी के लिये बता दें कि वह कहां रखी है?' उद्योगपति ने राशि का ठिकाना तो बता दिया, पर उन्होंने फिर ताना मारा-'जुर्म करने वाले भी ईमानदारी की बात करेंगे तो फिर बेईमानी कहां रहेगी?'

अब जवाब देने की उस युवक की बारी थी। वह तन कर बैठ गया और बोलने लगा-आपको बता दूं कि हमारा धंधा एकदम ईमानदारी पर चलता है। यही हमारी नैतिकता है। हमें आपकी राशि नहीं मिलने का तनिक भी अफसोस नहीं है लेकिन अगर बेईमानी का जरा सा भी सबूत मिल जाता है तो पूरे गिरोह में हड़कम्प मच जाता। हम अपनी नैतिकता को कभी टूटने नहीं देते हैं। अब उद्योगपति ठहाका मारकर हंसे-वाह, क्या कहना है तुम्हारी नैतिकता का? जेबें कतरना और नैतिकता बघारना-क्या मजे की बात है? नैतिकता के कायल तो हम लोग हैं जो शरीफ कहलाते हैं। तब युवक ने कटाक्ष करने शुरू किये-आपकी कोई नैतिकता है? आप दिल्ली आये हैं पांच लाख की रिश्वत देने और नैतिकता की बात करते हो। हम तो आप जैसे सरप्लस पैसे वालों की जेबें काटते हैं मगर आप

तो छोटे-छोटे गरीबों की जेबें काटते हुए भी तनिक नहीं शर्माते-धृष्ट बने रहते हो। चावल, गेहूं में कंकर मिलाते हो, उस तरह के कंकर बनाने का कारखाना चलाते हो और रुपये-आठ आने के चावल, गेहूं खरीदने वालों की तंग जेब को भी नहीं छोड़ते। आप लोगों की बेईमानी की कहीं हद भी है?

यों दोनों की हकीकत भरी बहस चलती रही। किन्तु आप को सोचना है कि नैतिकता कैसी होती है-जेबकतरे जैसी या फिर उस उद्योगपति जैसी? अथवा नैतिकता दोनों के पास थी या किसी के पास नहीं? विचार करना शुरू कीजिए नैतिकता की असलियत पर, उसके रंगढ़ंग और जीवन पर उसके प्रभाव पर। फिर देखिये कि आप उलझते ज्यादा हैं या सुलझ जाते हैं!

नैतिकता का वास्तविक स्वरूप तथा उसके दो पक्ष एवं दो रूप :

नैतिकता शब्द नीति से बना है तो नैतिकता का अर्थ हुआ नीतिसम्मतता। जो कार्य नीति के अनुरूप हो, वे कहलाते हैं, नैतिक कार्य। नीति उसे कहते हैं जो समाज, धर्म आदि द्वारा मान्य होती है। नीति के नियम लिखित ही हो यह जरूरी नहीं। समाज की स्वीकृति नैतिक नियमों के लिये पर्याप्त मानी जाती है। **'नयति इति नीति'**-यह नीति की संक्षिप्त व्याख्या है-जो ले जाती है वह नीति। तो प्रश्न स्वाभाविक है कि कहां ले जाती है? प्रत्येक व्यक्ति, समाज, धर्म, वर्ग आदि के अपने उद्देश्य होते हैं और सिद्धान्त व परम्परा से भी उद्देश्य निर्धारित होते हैं। इन्हीं मान्य उद्देश्यों की ओर ले जाने वाली नैष्ठिक शक्ति को नीति कहा जा सकता है। नीति को साधन मान लीजिए जो साध्य की प्राप्ति में सहायक होती है। ऐसी नीतियों का अनुपालनकर्ता का जो जीवन हो वह नैतिक जीवन कहलाता है।

नैतिकता के लिये व्यवहार में लाया जाने वाला अंग्रेजी का शब्द 'मॉरेलिटी' उचित शब्द नहीं है। 'मॉरेलिटी' का सही अनुवाद होगा लोकाचार, जबकि नैतिकता का अंग्रेजी में सही शब्द है 'इथिक्स' यों लोकाचार और नैतिकता का आपस में खास संबंध नहीं। नैतिकता का संबंध होता है सदाचार से। नैतिकता भरा आचरण ही हम को ले जाता है सदाचार के मार्ग पर तथा आगे से आगे बढ़ने की शक्ति देता है।

आचार दर्शन के क्षेत्र में सदा से नीति के दो पक्षों-सापेक्षता एवं निरपेक्षता के स्वरूप को लेकर गहरा चिन्तन होता रहा है। इस दृष्टि से नीति या नैतिकता सापेक्ष भी होती है और निरपेक्ष भी। सापेक्षतावादी मानते हैं कि आचार तथा परस्पर व्यवहार के नियमोपनियम देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित होते रहते हैं। उनमें अपवाद भले रहे, पर यथासमय बदलाव आता रहता है। आधुनिक युग का रूख सापेक्षवादी है कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विचारधाराओं में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं अर्थात् कोई भी विचार परिवर्तन से बच नहीं सकता है। सब में परिवर्तन अवश्यंभावी होता है। सापेक्षवादियों के अनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक और सार्वलौकिक नहीं होते। इस पक्ष का विपरीत पक्ष है निरपेक्षतावादियों का। इनकी मान्यता के अनुसार नैतिक आचरण निरपवाद होता है-देश, काल, परिस्थिति तथा व्यक्ति के बदलने पर भी नैतिक आचरण की मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। जो आचरण शुभ है, वह सदैव शुभ होगा और जो आचरण अशुभ है, वह सदैव अशुभ ही रहेगा। किसी भी परिस्थिति में शुभ-अशुभ नहीं हो सकता और अशुभ-शुभ नहीं हो सकता और जहां तक मूल्यवत्ता का प्रश्न है, चरित्र के

स्वरूप के साथ भी यही सिद्धान्त लागू होता है।

सामान्य रूप से यह अनुभव में आता है कि एक ही कार्य कभी करणीय माना जाता है तो दूसरे समय में उसे अकरणीय बता दिया जाता है। एक ही आचरण एक परिस्थिति में 'सत्' होता है और दूसरी परिस्थिति में 'असत्'। एक व्यक्ति के लिये जो कर्म शुभ होता है, वही दूसरे व्यक्ति के लिये अशुभ भी हो सकता है **'किसी को बैंगन बावले, किसी को बैंगन पथ्य'**। इसका आशय यह है कि किसी कार्य, आचरण या कर्म की मूल्यवत्ता उन परिस्थितियों पर निर्भर करती है, जिनमें उसका सम्पादन किया जाता है। यहां तक कि धर्मग्रंथों में भी कहा गया है कि जो आस्रव यानी कर्म बन्धन के स्थान हैं, वे ही परिस्रव अर्थात् कर्म निर्जरा के स्थान बन जाते हैं **(जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा**-आचारांग, 1-4-2)। इसमें निष्कर्ष यह है कि किसी भी वस्तु, घटना, परिणाम या धर्मानुष्ठान की शुभाशुभता के संदर्भ में एकान्तिक दृष्टिकोण से निर्णय करना उचित नहीं है कि अमुक शुभ ही है या अशुभ ही है। कर्त्ता के अध्यवसायों या मनोभावों की भिन्नता के कारण एक ही स्थिति, क्रिया या घटना किसी के लिये कर्म बंधन का कारण बन जाती है तो किसी अन्य के लिये कर्म निर्जरा का। वास्तविकता यह है कि बाह्य विधि विधानों का उतना महत्त्व नहीं जितना आन्तरिक शुद्धि या भावनात्मक परिणति का है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि लोक व्यवहार में वस्तु, घटना या स्थिति के महत्त्व की उपेक्षा की जाय। लोकाचार (मॉरैलिटी) बाह्य रूप है तो नैतिकता (इथिक्स) आन्तरिक रूप। दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न भी हो सकता है तो अभिन्न भी। इनकी अभिन्नता सदाचार अथवा चरित्र निर्माण की ओर ले जाती है। महाभारत (शान्ति पर्व 33-32 आदि) तथा गीता (17-20) में भी देशकाल गत सापेक्षता को मान्यता दी गई है और बुद्ध (विशुद्धिमग्ग, 4-66) का दृष्टिकोण भी इसका समर्थक है। पाश्चात्य दार्शनिक हाब्स, उपयोगितावादी जॉन स्टुअर्ट मिल, ब्रेडले, स्पेन्सर आदि भी नैतिक नियमों को सापेक्ष मानते हैं।

नैतिकता के निरपेक्ष पक्ष की मान्यता है कि नैतिक नियम अपरिवर्तनीय है, क्योंकि जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं, उनमें परिवर्तन कदापि संभव नहीं और वांछनीय भी नहीं। यों एकान्त रूप से यह पक्ष भी उचित नहीं। जैसे किसी ने सोने के कड़े तुड़वा कर गले का हार बनाया तो इस परिवर्तन को किस दृष्टि से देखेंगे? क्या सब कुछ बदल गया या कुछ भी नहीं बदला? दोनों ही दृष्टियां गलत ठहरेगी। जहां तक दशा का प्रश्न है, कड़े का हार में बदल जाना पूरा बदलाव है और वस्तु की बात करें तो सोना पहले कड़े में था अब हार में है सो कुछ नहीं बदला। इस प्रकार पर्याय (दशा) बदलती है पर द्रव्य (वस्तु) नहीं बदलता। जैन दर्शन में इसके लिये दो शब्द प्रचलित है-व्यवहार और निश्चय। व्यवहार बदलता रहता है, लेकिन निश्चय अर्थात् गुणवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। इससे स्पष्ट है कि नैतिकता के भी दो पक्ष हैं-सापेक्ष अर्थात् परिवर्तनीय और निरपेक्ष अर्थात् अपरिवर्तनीय। अहिंसा, सत्य आदि सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं तो बाहरी मर्यादाएं आदि परिवर्तनीय होती है। नैतिकता का सामान्य रूप स्थायी रहता है, किन्तु उसका विशेष स्वरूप समयानुरूप पारिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। पाश्चात्य दर्शनविद् कांट का कथन है कि जो कर्म शुभ है वह सदैव शुभ रहेगा और जो अशुभ है वह सदैव अशुभ रहेगा। देश काल के अनुसार नैतिक आचरण का मूल्य

परिवर्तित नहीं होता। सारांश में कह सकते हैं कि नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है, जबकि नैतिक जीवन सापेक्ष।

एक अन्य दृष्टिकोण से नैतिकता के दो रूप मान गये हैं-आन्तर (नैश्चयिक नैतिकता) और बाह्य (व्यावहारिक नैतिकता)। ये दोनों रूप नैतिक साधना के भी हैं। जैसे यह यानी कि चरित्र निर्माण का साध्य है, समतामूलक समाज की रचना तो यह हुआ आन्तरिक रूप और जो आचरण साध्य की ओर ले जाता हो वह होगा उसका बाह्य रूप। बाह्य रूप देश, काल, परिस्थिति, व्यक्ति के अनुसार बदलता रहता है किन्तु आन्तरिक रूप जो कि साध्य है सदैव अपरिवर्तनीय ही रहेगा। अत: समन्वयात्मक दृष्टिकोण यही ठहरेगा कि जीवन तथा मानवता के मूल्य सदा निरपेक्ष, आन्तरिक अथवा आदर्श रूप रहेंगे जबकि इस साध्य की ओर ले जाने वाली नैतिकता या चरित्रता का बाह्य रूप समयानुसार बदलता रहेगा। नैश्चयिक नैतिकता में आन्तरिक वृत्तियों के परिष्कार का प्रयत्न किया जाता है तो व्यावहारिक नैतिकता में आचार तथा चरित्र निर्माण के अनेक विधि- विधानों, परम्पराओं तथा लोक मर्यादाओं का समयानुसार सम्यक् परिवर्तन-परिवर्धन करते हुए पालन करना होता है।

नैतिकता कर्त्तव्य-पालन भी तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय का आधार भी :

मानव के लिये क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य-इसका भान कराता है चरित्र तथा कर्त्तव्यों का पालन किया जाना चाहिये-इसका भान कराती है नैतिकता। जैसे मानव का एक कर्त्तव्य होता है अपने ऋणों के प्रति। मानव पर ऋण भार होता है-माता-पिता का यानी मातृ-पितृ ऋण, ऋषि ऋण ज्ञानोपार्जन कराने का, प्रकृति का ऋण यानी देव ऋण और भूत-ऋण यानी सर्वभूत प्राणियों का ऋण, क्योंकि ये सभी मानव का उपकार करते हैं। इनका जो यह ऋण भार है उससे निर्भार होना मानव का कर्त्तव्य है और इसे उसकी नैतिकता कहेंगे कि वह अपने ऋण चुकाए। नैतिकता भरा आचरण ही सदाचार का मार्ग होता है। इन ऋणों से मुक्त होने के उपाय हैं-ज्ञानोपार्जन की परम्परा निभाना, एक दूसरे की रक्षा करना, प्रकृति एवं सभी प्राणियों के प्रति कोमल भाव रखना और ईमानदारी से अपना कार्य करना। इस तरह अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कर्त्तव्य हो सकते हैं, जिनका मानव को निर्वाह करना होता है। पालन करने का नाम नैतिकता और चरित्र निर्माण की प्रक्रिया उसे सदाचार के मार्ग पर अग्रगामी बनाएगी।

जहां नैतिकता एक ओर कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा देती है तो दूसरी ओर नैतिकता के आधार पर ही यह निर्णय निकाला जा सकता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य? ऊपर बताया जा चुका है कि नीति के सामान्य या मौलिक नियम निरपेक्ष और विशेष नियम सापेक्ष माने जाते हैं। सापेक्ष तत्त्व देशकालादि परिस्थितियों पर निर्भर होता है। जब तक कोई अपरिहार्य या विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक नैतिकता के सामान्य मार्ग पर चला जाना चाहिए। परन्तु इस बात का निर्णय कौन करे कि अमुक परिस्थिति में अपवाद मार्ग का सहारा लिया जा सकता है। नैतिकता के संदर्भ में दो मार्गों का विधान है-उत्सर्ग तथा अपवाद। अपवाद मार्ग विशेष परिस्थिति में अपनाया जा सकता है जो सामान्य नियम से हट कर कुछ उसके विपरीत कार्य करने को विवश करता है। जब अपवाद मार्ग अपनाया जा सकता है तब यह भी सोचना जरूरी है कि वह किस रूप में अपनाया

जाए। यहां समस्या आती है उचित या अनुचित का निर्णय निकालने की। ऐसे में कर्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि तथा आचरण की नैतिकता के आधार पर निकाला जाना चाहिए जिसमें महापुरुषों की अनुभवयुक्त वाणी का आलम्बन भी लिया जा सकता है। किन्तु अन्ततोगत्वा तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य की निर्णायक स्वयं की प्रज्ञा, चारित्रिक निष्ठा और नैतिक दृष्टि ही हो सकती है। अभिधान राजेन्द्र कोष में व्यावहारिक (सापेक्ष) नैतिकता की शुभाशुभता के निर्णय के लिये पांच आधार बताये हैं-1. आगम-शास्त्र, 2. श्रुत-उपदेश आदि, 3. आज्ञा वरिष्ठों की, 4. धारणा स्वयं की तथा 5. जीत-आचार शुद्धि (खंड 6 पृष्ठ 107)। वैदिक परम्परा में भी आचरण के निर्णय के लिये 1. वेद, 2. स्मृति, 3. सदाचार और 4. अन्तरात्मा को प्रमाण माना गया है (मनुस्मृति, 2-12)। गीता को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रमाण शास्त्र माना गया है (16-24)। इस बारे में अनेकान्तिक दृष्टिकोण ही उचित है। किसी भी वस्तु के गुण दोष का विचार अनेकान्त दृष्टि से ही करना चाहिए। जिन कार्यों का उत्सर्ग होता है उनका अपवाद भी स्वीकार किया जाता है। दोनों (उत्सर्ग एवं अपवाद) ही मार्ग हैं और दोनों ग्राह्य हैं। दोनों के आलम्बन से ही नैतिकता, चरित्रनिष्ठा तथा साधना शुद्ध, सशक्त एवं परिपुष्ट होती है। ज्ञानादि गुणों की साधना देशकालानुसार उत्सर्ग-अपवाद द्वारा ही सिद्ध होती है (निशीथ सूत्र भाष्य 5249)।

नैतिकता आचरण में उतरती है तो वह सदाचार के मार्ग पर ले जाती है :

जैन दर्शन में नैतिकता (इथिक्स) का विश्लेषणात्मक वर्णन है। ग्रंथ 'जैन इथिक्स' (अंग्रेजी द्वारा दयानन्द भार्गव) में जैन नैतिकता में सर्वाधिक बल सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रत्नत्रय की एकता पर दिया गया है। इन तीनों की साधना एक साथ चलनी चाहिए। जैन नैतिकता मात्र नैतिक संहिता की व्यवस्था ही नहीं, अपितु धर्ममय व्यावहारिक जीवन पद्धति है जो अभ्यास के माध्यम से साधुत्व की नैतिकता तक पहुंचती है। साधु एवं गृहस्थ की नैतिकता को अपनाने पर विशेष बल दिया गया है, जिनका समाज पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यों जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति को ही माना गया है। जैन नैतिकता न तो वेदान्तियों की तरह जीवन की एकीकृत नित्यता पर आधारित है और न ही बौद्धों की तरह क्षणिकता या अनित्यता पर। जैनों का समन्वित दृष्टिकोण है जो अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का अनुगमन करता है। यही कारण है कि समय, प्रकृति, नियति, पदार्थ आदि का स्वरूप विश्लेषण रचनात्मक विचारधारा के अनुसार किया जाता है। जैन नैतिकता जाति, वर्ग या वर्ण के आधार पर मानव जाति में किसी भेद को स्वीकार नहीं करती है। तात्पर्य यह है कि जब नैतिकता आचरण में उतरती है, तब नैतिकता के उपरोक्त स्वरूप के अनुसार निश्चित रूप से सदाचार के मार्ग पर ही आगे बढ़ती है।

नैतिकता (इथिक्स) के मूल स्वरूप के संबंध में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के दृष्टिकोण में काफी भेद है। 1. पौर्वात्य दार्शनिक (अ) धर्म को नैतिकता का मूल आधार मानते हैं और यह भी मानते हैं कि सामाजिक रीतियों में स्पष्ट होने वाली पारम्परिक मूल्यवत्ता का पूर्ण संरक्षण किया जाना चाहिए। (ब) वे विश्वस्तरीय स्वभाव के नैतिक गुणों को अपनाने तथा पनपाने पर भी जोर देते हैं। 2. वहीं पाश्चात्य दार्शनिक इस तथ्य को महत्त्व देते हैं कि आचरण की शुभता के लिये क्या अच्छा है और

क्या बुरा है-उसका अध्ययन किया जाना चाहिए। 1. इस दृष्टि से कि नियमानुसार जीवन निर्वाह की उपलब्धि कैसी है तथा 2. निर्धारित लक्ष्य के लिये उसका कितना मूल्य है? दोनों दृष्टिकोणों में इस प्रकार अन्तर का अंकन करे तो विदित होगा कि जहां पूर्वार्ध में नैतिकता का मूल आधार धार्मिक सिद्धान्तों को बनाया गया है, वहां पश्चिमार्ध में चिन्तन की स्वतंत्रता को प्रमुखता दी गई है।

चरित्र विकास अर्थात् जैन नैतिकता की पृष्ठभूमि में उसके तात्त्विक बिन्दु हैं। ये तत्त्व नौ हैं-1. जीव (सेल्फ), 2. अजीव (नॉन-सेल्फ), 3. आस्रव (कर्म पदार्थ की आवक), 4. बंध (उनका बंधन), 5. संवर (उसका निरोध), 6. निर्जरा (उनका क्षय), 7. पाप (दुष्कर्म), 8. पुण्य (सत्कर्म) तथा 9. मोक्ष (साल्वेशन)। एक मान्यतानुसार सात तत्त्व ही माने गये हैं-पाप व पुण्य को स्थान नहीं दिया गया है (आस्रव तत्त्व में ही पाप और पुण्य का समावेश कर दिया गया है)। कर्म सिद्धान्त को स्वभाव (हेबिट) की मनोवैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित किया गया है। इसका विश्लेषण है कि 1. हम एक कार्य का बीज वपन करते हैं और आदत की फसल उगाते हैं, 2. हम एक आदत का बीज वपन करते हैं और चरित्र की फसल उगाते हैं, 3. हम चरित्र का बीज वपन करते हैं और भाग्य की फसल उगाते हैं। इस प्रकार पुनरावृत्ति तथा स्वभाव निर्माण के अनुसार अपनी कार्य पद्धति में परिवर्तन लाया जा सकता है और पुरुषार्थ के द्वारा संशोधन, परिवर्धन आदि भी किये जा सकते हैं। इस सारी कर्म प्रणाली का मुख्य उद्देश्य कष्ट या दु:ख का निवारण ही रहेगा। 1. संवर के जरिये कर्म पदार्थ के आगमन को निरुद्ध करना तथा 2. निर्जरा के जरिये सम्बद्ध कर्म पदार्थ को विनष्ट करना। इन दोनों तत्त्वों की सक्रियता के लिये तप (आभ्यन्तर एवं बाह्य) का विधान है। जब समस्त कर्मों का क्षय कर लिया जाता है तो मुक्ति (साल्वेशन) की प्राप्ति हो जाती है। यह मंजिल ही सदाचार के मार्ग की मंजिल मानी गई है।

इस बिन्दु पर विचार किया जाए कि जैन नैतिकता के सिद्धान्त मानव जाति की समस्याओं को सुलझाने में किस सीमा तक सहायक हो सकते हैं। इसके लिये मानव-जीवन की समस्याओं को चार विभाग में वर्गीकृत कर लेते हैं-

1. **अभाव** : वैज्ञानिक प्रगति एवं उत्पादन में वृद्धि के बावजूद प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण आवश्यक वस्तुओं का अभाव बना रहता है। इस अभाव में ये कारण भी कम जिम्मेदार नहीं-स्वार्थी मनोवृत्तियां जैसे मुनाफाखोरी, जमाखोरी आदि और देशों का यह लालच तथा नारा भी कि जिसके पास जितनी अधिक सम्पत्ति, वह उतना ही अधिक सुरक्षित व सुखी। किन्तु जैन धर्म इससे एकदम विपरीत नैतिक शिक्षा देता है कि जितनी कम सम्पत्ति उतना ही अधिक सुख। यह मान्यता है कि सुख इस समझ से फूटता है कि हम क्या हैं, न कि इस समझ से कि हम क्या नहीं हैं और इस्से भी नहीं कि हमारे पास कितनी सम्पत्ति हैं। इस अभाव की समस्या के समाधान के लिये जैन नैतिकता का संदेश है-सांसारिक पदार्थों के प्रति लगाव या राग (अटेचमेंट) मत रखो, उनके गुलाम भी मत बनो, बल्कि अपने भीतर झांककर अनुभव करो कि सच्चे सुख का स्रोत कहां से फूटता है? यह स्रोत संतोष में दिखाई देगा। जो सत्य व्यक्ति के लिये है, वही सत्य समाज और राष्ट्रों के लिये भी है।

2. **अन्याय :** आज सब ओर मत्स्य न्याय चल रहा है कि बड़ी मछली अपने से छोटी मछली को निगल रही है। इस अन्याय का दुष्परिणाम युद्ध एवं रक्तपात के रूप में सामने आता है। कर्म सिद्धान्त के रूप में जैन नैतिकता न्याय की झलक दिखाती है जिसकी मौलिक हकीकत है कि जैसा हम बोयेंगे, वैसा ही काटेंगे। सभी प्राणी समान हैं और शक्तिशाली का कोई अधिकार नहीं बनता कि वह दुर्बल के साथ अन्याय करे। अन्यायों का मुकाबला ताकत से नहीं, बल्कि जैन दर्शन के सन्देश रूप समता की वृत्ति तथा प्रवृत्ति के व्यापक फैलाव के साथ किया जाए कि अन्यायी मनोवृत्ति का अन्त ही हो जाए। यह मुकाबला भी अहिंसक होना चाहिए।

3. **अज्ञान :** आज तक शिक्षा का जितना व्यापक प्रसार होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया है और सच्ची शिक्षा की बात तो अलग ही है। वह शिक्षा किस काम की जो बंधन मुक्ति की प्रेरणा न फूंके। वही सच्ची शिक्षा होती है जो मुक्ति की प्रेरणा देती है **(सा विद्या या विमुक्तये)**। जैन नैतिकता यह पाठ पढ़ाती है कि सम्पूर्ण ज्ञान सापेक्ष और सह-सम्बद्ध होना चाहिए। हम प्रत्येक विचार का सम्मान करें और अपने ज्ञान के बारे में यह धारणा न बनावें कि जो कुछ हम जानते हैं वही अन्तिम है। एकान्तिक पक्ष सदा समस्याएं पैदा करता हैं, इस कारण अनेकान्तिक दृष्टिकोण ही सच्चा समाधान एवं समन्वय का मार्ग है। इससे विचार संघर्ष मिटता है।

4. **स्वार्थ :** यह स्वार्थ दुनिया की सारी समस्याओं की जड़ में है। सारी अनैतिक प्रवृत्तियां मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति के कारण ही पैदा होती है। इस समस्या का समाधान जैन नैतिकता बताती है कि आन्तरिकता के सच्चे स्वभाव की अनुभूति से स्वार्थ के राक्षस पर जीत हासिल की जा सकती है। व्यक्ति की आत्मा का मूल स्वभाव वही है जो परमात्मा या ब्रह्म की आत्मा का है और चिन्तन में इस समानता का अनुभव किया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण को उदार बनाएगा जिससे स्वार्थ स्वयं ही समाप्त होता जाएगा। स्वयं (आत्मा) की पहचान ही स्थायी और वास्तविक होती है और जिसकी अस्मिता भी पृथक् होती है। वस्तुतः तो वासनाओं पर विजय पाकर ही स्वार्थ वृत्ति का समूल उन्मूलन किया जा सकता है।

नैतिकता चरित्र निर्माण का पूर्वार्ध है, तो सदाचार उसका उत्तरार्ध, क्योंकि नैतिकता के आचरण से सदाचार का पथ प्राप्त होता है तो चरित्र निर्माण तथा उसका निरन्तर विकास सर्व बंधन मुक्ति की दिशा से अग्रगामिता देता है। जिसकी मूल शक्ति होती है चरित्रनिष्ठा। चरित्र सम्पन्नता कर्त्तव्य-पालन का प्राण है, धर्म का धारण है और उन्नति का मूल है।

स्व-स्वभाव रूप समत्व की प्राप्ति ही नैतिक जीवन का साध्य है :

स्वभाव की चर्चा करते समय विभाव को भी समझ लेना चाहिये। मूल स्व भाव स्वभाव कहलाता है और विकृत स्वभाव विभाव। ज्ञान और अनुभव से सिद्ध होता है कि स्व का स्वभाव समतामूलक होता है, किन्तु स्वभाव की विकृतियां समता के मूल को नष्ट करने में लगी रहती है। ये सब वैभाविक क्रियाएं होती है जो सही साध्य से दूर ले जाती हैं। इस कारण नैतिक जीवन की बात करें या धर्म अथवा चरित्र निर्माण की-सबका साध्य यही है कि स्व-स्वभाव रूप समत्व की प्राप्ति

की जाए। यह ऐतिहासिक सत्य भी है कि मनुष्य जीवन युग-युगान्तरों से इसी समत्व को सभी क्षेत्रों में प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है। समत्व की भूमिका प्राप्त करने के पीछे उसकी अभिलाषा निरन्तर दृढ़तर होती रही है क्योंकि बदलती हुई परिस्थितियों में उसे अधिकतर विक्षोभ, तनाव और मानसिक द्वन्द झेलने पड़ रहे हैं। शास्त्र ज्ञान और मनोविज्ञान दोनों के अनुसार यह स्थापित धारणा है कि स्व-स्वभाव रूप समत्व की प्राप्ति ही नैतिक जीवन का साध्य है।

प्रश्न यह उठता है कि जब समता ही चेतना का मूल स्वभाव है तो वह अपने स्वभाव से पतित क्यों होती है? स्वभाव से विभाव में रम जाने के क्या कारण हो सकते हैं? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर है-मूर्छा, मोह और आसक्ति के कारणों से स्वभाव पर विभाव हावी हो जाता है। यह विषयातुरता ही समस्त पीड़ाओं की जननी है (आचारांग, 1-1-2) आसक्ति से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णाकुल व्यक्ति रात दिन चिन्ता, व्यथा और विक्षोभ भुगतता रहता है। वह अपनी तृष्णा रूपी चलनी को जल से भरना चाहता है और उसके लिये वह दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है, उनका वध करता है। यह बढ़ती हुई परिग्रह की वासना की समस्त विषमताओं की जड़ है। इस जड़ का पूर्ण उन्मूलन करती है समता। अत: चेतना का स्वभाव है समता और विषमता है उसका विभाव। यह शाश्वत सत्य है कि विभाव त्यागने और समता अपनाने पर ही सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसी कारण समता प्राप्ति को जीवन का साध्य माना गया है।

समता देशकाल गत परिस्थितियों से ऊपर सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक साध्य है। इस कारण साधनों का चयन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि कौनसे साधन इस साध्य की शीघ्र प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक होते हैं। समता सामान्य व्यक्ति या गृहस्थ अथवा सभी स्तर के समूहों के लिये ही साध्य नहीं है, बल्कि समता को साधुत्व का भी मूल लक्षण माना गया है। संयमनिष्ठ साधक समता की साधना से आत्मा को प्रसादित करे और भावित बनावे (सूत्रकृतांग, 2-2-3 तथा उत्तराध्ययन, 224-27)। स्पष्ट है कि समस्त विश्व के लिये समता ही प्रधान साध्य है। जीवन की अनेकानेक विकृतियों से मुक्त होने वाला ही 'वीर' कहलाता है। वस्तुत: वीर समत्वदर्शी होता है और समत्वदर्शी वीर होता है। सिद्ध होता है कि नैतिकता की दोनों नैश्चयिक तथा व्यावहारिक दृष्टियों के अनुसार समता को ही नैतिक जीवन का प्रधान कारण माना गया है। जितने अंशों में आचरण समतापूर्ण बनेगा, उतने ही अंशों में कोई भी नैतिक कहलाएगा।

आचरण के बाह्य पक्ष पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाता है। बाह्य आचार में पालनीय नियम और उपनियमों का समावेश होता है अथवा संस्थाओं या राष्ट्रों आदि के संदर्भ में संविधान बनाये जाते हैं। यह बाह्य स्वरूप व्यावहारिक नैतिकता है। यह ध्यान में रखने लायक बात है कि बिना आन्तरिक नैतिकता के बाह्य नैतिकता फलवती नहीं होती है। समत्व की प्राप्ति के साध्य की सम्पूर्ति करने वाली व्यावहारिक नैतिकता ही मूल्यवान होती है। मर्मज्ञ पं. सुखलाल जी संघवी का कथन है कि व्यावहारिक आचार एकरूप नहीं है। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देशकाल, जाति, स्वभाव, रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले आचार भी व्यावहारिक आचार की कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही

व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है (दर्शन और चिन्तन, खंड 1-2, पृष्ठ 499)। अभिप्राय यह है कि नैतिक जीवन अथवा आचार के इन दोनों प्रकारों के साथ तालमेल बिठाते हुए जीवन पर समता के प्रभाव को अधिकाधिक संवर्धित किया जा सकता है। सदाचार के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बना सकते हैं, बल्कि वर्तमान समाज को समतामय आदर्श समाज के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। व्यावहारिक आचार पालन की मुख्य उपादेयता यही है कि जन चेतना अथवा समूहों की कार्य पद्धति के समक्ष नैतिकता का आदर्श प्रस्तुत किया जा सकता है एवं सकल मानव समाज का हित साधा जा सकता है।

किसी भी व्यक्ति के संबंध में कि वह भला है या बुरा-सामान्य जन उसके बाह्य आचरण के अनुसार ही अपना निर्णय देता है, फिर भले ही उसकी मनोवृत्तियां कैसी ही क्यों न हो? यह सही है कि बाह्य आचरण से व्यावहारिक तथा सामाजिक शुद्धि बनी रहती है। सच यह है कि एकान्त दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिये तथा आन्तरिक एवं बाह्य नैतिकता को समन्वित बनाते हुए चलना चाहिए। इस संदर्भ में वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता के अपने-अपने महत्त्व का आकलन भी कर लेना चाहिए। वैयक्तिक नैतिकता की अवधारणा के संबंध में अस्तित्ववादी विचारक डॉ. हृदयनारायण मिश्र का कथन है कि नैतिक आत्म-अस्तित्व ही सत्य है, वह गत्यात्मक एवं उदीयमान है। वह व्यक्ति को सतत महनीयता प्रदान करता है। उसका ज्ञान हमें कोरा ज्ञान प्रदान नहीं करता, बल्कि उसके ज्ञान में हमारे जीवन को अधिक ऊंचा और महान् बनाने की प्रेरणा रहती है। (अस्तित्ववाद, पृष्ठ 74)। आचारांग सूत्र में भी यद्यपि वैयक्तिक मुक्ति का आत्महित को ही जीवन का लक्ष्य माना गया है, तथापि उसमें सामाजिक कल्याण को भी स्वीकार किया गया है। उसमें यह स्पष्ट कथन है कि साधक को आत्म कल्याण करते हुए लोक या समाज कल्याण भी करना चाहिए। समदृष्टा मुनि धर्मोपदेश के द्वारा पूर्वादि दिशाओं में स्थित सभी लोगों को कल्याण मार्ग दिखाता है (1-6-5)। आचारांग में लोकहितार्थ जिन नैतिक सद्गुणों की चर्चा है, वह इस बात का प्रमाण है कि सूत्रकार की दृष्टि वैयक्तिक कल्याण तक ही सीमित नहीं है, अपितु सामाजिक कल्याण तक फैली हुई है। कहा है कि प्राणी मात्र के प्रति कल्याण कामना से आप्लावित होकर अर्हत् प्रवचन का प्रस्फुटन होता है (1-4-1)। वैयक्तिक दृष्टि से नैतिकता के साधक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समता में प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा दी गई है-साथ ही उसे समाज के सभी वर्गों के प्रति समतापूर्ण व्यवहार करने का सन्देश भी दिया गया है। चाहे व्यक्ति हो या संगठन, अथवा गृहस्थ हो या साधु-सबका एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए कि आदर्श समतावादी समाज की संरचना हो और तदनुसार नैतिक जीवन को स्व-स्वभाव रूप समत्व की प्राप्ति हित नियोजित किया जाए।

नैतिक मानदंड दिखाते हैं नैतिक चेतना के विकास के स्तर :

नैतिक मानदंड नैतिक चेतना के विकास का परिणाम है। नैतिक चेतना के विकास की तीन अवस्थाएं हैं-

1. बाह्य नियम : प्रारंभिक अवस्था में बाह्य नियमों द्वारा व्यवहार का नियंत्रण होता है। नैतिक निर्णय इन्हीं आधारों का पर दिये जाते हैं। ये नियमोपनियम अथवा विधान-संविधान विधि-निषेध

मूलक होते हैं कि क्या-क्या करना चाहिए और क्या-क्या नहीं करना चाहिए। परम्परा में ढलकर ये नियमोपनियम रीति-रिवाजों के रूप में प्रचलित हो जाते हैं जिसे प्रचलित नैतिकता कह सकते हैं और उससे निर्देशित आचरण नैतिक आचरण माना जाता है।

2. **आन्तरिक नियम :** नैतिक चेतना के विकास की यह दूसरी अवस्था है कि बाह्य नियमों का स्थान आन्तरिक नियम ले लेते हैं और वे ही मनुष्य के नैतिक नियमों की कसौटी बन जाते हैं। तब वह बाह्य आदेश के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसे विधानवाद भी कहते हैं, क्योंकि यह आन्तरिक नियम या विधान पर ही बल देता है। यह आन्तरिक प्रमापक होता है।

3. **साध्यमूलक नियम :** नैतिक जागृति की तृतीय अवस्था में विधि-मूलक नैतिकता का स्थान एक नवीन विचार ग्रहण कर लेता है और यह साध्य या उद्देश्य-मूलक विचार होता है। तब साध्य, उद्देश्य या प्रयोजन को केन्द्र में रखकर नैतिकता के नियम बनाये जाते हैं। यों विधानवाद के स्थान पर साध्यवाद आ जाता है और नीति भी यानी नैतिकता, चरित्र, आचार, आचरण आदि वैधानिक के स्थान पर साध्यमूलक हो जाती है।

नैतिक निर्णय उन कर्मों यानी प्रवृत्तियों पर दिया जाता है, जिन्हें बुद्धिजीवी वर्ग स्वतंत्रतापूर्वक चलाता है। नैतिक निर्णय का विषय स्वेच्छाकृत कर्म होता है। इस स्वेच्छाकृत कर्म की नैतिकता की जांच के लिये जो आधार निर्धारित किये जाते हैं, वे ही कहलाते हैं-नैतिकता के मानदंड यानी कि नैतिकता मापक आधार। किसी भी कार्य के शुभाशुभत्व की नैतिकता का मूल्यांकन तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक कि उसके प्रमापक मानदंड निर्धारित न हो। क्या शुभ है और क्या अशुभ है अथवा क्या उचित है और क्या अनुचित-इसका निर्णय मानदंडों की रोशनी में ही लिया जाता है। इन नैतिकता के प्रचलित मानदंडों में उल्लेखनीय हैं-

1. **विधानवाद :** (जातीय, सामाजिक, वैधानिक, धार्मिक आदि) जहां पाश्चात्य दृष्टिकोण नैतिकता के आधार के लिये बाह्य नियमों पर बल देता है, वहां पौर्वात्य दृष्टिकोण अन्तरात्मा को प्रमुख मानता है। उसका मत है कि जब तक स्वयं का अन्त:करण पवित्र नहीं बन जाता है, तब तक बाह्य आधारों, आचरणों तथा नियमों का मूल्य नहीं।

2. **विकासवाद :** पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर का सिद्धान्त विकासवाद या सुखवाद के नाम से जाना जाता है। स्पेंसर नैतिक नियमों को जैविक विकास के सिद्धान्तों के साथ जोड़ता है। विकासवादी मानते हैं कि नैतिकता जीव के क्रमिक विकास का परिणाम है और विकास की अवस्था में नैतिकता सापेक्ष होती है-नैतिकता निरपेक्ष हो सकती है पूर्ण विकसित जीवन में ही। जो प्रतिक्रियाएं जीवन को अधिक विकसित बनाती हैं वे नैतिक हैं तथा जो उसमें अवरोध उत्पन्न करती है, वे अनैतिक हैं। अत: जीवन रक्षण की प्रवृत्ति को नैतिक जीवन का साध्य मानना चाहिए जो उसका नैतिक प्रतिमान हो। प्रत्येक प्राणी में आत्मरक्षण एवं जीने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस कारण से अच्छा आचरण जीवनवर्धक होता है और बुरा आचरण मृत्यु या जीवन विनाश का कारण (डेटा ऑफ एथिक्स, पृष्ठ 191)। सुखवाद में सुखाभास पर नहीं, शाश्वत सुख पर धर्म सिद्धान्तों ने अधिक बल दिया है। इनमें इस प्रकार के सुख वर्णित हैं-साम्पतिक, काम, भोग,

शुभ भोग, आरोग्य, दीर्घायु, संतोष, निष्क्रमण, आस्तित्व एवं अव्याबाध सुख। परन्तु राग भाव या काम वासना को समाप्त करने पर ही सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है। अरति या आसक्ति से निवृत्त होकर साधक क्षण भर में मुक्त हो जाता है। काम वासनाओं को जीत लो, दुःख दूर हो जायेगा (**कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं**-दशवैकालिक सूत्र 2-10)।

3. **बुद्धिपरतावाद :** सुखवाद आत्मा के भावनात्मक पक्ष पर जोर देता है तो बुद्धिपरतावाद आत्मा के बौद्धिक पक्ष पर। वर्तमान युग में इस वाद का प्रवर्तक है पाश्चात्य दार्शनिक कांट, जिसके अनुसार बौद्धिक संकल्प या सदिच्छा (गुड विल) ही जीवन का परम शुभ है। सदिच्छा बौद्धिक है और उसका अर्थ सद्भावना नहीं, कर्त्तव्य बुद्धि है। यह निरपेक्ष नैतिक बुद्धि है।

4. **आत्मपूर्णतावाद :** आत्मपूर्णतावाद का सिद्धान्त नीतिशास्त्र या नैतिकता की दृष्टि से आत्मसिद्धिवाद, आत्म-साक्षात्कारवाद, आत्म कल्याणवाद आदि नामों से भी जाना जाता है। यह आत्मपूर्णता को ही नैतिक जीवन का चरम आदर्श मानता है। इसे कर्म के शुभाशुभत्व के मूल्यांकन के लिये अन्तिम मानदंड के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय सभी मोक्षलक्षी आचार दर्शन किसी न किसी रूप में पूर्णतावाद का समर्थन करते हैं।

नीतिशास्त्रीय नैतिकता एवं आधुनिक मनोविज्ञान का गहरा संबंध :

आधुनिक मनोविज्ञान का नीतिशास्त्रीय नैतिकता के साथ गहरा संबंध है, क्योंकि मनोविज्ञान तथ्यों के आधार पर विचार करता है तो नीतिशास्त्र आदर्शों के आधार पर। मनोविज्ञान लोगों के आचरण, संस्कार तथा आदतों का विश्लेषण करता है तो नैतिकता द्वारा आचरण की संहिता बनाई जाती है। जीवन की वास्तविक प्रकृति का अन्वेषक होता है मनोविज्ञान तो नीतिशास्त्रीय नैतिकता जीवन मूल्यों तथा साध्य को व्यवहार में कार्यान्वित करने की व्यवस्था का निर्धारण करती है। दोनों के बीच ऐसे संबंध को गहरा संबंध ही कहा जाएगा। हमकों क्या करना चाहिए यह नैतिकता का विषय है किन्तु यह सब निर्धारित करने के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि हम हैं क्या, हम क्या कर सकते हैं व क्या नहीं तथा हमारी योग्यताओं तथा क्षमताओं का वर्तमान स्तर क्या है, जो कि मनोविज्ञान का विषय है। यों दोनों विज्ञान परस्पर इस तरह जुड़े हुए हैं कि उन्हें एकदम अलग नहीं किया जा सकता है।

इस गहरे संबंध के विषय को एक उदाहरण के माध्यम से समझने का यत्न करें। नीतिशास्त्र में दुःख का मूल कारण माना गया है राग, द्वेष, मोह व कषायों की प्रबलता। राग से मोह सघन होता है। जिसके प्रति राग है, उसे छोड़कर अन्य के साथ द्वेष की वृत्ति जागती है तथा राग-द्वेष के संघर्षण से विविध कषायों की घातक वृत्तियां मन-मानस को विकृतियों से भर देती है। द्वेष की अपेक्षा भी राग का घनत्व अधिक होता है अतः राग के क्षय (नष्ट) हो जाने पर उसे वीतराग माना गया, क्योंकि राग के क्षय हो जाने पर द्वेष स्वयमेव ही नष्ट हो जाता है। वृत्तियों की समाप्ति कैसे हो- इसके उपायों का विश्लेषण किया जाना चाहिए जो एक मनोवैज्ञानिक कसरत होगी। आचारांग में इसके मौलिक आधार सूत्र का विवेचन है और यह सूत्र है अप्रमाद। प्रमाद का अर्थ होता है आलस्य और इसका विलोम

होगा स्फूर्ति या सजगता, अत: अप्रमाद का अर्थ है आत्म-जागृति। मनुष्य के मन-मानस पर जब कषाय-वृत्तियां आक्रमण करती हैं तो मनुष्य भयभीत हो जाता है कि पास का कुछ खो जाए या उसकी वजह से कोई नई विपदा न आ जाए। इस भय स्थिति को अप्रमत्त अवस्था दूर देती है। जबकि अप्रमत्त को किसी प्रकार का भय नहीं रहता (**सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं**-आचारांग, 1-3-4)। बुद्ध भी यही कहते हैं कि प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमरता है, जागरूक को कहीं भय नहीं होता (धम्मपद-21)। अप्रमत्त अवस्था संयम के साथ जुड़ती है और नैतिक जीवन, आचरण शुद्धि तथा चरित्र गठन के बाद में ही संयम की अवस्था आरंभ हो सकती है। सच कहें तो मानसिक शुद्धिकरण के लिये आचार विधि या चरित्र निर्माण के साथ मनोवैज्ञानिक विधि अच्छी कारगर हो सकती है।

नैतिकता का अतिक्रमण ले जाता है आसक्ति एवं बंधन से मुक्ति तक :

समझें कि एंक रेलगाड़ी को दिल्ली से मुंबई जाना है तो वह रास्ते के सारे स्टेशनों से गुजर कर ही अन्त में मुंबई पहुंच सकती है। उसकी मंज़िल होगी मुंबई, किन्तु बीच के सभी स्टेशनों को पार करना पड़ता है। यों एक-एक स्टेशन का अतिक्रमण करते हुए ही रेलगाड़ी अपनी मंजिल तक पहुंचती है। इसी तरह जीवन की रेलगाड़ी भी चलती है और इसे भी मंजिल तक पहुंचने के लिये बीच के स्तरों के लिये तैयारी भी करनी होती है तो आगे बढ़ने के लिये उनका अतिक्रमण भी करना होता है। जैसे नैतिकता की प्राप्ति, चरित्र निर्माण अथवा सदाचार के मार्ग पर संचरण-ये सब मंजिल के बीच के बिन्दु है। जब आचरण पूर्णत: नैतिक हो जाता है, सुचारू चरित्र गठित हो जाता है या सदाचार के मार्ग पर गत्यात्मकता बढ़ जाती है तो आगे के स्तरों तक पहुंचने का प्रयास करना होता है। इस प्रयास के समक्ष आ जाती है मंजिल की झलक। जब नैतिकता अतिक्रमित होती है तो नर में नारायणत्व की रूपरेखा उभर आती है और जब सदाचार की सहज उपलब्धि हो जाती है तो परमात्म दर्शन की अवस्था आ जाती है।

यों नैतिकता का अतिक्रमण आसक्ति आदि सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति की ओर ले जाता है। इसके स्तरों को समझिए मनुष्य पहले पशुत्व के गुरूत्वाकर्षण से निकला तो गति आगे बढ़ी। मानवता के क्षेत्र में पारस्परिक दायित्व निर्वाह से दृष्टि और सृष्टि विस्तृत हुई तो जीवन का परिष्कार हुआ और देवत्व की चमक उभरी। अपने ऊपर लदे ऋणों का मोचन किया तो निर्भार हुआ और तब नैतिकता के अतिक्रमण की स्टेज आ गई। इस स्टेज पर राग, मोह, लगाव घटने और हटने लगा तथा विराग (डिटेचमेंट) का दौर शुरू हुआ, अनासक्ति की बयार बही और इस प्रकार नैतिकता का अतिक्रमण ले जाता है आसक्ति एवं बंधन से मुक्ति तक।

यहां यह समझिए कि विराग या अनासक्ति या डिचेटमेंट क्या होता है? मैं ऐसा हूँ-वैसा हूँ यह मेरा है-यह बंधन है, अटेचमेंट है, राग और मोह है। इस 'मैं' के बंधन हैं-

1. देह : अपने शरीर का ममत्व सर्वाधिक प्रबल होता है।

2. गेह : घर-सम्पत्ति का स्वामित्व भी मनुष्य को खूब आकर्षित करता है।

3. **कलत्र :** अपनी पत्नी या प्रेमिका के प्रति व्यक्ति का मोह कई सीमाओं का उल्लंघन भी कर देता है।
4. **पुत्र :** सन्तान मोह की मिसाल भी अनोखी होती है।
5. **वित्त :** धन कमाने और उसके प्रति आसक्ति रखने में मनुष्य पूरी जिन्दगी बरबाद कर देता है और पश्चात्ताप तक नहीं करता।
6. **पद :** वह पद को कर्त्तव्य निर्वाह की बात कम और अपने अहंकार को आजमाने का क्षेत्र ज्यादा मानता है।
7. **प्रतिष्ठा :** लोगों के बीच में फैलने वाली अपने वर्चस्व व यश को बहुत महत्त्व दिया जाता है और तब सच्चा-झूठा कोई प्रश्न उसके लिये प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है।

इस प्रकार मनुष्य जीवन की ये सात गांठ हैं जो उसे बांधे ही नहीं बल्कि जकड़े रहती है। इन गांठों को कैसे खोलें यानी कि आसक्ति आदि के बंधनों से कैसे मुक्ति पावें? यह शुद्ध रूप से भावनात्मक समस्या है और भावना के स्तर पर ही इसका समाधान है। विराग, अनासक्ति या डिटेचमेंट का क्रम शुरू होते ही यह भावना जड़ पकड़ ले कि मैं यह सब (बंधन की सातों गांठे) नही हूँ (आई एम दिस नोट)। इसके साथ जड़ चेतन ग्रंथि पड़ जायेगी-फिर 'यह' सब (दिस) से मानसिक, भौतिक एवं शारीरिक रूप से विलग (डिटेच) हो जाओ-नाता तोड़ लो और मात्र दृष्टा (ऑब्जर्वर) बन जाओ।

गहराई से देखें तो ऐसे विराग की झलक आपको भारत की सांस्कृतिक परम्परा में मिलती है। किसी साधु से उसकी जाति पूछों तो वह यही कहेगा कि यह देह पहले अमुक जाति की कहलाती थी। कवि ने भी चेताया है कि **'जाति न पूछिये साधु से।'** किसी को पूछे कि आपके कितने बच्चे हैं, वह जवाब देगा कि बच्चे मेरे नहीं भगवान् के हैं। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण बंधन मुक्ति के लिये मैं (आई) और मेरे (माई) को छोड़ें-ममत्व त्याग दें तथा स्वयं (सेल्फ) को जाने-पहचाने। यह निजत्व भी दो प्रकार का होता है-1. वैयक्तिक (इंडिवीज्युअल) और 2. वैश्विक (यूनीवर्सल) तब स्वयं को एकाग्रता (मेडीटेशन) में नियोजित कर दें तब स्व-स्वभाव की प्राप्ति के साथ ऐसा हल्कापन महसूस होगा जैसे कि ऊपर उठ रहे हो। यही अन्तिम स्तर होता है कि मंजिल तक पहुंचने का, मुक्ति का, खुदी से खुदा एवं आत्मा से परमात्मा का स्थान पाने का। तो नैतिक आचरण, चरित्र निर्माण या आचार शुद्धि की वह स्टेज है, जहां से सबसे ऊंची उड़ान भरी जा सकती है। मानव जीवन का व्यावहारिक पहलू इथिक्स है तो उसका दार्शनिक छोर है मेटाफिजिक्स और इनके नार्म्स को जो बनाए रखता है, वह अपने जीवन में 'नॉर्मल' बना रहता है-सुख तथा दुःख में समत्व योगी की तरह हो जाता है। यही समता उसे साध्य तक पहुंचाती है। सदाचार और समत्व जीवन का वह प्रकाश है जो आत्मा को सम्पूर्ण प्रकाशमय बनाता है और बनाए रखता है।

नैतिक जीवन सरल सुखमय होता है किन्तु उसे साधना सच्चा पुरुषार्थ है :

नीति अर्थात् नैतिकता एवं धर्म को अपनाये बिना व्यक्तित्व का निर्माण संभव नहीं है। सच तो यह है कि धर्म का आरंभ ही नैतिकता के साथ होना चाहिए। वस्तुतः धर्म की नींव में ही नीति होगी तभी धर्म आगे चलेगा। आजकल धर्म की लम्बी-चौड़ी बातें तो की जाती हैं, पर जीवन के हर क्षेत्र

से नैतिकता विलुप्त होती जा रही है। निजी संबंधों में, व्यापार-व्यवसाय में और राजनीति-अर्थनीति में नीतिगत बातें महत्त्वहीन होने लगी हैं। पहले राजनीति का मतलब सेवा और कर्त्तव्य बतलाया जाता था, परन्तु आज राजनीति मात्र सत्ता या सियासत के लिये ही बन कर रह गई है। देश इसीलिये पतन की ओर जा रहा है। निजी स्वार्थ और लोभ के खातिर खुदगर्जी इतनी बढ़ गई है कि धर्म-अधर्म या नीति-अनीति के भेद ही खत्म होते जा रहे हैं। इसी कारण आज नैतिक धरातल मजबूत बनाने की सख्त जरूरत है। नीति के बिना धर्म और धर्म के बिना व्यक्तित्व निर्माण की संभावना नहीं मानी जा सकती है।

नैतिकता और धर्म का मर्म समभाव या समता में छिपा हुआ है। शुभ या अशुभ पहले भावनाओं से तोला जाता है। मन जहां विषमताओं से भरा हो, समझिये कि वहीं पर अनीति है, अधर्म है। मन में कई तरह के विकारों की गंदगी विषमताओं की परिचायक होती है और जिसे दूर किए बिना समता की साधना संभव नहीं। व्यक्ति का अपराध मात्र उसकी क्रिया से ही साबित नहीं होता, बल्कि उसके आशय (इंटेंशन) को प्रमाणित करना होता है। वस्तुस्थिति यह है कि आचरण में ढल कर ही नैतिकता परिपुष्ट बनती है। आचरण को नीतिमय एवं धर्ममय बनाने में सतत जागरूकता जरूरी होती है। आत्मकल्याण के साथ जनकल्याण की भावना भी उससे स्पष्ट होनी चाहिये। तभी सभी प्रकार के स्वार्थों और खासकर कीर्ति लाभ के स्वार्थ से भी ऊपर उठा जा सकता है और निर्लिप्तता की अनुभूति ली जा सकती है।

किन्तु वर्तमान परिस्थितियां अतीव ही चिन्तनीय बनी हुई है। मेरी राय तो साफ है कि चारित्रिक पतन को आज का सबसे बड़ा सांस्कृतिक खतरा माना जाना चाहिए तथा इस चारित्रिक पतन को न्यूनतम समय में रोकने के लिये साधु सन्तों और गृहस्थों को एक दूसरे का पूरक मानते हुए पारस्परिक नियंत्रण की व्यवस्था मान्य करनी चाहिए। नीति, चरित्र तथा धर्म से संबंधित सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान का यह रामबाण उपाय है कि स्व (आत्मा) के प्रति समर्पित होकर पर (अन्य) एवं पर-पदार्थों के प्रति अपने राग और व्यामोह को गला दें। तब निरपेक्ष भाव से निकाला गया कोई भी समाधान अवश्यमेव फलदायक होगा।

आज मानव अपने असली घर को नहीं पहचान कर केवल ईंट-चूने-सीमेंट से बने घर को ही सजाने-संवारने में लगा हुआ है। इतना ही नहीं, उसी में रहकर निर्भयता महसूस करने की वह व्यर्थ चेष्टा भी कर रहा है। वह भ्रमग्रस्त है। उसे अपने असली घर को पहचानना होगा--जीवन के साध्य को जानना होगा। बाहर ही बाहर सुख की खोज की जा रही है जबकि उसका निवास तो स्वयं के ही अन्तर्मन में है। लेकिन इस खोज को कामयाब बनाने के लिये आचरण को नैतिक तथा चरित्र को सुगठित बनाकर सदाचार एवं समता मार्ग पर सर्वकल्याण की भावना के साथ आगे बढ़ना होगा। जब 'मैं' और 'मैं ही सब कुछ हूँ' का अहंकार मिटेगा और राग भाव दूर होगा तभी जीवन नैतिक बन सकेगा। ध्यान रखें कि नैतिक जीवन का सुख अपार होता है और उसकी सरलतम अति आनन्ददायक, किन्तु उसे साधने में सच्चे पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

◆◆◆

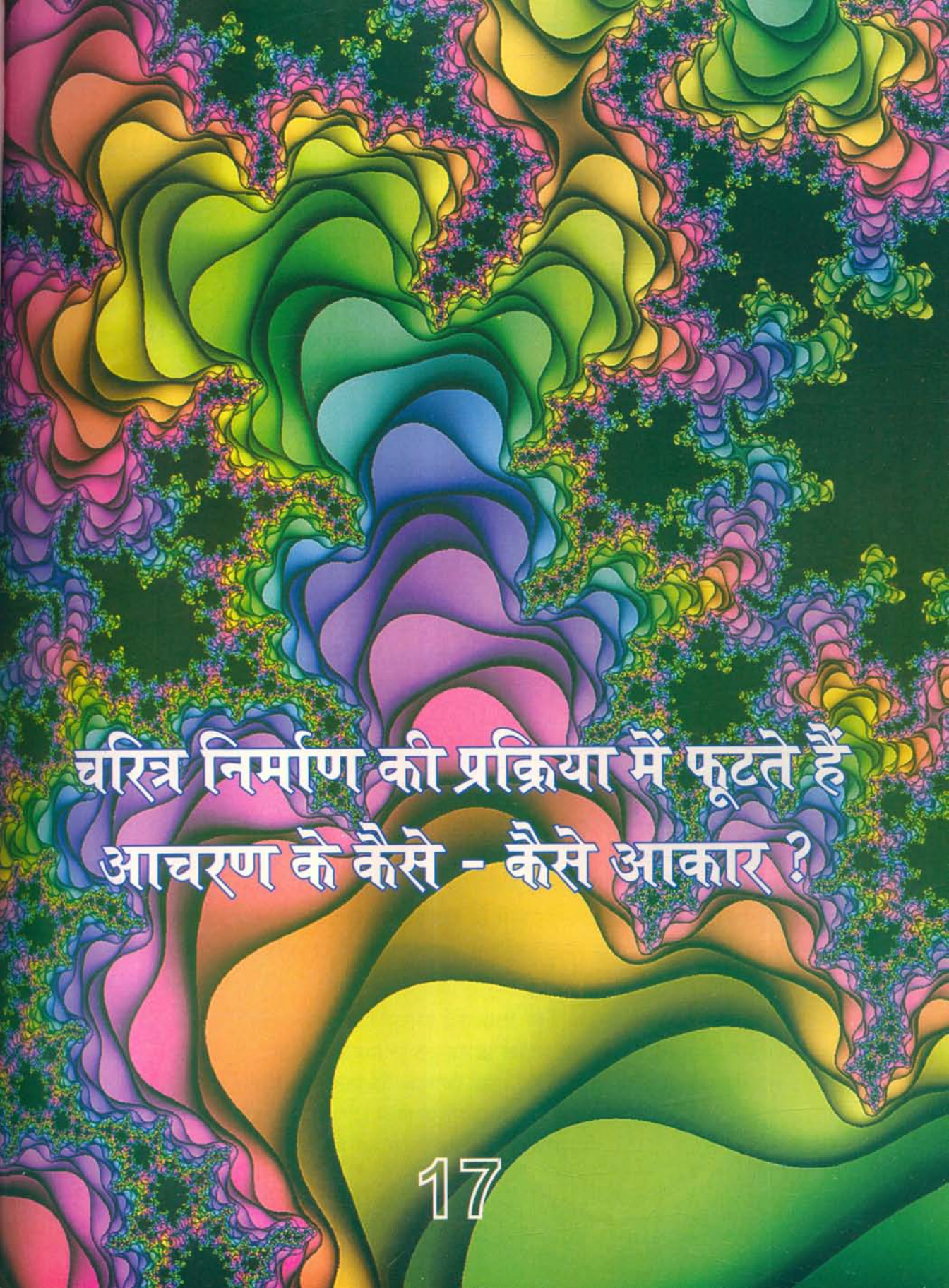


चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में फूटते हैं आचार के कैसे-कैसे आकार?

सत्, चित्त एवं आनन्द हेतु चिन्तन हो ऊर्ध्वगामी

राजकुमार अरणिक की आयु कम थी, लेकिन एक प्रवचन सुनने के उपरान्त ही उनकी भावनाओं का आवेग ऐसा बहा कि उन्होंने परिवार, सत्ता, सम्पत्ति सब कुछ त्याग कर साधु बन जाने का निश्चय कर लिया। निश्चय भी ऐसा कि राजा व रानी द्वारा भांति-भांति से समझाए जाने के बाद भी जो नहीं बदला। उल्टा राजकुमार ने अपने निश्चय की पुष्टि में ऐसा तर्क दिया कि माता-पिता को हार माननी पड़ी। राजकुमार ने दलील दी कि किसी घर में आज आग लगी हो और उसे पांच दिन ठहर कर बुझाने की बात कही जाए तो क्या वह उचित होगी? माता-पिता का अपने पुत्र के प्रति मोह इतना अधिक था कि उन्होंने भी पुत्र के साथ सब कुछ त्याग कर दीक्षित हो जाना समुचित समझा। दीक्षा के बाद रानी तो साध्वियों के संघ में अलग विचरण करने लगी किन्तु साधु अवस्था में भी राजा ने राजकुमार का साथ नहीं छोड़ा। भिक्षा लाने से लेकर सभी साधु चर्या के पुत्र के कार्य भी पिता ही करते और पुत्र की सुख-सुविधा को पूरा संरक्षण देते। यों मुनि अरणिक की किशोरकालीन कोमलता यथावत् बनी रही।

किन्तु एक दिन काल ने पिता का संरक्षण छिन लिया


चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में फूटते हैं
आचरण के कैसे - कैसे आकार ?
17

और साधु चर्या का दायित्व सीधा अरणिक मुनि पर आ गया। गुरु ने उन्हें दूर की बस्ती से भिक्षा लाने का आदेश दिया। मुनिगण वनप्रान्त में एक सघन वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे। मुनि अरणिक काष्ठ पात्र लेकर भिक्षार्थ उस बस्ती की ओर चले। अभी उन्होंने यौवन की देहरी पर पांव रखा ही था और कोमलता के साथ उनकी रूप राशि भी खिल रही थी। वह गरमी का मझ मौसम था। दोपहर का सूर्य अपने प्रखर ताप से आग के जलते हुए गोले की तरह महसूस हो रहा था। आसमान और धरती दोनों उत्तापित थे और मुनि अरणिक अपने खुले सिर से नंगे पांव तक जैसे जलते अंगारों को झेल रहे थे। ताप कष्ट का उनका यह पहला अनुभव था। फफोलों से भरे पांवों के साथ किसी तरह वे बस्ती तक पहुंचे और एक अट्टालिका की छांव में दो पल खड़े रह कर विश्राम करने लगे।

कहां कब क्या गुजरने वाला है-पहले पता नहीं चलता। वह अट्टालिका एक वेश्या की थी और झरोखे में बैठे बैठे उसने युवक मुनि की व्यग्रता भांप ली-व्यग्रता ही नहीं भांपी, उनकी अनुपम रूप राशि पर वह व्यामोहित भी हो गई। पहली ही दृष्टि में वेश्या के भीतर सब कुछ समा गया और उसने पूरी योजना गढ़ ली। वह भागी-भागी नीचे आई और मुनि से अभ्यर्थना की कि वे ऊपर चल कर विश्राम करे। मुनि चौंके-मुझे विश्राम नहीं करना, निर्दोष ने निवेदन किया-भिक्षा भी तो ऊपर ही मिलेगी मुनि ऊपर गये, खसखस की गीली टाटियों से शीतलता और सुगंध का सुख बह रहा था। उस समय कौन जानता था और क्या स्वयं मुनि भी जानते थे कि वे उस अट्टालिका के ऊपर जो आये हैं, वापिस नीचे नहीं उतर पायेंगे? मन भी क्या होता है, जो कभी हेय समझ कर एक स्थिति का त्याग कर देता है, फिर कभी उसी को पा लेने के लिये लालायित हो उठता है? मुनि के सामने पहला ही कष्ट आया उष्णता के रूप में और इसी उष्णता ने अरणिक मुनि के तन को ही नहीं, मन को भी बुरी तरह से झकझोर दिया। वे वेश्या के बाहुपाश में जकड़े जाकर वहीं रह गये-त्यागी से भोगी बन कर।

अपने पुत्र मुनि के पतित हो जाने का संवाद सुनकर रानी साध्वी पागल सी हो गई और 'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक' चिल्लाती हुई अपने पुत्र को खोजने नगर-नगर और गली-गली घूमने लगी। वही अट्टालिका और वही झरोखा-अरणिक अपनी प्रिया वेश्या के साथ चौपड़ पाशा खेल रहे थे और नीचे से बेटे के नाम की गुहार लगाती हुई रानी साध्वी निकली। मां का चिर परिचित शब्द क्या नहीं पहचान पाता पुत्र अरणिक। वह चौंका-मां का यह विह्वल स्वर क्या उस की ही दुर्दशा पर आर्त्तनाद तो नहीं कर रहा? एक झटके के साथ वह उठा और नीचे आकर साध्वी मां के चरणों में गिर पड़ा। यह तुमने क्या कर दिया, पुत्र-मां जैसे चीख रही थी ऐसी चीख जो अरणिक के कानों में घुसकर हजार गुनी तीव्र बन गई हो। मां! मैं पतित हो गया-मैं इसका कठोर प्रायश्चित्त करूंगा-इतने ही बोल फूट सके अरणिक के रुंधे हुए कंठ से।

एक वर्ष बीत गया था-फिर वही झुलसा देने वाली गर्मी थी। अरणिक जब उस गर्म रेत पर दंडवत् मां साध्वी के चरणों में लोट रहा था तब उस समय उसे वह गर्म रेत संसार की सबसे अधिक शीतल वस्तु लगी, क्योंकि पश्चाताप की आग जो उसके मन में जल उठी थी, वह उस गर्म रेत से हजारों-हजार गुनी ज्यादा गर्म जो थी। भोगी अरणिक पल भर में पुनः त्यागी अरणिक बन गया और साधुता से मन को पुनः पावन बना कर प्रायश्चित्त हेतु निकल पड़ा।

सूर्य के प्रचंड ताप से तप्त अग्नि पिंड के समान जलती हुई पर्वत शिला पर पहुंच कर मुनि अरणिक ने ध्यान धारण किया, प्रायश्चित्त से अपने पतन की कालिमा को धो डालने के लिये। तपी हुई धरती पर नंगे पांव धरने के कष्ट ने जिसे विह्वल कर दिया था, वही अब अग्नि पिंड पर बैठ कर भी आत्म-ध्यान में एकाग्र और अडिग बन गया था। कठोर प्रायश्चित्त और भावना के साथ मुनि अरणिक ने अपने मन को मथ डाला था और उससे संयम का जो नवनीत निकला उसे पाकर उनकी आत्मा परम आनन्द में विभोर हो गई। तप कर स्वर्ण निर्मल व प्रदीप्त कुन्दन बन गया।

कितने उछलते हुए उत्साह से सब कुछ त्याग दिया था चरित्र निर्माण के उद्देश्य के लिये राजकुमार अरणिक ने, किन्तु निर्माण की उस प्रक्रिया में कितने बनते, बिगड़ते, बदलते रंग बिखरे और अन्ततः प्रक्रिया ने कैसा जटिल रूप धारण कर लिया-इन घटनाओं पर गंभीर चिन्तन चलना चाहिए, मन की विविध अवस्थाओं का बारीकी से अध्ययन किया जाना चाहिए और निष्कर्ष निकालना चाहिए कि चरित्र निर्माण की प्राथमिक प्रक्रिया ही सुविचारित एवं सुघड़ हो। सफलता के लिये यह आवश्यक है कि निर्माण की प्रक्रिया के दौरान आचार के बदरंग आकार न फूटें।

आचार को एक बिन्दु मानें तो उसके आगे है शुभाचार और पीछे है अशुभाचार :

आचार या चरित्र अन्तरात्मा का एक सामर्थ्य होता है जिसको आचरण या निर्माण प्रक्रिया में लेकर सत्प्रयोग अथवा दुष्प्रयोग के मार्ग से उसे शुभत्व अथवा अशुभत्व में परिणत किया जाता है। यह सामर्थ्य सबको प्राप्त होता है पूर्व संस्कारों से, वंशानुगतता से और वातावरण से। इस सामर्थ्य को शुभता में प्रवृत्त करने या अशुभता से शुभता की दिशा में बढ़ाने में जो प्रयुक्त किया जाता है, वह पुरुषार्थ का विषय है। चरित्र के सत्प्रयोग का अर्थ शुभता है और दुष्प्रयोग अशुभता में उसे पतित बनाता है। अतः इसी दृष्टि से चरित्र निर्माण का अमित महत्त्व है। चाहते सभी शुभ हैं किन्तु आवश्यक मानसिकता के निर्मित न होने से वे कार्य अशुभता के करते रहते हैं, क्योंकि अनेक प्रतिकूल कारणों से उनकी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ अशुभता की कालिमा से रंग जाती है। इस कारण चरित्र निर्माण का कार्य ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता, उसकी प्रक्रिया में भी सतर्कता का उससे भी अधिक महत्त्व है।

आचार शुद्धि अथवा चरित्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ करने से पहले शुभता एवं अशुभता के क्षेत्रों की सही पहचान कर लेनी चाहिए तथा यह गहराई से जान लेना चाहिए कि शुभता के विकास की ऊंचाइयां कैसी है और अशुभता के पतन की गहराइयां कैसी? शुभता के क्षेत्र में आचार शुद्धि के चरण क्रमिकता से इस प्रकार उत्थानगामी बनते हैं-

1. **शिष्टाचार :** अपनी सभ्यता की अभिव्यक्ति व्यावहारिक शिष्टता से ही हो सकती है। यह शिष्टता ही पारस्परिक व्यवहार को सरल स्नेह से जोड़ती है और उसे घनिष्ठता तक ले जाती है।
2. **शुद्धाचार :** पारस्परिक व्यवहार में अभिमान, छल, कपट आदि की काषायिक वृत्ति न हो, उसमें सरलता और सहयोग का भाव हो तो वह शुद्धाचार कहलाएगा। शुद्धाचार पहले स्वयं की दुष्प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है, तभी दूसरों को अपनी शुद्धता से प्रभावित बनाता है। शुद्धता सर्वत्र श्रेष्ठ वातावरण रचती है।

3. **सदाचार :** नैतिकता और आचरण में उतारने पर आचार या चरित्र में जहां शुद्धता का संचार होता है, वहीं उसकी धारा सदाचार की ओर मुड़ जाती है। सदाचार की सीढ़ियां आत्मा को उत्थान की ऊंचाई तक ले जाती है और उसे श्रेष्ठता से गौरवान्वित बनाती है। सदाचार केवल व्यक्ति का ही उत्थान-उपाय नहीं है, बल्कि इसका वैश्विक महत्त्व भी उतना ही है-परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व और पूरा प्राणी समुदाय इससे सुप्रभावित होता है। अतः सदाचार को जीवन का ध्येय भी कह सकते हैं।

4. **श्रावकाचार :** सदाचार के मार्ग का पहला मील का पत्थर होता है श्रावकाचार। आचार का मिथ्यात्व दूर होने पर वहां सम्यक्त्व का अनुभव होता है और वह सत्य से सम्बद्ध होता है। तब गृहस्थ को अपना जीवन चरित्रमय या सदाचारमय बनाने के लिये जिन व्रतों को ग्रहण करना होता है, उनकी गणना श्रावकाचार रूप में की जाती है। श्रावक का व्रत साधु (श्रमण) से छोटा होता है, किन्तु मूलस्वरूप में समानता होती है, क्योंकि श्रावकाचार की अन्तिम परिणति श्रमणाचार के रूप में प्रकट होती है। श्रावकाचार पृष्ठभूमि बनाता है।

5. **श्रमणाचार :** पांच महाव्रतों का अपनाकर श्रमण अहिंसा का सम्पूर्ण रूप से पालन करता है। अहिंसा और सत्य का सम्पूर्ण पालन उसे लोककल्याण का स्वरूप प्रदान करता है। वह सर्वभूत प्राणी का रक्षक होता है। श्रमणाचार का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए श्रमण देवत्व की गरिमा से आगे बढ़ कर मुक्ति के साध्य तक भी पहुंच सकता है। श्रमणाचार में सदाचार का उत्कृष्टतम रूप विकसित होता है।

अब अशुभता के क्षेत्र की पहचान कर लें, जिस ओर मनुष्य वैभाविक दशा में जल्दी मुड़ जाता है और बेभान बन कर एक-एक सीढ़ी गिरते हुए पतन की गहराई में डूब जाता है। आचार के पीछे मुड़ने वाले कदम इस प्रकार हो सकते हैं-

1. **अशिष्टाचार :** पूर्व संस्कारों आदि में अशुभता घुली हुई हो और फिर वातावरण आदि भी अशुभ मिल जाए, तब वहां सभ्यता और शिष्टता के दर्शन दुर्लभ होते हैं। अशुभता से अशिष्टता ही पैदा होती है। यह अशिष्टता पारस्परिक व्यवहार को कटु एवं विद्वेष पूर्ण बना देती है तथा अहंकार आदि के प्रयोग से एकता को फूट में बदलती रहती है। अशिष्टता को कोई भी पसन्द नहीं करता यहां तक स्वयं अशिष्ट व्यवहार करने वाला भी नहीं। लेकिन अशुभता में आंखें बंद रहती हैं।

2. **अशुद्धाचार :** अशिष्टता से शुद्धता की आशा ही नहीं की जा सकती है। अशिष्ट व्यक्ति का व्यवहार सदा अशुद्ध ही रहेगा, क्योंकि वह सोचता कुछ और है, कहता कुछ और तथा करता कुछ और है। अशुद्धता से उस व्यक्ति का दुर्जनता के क्षेत्र में प्रवेश हो जाता है। उसका जीवन अशुद्ध और दुर्गुणी बन जाता है।

3. **दुराचार :** आचार जब अशुद्ध हो जाता है तो वह दुष्ट हुए बिना नहीं रहता। 'सु' का लेबल हटा तो 'दु' का लेबल लगेगा ही। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये वैसे आचार पर कोई नियंत्रण नहीं रहता, वह स्वच्छंद बन कर पर-पीड़क बन जाता है। आचार के पहले जब 'दुः' लग जाता है तो कोई

दुर्गुण नहीं बचता जो उसे जकड़ नहीं लेता। दुराचार उस दुराचारी व्यक्ति के लिये ही नहीं, पूरे समाज के लिये घातक हो जाता है।

4. **कदाचार :** दुराचार उससे भी भयंकर कदाचार का रूप ले लेता है जो अधिक मायावी और कपटपूर्ण रूप लेकर भीषण परिणाम प्रकट करने वाला बन जाता है। कदाचारी संस्थाओं-संगठनों के साथ ही ऐसे लम्पट कार्य करता है कि उनसे विक्षोभ फैलता है।

5. **अनाचार :** जब आचार का सामर्थ्य ही शून्य हो जाता है, तब वह आचार विहीनता मनुष्य को राक्षस बना देती है। उसके भीतर से सद्गुणों का लोप हो जाता है और दया मया समाप्त हो जाती है। वह क्रूर और निर्मम बनकर मानव और मानवता का विनाश करता है।

6. **पापाचार :** आचारहीनता को पापपंक के सिवाय और क्या मिलेगा कि जिसमें अपनी सारी पहचान को डुबो कर पापी बन जाने का काला टीका लगा ले। दिन-रात पापाचार में डूब जाने वाला व्यक्ति सामाजिक एवं मानवता के मूल्यों के लिये खतरा बन जाता है।

7. **अत्याचार :** दुराचार, अनाचार और पापाचार मनुष्य से सारी मनुष्यता छीन लेते हैं और उसे नर राक्षस बना देते हैं। वह कारणवश और अधिकतर अकारण ही दुर्बल वर्गों का दमन करता है, उनका शोषण करता है और उन्हें नृशंसतापूर्वक उत्पीड़ित करता है। अत्याचार का पात्र जब कोई शासक या प्रभावशाली निहित स्वार्थी व्यक्ति हो जाता है, तब तो शासितों व अधीनस्थों पर जैसे कहर ही टूट पड़ता है।

8. **भ्रष्टाचार :** आचारहीनता का आधुनिक रूप है भ्रष्टाचार अर्थात् जिसका आचार कर्त्तव्य से भटक कर भ्रष्ट हो जाता है। यह हकीकत में लोकतंत्री शासन की उपज है जिसमें निर्वाचित जन प्रतिनिधि शासन के सेवकों-नौकरशाहों के साथ मिलकर जनता का धन लूटते हैं और अपनी तिजोरियां भरते हैं-फिर धन बल, बाहु बल या छल बल से चुनाव जीत कर सत्ता हथियाते रहते हैं। आज इस भारत जैसे धर्मदृष्टि वाले देश में भी यह भ्रष्टाचार जिस कदर फैला है कि शासन का कोई कोना भ्रष्टता से शायद न बचा हो। यह भ्रष्टाचार का गटर ऊपर से लेकर ठेठ नीचे तक इस तरह बह रहा है कि सभी उसमें डुबकियां लगा कर खुश हो रहे हैं और लोकतंत्र को बदनाम कर रहे हैं। जब चरित्र निर्माण की बात की जाती है तो भ्रष्टाचार की ही समस्या उभर कर सबसे बड़ी दिखाई देती है।

यों चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में जब जुटते हैं तो आचार के इन रंग-बदरंग रूपों का ज्ञान आवश्यक होता है कि अशुभता से सर्वत्र बचा जाए और शुभता को जीवन की प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति में आत्मसात् किया जाए।

चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में फूटे हैं और फूटते हैं आचार के विविध आकार :

इतिहास को टटोलें और वर्तमान को भलीभांति परखें तो ऐसे अनेक सैद्धान्तिक उदाहरण दृष्टिगत हो सकते हैं जिनमें आचार के विविध आकारों की झलक मिलती हो। समय आगे बढ़ता है तो बदलाव आते हैं, जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति बदलता है, समाज बदलता है और इन बदलाओं

में धारणाएं बदलती हैं, नई परम्पराएं ढलती हैं तथा काफी कसमसाहट के बाद नई सभ्यता या संस्कृति भी जन्म लेती है। इन सारे परिवर्तनों के विश्लेषण से आचार के संदर्भ में बनते-बदलते सैद्धान्तिक आकारों का परिचय मिलता है। यहां कुछ उदाहरणों की समीक्षा करें-

1. **आचार, आस्तिकता और हिंसा :** आज से अढ़ाई से तीन हजार वर्ष पहले हिन्दु धर्मानुयायी यज्ञ याग आदि में पशु बलि आदि के रूप में की जानी वाली हिंसा को हिंसा नहीं मानते थे-'**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।**' जब हिंसा धर्मानुष्ठानों में होती थी तो आस्तिकता पर आरोप का प्रश्न नहीं था। आज तक भी इस्लाम मानने वालों का बड़ा भाग धर्म प्रचार में हिंसा को जायज मानता है और जेहाद का समर्थन करता है, फिर भी अपने को मुसलमान मानते हैं, काफिर नहीं। किन्तु कालान्तर में इस आचार विधि के विरोध में विश्वमत बना है और सैद्धान्तिक प्रतिपत्ति यह बनी है कि बलपूर्वक सत्य का और कल्याण का प्रचार नहीं किया जा सकता है, बल्कि अच्छाई और सचाई के लिये भी जो हिंसा का प्रयोग करते हैं उनकी आस्तिकता में कमी माननी चाहिए, क्योंकि हिंसा का हित और प्रेम के साथ मेल नहीं है। बल के रूप में सत्य के साथ अहिंसा का ही मेल हो सकता है। अहिंसक बल ही सच्चा बल है।

2. **व्यक्ति के आचार की सीमा :** सामान्य रूप से यह कहावत सही लगती है कि जो '**जैसा करेगा, वैसा भरेगा**', किन्तु यह पूरा सच नहीं है। इस को मान कर दूसरों के दु:ख सुख की ओर से हम नजर चुरा लेते हैं कि यह उसकी करणी-भरणी है। सच यह है कि जैसे बाहर की सर्दी-गर्मी हमें छूती ही है, वैसे दूसरों के दु:ख सुख का असर भी हम पर जरूर होगा। इस तरह हम अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें और बुराई की जड़ को खोजें। आशय यह है कि व्यक्ति के आचार की सीमा उस तक ही सीमित नहीं, उसका सामाजिक प्रभाव भी होता है।

3. **चरित्रनिष्ठा का आधार विवेक :** जब तक शरीर में चैतन्य रहता है, प्राण गति क्षणांश के लिये भी रुकती नहीं है। इसमें 'अहं' जो होता है, वह सारे सुख-दु:ख को अपना करके मानता है तथा एक द्वैत या द्वन्द को खड़ा करता है। इस द्वन्द में मनुष्य की चरित्रशीलता अत्यन्त उपयोगी होती है जिसके सम्बल से विवेक सदा जागृत रहता है। यह विवेक द्वन्द के भीतर भी काम करता रहता है तथा सन्तुलन बनाए रखता है। आदिम मानव हो या अवतारी पुरुष-विवेक सब में ही अनिवार्य है। विवेक के कारण ही व्यक्तित्व के स्तरों का ज्ञान होता है और स्तरानुसार मस्तिष्क, हाथ व अन्य अंगोपांगों की पारस्परिक सक्रियता बनी रहती है।

4. **अन्तर्विग्रह से भी चरित्र निर्माण :** जो वस्तु मनुष्य के लिये समस्या बनती है, वह है अपने भीतर अनुभव में आने वाला अन्तर्विग्रह और उसका उत्पाद कलह। किन्तु यदि इस जगह पुरुषार्थ और चेष्टा का उपयोग किया जाए तो यही अन्तर्विग्रह चरित्र निर्माण का कारण बन सकता है। व्यक्तित्व के तीन स्तर माने गये हैं-इन्द्रिय, बुद्धि और मन, जिनमें यदि आचार संतुलन के कारण समरसता और एकाग्रता लाई जा सके तो समस्याओं का समाधान निकल आता है। तब न कलह होता है, न क्लेश। तीनों स्तरों की एकता मुक्ति तक की राह बन सकती है, अन्यथा कलह की कमी नहीं रहती। चरित्र निर्माण का यहां महत्त्व है।

5. **सच्चा आचार है अहं को खोलना, न की दबाना :** कहा जाता रहा है कि अहं-मैं को दबाइये और उसका नतीजा निकलता आया है कि अहं भाव हमारे भीतर गहरे उतरता जाता है तथा संभावनाएं जकड़ी रहती है, खुल नहीं पाती। आचार के नये स्वरूप का मानना है कि अहं को अपना द्वार बनाइए ताकि भीतर का बाहर और बाहर का भीतर आ जा सके। इस तरह अहं धीरे-धीरे शून्य बन जाता है। अहं को दबाना नहीं, खोलना ही सच्चा आचार है। इसी 'मैं' में से हम-तुम, इस-उसकी ओर बढ़ते हुए कुल (पूर्ण) में जा मिलने की प्रेरणा प्राप्त होती है। तब अलगाव दूर होगा और हम परस्परता को समझ पाएंगे जहां से समग्रता में मिल जाएंगे।

6. **श्रद्धा आचार की गति है, पर कैसी :** धारणा रही है कि श्रद्धा को आप्त वचन चुपचाप सिर झुकाकर स्वीकार कर लेना चाहिये, उसमें शंका नहीं उठानी चाहिए जबकि आज मान्यता बन रही है कि वह श्रद्धा जो प्रश्न को बंद कर दे, सच्ची श्रद्धा नहीं। वह अंधी बनकर मताग्रह का रूप ले लेती है। श्रद्धा को आचार की गति माना है और श्रद्धा पुष्ट तथा गत्यात्मक तभी हो सकती है जब प्रश्न और जिज्ञासा पूर्ति के पूरे अवसर मिले। सच्ची श्रद्धा महाग्रह को तोड़ कर मतों के बीच आपसी तालमेल पैदा करती है।

7. **अहिंसक आचार के लिये गहरी दृष्टि :** हिंसा के गहरे रूपों को समझेंगे तभी अहिंसक आचार विकसित होगा। शोषण शुद्ध रूप से हिंसा है। श्रेणी या वर्ग के उन्मूलन से बात नहीं बनेगी-बात तो बनेगी उनके बीच रहे हुए हिंसा के जहर को मिटाने से। जहर मिटने पर अन्तर और भेद भी अखरेंगे नहीं-सर्वत्र प्रेम का संचार होगा। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट हिंसा है और मिटाना उसको है लेकिन जो दुश्मनी मिटाने की बजाय दुश्मनों को मिटाने में विश्वास करता है, समझें कि वह हिंसा में ही विश्वास करता है। इस कारण क्रान्तिकारी कुछ दूरी तय करने के बाद ही भोगवादी, अवसरवादी, शासनवादी और दुनियाबाज होते हुए देखे गये हैं। *हिंसा के प्रति विश्वास मूल से मिटे।*

8. **धर्म मतवादी नहीं, आचारनिष्ठ बने :** कहा जाता है कि धर्म आज संगठित मतवाद और पूंजीवाद का नाम बन गया है। लेकिन आवश्यक यह है कि धर्म के साथ ऐसी आचारनिष्ठा जुड़े जहां से हमारे हृदय को एवं भावनाओं को पोषण मिले। धर्म की यही उपयोगिता है कि अपने जैसे अस्तित्व वाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ हम समझ या बुद्धि का संबंध बिठा कर जो व्यवहार चलाते हैं, उसका मूल भावात्मक (इमोशनल) भूमिका से अभिन्न रहे और धर्म उसी तल की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी करता रहे। मानव अब धर्म की ऐसी ही सम्भावनाओं की ओर मुड़ना चाहेगा।

प्रत्येक युग में परिवर्तनों के क्रम में नई धारणाएं बनती और परम्पराएं पनपती है। इस बदलाव में एक स्थिर सत्य यह है कि चरित्र निर्माण के प्रयत्न सदा सतत रूप से चलते रहते हैं क्योंकि चरित्र विकास पर व्यक्ति एवं समाज की प्रगति निर्भर करती है। अत: यह एक वास्तविकता है कि चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में आचार के विविध आकार फूटे हैं और फूटते रहते हैं जिनमें से नई सैद्धान्तिक प्रतिपत्तियां भी ढलती हैं। शाश्वतता एवं परिवर्तन का सही समन्वय ही मनुष्य को सदा शुभता की दिशा में गति कराता रहेगा और उसकी चरित्रनिष्ठा को दृढ़तर बनाता रहेगा।

आचार की भिन्न-भिन्न परिणतियाँ होती है स्वभाव व विभाव के धरातलों पर :

ज्ञेय, हेय एवं उपादेय तत्त्वों का ज्ञान कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता है। ज्ञेय जान लिया, ठीक है। समझें कि हेय को छोड़ दिया वह भी ठीक है। लेकिन उपादेय तत्त्वों का लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता, जब तक आत्मा जागृत न हो जाए और उन तत्त्वों को अपने आचार में ढाल लेने के लिए तत्पर न बन जाय। इस आत्म-जागृति के लिये आत्मस्वरूप का दर्शन करना होगा और उस स्वरूप का मूल बिन्दु है आत्मा के मूल स्वभाव को पहचानना, विभावगत दोषों को समझना तथा विभाव की विकृतियों को त्याग कर स्वभावगत सद्गुणों से अपने आचरण को संवारना। इसमें भावनात्मक पक्ष का महत्त्व होता है। यदि भावना प्रबल और उत्कृष्ट बन जाए तो रूपान्तर देखते-देखते हो जाता है, अन्यथा एक लम्बे अभ्यास के माध्यम से उद्देश्य को प्राप्त करना होता है किन्तु दोनों प्रकारों में अपनी पुरुषार्थ शक्ति का प्रयोग तो अनिवार्य होता ही है। आत्मा के स्वभाव-विभाव की कुछ चर्चा पहले हो चुकी है और यहां इससे संबंधित यह सत्य मान लेना चाहिए कि मूल स्वभाव चाहे जितना दब जाए, छिप जाए अथवा विस्मृत हो जाए वह कभी-भी सही, अपनी झलक अवश्य दिखाता है। आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा-यह किसी अन्य के समझाने का विषय नहीं होता बल्कि यह स्वानुभूति का ही विषय अधिक है। अतः भीतर की आवाज को सुनना, उसे समझना तथा उसका अनुसरण करना-यह मूल स्वभाव को प्रकाशित करने का सबसे अच्छा उपाय है। जब स्वानुभूति का पक्का धरातल बन जाता है, तब स्वभाव व विभाव के भेद को जांच लेना कठिन नहीं रहता। स्वभाव तथा विभाव के अलग-अलग धरातल साफ दिखाई देने लगते हैं और समझ में आने लगता है कि किन दबावों के जोर से आचार की भिन्न-भिन्न परिणतियां समक्ष आती है।

स्वानुभूति से अन्तर्ज्ञान हो जाता है कि आत्मा को क्या अच्छा लगता है और वह 'सब अच्छा' उपादेय होता है। उसका आचरण कहीं शुभता की दिशा में ले जाता है तथा वह आचरण ही चरित्र निर्माण का प्रधान सम्बल सिद्ध होता है। आत्मा को क्या बुरा लगता है वह भी साफ-साफ समझ में आ जाता है तो फिर चरित्रनिष्ठा उसे हेय मानकर अपना पराक्रम उसे त्यागने में लगा देती है। इस विधि से अलग-अलग धरातलों को मिटा कर चरित्रशीलता का एक ही धरातल तैयार हो जाता है और तब आचरण का पराक्रम उसके शुद्धिकरण में लग जाता है। चरित्र निर्माण चरित्र विकास की धारा में प्रगति की ओर प्रवाहित होने लगता है। तब आचार विधि अथवा आचरण शक्ति इन्द्रियों तथा मन के भ्रामक निर्देशों को नहीं मानती है तो केवल आत्मा की आवाज को और उसे केवल मानती ही नहीं, अपितु उस आवाज के अनुसार अपनी इन्द्रियों तथा मन को चलाती भी है। यह स्थिति आत्म-पुरुषार्थ को सक्रिय बनाए रखती है जिससे आचार शुद्धि अथवा चरित्र गठन अपने अन्तिम साध्य तक मानव जीवन को अवश्य पहुंचा देता है। तब चरित्र सम्पन्नता दमकने लगती है और मानव को उसके सच्चे मूल्यों के साथ स्थाई रूप से संयुक्त कर देती है।

यह सही है कि आत्मोन्नति की काफी ऊंचाई चढ़ जाने तक भी स्वभाव का विभाव में और विभाव का स्वभाव में आवागमन होता रहता है जिससे भावनाओं में उतार चढ़ाव चलता है। इसका असर आचरण पर पड़े बिना नहीं रहता। विभाव के घेरे से आत्मा को पूरी तरह मुक्ति मिल जाए वही

तो वास्तविक मुक्ति होती है। आत्म का मूल स्वभाव पूर्णतः प्रकाशित हो जाय-यही तो अन्तिम साध्य है। यही आचरण शुद्धि अथवा चरित्र सम्पन्नता का शिकार होता है।

आचार में प्रगतिशील मोड़ लाने वाला मंगल-सुविचार :

विचार सु हो तो वह मंगलमय होगा और ऐसा मंगल सुविचार आचार में आवश्यकतानुसार प्रगतिशील मोड़ लाने की क्षमता रखता है। इस सुविचार का केन्द्र है 'मैं' और 'मैं' सामान्य नहीं है। **'ब्रह्मोमि'** अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ यानी कि परमात्म पद तक पहुंचने का सामर्थ्य इसी आत्मा में है। किन्तु इस 'मैं' के भी कई रूप समय-समय पर दिखाई देते हैं-जो इसके स्वाभाविक रूप कम और वैभाविक रूप अधिक होते हैं। 'मैं' के ये दो रूप मुख्य माने जा सकते हैं-1. 'मैं' का अहंकार संसार है तो 2. 'मैं' का विस्तार संन्यास है। जीवन का यह एक छोर तथा दूसरी ओर दूसरा छोर। अहं सामान्य होता है परन्तु उसके साथ 'कार' जुड़ जाने पर स्थिति एकदम भिन्न हो जाती है। अहंकार. विकारों तथा विषमताओं का ऐसा जीवन-घातक स्रोत बन जाता है कि मैं का मूल स्वभाव ही बिखर जाता है-रूप-अपरूप बन जाता है। वहीं दूसरा छोर संन्यास का कहा गया है जो कि 'मैं' को उन सभी विकारों तथा विषमताओं से मुक्त कराने का पराक्रम प्रकट करता है। यह 'मैं' का विस्तार है जो समता तथा सद्भावना के साथ समस्त संसार में भावात्मक रूप से व्याप्त हो सकता है।

इस पर सहज जिज्ञासा उभरती है कि कौन हूँ मैं? मैं होकर भी अपने 'मैं' को नहीं जान पाया अब तक-यह कैसी विडम्बना है? इतना करीब, इतना सन्निकट रहता हूँ मैं अपने मैं के साथ, बल्कि एकरूपता है फिर भी मैं को नहीं पहचान पाता हूँ मैं। मैं इस सही पहचान से भटक कर कभी अपने शरीर को ही 'मैं' का रूप मान लेता हूँ तो कभी इन्द्रियों को, कभी मन एवं बुद्धि को, पर सच यह है कि ये सब 'मैं' का स्वरूप नहीं है, बल्कि ये सब भ्रान्तियां हैं। चिन्तन की धारा आगे से आगे बढ़ती है-इन भ्रान्तियों को भेद कर मैं निज स्वरूप को, 'मैं' को कैसे पहचान सकता हूँ?

तब चिन्तन ऊर्ध्वगामी होता है और भाव प्रखर बनता है कि मैं ज्ञान, दर्शन, चरित्र से परिपूर्ण शाश्वत सत्य सनातन हूँ। मेरा मूल स्वरूप सत्, चित् एवं आनन्ददायक है। यथार्थतः मैं अकेला हूँ या सर्व समाविष्ट हूँ। मेरा कोई नहीं है अथवा प्राणिमात्र मेरा है। मेरी आत्मा जैसे अधिकाधिक विस्तृत होती जा रही है और लगता है कि अन्य सब पदार्थ संयोग मात्र है तथा आत्मा एवं आत्मवत् भावना ही प्रमुख है। पदार्थों का संयोग और वियोग तो होता रहता है जिस पर न हर्षित होने की और न ही खेदित होने की आवश्यकता है। 'मैं' तो केवल आत्म स्वरूपी हूँ तथा सबके आत्मस्वरूप को ही पहचानना चाहता हूँ जिनके बीच पूर्ण समानता का संबंध है, मूल स्वभाव की दृष्टि से। यही तो 'मैं' का रहस्य है, मैं का स्वरूप है और 'मैं' को पहचानने के लिये आगे रखा जाने वाला आचार का चरण है। 'मैं' की इसी चिन्तन की फलश्रुति समक्ष आती है आचार विधि तथा आचार शुद्धि के प्रगतिशील मोड़ों के रूप में।

आचार शुद्धि अथवा चरित्र निर्माण के कठिन पथ पर यह मंगल सुवचिार धैर्य तथा उत्साह का नया वातावरण बनाता है कि कौन होता है महावीर?-इस पर गहरा चिन्तन चले। हम हर सुबह जगते हैं और हर निशा में सो जाते हैं-जगना और सोना, बस जीवन का यही स्थूल क्रम बना हुआ है? सोच

उठता है कि क्या इस में ही जीवन की सार्थकता है? भीतर से आवाज उठती है-नही, कदापि नही। चाह होती है कि कभी जगें तो ऐसे जगें कि फिर कभी सोना न पड़े। यह जागरण केवल निशि निद्रा से ही नहीं, बल्कि मोह-निद्रा से हो। राग और द्वेष के बंधनों को चाक-चाक कर देने की शक्ति हमारे भीतर फूट पड़े। लेकिन कैसे होगा यह? चिन्तन विचार को बल देगा तथा विचार आचार में परिणत होकर प्रगति की ऐसी उड़ान भरेगा जो इस प्रश्न का उत्तर दे देगा कि कौन होता है महावीर?

खेदजनक अवस्था यही है कि आज हमारा चैतन्य अनादि से अज्ञान और मोह की नींद में सोया है-कई बार जागता है पर जाग कर भी असल में जागता नहीं, पुनः पुनः मोहाधीन हो जाता है। प्रश्न यही है कि कब तक यह चैतन्य सोया रहेगा? हम इसका आभास तो लें-ज्ञान तो जगावे, कर्म को जगावें और जानने का प्रयास करें कि कैसे हो सकेगा इसका जागरण तथा कैसे स्थाई बन सकेगा वैसा जागरण? ज्ञान-कर्म का यह सम्बल पाकर हम आचार का नया मोड़ ले सकेंगे, चरित्र का नया रूप निखार सकेंगे। ऐसा होने पर ही हम जीवन के पलों को सार्थकता के साथ जी पाएंगे और उन्हें जीएंगे भी पूरी जीवन्तता के साथ। अपना अपने प्रति जीवन्त हो जाना ही धर्म है, साधना है, आचारशुद्धि है और चरित्र सम्पन्नता है। सबसे बढ़कर यही तो 'मैं' की पहचान है और यही है महावीर बनने का सच्चा मार्ग। जो इस मार्ग पर आचार एवं चरित्र बल को लेकर चल पड़ता है वही वीर कहलाता है, महावीर बन जाता है। इस मंगल सुविचार को हृदय में धारण करें और इस पर सदैव गहन चिन्तन करते रहे।

आचार के स्वस्थ एवं विकासशील आकार हेतु जरूरी है पुरुषार्थ :

आचार का पूर्ण रूप है-विचार, वचन और व्यवहार तथा यही चरित्र का रूप है। इन्हें मानव जीवन के तीन द्वारों के रूप में देखा जा सकता है। इन तीन द्वारों में बहती रहती है दो धाराएं-शुभता की धारा एवं अशुभता की धारा अर्थात् आचार या चरित्र संपन्नता की धारा और अनाचार व चरित्रहीनता की धारा। हीनता की धारा को सम्पन्नता की धारा में बदलते रहने की चेष्टा का नाम ही है पुरुषार्थ, जिससे आचार के स्वस्थ एवं विकासशील आकार निर्मित होते रहते हैं, विकास पाते रहते हैं और फलदायक बनते रहते हैं। पुरुषार्थ के प्रयोग का यही क्षेत्र है कि जीवन के ये तीनों द्वार सदा पवित्रता से ओतप्रोत रहें।

विचार, वचन और व्यवहार अथवा मन, वचन और काया के इन तीनों द्वारों में पहला स्थान है मन का। मन का द्वार मौलिक होता है क्योंकि विचारों का उद्गम स्थल मन ही होता है। इस द्वार की पवित्रता भी इसी कारण अहम है। यह द्वार पवित्र बन जाए तो आगे के दोनों द्वारों को पवित्र बनाना अधिक कठिन नहीं रहेगा। वाणी व व्यवहार तदनन्तर स्वतः ही संशोधित होते चले जाएंगे। मन पवित्र तो सब पवित्र **'मन चंगा तो कठौती में गंगा'** और मन बिगड़ा तो दूसरे द्वारों के बिगड़ने में देर नहीं लगेगी। दूषित भावना वचन को प्रदूषित बनाती है और दूषित वचन सारी व्यवहार-व्यवस्था को दूषित बना देता है। आज मानव का प्रदूषण समस्त प्रकृति का ही प्रदूषण जो बन गया है। यह सब चरित्रहीनता का द्योतक है।

तीनों द्वारों की क्रियाशीलता तो निरन्तर बनी ही रहती है। समस्या यही है कि उस क्रियाशीलता को अशुभता के क्षेत्र से निवृत्त करें तथा शुभता के क्षेत्र में प्रवृत्त बनावें। इस समस्या का ही समाधान रहा हुआ है तीनों द्वारों की पवित्रता में। इस त्रिरूपी पवित्रता को प्राप्त करने का ही मार्ग है आचार शुद्धि तथा चरित्र निर्माण, जिसके लिये समुचित पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है। अब यह पुरुषार्थ क्या है? संयम का पुरुषार्थ-आत्मनियंत्रण का पुरुषार्थ, जिसका फल प्राप्त होगा आत्मशान्ति के रूप में, सामाजिक सद्भावना के रूप में तथा समता का साध्य पाने के रूप में।

◆◆◆

मानव चरित्र का संचरण इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

18



मानव चरित्र का संचरण इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

चरित्र के उत्थान-पतन का दस्तावेज है इतिहास

कैसे-कैसे चरित्र-नायक आए, क्या-क्या उल्लेखनीय कार्य उन्होंने किए तथा सामान्य रूप से किस प्रकार के चारित्रिक वातावरण का उन्होंने प्रसार किया-यही सब कुछ इतिहास के पन्नों पर अंकित होता है। ऐसी ही कुछ ऐतिहासिक बानगियां देखें एक-एक जोड़ी चरित्र नायकों की गतिविधियों से संबंधित ताकि चरित्रशीलता तथा चरित्रहीनता के सामाजिक वातावरण का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके-

1. सम्राट अशोक एवं कुणिक : सम्राट अशोक को इतिहास ने महान् कहा है-इसलिए नहीं कि उन्होंने एक विशाल साम्राज्य की नींव रखी अथवा इसलिए भी नहीं कि वे एक वीर योद्धा और ऐश्वर्यशाली थे, बल्कि इसलिए कि कलिंग विजय के बाद उनके चरित्र में अचानक आश्चर्यजनक परिवर्तन आया और वे एक अहिंसक सम्राट बन गए। सभी इतिहास प्रेमी जानते हैं कि कलिंग राज्य को जीतने के युद्ध में जो महाविनाश हुआ और अपार मानव रक्त बहा, उसे देख कर अशोक का कठोर हृदय पिघल कर पानी हो गया और वह दया व करुणा का केन्द्र स्थल बन गया। अशोक का हृदय परिवर्तन

सामाजिक चरित्र के उत्थान का एक बहुत बड़ा कारण बना।

दूसरी ओर सम्राट कुणिक (अजातशत्रु) के चरित्र का भी उल्लेख है जिसने अपने पिता श्रेणिक (बिम्बिसार) को कारागार में डाल कर मगध राज्य पर अपना समय से पूर्व आधिपत्य जमाया तथा चरित्रहीनता की नींव पर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। दिन और रात की तरह चरित्रशीलता और चरित्रहीनता का क्रमशः वातावरण चलता रहा है जो स्वाभाविक भी है। रात का गहरा अंधेरा न हो तो प्रभात की अभिलाषा बलवती कैसे बने?

2. अकबर बादशाह और औरंगजेब : मध्यकालीन इतिहास में अकबर बादशाह को महान् माना गया है, क्योंकि वे निष्पक्ष, न्याय रक्षक एवं धर्म में उदारता के समर्थक थे। सभी धर्मों को उन्होंने समान रूप से सम्मान दिया और उन्हें राजकीय प्रोत्साहन से आश्वस्त बनाया। वहीं उनके पड़पोते बादशाह औरंगजेब ने धार्मिक कट्टरता के साथ गैर मुसलमानों पर भारी अत्याचार किए तथा लाखों लोगों से बलात् धर्म परिवर्तन कराया। इस प्रकार दोनों के शासन को पूर्व और पश्चिम कहा जा सकता है। शासन के स्वरूप में न केवल शासक का, अपितु शासितों के चरित्र की भी झलक मिलती है।

3. महाराणा प्रताप व राजा मानसिंह : स्वतंत्रता की चाह और उसकी रक्षा का भाव चरित्र की उज्ज्वलता की प्रतीक होती है तो स्वतंत्रता की उपेक्षा करके अपने स्वार्थों की पूर्ति कर लेना ओछे चरित्र की बात हो जाती है। इन दोनों प्रकार के मध्यकालीन इतिहास में ही हुए चरित्र नायक रहे मेवाड़ के महाराणा प्रताप तथा जयपुर के राजा मानसिंह। प्रताप ने अकबर के विरुद्ध मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए जंगलों की खाक छानी और युद्ध के जौहर दिखाए। यह चरित्रशीलता की अद्‌भुत 'स्पिरिट' होती है जो कठिनाइयों और कष्टों में भी सुख का अनुभव करती है। इसी का दूसरा पक्ष अपनी स्वतंत्रता बेच कर और भौतिक सम्पत्ति को अपने कब्जे में रख कर सुख पाता है, लेकिन वह कोई वीरोचित सुख नहीं होता। इतिहास में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा चरित्र की उत्कृष्टता से ही होती है। एक चरित्रशील नायक के चरित्र का प्रभाव अस्थाई ही नहीं होता, आज तक भी मेवाड़ ही नहीं, पूरे भारत में प्रताप का यशगान किया जाता है।

4. महात्मा गांधी एवं मोहम्मद अली जिन्ना : आधुनिक इतिहास की यह ताजी मिसाल है कि जिसमें महात्मा गांधी की चरित्रशीलता बेमिसाल है। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध स्वतंत्रता संघर्ष में सत्याग्रह आदि अहिंसात्मक उपायों से जनान्दोलन चलाए तो दूसरी ओर मानवता को तोड़ने वाली साम्प्रदायिकता का अन्तिम दम तक विरोध किया। उन्होंने कोई भी मुद्दा हिन्दू या मुसलमान की साम्प्रदायिकता के आधार पर तय करने से मना कर दिया तथा धर्म निरपेक्ष राजनीति का प्रवर्तन किया। अपनी चरित्रशीलता के दम पर उन्होंने एक-एक भारतीय के चरित्र में नई जान फूंकी और चरित्र के प्रभाव को स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ सिद्ध कर दिखाया। दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्यवादियों के हाथों की कठपुतली बनकर मोहम्मद अली जिन्ना ने भारत का विभाजन कराया तथा अपने साम्प्रदायिक एवं व्यक्तिगत स्वार्थ पूरे किए। सच तो यह है कि जिस साम्प्रदायिक आधार पर देश का विभाजन हुआ और घोर घृणा का प्रसार हुआ उससे-सामान्य जन के चरित्र निर्माण को भारी आघात झेलने पड़े।

यों इतिहास के चरित्र नायकों की गतिविधियों तथा घटित घटनाओं का व्यक्ति एवं समाज के

चरित्र गठन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, किन्तु समय का चक्र उत्थान से पतन तथा पतन से उत्थान के क्रम का पूर्णतया निर्वाह करता है। यदि चरित्र निर्माण के अभियान में वांछित तत्परता लाई जा सके तो उत्थान के क्रम को तीव्रता अवश्य प्रदान की जा सकती है।

इतिहास क्या होता है?-चरित्र के उत्थान-पतन की कहानियां ही तो :

इतिहास के कतिपय चरित्र नायकों से संबंधित उपरोक्त टिप्पणियों से इस तथ्य का स्पष्ट आभास होता है कि चरित्र के उत्थान-पतन की कहानियां ही इतिहास की मुख्य विषय वस्तु होती है। चरित्र नायकों की चरित्रशीलता का सामान्य जन तथा समाज पर अति अनुकूल प्रभाव पड़ता देखा गया है तो कहीं प्रतिक्रिया स्वरूप नायकों या शासकों की चरित्रहीनता का कटु विरोध भी चरित्र निर्माण के लिये अनुकूल वातावरण बनाता आया है। यह तो एकदम निश्चित है कि इतिहास की अधिकांश घटनाओं पर चरित्र की ही छाप होती है।

मानवीय जीवन के चारित्रिक मूल्य किस प्रकार सिद्ध होते गए और कैसे सिद्ध हुआ करते हैं तथा हम कहां और कैसे आकर पहुंचे हैं-इसका स्वरूप समझाना इतिहास का काम है। मानव की विवेक बुद्धि एवं चरित्रनिष्ठा का विवरण क्या और कैसा है-यह इतिहास से समझ में आना चाहिये। यदि यह सब समझ में आता है तो समझना चाहिये कि मनुष्य की विवेक बुद्धि तथा चरित्रनिष्ठा सुचारू रूप से कार्य कर रही है और मानव का व्यवहार विवेकपूर्ण चल रहा है। भूतकालीन अनुभवों से कुछ न कुछ सीखते रहने के लिये इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि इस मायने में इतिहास एक शिक्षक का कार्य करता है। इतिहास के अनुभवों से मनुष्य एवं समाज की धारणाओं में भी अन्तर आता रहता है जो चरित्र से प्रभावित होता है। जैसे कि प्राचीनकाल में चोरी करने वाले को हाथ काटने का दंड दिया जाता था-इसका भारत के धर्मग्रंथों में तथा कुरान में भी उल्लेख है। फिर धारणा बदली और माना गया कि कोई भी व्यक्ति चोरी करता है तो सिर्फ अपने ही लिये नहीं बल्कि परिवार के निर्वाह के लिये करता है। समाजवाद के अनुसार प्रत्येक परिवार के भरण पोषण की व्यवस्था करना समाज का दायित्व है। ऐसे में वह व्यक्ति जो चोरी करता है उसका जितना दोष है, उतना ही समाज का भी दोष है यानी कि सामाजिक रचना व व्यवस्था का भी दोष है। तब सोच बदला कि चोरी के अपराधी को दंड देने की अपेक्षा शिक्षा देनी चाहिए तथा समाज में स्थापित होने के लिए उसे आवश्यक सहयोग सुलभ कराना चाहिए ताकि वह चोरी करना छोड़ दे और इस प्रकार अपराध का उन्मूलन हो जाए। इस संबंध में यह आकलन करने की आवश्यकता है कि किस प्रकार इतिहास के अनुभव नई चरित्र प्रणाली को ढालने में मददगार बनते हैं और चरित्र निर्माण के व्यापक कार्य को नए आयाम प्राप्त होते हैं।

इतिहास के चरित्र नायकों की भूलों से भी सामाजिक चरित्र पर आघात लगे जिनकी अनुकूल प्रतिक्रिया यह हुई कि चरित्र निर्माण की दिशा में मनुष्य की विवेक बुद्धि और साथ ही चरित्रनिष्ठा का पर्याप्त रीति से विकास होता गया। इतिहास का बहुत बड़ा ग्रंथ है महाभारत और इसका एक प्रसंग है पांडवों एवं कौरवों के बीच द्यूत क्रीड़ा यानी जुआ खेलने का। आज तो ऐसी द्यूत क्रीड़ा का कटु विरोध होगा किन्तु उस समय के क्षत्रियों की प्रथा में द्यूत क्रीड़ा अनुचित नहीं थी। मुख्य बात यह है

कि द्यूत क्रीड़ा में युधिष्ठिर ने क्या किया? द्यूत में राज्य-सम्पत्ति हार जाने के बाद उन्होंने अपने भाइयों को, फिर स्वयं को दांव पर लगाया। खुद हार गये तो पत्नी द्रौपदी को भी दांव पर लगा दिया। क्या कोई अपनी पत्नी को भी बिना उसकी सहमति के जुए में दांव पर लगा सकता है? आज के लिये इस प्रश्न का उत्तर देना बच्चे के लिये भी सहज है कि किसी पति को ऐसा कोई अधिकार नहीं जो अपनी पत्नी को निर्जीव वस्तु की तरह जुए में दांव पर लगा दे। लेकिन उस समय में इस प्रश्न का समाधान महाभारत के महाज्ञानी भी नहीं निकाल सके, क्योंकि उस समय परम्परा वैसी ही थी और चारित्रिक स्तर भी उसी प्रकार का था। किन्तु इतिहास के ऐसे आघातों के परिणामस्वरूप मनुष्य का विवेक विकसित हुआ है तथा उसकी चरित्र शक्ति दृढ़तर हुई है। आज का विवेक तो बहुत आगे बढ़ा है। एक राष्ट्र किसी भी कारण से दूसरे राष्ट्र के साथ युद्ध करे-यह आज के विवेक को मान्य नहीं है। अभी तक का सोच है कि आक्रमण के लिये युद्ध करना बुरा है, किन्तु विवेक बुद्धि एवं चरित्रनिष्ठा अहिंसा के क्षेत्र में और आगे बढ़े तो कल यह भी निर्णय दिया जा सकता है कि किसी भी राष्ट्र द्वारा बचाव के लिये भी हिंसा का सहारा लेना उचित नहीं। वह मान ले कि युद्ध किसी भी अवस्था में उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इतिहास में वस्तुत: चरित्र के उत्थान-पतन के चित्र और चरित्र ही प्रधान रूप से अंकित होते हैं। इस कारण इतिहास का मात्र इतिहास के तौर पर ही अध्ययन करना वांछनीय नहीं है। इतिहास का प्रमुख उपयोग तो यह है कि ऐतिहासिक अनुभवों को लेकर चरित्र निर्माण की नई प्रगतिशील राहें खोजी जाए।

मानव चरित्र के संचरण की दृष्टि से भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन :

भारतीय इतिहास का आरंभ वहां से माना जाता है जब आर्यों का यहां आगमन हुआ और उन्होंने तथा यहां पहले से रह रही आर्येतर जातियों ने मिल कर एक नई चरित्रशीलता तथा संस्कृति (केरेक्टर एंड कल्चर) का विकास किया। इनका अंशदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आर्य और द्रविड़ के सिवाय अन्यान्य जातियाँ यहां आती रही और यहां की स्थाई निवासी बनती गई जिनमें ग्यारह जातियों के नाम हैं। इनके बाद आए मुसलमान और ईसाई। इस प्रकार नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड, आर्य, यूनानी, मूची, शक, आंभीक, हूण, मंगोल, तुर्क, मुस्लिम आदि का परस्पर समागम हुआ है और उससे जिस मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ उसी का नाम हिन्दू (सिंधु क्षेत्रस्व) संस्कृति पड़ा। इस संस्कृति की विविधता इस प्रकार है। पूरी दुनिया में तीन रंगों के लोग हैं-गोरा, पीला, काला। किन्तु भारत में चार किस्में बनी-1. द्रविड़ों से पहले बसे मूल आदिवासी-निवास जंगलों में, 2. द्रविड़ जाति-निवास विंध्याचल के नीचे दक्षिण में, 3. आर्य जाति-निवास पहले उत्तर और फिर दक्षिण में तथा 4. मंगोल जाति-निवास उत्तरी भारत के उत्तरी किनारे पर। भाषा की दृष्टि से आर्य भाषी 75 प्र. श. क्षेत्र में, द्रविड़ भाषी 20 प्र. श. एवं शबर किरात भाषी 3 प्र. श.। यों रक्त, भाषा और संस्कृति तीनों भारत में मिश्रित है तथापि धर्म, संस्कार, भाव, विचार और जीवन विषयक दृष्टिकोणों में एकरूपता ज्यादा है और इसी का सुप्रभाव भारतीय संस्कृति एवं चरित्रशैली की रचना पर पड़ा है।

विभिन्न जातियों के पारस्परिक समागम का वातावरण अधिक प्रबल रहा जिसके कारण

समस्याओं एवं विवादों के उपरान्त भी आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों में समन्वय के तत्त्व अधिक विकसित हुए। फलस्वरूप साहित्य रचा जाने लगा। ऋग्वेद (6500 ई. पू.) तथा कल्पसूत्रों (4700 ई. पू.) की रचना के बाद अनेक मतों का धार्मिक लेखन (3000 ई. पू.) चला। व्याकरण रचयिता पाणिनी का समय 700 ई. पू. का है जिसमें श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृतियों का उल्लेख है। श्रमण संस्था यहां आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी। तब दो सांस्कृतिक धाराएं प्रमुख थी-एक वैदिक तथा दूसरी प्राग्वैदिक अर्थात श्रमण संस्कृति। यज्ञ-याग में हिंसा की प्रवृत्ति चली तो जैन व बौद्ध धर्मों ने धार्मिक हिंसा को भी हिंसा मानने का आग्रह करते हुए अहिंसक शैली पर बल दिया। वैदिक संस्कृति में मोक्ष शब्द नहीं है-इसका व्यवहार जैनों से शुरू हुआ। सामाजिक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था व जाति भेदों की उत्पत्ति ने नारी के स्थान और समन्वय आदि पर प्रश्न चिह्न लगाए, फिर भी तब तक ढले संस्कृति एवं चरित्र निर्माण के स्वरूप की विशेषताएं रही-1. राष्ट्रीयता से भी ऊपर विश्वजनीनता, 2. विभिन्न जातियों की एक महाजाति और राष्ट्रीयता तथा 3. अनेक वादों, विचारों, धर्मों आदि के बीच एकता लाने का निराला ढंग। संस्कृति एवं चरित्रशैली की एकरूपता के प्रयासों के साथ आन्तरिक विद्रोह भी पैदा होते रहे जिनके प्रभाव से इनका स्वरूप निखरता गया और उनमें नई प्रगतिशीलता का समावेश होता रहा। जैनों के 23वें एवं 24वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं महावीर के विद्रोही धर्म प्रचार ने हिन्दुओं में नये सुधारों को प्रोत्साहित किया। यह सुधार शान्तिपूर्वक आया किन्तु बुद्ध के धर्म प्रचार से काफी उथल-पुथल मची। ऋग्वेद के सिवाय अन्य तीन वेदों-यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद तथा वेदांगों-उपनिषदों में स्वर्ग की ही कल्पना की गई थी। हां, उपनिषदों में मोक्ष की धुंधली छाया दिखाई दी, किन्तु जैन एवं बौद्ध दर्शनों के प्रभाव से मोक्ष की धारणा प्रचंड हो गई। तब यज्ञों से आगे सूक्ष्म धर्म की खोज शुरू हुई और दर्शन का विकास हुआ। यज्ञ का स्थान ज्ञान ने लिया और प्रजापति का स्थान ब्रह्म ने। बौद्धिक प्रयोग के बढ़ने के साथ सृष्टि, जीव, जन्म आदि प्रश्नों पर विचार होने लगा और नये-नये वाद भी पैदा हुए। वैदिक धर्म के प्रति जैन धर्म के विद्रोह की अप्रकट प्रक्रिया यह चली कि सृष्टि कर्त्ता के रूप में किसी परम शक्ति की कल्पना मंद हुई और कर्मवाद की धारणा प्रबल बनी। ब्राह्मण श्रेष्ठता के विपरीत मानव मात्र की और आत्माओं की समानता स्थापित हुई। अहिंसा की परम्परा को व्यापक समर्थन मिला। बौद्ध धर्म भी यज्ञ, पुरोहितवाद और आडम्बरों के विरुद्ध रहा तथा उसमें तप एवं यति वृत्ति की कठोरता को भी नकार दिया। सारा ध्यान दुःख निरोध पर केन्द्रित रहा। इस प्रकार 600 ई. पू. तक धर्म दर्शन के पूरे स्वरूप में नये परिवर्तनों ने प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप चरित्र निर्माण एवं संस्कृति के विकास में नये मोड़ आए। जो संस्कृति देवाधीन मान ली गई थी तथा मानव के स्वतंत्र चरित्र विकास की उपेक्षा हो रही थी उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। कहा गया कि धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है तथा वह धर्म है अहिंसा, संयम एवं तप रूप। ऐसे धर्म में जिस मनुष्य का मन सदा लगा रहता है उसे देवता भी वन्दन करते हैं (**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो, देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणा**-दशवैकालिक 1-1)।

छठी शताब्दी ईस्वी के अन्त तक भारत में चिन्तन, खोज, अनुसंधान एवं बौद्धिक उन्नति की प्रक्रिया कार्यरत हो चुकी थी। 19वीं शताब्दी तक शंकराचार्य के अद्वैतवाद की गूंज रही, आयुर्वेद के क्षेत्र में अनुसंधान हुए तथा सन्त साहित्य का लेखन हुआ, किन्तु इस अवधि में बाहर के संसार का

विशेष सम्पर्क नहीं हुआ। इस अर्से में यूरोप में 'रि नाइसेंस' (धार्मिक क्रान्ति-14वीं शताब्दी) की महत्त्वपूर्ण घटना घटी, लेकिन उसका असर भारत तक नहीं पहुंचा जबकि छठी शताब्दी तक ईरान, यूनान, बर्मा, श्याम, बाली द्वीप, इंडोनेशिया, सुमात्रा, बोर्नियो, चीन, जापान आदि कई देशों के साथ भारत का वाणिज्यिक अथवा सिकन्दर, मेगस्थनीज, फाह्यान, कन्फ्यूशियस आदि के माध्यम से धार्मिक अथवा सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा। धर्म, गणित, ज्योतिष और विज्ञान ऐसे विषय थे जिनका भारत की संस्कृति पर असर पड़ा और यहां की संस्कृति तथा चरित्र निर्माण शैली भी उनसे प्रभावित हुई। यह प्रभाव तीन रूपों में स्पष्ट हुआ-1. जाति प्रथा को चुनौती मिली और समाज में नारी के स्थान को महत्त्व मिला, 2. उन धर्मग्रंथों के प्रति तिरस्कार का भाव बढ़ा जो सामाजिक बुराइयों का समर्थन कर रहे थे तथा 3. मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि, सहज विवेक तथा आत्म चरित्र को नई स्फुरणा प्राप्त हुई। मतवाद के खंडन-मंडन ने जोर पकड़ा और शास्त्रार्थ से प्रतिष्ठा पाने की होड़ चली। तब भी मनुष्य की मौलिक समस्याओं की ओर आवश्यक ध्यान नहीं गया।

मानव चरित्र के संचरण के क्षेत्र में तदनन्तर बड़ा परिवर्तन आया मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने पर। तब वह अस्पृश्य वर्ग (अछूत) जो ब्राह्मणवाद से असन्तुष्ट था आसानी से धर्म परिवर्तन करने लगा-इस्लाम को अपनाने लगा। यह आम राय बनने लगी कि ब्राह्मणों के अत्याचारों से इस्लाम के हाथों ही त्राण हो सकेगा। इस अवधि में भारत से बौद्ध धर्म का लोप ही हो गया। हिन्दू और मुसलमान जातियों के बीच लम्बे अर्से तक अपरिचय और घृणा का भाव बना रहा जिसके दो कारण थे-1. देश की आध्यात्मिक साम्राज्यवादिता मुसलमानों के प्रति तीखी बनी रही तथा 2. मुस्लिम शासकों के भयंकर अत्याचारों के कारण सामंजस्य की स्थिति नहीं बन सकी। यहां मोहम्मद गजनवी के हमले (636 ई.) के साथ ही यवनों के लिये घृणा सघन बनने लगी और धार्मिक वैमनस्य से उन्हें म्लेच्छ कहा जाने लगा। एक तथ्य विचारणीय है कि तब से पैदा हुई घृणा देश के वातावरण में बार-बार उभरती रही है और भारत के विभाजन के बाद तो यह घृणा जैसे गहरी और स्थाई ही हो गई है। इससे शिक्षा लेनी चाहिए कि जब कभी स्वभाव में किसी कारण से कोई विकृति जम जाती है तो उसका घातक प्रभाव कितने लम्बे अर्से तक भी चलता रहता है, अतः ऐसी ग्रंथियों को यथासमय काट कर चरित्र शुद्धि का कार्य करते रहना चाहिये।

कभी-कभी इतिहास का प्रभाव कितना तीक्ष्ण और दीर्घ हो सकता है-यह हिन्दुत्व और इस्लाम के आपसी असर से पहचाना जा सकता है। यह भी जाना जा सकता है कि घृणा को न जीत पाने पर मानव चरित्र को समय-समय पर कैसे आघात झेलने पड़ते हैं। इस्लाम भारत में 7वीं शताब्दी में पहुंचा, किन्तु 12वीं शताब्दी तक भी अपरिचय पूर्ण सम्पर्क ही रहा और मिश्रण की तो स्थिति ही नहीं आई। खेद जनक स्थिति तो यह है कि आगे 800 वर्षों में भी दूरियां बहुत ज्यादा कम नहीं हुई। अकबर ने दोनों जातियों की एकता का आन्दोलन चलाया लेकिन औरंगजेब ने उसे नकार दिया और यह मनोवृत्ति 20वीं सदी में भी यथावत् रही कि महात्मा गांधी की हिन्दू, मुस्लिम एकता के अभियान पर मुहम्मद अली जिन्ना ने पानी फेर दिया वैसे भारतीय दर्शनों और विचारधाराओं पर इस्लाम का कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ा।

भारतीयों की भाषा, वेशभूषा और अन्ततः मानसिकता पर जिस तथ्य ने सर्वाधिक प्रभाव डाला, वह था भारत में यूरोप का आगमन तथा अंग्रेजों का साम्राज्यवादी शासन। वर्ष 400 ई. पू. से ही भारत का नाम ज्ञान और धन के भंडार के रूप में यूरोप में मशहूर हो गया था। उसी आकर्षण ने सिकन्दर, कोलम्बस, वास्कोडीगामा आदि को खींचा और तीसरी शताब्दी से तो हॉलैंड, फ्रांस, पुर्तगाल तथा इंगलैंड आदि देश भी भारत में सत्ता स्थापना हेतु आए। इससे एक ओर ईसाइयत का जम कर मिशनरियों द्वारा प्रचार हुआ तो दूसरी ओर वैज्ञानिक साधनों (प्रिंटिंग प्रेस, रेलें) के विकास से देश की शिक्षा एवं आवागमन सुविधा में क्रान्तिकारी बदलाव भी आए। इतिहास के बढ़ते असर के कारण हिन्दू नवोत्थान का कार्यक्रम भी चला। ब्रह्म समाज (बंगाल), परमहंस समाज (महाराष्ट्र), आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसायटी आदि इसके उदाहरण हैं। फिर स्वामी विवेकानन्द का विदेशों में हिन्दू धर्म का प्रचार काफी रंग लाया। 20वीं सदी के पूर्वार्ध में ही भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का श्री गणेश हुआ, जो लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि के नेतृत्व में अन्तिम परिणति तक पहुंचा और 15 अगस्त 1947 को यह देश अंग्रेजों की दासता से मुक्त हो गया। इस अवधि के दौरान भारतीय चरित्र के विकास का लेखा जोखा लें तो विदित होगा कि 1000-1200 वर्षों की राजनीतिक गुलामी ने जो जकड़न पैदा कर दी थी वह चाहे अंग्रेज शासकों के हाथों ही सही पर यूरोपीय प्रगति के प्रभाव ने उसे ढीली की और स्वतंत्रता के संघर्ष काल में तो वह चारित्रिक शक्ति न सिर्फ समूहों की बल्कि एक-एक भारतीय जन की इतनी ऊंचाई पर चढ़ी कि जिसकी मिसाल नहीं मिलती। यदि स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद उस अद्‌भुत चरित्र विकास को समुचित संरक्षण मिलता तो आज भ्रष्टाचार, राजनीति के अपराधीकरण आदि अनेक विकारों के कारण जो चरित्रहीनता फैली है, वैसा कदापि भी घटित नहीं होता।

इतिहास और संस्कृति के उतार चढ़ाव तथा चरित्र निर्माण की क्रमिकता :

सामान्यतः चरित्र नायक इतिहास बनाते हैं और इतिहास का अच्छा या बुरा प्रभाव समाज व राष्ट्र के सभी वर्गों को अपने-अपने स्तर पर प्रभावित करता है, क्योंकि इतिहास की घटनाओं के कारण सांस्कृतिक परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। आश्चर्य का तथ्य यह है कि इन उतार-चढ़ावों के बीच में भी अधिकांश रूप से चरित्र-निर्माण की क्रमिकता बनी रहती है। अनुकूल परिस्थितियों में चरित्र निर्माण की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है तो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जनाक्रोश के कारण इस मनोवृत्ति को पुष्ट करने का ही सामाजिक आयास उभरता है। निष्कर्ष यह कि चरित्र-निर्माण का कार्य किसी भी समय में अप्रासंगिक नहीं होता।

चरित्र और संस्कृति एक दूसरे में अन्तर्निहित शब्द है, क्योंकि चरित्र का समग्र रूप ही संस्कृति में प्रतिबिम्बित होता है। यही कारण है कि दोनों शब्दों की व्याख्या में भी काफी समानता है। आधुनिक राजनीति के दार्शनिक तथा भारत : एक खोज के लेखक पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में संस्कृति है-'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या की जाती है, उनसे अपने आपको परिचित करना।' वे आगे कहते हैं-संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। मन चरित्र, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि-

यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।

चरित्र निर्माण अथवा संस्कृति के दो राष्ट्रीय पहलू हैं-एक, वह शक्ति जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय या सामंजस्य पैदा करती है तथा दो, विभाजन को प्रोत्साहन देने वाली शक्ति। इसी प्रकार इतिहास के दो सिद्धान्त हैं-एक तो, सातत्य और दूसरा परिवर्तन। सैद्धान्तिक सत्य स्थिर रहते हैं, किन्तु उनके रूप-स्वरूप में बदलाव आते रहते हैं। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है जो यदि अवरुद्ध हो जाती है तो क्रान्ति शान्त परिवर्तन के बाह्य रूप की झलक दिखाती है। भारत का इतिहास गवाह है कि यहां ये दोनों सिद्धान्त साथ-साथ चले जिसका चरित्र निर्माण की स्थिति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसका आकलन इस प्रकार है-1. विचारों तथा सिद्धान्तों में अधिकाधिक उदारता का समावेश हुआ। साथ ही सहिष्णुता भी बढ़ी।, 2. किन्तु सामाजिक चरित्र अथवा आचार में अधिक संकीर्णता फैली। यह विरोध शायद अब तक चल रहा है जो अपूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक है। राजनैतिक, आर्थिक आदि के परिवर्तनों के साथ तदनुकूल सामाजिक परिवर्तन भी आना चाहिए था लेकिन वैसा नहीं हुआ और इस विरोधाभास का यही प्रमुख कारण है। आज आवश्यकता इस बात की है कि अब पुराने आदर्शों के साथ-साथ नये आदर्शों एवं मानदंडों की रचना की जानी चाहिए जो युगानुकूल हो, अन्यथा भारत की सामाजिक उन्नति अंधकारमय ही बनी रहेगी। यह दुरावस्था चरित्र निर्माण तथा विकास के लिए भी अतीव बाधक है।

सामाजिक परिवर्तनों के अभाव में एक ओर चरित्र निर्माण के कार्य को वांछित गति नहीं मिलती है तो दूसरी ओर समाज की विवेक बुद्धि का यथोचित विकास भी अटक जाता है। जो समाज की विवेक बुद्धि बनाने के काम में मदद करते हैं, उनके नाम इतिहास में दर्ज होते हैं, क्योंकि इतिहास ही वह कसौटी होती है जिस पर काम का खरापना जांचा और बताया जाता है। जैसे शिवाजी का उदाहरण लीजिये। शिवाजी के सैनिक कल्याण के सूबेदार की कन्या को भगाकर लाए और उसे शिवाजी को अर्पित की। उस समय में वैसी पद्धति थी। शत्रु की स्त्रियों का अपहरण करने में उस जमाने की विवेक बुद्धि बाधा उपस्थित नहीं करती थी। वह कन्या सुन्दर थी। शिवाजी ने उसे ठीक से देखकर आप जानते हैं कि क्या कहा? वे बोले-'मेरी मां भी अगर ऐसी ही सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता।' यों कहकर उसे वापिस भेज दिया यानी उसे मातृवत् माना। इस तरह वे सामाजिक विवेक बुद्धि में उत्थानगामी परिवर्तन लाए। अकबर बादशाह ने भी तत्कालीन परिस्थिति में परिवर्तन लाने के लिए उदारनीति अपनाई, हिन्दू-मुसलमानों के संबंध बढ़ाए और आदर्श विचारों को स्थान दिया। कालीदास जैसे कवि ने भी साहित्य के नये-नये उपकरण रच कर मानव जीवन को बदला। ऐसे युगान्तरकारी पुरुष ही इतिहास बनाते हैं तथा नये चरित्र एवं आचार तथा नई सामाजिक विवेक बुद्धि के सूत्रधार होते हैं। इसी तरह आचार्य रत्नप्रभ सूरि ने भी लोगों से सुरा, सुंदरी व दुर्व्यसनों का त्याग करवा करके एक आदर्श ओसवाल समाज की संरचना कर चारित्रिक क्रांति की।

चरित्र निर्माण अभियान और पुरुषार्थ प्रयोग :

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये पुरुषार्थ एक प्रमुख शर्त है। जितना अधिक पुरुषार्थ

चरित्रशीलता एवं विवेक के साथ, उतनी ही सफलता समीप। पुरुष की परम शक्ति पुरुषार्थ ही तो होती है-पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो। प्रमाद में पुरुष शिथिल और निष्क्रिय होता है, किन्तु यह पुरुषार्थ उसे सजगता भी देता है तो रचनात्मक क्रियाशीलता भी। इस पुरुषार्थ को सदैव सत्पुरुषार्थ होना चाहिए ताकि चरित्र निर्माण का अभियान परिणामदायक बन सके और तदनन्तर चरित्र विकास का क्रम निरन्तर प्रगतिशील बना रहे।

पुरुषार्थ चार प्रकार के कहे गये हैं-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। इसकी विशद व्याख्याएं स्थान-स्थान पर अंकित है और मत-विमत भी। यहां इनको सरलता से समझने के लिये दार्शनिक साहित्यकार जैनेन्द्र जैन की एक संक्षिप्त टिप्पणी उपयोगी रहेगी-चार पुरुषार्थों में मोक्ष की चर्चा नहीं की जा सकती। सफर जिसका काम है, वह मुसाफिर मंजिल को जानने नहीं बैठेगा। मुझे तो यह भी लगता है कि जो मंजिल को जान गया, वह कभी मंजिल तक पहुंचा नहीं। दिमाग से वहां पहुंच जाना, पांव-पांव चल कर कड़ी मेहनत के काम से अपने को बचाना ही है। कवि और दार्शनिक ऐसे ही लोग हुआ करते हैं। वे आदर्श और स्वप्न को गाते जाते हैं-उसे पाने, पहुंचने की झंझट में नहीं पड़ते। इसलिये मंजिल और मोक्ष की बात से आप खुद भी बचिये, मुझे भी बचाइये।...चार पुरुषार्थ यानी चतुर्भुज को देखना ही हो तो मैं उसे उल्टा खड़ा देखता हूँ-मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म। धर्म मूलभाव और मूल दृष्टि है, वही अर्थ और काम इन दो तटों की ओर जीवन को विस्तार दे और वही दृष्टि फिर दोनों को परस्परापेक्षा में व्यवस्था देती हुई मुक्ति में समाहित कर दे तो मानो चतुर्भुज का दृष्ट परिपूर्ण हो जाता है।...धर्म एक अखंड श्रद्धा है, श्रद्धा को व्यवहार पर लाते हैं तो विवेक का रूप बनता है और उसके समक्ष अर्थ और काम से रूपाकार पाया हुआ द्वैत का संसार आता है। इस समय विस्तृत द्वैत में से फिर एक एकत्व अर्थात् मुक्ति की ओर उन्नति होती है।...दूसरे शब्दों में मोक्ष में अर्थ और काम का परिहार नहीं है, बल्कि समाहार है। अर्थ-काम की कोई अतिरिक्त अतृप्ति और त्रुटि मोक्ष प्राप्ति में अन्तराय और बाधा ही बनने वाली है, यानी मोक्ष में अतृप्ति किसी प्रकार की नहीं रह सकती है।...पर इन चार पुरुषार्थों के चतुर्भुज रूप की कल्पना इसलिये नहीं है कि आप और मैं उस पर अटकें या दर्शन को उसी चित्र में साधें। वह तो सिर्फ बुद्धि के सहारे के लिए है-उससे अधिक महत्त्व देना भूल करना होगा ('समय और हम' ग्रंथ से-पृष्ठ 209-210)।

मानव चरित्र के निर्माण एवं विकास की यह उच्च कोटि होगी कि हम शुभता के सर्वत्र विस्तार के अभियान के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने हेतु प्रशिक्षित एवं संकल्पित बन जाए। मर्मज्ञ कवियित्री अमृता प्रीतम कहती हैं-'जो कुछ आप सैंकड़ों हाथों से अर्जित करते हैं, वह हजारों हाथों से बांट दें' (सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी-उपन्यास से) आइये, ऐसा चरित्र निर्माण अभियान चलावें जो आज के मानव और युग को गुणवत्ता पर स्थिर बनावें।

◆◆◆



संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और कला बुनियादी तत्व

❁

चरित्र निर्माण के दर्पण

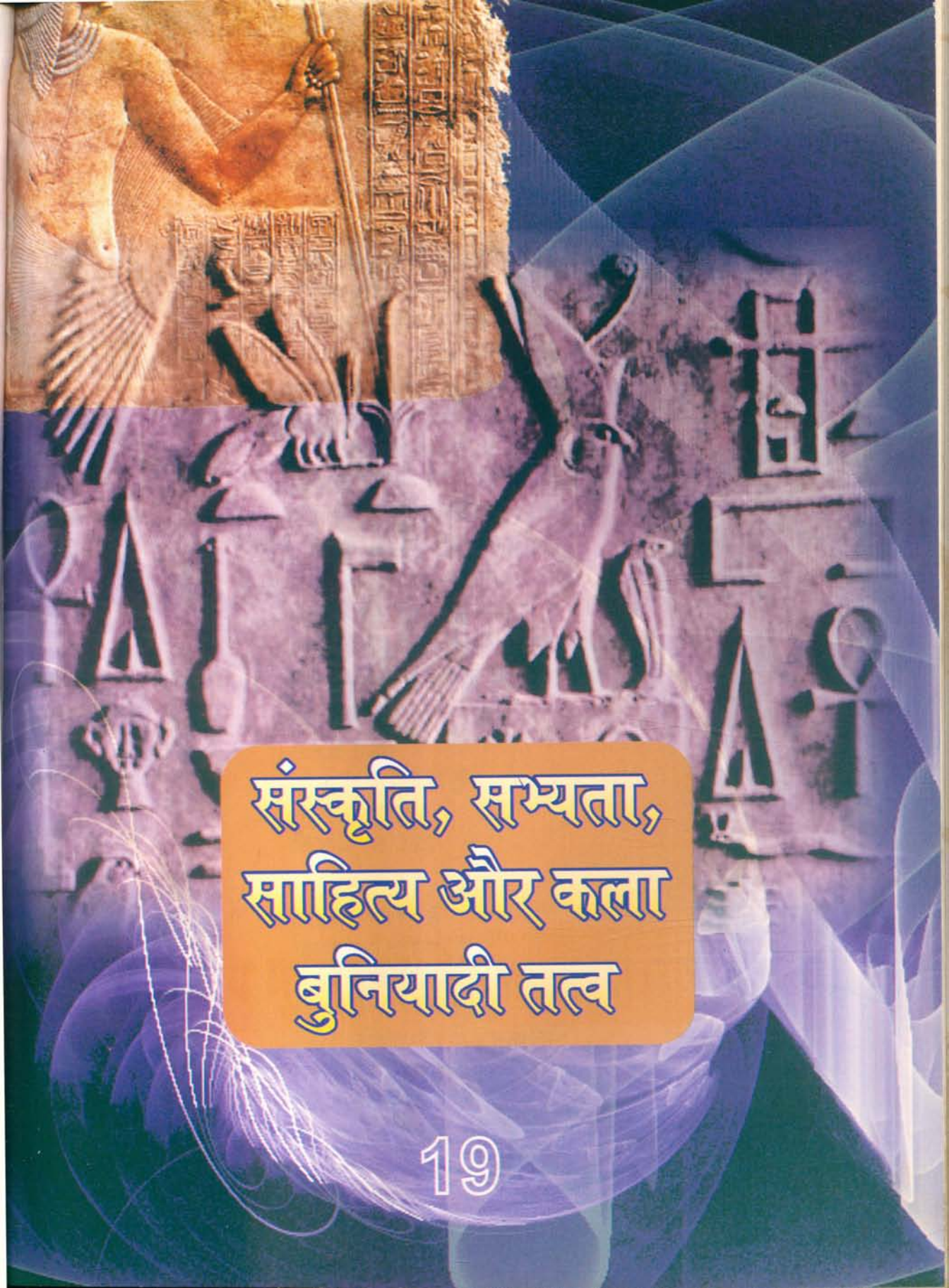
1. नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
ये सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की
आंखें सिली रहती हैं!

◆◆

2. कौन है सीता
और किसको बचाएं?
और क्यों?
निरादृत तो आखिर में
दोनों ही करेंगे उसे
रावण उसे हर कर और
राम उसे जीत कर।

◆◆

3. जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर
चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित



संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और कला बुनियादी तत्व

19

उसको हर क्षण
मानव निर्णय बनाता, मिटाता है!

◆ ◆

4. हम जैसे पहले थे
वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले
स्थितियां बिल्कुल वैसी हैं।

◆ ◆

5. सुनते हैं तुम किसी अवतार में कछुए थे
अपनी इस वज्रोमय पीठ पर
तुमने यह धरती टिकाई थी
लेकिन उपयोग क्या किया था
सुकोमल मर्मस्थल का?

◆ ◆

6. मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय लें!

◆ ◆

7. कह दो उनसे
जो खरीदने आये हो तुम्हें
हर भूखा आदमी
बिकाऊ नहीं होता!

◆ ◆

8. दर्पणों में चल रहा हूँ
चौखटों को छल रहा हूँ
सामने लेकिन, मिली हर बार
फिर वही दर्पण मढ़ी दिवार
किन्तु अंकित भींत पर बस रंग से
अनगिनत
प्रतिबिम्ब हंसते व्यंग से।

◆ ◆

9. जल-सी निर्मल
मणि-सी उज्ज्वल
नवल स्नात, हिम धवल
ऋजु तरल
मेरी वाणी।

◆ ◆

10. देखो मुझे
हाय, मैं हूँ वह सूर्य
जिसे भरी दोपहरी में
अंधियारे ने तोड़ दिया।

◆ ◆

11. बांधों,
यह नदी घृणा की है
काली चट्टानों के सोने से निकली है
अंधी जहरीली गुफाओं से उबली है।

◆ ◆

12. हम मनुष्य बौना है
लेकिन
मैं बौनों में बौना ही बन कर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ों
इससे भी अथाह शून्य में
बौने ने ही
तीन पगों में धरती नापी।

◆ ◆

13. सुनो,
मेरे मन हारो मत
दूर कहीं लोग जीवित हैं
यात्राएं करते हैं
मंज़िल है उनकी।

◆ ◆

14. चलना तो हमको ही होगा
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का

शायद कुछ होगा नया गठन
आश्रय देंगे हमको अपने जर्जर
पर अपराजेय चरण।

◆ ◆

15. क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखरी आवाज बाकी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तिहा
आदमियत का
मगर आगाज बाकी है।

◆ ◆

16. यह दर्द
विराट जिन्दगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा
फिर तुम पाओगे ताकत
उन अंगुलियों के आगे कर दो माथा नत
जिनके छू लेने भर से
फूल सितारे बन जाते हैं
ये मन के छाले!

◆ ◆

17. ओ, मेरी पागल परछाई,
तेरा मोह व्यर्थ है बिल्कुल
अब आगे हैं
और जहरभरी घाटियां
जिनके हर पत्थर के नीचे मौत छिपी है।

◆ ◆

18. न्याय-अन्याय,
सदासद, विवेक-अविवेक
कसौटी क्या है?
आखिर कसौटी क्या है?
और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुला देती हैं
सो जाओ, योगेश्वर
जागरण स्वप्न है, छलना है, मिथ्या है!

ये काव्यांश संवेदनशील कवि डॉ. धर्मवीर भारती के काव्य ग्रंथों-अंधा युग (1-4) सात गीत वर्ष (18) ठंडा लोहा (15-17) तथा कनुप्रिया (18) से लिये गये हैं। जो ध्यान से इन्हें पढ़ा जाएगा तो अनुभूति होगी कि चरित्र के खोखलेपन पर कवि हृदय में कितनी अथाह पीड़ा है, मन के लिये कैसा अद्‌भुत जागरण है एवं अवतारों के प्रति भी कितना कटाक्ष है?

चरित्र विकास में संस्कृति प्राण तत्त्व है तो सभ्यता उसका भौतिक तत्त्व :

चरित्र निर्माण एवं विकास के प्रवाह को सतत प्रवहमान बनाये रखने के लिये अनेक तत्त्वों एवं सद्‌गुणों की आवश्यकता होती है, जिनमें से कुछ यों गिनाये जा सकते हैं-संवेदनशील एवं महत्त्वाकांक्षी हार्दिकता, त्याग एवं समर्पण की भावना, अथक कार्यशीलता, मानव जाति की एकरूपता में विश्वास, वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव, पर पीड़ा विह्वलता, संकल्पबद्धता, कर्मठता आदि। ऐसी वृत्तियाँ सक्रिय रहे और आचरण तथा व्यवहार में कार्यान्वित होती रहें तो उससे व्यक्ति एवं समूह की आदर्श स्थिति सृजित होती है। ऐसा सृजन चरित्र प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। दूसरे, चरित्र निर्माण तथा विकास की प्रक्रिया को सतत कहा जाता है, क्योंकि इसका कार्य, प्रभाव और परिणाम भी सतत चलता है। चरित्र निर्माण का प्रवाह प्रतिबिम्बित होता है समाज या समूहों के स्वस्थ संचालन में और यह स्वस्थ संचालन निर्मित करता है उन्नतिशील संस्कृति एवं सभ्यता तथा रचता है प्रेरक साहित्य एवं कला की कृतियाँ। इसीलिये कहा जाता है कि यदि चरित्र प्रवाह का सम्यक् आकलन करना है तो संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं कला को दर्पण में बारीकी से झांको और मीमांसा करो उसकी शुभता का, उसकी अशुभता का अथवा उसकी उन्नति का, उसकी अवनति का एवं योजना बनाओ चरित्र के बल पर सर्वत्र शुभता के प्रसगण की उन्नति को ऊंचाईयों तक ले जाने की एवं चरित्र विकास को एकाकी मार्ग दर्शक बनाने की। चरित्र सम्पन्नता होगी तो वह उस समाज, राष्ट्र या विश्व के भू-भाग की संस्कृति और सभ्यता में अवश्य झलकेगी, साहित्य में प्रेरणा की स्रोत बनेगी तो कला की अनुपम कृतियों में विभूषित होगी।

संस्कृति की एक निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती है, क्योंकि अनेक तत्त्वों की सद्‌भावना में इसकी सृष्टि होती है। फिर यह शब्द संस्कार से बना है यानी संस्कारों की कृति। दार्शनिक श्री प्रकाश की व्याख्या अर्थपूर्ण है-सभ्यता शरीर है और संस्कृति आत्मा। सभ्यता जानकारी और विभिन्न क्षेत्रों की महान् एवं विराट खोज का परिणाम है तो संस्कृति विशुद्ध ज्ञान का परिणाम है। पाश्चात्य विचारक वोबी के कथनानुसार संस्कृति दो प्रकार की होती है-1. परिमित संस्कृति जो श्रृंगार एवं विलासिता की ओर भावित होती है और 2. अपरिमित संस्कृति जो सरलता एवं संयम की ओर प्रवाहित होती है। एक अन्य पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है कि विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है। भारतीय चिन्तक साने गुरु जी का मत है कि जो संस्कृति महान् होती है, वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा की गरिमा इसी में है कि वह दूसरे सभी प्रवाहों को अपने में मिला लेती है और इसी कारण वह पवित्र, स्वच्छ तथा आदरणीय कही जा सकती है। लोक में वही संस्कृति आदर के योग्य बनती है जो विभिन्न धाराओं को साथ में लेती हुई अग्रसर होती रहती है।

संस्कृति एवं सभ्यता को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। मानो कि संस्कृति एक प्रवहमान सरिता है तो उस सरिता का प्राण तत्त्व होगा उसका सतत प्रवाह और यही सतत प्रवाह संस्कृति का भी प्राण तत्त्व होता है। संस्कृति का अर्थ निरन्तर विकास की ओर बढ़ना। वस्तुत: यही प्राण तत्त्व है चरित्र निर्माण का भी कि जिसकी प्रक्रिया निरन्तरता से सदा संयुक्त रहती है। चरित्र और संस्कृति में साम्यता है कि दोनों के विचारों, आदर्शों, भावनाओं एवं संस्कारों का प्रवाह जब संगठित बनता है तो वह सुस्थिर भी हो जाता है। संस्कृति को दो भागों में बांट दें-भौतिक एवं आध्यात्मिक-तो उसका भौतिक भाग सभ्यता कहलाएगा जिसमें भवन, वसन, वाहन और यंत्र आदि समस्त भौतिक सामग्रियों का समावेश हो जाता है जो सामाजिक श्रम से निर्मित होती है। कला का समावेश भी इसी भाग में होता है। संस्कृति के आध्यात्मिक भाग में आचार, विचार तथा विज्ञान का समावेश होता है। इसी प्रकार संस्कार की दृष्टि से भी संस्कृति के रूप की पहचान की जा सकती है, क्योंकि संस्कार दो प्रकार के होते हैं-1. वैयक्तिक संस्कार, जिसमें मनुष्य अपनी गुणवत्ता, प्रतिभा तथा शिष्टता से ख्याति प्राप्त करता है तथा 2. सामूहिक, जो समाज विरोधी दूषित आचार का प्रतिकार करता है। संस्कार के समान ही चरित्र का स्वरूप भी होता है। जहां वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रयोग एक आदर्श समाज की रचना कर सकते हैं, क्योंकि चरित्र बल एवं सांस्कृतिक प्रभाव के कारण समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान पथ एकता की ओर ले जाते हैं।

जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को संस्कृति कहते हैं या चरित्र निर्माण इस कला और पद्धति में शुभता, शुचिता और सुचारूता लाता है। इस दृष्टि से संस्कृति चरित्र विकास के साथ जुड़ कर मानव के भूत, वर्तमान और भविष्य के समग्र जीवन में सर्वांगीण उन्नति के सुरंगें रंग भरती है तथा नई जीवट संजोती है। यों संस्कृति जीवन का प्राण तत्त्व बनती है-ठोस सत्य का रूप लेकर उभरती है। मानव जीवन निरन्तर क्रियाशील रहता है-कभी भी गतिहीन नहीं होता। तदनुसार उसमें निरन्तर विकास और परिवर्तन होता रहता है। यही विकास और परिवर्तन संस्कृति के साथ भी जुड़ता जाता है। विकास और परिवर्तन जितना अधिक शुभता एवं सर्वहितैषिता के साथ जुड़ा हुआ रहता है उतना ही वह दीर्घजीवी होता है। यह भारतीय संस्कृति इसी कारण दीर्घजीवी बनी है क्योंकि यह **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** से जुड़ी होकर मनुष्य के मन, प्राण और देह को प्रेरित करती रही है। इस संस्कृति के सृजनात्मक रूपों से ही धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला को भी सम्मिलित किया जा सकता है। जहां संस्कृति एवं सभ्यता का संयोग होगा, वहां धर्म होगा, दर्शन होगा और साहित्य एवं कला का भी स्पष्ट प्रभाव होगा। संस्कृति एवं सभ्यता मानवीय जीवन के आभ्यन्तर एवं बाह्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। इसमें जब चरित्रनिष्ठा संयुक्त हो जाती है तो मानव के मन, वचन एवं व्यवहार की सीमाएं भी विस्तृत बन जाती है, जहां से उदारता, सहिष्णुता एवं सहकारिता के स्रोत फूट पड़ते हैं। यदि संस्कृति है तो समझिए कि उस समूह या घटक की राजनीति, अर्थनीति, समाज नीति भी शुभता के रंग से रंग जाएगी। जो संस्कृति मूल में है और साध्य रूप भी है तो बीच के सभी साधन भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व की सुख शान्ति का संवर्धन ही करेंगे। संस्कृति के प्राणतत्त्व होने का यही तो रहस्य है।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की चरित्रगत विशेषताएं :

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का स्वरूप ढला है भारतीय चरित्र के अनुरूप-जिसका प्रधान गुण रहा है समन्वय बुद्धि और सामंजस्य का दृष्टिकोण। अन्य गुण हैं-स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, सहकार तथा सह-अस्तित्व। इस गुणमूलक संस्कृति का लक्ष्य है- असद् से सद् की ओर, अंधकार से प्रकार की ओर, अनृत से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, भेद से अभेद की ओर तथा सान्त से अनन्त की ओर गति करना। सत्य, शिव और सुन्दर-इसका रूप-स्वरूप है। इस संस्कृति का मूल स्वरूप है-'**दयतां, दीयतां, दाम्यताम्**' अर्थात् दया, दान और संयम-दस प्राणों में से प्रत्येक प्राण के प्रति मनसा वाचा कर्मणा दया करो, मुक्त भाव से अपितु समर्पित भाव से दान करो एवं अपने मन के विकारों का दमन करो, उन्हें सद्वृत्तियों से संस्कारित एवं संयमित बनाओ।

जैसी यह मूल स्रोत की त्रिधारा है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रवाह भी त्रिवेणी रूप है। वेदों, आगमों और पिटकों में इस त्रिवेणी के दर्शन होते हैं। क्रूरता से मनुष्य को सुख नहीं मिला, तब हृदय में दया का प्रवेश हुआ, अपार संग्रह करते हुए भी जब मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं हुई तब दान से-देने के त्याग से उसने शान्ति का अनुभव किया। भोग के सर्वसाधन सुलभ होने और भोग भोगने के बाद भी जब मनुष्य को आनन्द नहीं मिला तो उसने उस आनन्द की इन्द्रिय दमन, आत्मानुशासन एवं संयम में खोज शुरू की और उसने आनन्दानुभूति पाई। इस प्रकार मानव-चरित्र में एक शुभ एवं सुखद परिवर्तन आया और इस परिवर्तन का सुप्रभाव समग्र समाज में भी फैला। विविधताओं के उपरान्त भी वैदिक संस्कृति, जैन संस्कृति एवं बौद्ध संस्कृति की त्रिवेणी में एकता के तत्त्व अधिक हैं जिसके कारण एक समन्वित सांस्कृतिक धारा ने भारतीय चरित्र में ऐसे अद्भुत परिवर्तन किये जो विशिष्ट व्यक्तियों के उद्भव के रूप में एक ओर तो दूसरी ओर सामूहिक आध्यात्मिक उन्नति के रूप में विश्व विख्यात हो गए।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का मूल स्वरूप गुणमूलक चरित्र से प्रेरित रहा है, किन्तु उसका क्षेत्र केवल वैयक्तिक कभी नहीं रहा। यह सदा जन-जन की प्रेरणा स्रोत रही, फलस्वरूप इसका मूल स्वरूप सामूहिक या सामाजिक ही अधिक रहा। इतिहास की गति के साथ इसका विकास भी मंथर गति से हुआ और इस वजह से उसमें सुघड़ता और स्थिरता भी पूरी रही। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से जिस संस्कृति तथा सभ्यता का श्रीगणेश हुआ वह निरन्तर विकसित एवं प्रतिफलित होती रही। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़ कर अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया है जिसमें द्रविड़ों, आर्यों, शक एवं हूणों तथा मुसलमानों और ईसाइयों का योगदान भी सम्मिलित है। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपनी चरित्रगत विशेषताओं के कारण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में प्राचीनकाल से समन्वय करने तथा उपकरणों को पचा कर आत्मसात् करने की अपार क्षमता रही हुई है। सच तो यह है कि जब तक इसमें क्षमता का गुण शेष रहेगा तब तक इसका दीर्घ जीवन किसी भी कारण से समाप्त नहीं हो सकता है। आज हम जिसे भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता कहते और मानते हैं, वह किसी एक काल, एक जाति अथवा एक वर्ग की रचना नहीं है। अनेक जातियों की समन्वित रचना है जिसने काल को भी अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया है। आज के नवीन विश्व को यदि भारत से

कोई सार्थक प्राप्ति हो सकती है तो वह यही है भारत की अजस्र सांस्कृतिक धारा का शीतल जल जो सभी तापों को शान्त करके एकता, उदारता एवं सहयोगिता का सुख प्रदान कर सकता है। रोग और मिस्र की प्राचीन संस्कृतियां जो आज समाप्त प्राय: हैं तो इस पर विचार किया जाना चाहिए कि कौनसा ऐसा प्राण तत्त्व है जो अब तक भारतीय संस्कृति की रक्षा करता आ रहा है। यह प्राण तत्त्व है भारत का वैयक्तिक एवं सामूहिक चरित्र जिसकी गुणवत्ता एवं मूल्यवत्ता अनेक रूढ़ियों, कुरीतियों एवं कमजोरियों के बावजूद भी खंडित नहीं हुई है। इसी प्राणतत्त्व को सहजने, संवारने और दमकाने का समय आज आ गया है।

भारतीय संस्कृति के नाम से करें या भारतीय चरित्र के नाम से पुकारें-दोनों का प्राणतत्त्व है इसकी गुणमूलकता-जो समाई हुई रही है सहिष्णुता, उदारता, सामासिक एकता, अनेकान्तवाद, समन्वयवाद, अहिंसात्मक जीवनशैली एवं समतामय समाज रचना के सपने में। वास्तव में विभिन्न संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा और अनेकान्त के बिना नहीं चल सकता है-सबके प्रति संरक्षा एवं विचार साम्यता की मनोवृत्ति का होना नितान्त आवश्यक है। इसी से सबके साथ स्नेह, सहानुभूति एवं सद्भाव का मधुर वातावरण बनाया जा सकता है, बनाए रखा जा सकता है।

मानवीय प्रतिष्ठा का मूल आधार उसका अपना चरित्र है, उसका अपना मनुष्यत्व है और उसके अपने मानवीय मूल्य हैं। इस प्रतिष्ठा के आधार गुण हैं-चरित्र निर्माण व विकास, त्याग भाव, सेवा संकल्प, प्रेम अनुराग आदि। आज की दु:खद स्थिति यह है कि इसी भारत देश में इसी संस्कृति में संवाहकों ने जैसे इन आधारों को बदलने की चेष्टा चला दी है और धन व स्वार्थ को आधार बनाने का दुस्साहस किया है। यह ज्यादा चलेगा नहीं। अशुभता की जिन्दगी लम्बी नहीं होती। शुभता का उदय शीघ्र होगा, अपनी प्राचीन सांस्कृतिक प्रेरणा अवश्य बलवती बनेगी और भारतीय चरित्र का नवीन अभ्युदय होगा। यह युवाओं की जागृति और चुनौती को झेल कर कर्मठता दिखाने मात्र का प्रश्न है। धन और सत्ता स्वार्थों का आधार जल्दी ही डगमगा जाएगा।

ऐसे समय में भारतीय चरित्र, संस्कृति तथा सभ्यता की प्राणपण से पुनर्प्रतिष्ठा करने का आन्दोलन उठना चाहिए। विश्व विख्यात हमारी संस्कृति और सभ्यता न केवल हमारी ही रक्षा करेगी, अपितु सम्पूर्ण विश्व का त्राण करने की क्षमता उसमें आज भी है। मानव विज्ञान शास्त्र (एंथ्रोपोलोजी) वेत्ता टायलर की संस्कृति एवं सभ्यता की परिभाषा पर्याप्त रूप से व्यापक है, वह कहता है-संस्कृति एवं सभ्यता वह जटिल तत्त्व है जिसमें ज्ञान, नीति, न्याय, विधान, चरित्र, परम्परा आदि उन सभी गुणमूलक योग्यताओं तथा आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है। वास्तव में सभ्यता एवं संस्कृति एक ही सिक्के की दो बाजुएं हैं जो विचार एवं आचार की भावनाओं की सम्यक् रूपेण अभिव्यक्ति देती हैं।

साहित्य समाज का दर्पण होता है अत: चरित्र निर्माण का भी :

एक सार्थक उक्ति है साहित्य समाज का दर्पण होता है। यदि आपको किसी भी समाज की आन्तरिक स्थिति का अध्ययन करना है तो उसके साहित्य का अध्ययन कीजिए-सब कुछ विस्तार

से जान जाएंगे। यह सच है कि समाज में जो भी शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा घटता-गुजरता है वह समर्थ लेखनी से छिपता नहीं है और सारी तथ्यात्मक स्थिति लेख, निबन्ध, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि की साहित्यिक विधाओं के माध्यम से अवश्य प्रकट होती है। यही नहीं, वह लेखनी उस आदर्श ध्येय को भी समक्ष लेती है जिसके जरिये व्यक्ति एवं समाज नव चरित्र गठन की दिशा में अग्रगामी हो सकते हैं। साहित्य का समाज के लिए दर्पण का काम करने का यही रहस्य है जो समान रूप से चरित्र निर्माण विधि पर भी लागू होता है।

किसी व्यक्ति विशेष के प्रति-चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो-सम्पूर्ण आस्था समर्पित कर देना समुचित नहीं माना गया है। वह आस्था समर्पित होनी चाहिए सत्य सिद्धान्तों के प्रति, गुण मूलक चरित्र क प्रति तथा सत्साहित्य के प्रति, क्योंकि यह समर्पण दृष्टिकोण को उदार व व्यापक तथा आत्मविश्वास को सुदृढ़ एवं सक्षम बनाता है। व्यक्ति-पूजा बाद में यशलोलुपों के हाथ लगती है जो अपने वर्चस्व का दुरूपयोग करते हुए कट्टरता एवं साम्प्रदायिकता को फैलाते हैं। समाज के स्वास्थ्य के लिए तो व्यक्ति-पूजा वह दुधारी तलवार होती है जो अन्ततः स्वास्थ्य को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से जिस साहित्य में गुणवत्ता को सर्वोपरि रखा जाता है, वही साहित्य व्यक्ति के चरित्र का पोषक होता है तथा समाज की शुभदायक व्यवस्था का रक्षक भी। ऐसा साहित्य ही समाज का सच्चा दर्पण बनता है।

विश्वगत दृष्टि से समीक्षा करें तो पाश्चात्य एवं पौर्वात्य साहित्य में एक विशेष अन्तर है। वहां पश्चिम में जब समस्याएं साफ उठती दिखती हैं तो यह कहना कठिन होगा कि समाधान का आभास भी वहां उतना ही स्पष्ट होता है। लेकिन बहुत हद तक यह भी सच है कि रोग का ज्ञान खुद ही उसका निदान और समाधान बन जाता है। मनोवैज्ञानिक उपचार तथा मनोविश्लेषण में इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। अन्दर की गांठ का बाहर चेतन में आकर व्यक्त हो जाना ही मानों उसका खुल जाना है। यह सच पाश्चात्य साहित्य में खूब प्रकट हुआ है और यही उसकी मर्मदर्शिता है। विघटित मानस का चित्र उस साहित्य में भरपूर उतरा देखा जा सकता है, जहां गहरी बेचैनी है और गहरी तलाश है। पश्चिम के लेखक के पास आज न राह है, न रोशनी-वह अपनी ही जिन्दगी के आमने-सामने है जिस जिन्दगी के पास पंथ, परम्परा, आस्था विश्वास कुछ भी नहीं है। वह है और उसकी खाली जिन्दगी। दूसरी ओर पूर्व का साहित्यकार अपने अस्तित्व से लिपटा है, संस्कृति, सभ्यता तथा प्राचीन साहित्य से उसकी पहचान है, इस कारण वह अस्तित्व रक्षा से जूझ रहा है। अस्तित्व जहां सहज होता है, जीवन वहीं से आरंभ होता है। जीवन के दो तत्त्व हैं-एक रहना (टु एग्जिस्ट) तथा दूसरा जीना (टु लिव) और मानसिक समस्याएं जीवन के तल पर आती हैं जीने के रूप में, जबकि अस्तित्व के तल की समस्याएं आर्थिक होती है। पूर्व और पश्चिम के समाज में आज जो यह अन्तर है कि आर्थिक सम्पन्नता के कारण पश्चिमी समाज की समस्या जैविक से मानसिक होती जा रही है तो पूर्व का समाज मानसिकता से उतर कर जैविकता की ओर खिंचा जा रहा है। यही अन्तर दोनों भू-भागों के साहित्यकारों तथा साहित्य में भी देखा जा सकता है। पूर्व का साहित्य इसी कारण अधिक नीति परक और विधि-निषेध की रेखाओं से भरा हुआ होता है। इन रेखाओं से

शुभता, शुचिता जैसे फलित होती समझी जाती है। फिर भी इसमें प्राणवत्ता की कमी महसूस होती है। पूर्व के प्राचीन साहित्य में जो उमंग और आल्हाद दिखता है वह शायद इसी कारण से कि तब यहां जीवन भाव अधिक था, आनन्द अधिक था। पूर्व के धार्मिक ग्रंथों में भी एक प्रकार का मुक्त भाव देखने को मिलता है। यह सही है कि धर्म और नीति की समस्या मानसिक तल पर ही निर्मित होती है–उससे पहले जो समस्या होती है वह जैविक और सामाजिक समस्या ही होती है। इनके आधार पर साहित्य व्यवस्थापक होता है, उपन्यास का अवगाहक नहीं बन जाता है। साहित्य उन्नायक तथा अवगाहक घोर आत्ममंथन से बनता है, जब चारों ओर निबिड़ अंधकार हो। आत्ममंथन हो और अंधकार हो तो उसमें से व्यक्ति को, समाज को और साहित्यकार को उत्कृष्ट उपलब्धि अवश्य प्राप्त होती है। अंधकार को चीरकर ही प्रकाश प्रकट होता है।

अब भारतीय साहित्य की चर्चा करें जो अधिकांशत: भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता से संप्रेरित रहा। संस्कृति एवं सभ्यता का सृजन तथा सामाजिक संरचना परस्पर प्रभावित रहती है तो साहित्य इसी प्रभाव को दर्शाता है। अत: जो साहित्य की मूल प्रेरणा होती है तथा उसके जो बिम्ब प्रत्यक्ष होते हैं, वही प्रेरणा और बिम्बदृष्टि चरित्र निर्माण की भी होती है। इसी दृष्टिकोण से साहित्य जिस प्रकार समाज का दर्पण होता है, उसी दृष्टिकोण से किसी समाज की चरित्रशीलता अथवा चरित्रहीनता या यों कहें कि उसकी चरित्रनिष्ठा आगे की पीढ़ियों के लिये दर्पण का काम देती है जिसमें झांक कर पूर्व स्थिति का आकलन किया जा सकता है और सुघड़ रचना के लिये भविष्य का आयोजन। साहित्य अथवा चरित्र की प्रेरणा यहां की संस्कृति एवं सभ्यता से प्रस्फुटित होती रही है और हो रही है जिसका सार भावमय है। सामाजिक संस्थाएं, जिनमें यहां का पारस्परिक जीवन व्यक्त एवं व्यवस्थित हुआ है, वे चरित्रगुण और आदर्श, जो यहां के मानस को संस्कार देते हैं, हमारी संस्कृति के सत्त्व के परिचायक हैं। इस संस्कृति की वस्तुगत कोई रूपरेखा नहीं है। अगर यह रूपरेखा में बंध गई होती तो शायद राजनीतिक आघातों को अपने भीतर समा नहीं पाती। तब वह टूट कर बिखर जाती–जैसा अन्य जातीय संस्कृतियों का हुआ है। किसी भी तंत्र में भारतीय संस्कृति टूटी नहीं और उसकी यही शक्ति भारतीय साहित्य एवं चरित्र निर्माण को भी प्राप्त हुई जिससे दोनों की प्रखरता न्यूनाधिक रूप में ही सही, पर बराबर बनी रही है। शायद कुछ मूल्यों का स्वीकार और व्यवहार ही सबकी निरन्तरता को थामे रहा। इसी प्राणतत्त्व की जीवन्तता आज भी भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा चरित्र निर्माण को पूरी तरह प्रेरित कर रही है। इतना सा उन मूल्यों के बारे में जान लें कि जिनकी वजह से जीवन्तता और निरन्तरता बनी रही है। सबसे बड़ा मूल्य है अहिंसा का कि प्रतिकूल परिस्थितियों के उपरान्त भी हिंसा का पुन: प्रवेश नहीं हुआ। व्यवहार-व्यापार में भले कुछ हिंसा रही हो, किन्तु मूल्य के रूप में उसे स्वीकृति नहीं मिली। इसके बाद का बड़ा मूल्य है एकता की अनुभूति जो विभिन्नता को कम करने के ठोस प्रयासों के अभाव में भी भारतीयता के असर को कम नहीं कर पाई।

संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं कला के समन्वित रूप से ढलती है चरित्रनिष्ठा :

निश्चय ही इन सबके मूल में व्यक्ति होता है लेकिन ये केवल वैयक्तिक शक्ति की रचनाएं नहीं हैं। उसकी सामूहिक शक्ति ही अपार सृजन का रूप धारण करती है। यह सत्योक्ति है कि व्यक्ति

जब चरित्रशील बनता है तो समाज बनता है सृजनशील। यह सृजनशीलता ही बहुआयामी बनकर संस्कृति की रचना करती है, सभ्यता को ढालती है, साहित्य की प्रेरणा प्रकट करती है तो दुर्लभ कला कृतियों का निर्माण करती है। इस सृजनशीलता की सघनता ही वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्रनिष्ठा को स्थायी एवं स्थिर स्वरूप प्रदान करती है। चरित्रनिष्ठा से सम्पन्न व्यक्ति तथा समाज सदा शुभता के मार्ग पर ही आगे बढ़ता है, कहीं भी अशुभता को फैलने नहीं देता। ऐसे समाज की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं कला की प्रेरणा अक्षुण्ण बनी रहती है।

भारत अपनी इस चतुष्टय उपलब्धि एवं अपनी चरित्रनिष्ठा के लिये स्वयं को सौभाग्यशाली मान सकता है। भारत को लागों ने हिन्द कहा है। हिंद सिंध से निकला है जो एक नदी का नाम है। वही सिंध हिंद बना। हिन्दू धर्म में एक शास्त्र, एक देवता, एक प्रवर्तक या एक अवतार नहीं है। शास्त्र बनते चले गये और देवता बढ़ते चले गये। कोई ऐसा मत-विचार नहीं है जो यहां के धर्मों में न हो। आवश्यक इतना ही रहा कि पैतृक पूंजी के प्रति आदर रहे। इस मूल विनय के साथ जो भी आता रहा, यहां स्थान पाता रहा। इसका अर्थ है कि आग्रह पर इस संस्कृति का निर्माण नहीं है। कोई भी आग्रह बुरा होता है चाहे वह मत का हो या रीति-नीति का हो। कहा जा सकता है कि यहां की संस्कृति का निर्माण आपसी रहन-सहन के विकास और अभ्यास के क्रम में होता गया-वह किसी बौद्धिकता अथवा लौकिकता की उपज नहीं है। भारतीय संस्कृति के पीछे एक तटस्थ संग्राहक वृत्ति एवं दृष्टि रही है-जो कुछ शुभ है, अच्छा है उसे सहेजों और संवारों और अपने को हठवाद से दूर रखो। तटस्थ संग्राहक वृत्ति के साथ ही पर (दूसरे) के प्रति उदारता एवं स्वीकारता का भाव सदैव यहां रहा। यह भाव व्यक्ति में ही नहीं, समूहों में भी रहा। यही कारण है कि परिवार जैसी संस्था का जैसा पल्लवन यहां हुआ वैसा दुनिया के किसी भी देश में नहीं हो सका। तीर्थ, धर्मशाला, प्याऊ, सदावर्त, अतिथि, साधु, संन्यासी-ये सब धारणाएं और संस्थाएं भारत की निजी हैं। जीवन का यह समग्र विचार, जहां धर्म और कर्म एक दूसरे से हट कर अलग-अलग दिशाओं में नहीं चलते हैं-इस संस्कृति चतुष्टय में पुष्ट हुआ है और भारतीयता का यही प्रमुख आधार है जो आज तक बना हुआ है। कर्म के नीचे धर्म की बुनियाद है और इस कारण कर्म विवाद और संघर्षमय कम बनता है, बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक ही अधिक दिखाई देते हैं। स्व और स्वकीय इतना संकुचित नहीं है कि जो पर और परकीय को सह न सके, बल्कि पर और परकीय का स्वागत व सम्मान होता है- **'अतिथि देवो भव।'** इस प्रकार मनुष्य मात्र ही नहीं, जीव मात्र के लिये यहां के सांस्कृतिक वातावरण में एक संभ्रम और श्रद्धा की वृत्ति पनपती रही है। ऐसा नहीं हुआ है कि यहां के जीवन में कठिनाइयां न आई हों, किन्तु स्वकीय का भाव सारे विरोध को समाप्त करता रहा। इस कारण सामाजिक विकास निर्बाध भी रहा तो हार्दिकता से सरस भी बनता गया।

उन्नत चरित्र की प्रतीक होती है कला और कलामय राजस्थान :

उन्नत चरित्र जब आन्तरिकता में रच-बस जाता है, तब वह बाहर प्रकट होता है कला के विविध रूपों में-लेखनी, तूलिका और छैनी की नोक से। वह कला स्वर लहरियों में और शिल्प की बारीक नक्काशियों में झूमती है। भीतर की भावनाओं में उतार चढ़ाव आ सकता है, किन्तु एक बार बाहर

अभिव्यक्त हो गई कलाकृतियां दीर्घकाल तक उन्नत चरित्र, संस्कारगत श्रेष्ठता तथा अक्षरों के मर्म की याद दिलाती रहती हैं। कला का जब सृजन होता है तब संस्कृति, सभ्यता, साहित्य का तत्कालीन प्रभाव उस पर अवश्य ही पड़ता है, बल्कि एक बार सृजित होकर कलाकृतियां तत्कालीन प्रभाव की स्थाई साक्षी बनी रहती है। उससे इतिहासकार प्रेरणा लेते हैं और घटनाओं की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रमाण बनाते हैं। इस प्रकार कला और शिल्प दीर्घावधि तक चरित्र निर्माण के सभी तत्त्वों का मार्ग-दर्शन करते हैं।

आज भी कला और शिल्प के स्मारक उस प्राचीन इतिहास को प्रमाणित करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता परखने का अन्य कोई स्रोत नहीं है। उदाहरण के लिये राजस्थान के किन्हीं प्राचीन स्थलों की चर्चा की जा सकती है जिनमें मन्दिर, शिला लेख, तीर्थस्थल आदि शामिल हैं। श्री आर. वी. सोमानी द्वारा लिखित '**जैन इन्स्क्रिप्सन्स ऑफ राजस्थान**' में बताया गया है कि नोह (भरतपुर) में प्राप्त शिलालेख दूसरी शताब्दी ई.पू. का है और उसमें '**श्रमण**' तथा '**निर्ग्रंथ**' शब्दों का प्रयोग हुआ जो जैन साधुओं के लिए प्रयोग में आने वाले पारिभाषिक शब्द हैं। 7वीं से 10वीं शताब्दी तक के शिलालेख हटूंडी-अजमेर (प्रतिहारों व राष्ट्रकूटों से संबंधित), अजमेर, नाडोल, जालोर (चौहान शासकों से संबंधित) तथा आयड़-उदयपुर (प्राचीनतम सभ्यता से संबंधित) में उपलब्ध हैं। चित्तौड़गढ़ का कुमारपाल चालुक्य से संबंधित शिलालेख 1150 ईस्वी का है। ओसियां, मंडोर, किराडू, भीनमाल, जालोर, आयड़ और चित्तौड़ आदि में तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों को दर्शाने वाले शिलालेख भी हैं जो 7वीं से 13वीं शताब्दी तक के हैं। ओसवाल जाति के विकास से संबंधित शिलालेख भी 8वीं से 10वीं शताब्दी के बीच के हैं। चित्तौड़गढ़ की तरह अन्यत्र भी प्राचीन मन्दिरों के साथ मूर्तियां, कीर्तिस्तंभ, देव कुलिकाएं, हस्तिशालाएं आदि भी उपलब्ध हैं जो ऐतिहासिक प्राचीनता का परिचय देती हैं। चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ की तारीख 861 ई. पू. अंकित है। इसी प्रकार की कैलाशचन्द्र जैन ने भी अपनी पुस्तक '**एनसंट सिटीज एंड टाउन्स ऑफ राजस्थान**' में राजस्थान के प्राचीन ऐतिहासिक नगरों-कालीबंगा, बैराठ (विराट नगर), नगरी (माध्यमिका) जो दूसरी से पहली शताब्दी ईसा पूर्व में महिमामंडित रही तथा पुष्कर नगर, नालीसर, रायर, झालरापाटन, गंगधार आदि नगरों का भी उल्लेख है जिनका अस्तित्व 5वीं शताब्दी का है। छोटीसादड़ी (जिला चित्तौड़गढ़) का भंवर माता मन्दिर भी 5वीं शताब्दी का है। चित्तौड़गढ़ के नगरी ग्राम में ही पूर्व माध्यमिका गणराज्य से पातंजलि (150 ई. पू.) का संबंध सिद्ध किया गया है और दूसरी शताब्दी ई. पू. में ग्रीक-आक्रमण हुआ था। राजस्थान के ऐसे अनेकानेक कला तथा शिल्प से संबंधित स्थल हैं जहां की ऐतिहासिक गरिमा आज भी सिद्ध होती है।

चित्रकला शिल्प और भाषा पर बाहरी संस्कृतियों का प्रभाव तथा चरित्र निर्माण का पक्ष :

प्राचीनकाल से भारतीय जीवन का चित्रण चित्रकला के माध्यम से करने की परम्परा रही है। सिंधु सभ्यता की चित्रकारी करीब 5 हजार वर्ष पुरानी मानी गई है। चित्रांकन में ज्यामितिक

आकृतियां भी सम्मिलित है। चित्रों में सादृश्य वर्णन के बाद भावांकन शुरू हुआ। चित्र तीन फलकों पर मिलते हैं-1. भित्ति या चट्टान, 2. चर्म या वस्त्र तथा 3. काष्ठ, तालपत्र, पत्थर, हाथीदांत और कागज। अजन्ता की गुफाओं में वेदान्त, जैन व बौद्ध शैलियां अंकित हैं। यह चित्रकला पहले काफी फैली, लेकिन मुगलों के शासन के बाद मूर्तिपूजा की उपेक्षा से चित्रकला को हानि पहुंची। अकबर के शासन काल में इसे उत्कर्ष मिला और साथ ही चित्रकला में मुगल शैली का विकास हुआ।

मुगलों के शासन काल में और उसके बाद बाहरी संस्कृतियों का देश की चित्रकला, शिल्प तथा भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और मिश्रित शैली का विकास होने लगा। प्रो. हुमायूं कबीर का मानना है कि धर्म निरपेक्ष काव्य की रचना इस्लामी असर के कारण शुरू हुई। यह असर दोनों ओर हुआ। हिन्दी साहित्य भावुकता से चिन्तन की ओर बढ़ रहा था जबकि इस्लाम भावुकता के बिन्दु पर ठहरा हुआ था। यही कारण है कि इस्लाम का झुकाव एक ओर रामायण-महाभारत की तरफ हुआ तो दूसरी ओर रहीम, रसखान आदि मुस्लिम कवियों ने हिन्दी की काव्यधारा पर प्रभाव डाला। कबीर की प्रेम पीड़ा वैसी ही है जैसी मीरा की। इस्लाम का भाषा पर भी असर हुआ और फारसी के असर वाली उर्दू भाषा का जन्म हुआ। सरल होने से उर्दू बोलचाल की भाषा बनने लगी। उर्दू-हिन्दी के मिश्रण से महात्मा गांधी ने समाधान के रूप में हिन्दुस्तानी का आविष्कार किया। सामासिक संस्कृति भी इस्लामी प्रभाव से अछूती नहीं रह सकी। हिन्दुओं ने मुसलमानों को जातिवाद का जहर दिया तो मुसलमानों ने हिन्दुओं को पर्दे का श्राप। अहिंसा से मुसलमान प्रभावित हुए जिससे सूफीवाद चला और उनका मांसभक्षण आदि कम हुआ। दोनों संस्कृतियों के तालमेल से संगीत और शिल्प के नये रूपों का उद्भव हुआ। यूरोपियों के आगमन और अंग्रेजों के शासन के स्थिरीकरण के बाद में संस्कृति, सभ्यता, साहित्य कला आदि पर नया आधुनिक प्रभाव अंकित होने लगा और सब में नये-नये बदलावों की शुरूआत हुई। आज इन सबका जो रंग सबके सामने है, उसे सबके सम्मिश्रण का सुहावना रंग कहा जा सकता है।

इस सम्मिश्रण का भारतीय चरित्र पर गाढ़ा प्रभाव भी स्वाभाविक ही था। चरित्र निर्माण की धारणाओं में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट हुए क्योंकि सोच के विषय व दायरे बदल गए। सांस्कृतिक सम्मिश्रण से शिष्टाचार के मानदंड बदले तो चारित्रिक गुणों के स्वरूप में भी बदलाव आया। यही नहीं, जब इस्लाम और ईसाइयत का उदार हिन्दुत्व के साथ सम्पर्क बढ़ा तो उनका आवेश भी संतुलित हुआ। यों धर्म निरपेक्षता का वातावरण घना होने लगा। चरित्र निर्माण पर इन सारे परिवर्तनों का असर पड़ा जो दोनों प्रकार का था-पहले के कुछ मिथक टूटे तो कुछ नये क्रान्तिकारी तत्त्वों ने भी प्रवेश किया।

चरित्र निर्माण की व्यापकता के लिये संस्कृति आदि का अध्ययन आवश्यक :

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जहां चरित्र निर्माण का कार्य है, वहां विश्वभर के सांस्कृतिक प्रभावों को जानने-समझने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के तल में यह अज्ञान छिपा हुआ लगता है जो चरित्र निर्माण की व्यापकता एवं गहनता को भलीभांति नहीं समझता है। चरित्र निर्माण और विकास का प्रश्न न केवल एक व्यक्ति, एक वर्ग, एक समाज या एक राष्ट्र के साथ ही जुड़ा

हुआ है, बल्कि इस के संबंध और प्रभाव से पूरा विश्व प्रभावित होता है। इतना ही नहीं, चरित्र निर्माण के छोटे से प्रयास के पीछे भी विश्वस्तर का उद्देश्य होना चाहिये क्योंकि अन्ततः सारे विश्व में चरित्र का विकास प्रसारित होगा तभी **वसुधैव कुटुम्बकम्** का साध्य साधा जा सकेगा। यह दूसरी बात है कि इस विराट साध्य की सम्पूर्ति में कितना समय लग जाए, लेकिन साध्य तो सदैव विराट ही रहना चाहिए ताकि तदनुसार योग्यता एवं कर्मठता का प्रयोग करने के प्रयास किए जा सके।

जब विश्व स्तर का साध्य होगा तो संस्कृति आदि का गहरा अध्ययन अनिवार्य है, क्योंकि संस्कृति आदि के उत्थान-पतन से ही आकलन किया जा सकेगा कि कौनसे तत्त्व संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला आदि को सार्वजनीन एवं सर्वोपयोगी बनाने में सहायक होते हैं। उन तत्त्वों को हमें अपने आचरण में स्थान देना होगा जो चारित्रिक गुणों के रूप में प्रस्फुटित हो सकेंगे। अब तक हम यह जान चुके हैं कि चरित्र संस्कृति, सभ्यता का जनक भी होता है तो उनकी उपज भी। ये अन्योन्याश्रित चलते हैं। सभ्यता आदि का सम्यक् विकास तभी संभव होगा, जब व्यक्ति और समाज का चरित्र परिपक्व बने तथा परिपक्व चरित्र सम्पन्नता का समाज पर जो व्यापक सुप्रभाव होगा, उसी के फलस्वरूप श्रेष्ठ संस्कृति आदि का निर्माण हो सकेगा। इस दृष्टि से अनिवार्य है कि विश्व के इतिहास को जानें, सांस्कृतिक मूल्यों को पहचानें तथा विश्वात्मक सभ्यता से सृजन हेतु चरित्र निर्माण का शंखनाद करें।

◆◆◆

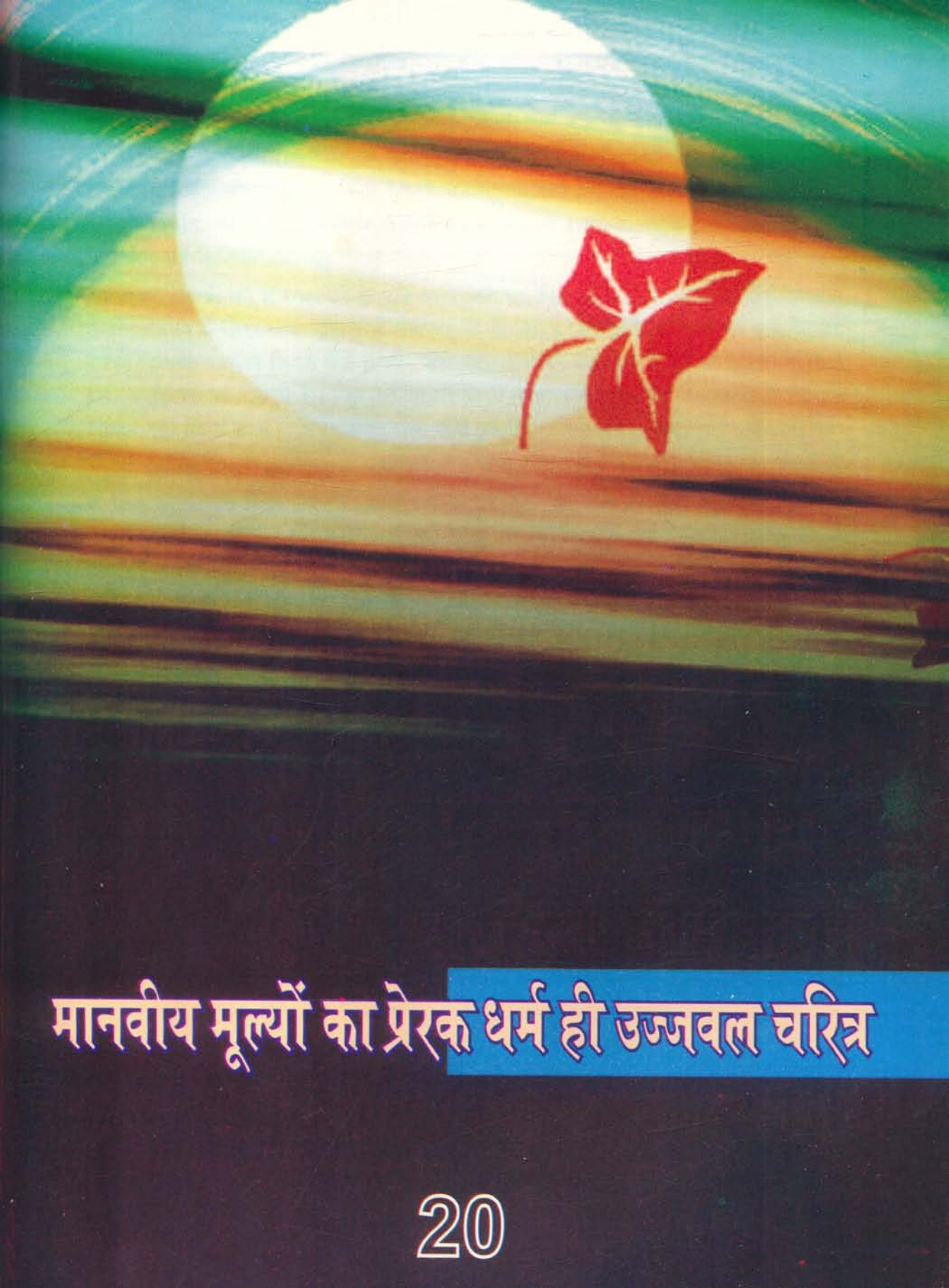


मानवीय मूल्यों का प्रेरक धर्म ही उज्जवल चरित्र

चरित्र निर्माण और धर्म : एक-दूसरे के पूरक

एक सद्गृहस्थ थे। जब उनकी पत्नी का देहान्त हो गया तब उन्होंने सोचा कि घर का सारा काम अपनी चार पुत्रवधुओं में बांट देना चाहिए ताकि घर की सुव्यवस्था यथावत् बनी रहे। उनके मन में आया कि किस बहू को कौनसा काम दिया जाए-इसका निर्णय तो पहले ही करना होगा। उन्होंने सोचा कि कार्य का विभाजन योग्यता एवं क्षमता के अनुसार ही किया जाना चाहिए, नहीं तो सुव्यवस्था के स्थान पर ऐसी अव्यवस्था मच जाएगी कि जिसे फिर सम्भाल पाना ही मुश्किल हो जाएगा। योग्यता एवं क्षमता की परख के लिये उन्होंने मन ही मन एक योजना निश्चित कर ली और उन्होंने अपनी चारों बहुओं को एक साथ बुलावा भेजा।

सद्गृहस्थ सद्व्यवहार में विश्वास करते थे, अतः उन्होंने अपनी चारों बहुओं के सामने न तो कोई भूमिका बांधी और न ही उन्होंने अपना उद्देश्य प्रकट किया। उन्होंने किया तो केवल यह कि प्रत्येक बहू को चावल के सिर्फ पांच-पांच कण (दानें) दिये और कहा कि वे पांच साल बाद सबसे चावल वापिस चाहेंगे। सब बहुएं हक्की-बक्की रह गई कि इसका मतलब क्या है? सब बहुएं अपने-अपने कक्षों में लौट गई।



मानवीय मूल्यों का प्रेरक धर्म ही उज्जवल चरित्र

20

सबसे बड़ी पहली बहू ने सोचा कि ससुर जी सठिया गये लगते हैं, वरना इस ऐश्वर्य सम्पन्न घर में चावल के मात्र पांच कणों का क्या मोल? और आश्चर्य तो यह कि ये पांच कण वे वापिस लेना चाहेंगे। वह ठठा कर जोर से हंसी और बेपरवाही के साथ उसने वे पांच कण खिड़की के बाहर फैंक दिये। घर में कोई चावलों की कमी तो है नहीं, जब मांगेंगे, पांच कण वापिस लौटा दूंगी। आखिर इन चावल के कणों पर कोई छाप-मोहर तो लगी हुई है नहीं कि ससुर जी पहचान पायेंगे। कण बाहर फैंक कर वह निश्चिन्त हो गई।

दूसरी बहू के मन में ससुर जी के प्रति आदर भाव था, फिर भी उसे हंसी आई कि क्या सोचकर उन्होंने चावल के सिर्फ पांच-पांच कण सभी बहुओं को दिये हैं। लगता है कि सास की मृत्यु के बाद उनका दिमागी सन्तुलन बिगड़ गया है और पांच-पांच कण देने तथा उन्हें मांगने पर लौटाने की बात इसी असंतुलन का नतीजा है। फिर भी चावल के ये पांच कण ससुर जी का प्रसाद है जिसका अनादर नहीं किया जाना चाहिए। उसने पांचों कण एक साथ अपने मुंह में डाले और उन्हें चबा गई।

तीसरी बहू अपने कक्ष में कुछ अलग ही सोच में पड़ गई। चाहे वह अंधी ही हो, पर ससुर जी के लिये उसके मन में आस्था थी। उसने मन ही मन कहा कि चाहे जो सोच कर ससुर जी ने ये चावल के पांच कण दिये हों, मुझे उनको पूरी साल-सम्भाल के साथ रख देना चाहिए, क्योंकि ये कण उनके आशीर्वाद रूप हैं जिनकी अवहेलना कदापि उचित नहीं। उसने सोने की एक मखमली डिबिया निकाली और चावल के वे पांच कण उसमें ठीक से जमा दिए यह सोचकर कि जब इन कणों की मांग की जाएगी तो वह इन असली कणों को उन्हें वापिस सौंप देगी।

अब सबसे छोटी और चौथी बहू की कार्यवाही देखें। उसने अपने एक संदेश वाहक को बुलाया, एक विस्तृत पत्र लिखा और चावल के वे पांच कण सावधानी से जमाकर उसे अपने पीहर भेज दिया। उसने निर्देश दिया कि पांच कण सहित पत्र वह उनके पिताश्री के सुपुर्द कर दें। छोटी बहू योग्य भी थी और सक्षम भी। सबसे बढ़ कर उसे अपने पिता तुल्य ससुर जी की बुद्धि में अटूट विश्वास था। उसने मन ही मन समझ लिया कि इन पांच कणों के पीछे उनका कोई खास उद्देश्य है। यह समझकर ही उसने वे पांच कण उचित निर्देश के साथ अपने पीहर भिजवा दिए थे।

पांच साल का समय देखते-देखते बीत गया। चारों बहुएं बुलावे पर ससुर जी के कक्ष में पहुंची। तब ससुर जी क्रमशः अपनी बहुओं को चावल के पांच कण, जो उन्होंने पहले दिए थे, वापिस लौटाने की बात करने लगे। पहली बहू ने चावल के पांच कण (दानें) लौटा दिये। पूछा गया कि क्या ये कण वही हैं। बहू झूठ न बोल सकी, सच-सच कह दिया कि उन कणों को तो उसने उसी दिन बाहर फैंक दिया था। तब दूसरी बहू ने पहले ही सच बता दिया और तीसरी बहू ने भी। जब चौथी बहू की बारी आई तो उसने उत्तर दिया-मेरे चावल के कण लाने के लिए उसके पीहर के नगर दस बैल गाड़ियां भेजनी होगी। अब ससुर जी के चकित हो जाने की बारी थी, बोले-क्या कह रही हो, बहू बैलगाड़ियों की जरूरत होगी? वह कहने लगी-पिताजी! मैं आपकी बहू हूँ तो आपकी प्रतिभा का कुछ अंश तो मुझे मिला ही है-बस उसी का उपयोग किया है मैंने। फिर भी समझ साफ नहीं हुई तब छोटी बहू ने स्पष्ट किया-मैंने वे चावल के पांच कण खेती से उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से अपने पीहर भेज दिये

थे। एक अलग भू-भाग में पहले पांचों कण बोये गए। फिर समूची फसल को अगली फसल के लिये बीज बना दिया गया। वही उत्पादन बढ़ते-बढ़ते अब इतना हो गया है कि उसे यहां लाने के लिये इतनी बैलगाड़ियां भेजनी ही होगी।

ससुर जी सद्गृहस्थ थे और अपनी छोटी बहू के सदाशय से वे अतीव हर्षित हुए। उन्होंने गंभीर वाणी में अपना निर्णय सुनाया। बोले-मैंने प्रत्येक बहू की योग्यता तथा क्षमता की परीक्षा करने के लिये चावल के पांच कण दिये थे। परीक्षा पूरी हुई और परिणाम यह है कि पहली बहू घर की सफाई का काम देखेगी, दूसरी बहू भोजनशाला का, तीसरी बहू भंडार का, लेकिन घर का पूरा संचालन छोटी बहू के हाथ में रहेगा। घर की सुख शान्ति की जो इतनी गुणा अभिवृद्धि कर सके, वही सच्ची गृहस्वामिनी है।

चावल के कण और चरित्र के गुण: रचनाधर्मिता के रहस्य को समझें :

चावल के पांच कण और चरित्र के भी पांच प्राथमिक गुण मान लें-स्नेह, संवेदना, सद्भाव, सहकार और सह-अस्तित्व। अब विचार करें कि इन गुणों की अभिवृद्धि के लिये क्या उपाय अमल में लावें? चरित्र निर्माण के क्रम में लोगों का एक वर्ग ऐसा हो सकता है जो पहली बहू की तरह उपदेशित गुणों का एक कान से सुन कर दूसरे कान से बाहर निकाल दे। पहली बहू तो बेपरवाह थी किन्तु यह वर्ग स्वार्थी वर्ग होता है जो अपने सत्ता-सम्पत्ति के स्वार्थों को पूरे करने के लिए क्रोध करता है, अहंकार में लिप्त होता है, कपटपूर्ण तरीकें लगाता है और लाभ व तृष्णा की दलदल में गहरे फंसता है। ऐसे वर्ग को चरित्र की राह पर लाने के लिए कड़े उपाय करने होते हैं। दूसरा वर्ग इतना कुटिल नहीं होता, लेकिन चारित्रिक गुणों की घोर उपेक्षा करता है और दूसरी बहू के समान उन्हें चबा डालता है। इस वर्ग के साथ भी कड़ी मेहनत करनी होगी कि वह चरित्र निर्माण के महत्त्व को हृदयंगम कर लें। तीसरे प्रकार के वर्ग को जगाने और सही रोशनी दिखाने भर की जरूरत रहती है, क्योंकि वह चारित्रिक गुणों का विरोधी नहीं होता है, सिर्फ अज्ञान होता है। चारित्रिक गुणों की अभिवृद्धि के लिये तो छोटी बहू के समान योग्य एवं सक्षम युवाओं की आवश्यकता होगी जो एक और एक से दो नहीं बनाकर एक और एक से ग्यारह बनाने की बुद्धि रखते हों। चावल के पांच कण से जो दस बैलागाड़ियों में लदी बोरियों जितने चावल पैदा करके दिखा दें उसी योग्यता एवं क्षमता की आज चरित्र निर्माण के क्षेत्र में आवश्यकता है। चारित्रिक गुणों की आज इतनी मात्रा में विस्तार की अपेक्षा है।

इस बोध कथा के माध्यम से रचनाधर्मिता के रहस्य को समझें। एक का अनेक गुना कैसे किया जाय-इसकी शिक्षा छोटी बहू की बुद्धि से मिलती है। ऊपर चरित्र के जिन प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया गया है, वे व्यक्ति के चरित्रगत मूल्यों की ही कसौटी नहीं बनते बल्कि समूहों तथा समुदायों को स्नेह व सहयोग के ऐसे सूत्र में बांधते हैं कि जहां चारित्रिक गुणों की अपार अभिवृद्धि एक परम्परा बन जाती है। स्नेह वह मरहम है जो विचारों के घावों को जल्दी से भरता ही नहीं, अपितु आपसी व्यवहार में मधुरता का संचार कर देता है। जहां स्नेह होता है, वहां संवेदना होगी ही। स्नेही का दु:ख निश्चय ही अपना दु:ख बन जाता है। तभी तो उक्ति बनी कि स्नेहियों के बीच बांटे जाने से दु:ख घट जाता है और सुख बढ़ जाता है। स्नेह और संवेदना से सद्भाव की सृष्टि होती है जो आपसी

संबंधों में घनिष्ठता और स्थिरता लाता है। घनिष्ठ संबंधों के बीच अनन्य सहकारिता में कभी-भी शंका पैदा नहीं होती है। सदा सहकार रहे तो वह सह-अस्तित्व सबके लिए सुरक्षा के साथ और शान्ति का वाहक बनेगा ही। इन गुणों के साथ यदि रचनाधर्मिता का रहस्य जुड़ जाए तो कहा नहीं जा सकता कि इनकी अपार अभिवृद्धि कितने महान् और आदर्श समतामय समाज की रचना करने में सफल बन सकती है? इन प्राथमिक गुणों के साथ चरित्र विकास की दृष्टि के अनेक गुणों की गणना की जा सकती हे, जैसे-सदा विश्वास का निर्वाह, व्यवहार में सचाई, लेन देन में ईमानदारी, हृदय की सरलता, सहनशीलता तथा सद्भावना, हिंसा से सर्वथा दूर अहिंसक जीवनशैली के निर्माण में सहयोग, दुःख निवारण के लिए सदा सचेष्टता, दूसरों के हितों को सर्वोपरि स्थान देना, सेवा हेतु तत्परता आदि ऐसे अनेक चारित्रक गुण व्यक्ति एवं समाज के संबंधों को सरस एवं सक्रिय बना सकते हैं। इन गुणों को आत्मसात् करते हुए प्रतिदिन अपने व्यवहार में इनका क्रियान्वयन तो किया ही जाए किन्तु चरित्र निर्माण के अभियान के माध्यम से चहुंमुखी प्रयत्नों के द्वारा इनकी अपार अभिवृद्धि की जाए तो वर्तमान विश्व में नव युग का नव प्रभात लाया जा सकता है। आवश्यकता है कि रचनाधर्मिता के महत्त्व को प्रतिफलित करते रहने में कोई और कसर न छोड़ी जाए।

धर्म चरित्र है और चरित्र धर्म, फिर चरित्र निर्माण में एकरूपता क्यों नहीं?

यह मान्यता सनातन सत्य रूप है कि धर्म चरित्र है और चरित्र धर्म है तो इस धर्म से उस धर्म के बीच कौनसे चरण उठाये जाते हैं-यह ज्ञातव्य है। पहले देखें कि धर्म क्या है? इसकी अनेक व्याख्याएं हैं विद्वानों के अनुसार, किन्तु आम आदमी की समझ में धर्म को कर्त्तव्यों का पुंज माना गया है। यह धर्म है, वह धर्म है का मतलब है कि ऐसा किया जाना चाहिए, वैसा किया जाना चाहिए। जहां कर्त्तव्य होता है, वहां उसके साथ अकर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ होता है। यदि यह करना चाहिए तो साफ है उसके साथ वह भी जुड़ा हुआ होगा कि वैसा नहीं करना चाहिए। इस प्रकार करणीय-अकरणीय या विधि-निषेधों से भरा होता है धर्म का आंचल। नाम वाले धर्मों की चर्चा को एक बार अलग कर दें तो कहा जा सकता है कि धर्म जीवन के सभी क्षेत्रों से संबंधित कर्त्तव्यों की रूपेरखा बताता है। इन कर्त्तव्यों का निर्धारण होता है अनुभवी एवं ज्ञानी महापुरुषों द्वारा उनके धर्म प्रवर्तन से, समाज की स्वीकृत परम्पराओं से तथा बदलती परिस्थितियों में बदलने वाली धारणाओं से। मुख्य बात यही होती है कि जिस करणीय को सामूहिक स्वीकृति प्राप्त होती है, वही सामुदायिक अथवा वैयक्तिक कर्त्तव्य का रूप लेता है। असल में कर्त्तव्यों का प्रमुख संबंध व्यक्ति के साथ ही होता है, अतः बहुधा कर्त्तव्यपालन के दायित्व को भी उसे ही निभाना होता है।

तो इस क्रम को समझें। धर्म कर्त्तव्यों की रूपरेखा बताता है जो वास्तव में मानवोचित होते हैं। कर्त्तव्यपालन से नैतिकता का आविर्भाव होता है जो दैनंदिन व्यवहार में स्थान पा लेती है। इसी नैतिकता का आचरण रूप बनता है चरित्र, जो विकास पाता हुआ सदाचार के मार्ग पर अग्रगामी बनता है। ऐसे चरित्र की परिपक्वता ही धर्म का प्रत्यक्ष रूप बन जाती है। यही दृष्टिकोण है कि धर्म और चरित्र को समरूपी बताया गया है। इस समरूप का प्रमुख संदेश होता है कि सदा दूसरों के लिये विवेकवान् बनो। इस संदेश का भी अपना रहस्य है।

मनुष्य व्यक्तिगत आधार पर यह भ्रम पालता आया है कि अपने जीवनयापन में वह सर्वथा स्वतंत्र है, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। कारण, किसी भी समूह, समाज या राष्ट्र में रहने वाले सभी व्यक्ति आपस में एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। इसलिये व्यक्ति की जीवित रहने की इच्छा की पूर्ति दूसरे कइयों के सहयोग से ही हो सकती है। न केवल जीवनयापन बल्कि हमारे अस्तित्व तक की निर्भरता पारस्परिक होती है। इसका फलितार्थ यह है कि समाज में सबका जीवन आपस में गुंथा हुआ होता है और जो भी इस गुंथाई की डोरियां काटता है, वह पाता कम और खोता ज्यादा है। सभी व्यक्ति यदि अपनी वैयक्तिकता का एक सीमा तक ही निर्वाह करें तो '**एक सबके लिए और सब एक के लिए**' की सुखद स्थिति उपस्थित हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने स्वार्थ इतने संकुचित रहें कि वे किसी अन्य के हितों से या सामूहिक हित से कतई टकरावें नहीं। इसी उदार व्यवस्था की दृष्टि है कि सदा दूसरों के लिये विवेकवान रहो।

यह भी कटु सत्य है कि मनुष्य के मन में स्वार्थ की प्रबलता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है कि 'लिबिडो' यानी काम (कामना) मनुष्य की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के साथ तब तक लगा रहता है जब तक कि सामुदायिक हित भाव से उसे निष्क्रिय या नष्ट न कर देता। इसी काम को तृष्णा भी कह सकते हैं। तृष्णा के तीन प्रकार हैं : 1. भव तृष्णा (अर्ज टु लिव) यानी जीवित रहने की कामना जिजिविषा। 2. विभव तृष्णा (अर्ज टु पजेस) यानी शक्ति और सम्पत्ति पाने की कामना वित्तेषणा, 3. काम तृष्णा (अर्ज टु एन्ज्यॉय)। इस त्रिरूपी तृष्णा के पीछे ममत्व का मारक भाव होता है कि सत्ता, सम्पत्ति, साधन आदि की सारी अनुकूलताएं मुझे ही मिले और मिल कर हमेशा मेरे पास बनी रहे। वह दूसरों की सुविधा-दुविधा से कोई वास्ता नहीं रखता, बल्कि दूसरों के लिए प्रतिकूलताएं पैदा करने से भी नहीं हिचकिचाता। मनुष्य के इसी घोर स्वार्थ से उपजती है हिंसा, जो विवाद से लेकर विश्व युद्ध तक पसर जाती है। इस स्वार्थ को इस स्वीकृति के साथ मिटाना होगा कि सब अन्योन्याश्रित हैं और सबके भले में ही एक का भला है। इस ठोस सत्य को गले उतारना ही होगा-तभी त्राण है और तभी धर्म है, कर्त्तव्य पालन है, नैतिकता है, चरित्र है, सदाचार है और धर्म का उच्च स्तर है।

इस विडम्बना को भी समझना होगा कि जब धर्म के कर्त्तव्य, नैतिकता के नियम, चरित्र के स्वरूप आदि में मानवीय दृष्टि से समरूपता है तो फिर चरित्र निर्माण के कार्य में एकरूपता क्यों नहीं लाई जा सकती है? इसमें बुरा मानने की बात नहीं है और यह कड़वा सच है कि यह एकरूपता नामधारी धर्मों की अपनी कट्टरता के कारण ही संभव नहीं हो पाती है। नामधारी धर्म नाम पहले चाहते हैं-काम हो या नहीं इसकी परवाह उन्हें कम रहती हैं। अत: आज का यह भी एक रचनात्मक कार्य कहलाएगा कि शुद्ध मानवीय मूल्यों के आधार पर किए जाने वाले सत्कार्यों के लिए सभी नामधारी धर्म वालों को सहमत किया जाए एवं उनसे सक्रिय सहयोग लिया जाए।

धर्म प्रवर्त्तकों का अन्तर्निहित लक्ष्य रहा चरित्र विस्तार से स्वत: चालित व्यवस्था का :

अब तक शायद इस बिन्दु पर बहुत कम सोचा गया है कि धर्म प्रवर्त्तन के समय उनके प्रवर्तकों का अन्तर्निहित लक्ष्य क्या रहा होगा? कौनसा प्रमुख उद्देश्य रहा होगा उनके मानस में कि धर्म के

रूप में वे जो कर्त्तव्यों का पुंज सामान्य जन को दे रहे हैं, उनके द्वारा समाज को क्या रूप मिलना चाहिए? इस बिन्दु पर यहां कुछ चर्चा करें। धर्म सिद्धान्तों की सूक्ष्म समीक्षा की जाए तो यह लक्ष्य स्पष्ट होता है कि संसार, देश, समाज, समुदाय, ग्राम, नगर, परिवार आदि सभी घटकों की व्यवस्था दंड पर आधारित न रह कर चरित्र बल पर टिके और वह स्वत: चालित व्यवस्था के रूप में स्थिर हो जावे। इस दृष्टिकोण से व्यवस्था सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्यों को पालनीय धर्मसूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया जाए ताकि अल्पज्ञानी या अज्ञानी भी श्रद्धावश उनका पालन करें। सच्ची श्रद्धा में दंड का भय नहीं होता, बल्कि स्वेच्छा का उदय होता है। ऐसे कुछ धर्मसूत्रों की यहां समीक्षा करें जिनका अन्तर्निहित उद्देश्य चरित्र को सुदृढ़ बनाना है, नैतिकता की रक्षा करना है अथवा स्वास्थ्य को सुचारू बनाए रखना है। लीजिए सबसे बड़े धर्म सूत्र-अहिंसा के पालन की बात करें। अहिंसा के निषेध पक्ष के अनुसार किसी भी जीव के किसी भी प्राण को न आघात पहुंचाना और न उसका वध करना होता है। उसके विधि पक्ष के अनुसार सबके जीवन की रक्षा करना कर्त्तव्य है तो लाभ किसको पहुंचेगा? उन प्राणियों या व्यक्तियों को जिनके जीवन पर हिंसा का खतरा मंडराता है तो धर्म सूत्र के बारे में पहली बात यह कि पालनकर्त्ता के अलावा उससे अन्यों को व्यापक संरक्षण मिलता है। दूसरे, राज्य व्यवस्था की दृष्टि से देखें तो कानून तथा सुरक्षा (लॉ एण्ड ऑर्डर) की समस्या का सहज समाधान निकल आता है। तीसरे, यदि अहिंसक जीवनशैली का व्यापक एवं स्वैच्छिक विस्तार बढ़ता जाता है तो धीरे-धीरे राज्य की दंड एवं सुरक्षा व्यवस्था का बोझ कम होता जाएगा और कभी एक दिन **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का सपना भी सच हो सकता है अथवा यों कहें कि आज पूरी शक्ति के अभाव में प्रभाव डालने में अक्षम संयुक्त राष्ट्र संघ एक सशक्त विश्व सरकार के रूप में बदल जाए।

यह तो केवल एक धर्म सूत्र की बात हुई। कोई भी अन्य धर्म सूत्र-सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, यम, नियम, चरित्र, नैतिकता और इनके जो पालनीय विधि विधान हैं-सबको विचार में ले-तब भी यही ध्वनि निकलती है कि उनके पालन का अधिकतम लाभ अन्य को अथवा समूह को मिलता है और वह भी इस रूप में कि वह समूची व्यवस्था को प्रभावित करता है। कई ऐसे धर्म सूत्र हैं जिनका बाहरी रूप तो धर्म क्रिया का है किन्तु उनके पालन का अभिप्राय या तो स्वास्थ्य रक्षा है अथवा शुद्धि को प्राथमिकता देने की बात है। रात्रि भोजन त्याग, उपवास आदि ऐसी कई धार्मिक क्रियाएं हैं। अनेकानेक धर्मसूत्रों के आन्तरिक अर्थ को संयुक्त करके देखें तो लगेगा कि धर्म प्रवर्तकों का लक्ष्य कितना दीर्घदर्शी था। उनका प्रमुख लक्ष्य रहा होगा कि बिना किसी बाहरी पुलिस, सजा या अदालती इन्तजाम के सर्वत्र सुरक्षा और व्यवस्था कायम हो जाए, चरित्र निर्माण व नैतिकता से आपसी व्यवहार चले और धर्म सारे सम्बन्धों में सरसता के रंग भरे। इस नजरिये से श्रद्धा का बड़ा मोल किया गया। नादानों के लिए स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय भी दिखाया गया ताकि वह धर्मसूत्रों की लीक से हटे नहीं।

धर्म प्रवर्तकों के अन्तर्निहित लक्ष्य का यदि धर्म सूत्रों की विशद आन्तरिक व्याख्या के साथ व्यापक विश्लेषण किया जाए तो यह मानना होगा कि चरित्र निर्माण में मूलत: धर्म की ही सन्तुलनात्मक भूमिका मुख्य है। चरित्र निर्माण से चरित्र विकास और उससे अगले चरण चरित्र का

उद्देश्य तब साफ हो जाता है कि इसके बल पर संसार में स्वत: चालित (ऑटोमेटिक) अथवा स्वैच्छिक राज-समाज व्यवस्था का सूत्रपात किया जा सकता है। इसकी रोशनी में धर्म की यह आलोचना अनुपयुक्त लगती है कि वह सिर्फ परलोक सुधार के विचार पर ही टिका है यानी कि उसके अस्तित्व का प्रमुख आधार व्यक्ति है, न कि समूह, समाज या अन्य सामुदायिक संगठन। धर्म का यह संकुचित स्वरूप बाद में बनाया गया है, जब अनुयायियों या धर्म नायकों ने प्रवर्तकों की वाणी का लाभ अपनी कट्टरता और अपनी निजी प्राभाविकता के लिए उठाना शुरू किया। यह गलत विश्लेषण सामान्य जन को भ्रमित करता रहा और धर्म का वास्तविक आशय लुप्त होता रहा। यही कारण है कि श्रेष्ठ सिद्धान्तों के उपरान्त भी आज के अधिकतर नामधारी धर्म तोड़ने का काम ज्यादा करते हैं बजाए जोड़ने के। धर्म से उपजाई इस विकृति का नाम ही साम्प्रदायिकता पड़ा जो उत्तेजना, फूट और हिंसा फैलाने लगी। इस सम्बन्ध में आज विचार, क्रान्ति और समुच्चय जागृति की अनिवार्यता है।

चरित्र निर्माण अर्थात् धर्म के आचरण का प्रधान लक्ष्य है लोक-कल्याण :

अब इस भ्रम को दूर करने का योजनाबद्ध यत्न किया जाना चाहिए कि धर्म का लक्ष्य मात्र आत्म- कल्याण ही है, क्योंकि वर्तमान समाज रचना ने सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज पर निर्भर है और वह प्रत्येक सामाजिक गतिविधि से प्रभावित होता है। व्यक्ति का कोई भी एकाकी उद्देश्य तब तक सार्थक नहीं, जब तक उसे समाज का सहयोग नहीं मिलता। यह भ्रम भी निर्मूल हो कि धर्म केवल भावी जन्म को ही देखता और सुधारता है, क्योंकि यदि वर्तमान विकृत ही बना रहा तो उसकी नींव पर भविष्य उत्तम कैसे बन सकेगा? आशय यह है कि धर्म का परम उद्देश्य लोक कल्याण है और लोक कल्याण में आत्म-कल्याण निहित रहता ही है। आप देखते हैं कि कोई वैरागी बन कर जब साधुत्व की दीक्षा लेता है तो परिवार आदि को छोड़ देता है, किन्तु यह कम लोग समझते हैं कि वह तब सकल विश्व का हितैषी बन जाता है। परिवार का छोटा दायरा छोड़ कर वह विश्व परिवार को अपना लेता है और तदनुसार ही वह सबके कल्याण के लिए अपने प्रवचनों का क्रम चलाता है। विश्व परिवार में छोटा परिवार तो समाया हुआ रहता ही है। इस प्रकार चरित्र निर्माण की बात हो अथवा धर्म के आचरण की, उसके पीछे लोक कल्याण का प्रधान लक्ष्य ही साधनारत होता है। यों चरित्र का निर्माण और धर्म का आचरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जिनका लक्ष्य एक ही है और वह है मानवीय मूल्यों का प्रसार ताकि लोक कल्याण की भावना को बल मिले।

एक कल्पना करें, जिसके दो हिस्से हों। एक हिस्सा इस प्रकार का कि किसी निर्जन स्थान में एक अकेला व्यक्ति-कोई सम्पर्क नहीं, कोई किसी के साथ सहवास नहीं। तब बताइए कि वह अपने कर्त्तव्यों का किसके साथ निर्वाह करेगा? वह ईमानदार है पर किसी का साथ नहीं, कोई लेनदेन नहीं तो उसकी ईमानदारी का प्रयोग कहां हो? इसी तरह एक-एक चारित्रिक गुण को ले लीजिए और उसके प्रयोग के बारे में सोचिए। परिणाम यह आएगा कि चरित्र निर्माण यानी कि धर्म का आचरण शून्यवत् हो जाएगा। अब कल्पना के दूसरे भाग को लें। भरे पूरे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में व्यक्ति का सम्पर्क है, सम्बन्ध है तथा अनेकानेक गतिविधियों का जाल है आज की

हरह तो क्या पग-पग पर व्यक्ति के सामने ऐसी परिस्थितियाँ नहीं आती कि यदि वह एक चारित्रिक गुण का सत्प्रयोग करें अथवा एक-एक कर्त्तव्य का सम्यक् प्रकार से पालन करे तो वह अपने व समूह के जीवन को साथ-साथ हितावह एवं सुखद बना सकता है। इसके विपरीत अशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में फंस कर वह समग्र जीवन को कलंकित भी कर सकता है। पूरी कल्पना से निष्कर्ष यह निकलता है कि समूह में व्यक्ति के पारस्परिक साथ व सम्पर्क से ही धर्म सिद्धान्तों का आचरण संभव है तथा उनका लाभ भी सबके लिये वरदान बनता है। इसका कारण समाज व व्यक्ति की अन्योन्याश्रितता है। यही कारण है कि चरित्र निर्माण और धर्माचरण का मूल महत्त्व यहां लोक कल्याण में ही स्थापित है।

श्रीमद् जवाहराचार्य ने ग्रन्थ 'धर्म व्याख्या' में विभिन्न धर्मों का विवेचन किया है, जिनमें ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि का उल्लेख है। यहां धर्म का आशय कर्त्तव्य से है और गांव में रहने वालों के अपने गांव के प्रति अर्थात् गांव को स्वस्थ रीति से प्रगतिशील बनाए रखने हेतु क्या कर्त्तव्य और दायित्व है, उनका उल्लेख हैं। इसी प्रकार नगर तथा राष्ट्र के नागरिकों के नगर की उन्नति एवं राष्ट्र के नवनिर्माण एवं विकास के प्रति क्या कर्त्तव्य है, वे नगर धर्म और राष्ट्र धर्म के रूप में परिभाषित किए गए हैं। यह स्पष्ट है कि सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन सम्बन्धित नागरिक को करना होता है, किन्तु इस पालन का सुप्रभाव मुख्य रूप से समूह पर होता है और उसका लाभ सुरक्षा, विकास आदि की दृष्टि से सभी नागरिकों को मिलता है। इस प्रकार कहीं भी शंका का स्थान नहीं है कि धर्म का लोक कल्याणक स्वरूप बहुत विस्तृत, बहुत प्रभावकारी तथा बहुत ही लाभदायक है। वस्तुतः धर्म की उपयोगिता एवं पालनीयता समूहगत घटकों में ही अस्तित्व और आभास में आती है।

धर्म का परिणाम चरित्र-निर्माण और उसका परिणाम मानव मूल्यों का सृजन :

वांछित रूप से प्राप्त परिणाम के आधार पर ही कार्य सिद्धि का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। एक बालक किसी परीक्षा में बैठा और जब उसका परिणाम निकलता है तभी ज्ञात होता है कि वह सफल हुआ अथवा विफल और सफल हुआ तो कितने अंकों के साथ। यही बात धर्माचरण पर भी लागू होती है। धर्म के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्ष होते हैं और इन दोनों क्षेत्रों में धर्म कर्त्तव्यों का आचरण करने वाले ने कितनी और कैसी सफलता प्राप्त की, इसका मापक यंत्र यही है कि उसके चरित्र का निर्माण गुण ग्राहकता की दृष्टि से एवं व्यावहारिक रूप से कितना शुभ बना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चरित्र-निर्माण की कसौटी धर्माचरण है यानी यह पता चलता है कि धर्माचरण कितना खरा है और कितना खोटा है। इसी प्रकार मानव मूल्यों के सृजन की कसौटी होगी कि चरित्र का निर्माण कितना निष्पाप एवं शुभदायक हुआ है। ये तीनों तत्त्व परस्पर सम्बन्धित है और जीवन को श्रेष्ठ बनाने की कला में तीनों तत्त्वों का सामंजस्य अनिवार्य है। इसी विचार से कहा गया है कि धर्म के आचरण का परिणाम चरित्र-निर्माण है तो चरित्र-निर्माण की उत्कृष्टता का निश्चित परिणाम इस रूप में सामने आना चाहिए कि सब ओर मानव मूल्यों की सक्रिय स्थापना एवं स्वीकृति हो चुकी है तथा उनकी प्रतिष्ठा मानव धर्म को एक नया लोककल्याणकारी स्वरूप प्रदान कर रही है।

धर्म की एक परिभाषा यह भी है कि '**धारयति इति धर्मः**' अर्थात् जो धारण करता है वह धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य व्यापकता के आधार पर धारण करता है, तभी धर्म की सार्थकता व्यक्त होती है। मनुष्य कर्म करता है, किन्तु उसकी परख धर्म की कसौटी पर की जाती है। कर्म की श्रेष्ठता उसके शुभत्व से आंकी जाती है जो धर्म और चरित्र दोनों के लिए वांछनीय है। कर्म कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, किन्तु वह कामनाओं से मुक्त होना चाहिए। कामना में अपना स्वार्थ छिपा रहता है और स्वार्थ के रहते कर्म में शुभत्व की पूर्णता नहीं बनती। निःस्वार्थ कर्म ही सदा शुभ होता है और जो शुभ है वही धर्म है, वही चरित्र है। पाश्चात्य दार्शनिक कांट के अनुसार कर्म तभी शुभ है जब कर्त्तव्य बुद्धि से किया गया हो। किसी कर्म का सम्पादन किसी भावना या आवेग की परितृप्ति के लिए नहीं, बल्कि कर्त्तव्य बुद्धि के आदेश से होना चाहिए। उसके अनुसार कर्म के शुभाशुभत्व को परखने के लिए पांच सूत्र हैं :-1. सार्वभौम विधान सूत्र-सर्वत्र प्रयुक्त नियमों का पालन, 2. प्रकृति विधान सूत्र-प्रकृति के सार्वभौम नियमों का पालन, 3. स्वयं साध्य सूत्र-अपने व्यक्तित्व में प्रत्येक पर पुरुष के व्यक्तित्व में निहित मानवता का एक ही समय में साध्य के रूप में प्रयोग, 4. स्वतंत्रता सूत्र-अपने को सार्वभौम विधान बनाने वाली समझ के नियमों का पालन तथा 5. साध्यों का राज्य सूत्र-एक सार्वभौम राज्य के विधायक सदस्य के नाते साध्यों के नियमों का पालन (नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृष्ठ 240-241)। इन सभी नीति सूत्रों में किसी न किसी रूप में समत्व, अनासक्ति, आत्मवत् दृष्टि आदि के भाव दिखाई देते हैं। कांट इन्द्रिय-निग्रह का प्रबल पक्षपाती है, जो आचारांग के कथन से मेल खाता है कि साधक को भाव स्रोत का परिज्ञान करके दमनेन्द्रिय बनकर संयम में विचरण करना चाहिए (1-3-2)।

निष्कर्ष यह है कि धर्म का आचरण विभिन्न कर्त्तव्यों के रूप में शुद्ध एवं शुभ भाव से किया जाना चाहिए, तभी वह चरित्र-निर्माण एवं विकास के रूप में प्रतिफलित होता है तथा इसी फलश्रुति के अनुसार उन श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की स्थापना एवं प्रतिष्ठा की जा सकती है जो सबको आत्मौपम्य दृष्टि से देखते हैं।

वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्र के सन्तुलन की डोर धर्म के पास :

मानव जीवन एक होता है, परन्तु उसके पक्ष अनेक होते हैं। उसका अपना व्यक्तित्व होता है तो परिवार के दायरे में विभिन्न सम्बन्धों का निर्वाह करता है तथा उन्हें स्नेह एवं सहयोग के सूत्रों से बांधे रखता है। जाति या वर्ग का सदस्य होने के नाते उसके शुभ कार्यों का भी वह भागीदार बनता है तो राष्ट्र एवं विश्व की नागरिकता के नियमों एवं कर्त्तव्यों का भी वह पालन करता है। कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व केवल वैयक्तिक ही नहीं रहता, अपितु बहुआयामी स्वरूप ले लेता है और इसी से उपजता है उसका वैयक्तिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पुंज अर्थात् उसका धर्म, उसका चरित्र, उसकी नैतिकता, उसका सदाचार और उसका चरम उत्थान। इसी पृष्ठभूमि में उपजती है उसके वैयक्तिक तथा सामाजिक चरित्र के स्वस्थ सन्तुलन की समस्या, जिसका समाधान का सूत्र धर्म के पास है जो उसके आचरण की सफलता के साथ जुड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में धर्माचरण की प्रमुख दृष्टि होनी चाहिए, अनेकान्तवादी दृष्टि जिसकी कुछ चर्चा पहले

हो चुकी है और जो विचार समन्वय के लिए विश्व विख्यात सिद्धान्त 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है।

वैयक्तिक एवं सामाजिक धर्माचरण, चरित्र-निर्माण अथवा साधना के सन्तुलन के सम्बन्ध में स्व. उपाध्याय अमर मुनि के विचार उल्लेखनीय है। उनका कथन है-''जैन धर्म की मूल परम्परा में आप देखेंगे कि वहां साधना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतंत्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या संघ के साथ भी। एक ओर जिनकल्पी मुनि संघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर बढ़ते हैं, दूसरी ओर विराट समूह हजारों साधु-साध्वियों का संघ सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। जहां तक मैं समझता हूं, जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूह भाव उसके नियमों के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। अहिंसा और सत्य की वैयक्तिक साधना भी संघीय रूप में सामूहिक साधना की भूमि पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया, करुणा, मैत्री और सद्भाव की साधना भी संघीय धरातल पर ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। जैन परम्परा का साधक अकेला नहीं चला है, बल्कि समूह के रूप में साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितों से भी सर्वोपरि संघ के हितों का महत्त्व मान कर वह चला है। जिनकल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चल कर भी अन्ततोगत्वा संघीय जीवन में ही अन्तिम समाधान कर पाया है। ...जीवन में जब संघीय भाव का विकास होता है तो निजी स्वार्थों और व्यक्तिगत हितों का बलिदान करना पड़ता है, मन के केन्द्रों को समाप्त करना होता है और एकता व संघ की पृष्ठभूमि को त्याग पर खड़ी करनी होती है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुख से ऊपर संघ के हित को, संघ के स्वार्थ और सामूहिक हित को सदा प्रधानता दी जाती है। संघीय जीवन में साधक अकेला नहीं रह सकता, सबके साथ चलता है। एक दूसरे के हितों को समझ कर वह अपने व्यवहार पर संयम रखता हुआ चलता है। परस्पर एक दूसरे के कार्य में सहयोगी बनना, एक दूसरे के दुःखों और पीड़ाओं में यथोचित साहस और धैर्य बंधाना, उसमें हिस्सा बंटाना-यही संघीय जीवन की प्रथम भूमिका होती है। जीवन में जब अन्तर्द्वन्द खड़े हो जावे और व्यक्ति अकेला उनका समाधान न कर सके, तो उस स्थिति में दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वों को सुलझाने में स्नेही सहयोगी बने, अंधेरे में प्रकाश दिखावे और पराभव के क्षणों में विजय मार्ग की ओर उसे बढ़ाता ले चले। सामूहिक साधना की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि वहां किसी भी क्षण व्यक्ति अपने को एकाकी या असहाय अनुभव नहीं करता है, एक के लिए अनेक सहयोगी वहां उपस्थित रहते हैं। एक के सुख व हित के लिए अनेक अपने सुख व हित का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते हैं। ...जैसा कि मैंने बताया, बहुत पुराने युग में, व्यक्ति अपने को तथा दूसरों को अलग-अलग एक इकाई के रूप में सोचता रहा था, पर जब समूह और समाज का महत्त्व उसने समझा, संघ के रूप में ही उसके जीवन की अनेक समस्याएं सही रूप में सुलझती हुई लगी तो सामाजिकता में, संघीय भावना में उसकी निष्ठा बनती गई और जीवन में संघ और समाज का महत्त्व बढ़ता गया। साधना के क्षेत्र में भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकल कर सामूहिक साधना की ओर आता गया। ...जीवन की उन्नति और समृद्धि के लिए समाज और संघ का आरम्भ से ही अपना विशिष्ट महत्त्व है, इसलिए व्यक्ति से अधिक समाज तथा संघ को महत्त्व दिया गया है (चिन्तन की

मनोभूमि, पृष्ठ 407-408)।" इस कथन से एकदम साफ हो जाता है कि वैयक्तिक क्षेत्र से सामाजिक क्षेत्र अधिक महत्त्वपूर्ण है और रहेगा, क्योंकि स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व का श्रेष्ठ विकास समाज, समूह या संघ के बिना संभव नहीं। यदि धर्म क्षेत्र में संघ की इतनी वृहद् भूमिका है तो व्यक्ति का गृहस्थ जीवन तो समाज पर आश्रित होने से सामाजिक सहयोग के बिना सफल कैसे हो सकता है? इस दृष्टि से स्वरूप, विशुद्ध के साथ समाजवादी या साम्यवादी सिद्धान्तों का विश्वजनीन प्रयोग पुनः सफलता की ओर ले जा सकता है।

वर्तमान के विश्रृंखल जीवन में यदि धर्म (अपने मूल एवं शुद्ध अर्थ में मानव धर्म स्वरूप वाला) अपना सही नेतृत्व धारण करता है तो वैयक्तिक तथा सामाजिक चरित्र का श्रेष्ठ सन्तुलन साध सकता है। इसके लिए व्यक्ति को भी बदलना होगा तथा समाज को भी सुधारना पड़ेगा कि चरित्र सामंजस्य धर्माचरण का सबल माध्यम बन जाए। स्व. अमर मुनि का समाज सुधार का दृष्टिकोण भी ज्ञातव्य है। वे लिखते हैं-"आप जिस समाज में है, आपको जो समाज, राष्ट्र या देश मिला है, उसके प्रति सेवा की उच्च भावना आप अपने मन में रखे, अपने व्यक्तित्व को समाजमय और देशमय तथा अंत में सम्पूर्ण विश्वमय-प्राणिमय बना डाले। आज दे रहे हैं तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अंदर में जो सौदेबाजी की वृत्ति है, स्वार्थ की वासना है, उसे निकाल फैंके और फिर विशुद्ध कर्त्तव्य भावना से-निःस्वार्थ भावना से जो कुछ आप करेंगे, वह सब धर्म बन जाएगा। मैं समझता हूं कि समाज सुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नहीं हो सकता (चिन्तन की मनोभूमि, पृष्ठ 439-440)।"

धर्म चलाए चलता है, संसार बनाए बनता है और चारित्रिक पराक्रम की महत्ता :

यह उक्ति व्यवहार की दृष्टि से सही है कि धर्म चलाए चलता है, स्वयं नहीं अर्थात् धर्म के कर्त्तव्यों व सिद्धान्तों का जब निष्ठापूर्वक पालन किया जाता है तभी उसका प्रभाव प्रसारित होता है। धर्म व्यक्ति को नहीं हंकालता, व्यक्ति को ही धर्माचरण करना होता है। कहा है-'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' अर्थात् सुरक्षित किये जाने पर ही धर्म रक्षक बन सकता है। आपके सामने मानव धर्म के सिवाय राज धर्म, लोक धर्म, प्रकृति धर्म आदि होते हैं किन्तु जब आप उनकी रक्षा करते हैं तो वे आपकी रक्षा करने में समर्थ बनते हैं। इसी प्रकार यह भी सही है कि यह संसार भी बनाए से बनता है। जब धर्मनिष्ठ एवं चरित्र सम्पन्न व्यक्ति कमर कस कर संसार में शुभ परिवर्तन लाने के लिए आगे बढ़ता है, तभी संसार में शुभ परिवर्तन आ सकते हैं और फिर शुभता में परिवर्तित संसार सभी मानवों एवं प्राणियों के हितों का संरक्षक बन सकता है। इस संदर्भ में चारित्रिक पराक्रम की महत्ता अतुलनीय है, क्योंकि धर्म और संसार के क्षेत्रों को शुद्ध-विशुद्ध एवं शुभतामय बनाने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति का यह पराक्रम ही आशा की किरण दिखा सकता है क्योंकि चरित्र निर्माण एवं विकास के माध्यम से वैसा अद्भुत पराक्रम प्रकट किया जा सकता है एवं क्रियाशील बनाया जा सकता है।

आचारांग सूत्र के पांचवें अध्ययन-'लोकसार' के संक्षिप्त विवेचन में मुनि संतबाल कहते हैं-'लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, संयम का सार निर्वाण है तथा निर्वाण का सार आनन्द है।' प्रथम उद्देशक (चारित्र प्रतिपादन) के अन्तर्गत कहा है कि वस्तु का

स्वभाव ही धर्म है अत: लोक में प्राप्त करने लायक कुछ है तो वह मात्र वस्तु स्वभाव है। वस्तु स्वभाव का चित्तवृत्ति पर संस्कार के रूप में जो प्रभाव स्थापित होता है वह ज्ञान है। ज्ञान के होने के बाद सत्य की जिज्ञासा जागती है और सत्य की जिज्ञासा के बाद जितने अंशों में परभाव का त्याग होता है उतने अंशों में स्वभाव की ओर मुड़ने की जो क्रिया होती है उसका नाम चारित्र है। चारित्र के आने के बाद त्याग, तपश्चरण तथा ऐसे अनेक प्रयोगों द्वारा वृत्ति पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त हो सकती है। अर्थात् चित्त संस्कारों के कर्त्तव्य के सर्वथा क्षय से निर्वाण दशा मिलती है। इस प्रकार आनन्द, सुख और शान्ति के ध्येय तक पहुंचने के लिए सद्धर्म की आराधना करना इष्ट है। परन्तु धर्म किसको कहें-यह एक महाप्रश्न है जिसके सेवन से विषयजन्य सुख की अभिलाषा मंद हो और सच्चे सुख की शोध की ओर मन, इन्द्रियां तथा शरीर का झुकाव हो, वही धर्म है। और ऐसा जो धर्ममय जीवन है, वही वास्तव में सच्चा चरित्रवान जीवन है (श्री आचारांग सूत्र नो संक्षेप-गुजराती, भाग-2, पृष्ठ 18-19)।

ऐसे चरित्रवान जीवन के निर्माण हेतु आत्मानुभूति की अपेक्षा रहती है। आत्मानुभूति हेतु चिन्तन के कुछ सूत्र मैं यहां प्रस्तुत करना चाहता हूं-

1. हम ऐसी चिनगारी बन सकते हैं कि असत् के ढ़ेर को जला सके। वास्तव में चिनगारी का ही महत्त्व है। ज्वालाएं तो भभकती हैं और भस्म करती है, जबकि चिनगारी भी यही काम करती है परन्तु ताकत में अन्तर होता है। ज्यादा ताकतवर जल्दी ही निरुस्ताहित हो जाता है और चिनगारी भले ही कम ताकतवर हो लेकिन जलती ही रहेगी उतनी कि जिससे रोशनी बिखरे और विकार जल सके। वही चिनगारी हम बनें कि हमारे भीतर में रहे असत् के सारे ढ़ेर जल जाए।
2. हम कष्टों, संकटों एवं आपदाओं के हलाहल को पीना सीखें, क्योंकि हमारे आदर्शों ने यही सिखाया है। कोई भी साधना सुगम नहीं होती-उसके पीछे कितने कष्ट भरे हुए रहते हैं-यह समझना नितान्त आवश्यक है।
3. हमारे आराध्य गहन अंधकार में चमकते हुए सितारे हैं, नन्दन वन की उपमा से उपमित हैं। इनकी चरण शरण में अगर हम प्रकाश प्राप्त नहीं कर सके या अभिलषित कार्यों को नहीं साध सके तो उससे बढ़ कर दुर्भाग्य सूचक और क्या होगा?
4. गुरु की शरण भव सिन्धु को पार करने के लिए एक सुन्दर, व्यवस्थित एवं मजबूत पोत के समान होती है, वह पोत हमें प्राप्त हुई है। उस पर हम सवार हो जाए-बस सवार होने भर की आवश्यकता है, आगे वह शरण हमें मंजिल तक पहुंचा देगी।
5. हमारे भीतर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की त्रिवेणी बहती रहे और उसमें हम अवगाहित बने रहे। यह एक ऐसी त्रिवेणी है जिसमें अवगाहित रहने वाला व्यक्ति सदा-सदा के लिए अजरामर बन जाता है।
6. हमारे जीवन का क्या श्रृंगार है? वह है अनुशासनपूर्वक मर्यादाओं का पालन करना, जो श्रृंगार हम मानव ही कर सकते हैं, अन्य पशु पक्षी आदि जानवर नहीं कर सकते हैं।

7. हमारी प्रगति का आधार क्या है? यह तो नहीं कि हम कितना खोज सकते हैं या बोल सकते हैं या अन्य कार्यों को कर सकते हैं-ये प्रगति के बाहरी मानदंड हो सकते हैं, परन्तु भीतरी प्रगति के आधार तो हमारी सरलता, सहजता और चारित्रिक शक्ति ही हो सकती है।

8. हमारे आनन्द के द्वार क्या हो सकते हैं? मृदुता, मैत्री, सर्वहितैषिता ही हमारे आनन्द के द्वार हो सकते हैं।

9. कल्पनाओं का इन्द्रलोक बड़ा सुरम्य होता है, परन्तु उससे प्राप्त कुछ नहीं होता। हमें तो यथार्थताओं के इन्द्रलोक में विचरण करना चाहिए, जहां प्राप्त ही प्राप्त होता है।

10. खिले हुए फूल की तरह हम सदैव मुस्कुराते रहें, क्योंकि मुरझाये फूल को कोई नहीं चाहता, वैसे हम भी मुरझाया चेहरा रखेंगे तो हमें भी कोई नहीं चाहेगा।

11. जब हम विचारों को अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब हमें अपनी योग्यता की परीक्षा देनी होती है। विचाराभिव्यक्ति के द्वारा विचारों में प्रखरता आती है। उस समय हमारे भीतर में रहे हुए अनुभवों के निधान प्रकट होने लगते हैं। इसीलिए जन समूह के बीच हमें अपने विचारों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने से नहीं कतराना चाहिए।

12. हम हमारे जीवन प्रवाह की प्रत्येक लहर को सम्यक् मोड़ देने के लिए तत्पर रहें-बल्कि यही हमारा उद्देश्य बन जाए। बहुत बार ऐसा उद्देश्य भी बन जाता है, परन्तु वैसी कर्मठता नहीं सध पाती है। हम कठोर से कठोर कार्य करने से कतराने लगते हैं। वैसी कटिबद्धता नहीं बनती, इसलिए इस उद्देश्य के अनुरूप कार्य में सफल नहीं हो पाते हैं।

13. खतरों को झेलने वाला ही सफल होता है। जो खतरों को देखकर घबरा जाता है और कार्य क्षेत्र से भाग खड़ा होता है, वह किसी विजयश्री को प्राप्त नहीं कर सकता है। विजयश्री उन्हीं को हस्तगत होती है जो बड़े से बड़े खतरे का मुकाबला करने का सामर्थ्य पैदा कर लेता है। हमारी क्षमताएं बढ़ें, हमारी उपयोगिता बढ़ें, हमारी कार्य पद्धतियां विकसित हों, इसके लिए हमें किसी के अवदानों की भिक्षा नहीं मांगनी हैं। हमें स्वतः में ऐसी परिस्थिति पैदा करनी होगी, ऐसा वातावरण, ऐसा देश, काल, भाव निर्मित करना होगा जिसमें हम निरन्तर आगे बढ़ते ही रहें, सदैव उपयोगी बने रहें।

14. केवल प्रवृत्ति परक धर्म की साधना हमारे दायरे को विस्तृत बना सकती है, पर उससे केन्द्र मजबूत नहीं हो सकता। किन्तु केवल निवृत्तिपरक धर्म की साधना ही केन्द्र को मजबूत बना सकती है। फिर भी उससे परिधि को सुदृढ़ एवं परिकृष्ट नहीं बनाया जा सकेगा। उसके लिए जीवन एवं धर्म का सन्तुलन करना होगा। यह सन्तुलन ही हमारे व्यक्तित्व को सर्वतोमुखी बना सकेगा।

चिन्तन के इन क्षणों को सार्थक निष्कर्ष देने के लिए इसे समझें। एक बार भगवान् महावीर से यह प्रश्न पूछा गया-'जीवन में पग-पग पर तो पाप ही पाप दिखता है। जीवन का समस्त क्षेत्र पापों से घिरा हुआ है और जो व्यक्ति धर्मात्मा बनना चाहता है-उसे पापों से बचना होगा, किन्तु पापों से

बचाव कैसे हो सकता है?' तब महावीर ने कहा-'पहले यह देख लो कि तुम संसार के समस्त प्राणियों के साथ एकरस हो चुके हो या नहीं? तुम्हारी वृत्तियां उनके साथ एकरूप हो चुकी हैं या नहीं तुम्हारी आंखों में उन सबके प्रति प्रेम बस रहा है या नहीं? यदि तुम उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहे हो, संसार के प्राणी मात्र को समभाव दृष्टि से, विवेक और विचार की दृष्टि से देख रहे हो, उनके सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख समझ रहे हो तो तुम्हें पाप कर्म कभी भी नहीं बांध पायेंगे' **(सव्व भूयप्पभूयस्स, सम्मं भुयाइं पासओ, पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ।** - दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4)।

प्राचीन दार्शनिक अरस्तु ने ठीक ही कहा कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसका अर्थ है कि व्यक्ति और समाज के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति पाप करेगा तो समाज में और उनसे बचने का उपाय करेगा तो वह भी समाज में ही सम्भव होगा। समाज और व्यक्ति के बीच शुभ, सुखद एवं सद्भावी सम्बन्ध बनाने का एक ही उपयुक्त उपाय है कि मानव चरित्र का निर्माण किया जाए, उसका सम्यक् विकास हो तथा उससे उपजी निष्ठा के बल पर समाज का यानी कि समूहगत घटकों का सुधार किया जाए जिससे सामाजिक चरित्र अर्थात् मानवीय मूल्यों का सृजन हो। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध एक-दूसरे के पूरक होते हैं और एक दूसरे का परिष्कार एवं परिवर्धन करने वाले बनते हैं। अत: समाज और व्यक्ति दोनों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि दोनों ही परस्पर सहयोग, सहानुभूति एवं सम्यक् सन्तुलन बनाए रखते हुए चारित्रिक पराक्रम को प्रखर बनाने के सदुद्देश्य में तत्पर रहे।

अन्त में आपसे एक प्रश्न पूछना चाहूँगा। उस प्रश्न पर आप विचार करें और अपनी स्थिति को समझें। प्रश्न यह है कि आप महापुरुषों के कथन पढ़ते हैं, प्रवचन सुनते हैं या स्वाध्याय आदि करते हैं तो उन्हें क्या बड़ी बहू की तरह एक कान से सुन दूसरे कान से बाहर निकाल फैंकते हैं या दूसरी बहू की तरह चबा डालते हैं या तीसरी बहू की तरह पेटी में बंद कर देते हैं अथवा छोटी बहू की तरह कई गुना बढ़ाने की चेष्टा करते हैं?

◆◆◆

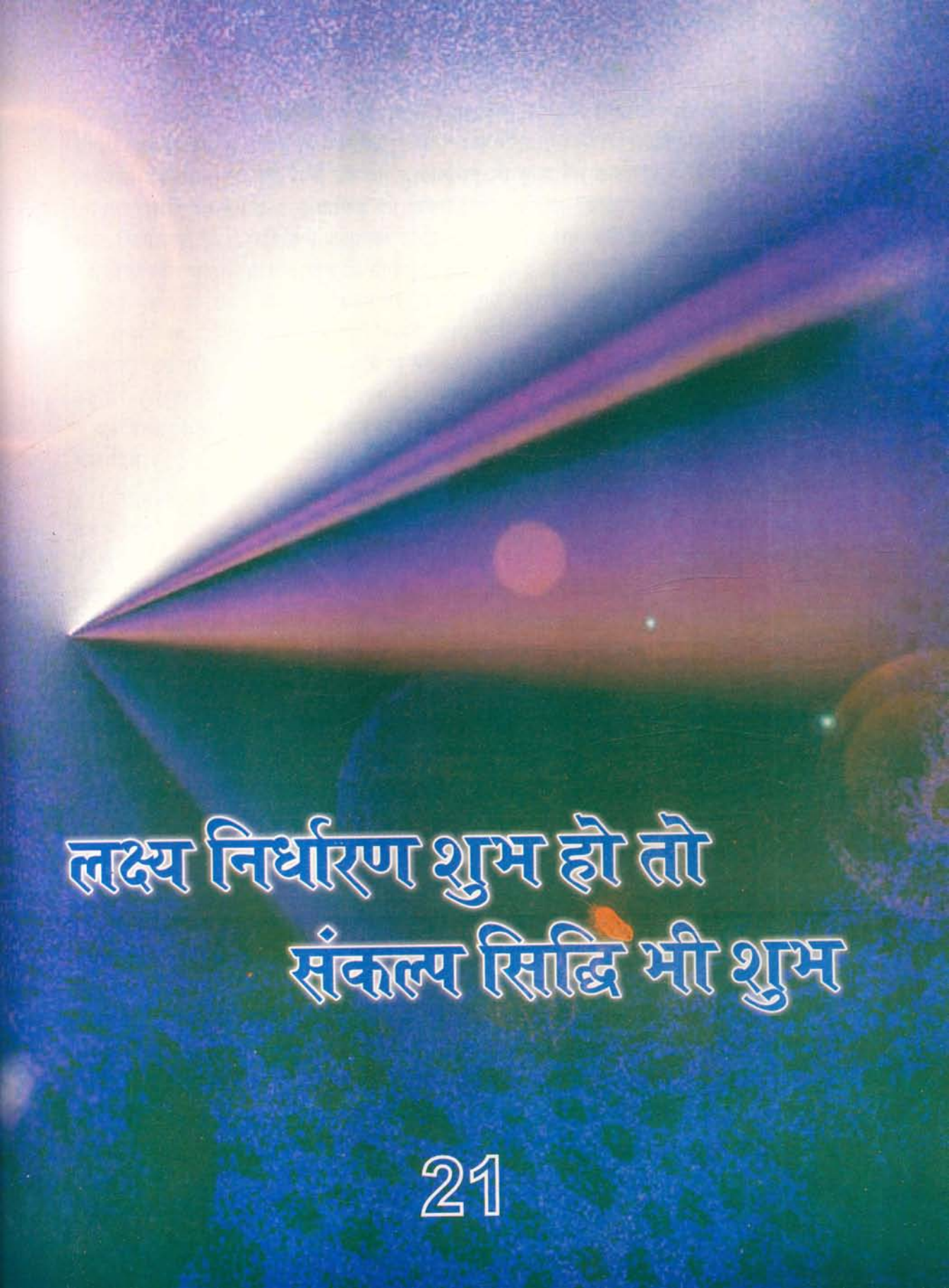


लक्ष्य निर्धारण शुभ हो तो संकल्प सिद्धि भी शुभ

चरित्र विकास : नींव से शिखर तक

एक भावमय कथा है। एक नगर में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसका नाम था कपिल। भिक्षावृत्ति से उसका निर्वाह पूरा नहीं पड़ता था और उसे कई बार भूखे पेट सो जाना पड़ता था। उस नगर का राजा प्रातःकाल सर्वप्रथम आशीर्वाद देने आने वाले ब्राह्मण को एक स्वर्ण मुद्रा दान में दिया करता था। एक बार कपिल को भी विचार आया कि दूसरे दिन प्रातःकाल सर्वप्रथम महल पहुंच कर वह भी एक स्वर्ण मुद्रा प्राप्त करें ताकि कुछ दिन तो सुख से कटे।

दीनता अत्यन्त कष्टदायक स्थिति होती है और उसमें मन-मानस का सन्तुलन अस्त-व्यस्त होता रहता है। कपिल को बड़े सवेरे उठ कर राजमहल पहुंचना था, लेकिन उसे भान नहीं रहा और वह आधी रात के बाद ही उठ कर अपने घर से निकल पड़ा। कुछ ही दूरी पर गया होगा कि प्रहरी ने उसे रोका और अपराध की आशंका से पूछा- मध्य रात्रि में क्या चोरी करने को निकले हो? कपिल ने सारी सफाई दी पर मानी नहीं गई और उसे प्रातःकाल राजा के समक्ष प्रस्तुत करने के आदेश के साथ कारागार में बंद कर दिया गया।


लक्ष्य निर्धारण शुभ हो तो
संकल्प सिद्धि भी शुभ
21

राज्य सभा में प्रात: कपिल को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया गया और अपराध का विवरण सुनाया गया। राजा ने कपिल के स्पष्टीकरण को ध्यानपूर्वक सुना और उसे कपिल की निर्दोषता पर विश्वास हो गया। साथ ही राजा को यह दु:खानुभव भी हुआ कि उसके नगर में दीनता की ऐसी दयनीय स्थिति भी है। राजा ने कपिल को अपना निर्णय सुनाया-'ब्राह्मण, तुम निर्दोष हो, इसलिए मुक्त किये जाते हो।' कपिल ने राजा का जयकार किया और वह जाने के लिए मुड़ा तभी राजा ने उसे रोका और कहा-'ब्राह्मण, तुम्हारी दीनता से मुझे बहुत दु:ख पहुंचा है। एक स्वर्ण मुद्रा के स्थान पर तुम मुझसे मनचाही मांग कर सकते हो। बोलो-तुम्हें क्या चाहिए?' कपिल भौंचक्का रह गया। उस समय वह दंडित नहीं हुआ-यही उसके लिए संतोष का विषय था। किन्तु राजा तो उसकी मनचाही मांग पूरी करने के लिए तैयार है तो वह क्या मांग ले? वह कुछ भी तत्काल सोच नहीं पाया। तब उसने राजा से निवेदन किया-'राजन्, मुझे मनचाही मांग पर सोचने के लिए कुछ समय दिया जाय।' राजा ने तुरन्त उसकी बात मान ली और उसे सोचने के लिए महल के पास वाले उद्यान में भेज दिया।

उद्यान की एक शिला पर बैठ कर कपिल ब्राह्मण ने सोचना शुरू किया-राजा कितने दयालु हैं? दंड न देकर वरदान ही दे डाला। अब एक स्वर्ण मुद्रा तो मामूली मांग रह गई है। कुछ इतना तो मांग ही लूं कि कुछ समय के लिए दीनहीन अवस्था से छुटकारा मिल जाए... तो क्या मांगू? दस स्वर्ण मुद्राएं ठीक रहेगी? पागल हो रहा है क्या? जब राजा कुछ भी देने को तैयार है तो दिल खोल कर ही मांगू। बस, बहुत हो जायगा-सौ स्वर्ण मुद्राएं मांग लूं-एक बार तो गरीबी का गला ही दब जायगा। प्राप्त धन से कुछ धंधा कर लूंगा और इस तरह जीवनयापन सरल हो जाएगा....

अंतिम निर्णय के विचार से वह उठने लगा तभी उसके मन ने जोरदार फटकार लगाी कि वह पुन: धम् से बैठ गया। पागल मन उसे भटकाने लगा-मूर्ख, जब राजा दे ही रहा है तो तू मांगने में ढीला क्यों हो रहा है? दम साध और भरपूर मांगने का फैसला कर ले। फिर प्रश्न-तब क्या मांगू? हजारों स्वर्ण मुद्राएं, भव्य भवन, सुख सुविधाएं, सज्जा सामग्री... और क्या-क्या? न मांगने की सूची का अंत आ रहा था और न अंतिम निर्णय का क्षण... लोभ की मांगे बढ़ती ही जा रही थी। आखिर अन्त पर ही लोभ का अन्त हो गया-कपिल ने निर्णय ले लिया कि वह राजा से उसका पूरा राज्य ही मांग ले और वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ।

परन्तु कपिल का पांव जैसे धरती पर जम गया-उसका कदम आगे नहीं बढ़ा। उसे लगा जैसे उसके मस्तिष्क को कोई जोर का झटका महसूस हुआ हो और वह भ्रमित सा हो गया। धीरे-धीरे जब उसकी चेतना लौटी तो उसके सोच ने एकदम विपरीत दिशा पकड़ ली... मैं कितना अधम निकला कि राजा ने दया दिखाई तो मैंने उसे ही दीनहीन बना डालने का निश्चय कर लिया... मेरी नीचता ने तो किसी सीमा तक का ख्याल नहीं किया। मुझे कुछ भी नहीं मांगना है बल्कि अपने दुष्ट विचारों का प्रायश्चित्त करना होगा-जो मेरी दीनता मिटाने लगा उसे ही अपने जैसा दीन बनाने का कुविचार आखिर मेरे मन में उपजा ही क्यों? बार-बार कपिल स्वयं को धिक्कारने लगा।

भावमयता जब जन्म लेती है और वह उत्कृष्टतर श्रेणियों में उन्नत बनती जाती है तब अल्पतम

समय में ही वह उत्कृष्टता के अंतिम बिन्दु तक भी पहुंच जाती है। भावमयता की यही विशेषता ह कि वह चरित्र विकास को कुछ ही क्षणों में परिपूर्ण बना देती है। भाव ही नींव और भाव ही शिखर बन जाता है, उस अनुपम चरित्र विकास का। यही उत्कृष्टता कपिल ब्राह्मण को भी प्राप्त हो गई। उसका चरित्र विकास परिपूर्ण बन गया और उसे सर्वोच्च ज्ञान केवल्य ज्ञान की उपलब्धि हो गई। कपिल केवली वहीं ध्यानस्थ हो गये।

धर्म, संस्कार, वातावरण से उपजी भावमयता नींव की पहली ईंट :

बुद्धि और भाव में भेद करना होगा। बुद्धि तो मानव मात्र में होती है, परन्तु भाव की सृष्टि धर्म की उत्कृष्टता, पूर्व संस्कारों की श्रेष्ठता तथा शुभतामय वातावरण पर निर्भर करती है। धर्म, संस्कार तथा वातावरण के प्रभाव से बुद्धि अन्त:करण से जुड़ती है तब बुद्धि में विवेक पैदा होता है जो आन्तरिक जागृति का लक्षण बनता है। विवेकहीन बुद्धि विकल्पात्मक रहती है-एक निर्णय पर पहुंच नहीं पाती, किन्तु विवेकयुक्त बुद्धि निर्णयात्मक हो जाती है। निर्णय ले सकने की शक्ति के साथ ही उसके दो सुपरिणाम सामने आते हैं। एक तो यह कि प्रगति की दिशा स्पष्ट हो जाती है और ध्येय की स्पष्टता के कारण सच्चा पुरुषार्थ नियोजित करने की क्षमता सभद्र हो जाती है। दूसरे, सत्या सत्य के निर्णय से हार्दिक विकास गति पकड़ता है और भावमयता की अनुभूति को यदि चरित्र विकास की नींव की पहली ईंट कहें तो समीचीन होगा। भावानुभूति ही भाव प्रवणता एवं भाव उत्कृष्टता का विकास करती है। इस विकास को ही सच्चा चारित्रिक विकास कहना होगा जो उत्कृष्टतर की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ उत्कृष्टतम के अपने अंतिम ध्येय को प्राप्त करता है। यह सही है कि अन्त:करण की जागृति में ज्ञान की पूर्व भूमिका नि:सन्देह अनिवार्य है, किन्तु चरित्र का विकास तो स्वयं साधक की योग्यता एवं क्षमता पर ही निर्भर करता है कि वह उस ज्ञान को आचरणगम्य कितनी उत्कृष्टता से बना पाता है। इसी प्रकार भावमयता की अवस्था के लिए धर्म, संस्कार तथा वातावरण की पूर्व भूमिका आवश्यक है, किन्तु अन्त:करण की जागृति के स्तरानुसार ही चरित्र का विकास संभव बनता है।

अन्त:करण की जागृति ही भावमयता को जन्म देती है और विवेक बुद्धि उसे दुलारती है। भावमयता ज्यों-ज्यों अधिकाधिक शुभ, शुद्ध और गहरी होती जाती है, त्यों-त्यों आचरण सुदृढ़ बनता जाता है तथा चरित्र विकास की गति तीव्रता पकड़ती जाती है। कभी-कभी तो यह विकास इतना तीव्रमय हो जाता है कि कपिल केवली के समान कुछ ही क्षणों में अपने चरम बिन्दु तक पहुंच जाता है। यह भावमयता की अतिविशिष्टता की अवस्था होती है, किन्तु सामान्यतया यदि संकल्पबद्धता बनी रहे तो भावमयता के विकास में निरन्तर सक्रियता जारी रहती है। भाव के पतन में जैसे बन्धनों की जकड़ बढ़ती है, वैसे ही भावों के उत्थान में मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। मन और इन्द्रियाँ तब भी अपनी ग्रहणशीलता को नहीं बदलती, किन्तु भावमयता के कारण आत्मा की संलग्नता वहां नहीं रहती। वास्तव में बंधन न तो शरीर और न ही मन व इन्द्रियाँ बांधती है, बल्कि भावमयता के अभाव में आत्मा ही बंधन बांधती है और उसके सद्भाव में वही बंधनों को तोड़ भी देती है। आंख जब है तो वे रूप को ग्रहण करेगी-अच्छा या बुरा दृश्य उनके सामने आएगा किन्तु आत्मा जब भावमय

होती है तो आंखें दृश्य भले देखें-भावों में न राग आएगा और न द्वेष तथा इस प्रकार वह दृश्य आत्म-शक्ति को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर पाएगा। मन में यदि किसी प्रकार का दुर्विकल्प न उठे तो आंखे कुछ भी देखें, कोई हानि नहीं होगी। ऐसा ही अन्य इन्द्रियों, शरीर या मन के साथ भी समझिए। मुख्य बात यही है कि भावों में राग द्वेष की गहनता पैदा न हो। यह नहीं है तो बाहर में भी पदार्थों के लिए तृष्णा, लोभ या संग्रह का विचार नहीं रहेगा। यही कारण है कि जैन दर्शन ने सोना, चांदी आदि के स्थूल परिग्रह से पहले भाव परिग्रह मूर्छा, आसक्ति आदि को त्याज्य कहा है।

भावमयता की एक-एक ईंट नींव को अहिंसा पर आधारित बना देगी :

भाव का 'भाव' न सिर्फ चारित्रिक जीवन में ऊंचा होता है, बल्कि आज के लौकिक व्यवहार और कानून के क्षेत्र तक में भी ऊंचा होता है। लोकाचार में अगर आन्तरिकता नहीं होती तो उसे कोई नहीं चाहेगा। कानून की तकनीक में भी नीयत (इंटेन्शन) का बड़ा फर्क पड़ता है। वास्तविकता यही है कि कोई भी क्रिया-चाहे वह धार्मिक ही क्यों न हो, यदि भावों पर आधारित नहीं है तो वह मृत शरीर के समान हेय ही कहलाएगी। भाव ही वह प्राण है जो किसी भी क्रिया को जीवन्त, प्रभावोत्पादक तथा प्रेरणास्पद बनाता है।

चरित्र विकास की नींव में भावमयता की पहली ईंट के बाद भावमय गुणों की जो एक-एक ईंट विवेक एवं कर्त्तव्य बुद्धि के साथ रखी जाएगी तो निश्चित मानिए कि पूरी नींव अहिंसा पर आधारित बन जाएगी। अहिंसा का आधार ही चरित्रशीलता की उत्कृष्ट कोटि की रचना करेगा, पूरी जीवनशैली को अहिंसामय बनाएगा और धर्म को सद्धर्म का स्वरूप प्रदान करेगा। नींव की ये एक-एक ईंट क्या हो सकती है-इस पर विचार करें।

1. आदर्शोन्मुखता : चरित्र विकास की क्रियाशीलता में आदर्श सदा सामने रहे ताकि कभी भी मार्ग का भ्रम पैदा न हो और उन्हीं साधनों का चयन हो सके, जो साध्य तक ले जाते हों।

2. न्यायप्रियता : जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, न्याय पर सदा नजर रहनी चाहिए। किसी के भी साथ किसी भी कारण से किसी भी प्रकार का अन्याय कदापि नहीं होना चाहिए तथा अपनी किसी स्वार्थ पूर्ति के लिए तो कतई नहीं। इतना ही नहीं, सर्वत्र न्याय रक्षा का प्रयास होना चाहिए, अपितु न्याय रक्षा के लिए सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने की तत्परता रहनी चाहिए।

3. स्वावलम्बन : व्यक्ति के जीवन निर्वाह का प्रश्न हो अथवा परिवार, गांव आदि के संचालन का प्रश्न-स्वावलम्बन-अपना ही आश्रय सर्वोपरि माना और अमल में लाया जाना चाहिए। अपने छोटे-छोटे काम भी नौकरों या आत्मीयों से करवा कर आश्रित नहीं होना चाहिए बल्कि सर्वत्र यह आदत और प्रथा ढालनी चाहिए कि अपना काम सब खुद करें। परिवार भी स्वाश्रित होना चाहिए तो ग्राम की अर्थनीति भी स्वावलम्बी बननी चाहिए।

4. श्रम निष्ठा : कोई भी काम छोटा नहीं होता और किसी भी काम को खुद करने में शर्म महसूस नहीं होनी चाहिए। शर्म तो झूठी रईसी पर आनी चाहिए। पूर्ण श्रमिक का कार्य न हो तब भी श्रम के प्रति निष्ठा जरूरी है और प्रतिदिन कुछ न कुछ श्रम करने की आदत डालनी चाहिए।

5. व्यवसाय शुद्धि : जीवन निर्वाह के लिए सबको कुछ न कुछ व्यवसाय-अध्यवसाय करना होता है किन्तु वह शुद्ध हो अर्थात् किसी का भी हितघातक न हो-यह ध्यान रहे। हिंसा के आरम्भ-समारम्भ की दृष्टि में भी बड़ा भ्रम है। खानों, जंगलों, रसायनों आदि का धंधा कर लेंगे, लेकिन खेती को महारंभी कहेंगे। इसमें सिर्फ सामन्ती ख्याल है, हिंसा का नहीं। पन्द्रह कर्मादान त्याज्य हैं परन्तु खेती कई व्यवसायों से अधिक शुद्ध व्यवसाय है-यह धर्मनायकों ने सिद्ध किया है।

6. शिष्टाचार-सहयोग : भावमयता की यह लाक्षणिकता है कि सबके साथ अति शिष्ट व्यवहार होगा ही। यह शिष्टता कोरी दिखाऊ नहीं होगी बल्कि हार्दिकता से भरी हुई होगी जिसके फलस्वरूप सम्पर्क में आने वाले सज्जन के सुख-दु:ख को भी वह समझेगी और आवश्यक सहयोग के लिए तत्काल तैयार हो जाएगी।

7. सत्संगति की चाह : जैसा भाव होगा, वैसा ही व्यवहार बनेगा तथा उसके अनुसार भावमय चरित्र साधक गुणी पुरुषों की संगति में रहने, उनके गुणों को अपने जीवन में स्थान देने तथा गुण सम्पन्नता को आदर्श बनाने की हमेशा चाह रखेगा, क्योंकि सत्संगति अर्थात् गुणी पुरुषों की संगति का सम्बल उसके लिए बड़ा सहायक रहता है।

8. बुराई का विरोध सदिच्छा से : कहीं भी कोई बुराई हो, अन्याय हो, दमन या उत्पीड़न हो, चरित्र विकास की प्रक्रिया में वह असह्य माना जाना चाहिए। उसका पूरा विरोध होना चाहिए, लेकिन इस सदिच्छा के साथ कि बुराई करने वाले का दिल बदलेगा और बुराई हमेशा के लिए मिट जाएगी। इसमें सहिष्णुता और धीरज के गुणों का पूरा प्रयोग होना चाहिए।

9. मूर्छारहित परिग्रह सन्तुलन : गृहस्थ का काम धन के बिना नहीं चलता अत: अर्थोपार्जन करना होता है। इसके उपार्जन और व्यय में सन्तुलन रहना चाहिए तथा संचय की दुष्प्रवृत्ति कभी भी नहीं पनपनी चाहिए। यह तभी संभव है जब परिग्रह के प्रति मूर्छा और आसक्ति का विचार न हो। परिग्रह का संतुलन परिवार तथा समाज के क्षेत्र में भी आवश्यक है।

10. विचार समन्वय : विचारों के विवाद को त्याग कर समन्वय के मार्ग पर जाने का यही उपाय है कि आप सब विचारों का सम्मान करें, सबको सुनें, समझें और सब में रहे हुए सत्यांशों को ग्रहण करें। इससे विभिन्न विचारकों में मेल होगा तो सबमें से छन कर सत्य का स्वरूप प्रकाशित होगा।

11. निर्धारित दिनचर्या और स्वाध्याय : यह आवश्यक है कि दिनचर्या पूर्व निर्धारित हो ताकि जरूरी काम छूटे नहीं और समय की बर्बादी न हो। इस दिनचर्या में स्वाध्याय का नियम अनिवार्य रूप से हो। स्वाध्याय पहले भले ग्रन्थों का अध्ययन हो किन्तु अन्तत: वह 'स्व' के अध्याय में बदलना चाहिए। सदा समय के मूल्य को पहिचानें और समयबद्धता का पालन करें।

12. गुण सम्पन्नता का लक्ष्य : चरित्र विकास में सहायक गुणों का ज्ञान हो, उनके स्वरूप को पहिचान कर, क्रियान्वयन किया जाए तथा गुण सम्पन्नता को लक्ष्य बनाया जाए। इन आठ गुणों को जीवन में विशेष स्थान दिया जाए-सेवा-सुश्रुषा, प्रवचन श्रवण, भावग्रहण, कर्त्तव्य धारण, चर्चा-

विचारणा, सही विश्लेषण, अर्थ विज्ञान तथा तत्त्व ज्ञान निश्चय।

13. सदाचारमय जीवन : आचार शुद्धि चरित्र विकास का मूल लक्षण है। यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक व्यवहार तथा मन, वचन, कर्म के प्रत्येक व्यापार में नैतिकता को प्रधानता दी गई है। गुण सम्पन्न जीवन सदाचार के मार्ग पर चलते रहने को प्रतिबद्ध हो जाता है।

ऐसी ही अनेक ईंटों से जब चरित्र विकास की नींव भरी जाती है तब सुनिश्चित हो जाता है कि वह नींव पूरी तरह मजबूत हो गई है क्योंकि उसका सारा आधार अहिंसा का आधार होता है। उस अहिंसा के आधार पर निर्मित होने वाला चरित्र विकास का भवन निस्सन्देह गगनचुम्बी बन सकेगा।

भाव-स्वभाव और चरित्र विकास का प्रगति चक्र :

भावों में तारतम्य आता रहता है, कभी वे ऊंचे चढ़ते हैं तो कभी नीचे भी उतरते हैं। किन्तु जब चरित्र विकास की नींव गुणों की ईंटों से भरी जाकर अहिंसाधारित बन जाती है, तब सिर्फ अपवाद को छोड़ कर भाव उत्थानगामी ही रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि भाव विभाव दशा को प्राप्त नहीं होते और स्वभाव के स्वरूप को निखारते रहते हैं। तब स्वभाव का स्वरूप कितना उज्ज्वल और विशाल हो सकता है-उसकी कोई सीमा नहीं। इसका मूल सूत्र बन जाता है जगत् के समस्त प्राणियों के साथ मैत्री तथा सबके प्रति आत्मवत् संवेदना-**"मित्ती मे सव्वभूएसु"** एवं **"आत्मवत् सर्वजगत्।"** यह स्वरूप साम्यवाद का सच्चा स्वरूप होगा तथा इस भावमयता पर चरित्र विकास का प्रगति चक्र घूमता रहेगा।

साम्यवाद, समभाव, समता, समत्व-ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु साम्यवाद की व्यापकता के लिए तीन करणीय या साधनीय तत्त्व है-अहिंसा, संयम और तप। अहिंसाधारित नींव के बाद ऊपर का निर्माण संयम के योग से चलता है। संयम के बिना जगत् मैत्री तो क्या सधे, एक व्यक्ति के साथ भी मैत्री को निभा पाना मुश्किल हो जाता है। संयम अर्थात् आत्म-नियंत्रण। आत्म-नियंत्रण से मैत्री का मार्ग निर्बाध हो जाता है। मित्र भाव आया तो समझिये कि समभाव अवश्य आ जायेगा। इसका कारण यह है कि संयम के आगमन के साथ ईर्ष्या, द्वेष, मोह, जड़ता, स्वार्थान्धता, क्रूरता आदि दोष स्वयमेव ही नष्ट हो जाते हैं। संयम का अर्थ होता है परिग्रह की मर्यादा और उसके प्रति बने मूर्छाभाव का त्याग। आदर्श निष्परिग्रही का संयम आग में तपे सोने की तरह निर्मल बन जाता है। संयम भाव के साथ जो भी क्रिया की जाएगी, वह अहिंसावृत्ति को पुष्ट बनाती जाएगी। चरित्र विकास के इस मोड़ पर हृदय, दया और करुणा से ओतप्रोत हो जाता है और अहिंसा का विधायी रूप पल्लवित और पुष्पित बनता है।

समभाव की पूर्ण सफलता तब होती है जब आत्मस्वभाव पूर्णतः प्रकाशित हो उठता है। आत्म-स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति ही आनंद के साक्षात्कार का प्रवेश द्वार है। अतः समभाव-चरित्र विकास का शिखर है और धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इस समभाव को धर्म की उदार व्याख्या माने अथवा आर्य संस्कृति का मूल कहें-एक ही बात है। समभाव तीन स्तम्भों पर स्थिर रहता है-

1. **निःस्वार्थता**-सर्व सद्गुणों का प्रधान शत्रु है स्वार्थ, क्योंकि स्वार्थ का विचार व्यक्ति को

संकुचितता के दायरे में कैद कर देता है। समभाव के लिए तो स्वार्थ बाधक ही नहीं, घातक भी होता है, अतः निःस्वार्थ वृत्ति से समभाव की सुरक्षा होती है।

2. समर्पण-बिना दिये लेना क्रूर स्वार्थ है, लेन-देन करना सौदेबाजी है, किन्तु समभाव के क्षेत्र में केवल देने का ही विचार मुख्य होना चाहिए और इस देने की भी कोई सीमा नहीं, सब कुछ अर्पित कर देने की तत्परता होनी चाहिए। समर्पण समभाव का संवाहक होता है। समर्पण को त्याग का उच्चस्थ बिन्दु कह सकते हैं।

3. प्रेम-सबके प्रति प्रेम और अनुराग समभाव की सरसता का प्रतीक होता है। प्रेम पूरित हृदय में विषमता का अंश तक प्रवेश नहीं कर सकता है। समभाव को शिरोमणि बनाता है प्रेम। सच तो यह माना जाना चाहिए कि इन निःस्वार्थता, समर्पण तथा प्रेम के भावों के साथ जिस उत्कृष्टता से जो भी क्रियाएं की जाए, उन्हें धर्म के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान मिले। समभाव अर्थात् चरित्र का यह विकास ही विश्व बन्धुत्व की मंजिल तक पहुंचा जा सकता है।

चरित्र विकास से जीवनशैली का उन्नयन एवं समत्व योग :

चरित्र विकास का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के जीवन पर परिलक्षित होना चाहिए और यही प्रभाव सघन बन कर समाज के नव स्वरूप को प्रतिबिम्बित करें। व्यक्ति एवं समाज पर पड़ा प्रभाव तब अवश्य ही एक नई जीवनशैली का विकास करेगा। कोई भी सद्गुण अपनाया जाता है उसका सीधा सादा अर्थ यह है कि जीवन के व्यवहार में उस सद्गुण की छाप देखी जा सके। सद्गुणी जीवन जब व्यावहारिक बनता है तो उससे नई समतामय जीवनशैली का उन्नयन ही समभावी समाज अथवा समत्व योग की रचना करता है।

ऐसी नई जीवनशैली को अहिंसक, जीवनशैली का नाम दिया जा सकता है क्योंकि अहिंसा वह नींव है जिस पर कोई भी निर्माण स्थायी, स्थिर और सुन्दर होगा। इसीलिए तो अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। जीवन के प्रति अहिंसा की मौलिक दृष्टि होती है। पहले अहिंसा के लिए विवेक उत्पन्न होता है और बाद में प्रारम्भ होता है उसका आचरण। अहिंसा ऐसा व्रत है जिसमें सभी व्रतों का समावेश हो जाता है। इसीलिए इसका स्वरूप सर्वतोमुखी और सर्वव्यापी होता है। यह भी सत्य है कि हमारी सम्पूर्ण संस्कृति ही अहिंसा से जुड़ी हुई है-यह जुड़ाव कभी हल्का तो कभी गहरा होता रहता है, किन्तु जुड़ाव कभी समाप्त नहीं हुआ है और न होगा। नई अहिंसक जीवनशैली के निर्माण की जब हम बात करते हैं तो उसके लिए वर्तमान परिस्थितियों की हमें समीक्षा करनी होगी तथा तदनुसार उसके विकास के प्रयास करने होंगे। विचारणीय कुछ पहलू इस प्रकार है :-

1. राजनीति को अहिंसक स्वरूप देना होगा। इसके लिए पहला प्रयास यह हो कि सरकारों का प्रशासनिक दायरा कम से कम किया जाए। आज यह सिद्धान्त माना जाने लगा है कि जिसका शासन कम से कम हो, वही अच्छी सरकार (दी गर्वनमेन्ट इज बेस्ट, विच गवर्न दी लीस्ट)। राज्यों में आज हिंसा के तीन प्रतीक है-सेना, पुलिस और जेल। महात्मा गांधी के अनुसार अहिंसक राजनीति का स्वरूप वह होगा जिसमें सेना का कम से कम प्रयोग हो और पुलिस

व्यवस्था शान्ति स्थापना के कार्यों में नियोजित की जाए। पुलिस जनता की मित्र बने और उसके सहयोग से कार्य करे। इसी प्रकार जेल व्यवस्था बंधन का काम छोड़ कर सुधार केन्द्रों का रूप धारण करे। अपराधी का उपचार किया जाए और उसे विवेकवान नागरिक बनाया जाए ताकि आगे से अपराध की जड़े कटती रहे। इस पृष्ठभूमि में लोकतंत्र को अहिंसक रूप दिया जाना चाहिए। लोकतंत्र में मुख्य होती है चुनाव पद्धति। इसमें हिंसा तभी घुसती है जब राजनीति निहित स्वार्थियों के घेरे में कैद हो जाती है अत: राजनीति के शुद्धिकरण के साथ चुनाव पद्धति को स्वस्थ बनाना होगा। प्रत्येक नागरिक को भी अपना दायित्व समझना होगा तथा चुनाव के सम्बन्ध में नैतिक आचरण अपनाना होगा। समूचे वातावरण में अहिंसा घुलेगी तो उसका प्रभाव भी निरन्तर अभिवृद्ध होता जाएगा।

2. अर्थनीति को भी अहिंसक स्वरूप देना होगा। इस हेतु आज की अर्थव्यवस्था में कई परिवर्तन करने होंगे। अब तक सारी अर्थ व्यवस्थाएं (पूंजीवादी अथवा अन्य) शोषण पर आधारित रही है, अत: अब ऐसी अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना होगा जो श्रम पर आधारित हो तथा शोषण से मुक्त हो। ऐसी व्यवस्था ग्राम स्वावलम्बन की नीति से संभव हो सकती है जो विकेन्द्रीकृत हो। अर्थ व्यवस्था में महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है। अपरिग्रहात्मक अर्थात् अपरिग्रह को मर्यादित बनाने तथा उपभोक्तावाद को समाप्त करने के प्रयत्न होने चाहिए। पूंजी का व्यक्तिगत स्वामित्व कम से कम हो और प्रत्येक उपभोग-परिभोग वस्तु का प्रत्येक नागरिक के लिए परिमाण पूर्व निश्चित हो। इससे आर्थिक विषमता समाप्त होगी और आर्थिक साम्यता फैलेगी जिससे अनेक व्यक्तिगत व सामाजिक अपराध व दोष अपने आप ही समाप्त होने लगेंगे। अर्थव्यवस्था का पूर्ण रूप से स्वदेशीकरण कर दिया जाना चाहिए। स्वदेशी का अर्थ है स्वावलम्बन को अपनाना और अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता का विकास करना।

3. शिक्षा व्यवस्था को भी अहिंसा के आधारों पर खड़ी करनी होगी। शिक्षा का अभिप्राय सम्पूर्ण जीवन विकास है अत: शिक्षा व्यवस्था मूल्यपरक होनी चाहिए, आज की तरह केवल वस्तु परक नहीं। आज की शिक्षा व्यवस्था केवल भोगवाद को बढ़ावा दे रही है और यही कारण है कि यह शिक्षा अनैतिकता, भ्रष्टाचार, बेईमानी, हिंसा आदि के फैलाव का परिणाम बन रही है। मूल्य परक लक्ष्य के अनुसार मूल्यों पर आधारित जीवन विज्ञान की शिक्षा पर बल देना होगा। विद्यालय से लेकर विश्व विद्यालय तक की शिक्षा पद्धति में एकरूपता एवं लक्ष्य समानता का विकास करना होगा। गांधी जी कहते थे कि जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखा जाता है, वैसे ही अहिंसा की तालीम में मरना सीखना जरूरी है। मरना वही सीख सकता है जो आत्मबल का धनी बनता है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह, असहयोग आदि के आन्दोलनात्मक उपाय मरना सिखाते थे और अहिंसक शक्ति को मजबूत बनाते हैं। इन उपायों का प्रयोग सदैव प्रासंगिक रहेगा।

4. हृदय परिवर्तन का उपकरण भी अहिंसा को बनाना होगा। गांधीजी का हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त अहिंसा पर ही आधारित था। वैसे सभी भारतीय दर्शन इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि-"घृणा

पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश'' यानी प्रेम के द्वारा शत्रु में परिवर्तन लाया जाए। वैसे वैज्ञानिक क्षेत्र में आजकल 'जीन' पर काफी खोजबीन चल रही है और यह साबित किया जा रहा है कि आनुवांशिकता की दृष्टि से हिंसा का कारण उस व्यक्ति के 'जीन' में उपलब्ध होता है तथा रसायनों में समाया रहता है। 'जीन' में आवश्यक 'हारमोन्स' के निरूपण से इन कारणों को बदला जा सकता है। मनोविज्ञान में भी हिंसा का मूल कारण अनैतिकवृत्ति को बताया गया है जो चरित्र निर्माण तथा विकास के प्रयोग से परिवर्तित की जा सकती है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से भी कर्म में हिंसा तथा अहिंसा दोनों के बीज हमारे भीतर हैं। अहिंसा के बीज को विकसित करने के लिए उसके अनुकूल प्रयोग, परिणाम, परिवेश एवं प्रबंध का प्रायोजन जरूरी है। यह हृदय परिवर्तन एकदेशीय नहीं, बल्कि सर्वदेशीय हो कि जीवन के सभी क्षेत्रों में अहिंसा को आधार बना कर शुभता का फैलाव किया जाए और चरित्र विकास को प्रखर बनाया जाए।

5. मनुष्यों की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में अहिंसा का प्रवेश हो, जो निरन्तर मनुष्य के समस्त कार्यों का संचालन करती है। हिंसा का प्रबल अहिंसक प्रतिकार तभी संभव हो सकता है जब सभी नागरिक अहिंसा के प्रयोगों में अपनी पूरी शक्ति लगाने की मानसिकता बना लें। जब जाग जाय तो व्यक्ति की शक्ति अतुलनीय होती है। उसमें असाधारण साहस, सहिष्णुता, निर्भीकता, सन्तुलनात्मकता आदि गुण भरे हुए होते हैं जिन्हें जगाने भर की जरूरत होती है। ऐसा चरित्र विकास मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार तथा पूरी दिनचर्या को अहिंसक रूप दे सकता है।

6. सामाजिकता के क्षेत्र में अहिंसा पर अति विशेष बल देना होगा। धन कमाने की तृष्णा, विलासितापूर्ण रहन-सहन, प्रदर्शन के लोभ और आडम्बरों के फैलाव पर कड़ा अंकुश लगाना होगा। सम्प्रदायवाद, जातिवाद जैसे संकुचित विचारों से ऊपर उठना होगा और इन संकुचित गतिविधियों पर विराम लगाना होगा। सामाजिक कुरीतियों को त्याग कर अहिंसक सुरीतियां प्रचलित करनी होगी, जिनसे सामाजिक समानता का विस्तार हो सके। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्व का काम होगा कन्या शिक्षा का इतना फैलाव कि सभी कन्याएं एवं महिलाएं साक्षर तो बने हीं, बल्कि कन्याओं को उच्च शिक्षा के लिए उचित प्रोत्साहन दिया जाए। भोजन, रहन-सहन आदि में भी अहिंसक प्रभाव फैलाना चाहिए।

यह एक रूपरेखा मात्र है। चरित्र-निर्माण अभियान के अन्तर्गत इसे एक व्यापक योजना का रूप दिया जा सकता है। चरित्र-निर्माण में वैसे भी अहिंसा का प्रशिक्षण अनिवार्य होगा, किन्तु चरित्र विकास की प्रक्रिया में इस प्रशिक्षण का प्रसार सर्वत्र हो जाना चाहिए। मूलतः कहा जा सकता है कि अहिंसक जीवनशैली निर्माण का अर्थ होगा-शोषणविहीन समाज की रचना, सह-अस्तित्व का विकास, रुढ़िवादी परम्पराओं से मुक्त, मानव मूल्यों का प्रसार तथा शिक्षित, संस्कारी एवं श्रमनिष्ठ पीढ़ी का निर्माण।

अहिंसा की नींव पर बने चरित्र विकास का धरातल इतना समतल और सुदृढ़ हो जाता है कि उस पर समत्व योग का प्रसाद निर्मित किया जा सकता है। चरित्र विकास के प्रभाव से जिस क्षमता एवं संयमितता का फैलाव होगा, उससे वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों पर पूरा आत्म नियंत्रण कायम हो जाएगा

तथा उनमें रहे हुए विकार और विषमताएं गल जाएगी। यही समत्व योग का प्रवेश द्वार होगा। विषमता जितने अंशों में मिटती जाएगी, तदनुरूप समत्व योग की अवाप्ति होती जाएगी। योग शुद्धि एवं कषाय मुक्ति इसके साधन होंगे और अशुभता से दूर शुभता का घनत्व इसकी कसौटी। साम्य योग की अवाप्ति ही विश्व बन्धुत्व की राह बनेगी।

चरित्र विकास का शिखर है सत्य और सत्य के आग्रह का रूप :

चरित्र विकास की भावमयता की नींव है अहिंसा तो उसका शिखर है सत्य-भावमयता की साधना का सुफल। सत्य अनन्त है, सत्य ही भगवान् है। सत्य का साक्षात्कार एक पूर्णावस्था है। किन्तु जीवन में जब तक अपूर्णता रहती है सत्य का आग्रह रखना चाहिए, क्योंकि आग्रह अपूर्ण में ही होता, पूर्णता में तो आग्रह का क्या अवकाश? व्यक्ति अपूर्ण है अत: उसके भीतर सत्य के रूप में जो भी प्रतिभाषित होता है, वह भी अपूर्ण ही होगा। किन्तु अपूर्ण कहकर प्रतिभाषित सत्य को छोड़ा नहीं जा सकता है, बल्कि विचारों में समन्वय लाने वाली अनेकान्तवादी पद्धति का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाए कि सत्यांश प्राप्त किये जा सकें तथा सत्यांशों का संचय हो सके ताकि एक दिन पूर्ण सत्य का साक्षात्कार हो। लेकिन तब तक साधक को प्रतिभाषित सत्य के साथ ही जीना-मरना होता है तथा सत्य की साधना को अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। व्यक्तिगत धर्म इस कारण सत्य के उपलब्ध रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है। संक्षेप में अपूर्णता तक सत्य का आग्रह रखना होता है जो पूर्णता प्राप्ति के पश्चात् स्वत: समाप्त हो जाता है।

सत्य के प्रति आग्रह के संबंध में यह ज्ञातव्य है कि जिस पर आग्रह है, सत्य का स्वरूप या उसकी सीमा उतनी ही है। अनन्त सत्य का आग्रह ही सीमित होता है। फिर भी सत्य का आग्रह साधक को भद्र और विनीत बनाए रखता है। चरित्र का विकास भी इस आग्रह के साथ उच्चता की ओर गति करता है। जीवन स्वीकार और इन्कार-इन दोनों तटों को रख कर ही चल सकता है, जहां कुछ स्वीकार यानी लेना और इन्कारना यानी छोड़ना पड़ता है। विश्वास के बाद प्रश्वास आता ही है। इसका अर्थ है कि निषेध की शक्ति जीवन सामर्थ्य में गर्भित रहती है।

अहिंसा की भूमिका पर ही सत्य का सूत्रपात संभव होता है। अहिंसा में स्वीकार है क्योंकि जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह से ही प्राप्त होती है। सत्य के आग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय हो जाएगी, क्योंकि सत्य का आग्रह ही कर्म को जन्म देता है-गति और वेग सब वहां से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है वह यह है कि कर्म से बंधन पैदा नहीं होता और उस गति से स्थिति में भंग नहीं आता। लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा वेग को खा जाती है, जीवन की क्षमता के लिये सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। अहिंसा मानो उसकी पीठ है कि जिस सत्य को सदा समक्ष रहना चाहिए। सत्य मानों वह शिक्षा है जिसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है।

एक बात और कि सत्य आग्रह की समाप्ति पर मिलेगा, लेकिन बुद्धि द्वारा कभी प्राप्त नहीं होगा। बुद्धि शब्द से चलती और मत तक पहुंचती है, किन्तु सत्य उसके पार रहता है। इस कारण बुद्धि में

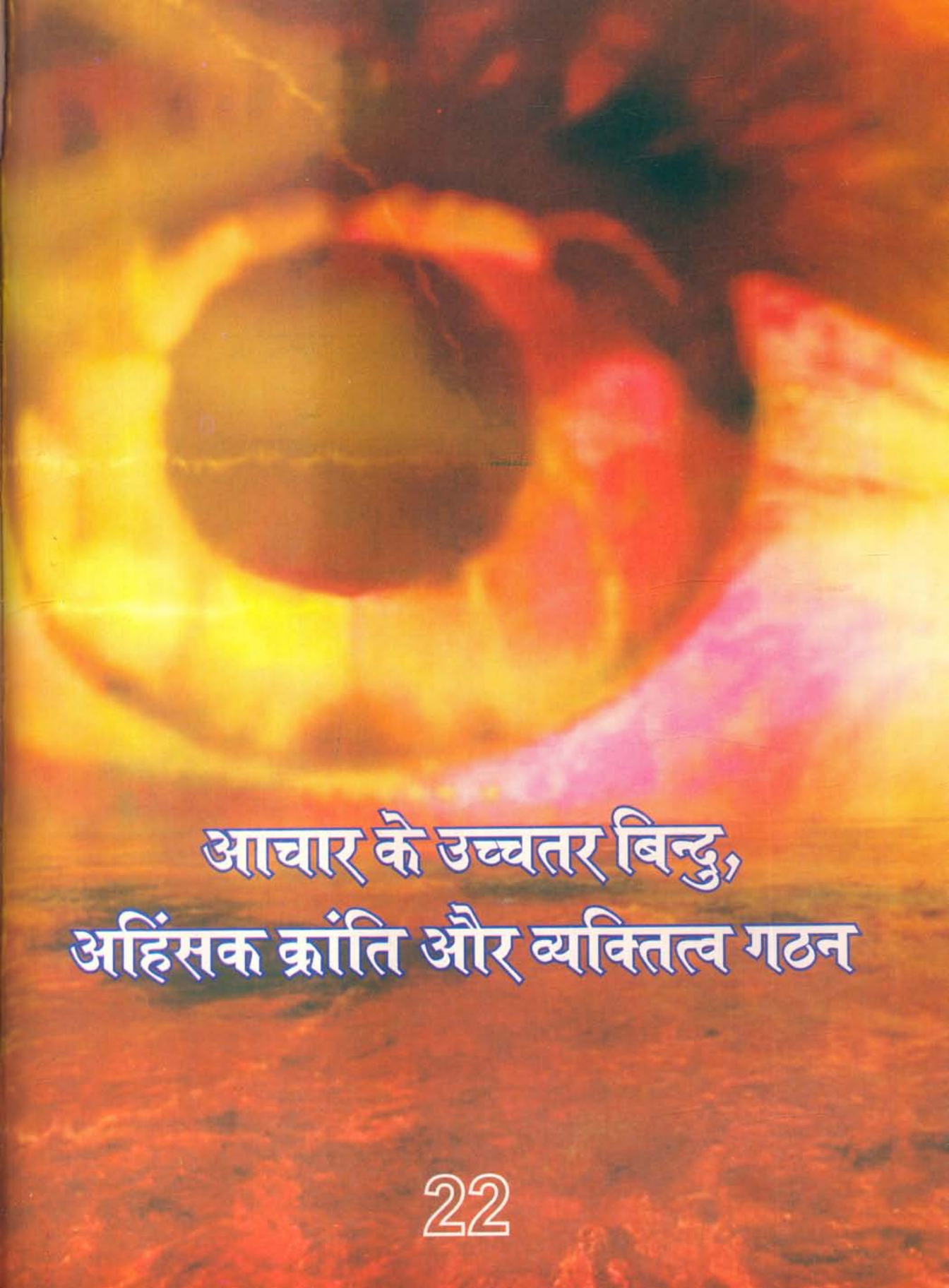
से कभी सत्य के आग्रह का निर्णय नहीं निकलता। बुद्धि उन्हीं संबंधों के नियमन के काम में आती है जो मूर्त होते हैं और चूंकि सत्य मूर्त नहीं होता, जिससे बुद्धि नहीं, बल्कि श्रद्धा में से सत्य के आग्रह की उद्‌भावना होती है। बुद्धि जब तक है, उपाय होता रहता है। उपाय जब हार जाते हैं अथवा बुद्धि जब हार जाती है तब सत्य की शरण सुलभ होती है। सत्य की शरण में जाने पर कर्त्ता भाव भी समाप्त हो जाता है, वह जैसे सत्य में विलीन हो जाता है।

यों सम्पूर्ण चरित्र विकास होता है भावमय-उच्चतर से उच्चतम तक :

यों चरित्र विकास कहिए, आचरण बुद्धि कहिए अथवा समत्व योग की साधना-सब भावमयता के रूप हैं। यह भावमयता ही अहिंसा में ढलती है, संयम में रमण करती है तथा सत्य के साक्षात्कार के लिये आगे बढ़ती है। उसी में भावमयता के लिये आगे बढ़ती है। इसी में भावमयता की चरण गति तीव्र से तीव्रतर, उच्च से उच्चतर होती रहती है। भावमयता एक प्रकार से आनन्द का प्रवाह होता है।

चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में इसी भावमयता को जगाने का कार्य किया जाना चाहिए ताकि आत्मस्थ होकर चिन्तन करें और समस्याओं के समाधान खोजें। चरित्र के निर्माण के साथ-साथ ही उसके विकास का दौर भी शुरु हो जाता है जो तीन चरणों में सत्य के समीप पहुंच सकता है।

◆◆◆



आचार के उच्चतर बिन्दु, अहिंसक क्रांति और व्यक्तित्व गठन

22



आचार के उच्चतर बिन्दु, अहिंसक क्रांति और व्यक्तित्व गठन

बहुआयामी व्यक्तित्व का आधार हमारा चरित्र

आचार के प्रधान गुण दया-करुणा के प्रारंभिक चरण का सुखद परिचय दिया बड़े भाई ने तो छोटे भाई ने उसी दिन इसी प्रधान गुण के चरम चरण की साधना सम्पूर्ण की अपने सर्वस्व का बलिदान देकर। ये बड़े भाई थे श्री कृष्ण तथा छोटे भाई गजसुकुमार थे। उस दिन भगवान् श्री नेमिनाथ नगर से बाहर उद्यान में विराज रहे थे और उनकी प्रवचन धारा में अवगाहन हेतु दोनों भाई राजमहल में सदल-बल उद्यान की ओर जा रहे थे। श्री कृष्ण गजारूढ़ थे, अपने छोटे भाई के साथ और साथ में अन्य दर्शनार्थी, आरक्षी आदि थे। मार्ग में श्री कृष्ण की दृष्टि एक अतिशय वृद्ध पर पड़ी, जो हांफते-हांफते एक बड़े ढेर से एक-एक ईंट उठा कर उसे अपने घर के पास रख रहा था। श्री कृष्ण का हृदय दया से द्रवित हो उठा कि कितने कठोर और थकाने वाले परिश्रम के बाद यह वृद्ध अपना काम पूरा कर पाएगा? हाथी को ढेर के पास लिवा कर ढेर में से एक ईंट उन्होंने स्वयं उठाई और उसे निश्चित स्थान पर रख दी। यह देख कर सब अचंभित रह गये, लेकिन एक पल को भी रूके नहीं-हाथोंहाथ ईंटें उठा कर स्थान पर रखने लगे। इतने हाथ एक साथ लग

गए, तब क्या काम अधूरा रहता? सारा काम पलों में पूरा हो गया। वृद्ध के पास श्री कृष्ण के प्रति अपना आभार प्रकट करने के लिये शब्द नहीं थे, वह सिर झुका हाथ जोड़ श्री कृष्ण के हाथी की बगल में खड़ा हो गया और तब तक खड़ा रहा जब तक वह हाथी उसकी आंखों से ओझल नहीं हो गया। दया का मधुर प्रसाद पाकर वह फूला नहीं समा रहा था।

छोटे भाई ने पूर्व दिन इसी प्रधान गुण के चरम चरण की साधना सम्पूर्ण की, अपने सर्वस्व का बलिदान देकर। ये बड़े भाई थे श्री कृष्ण तथा छोटे भाई गजसुकुमार थे। उस दिन भगवान् श्री नेमिनाथ नगर से बाहर उद्यान में विराज रहे थे और उनकी प्रवचन धारा में अवगाहन हेतु दोनों भाई राजमहल से सदलबल उद्यान की ओर जा रहे थे। श्री कृष्ण गजारूढ़ थे अपने छोटे भाई के साथ और साथ में अन्य दर्शनार्थी, आरक्षी आदि थे।

प्रवचन सुनने के बाद दोनों भाई पुनः राजमहल लौटे तो गजसुकुमार ने नेमिनाथ की सेवा में दीक्षित होने का निर्णय ले लिया। सब ने बहुत समझाया, बड़े भाई ने तो यहां तक कहा कि आज ही तो सोमिल ब्राह्मण की पुत्री के साथ उसका संबंध हुआ है, फिर उसके इस निर्णय से पिता-पुत्री के हृदय पर कितना क्रूर आघात लगेगा। लेकिन गजसुकुमार के अडिग वैराग्य के आगे किसी की समझाईश नही चली और न ही किसी अन्य बाधा पर उन्होंने विचार किया। तब दीक्षा समारोह आयोजित हुआ और राजकुमार गजसुकुमार मुनि गजसुकुमार बन गये।

दीक्षित होने के तुरन्त बाद मुनि गजसुकुमार भगवान् के समीप उपस्थित हुए। उन्होंने निवेदन किया-भगवान्! मुझे ऐसी कठोर साधना का मार्ग दिखाइए कि मेरी उत्कंठा सफल हो जाए। भगवान सब कुछ जानते थे और यह भी कि नवदीक्षित मुनि की साधना के सम्पूर्ण होने का उसी दिन का योग है। उन्होंने आज्ञा दे दी-'जाओ, आज रात तुम द्वारिका नगरी की श्मशान भूमि पर प्रतिमा धारण करके ध्यानस्थ हो जाओ-तुम्हें अपना परम और चरम प्राप्त हो जाएगा।' आज्ञा प्राप्त करके मुनि गजसुकुमार सोल्लास यथास्थान पहुंच गये।

अंधकार की हल्की-हल्की चादर में श्मशान का दृश्य भयावना होता जा रहा था। इधर-उधर अनेक चिताएं प्रज्वलित हो रही थी तो चारों ओर फैले हुए नरमुंड और अस्थि पंजर उस दृश्य को अतीव भयानक बना रहे थे। ऐसे ही वीभत्स एवं भयावह दृश्य के बीच मुनि गजसुकुमार ध्यानस्थ हो गये-सब कुछ विसार कर आत्मचिन्तन में निमग्न। उस समय पास की ही एक प्रज्वलित चिता की रोशनी सीधी मुनि के चेहरे पर पड़ रही थी और उसमें मुनि की वह आकृति अद्भुत तेजोमयता से प्रदीप्त दिखाई दे रही थी। योग ऐसा बना कि सोमिल ब्राह्मण श्मशान मार्ग से नगरी को लौट रहा था, तभी उसकी नजर मुनि पर पड़ी। देखते ही वह चौंका कि आज ही तो उसकी दीनता को विचार में न लाते हुए उसकी लाक्षणिक पुत्री को राजकुमार ने पसन्द की थी और श्री कृष्ण के हाथों वाग्दान हुआ था और अभी ही राजकुमार मुनिवेश में यहां ध्यानस्थ हैं-यह सब कैसे हो गया? वह पहले दुःखी हुआ कि अब उसकी पुत्री का क्या होगा, फिर धार-धार रोया और तब वह भीषण क्रोध से कांपने लगा। उस क्रोध ने उसे भान भूला दिया-वह बदला लेने पर उतर आया। उसकी पुत्री का जो होगा, हो जाएगा लेकिन वह विश्वासघाती अपने होने वाले दामाद को जीवित नहीं

छोड़ेगा। पास के नाले से वह गीली मिट्टी उठा लाया-मुनि के सिर पर उस मिट्टी से ऊंची पाल बनाई और बीच में, खड्डे में उसने चिता के धधकते अंगारे भर दिये। फिर पैर पटकता हुआ सोमिल ब्राह्मण वहां से चला गया।

मुनि के मस्तक पर वे धधकते अंगारे अपना खाद्य पाकर अधिक लपलपाने लगे। पूरी खोपड़ी सीझने-सी लगी-वह कल्पनातीत वेदना का समय था। किन्तु मुनि सब कुछ त्याग चुके थे-तब देह भी भला उनकी कहां रह गई थी? वे तो अपने आत्मीय भावों में लवलीन थे। अपार कष्ट का अनुभव था किन्तु उन्होंने उस अनुभव को स्वीकार ही नहीं किया। वह चरम परीक्षा की घड़ी थी। रंच मात्र भी उन्होंने अपने मस्तक को हिलने नहीं दिया। उन्हें विदित था कि कहीं खिसक कर एक भी अंगारा नीचे गिरा तो वह न जाने कितने छोटे बड़े जीवों की जान ले लेगा। वे तो संसार के समस्त प्राणियों को अभयदान देकर ही तो मुनि बने हैं, फिर क्या वे ही उस अभय को समाप्त कर दें? दयावान अन्त:करण ऐसा कदापि नहीं कर सकता है। मुनि परम स्थिर और शान्त भाव से उस भीषण पीड़ा को सहते रहे। उनका मन-मानस दयामय भावों से ओतप्रोत था-न सोमिल ब्राह्मण पर द्वेष का कोई अंश था और न ही अपने संबंधियों के प्रति कोई राग। वे तो रागद्वेष को पूर्णतया नष्ट करके वीतराग बन गये। दया गुण की उनकी चरम साधना सफल हुई, सम्पूर्ण और सम्पन्न हुई।

इसी प्रकार आचार के एक-एक गुण में आत्मोत्थान की अपार संभावनाएं भरी पड़ी हैं-सच्चा साधक उन संभावनाओं को साकार रूप देकर जगत् के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करता है।

आचार के उच्चतर बिन्दु तथा गुणशीलता की सम्पन्नता :

सोचें कि किसी को सांप काट जाए तो क्या करना होगा? उसकी सफल चिकित्सा के लिये सबसे पहले यह जानकारी जरूरी है कि उसकी सही औषधि क्या है? सिर्फ जानकारी मौके पर डगमगा सकती है-इस कारण इस औषधि पर पक्का भरोसा होना भी जरूरी। लेकिन इतने मात्र से चिकित्सा नहीं हो जाएगी। चिकित्सा की असल बात यह होती है कि उस औषधि का आत्मविश्वास के साथ प्रयोग किया जाए। कोरी औषधि ले लेने से भी काम पूरा नहीं होगा। उसके सारे पथ्यों का जी जान से पालन करना होगा, जैसे नींद नहीं आने देना आदि। यह सब एक समयावधि तक करने के बाद ही सर्पदंश का असर दूर हो सकता है। इस प्रक्रिया में सही जानकारी, सही विश्वास और सही आचरण तीनों का संयोग जरूरी है। सबसे ज्यादा जरूरी होती है सांप काटे की एकनिष्ठता एवं एकाग्रता।

ऐसी ही जीवन साधना की प्रक्रिया होती है-सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र। रत्नत्रय में सभी रत्नों का अपना-अपना महत्त्व है किन्तु अग्नि परीक्षा सम्यक् चारित्र अर्थात् आचार की साधना में ही होती है। कोई इस अग्नि को धीरे-धीरे झेलता हुआ आगे बढ़ता है तो कोई मुनि गजसुकुमार के समान इस अग्नि को एक ही बार में झेल कर अपनी गुणशीलता को आत्म-सम्पन्नता में रूपान्तरित कर देता है। यह कठिन अध्यवसाय एवं श्रेष्ठ साधना के उतार चढ़ाव की बात है।

सामान्य रूप से आचार की चरणवार साधना की जाती है। पहले ज्ञेय, हेय एवं उपादेय तत्त्वों का

ज्ञान करके सम्यक्त्व का शुभारंभ किया जाता है। जब तक मिथ्या का उन्मूलन न हो, सम्यक् स्थितियां जमती नहीं है और रत्नत्रय का मूल सम्यक्त्व है। इस दृष्टि से आचार का प्रथम बिन्दु सम्यक्त्व से प्रारंभ होता है और उच्चतर बिन्दुओं की ओर बढ़ता है। तब व्रतों के धारण एवं पालन का क्रम चलता है। जो सच्चाई देखने की क्षमता जगाएगा, वही स्वयं को और अपने परिवार आदि घटकों को आचरण की सुघड़ता प्रदान कर सकेगा। व्यक्ति जैसे समाज का सबसे छोटा घटक होता है तो सामाजिकता का छोटा घटक होता है परिवार। इस कारण व्यक्ति के चरित्र निर्माण का पहला कर्मस्थल होता है उसका परिवार, अत: आचरण की दृष्टि से व्यक्ति को एक सद्गृहस्थ बनना चाहिए--ऐसा सद्गृहस्थ अपने व्रतों (श्रावक धर्म) की अग्नि परीक्षा देता हुआ समाज के छोटे घटक को सबसे बड़े घटक विश्व का हित साधने में सक्षम बनावें। इस दिशा में गृहस्थ धर्म का विशेष महत्त्व सब जानते हैं। श्रीमद् जवाहराचार्य ने इस विषय पर बड़े ही क्रान्तिकारी प्रवचन दिये हैं, जिन का संकलन किरणावली भाग 31 से 33 में हुआ है। उनके अनुसार-"त्याग भावना को आचरण में लाने के लिये शास्त्रकारों ने दो मार्गों का विधान किया है पहला मार्ग है सांसारिक पदार्थों अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने के बाधक कारणों का सर्वथा त्याग। दूसरा मार्ग है आंशिक अथवा देश से त्याग।" कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्होंने जिनको हेय मान लिया हैं उन कार्यों या पदार्थों को अविलम्ब पूरी तरह त्याग देते हैं। इस तरह का त्याग करने वाले महाव्रती कहे जाते हैं।... किन्तु जो लोग इस सीमा तक नहीं पहुंचे हैं अथवा सांसारिक कार्य व्यवहार एवं विषय भोग के साधनों से जिनका ममत्व पूरी तरह नहीं हटा है अथवा जो इन सब को सर्वथा त्यागने में असमर्थ हैं, फिर भी जो इनके त्याग का मार्ग अपना कर उस पर आगे बढ़ना चाहते हैं, वे इन सबको आंशिक अथवा देश से त्यागते हैं। ऐसे लोगों के लिये शास्त्रकारों ने पांच अणुव्रतों का विधान किया है। यद्यपि ऐसे देश-त्यागियों का भी ध्येय तो वही रहता है, जो पूर्ण त्यागियों का होता है, परन्तु आंशिक या देश से त्याग करने वाले उस ध्येय की ओर धीरे-धीरे बढ़ना चाहते हैं। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये पांच अणुव्रतों का पालन गृहस्थावस्था में किया जा सकता है और इन व्रतों को पालने वाले व्रतधारी श्रावक कहे जाते हैं।...यद्यपि महाव्रती न होने वालों के लिय शास्त्र में पांच अणुव्रतों को स्वीकार भी करते हैं, परन्तु गृहस्थावस्था में ऐसी अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं अथवा ऐसे आकर्षक कारण हैं कि जिनसे स्वीकृत अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयां जान पड़ने लगती हैं। अत: ऐसे अणुव्रतधारियों को उन कठिनाइयों से बचाने के लिये शास्त्रकारों ने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बताए। तीन गुणव्रत पांच अणुव्रतों में शक्ति संचार करते हैं, विशेषता उत्पन्न करते हैं, उनके पालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं और मूल अणुव्रतों को निर्मल रखते हैं।...अणुव्रतों की सहायता के लिये बताये गये तीन गुणव्रतों में वृत्ति संकोच को विशेषता दी गई है। जब तक गमनागमन कम नहीं किया जावे, उपभोग-परिभोग की मर्यादा नहीं की जावे, आजीविका के लिये की जाने वाली प्रवृत्ति के विषय में अनौचित्य का विवेक करके अनुचित प्रवृत्ति न त्याग दी जावे, तब तक धारण किये हुए अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयों का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है।...इसी तरह गुणव्रतों की रक्षा के लिये चार शिक्षाव्रतों का जो विधान किया गया है, उन शिक्षाव्रतों को स्वीकार करना भी आवश्यक है, क्योंकि गुणव्रतों में स्वीकृत वृत्ति संकोच को सुदृढ़ बनाने वाले शिक्षाव्रत ही है। गुणव्रत

एवं शिक्षाव्रत मूल अणुव्रतों के प्राण स्वरूप है। जिस तरह शरीर तभी तक उपयोगी एवं कार्य साधक है, जब तक कि उसमें प्राण है, उसी तरह गुणव्रत व शिक्षाव्रत के होने पर ही मूल अणुव्रत भी उपयोगी एवं कार्य साधक हो सकते हैं। इस बात को दृष्टि में रख कर शास्त्रकारों ने श्रावक के बारह व्रतों को मूलव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इन तीन भागों में विभक्त किया है। श्रावक के मूल पांच व्रत - स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण है। इन पांच मूलव्रतों के पश्चात दिक् परिमाण, उपभोग-परिभोग परिमाण और अनर्थ दंड़ विरमण-ये तीन गुणव्रत हैं तथा सामायिक, देशावगासिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। व्रतों को धारण एवं पालन करने में सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिये (जवाहर किरणावली, 33वीं किरण, गृहस्थ धर्म, तृतीय भाग, विषय प्रवेश पृष्ठ 4-7)।

गृहस्थ की चारित्रिक विशेषताएं अपने उच्चतर स्तर पर साधु धर्म या महाव्रतों में प्रतिफलित हो सकती है। तदनन्तर भावनापरक आचार गत स्तरों में उच्चतरता उच्चतमता तक पहुंच सकती है- विकार मुक्ति, वीतरागता एवं साधना की सम्पूर्णता। आचार के प्रत्येक बिन्दु के साथ गुणशीलता यानी कि चरित्र का विकास होता रहता है जो सम्पन्नता के चरम तक पहुंचता है, आचार के चरम के साथ। आचार का उच्चतम बिन्दु ही चरित्र विकास का शिखर होता है।

विकासशील गुणों के चौदह स्थान उनका संक्षिप्त विवरण व विश्लेषण :

दो प्रकार की संस्कृतियां होती हैं-एक गुणमूलक संस्कृति जो सदा सत्य सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखती है और दूसरी संस्कृति व्यक्ति पूजा को विशेष महत्त्व देती है। व्यक्ति पूजा न किसी सामान्य जन को और न किसी साधक को तटस्थ अपना पक्षहीन रहने देती है। वह उसे एक तरफ झुकाती है तो निश्चित है कि दूसरी तरफ से उपेक्षित बनाती है। इस कारण वह भेद, हठ और पक्ष के भंवर में गिर जाता है और अपनी आस्था को आहत बना लेता है। इस भंवर से राग और द्वेष की ज्वालाएं उठती हैं, जो सामान्य जन के विवेक को तो जला ही देती है, पर साधक को भी साबूत कहां छोड़ती है? वह पथ भ्रष्ट हो जाता है। ऐसी व्यक्ति पूजा की संस्कृति मानव के लिये हितावह नहीं हो सकती है। विश्व और मानव का कल्याण गुणमूलक संस्कृति के माध्यम से ही किया जा सकता है, जहां व्यक्ति का नहीं, उसके गुणों को महत्त्व मिलता है। इस कारण गुणों की अवाप्ति के लिये ही विवेक काम करता है, साधना समर्पित होती है। आत्मीय गुणों का विकास अर्थात् चरित्र का विकास व्यक्ति के लिये तथा उस विकास से सामाजिक चरित्र का निर्माण ही सकल जीवन विकास का मूल सूत्र है।

सिद्धान्त सनातन होता है, क्योंकि वह गुणमूलक होता है। वह गुणी को उस गुण में ढालता है और किसी के साथ कोई भेद नहीं करता। सिद्धान्तों पर आधारित सभ्यता या संस्कृति ही दीर्घजीवी होती है। इसे ही मूल्यों की संस्कृति कहते हैं। ऐसे गुणमूलक सिद्धान्तों पर यदि सम्यक् रूप से आचरण किया जाए तो वे मानव को मानवतामय ही नहीं, मानव को देवत्व में ढाल देने की भी क्षमता रखते हैं। इस आचरण की विकासशील विभिन्न अवस्थाओं को भली-भांति समझ लेना चाहिए। आत्मा के गुण विकास के चौदह स्थानों का उल्लेख है कि किस प्रकार के आचरण या चरित्र के बल पर एक सोपान से दूसरे सोपान पर चढ़ा जा सकता है और एक से ऊपर के दूसरे सोपान तक अपनी प्रगति की

निरन्तरता कैसे बनाई रखी जा सकती है। इस चढ़ाई में विवेक दृष्टि और गुण साधना सदैव जागरूक रहे कि कहीं पांव फिसल न जाय और उपलब्ध प्रगति समाप्त न हो जाए, क्योंकि कुछ स्तरों तक ऐसी आशंका रहती है। आचरण के साथ भावमयता भी उतनी ही आवश्यक होती है ताकि काषायिक विचार उस साधना पथ में बाधाएं न खड़ी करते रहें। गुणों के चौदह स्थानों का संक्षिप्त विवरण एवं विश्लेषण इस प्रकार है-

(1) मिथ्या दृष्टि वाला निम्नतम वह स्थान है जहां सही ज्ञान आदि के कोई लक्षण नही होते। वहां सब कुछ मिथ्या होता है, मिथ्या दिखाई देता और मिथ्या ही किया जाता है। आस्था भी मिथ्या यानी विपरीत होती है। किन्तु सम्यक्त्व की ओर चढ़ाई का क्रम यहीं से शुरू होता है।

(2) सम्यक् दृष्टि को उतार के समय यहां मिथ्या से द्वन्द करना होता है। द्वन्द में हार-जीत चलती रहती है। मिथ्या से सम्यक् दृष्टि और सम्यक् से मिथ्या दृष्टि की ओर डांवाडोल गति बनी रहती है। किन्तु इस सोपान पर आत्मा को गुणों का आस्वादन हो जाता है और गुणों की ओर उसकी रुचि बढ़ जाती है।

(3) मिश्र अवस्था इस अगले सोपान पर भी बनी रहती है, किन्तु आस्था का चक्र तेजी से सम्यक् दृष्टि की ओर मुड़ता रहता है। यह अवस्था अधिक नहीं ठहरती और गति की निश्चितता स्थिर होने लगती है-या तो ऊपर या फिर नीचे डोलायमान अवस्था बनी रहती है। सम्यक् दृष्टि की स्थिरता अगले सोपान की ओर गतिशील बनाती है।

(4) सम्यक् दृष्टि स्थिर होने लगती है लेकिन यहां तक वह व्रत धारण करने की स्थिति में नहीं आती है-अविरति रहती है। विरति का अर्थ होता है कि हिंसक एवं पापजनक प्रवृत्तियों से अलग हो जाना। वह सामर्थ्य यहां तक नहीं उपजता है। इस सामर्थ्य के कई स्तर होते हैं और उनके प्रकट होते लक्षण ऊपर की ओर बढ़ने का संकेत करते हैं। यहां तक कषायों का गहरा असर बना रहता है जिससे व्रतों को लेना और पालना मुमकिन नहीं बनता है।

(5) व्रतों को ग्रहण करने की वृत्ति इस सोपान पर बनती है-वह भले देश रूप ही हो। यह देश विरत दशा का उदय होता है। पापजनक कार्यों से यहां सर्वथा नहीं, बल्कि आंशिक निवृत्ति ही संभव होती है। यह अणुव्रतों का सोपान होता है जहां चाहे एक ही श्रावक व्रत अंगीकार करे अथवा एक से अधिक बार ही व्रतों को ग्रहण करके पाला जाए। यहां व्रत धारण दो करण तीन योग से होता है, अनुमोदन का त्याग नहीं होता।

(6) मुनि धर्म के व्रतों का इस सोपान पर ग्रहण भी होता है और पालन भी, किन्तु संयत होने पर भी उस पर प्रमाद की छाया घिरी रहती है। यह संयत पूर्ण शुद्ध नहीं, प्रमत्त होता है। प्रमाद आवश्यक गुण विकास को बाधित करता रहता है।

(7) इस सोपान पर प्रमाद समाप्त होकर संयतता के साथ अप्रमत्तता आ जाती है और साधक अप्रमत्त संयत बन जाता है। प्रमाद के सारे दोष-निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि यहां समाप्त हो जाते हैं। आचरण की अशुद्धि का कारण प्रमाद छूट जाता है। यहां से आत्म-विशुद्धि एवं

चरित्र-विकास उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्धि की ओर बढ़ने लगता है। यहां सच्चा मुनिपना आ जाता है-सतत जागरूकता आ जाती है।

(8) काषायिक वृत्तियों से निवृत्ति 'बादर निवृत्ति' कहलाती है। यह सोपान ऐसा है कि यदि निवृत्ति टूटे तो ठेठ नीचे तक पतन हो जाए और निवृत्ति की स्थिरता के साथ ऊपर के सोपान पर चढ़ गए तो फिर पतन का खतरा खत्म-फिर ऊपर से ऊपर चढ़ते रहने का क्रम ही रहेगा। इस सोपान पर परीक्षा होती है कि काषायिक वृत्तियां सिर्फ दबी हैं-उपशमित ही हुई हैं अथवा नष्ट यानी क्षय हो गई हैं। दबी हुई वृत्तियां फिर से उभर आती है तो पतन निश्चित हो जाता है, लेकिन क्षयीभूत वृत्तियों के फिर से उभर आने का कोई सवाल ही नहीं। एक बात और उपशमित वृत्तियां ग्यारहवें स्थान तक ऊपर ले जा सकती है, पर उसके बाद पतन होता ही है। किन्तु क्षयीभूत वृत्तियां सीधी दसवें से बारहवें स्थान में पहुंच कर पतन के खतरे को खत्म कर देती है। वास्तव में स्थूल निवृत्ति गुण विकास को परिपक्व नहीं होने देती है।

(9) अनिवृत्ति बादर सम्पराय वाले इस सोपान का अर्थ यह है कि अब सामान्य-सी काषायिक वृत्तियां बची हैं और साधक की अवस्था विशेष उत्पन्न हो गई है। इसमें कषाय संक्लेश की कमी के साथ परिणामों की शुद्धि बढ़ती जाती है। इस शुद्धि का स्तर इतना बढ़ जाता है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नता पिछले स्थान की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं। उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार की वृत्तियां इस स्थान तक पहुंचती हैं। इस स्थान के समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति नहीं होती।

(10) इस स्थान में सूक्ष्म सम्पराय यानी लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का ही उदय रह जाता है। शेष सभी कषाय या तो उपशमित रहती है अथवा क्षय हो जाती है। उपशम और क्षय-दोनों स्थितियां इस स्थान तक भी बनी रहती है। इसमें शेष बचे लोभ कषाय से निवृत्ति के प्रयास होते हैं।

(11) इस स्थान तक पहुंची आत्मा का गुण विकास उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाता है अर्थात् जिनकी कषाय उपशान्त हो गई हैं, जिनको राग यानी माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिनको छाया (आवरणभूत घाती कर्म) लगे हुए हैं। इस स्थान पर पहुंचने वाला गुण विकास अगले स्थान पर तभी पहुंच सकता है जो उपशम श्रेणी का न होकर क्षपक श्रेणी का होता है। उपशम श्रेणी का गुण विकास इस स्थान से पतित हो जाता है और वह नीचे चौथे स्थान तक गिर जाता है। यहां से आत्मा का पतन आरोह क्रम से भी होता है। इस क्रम में ग्यारहवें से चौथे स्थान के बीच में भी कहीं ठहराव हो सकता है। पतन का असर जोरदार हो तो वह पहले स्थान तक भी हो सकता है। उपशमक एवं क्षपक श्रेणियों के उतार चढ़ाव का क्रम एवं स्थानों की अवाप्ति भिन्न-भिन्न होती है। दबी हुई आग कभी-भी कहीं भी फिर से प्रज्वलित हो सकती है किन्तु नष्ट की हुई आग के फिर से भड़कने का प्रश्न ही नहीं रहता।

(12) यह स्थान उपशान्त से क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ का हो जाता है, जहां के गुण विकास में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, फिर भी शेष तीनों घाती कर्म शेष रह जाते हैं। क्षीण

कषाय इसीलिये इस स्थान का नाम है। इस स्थान के प्रवेश केवल क्षपक श्रेणी के गुण विकास से ही हो सकता है, अत: यहां से पतन का खतरा खत्म हो जाता है।

(13) गुण विकास का यह वह अद्‌भुत स्थान है जहां सर्वोच्च ज्ञान कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। चारों घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं और योग व्यापार शेष रहता है जो सयोगी केवल कहलाता है। सयोगी केवल अवस्था की कालावधि एक अंतर्मुहूर्त्त से लेकर कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक की हो सकती है? योग का अर्थ है मन, वचन, काया की प्रवृत्ति जो प्रश्नों के उत्तर देने, उपदेश देने में प्रयुक्त होती है। हलन चलन आदि क्रियाओं में काया योग का उपयोग होता है। यहां रागद्वेष का समूल विनाश हो जाता है। यहां समुद्‌घात की क्रिया होती है जिससे चारों अघाती कर्मों की स्थिति समान बना दी जाती है। आवश्यकता नहीं होने पर यह क्रिया नहीं की जाती है।

(14) इस स्थान पर योग व्यापार भी समाप्त हो जाता है-केवली सयोगी से अयोगी हो जाते हैं। तीनों प्रकार के योगों का निरोध हो जाता है। इस स्थान की स्थिति पांच लघु अक्षर (अ. इ. उ. ऋ. ऋ.) के उच्चारण जितनी होती है। तीनों योगों के निरोध का क्रम स्थूल से चलकर सूक्ष्म तक पहुंचता है। तब सम्पूर्ण अनिवृत्ति की अवस्था हो जाती है। तब शैलेशीकरण से संसार में बांधकर रखने वाले समस्त कर्मों का अन्त हो जाता है। वह सर्वोच्च गुण विकास सिद्धावस्था का वाहक बन जाता है।

नींव हिली तो इमारत ढही और छत डली तो काम सही :

महावीर ने अपनी प्रथम धर्म देशना में प्रबोध दिया कि जो ममत्व बुद्धि का परित्याग कर देता है, वही वस्तुत: परिग्रह का त्याग कर सकता है (**जे ममाइयमई जहाइ, से जहाइ ममाइयं**-आचारांग, 1-2-6)। इस प्रबोध का दूसरा पक्ष यह होगा कि जो ममत्व बुद्धि का त्याग नहीं करता, वह ममत्व से ग्रहण किये जाने वाले परिग्रह का भी त्याग नहीं कर सकता है। यह सत्य है कि जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं होता, व्यक्ति की पदार्थों के प्रति आसक्ति बनी रहती है। आसक्ति के समाप्त हुए बिना साधना, गुण विकास एवं चरित्र निर्माण की स्वस्थ अनुरक्ति पैदा नहीं होती है। यह अनुरक्ति नहीं तो सच्चे सुख की अनुभूति नहीं। आसक्ति ही समस्त दु:खों एवं अविकास की जड़ है। इसके रहते रागद्वेष का उन्मूलन नहीं होता और वीतरागता का गुण विकास नहीं हो सकता है। जब ममत्व बुद्धि घटेगी और मिटेगी तभी समत्व गुण की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि हो सकेगी। एक को त्याग अनेक ग्रहण करने की कल्पनाएं एवं चिन्ताएं जब तक चलती रहेगी, मानव अपने गुण या चरित्र विकास के लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ नहीं हो सकेगा।

इस संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि सही अर्थों में त्यागी कौन हो सकता है? त्यागी की परिभाषा है कि जो इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, मनोनुकूल विषय सामग्री को प्राप्त करके भी उससे विमुख हो जाता है अर्थात् स्वेच्छा से उसका त्याग कर देता है वही सच्चा त्यागी है (**जेय कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वई, साहीणे चयइ भोए से हु चाई त्ति वुच्चइ**-दशवैकालिक सूत्र)। जो स्वेच्छा से

ममत्व बुद्धि का त्याग नहीं करता-चाहे उस सामग्री का उपभोग भी न करता हो, फिर भी उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता है। इससे गुणवत्ता की स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि त्याग मन की सहर्ष स्वीकृति के साथ ही होना चाहिए। जो स्वेच्छा से त्याग करता है, वही त्यागी कहलाता है। मुख्य बात है ममत्व बुद्धि का त्याग, जिसके बिना गुण विकास की पूर्णता की दिशा में गति नहीं होती और जो यह त्याग हो जाए तो सकल गुण विकास का क्रम सहज बन जाता है। अगर नींव पुख्ता बनी है तो इमारत भी पुख्ता ही होगी। लेकिन कच्ची नींव पर जो इमारत बना भी दी गई तब जब भी किसी कारण से नींव हिली तो समझिए कि इमारत ढही। समत्व बुद्धि मौलिक जीवन की नींव होती है और चारित्रिक गुण होते हैं नींव की ईंटें। किन्तु ममत्व बुद्धि वह गारा मिट्टी है जिस पर यदि नींव डाली गई तो वह इमारत को पक्की नहीं बनने देगी।

यह विचारणीय तथ्य है कि व्यक्ति के भीतर ममत्व बुद्धि का एक जाल-सा बुना हुआ रहता है। उसके रेशमी धागे इतने जटिल और उलझे हुए होते हैं कि उनको खोल पाना आसान नहीं होता। बाहर की रस्सी में पड़ी गांठें भी जब बड़ी मुश्किल से खुल पाती हैं तो ममत्व बुद्धि की ग्रंथियों को खोलना सरल कैसे हो सकता है? लेकिन उसका भी आशास्पद मार्ग है और वह है कि मानव अन्तर्मुखी बने-स्वयं का स्वयं दृष्टा हो। अन्तर्मुखी बनने की चाह जग जाए तो राह कठिन नहीं है। चाह नहीं तो कोई राह नहीं और चाह जगे तो राह कठिन नहीं-इसका अनुभव सब को अपनी सामान्य जीवन चर्या में भी होता रहता है। काम पड़ने पर की तो कहावत बनी है कि गधे को भी बाप बनाना पड़ता है। जब अपना मतलब पूरा करने की राह खोज ली जाती है तो अन्तर्मुखी बनने की चाह क्यों नहीं जगाई जा सकती है? एक चाह जगनी चाहिए, संकल्प बनना चाहिये, फिर कुछ भी असंभव नहीं रहता है।

आज जिधर देखें, वहां बहिर्मुखता ही नजर आ रही है। जितना आकर्षण आज बाहर की दुनिया को देखने का, उसको सुनने का, समझने का है उतना, उतना नहीं, उसके आधे प्रतिशत जितना भी आकर्षण अन्तर्मुखिता के प्रति जग जाए तो रास्ता सुगम हो सकता है क्योंकि उससे उत्पन्न होने वाला गुणों का विकास आगे से आगे मार्ग को प्रशस्त बनाता रहेगा। बहिर्मुखी वृत्ति ममत्व बुद्धि का विस्तार है, इसलिये गुणवत्ता का बिखराव है। ऐसे में दिग्विमूढ़-सी दशा हो जाती है। जबकि अन्तर्मुखी व्यक्ति का व्यक्तित्व एक अलग किस्म का होता है। वह अपनी शक्तियों का सदुपयोग करता है और गुण विकास को पूर्णता प्रदान करके अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। जीवन का सार उसे प्राप्त हो जाता है और वह गुण विकास का सफल प्रेरक बन जाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति अद्‌भुत जीवनशैली वाला होता है-जब तक उसके स्वार्थों की पूर्ति होती रहती है तब तक वह उन्हें अपने सपनों का राजा मानता है और स्वार्थ पूर्ति का अभाव बन जाता है तब स्नेही से स्नेही जन भी अपरिचित हो जाता है। परन्तु अन्तर्मुखी अपना और सबका समान रूप से मित्र, हितैषी एवं सहायक बना रहता है।

अन्तर्मुखिता के गुण को गहराई से समझिए। आत्मा का जो अपना स्वभाव है, जीवन की जो मौलिकता है वह है अन्तर्मुखिता, क्योंकि यह गुण चरित्र विकास की नींव की, मानों कि पहली ईंट है। फिर गुण विकास का क्रम इतना स्वस्थ, इतना शीघ्रगामी और इतना सटीक होता है कि नींव की

सारी ईंटें मजबूती से आपस में इस तरह जुड़ जाती है कि सारी नींव ही एकरूप हो जाती है, फिर उस पर चरित्र विकास की जो इमारत बनती है, उसके ढहने का कभी कोई खतरा पैदा ही नहीं होता। आत्मा जब स्व में स्थित होकर अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में निरत रहती है तब उसकी गति मौलिक एवं स्वाभाविक होती है। किन्तु जब वे ही वृत्तियां एवं प्रवृत्तियां बहिर्मुखिता में भटक जाती हैं-उलझ जाती हैं तब वह गति वैभाविक कहलाती है। स्वभाव से विपरीत भाव यानी विभाव। विभाव मानवीय गुणों का ह्रास करता है और स्वभाव उनका विकास। यह अनुभव में आता रहता है कि जब जब मानव अपने भीतर की आवाज को ठुकराता है-अपने स्वभाव से मुंह मोड़ता है तब तब वह भान भले ही भूलता रहे, पर इतना ध्यान तो उसे रहता है कि जो कुछ वह कर रहा है-जैसे बलात् कर रहा है और वह अच्छा नहीं है। किन्तु बहिर्मुखता का आकर्षण उसे अपने स्वभाव के उलट काम करते रहने को विवश कर देता है।

इस मन:स्थिति से आज उबरने की ज्वलंत समस्या है। जीवन में गुलामी रहे तो गुण कहां से विकसेंगे-गुलाम का तो जमीर ही जिन्दा नहीं रहता। स्वतंत्रता के सुख का स्वाद जो एक बार चख लेता है, अन्तर्मुखी बनने की चाह जगा लेता है, उसके चारित्रिक गुणों का विकास सुगम बन जाता है। विकासशील गुणों के चौदह स्थानों के विवरण में बताया गया है कि बुराइयों को, अशुभता को, पापकर्मों को केवल दबा देने का ही काम किया तो वह अधूरा रहेगा, बल्कि दबी हुई अशुभ मनोवृत्ति जब फिर से भड़केगी तो वह कई गुना विस्फोट बन कर प्राप्त गुण विकास को मटियामेट कर देगी। अत: अशुभता को नष्ट करते चलिए ताकि प्राप्त शुभता स्थिर और सुगम बन सके तथा गुण विकास को अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचा सके। **'नींव हिली तो इमारत ढही'** की कहावत को आगे इस तरह बढ़ावें कि **'और छत डली तो काम सही'** अर्थात् गुण विकास के बारहवें स्थान को इमारत की छत समझ लें।

अहिंसक क्रान्ति का आगाज, विश्वव्यापी मंथन एवं फलश्रुति :

जो दूसरे विश्व युद्ध (1944-45) के बाद के इतिहास पर नजर रखे हुए हैं, राष्ट्रों के बीच उठने वाले विवादों तथा उनके निवारण के उपायों की समीक्षा करते रहते हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से राष्ट्रों के दृष्टिकोणों को परखते रहते हैं, वे विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि तब से सभी विश्व शक्तियों का झुकाव हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की ओर बढ़ा है। लाख उत्तेजनात्मक वक्तव्यों, घोषणाओं आदि के उपरान्त भी एक मेज पर बैठ कर चर्चाएं करने, आपसी समझौतों पर बल देने तथा शान्ति बनाये रखने की मनोवृत्ति का राष्ट्रों के बीच विकास हुआ है। भारत ने जिस अहिंसात्मक रीति-नीति से अपनी स्वतंत्रता का संघर्ष चलाया और बाद में भी विश्व मैत्री की जो अपनी विदेश नीति जारी रखी उसका परोक्ष प्रभाव सारी दुनिया पर पड़ता रहा है। अणु अस्त्रों और संहारक सामग्री के अम्बार पर बैठ कर भी आज ये सब अपना महत्त्व या अपनी उपयोगिता खोते जा रहे हैं। पांचों अंगुलियां एक-सी नहीं होती और कई ताकतें आज भी हिंसा, आतंकवाद और साम्प्रदायिकता फैलाने में लगी हैं, फिर भी उनकी तुलना में शान्ति की शक्तियों का पलड़ा भारी हो गया है और उनके द्वारा हिंसा के कारणों को मिटाने की कोशिशें की जा रही हैं। अब इस स्तर पर कहा जा सकता

है कि विश्व की राजनीति में अहिंसक क्रान्ति का आगाज हो चुका है।

वर्तमान विश्व एवं समाज में राजनीति का काफी प्रभाव है-अन्य सामाजिक नीतियां उससे प्रभावित रहती है। सभी स्तरों पर इस कारण विवादों को मिल बैठ कर सुलझाने तथा उत्तेजक घटनाओं के बाद शान्ति स्थापना हेतु ठोस काम करने की आज बहुसंख्यकी मनोवृत्ति बन चुकी है। आपसी बातचीत से आपसी मेल मिलाप बढ़ता है और हिंसा का दरवाजा बन्द होता है। हिंसा नहीं तो वहां अहिंसा आएगी और अपने विधायी स्वरूप की क्रियान्विति देखेगी ही। आज पशुओं आदि के साथ क्रूरता के विरोध में, पर्यावरण रक्षा के पक्ष में तथा उत्पीड़ित मानव वर्गों के कष्टों को दूर करने में जितनी तत्परता से अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं आदि कार्यरत हैं उनमें अहिंसा की 'स्पिरिट' के ही दर्शन होते हैं और ये सब शुभ लक्षण हैं कि पूरे विश्व में मानव का नव-चरित्र गढ़ा जा रहा है जो एक के लिए सब और सबके लिए एक के सपने को साकार करने की आशा जगाता है। विश्वव्यापी घटनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि अहिंसा का बढ़ता प्रभाव एक ओर वर्तमान लोकतंत्रों के स्वरूप एवं कार्य को स्वस्थ बनाएगा तो दूसरी ओर सर्वत्र ऐसी जीवनशैली का विस्तार करेगा जो समता, सर्वहित, स्नेह, सहयोग एवं सह-अस्तित्व के आधार पर आगाज की फलश्रुति मान सकते हैं।

चरित्र विकास से हो नये मूल्यों एवं नये मानव-व्यक्तित्व का सृजन :

नया मानव-व्यक्तित्व सृजित होगा तभी तो सृजन हो सकेगा नये मानव मूल्यों का। इस कारण पहले समझें कि क्या होता है मानव-व्यक्तित्व तथा किस प्रकार व्यक्तित्व की रूपरेखा बनाई जाती है, उसके आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति की जाती है और समग्र व्यक्तित्व का अंकन किया जाता है।

व्यक्तित्व के विषय में सामान्य धारणा यह रहती है कि व्यक्तित्व वह है जो कुछ ही महापुरुषों को प्राप्त होता है और जिसे पाने के लिये कई लोग संघर्ष करते रहते हैं। किन्तु मनोविज्ञान के अनुसार यह धारणा सही नहीं है। इसका मानना है कि व्यक्तित्व जैसी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को मिली हुई होती है। व्यक्तित्व का वैज्ञानिक तथ्य यह है कि व्यक्तित्व प्रत्येक व्यक्ति का पृथक्-पृथक् होता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि एक व्यक्ति की कार्य विधि का संगठित स्वरूप ही उसका व्यक्तित्व होता है। इसके पहलुओं को देखें-(1) प्रकृति (टेम्प्रामेंट)-इसमें व्यक्ति के भावनात्मक (इमोशनल) लक्षण सम्मिलित होते हैं, (2) चरित्र (केरेक्टर)-इसका संबंध नैतिक एवं चारित्रिक विशेषता से होता है कि एक व्यक्ति का सबके साथ व्यवहार कैसा है और उसका लोग क्या नैतिक आकलन करते हैं। इसमें गुण या अवगुण सामने आते हैं कि कौन कितनी सामाजिकता रखता है, कितना उदार और लचीला है यानी कि व्यवहार में कितना साहसहीन या कमजोर है। इन गुणावगुणों में कायरता, ईमानदारी, क्रूरता आदि सभी शामिल रहते हैं और इनकी समीक्षा तत्कालीन सामाजिक नैतिकता की संहिता के अनुसार होती है। ये जो चारित्रिक गुण हैं, वे ही व्यक्तित्व के गुण कहलाते हैं। इन्हीं गुणों से भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों की तदनुसार विभिन्नता दिखाई देती है। (3) रुचियां और रूख-ये व्यक्तित्व की ही अपनी-अपनी विशेषताएं होती हैं। मुख्यतः इन पहलुओं के आधार पर व्यक्तित्व की विशिष्टता का आकलन होता है, जो (अ) गुण-मापक (रेटिंग स्केल्स), (ब) परख

विधि (टेस्ट्स) और (स) प्रश्नावलियों (क्वश्चनैयर्स) द्वारा किया जा सकता है। व्यक्तित्वों के दो प्रमुख विभाग किए गए हैं-(1) अन्तर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट्स) और (2) बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट्स)। यह विभाजन मनोविज्ञान के आधार पर है। यह माना गया है कि सभी मानव व्यक्तित्वों का इन दो प्रकारों में समावेश हो जाता है। मनोविज्ञानवेत्ता जुंग के अनुसार अन्तर्मुखी व्यक्ति वे होते हैं जिनकी रुचियां आन्तरिकता की ओर मुड़ जाती हैं और विचारशैली भी आन्तरिक बन जाती है। जबकि बहिर्मुखी व्यक्ति वे होते हैं जिनकी रुचियां बाहरी वातावरण की ओर मुड़ जाती हैं। दोनों प्रकारों के बीच का एक ओर मिश्रित प्रकार है जो बहुमुखी (एम्बीवर्ट्स) कह जाते हैं। माना जाता है कि दुनिया के करीब आधे व्यक्ति इस प्रकार के होते हैं (जनरल साइकोलोजी (अंग्रेजी) द्वारा प्रो. जे. पी. गुइलफोर्ड, अध्याय 22 ह्यूमन पर्सनालिटी के आधार पर)।

उक्त ग्रंथ 'ह्यूमन साइकोलोजी' का यह विवरण भी दिलचस्प है। मनोविज्ञान के अनुसार अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी के लक्षण और उनका अन्तर इस प्रकार है-बहिर्मुखी-1. अपने वातावरण के प्रति सतर्क, 2. अच्छा मेल मिलापी, 3. स्वभाव में उतार चढ़ाव, 4. तत्काल प्रतिक्रिया का प्रकटीकरण, 5. कार्य में तत्परता, 6. सक्रियता में रुचि, 7. परिवर्तन पसन्द, 8. तत्काल ग्रहणशीलता आदि। अन्तर्मुखी-1. सुप्त मानस व दिवास्वप्नदर्शी, 2. सामाजिक सम्पर्क को टालने वाला, 3. प्रत्यक्षत: एक सा स्वभाव, 4. भावों को व्यक्त नहीं करता, 5. करने से पहले खूब सोचता है, 6. प्रतिच्छाया पसन्द, 7. परिवर्तन नापसन्द, 8. कठिनाई से ग्रहण करता है आदि।

यह तो है मनोविज्ञानवेत्ताओं का व्यक्तित्व गठन के संबंध में विश्लेषण। निस्संदेह अन्तर्मुखिता एवं बहिर्मुखिता व्यक्तित्व की आधारगत लाक्षणिकता होती है। अब इसके संबंध में एक मर्मज्ञ विचारक जैनेन्द्र कुमार जैन के निष्कर्ष को जानिए। वे बताते हैं कि "प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में एकत्रितता और एकाग्रता लाना चाहता है। दृढ़ व्यक्तित्व हमें दिखाई देते हैं, वे वही हैं, जिन्होंने किसी न किसी प्रकार यह योग और ऐक्य अमुक मात्रा में साधा है। अमुक विचार, मत, आदर्श या आसक्ति के पीछे जिन्होंने अपने को होम दिया है, उसी लगन में बांध दिया है-ऐसे लोग बहुत कुछ कर जाते हैं। दृढ़ता व क्षमता अन्त:प्रवृत्तियों के इसी एकीकरण का नाम है।...दो शब्द चला करते हैं-अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। ये दोनों वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ अन्त में एकता साधने के लिये ही हैं। जो अन्दर एक बनता है, बाहर के साथ ही उसका सामंजस्य बढ़ता है या बाहर के प्रति अपना संबंध सही बनाता है, वह अपने अन्दर में शान्त और तृप्त बनता है। अर्थात् एकता किसी घिरे वृत्त में, बन्दपन में सिद्ध नहीं हो सकती है और न वह व्यवहार से निरपेक्ष है। व्यवहार परस्पर के संबंधों के आधार पर बनता है और व्यक्तित्व की आन्तरिक एकता इन संबंध सूत्रों के द्वारा बाहर प्रभाव और सद्भाव उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकती। व्यक्ति जो विराट बनता है, वह इसी प्रक्रिया से। कोई अपने से बड़ा हो, इसका अर्थ ही कुछ नहीं। ऐसा बड़प्पन एकता का नहीं, अहं का द्योतक है। अहं के रोग में गहरे फंसे हुए प्राणी ही विक्षिप्त माने जाते हैं। आप किसी पागल खाने में जाकर देखिए, सब अपने को परमात्मा मानते हैं, नहीं तो बादशाह, नवाब, रईस आदि। यह शक्ति-क्षय की सीमा है। इसके विरोध में एक वह नि:स्वभाव सिद्ध किया जा सकता है, जिसमें न स्व के भीतर काट हो, न स्व पर

में काट की अनुभूति हो। यह अवस्था शक्ति-सम्पन्नता की पराकाष्ठा होगी।...लेकिन मेरे मन में प्रश्न है कि परिपूर्ण संयुक्तता आदि हो तो व्यक्तित्व का क्या स्वरूप होगा? मुझे यह अनिवार्य जान पड़ता है कि तब हिंसा के भाव या कर्म के लिये वहां अवकाश नहीं रह जाएगा। दुश्मन के रहने की जब तक संभावना है, तब तक मुक्तता में कुछ त्रुटि ही माननी चाहिए। जो प्रेम में समा और रम गया है, उसमें वैरभाव या पर-भाव कहां रह जायेगा?...मुझे प्रतीत होता है कि हिंसक पराक्रम बुनियाद में अपने ही डर में से निकलता है। अपना डर मूल में संयुक्तता नहीं, विभक्तता का परिचायक है अर्थात् सम्पूर्ण संयुक्तता ईश्वरत्व और प्रेम से ही प्राप्त की जा सकती है। वह जो कभी टूटे नहीं, डिगे नहीं- ऐसी दृढ़ता हिंसक में नहीं हो सकती। हिंसक की दृढ़ता कट्टर होती है, लोच उसमें नहीं होता। इससे दृढ़ता भी वह सच्ची नहीं होती। ऐसा बल सदा अपने से अधिक बल से डरता है। इससे यह मान लिया जाए, मैं तो मानता ही हूँ कि मानव व्यक्तित्व की अखंड युक्तता कठोरता में नहीं, कोमलता में ही सम्पन्न हो सकती है। कठोरता में से जिन्होंने एकाग्रता को साधना चाहा, ऐसे उग्र तपस्वी और उद्‌भट पुरुष अन्त में टूटे ही हैं, क्योंकि गहरे में उनमें कहीं दरार और तरेड़ पड़ी हुई रहती है।...जिनको इतिहास ने और मानवता ने मुक्त माना है, जिन्हें अवतार तक कह कर भी मनुष्य की आतुर श्रद्धा तृप्ति नहीं पाती है, जिन पर कष्ट पर कष्ट आते गए हैं और जिनसे उत्तर में मिठास पर मिठास मिलती गई है, जिन्होंने बलिदान लिया नहीं है, तिलतिल अपना ही बलिदान दिया है, वे पुरुष ही उस सिद्धि के परम दृष्टान्त बने हैं, जिसे पूर्ण योग (कम्पलीट इन्टीग्रेशन ऑफ पर्सनलिटी) कहा जा सकता है (ग्रंथ 'समय और हम,' अध्याय-'वैज्ञानिक अध्यात्म' पृष्ठ 124-127)।"

अब मानव-मूल्यों की चर्चा करें। संयुक्त और एकाग्र व्यक्तियों के सृजित होने से मानवता के नये प्रगतिशील मूल्यों का सृजन एक सक्रिय प्रयास बन जाएगा। इस संबंध में समता दर्शन प्रणेता स्व. आचार्य श्री नानेश के विचार चिन्तन में लिए जाने चाहिए। उनकी मान्यता है-"सिद्धान्तपरक एवं गुणमूलक संस्कृति ही अपने यथार्थ अर्थ में मूल्यों की संस्कृति होती है।" वस्तुतः गुणों का नाम ही मूल्य हैं। गुण वे हैं जो गुणी को गुणवान् बनाते हैं या यों कहें कि एक मनुष्य को मनुष्यता के गुणों से विभूषित करते हैं। मनुष्य मात्र होना उतना सार्थक नहीं है, बल्कि यदि उसमें मनुष्यता के गुणों का सम्यक् विकास नहीं हुआ है तो वह निरर्थक भी कहला सकता है। मनुष्य होने के साथ मनुष्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा जल हो जिससे प्यास ही नहीं बुझती हो तो फिर उसे जल मानेगा ही कौन? जल का गुण है प्यास बुझाना और यदि गुणी में उसके गुण का ही अभाव है तो गुणी निर्गुणी कहलाएगा। इसी प्रकार मनुष्यता के अस्तित्व से ही मनुष्य का बोध होता है, अतः मनुष्यता उसका मूल गुण है। मनुष्य के लिये यही मूल्यात्मक जीवन है कि वह सर्वप्रथम मनुष्यता (मानवीय मूल्यों एवं गुणों) को धारण करे। यदि मनुष्य में मनुष्यता ही नहीं है तो वह गुणहीन होगा, मूल्यहीन कहलाएगा।...मनुष्यता होती है मानवोचित सिद्धान्तों तथा गुणों का पुंज। यही मनुष्य के मूल्यों का समूह भी होगा। मानवोचित विशेषण का क्या अर्थ लें? मानवोचित का अर्थ होता है जो मानव के लिये उचित हो। मनुष्य के लिये उचित क्या? इस विषय पर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण प्रकाश डाला है जिसे हम आत्मसात् करके अपने आपको भी मनुष्यता पहचानने की कसौटी बना सकते हैं। इस पहचान में मेरी मान्यता है कि मेरी आस्था भी उपयोगी होगी तो मेरा तर्क भी काम करेगा। व्यावहारिक

वातावरण के प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ हृदय को जोड़ने पर स्वाभाविक रूप से समझ में आ जाएगा कि मानवोचितता क्या होती है। उसे बताने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वयमेव व्यक्ति की वृत्तियों-प्रवृत्तियों में समाहित होती जाएगी और उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाएगा। एक हृदय से दूसरे, तीसरे और इस तरह कई हृदयों को स्पन्दित करती हुई मानवोचितता एक स्पष्ट मूल्य का रूप ले लेगी। अत: सिद्धान्त परक एवं गुणमूलक संस्कृति को ही मैं सभी प्राणियों के आत्म-गुण विकास के अबाध-मार्ग के रूप में देखता हूँ (आत्म समीक्षण, अध्याय 4, सूत्र 3 पृष्ठ 142)।"

स्पष्ट हो जाता है कि मानव व्यक्तित्व का गठन किस प्रकार की गुणशीलता के आधार पर किया जाना चाहिए और मानव मूल्यों का सृजन भी।

चरित्र विकास मानव-संबंधों में अहिंसा की प्रतिष्ठा का कारक बने :

पग-पग पर ध्यान रहे कि चरित्र विकास का मूल अहिंसा हो, आधार और विस्तार अहिंसा हो तथा प्रभाव और प्राप्ति अहिंसा से हो। जिन्होंने अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया अथवा आज भी करते हैं, उनके लिए लोक जीवन की आवश्यकताएं अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं। आज वर्ग, समाज, राष्ट्र या विश्व मुख रूप से शोषण की समस्या से त्रस्त है। शोषण के लिये शुद्ध शब्द हिंसा है। शोषण इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या दूसरे तरह के आन्दोलनों से उसका समाधान हो जाएगा-यह अब तक भुलावा ही सिद्ध हुआ है। बड़ी कठिन और जीवनव्यापी साधना है हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव संबंधों में प्रतिष्ठा करना। जब ऐसा संघर्ष शुरू करेंगे तब पता चलेगा कि शोषण को खत्म करना निरी आर्थिक या राजनीतिक समस्या ही नहीं है, बल्कि इस संघर्ष में ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को आत्मसात् करना होगा तथा चरित्र को उस स्तर तक विकसित करना होगा, जहां वह स्व को गला कर सर्व में समाहित हो जाए।

चरित्र विकास को इस लक्ष्य का साधक बनाना होगा कि वह वर्तमान विश्व के वातावरण में हिंसा को घटा-मिटाकर अहिंसा की सर्वत्र प्रतिष्ठा करे तथा शोषण को सदा के लिये उखाड़ फैंके। चरित्र विकास का ही दायित्व होगा कि नये मानव व्यक्तित्व का गठन हो।

◆◆◆



जब धर्माचरण रूढ़ होता है तो बाधित होता है चरित्र विकास

23



जब धर्माचरण रूढ़ होता है तो बाधित होता है चरित्र विकास

धर्म की उदारता से चरित्र की व्यापकता

हिन्दू धर्म की यह अतीव ही मार्मिक कथा है। इस मान्यता में देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ तक पहुंचती है, किन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति की महिमा सर्वोपरि है और इस त्रिमूर्ति में भी महेश को महोदव कहा है, जो अधिक सम्मानीय माने जाते हैं। तो यह कथा है इन्हीं महादेव की। महादेव की पहली पत्नी सती थी जिन पर महादेव का अनन्य प्रेम था। यह लम्बी कहानी है कि किस प्रकार सती को अपने पिता और पति के द्वन्द में पति की सम्मान-रक्षा हेतु संघर्ष करना पड़ा था और अन्ततः तद् हेतु सती को बलिदान भी देना पड़ा। यहां संबंधित विषय यह है कि सती के विरह में महादेव के मन-मानस पर अभूतपूर्व उन्माद छा गया। वे सती के शव को कंधे पर उठाए-उठाए सर्वत्र विलाप करते हुए घूमने लगे। ब्रह्मा व विष्णु ने उनसे शव छुड़वाने के अनेक प्रयास किए परन्तु सफलता नहीं मिली।

महादेव का व्यक्तित्व असाधारण माना जाता है उनकी अपूर्व विद्या एवं ध्यान साधना आदि के कारण। फिर भी सती के मोह ने उनकी चित्त वृत्तियों को इस प्रकार भ्रमित कर दिया कि उनका सारा ज्ञान और विवेक एक बार तो

जैसे रूढ़ ही हो गया। सती के सिवाय उन्हें कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था-शायद वे यही समझ रहे थे कि अपने कंधे पर जो वे उठाए फिर रहे हैं, वह सती का शव न होकर स्वयं जीवित सती ही है। इसी कारण वे किसी भी प्रकार उसे छोड़ना नहीं चाह रहे थे। किन्तु ब्रह्मा और विष्णु प्रत्येक उपाय से अपने प्रयत्न को सफल होते देखना चाहते थे कि शव को महादेव के कंधे से अलग कर दिया जाए जिससे उनकी आहत चेतना पुनः सजग हो जाए तथा उनका वह उन्माद एवं भ्रम समाप्त होकर ज्ञान-ध्यान का प्रकाश पुनः जगमगा उठे।

यह सनातन सत्य है कि ज्ञान और प्रकाश चैतन्य का प्रतीक व लक्षण होता है। जीव चाहे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म क्यों न हो-उसमें संज्ञा की विद्यमानता होती है, क्योंकि जीव का लक्षण ही ज्ञान को कहा गया है। ज्ञान नहीं तो जीव नहीं। जड़ ज्ञान हीन होता है। यही कारण है कि चेतन सदा चेतन रहता है, जड़ में परिवर्तित कदापि नहीं होता। इसी प्रकार जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता। किन्तु एक तथ्य अवश्य देखा जाता है और वह यह कि जब चैतन्य के मन मानस में ज्ञान क्षीण होने लगता है, विवेक कुन्द पड़ जाता है और श्रद्धा अंधी बन जाती है तब उसकी समझ रूढ़ हो जाती है। रूढ़ का अर्थ है रूढ़ि में जकड़ी हुई विवेक शून्यता। ऐसी रूढ़ता से जब चेतना ग्रसित हो जाती है तो भ्रम और उन्माद उसे इस तरह कैद कर लेते हैं कि वह चेतना जड़ तो नहीं होती, किन्तु जड़वत अवश्य हो जाती है।

तो इस कथा का सिलसिला यह है कि महादेव का मन-मानस भी कुछ ऐसी ही जड़ता से ग्रसित हो गया था। इस कथा का मर्म यह है कि इतने महान् देवता भी यदि जड़ता से ग्रस्त हो सकते हैं तो सामान्य जन की बात क्या कहें? सामान्य जन को शायद चेतावनी देने के लिये ही यह कथा है कि उसे अपनी विवेक बुद्धि को किस प्रकार सहेज कर सक्रिय एवं सतर्क बनाए रखनी चाहिए। रोग जितनी ज्यादा जटिलता पकड़ ले तो उसका निदान उतना ही कठिन भी करना पड़ता है। महादेव के क्रोध की जोखिम अपने सिर पर लेकर भी विष्णु ने अन्तिम उपाय सोच लिया। अपने सुदर्शन चक्र को उन्होंने आदेश दिया कि वह अत्यन्त कुशलता से सती के शव को खंड-खंड काटता रहे कि महादेव को उसका तुरन्त भान न हो। आदेशित चक्र ने वैसा ही किया और जब शव का अन्तिम खंड भी भूमि पर गिर पड़ा और कंधा एकदम खाली हो गया तब यकायक महोदव की चेतना लौटी। तब ज्ञानी-ध्यानी को क्रोध नहीं आया, बल्कि वे जागरूक हो गए। उनके मन में पश्चाताप उठा कि उनसे ऐसा क्यों हो गया? सच तो यह है कि जब कभी किसी भी कारण से चेतना पर भ्रम, उन्माद और जड़ता का आवरण चढ़ जाता है तो वैसी जड़ता व्यक्ति के विवेक को ही भ्रष्ट नहीं करती है, अपितु समाज के सारे परिवेश को भी बिगाड़ती और कलंकित बनाती है। यही रूढ़ता है।

क्या है सच्चा धर्म और कैसा होना चाहिये उसका आचरण :

जीवन के साथ जिसका अनन्य संबंध हो, वही सच्चा धर्म है। वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है (**वत्थु सहावो धम्मो**) अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का उसका अपना स्वभाव होता है और वह स्वभाव ही उसका धर्म माना जाएगा। जैसे अग्नि है, उसका स्वभाव है उष्णता तो उष्णता उसका धर्म हुआ। जीवन चैतन्य-स्वरूप है तो चेतना उसका स्वभाव हुआ, धर्म हुआ। चेतना सदा निर्मल रहे, प्रकाश फैलावे और सारे जगत को प्रकाश से जगमगाती रहे-यह चेतना का धर्म माना जाएगा। जहां चेतना

जागृत है, सर्वहितैषीणी है, सन्मार्ग दर्शिका है, आनन्द और प्रेम से परिपूरित है, वहां ही सच्चा धर्म है। जीवन जगमगाता है धर्म प्रकाश फैलाता है। यों धर्म सहज है, सुबोध है, सुगम है।

तब कोई भी जिज्ञासु यह प्रश्न उठा सकता है कि विभिन्न नामों या प्रतीकों से जाने, जाने वाले धर्म आज इतने जटिल और दुर्बोध क्यों प्रतीत होते हैं? किसी भी धर्म का प्रवर्तन तो सर्वकल्याण के उद्देश्य से ही हुआ, किन्तु प्रवर्तकों के उत्तराधिकारियों ने उसे विशेष प्रकार की वेशभूषा, क्रियाकांड़ और परम्पराओं से बांध कर जटिल बना दिया, जिससे उनकी गद्दियां, उनका वर्चस्व और असर तो संकुचित होकर भी बच गया, किन्तु उसने अनुयायियों के विवेक को बांधकर श्रद्धा के अंधे कुए में फैंक दिया। कूप मंडूक की कितनी औकात? इस क्रियाकलाप में धर्म जीवन से अलग पड़ने लगा। धर्म जीवन का स्वभाव नहीं, बस एक खिलौना भर रह गया कि घड़ी भर के लिये कोई भी धार्मिक क्रियाकांड़ किया, फिर खिलौने की तरह उसे दूर पटक दिया और समझ लिया कि दिन भर के बाकी कामों में उनका धर्म से कोई वास्ता नहीं। धर्मस्थल की साधना अलग हो गई और घर की साधना अलग। धर्मस्थल पर चींटी को सताते भी जैसे कलेजा कांपता है किन्तु धंधें में गरीबों का खून चूस लेने पर भी मन में तनिक भी कम्पन नहीं होता-यह कैसा विपर्यास है? धर्म का यह द्वैत क्या सहन करने लायक भी है?

धर्म के सच्चे स्वरूप के संबंध में गूढ़ चिन्तक स्व. अमर मुनि जी का चिन्तन अपूर्व प्रेरणा प्रदान करता है। वे बताते हैं-"यदि अन्तर में धर्म का प्रकाश हो गया हो तो कोई कारण नहीं कि बाहर में अंधकार रहे। अन्तर के आलोक में विचरण करने वाला कभी बाहर के अंधकार में नहीं भटक सकता।" धर्म का सच्चा स्वरूप यही है कि यदि अन्तर में प्रकट होकर वह आनन्द की स्रोतस्विनी बहाता है, तो वह निश्चय ही सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन के किनारों को सरसब्ज बनायेगा। नदी का, नहर का और तालाब का किनारा एवं परिपार्श्व कभी-भी सूखा नहीं रह सकता। वहां हरी-भरी हरियाली की मोहक छटा छिटकती मिलेगी। यदि बाह्य और अन्तर जीवन में फर्क है, तो उसका मतलब यही है कि बाहर और भीतर दोनों और दिवाला ही दिवाला है, जीवन में धर्म का देवता प्रकट हुआ ही नहीं है, सिर्फ उसका स्वांग ही रचा गया है-वंचना और प्रतारणा मात्र है।...धर्म का संबंध आचार (आचरण) से है। आचार को प्रथम धर्म कहा गया-"**आचार: प्रथमो धर्म:।**" यह ठीक है कि बहुत पहले धर्म का संबंध अन्दर और बाहर दोनों प्रकार के आचारों से था और इस प्रकार अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था। इसीलिये प्राचीन जैन ग्रंथों में धर्माचरण के दो रूप बताये गये हैं-निश्चय और व्यवहार। निश्चय अन्दर में 'स्व' की शुद्धानुभूति एवं शुद्धोपलब्धि है, जबकि व्यवहार बाह्य क्रियाकांड है बाह्याचार का विधि-निषेध है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है, वह देश काल की बदलती हुई परिस्थितियों से भिन्न नहीं होता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक होता है। वह देशकाल के आधार पर बदलता रहता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं होता। दिनांक तो नहीं बताया जा सकता, किन्तु काफी समय से धर्म अपनी अन्तर्मुख स्थिति से दूर हट कर बहिर्मुख स्थिति में आ गया है। आज धर्म का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों का बाह्याचार संबंधी विधि-निषेध ही रह गया है। धर्म की व्याख्या करते समय हर मत और पंथ के लोग अपने परम्परागत विधि-निषेध संबंधी क्रियाकांडों को

ही उपस्थित करते हैं और उन्हीं के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हैं। इसका यह अर्थ है कि धर्म अपने व्यापक अर्थ को खोकर केवल एक क्षरणशील संकुचित अर्थ में आबद्ध हो गया है। अत: आज के मनीषी, धर्म के अभिप्राय मतपंथों के अमुक बंधे-बंधाये आचार-विचार से लेते हैं, अन्य कुछ नहीं।...अध्यात्म, जो प्राचीनकाल में धर्म का ही एक आन्तरिक अंग था, जीवन-विशुद्धि का एक सर्वांगीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार को खोजता है, उसका परिशोधन एवं परिष्कार करता है। 'स्व' जो कि स्वयं से विस्मृत है, अध्यात्म इस विस्मरण को तोड़ता है। 'स्व' स्वयं ही जो अपने 'स्व' से अज्ञान तमस् का शरण स्थल बन गया है, अध्यात्म इसी अन्ध तमस् को ध्वस्त करता है। वह स्वरूप-स्मृति की दिव्य ज्योति जलाता है, अन्दर में सोए हुए ईश्वरत्व को जगाता है, उसे प्रकाश में लाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के आवरणों की गन्दी परतों को हटा कर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व' तक पहुंचाता है, उसे अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का आरंभ 'स्व' को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा से होता है और अन्तत: 'स्व' के 'पूर्ण' बोध में, 'स्व' की 'पूर्ण' उपलब्धि में इसकी परिसमाप्ति है (ग्रंथ-चिन्तन की मनोभूमि, अध्याय 31 धर्म और जीवन, पृष्ठ 271, 279-80)।"

सच्चा धर्म मानव का मूल स्वभाव है, मानव जीवन है, मानवता के मूल्य हैं और सबके प्रति मानवीय कर्त्तव्यों का पुंज है तथा उस धर्म का प्रभावशाली आचरण यही हो सकता है कि जीवन और धर्म घुल-मिलकर एकरूप हो जाय-अद्वैत और अविभाज्य। व्यक्ति से लेकर विश्व तक यह एकरूपता प्रसारित और व्याप्त हो। अब नामधारी धर्म इस सच्चे धर्म के कितने पास हैं या कितने दूर? यह आलोचना का विषय है।

आचरण के दो पक्ष : कौनसा प्राण, कौनसा कलेवर :

चाहे धर्माचरण हो अथवा आचरण का कोई भी अन्य प्रकार-उसके दो पक्ष होते हैं-आंतरिक एवं बाह्य अथवा भावात्मक एवं क्रियात्मक। इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक क्रियाकांड अथवा रीति-रिवाज सोद्देश्य होता है। जो बाहर किया जाता हुआ दिखाई देता है, वह केवल उतना ही नहीं होता है, बल्कि उसके आगे पीछे भी बहुत कुछ ऐसा होता है जो दिखाई भले न दे, लेकिन वही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यह महत्त्वपूर्ण होता है आंतरिक अथवा भावात्मक पक्ष। देखते हैं कि एक व्यक्ति अमुक धार्मिक क्रिया कर रहा है, जैसे सामायिक, संध्यावन्दन, स्वाध्याय, कीर्तन या कोई अन्य-तो बाहर की इस क्रिया का कुछ आन्तरिक उद्देश्य होता है। सामायिक करने वाले को एक खास परिवेश में देखकर पहचान की जा सकती है कि वह अमुक क्रिया कर रहा है। किन्तु देखना यह होता कि वह उस क्रिया के आंतरिक उद्देश्य की पूर्ति भी कर पा रहा है या नहीं। सामायिक का उद्देश्य है सब के प्रति समभाव का उदय। पूर्णतया समभाव लम्बे अभ्यास के परिणाम में हो सकता है, किन्तु सामायिक कर रहे उपासक की आन्तरिकता में अवश्य समभाव संचरित होना चाहिये और उसकी झलक सामायिक के दौरान उसके बाह्य में दिखाई देनी चाहिए। आशय यह है कि भाव और क्रिया परस्पर एकरूप होनी चाहिए, बल्कि क्रिया पर भाव का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होना ही चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है जब प्रत्येक क्रिया आन्तरिकता से उपजे और भावाभिभूत बनी रहे, बल्कि एक

अवधि के बाद सामान्य जन भी आसानी से परख सके कि उस क्रिया का मूलभाव क्या है? प्रत्येक क्रिया अपने मूल भाव अर्थात् उद्देश्य को प्रतिबिम्बित करने वाली होनी चाहिए।

यों क्रिया और भाव आचरण के दो पक्ष हुए-एक बाहर प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला पक्ष और दूसरा भाव का आधारगत पक्ष जो क्रिया में स्पष्ट झलकना चाहिये। इससे आचरण की एकरूपता बनती है और एकरूपता से ही उसकी प्राभाविकता है। सोचें कि आपके सामने ऐसे दो व्यक्ति खड़े हैं, जिन्हें आप लम्बे अर्से से गहरे तक जानते हैं। उन दोनों में से एक ऐसा है, जो जैसा सोचता है, वैसा ही बाहर कहता है और हमेशा अपनी कथनी और करनी में एकरूपता रखता है। दूसरा पहले से ठीक विपरीत वृत्ति का है। हकीकत में वह क्या सोचता है, किसी पर जाहिर नहीं होने देता-फिर जो कहता, करता है, वह कुछ अलग होता है। किसी के भी कुछ लम्बे सम्पर्क में रहने से एक व्यक्ति की वृत्ति की जानकारी हो जाती है। लोक व्यवहार में भी आप किसी व्यक्ति की वृत्ति के आधार पर ही उसकी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता का मूल्यांकन करेंगे फिर धर्माचरण का तो निस्संदेह मौलिक महत्त्व है और इसमें तो आन्तरिकता और भाव को ही प्रधानता दी गई है।

निष्कर्ष यह है कि भाव प्राण है तो क्रिया उसका बाह्य कलेवर। जैसे आत्मा तथा शरीर के संयुक्त रहने पर ही जीवन रहता है और आत्मा निकल जाय तब वह शरीर अन्तिम संस्कार के योग्य शव बन जाता है। मृत शरीर फिर घर में रखने लायक नहीं रहता। वैसा ही धर्माचरण का कोई भी क्रियाकांड हो उसकी जीवन्तता उसके अन्तर्निहित उद्देश्य व भाव पर टिकी रहती है। यदि क्रिया उस भाव से शून्य हुई तो समझिए कि वह निरर्थक हो गई यानी कि त्याज्य बन गई। बिना प्राण का कलेवर किस काम का? यदि किसी उत्तेजना, मोह, हठ, कट्टरता या दुराग्रह आदि के वशीभूत होकर अमुक निरर्थक क्रिया को पकड़े रखा जाता है तो वह मृत क्रिया मृत शरीर की तरह सड़ेगी, दुर्गंध फैलाएगी और सबके बीच विकारों का फैलाव करेगी। ऐसे कटु अनुभव व्यक्ति और समाज को होते आए हैं और विद्रोह या संघर्ष अथवा अन्य प्रकार से क्रिया की निरर्थकता को समाप्त कर उसके सही अर्थ की प्रतिष्ठा पुनः पुनः की जाती रही है। सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ चरित्र विकास ही समय पर सुन्दर समाधान निकालता रहा है।

धर्माचरण की रुढ़ता के कारण अनेक, पर परिणाम एक :

समझें कि कोई गृहहीन अपने लिये नया घर बनाता है। निर्माण में आवश्यक धन खर्च करता है, मजबूती और कारीगरी का पूरा ध्यान रखता है तो वह घर जरूर ही मजबूत और सुन्दर बनेगा। लेकिन समय की मार से कोई भी नहीं बचता। समय बीतने के साथ घर का क्षरण जरूरी है और सुन्दरता व मजबूती में भी कुछ फर्क आता ही है। किन्तु यदि गृहस्वामी सतर्क और सावधान रहता है, घर के रख-रखाव को भली-भांति सम्भालता है तो उस घर को लम्बे अर्से तक टिकाए रखने में कामयाब हो सकता है। कम से कम लम्बे अर्से बाद भी उसके यकायक गिरने और जानमाल को नुकसान पहुंचने की नौबत नहीं आएगी। इसके विपरीत लापरवाह गृहस्वामी घर की सफाई, सुन्दरता और मजबूती अल्पतम समय तक ही बनाए नहीं रख सकेगा। और गृहस्वामी ऊपर से गाफिल भी रहा तो चोर घुसेंगे, सामान ले जायेंगे, डाकू आ गए तो पूरी लूट मचाएंगे और गुंडे-मवाली घुस गए तो घर में ही

जम जाएंगे तथा गृहस्वामी की छाती पर मूंग दलते रहेंगे। घर की रक्षा के समान ही आचरण के अन्तरंग की रक्षा का प्रश्न रहता है। यह प्रश्न धर्माचरण के संबंध में तो अति गंभीर माना जाना चाहिए। यदि व्यक्ति सामान्य अर्थात् लौकिक आचरण और धर्माचरण में पूरी सतर्कता और सावधानी बरतता है तो हर हाल में आचरण शुद्धि की रक्षा कर सकता है और अपनी आन्तरिकता तथा उसके कारण आचरण को विकृत होने से बचा सकता है।

किन्तु व्यक्ति की सीमा के उपरान्त भी कई बार ऐसे सामूहिक प्रसंग बन जाते हैं जो किसी भी प्रकार के आचरण को भ्रष्टता की ओर खींच ले जाते हैं। ऐसे में सामूहिक सजगता जरूरी होती है, जो व्यवस्थित रूप से किए गए चरित्र विकास के प्रयासों से पैदा की जा सकती है तथा जागृत बनाए रखी जा सकती है। फिर भी यहां कुछ उन कारणों की चर्चा करें जो मुख्य रूप से धर्माचरण को शिथिल और निष्क्रिय बनाते हैं और उसे जड़ता की दिशा में बहुत दूर तक खींच ले जाते हैं कि वह धर्माचरण करीब-करीब रूढ़ हो जाता है और धर्म की आत्मा को मार देता है। धर्माचरण की रूढ़ता के इन कारणों की बारीक समीक्षा की जानी चाहिए ताकि चरित्र विकास की प्रक्रिया में कुछ ऐसी दृढ़ता का समावेश करने के प्रयास किए जाए कि कोई भी कारण धर्माचरण को रूढ़ न बना सके और जो कुछ रूढ़ता घिरती भी रहे उसे यथा समय दूर करते रह कर आन्तरिकता की पवित्रता को प्रभावित न होने दी जाए। ऐसे किन्हीं कारणों का विश्लेषण इस प्रकार है-

(1) कालक्रम का दुष्प्रभाव : कालक्रम नये को पुराना बनाता है-यह स्वाभाविक क्रिया रोकी नहीं जा सकती है, किन्तु अधिक सतर्कता व सावधानी के साथ इस क्रिया को काफी अंशों में अप्रभावी बना सकते हैं। सतत जागृति ही असली सावधानी है। सतत जागृति से वैसा ही उत्साह न्यूनाधिक मात्रा में बनाया रखा जा सकता है जैसा प्रारंभ में होता है। इसके लिये साध्य स्पष्ट रहना चाहिए तथा साधन आत्म-केन्द्रित होने चाहिए।

(2) उत्तराधिकारियों की स्वार्थपरता : जो भी महापुरुष धर्म सिद्धान्तों का प्रवर्तन करते हैं, उनका उपदेश पूरे विश्व, सभी मानवों और प्राणियों के लिए होता है, किन्तु उनके बाद उनके उत्तराधिकारी अपने प्रवर्तक की लोकप्रियता का अपने हित में लाभ उठाना चाहते हैं, इसलिये वे संकुचित दायरे बनाते हैं, उनका नेतृत्व करते हैं, अपने अनुयायियों की बाड़े बन्दी करते हैं और मानव धर्म को कट्टर सम्प्रदाय में बदल देते हैं। इस स्वार्थपरता को बनाए रखने के लिए उनका पहला आक्रमण शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध आचरण पर होता है ताकि कट्टरता के वश में होकर अनुयायी अपना मान भी भूलें और उन्हें घेरने की हिम्मत भी छोड़ें।

(3) साम्प्रदायिक संकुचितता : विश्वव्यापी मानव धर्म को अगर छोटी सी सम्प्रदायों में कैद करते रहें तो कैसे बचेगी उसकी यथार्थता? वह तो धर्म (सम्प्रदायों) के ठेकेदारों के हाथों की कठपुतली मात्र हो जाएगा और कट्टरता के रंग में रंगे उसके अनुयायी परीक्षा बुद्धि को गिरवी रख कर अपने धर्म के समाज नायकों के वफादार बन जायेंगे। ऐसे में प्राणिमात्र को एक सूत्र में पिरोने वाला धर्म खंड-खंड होकर एकता को चूर-चूर करने वाला बन जाता है। इतना ही नहीं, साम्प्रदायिकता विवाद, संघर्ष, जिहाद, आतंक, हिंसा तक आगे से आगे घातक रूप लेती रहती है। तब धर्माचरण

रूढ़ होगा ही और निष्प्रभावी भी।

(4) अंध श्रद्धा को बढ़ावा : कट्टरता, ज्ञान, विवेक, आचरण सबको गर्त में डाल देती है और जो पहले सच्ची श्रद्धा होती है, उसे सम्प्रदाय-मोह में जकड़ कर अंध श्रद्धा में बदल देती है। बन्द आंखों वालों को कहीं भी ले जाओ, कुछ भी कराओ और चाहे कुएं में धक्का दे दो, आपत्ति करने की दशा ही कहां रहती है? यों धर्माचरण रूढ़ ही क्या, जड़वत् हो जाता है।

(5) सिद्धान्तों में तोड़ मरोड़ और अलगाव : प्रवर्तक के सिद्धान्तों को बाद के नायक अपने स्वार्थों के अनुसार तोड़ते रहते हैं और अलगाव की गलियां निकालते रहते हैं। इस प्रकार एक सम्प्रदाय भी अखंड नहीं रहती-कई उपसम्प्रदायों में बंटती रहती है और अलगाव का क्रम जारी रहता है। यों सिद्धान्तों की अवमानना होती है, चेतना शून्य की जाती है, तब धर्माचरण की पवित्रता का रक्षक ही कौन बचता है? आपसी खंडन-मंडन, द्वेष-विद्वेष में ही शक्ति का अपव्यय होता है और धर्माचरण ढूढ़ें नहीं मिलता।

(6) क्रियाकांडों पर ही जोर : आन्तरिकता की इस प्रकार हत्या होती रहने के बाद धर्माचरण का मृत शरीर ही तो बचता है। बस, आज के अधिकांश धर्मनायक बाहर के क्रियाकांडों पर ही पूरा जोर देते हैं, अलग-अलग प्रतीकों को मजबूत बनाकर अपनी दुकानदारी पक्की करते हैं और प्रदर्शनों तथा आडम्बरों की धूम मचा कर अपनी यश लालसा को तृप्त करते हैं।

इस प्रकार के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनके दुष्प्रभाव से सम्यक् सिद्धान्तों की प्रभाविकता मंद होती है और धर्माचरण सिर्फ बाहर के दस्तूर बन कर रह जाते हैं, जो बाहर की लालसाएं पूरी करते हैं-भीतर को तो छूते ही नहीं। किन्तु इन सारे कारणों का परिणाम एक ही सामने आता है कि सम्यक्त्व दब जाता है, मिथ्यात्व उभर आता है और धर्माचरण अपनी सारी यथार्थता, पवित्रता एवं उत्थान क्षमता खो देता है। ऐसे धर्माचरण को फिर से सम्यक् बनाने के लिये भगीरथी प्रयास की आवश्यकता खड़ी हो जाती है।

रूढ़ता की पहली मार पड़ती है चरित्र-चेतना और विवेक-बुद्धि पर :

धर्माचरण जब रूढ़ हो जाता है, आतंरिकता को पवित्र बनाए रखने की अपनी क्षमता खो देता है और यशलिप्सु धर्मनायकों के प्रति कट्टरता का प्रतीक बन जाता है, तब उस भ्रष्टाचरण की पहली और सांघातिक मार पड़ती है चरित्र-चेतना पर तथा विवेक-बुद्धि पर। सम्प्रदायों की भेड़ियाधसान में सिर झुकाए-आंख बंद किये जब व्यक्ति बेभान-सा चलता है तब उसका विवेक नष्ट हो जाता है तथा चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे में सच्चे धर्म का अस्तित्व तो बचेगा ही कहां और कैसे?

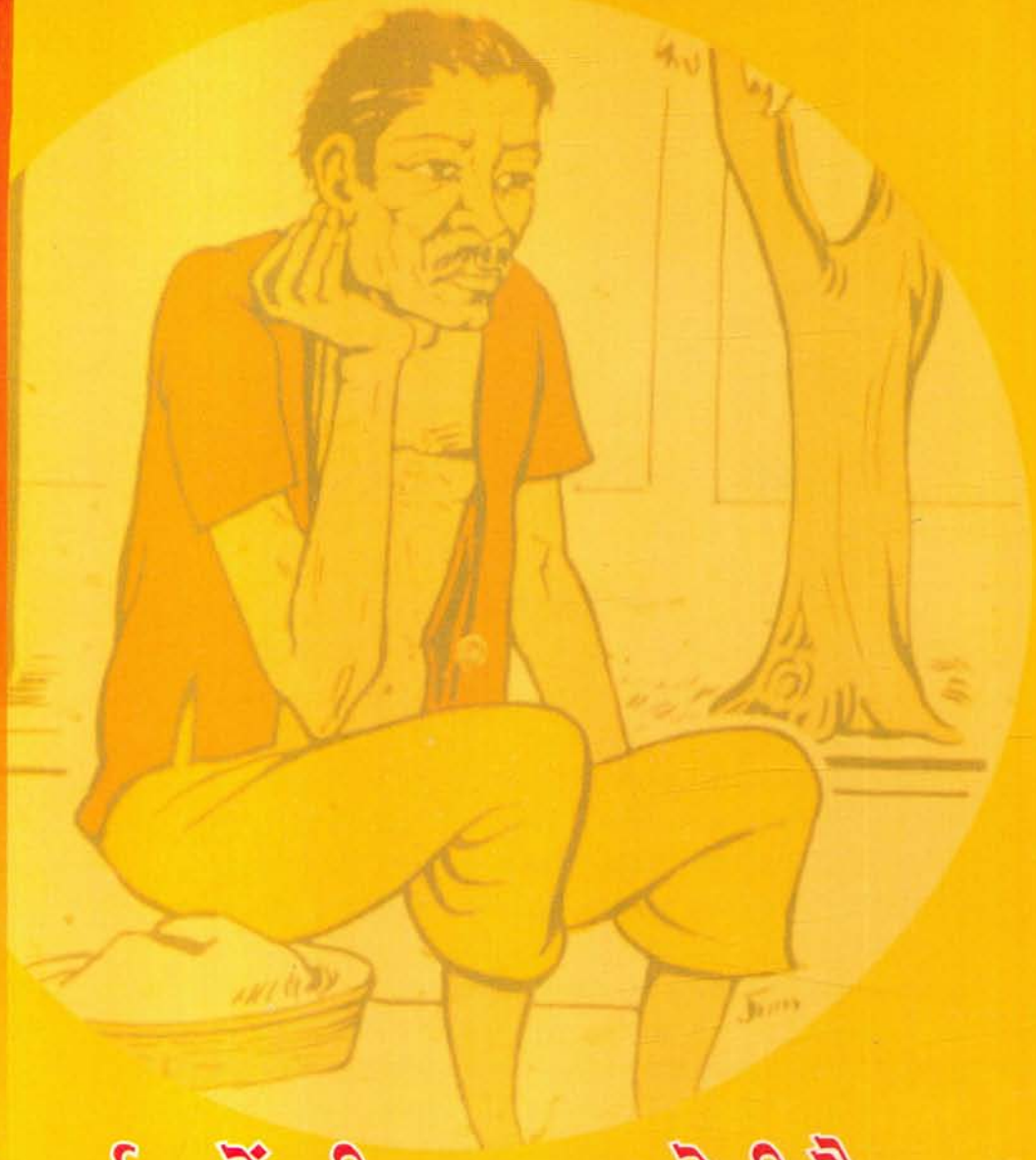
आचारांग सूत्र के छठे अध्ययन 'धूत' के पांचवें उद्देशक 'सदुपदेश और शान्त साधना' के संदर्भ में अपनी टिप्पणी देते हुए संत संतबाल कहते है-"समर्थ साधक सद्बोध श्रवण करने की इच्छा रखने वालों को धर्म का रहस्य समझाते हैं-फिर चाहे वह मुनि साधक हो या गृहस्थ साधक-सबको अहिंसा, त्याग, क्षमा, सद्धर्म का फल, सरलता, कोमलता, निष्परिग्रहता आदि सर्व विषयों की यथार्थता बताते हैं।" किन्तु धर्म के विराट अर्थ को साम्प्रदायिकता में ले जाने से उसे संकीर्ण रूप

मिल जाता है। क्योंकि प्राय: प्रत्येक सम्प्रदाय में रूढ़ियों और बाहरी क्रियाकांडों को ही धर्म रूप में स्वीकार करने से संकीर्णता गहरी हो जाती है और वैसी संकुचितता में ही अपनी सम्प्रदाय का धर्म है, वही परिपूर्ण धर्म है-ऐसा मान लिया जाता है। यह कहा जाता है कि हमारे मत-सम्प्रदाय में आने पर ही मोक्ष लाभ हो सकता है। ...किन्तु, यह कतई यथार्थ नहीं है। यह सोचा जाना चाहिए कि उस सम्प्रदाय से संबंधित प्रवर्तक महापुरुष के समय में कैसी परिस्थितियाँ थी और प्रवर्तन के विशेष कारण क्या थे? उस समय देशकाल और प्रजा का मानस कैसा था? यदि ऐसे प्रश्नों पर विचार मंथन किया जाता रहे तो धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता या अधर्म नहीं फैल सकेगा परन्तु ऐसे सत्य विचार के लिए जैसी जागृत बुद्धि चाहिए, उस बुद्धि के बीच में तो पहले ही मताग्रह की दीवार खिंच चुकी होती है। वह बाधा रूप बनी रहती है और बुद्धि को सत्य का स्पर्श करने से रोके रखती है। मिथ्या आडम्बर, अंधी भक्ति, मिथ्या अतिशयोक्ति तथा परम्परागत कल्पना से अनुयायियों का मानस इतना रूढ़ हो जाता है और हृदय इतना आवेशपूर्ण बन जाता है कि नवीन विचार श्रेणी को पचा सके-ऐसी विवेक बुद्धि का उद्‌भव ही उनमें नहीं हो सकता है। वे सिर्फ ऊपर के कर्मकांडों में मग्न रह कर धर्म पालन की इति-समाप्ति मान लेते हैं। आज व्यवहार और धर्म के बीच पैदा हुए भारी अन्तर का मुख्य कारण यही जड़ता है। इस जड़ता ने ही धर्म को उदार नहीं, 'उधार' बना रखा है। इसलिए सूत्रकारों ने ऐसी जड़ता की स्थिति से बचने का उपदेश दिया है।

...धर्म तो जीवनव्यापी वस्तु है। धर्मिष्ठ मात्र धर्म स्थान को ही नहीं, विश्व के जितने क्षेत्रों या स्थानों में वह सम्पर्क रखता है, सबको पवित्र बनाता है और उनकी पवित्रता बनाये रखता है। वह सच्ची धर्म भावना को समझता और समझाता है। वह धर्म की ऐसी नकद भावना चुकाता है कि जड़, रूढ़ियां, बहम, लालच और भय के भूतों की दुनियां रचाने वालों की कलई खुल जाती है। वह साफ बता देता है कि ऐसी दुनिया धर्म की है ही नहीं। ऐसे नकद धर्म का पालन व्यक्तिगत रूप से किया जाए तभी विश्व का कल्याण हो सकता है (श्री आचारांग सूत्र नो संक्षेप-गुजराती-भाग 3 पृष्ठ 43-44)।"

इस दृष्टि से आज व्यक्ति को सबसे पहले चरित्र चेतना और विवेक बुद्धि जगानी होगी जो चरित्र निर्माण तथा विकास से ही संभव है।

◆◆◆



दुर्व्यसनों की बाढ़ बहा देती है चरित्र निर्माण की फलदायी फसल को

24



दुर्व्यसनों की बाढ़ बहा देती है चरित्र निर्माण की फलदायी फसल को

चारित्रिक पतन अर्थात् सर्वनाश!

एक राजा अपने दुर्व्यसनी राजकुमार से अत्यंत दु:खी था। वह उसे शराब, तंबाकू, भांग आदि नशीले पदार्थों से मुक्त करने का भरसक प्रयत्न करता रहा, किन्तु जब उसे सफलता नहीं मिली तो उसने राजकुमार को एक अनुभवी वैद्य की देखरेख में सौंप दिया। वैद्य ने राजकुमार को कहा-मेरी औषधि का यही पथ्य है कि आप अपने मादक पदार्थों की मात्रा कल से ही दुगुनी कर सकते हैं। राजकुमार चौंका कि वैद्य जी यह क्या कह रहे हैं, किन्तु अन्तत: प्रसन्न होकर राजकुमार ने उनसे पूछा-आपके इस पथ्य से मुझे क्या लाभ होगा?

वैद्य जी बोले-राजकुमार आप को इससे चार लाभ होंगे-1. इससे चोर भाग जाएंगे, 2. आपका शरीर दुबला नहीं रहेगा, 3. हमेशा बैठने के लिए वाहन मिलेगा और 4. बुढ़ापा कभी नहीं आएगा। राजकुमार इतना भी मूर्ख नहीं था जो वह वैद्य जी के उस पथ्य पर किसी प्रकार की शंका नहीं करता। उसे संदेह तो हुआ, किन्तु वह वैद्यजी द्वारा बताए गए चारों लाभों के विषय में स्पष्ट रूप से समझ नहीं सका।

राजकुमार ने वैद्य जी से पूछा-आप द्वारा बताए गए

लाभ मुझे ठीक से समझ में नहीं आए हैं, कृपा करके स्पष्ट करें। तब वैद्य जी ने कहा-ठीक है, आप इन लाभों के विषय में साफ-साफ ही समझ लें-1. नशीले पदार्थों की पूरी मात्रा से रात में लगातार खांसी चलती रहेगी तो आए हुए चोर भागेंगे ही, 2. सूजन और बादी से शरीर मोटा हो ही जाएगा, 3. पैरों में जरा सी भी चलने की ताकत न रह जाने से वाहन का उपयोग करना ही होगा और 4. जब जवानी में ही मौत हो जाएगी तो बुढ़ापा कहाँ से आएगा?

यह उत्तर सुनते ही राजकुमार इस तरह चौंका जैसे किसी ने बिजली का करंट छुआ दिया हो। वह चीख उठा-नहीं आज और अभी से ही मैं सारे नशीले पदार्थों का त्याग करता हूँ। मुझे मरना नहीं है, जीना है और खुश रहना है।

कोई भी व्यसनी अपने सारे व्यसन छोड़कर जीवन को मोड़ सकता है, लेकिन साधारण रीति से ऐसा करना कठिन होता है। उसे एक झटके की जरूरत होती है कि उसका दिल-दिमाग हिल उठे। व्यसनों को छुड़ाने के लिए झटके वाले मानसिक प्रयोग किए जाने चाहिए।

कैसा होता है व्यसन? व्यसन शब्द कैसे बना है? यह शब्द बना है दो शब्दों के मेल से-वि+असन अर्थात् बिगड़ा हुआ विकृत (वि) भाजन (असन)। बिगड़ी हुई वस्तुओं का सेवन करना, बिगड़ी हुई आदतें बनाना और बिगड़े हुए आचरण में लिप्त हो जाना-यह सब व्यसन में सम्मिलित होता है। इसे अंग्रेजी में 'एडीक्शन टू इविल हेबिट्स' कहा जाता है। ऐसी बुरी आदतें, जो व्यक्ति को शारीरिक रूप से अक्षम बनाती हैं, मानसिक कमजोरी लाती हैं, धन की हानि कराती हैं और सद्गुणों को नष्ट कर डालती हैं। एक पाश्चात्य काव्य का सारांश है-'मृत्यु एवं व्यसन इन दोनों में से व्यसन अधिक कष्टदायक है, क्योंकि मृत्यु तो एक बार ही कष्ट देती है, किन्तु व्यसनी व्यक्ति जीवनभर बार-बार मृत्यु के समान कष्ट भोगता रहता है।' यह तो है जीवन की बात, लेकिन मरने के बाद भी वह नारकीय यातनाओं को भोगता है। दूसरी ओर निर्व्यसनी व्यक्ति जीते जी भी सुख के सागर में तैरता है तो मृत्यु के पश्चात् भी स्वर्ग के दिव्य सुखों का उपभोग करता है।

यह 'व्यसन' शब्द संस्कृत भाषा का है, जिसका अर्थ है-कष्ट। यहाँ हेतु में परिणाम का उपचार किया गया है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टदायक हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन माना गया है। व्यसन ऐसी आदत का नाम है जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता है। ऐसी आदत एकदम नहीं बन जाती है। ऐसी कोई प्रवृत्ति पहले तो व्यक्ति आकर्षण के आधार पर प्रारंभ करता है। जब उसमें वह मजा लेता है, रस पाता है तब उसका मन उस प्रवृत्ति को बार-बार करने का हो जाता है। बार-बार दोहराने से वह प्रवृत्ति आदत बन जाती है। ऐसी आदत को ही व्यसन कहते हैं। एक संस्कृत कवि की भाषा में व्यसन की व्याख्या इस रूप में की गई है-

व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्य धोऽधो व्रजति स्वयात्यिव्यसनी नतः।

व्यसनों की तुलना उस कीचड़ वाले दलदली खड्डे से की जा सकती है, जिसमें ऊपर तो हरी-हरी हरियाली होती है, फूल खिलखिलाते हैं, जिन पर मुग्ध होकर कोई आसानी से खड्डे में गिर जाता है। उस खड्डे से बाहर निकलना असाध्य नहीं तो दु:साध्य अवश्य हो जाता है। व्यसनों का बाहरी रूप

चित्ताकर्षक होता है, जो व्यक्ति को दलदल में फंसा देता है। मूलतः सारे व्यसन चरित्रनाशक होते हैं।

अमरबेल की तरह लिपटकर जीवन का सर्वनाश कर देते हैं व्यसनः

आपने अमर बेल देखी होगी, जिस की कोई जड़ जमीन पर नहीं होती, लेकिन वह जिस किसी वृक्ष पर पूरी तरह लिपट जाती है, उस वृक्ष का समूल विनाश हो जाता है। तो व्यसनों को अमरबेल के समान मानें, जो मानव जीवन से जब लिपट जाते हैं तो जीवन का एक बार तो सर्वनाश करके ही छोड़ते हैं। यह विषैली बेल के समान होता है, जो मानव जीवन की सात्त्विकता को नष्ट कर देता है, पारिवारिक जीवन को विवादों में उलझा कर छोड़ देता है तो सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा और मान मर्यादा को धूल में मिला देता है।

जैनाचार्यों ने सात प्रकार के दुर्व्यसनों का उल्लेख किया है-

'द्यूतं व मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
ऐतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति।'

ये सात दुर्व्यसन हैं - 1. जुआ, 2. मांसाहार, 3. मद्यपान, 4. वेश्यागमन, 5. शिकार, 6. चोरी तथा 7. परस्त्री (परपुरुष) गमन।

ये सातों दुर्व्यसन अंधे कुए के समान बताए गए हैं, जिनमें गिरकर मानव केवल पाप प्रवृत्तियों में ही लगा रहता है। शुरू करते समय कोई भी व्यसन छोटा सा दीखता है, लेकिन वह व्यसनखोरी लगातार बढ़ती जाती है और बेहद बन जाती है। इन सप्त दुर्व्यसनों के रूप-अपरूप को संक्षेप में समझें।

1. जुआ - जुआ का प्राचीन नाम है द्यूत क्रीड़ा, जिसमें उलझकर युधिष्ठिर ने अपना सब कुछ गंवाया ही नहीं, बल्कि अपने भाइयों के लिए वनवास भी कमाया। जुआ खेलने की प्रवृत्ति इस लालच से शुरू होती है कि बिना मेहनत किए भारी मात्रा में धन-सम्पत्ति प्राप्त की जाए। जुआ ऐसा आकर्षण बन जाता है कि छुटाए नहीं छूटता। बार-बार हारता हुआ भी जुआरी दांव पर दांव खेलता जाता है कि अगली बार जरूर खूब धन मिल जाएगा। यह आकर्षण भूत की तरह मानव का सारा सत्त्व चूस लेता है। जिसको यह लत लग जाती है, वह माया की मृग मरीचिका से निकल ही नहीं पाता है। शास्त्रों ने द्यूत क्रीड़ा को त्याज्य कहा है। सूत्रकृतांग में चौपड़ या शतरंज के रूप में भी जुआ खेलने का निषेध किया गया है-*'अट्ठाए न सिक्खेज्जा।'* कारण बताया गया है कि हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है। एक अंग्रेज विचारक ने जुआ को लोभ का बच्चा और फिजूलखर्ची की माँ-बाप बताया है *('गेम्बलिंग इज दि चाइल्ड ऑव एवरिस, बट दि पेरेन्ट ऑव प्रोडीगेलिटी')*। आज के जमाने में जुआ के कई रूप निकल आए हैं-सट्टा, फीचर, लॉटरी, मटका, रेस आदि और मैच फिक्स करके क्रिकेट के माध्यम से भी जुआ खेला जाने लगा है। हकीकत में जुआरी को पैसे का लेने देन चाहिए-चाहे मामला कोई भी हो। एक जुआरी जुआ खेलने तक ही नहीं रुकता क्योंकि बिना मेहनत मिलने वाला धन चुप नहीं रहता-जैसे रास्ते से आता है, वैसे ही रास्तों से गटर के पानी की तरह बह जाता है। जुआ हो या कोई दूसरा व्यसन, व्यक्ति के जीवन में घुस कर तभी फैलता है जब व्यक्ति चरित्रहीन हो जाता है।

2. मांसाहार - मांसाहार का व्यसन प्रकृति के विरुद्ध है। कारण, मांसभक्षी पशुओं के शरीर की रचना से मानव शरीर की रचना एकदम भिन्न होती है। आज के शरीर शास्त्रियों का भी मत है कि मांसभक्षण मानव के लिए पूर्णत: अनुपयुक्त है। यह अनुपयुक्तता दोहरी है। मांसाहारी का स्वयं का शरीर व्याधिग्रस्त होता है तो उन प्राणियों का तो हनन ही हो जाता है जिन्हें मांस के लिए मारा जाता है। जीवों की हिंसा से ही मांस उपलब्ध होता है। हिंसा से पाप कर्मों का बंध होता है और यह कर्मबंध भावी जीवन का भी नाश कर देता है। आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत है कि पंगु या विकलांग होना, कुष्ठ जैसे घातक रोगों से ग्रस्त बनना अथवा लूला लंगड़ापन आदि पाना हिंसाजन्य कर्मों का ही कुफल होता है। '**मां**' तथा '**स**' अक्षरों को अलग लिखकर अर्थ निकालें तो वह यही होता है कि जिसको मैं खा रहा हूँ, वह मुझे खाएगा। कुछ लोग यह कुतर्क देते हैं कि मांसाहार से पाप नहीं लगता, क्योंकि हम खुद पशुओं को नहीं मारते हैं, हम तो मांस बाजार से खरीद कर लाते हैं। किन्तु यह मात्र भ्रम है। यदि मांसाहारी नहीं हों तो मूक प्राणियों का वध ही क्यों किया जाएगा? मांसाहारी इस तर्क का उत्तर नहीं दे सकेगा कि यदि तुम किसी को जीवन दे नहीं सकते हो तो तुम्हें किसी का जीवन लेने का क्या अधिकार है? यह तर्क मांसाहारी को अपराधबोध करा सकता है। मांसाहार को मानते तो सभी अपवित्र हैं तभी तो मांस खाने वाले भी अपने धर्मस्थानों में मांस का उपयोग नहीं करते। मांसाहार सर्वथा हानिकारक है। वैज्ञानिक मानते हैं कि मांसाहार में कैल्शियम और कार्बोहाइड्रेट्स के नहीं होने से मांसाहारी चिड़चिड़े, क्रोधी, निराशावादी, अधीर और असहिष्णु हो जाते हैं। उनका स्नायुतंत्र दुर्बल हो जाता है।

3. मद्यपान - मद्य में वे सभी पेय शामिल हैं जिनमें मादकता होती है, जो विवेक बुद्धि को भ्रमित या नष्ट करते हैं तथा कर्तव्यों पर पर्दा डाल देते हैं-'***बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।***' मदिरा या शराब नशा लाती है, चेतना को बेभान बनाती है। नशा लाने वाले अन्य पदार्थ हैं-भांग, गांजा, चरस, अफीम, चुरूट, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, ब्राऊन शुगर, मादक ड्रग्ज, ताडी, व्हिस्की, ब्रांडी, जिन, रम, बियर आदि देशी-विदेशी ब्रांड की मदिराएँ। मद्यपान ऐसा तीर है जो एक बार लग जाता है तो निकाले नहीं निकलता। एक घूंट से शुरू होने वाला शराबी किसी हद पर जाकर रूकेगा-ऐसा कुछ भी नहीं है। बोतलों पर बोतलें पी जाने वाला शराबी भी कभी तृप्त नहीं होता। अतृप्ति का दूसरा नाम ही तो शराब है। सही नजरिए से देखें तो कतई पीने लायक नहीं। शर्करायुक्त पदार्थ जैसे अंगूर, महुआ, जौ, गेहूं, मक्का, गुड़ आदि वस्तुओं को बुरी तरह सड़ा कर शराब बनाई जाती है। यह सड़ी हुई शराब क्या पेय भी मानी जा सकती है? शराब तो एक तरह से सड़ा हुआ पानी है, जो किसी भी रूप से टॉनिक या पोषक नहीं है, बल्कि हर तरह से शोषक है। एक वैज्ञानिक का मत है कि मानव के रक्त की हजार बूंदों में यदि शराब की केवल दो बूंदे मिला दी जाए तो उस मानव की बोली बंद हो जाती है। शराबी की बोली और चाल को लड़खड़ाते हुए देखा जाता है। जो मदिरालय जाने लगता है, वह धन और मन दोनों से दिवालिया हो जाता है, सो मदिरालय को दिवालिया बैंक कह सकते हैं। इस दिवालिया बैंक में मनुष्य का धन और समय ही नहीं, चरित्र तो पूरी तरह नष्ट हो जाता है। मदिरा उत्तेजक होती है और मदिरापान करने वाले को पागल बना देती है-

उसके सारे काम-हंसना, बोलना, गाना वगैरह पागलों की तरह होते हैं। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मदिरा में आठ दुर्गुण समाए होते हैं-1. मस्ती, 2. पागलपन, 3. कलह, 4. धृष्टता, 5. बुद्धि विवेक का नाश, 6. सच्चाई व योग्यता का लोप, 7. खुशी का नाश और 8. नरक का मार्ग खुला। सुरापान को सभी धर्मों में त्याज्य कहा गया है। भगवान् महावीर ने कहा-मदिरा न पीओ, महात्मा बुद्ध ने कहा-***'मज्जं न पायव्वं'***, हजरत मुहम्मद ने कहा-अल्लाह ने शराब पर, शराब पीने वालों पर, पिलाने वाले और पीने-पिलाने में मदद देने वालों पर लानत फरमाई है। गांधी जी ने शराबबंदी के कार्यक्रम को प्राथमिकता दी। सबने मदिरापान को महापाप कहा है।

4. वेश्यागमन - वेश्यागमन उस विषैले सर्प के समान होता है, जो चमकदार दिखता है मगर होता खतरनाक है। वेश्या के हावभाव भरे कटाक्ष में वही व्यक्ति फंसता है व उस मछली की तरह हो जाता है जो जरा सी मिठास में पड़कर कांटे में फंस जाती है। यह वेश्यागमन मदिरापान की तरह ही घातक दुर्व्यसन है। यह मोहजाल में उलझा कर नष्ट कर डालने के फंदे जैसा है। वेश्या को उस जलती हुई अग्निशिखा की उपमा दी गई है, जिस पर कामासक्त व्यक्ति पतंगों के समान अपने जीवन के सर्वस्व को झोंक देता है और स्वयं को भस्म कर डालता है। वेश्या पतंगों को जलाती है, लेकिन खुद भी जलने से कहाँ बचती है? यह कहें कि वह पहले जलकर ही दूसरों को जला पाती है। वेश्यावृत्ति ही ऐसी पतित वृत्ति है जो बरबादी के अलावा किसी को कुछ देती ही नहीं है। यह वृत्ति मानवता का अभिशाप है, समाज के माथे पर कलंटी टीका है। वेश्या स्त्री होकर भी निर्जीव मशीन की तरह होती है, जो अपने शरीर को बेचकर धंधा करती है-अपनी रोटी कमाती है। कितनी दयनीय दशा है? सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा कही जाने वाली नारी को ऐसी दुर्दशाग्रस्त बनाने वाले नर की कुटिलता को भी कम करके नहीं आंकना चाहिए। वेश्यावृत्ति पुरुष प्रधान समाज की गंदी मोरी है जिसे हटाए बिना समग्र वातावरण को स्वच्छ एवं स्वस्थ नहीं बनाया जा सकता है। नर और नारी रूपी समान चक्रों के बिना समाज का रथ समगति से नहीं चल सकता है। किन्तु आज इस वृत्ति का विकराल रूप यह सुना जाता है कि वेश्यावृत्ति अपने अड्डों से फैल कर घरों की चौखटों तक में घुस गई है। ऐसा कदाचार और दुराचार व्यक्ति और उसके समाज को चरित्रहीनता की किस नीचता तक ले जाएगा-कहना कठिन है। पैसे के लिए शरीर का व्यापार करना पड़े-यह अत्यंत घृणित स्थिति है।

5. शिकार - शिकार किसी भी प्रकार से मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि मानव की क्रूरता और जंगलीपन की निशानी है। अपनी शक्ति से जानवरों का शिकार करके जो अपनी वीरता दिखाने की चेष्टा करता है, वह उसकी वीरता नहीं, केवल कायरता है। मूक पशुओं को मारना और उनके प्राणों के साथ खिलवाड़ करना यह शिकारी की मात्र हृदयहीनता है। जैन शास्त्रों में शिकार को ***'पापर्धि'*** कहा है, जिसका अर्थ है कि पाप की ऋद्धि कमाने का कु कार्य। शिकार का व्यसन अनेकों के जीवन *को कष्टमय बनाता है। वह एक पशु का ही वध नहीं करता, बल्कि स्वयं की वीरता के अहंकार में* प्राणियों का लगातार हनन करता रहता है तथा शेर, चीते आदि के मृत मस्तकों को दीवारों पर सजा कर अपनी वीरता का झूठा प्रदर्शन करता है। आचार्य वसुनन्दी का अभिमत है कि मधु, मद्य, मांस का दीर्घकाल तक सेवन करने वाला उतने महापाप का संचय नहीं करता, जितने महापापों का बंध

शिकारी एक बार के शिकार में ही संचित कर लेता है, क्योंकि वह अपनी विलासिता, रसलोलुपता, धार्मिक अंधविश्वास, मनोरंजन व शौकीनी में निरपराध पशुओं का घातक बनता है। शिकार करते समय कई बार खुद शिकारी की भी दुर्दशा हो जाती है कि याकि उसे मृत्यु मुख तक में चले जाना पड़ता है। आज की फैशनपरस्ती या कि लाभ लिप्सा के लिए भी पशुओं के शिकार की वृत्ति क्रूर बनी है। हाथी के दांत के लिए, बाघों की हड्डियों के लिए या हिरणों का कोमल चर्म के लिए तो शिकार होते ही हैं, परन्तु आज की श्रृंगार सामग्री के लिए चिड़िया, खरगोश, झिंगुर, भेड़ आदि मूक प्राणियों का खून भी बहाया जाता है। शिकार भयंकर पाप का कारण है तथा एक दुष्चरित्र व्यक्ति ही ऐसी क्रूरता में अपनी प्रसन्नता खोजता है। अन्य प्राणियों के प्राणों का अपहरण करके जो खुशी बटोरता है, उसे हकीकत में खुशी कभी नहीं मिलती है।

6. चोरी - जैसे कच्चा पारा खाने पर शरीर से फूट निकलता है, वैसे ही चोरी को व्यसन बनाकर जो दूसरों के धन का हरण करता है, वह चोरी का धन उसके पास कभी टिकता नहीं है। चोर अपने और अपने परिवार के जीवन को हमेशा जोखिमभरा बनाए रखता है। जो परिश्रम और नीति से दूर भागते हैं, वे ही चोरी के व्यसन को अपनाते हैं। चोरी क्या है? जो अदत्त है, वह चोरी है। चोरी का व्यसन धीरे-धीरे पनपता है। पहली बार कोई आंख चुरा कर छोटी वस्तु चुराता है और घर पर लाकर अपनी मां को देता है। तब मुफ्त में वस्तु के मिलने से माँ खुश हो जाती है। चोरी तब आदत बन जाती है और एक दिन चोरी के भारी अपराध में जब उसे फांसी की सजा होती है तब उस माँ को पता चलता है कि चोरी की आदत बनाने का कितना घातक परिणाम होता है। चोरी की आदत बनने का मूल कारण लोभ होता है। शराब की तरह लोभ की लालसा बढ़ती जाती है और चोरी का व्यसन घातक बनता जाता है। जुआ के समान चोरी भी व्यक्ति को श्रमहीन, पुरुषार्थहीन तथा चरित्रहीन बनाती है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में चौर्य कर्म के तीस नाम गिनाते हुए उसे अनार्य कर्म कहा है। मालिक की अनुपस्थिति में या उपस्थिति में आंख बचाकर वस्तु ले लेना भी चोरी ही है। बाकी सेंध लगाकर, जेब काटकर, ताला आदि तोड़कर दूसरों की धन सम्पत्ति का अपहरण करना तो चोरी का अपराध है ही। वैसे पड़ा हुआ, भूला हुआ, खोया हुआ कहीं पर गुप्त रूप से रखा हुआ धन आदि ले लेना भी चोरी में ही शामिल है। चोरी के छः प्रकार बताए गए हैं-1. छन्न चोरी-आंख बचाकर लेना, 2. नजर चोरी-देखते ही देखते चुरा लेना, 3. ठग चोरी-व्यक्ति के सामने ठग कर वस्तु ले लेना, 4. उद्घाटक चोरी-गांठ, ताला, तिजोरी आदि खेल कर चुराना, 5. बलात् चोरी-भय दिखाकर लूट लेना और 6. घातक चोरी-हत्या करके सबकुछ चुरा लेना।

इस जमाने में ऐसी चोरियाँ भी होती हैं, जिन पर सफेदपोशी का लेबल लगाने से बिन पकड़ी रहती हैं। व्यवसायी श्रम का शोषण करता है या कि व्यापारी वस्तुओं की मिलावट करके बेचता है, वह भी चोरी ही है। चोरी व्यसन के वशीभूत होकर भी की जाती है तो सफेदपोश चोरियाँ मुफ्त का धन लूटने की नीयत से भी होती हैं। दूसरों के द्रव्य पर आसक्ति तो चोरी का मूल कारण है ही, लेकिन कुछ ये कारण भी किसी को चोर बनाने के जिम्मेदार होते हैं-बेकारी, गरीबी, फिजूलखर्ची, कुस्वभाव या गलत संस्कार, अराजकता आदि।

7. परस्त्री (पर पुरुष) गमन - कामवासना प्रबल तो होती ही है, लेकिन कभी इतनी प्रचंड बन जाती है कि व्यक्ति मर्यादा की सीमा लांघ जाता है। परिणाम स्वरूप वह वेश्यागमन करता है या अपने पाप को छिपाने के लिए परस्त्री का सेवन करता है या कि स्त्री परपुरुष का सेवन करती है। इससे भोग की दुष्प्रवृत्ति बढ़ती ही है और विकृति समाज में विस्तार पाती है। मदोन्मत्त हाथी को वश में करने या सिंह से खुले हाथ लड़ने वाले भी कामदेव से संघर्ष नहीं कर पाते हैं। इसी दृष्टि से श्रावक की कामवासना मर्यादित बनाई गई है कि वह स्व स्त्री में संतोष करे। परस्त्री सेवन इस मर्यादा का उल्लंघन है और श्रावक के लिए अकरणीय है। कामवासना का नियंत्रण समाज व्यवस्था के लिए भी आवश्यक है। विवाह की परिपाटी इसी सामाजिक सुव्यवस्था का प्रतीक है और अकारण इस परिपाटी का उल्लंघन अपराध से कम नहीं है। स्त्री शब्द में परित्यक्ता, व्यभिचारिणी, वेश्या, दासी, रखैल आदि शामिल हैं। इनके साथ भोग करना परस्त्रीगमन का व्यसन है। यह अवैध पापाचार है। आज जो अपराधी व्यक्ति लड़कियों की खरीद-फरोख्त, तस्करी या धंधेबाजी करते हैं, वे भी पापाचारी हैं। मर्यादा की दृष्टि से ही स्वयं की पत्नी का नामकरण धर्मपत्नी किया गया है, अतः इस मर्यादा का उल्लंघन करने वाला इस व्यसन का दोषी है। परस्त्रीगामी सदा अविश्वसनीय होता है। समाजशास्त्री इस व्यसन के ये कारण बताते हैं-क्षणिक आवेश, अज्ञान, बुरी संगत, पथ भ्रष्टता, कामुक साहित्य पठन, धनमद, अंधविश्वास, अश्लील चलचित्र, अनमेल विवाह, नशीले पदार्थों का सेवन आदि। जैन साधना पद्धति में व्यसनमुक्ति के अभाव में चरित्र का निर्माण भी नहीं किया जा सकता है-चरित्र विकास की बात तो दूर ही रहती है। व्यसनी व्यक्ति में सद्गुणों का प्रवेश ही संभव नहीं होता है और सद्गुणों का धरातल न मिले तो चरित्र निष्ठा का टिकाव ही नहीं होता है।

दुर्व्यसनों के अन्य प्रकार तथा आज के जमाने के व्यसन :

आज के जमाने में पश्चिम की अपसंस्कृति तथा फैशनपरस्ती के नाम पर दुर्व्यसनों की नई नई बानगियाँ सामने आ रही हैं। यह कह सकते हैं कि इनकी संख्या सात या अट्ठारह ही नहीं है, बल्कि अनगिनत व्यसनों की बाढ़ सी आ गई है। प्राचीनकाल में जैनाचार्यों ने जिन सात दुर्व्यसनों का उल्लेख किया है, उनके सिवाय वैदिक ग्रंथों में व्यसनों की संख्या अट्ठारह बताई गई है। इनमें से दस व्यसन कामज (काम से उत्पन्न होने वाले) कहे गए हैं तथा शेष आठ क्रोधज (क्रोध से उत्पन्न होने वाले) बताए गए हैं। कामज व्यसन हैं-1. मृगया (शिकार), 2. अक्ष (जुआ), 3. दिन का शयन, 4. पर-निन्दा, 5. परस्त्री सेवन, 6. मद, 7. नृत्य सभा, 8. गीत सभा, 9. वाद्य की महफिल तथा 10. व्यर्थ भटकना। इसी प्रकार क्रोधज व्यसन हैं-1. चुगली खाना, 2. दुस्साहस करना, 3. द्रोह करना, 4. ईर्ष्या, 5. असूया, 6. अर्थ दोष, 7. वाणी से दंड एवं 8. कठोर वचन।

आधुनिकता का बाना ओढ़कर कई व्यसनों की बाढ़ में उनके नाम अनगिन हैं। मोटे तौर पर उन्हें गिनावें तो वे हैं-अश्लील चलचित्र, कामोत्तेजक साहित्य आदि, रोमांटिक और जासूसी पुस्तकें, सिगरेट, चुरुट से ऊपर मोरफिया, ब्राऊन शूगर आदि नशीली दवाएँ तथा इजेक्शन। देह और वेशभूषा को सुंदर बनाने वाले साधनों के उपयोग में महिलाओं की ही होड़ नहीं है, पुरुष भी साथ-साथ भाग रहे हैं। मुख्य रूप से युवा पीढ़ी इस देह-भूषा सौंदर्य की दौड़ में सबसे आगे है। नए व्यसनों की

बानगियाँ हैं-भांति-भांति के सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग-उपयोग, पहनने-ओढ़ने की विचित्र डिजाइनें, फिल्मों के द्विअर्थी संवाद, कामुक नृत्य आदि। जुए के भी नए-नए रूप आ रहे हैं, जिनके जरिए सारे कानूनों के बावजूद करोड़ों के वारे-न्यारे होते रहते हैं। शराब का प्रचलन बेहद बढ़ रहा है जो स्त्री जाति तथा किशोरवय के लड़के, लड़कियों में भी फैल रहा है। अंड़ों को शाकाहार बता कर शाकाहारी भी धड़ल्ले से उन का उपभोग कर रहे हैं। चोरी के नए तरीके रिश्वत, कमीशन, गिफ्ट आदि के रूप में ऐसे निकले हैं कि लेने-देने वाले शर्मसार भी नहीं होते। ये समाज के महारोग बन गए हैं। फैशनपरस्ती और व्यसनों का साथ चोली दामन का हो गया है। युवा वर्ग में देखें तो सादा जीवन, उच्च विचार का आदर्श तो जैसे सर्वथा लुप्त ही हो गया है। जीवन व्यसन जैसा हो गया है।

अधःपतन

चारित्रिक अधःपतन की ओर ले जाती है दुर्व्यसनों की राहें :

जीवन विकास तथा चरित्र निर्माण की दो दिशाएं हैं-ऊँची या नीची अर्थात् उन्नयन की दिशा अथवा अधःपतन की दिशा, जबकि जीवन और चरित्र का एक ही लक्ष्य होता है कि उन्नति करते जाना, ऊपर से ऊपर चढ़ते जाना। यही उन्नयन एक दिन चरम बिन्दु पर पहुँच कर मुक्तावस्था में स्थिर और स्थित हो जाता है। उन्नयन सुख प्राप्ति की दिशा है तो अधःपतन दुखदायिनी दिशा। जितने भी दुर्व्यसन हैं, वे सब व्यक्ति की चारित्रिक दुर्बलता से पनपते हैं और वे जब जीवन के साथ जटिलता से बंध जाते हैं तो अधःपतन की ओर ही व्यक्ति को ले जाते हैं। दुर्व्यसनों के रूप-अपरूप को समझ कर आकलन यह किया जाना चाहिए कि कौन-कौनसे दुर्व्यसन व्यक्ति को किस प्रकार अधःपतन के दलदल में फंसाते हैं और उस दलदल से निकलने के लिए जब व्यक्ति की चेतना पुनर्जागृत हो जाए तो कितने व कैसे पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

यह एक प्राकृतिक सत्य है कि व्यक्ति अपना भान भूलकर नीचे गिरता भी है, बेहोश भी हो जाता है, लेकिन वैसी स्थिति सदाकाल नहीं रहती है। उसकी सोई चेतना फिर से जागती है, अपनी दुर्दशा को देखती-समझती है और फिर से ऊपर उठने का-उन्नति करने का सत्पुरुषार्थ प्रारंभ करती है, क्योंकि मनुष्य प्राणी जगत् का एक भावप्रधान तथा अति सचेतन सदस्य है और वह चिंतन, मनन, विवेक, बुद्धि आदि सद्गुणों का धनी है। सचेतन होते ही अन्य प्राणियों के साथ अपने व्यसनगत व्यवहार पर वह पछताता है और उसे फिर से सदय एवं सम बनाने के लिए उसकी सारी शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सक्रिय हो जाती है। अभी हम उसकी उन्हीं शक्तियों एवं विशेषताओं के व्यसनगत दुष्प्रभाव पर विचार कर रहे हैं कि कैसे वे निष्क्रिय एवं सुशुप्त बन जाती हैं। मोटे तौर पर कोई भी दुर्व्यसन ऐसा मद होता है, जो व्यक्ति की चेतना को धीरे-धीरे निष्प्रभावी बना देता है तथा व्यक्ति की सारी वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ दुर्व्यसनों के डंडे से ही हांकी जाने लगती हैं। व्यक्ति बेबस हो जाता है।

इस संदर्भ में मद या मदिरा के इन दोषों को समझ लेना चाहिए। आचार्य हरिभद्र ने इन ***सोलह दोषों*** का विवेचन किया है-1. शरीर का विद्रूप होना, 2. शरीर का विविध रोगों का आश्रय स्थल बन

जाना, 3. परिवार से तिरस्कृत होना, 4. समय पर कार्य करने की क्षमता का न रहना, 5. अन्तर्मानस का द्वेष से भर जाना, 6. ज्ञानतंतुओं का धुंधला हो जाना, 7. स्मृति का लोप हो जाना, 8. मति भ्रष्ट हो जाना, 9. सज्जनों के साथ सम्पर्क समाप्त हो जाना, 10. वाणी में कठोरता आना, 11. नीच कुलोत्पन्न व्यक्तियों के साथ सम्पर्क का गहरा हो जाना, 12. कुलहीनता के लक्षण पनपना, 13. शक्तियों का ह्रास होना, 14. धर्म, 15. अर्थ और 16. काम-तीनों का नाश होता है। ये दोष इस प्रकार व्यसनी व्यक्ति को अध:पतन की ओर ही धकेलते हैं।

महाकवि कालीदास ने एक मदिरा बेचने वाले से पूछा-तुम्हारे पात्र में क्या है? मदिरा बेचने वाला भी दार्शनिक तबियत का व्यक्ति था, सो दार्शनिक शब्दावली में ही बोला-मेरे प्रस्तुत पात्र में और कुछ नहीं, केवल दुर्गुण ही दुर्गुण हैं जो तरल दशा में है कि जो भी पिए उसके भीतर वे प्रवेश कर जाएँ। सच है कि जितने भी दुर्गुण हैं, वे सभी मद के साथ हो जाते हैं। जहाँ दुर्गुणों की चांडाल चौकड़ी जमती है, वहां अध:पतन के सिवाय अन्य कौनसी दशा प्राप्त होगी? महात्मा गांधी का कथन है-मैं मदिरापान को तस्करकृत्य और वैश्यावृत्ति से भी अधिक निन्दनीय मानता हूँ, क्योंकि इन दोनों कुकृत्यों को पैदा करने वाला मद्यपान ही है। आचार्य मनु ने मदिरा को अन्न का मल कहा है। मल को पाप भी कहा है। मल मूत्र जैसे अभक्ष्य पदार्थ हैं, वैसे ही मदिरा भी है। सुरा पान प्रत्येक दृष्टि से निन्दनीय है क्योंकि सुरा सुर को भी असुर बना देती है तो मनुष्य की बिसात ही क्या? मदिरा पान से सामाजिक जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है।

चारित्रिक अध:पतन का आरंभ इसी मदोन्मत्तता या कि मदिरा पान से होता है। ऐसा कोई दुर्गुण या अपराध नहीं है, जो मदिरा पान से उत्पन्न न होता हो। इस आधुनिक युग में जब सभ्य कहलाने वाले व्यक्ति मदिरापान करते हैं तब उनकी सारी सभ्यता छूमन्तर हो जाती है और वे पागल बन कर एक दूसरे के साथ अमानवीय व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति हो जो किसी भी परिस्थिति में धर्म से विमुख नहीं हो सकता, कर्त्तव्य से च्युत नहीं हो सकता या कि नीति का परित्याग नहीं कर सकता, उसे भी यदि मदिरा पिला दी जाए तो वह धर्म, कर्त्तव्य, नीति सब को भुला देगा। ऐसा कोई अकार्य नहीं जिसे मदिरा पीने वाला न कर सके। एक शब्द में कहें तो चारित्रिक अध:पतन की माँ यह मदिरा है और सारे व्यसन उसी के चेले चपाटे हैं।

दुर्व्यसनों का पल्ला पकड़ा कि जीवन कष्टों में जकड़ा :

कोई भी दुर्व्यसन किसी के जीवन में इस तरह प्रवेश करता है कि उसके घुस आने की आहट तक नहीं होती। समझें कि एक निर्व्यसन युवक अपने एक मित्र के यहाँ गया। वहाँ मित्र मंडली बैठी हुई थी और विनोद की बातें चल रही थी। उस मंडली में एक व्यक्ति ऐसा था जो ड्रग्ज, (नशीली पुड़िया) लेता था। बातों ही बातों में उसने एक पुड़िया निर्व्यसन युवक को खिला दी। पहली खुराक थी, उसे अच्छी लगी-जैसे मन में खुशी की लहरें उठ रही हों और सारा शरीर हवा में उड़ रहा हो। एक अजीब-सा अनुभव था। फिर तो वह पुड़िया वाला व्यक्ति सब समझ गया। उसने निर्व्यसन व्यक्ति के चरित्र पर अनजाने में हमले शुरू कर दिए। थोड़े ही समय में उसने उसे उस स्टेज तक पहुँचा दिया, जब समय पर पुड़िया न मिले तो जैसे उस की नसें तड़कने लगती और वह बेचैन हो

जाता। वह ड्रग्ज का आदी हो गया। नशा लेना उसकी आदत बन गई, ऐसी आदत जो रोके भी रुकती नहीं थी। निर्व्यसनी पक्का व्यसनी हो गया। यह एक त्रासदी से कम नहीं कि जिसने किसी भी दुर्व्यसन का पल्ला पकड़ा तो तयशुदा है कि उसका जीवन कष्टों में जकड़ा।

हकीकत में कोई भी आदत किसी व्यसन का रूप तभी लेती है, जब व्यक्ति उस में आकंठ डूब जाता है-लिप्त हो जाता है। लिप्तता ऐसी गहरी कि उस व्यसन की खुराक पाए बिना तीव्र बेचैनी खत्म नहीं होती। ऐसी दशा दुर्दशा बन जाती है। वह ऐसी भयंकर हो जाती है कि व्यसनी को परिवार या समाज की लाज तो लगती ही नहीं, लेकिन अपने तन-मन का विनाश भी उसे समझ में नहीं आता। उसका उत्साह डूब जाता है, साहस समाप्त हो जाता है और आत्म-विश्वास अस्त हो जाता है। हताश होकर वह सुख के लिए सब ओर घूमता है, किन्तु सुख उसे कहीं मिलता नहीं। आखिरकार वह अपने व्यसन में ही डूब कर सब कुछ भुला देना चाहता है। धीरे-धीरे उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है और तब उसके अधःपतन को कोई रोक नहीं पाता, वह स्वयं तो बेजान पत्थर की तरह घाटी की ढलान पर नीचे से नीचे लुढ़कता ही चला जाता है। उसके जीवनान्त का कुछ ऐसा ही दारुण दृश्य बनता है।

जब तक उसके मन-मानस पर कोई तेज झटका न लगे, उसके पुनर्चेतन की आशा क्षीण ही होती है। ऐसी किसी मार्मिक आघात के बाद ही उसका हृदय यदि आंदोलित होता है तो वह सोच पाता है कि कोई भी व्यसन हेय एवं त्याज्य इसी कारण कहा जाता है कि उससे शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय हानि ही होती है-सिर्फ हानियाँ और हानियाँ, किसी भी तरह के लाभ का तो लेशमात्र भी नहीं। जुए से धन का नाश और मानसिक चिंता-मांसाहार और मद्यपान से सभी सद्गुणों का नाश एवं कोई व्यसन ऐसा नहीं जिससे घोर अनैतिकता न उपजती हो। सुखी और शांत जीवन तो जैसे आकाश कुसुम हो जाता है। तब से सात्विकता का मोल मालूम होता है, शांति की कामना जागती है और प्रतिष्ठा का ख्याल आता है। उसी बिन्दु से वह जागता है, व्यसनों की जकड़ को तोड़ता है और तेज व ताकतवर कदमों से ऊपर चढ़ने का क्रम बनाता है।

वि+असन = विकृत आहार कराता व्याधियों में विहार :

व्यसन (वि+असन) का दूसरा नाम ही विकृत आहार है। कहा है कि आहार बिगड़ता है तो विहार बिगड़ता है तथा आहार-विहार बिगड़ा तो समझें कि इस जीवन का सब कुछ '**अच्छा**' बिगड़ जाता है। विकृत आहार में मांसाहार सबसे ऊपर आता है। यह जो धारणा है कि मांसाहार अधिक ऊर्जाप्रद तथा पौष्टिक होता है, निरे भ्रम के अलावा कुछ भी नहीं। '**मांसाहार: सौ तथ्य**' के नाम से डॉ. नेमीचंद द्वारा लिखित एक पुस्तिका प्रकाशित हुई है, जिस में सौ तथ्य के रूप में मांसाहार की हेयता पर विस्तार से विवेचन किया गया है। उसमें उल्लिखित कुछ प्रमुख तथ्यों को यहाँ इस उद्देश्य से दे रहे हैं कि मांसाहार की असलियत सामने आवे और शाकाहार के प्रति प्रतिबद्धता का अधिकतम विस्तार हो सके।

कुछ तथ्य इस प्रकार हैं :-

1. व्याधियों की उत्पत्ति - मांसाहार से लकवा, पथरी, कैंसर, अल्सर, डायबिटीज, गालब्लेडर, स्टोन, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, मोटापा, दमा जैसे घातक रोग होते हैं तथा इस आहार के साथ जलाभाव की समस्या लगी रहती है। मांस में कार्बोहाइड्रेट्स नहीं होते और इस कारण आंतों की तरह-तरह की बीमारियाँ पैदा होती हैं। इसमें विटामिन 'सी' भी नहीं होता, जिससे एंटी-टोक्सिन का रसायन नहीं बन पाता। इससे शरीर तरह-तरह के विषैले तत्त्वों के असर में आता रहता है। मांस में कोलेस्ट्रोल की मात्रा ज्यादा होती है जो हृदय रोग, चर्मरोग, पथरी आदि को उभारती है। मांस में प्रोटीन का अतिरेक होता है जिसकी वजह से अस्थियों का बिखराव (ऑस्टिओपोरोसिस) का रोग घेर लेता है। कारण, अधिक प्रोटीन से कैल्शियम की हानि होती है। मांसाहार से होने वाले रोगों का विवरण बहुत विस्तृत है।

2. पशुओं और उपजाऊ भूमि का विनाश - मांसाहार के कारण पशुओं का लगातार विनाश होता रहता है तथा इससे उपजाऊ जमीन भी बंजर होती रहती है। पशु संवर्धन के अभाव में दुनिया भर की जमीन की 85 प्रतिशत ऊपरी सतह नष्ट हो गई है। वाशिंगटन स्थित संस्था **'वर्ल्डवाच इंस्टीट्यूट'** ने चेतावनी दी है कि यदि मांसाहार तेजी से नहीं घटाया गया तो विश्व को बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा।

3. मांसाहार में कैलोरियों की कमी - विज्ञान का निष्कर्ष है कि 100 ग्राम मांस में अधिकतम 194 कैलोरियाँ ही मिलती हैं, जबकि 100 ग्राम गेहूँ के आटे में 353, तूअर दाल में 353, सोयाबीन में 432, मूंगफली में 564 तथा नारियल में 444 कैलोरियाँ मिलती हैं।

4. हड्डियों की क्षति का अंतर - शाकाहारी पुरुष व स्त्री में जहाँ हड्डियों की क्षति 3 व 18 प्रतिशत होती है, वहीं मांसाहारी में क्रमशः यह 7 व 35 प्रतिशत पाई जाती है। सामिषभोजी स्त्री 65 वर्ष की आयु तक अपनी हड्डियों का एक तिहाई भाग खो देती है, जबकि शाकाहारी की हड्डियाँ क्षतिग्रस्त होती है तो जल्दी जुड भी जाती है।

5. बूचड़खाने में पशु का मांस जहरीला हो जाता है - पशुओं को बूचड़खाने की स्थिति का जब आभास होता है तो भीषण क्रोधावेश में वे मारे जाते हैं और इस तरह उनका मांस जहरीला हो जाता है। उस मांस को खाने से मांसाहारी की ऐंठन, सन्निपात, मिर्गी और आकस्मिक मृत्यु जैसी स्थिति होती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के बुलेटिन सं. 637 के अनुसार मनुष्य के शरीर में लगभग 160 रोग मांस खाने से होते हैं। चार बड़ी बीमारियाँ होती हैं-डायरेक्ट जुनोसिस, साइक्लोजुनोसिस, मेटाजुनोसिस तथा सेपरोजूनोसिस। इनसे प्लेग, लीवर, फ्लू आदि बीमारियाँ होती हैं।

6. अहिंसक संस्कृति से कोई तालमेल नहीं - भारत की अहिंसक संस्कृति के साथ तो मांसाहार का कोई तालमेल नहीं है। जहाँ जीव रक्षा का भाव सर्वोपरि है, वहाँ प्राणहरण एवं मांसभक्षण को त्याज्य दृष्टि से ही देखा जाता है। भारत के सभी महापुरुष शुद्ध शाकाहारी रहे हैं तथा शाकाहार की श्रेष्ठता ही उन्होंने उद्घोषित की है। आहार के यहाँ तीन प्रकार कहे गए हैं-1. सात्विक, 2. राजसिक, 3. तामसिक और तामसिक आहार योग व आध्यात्मिक साधना में बाधक माना गया है।

7. आहार की विषाक्तता का कारण - आहार की विषाक्तता (**फूड़पाइजनिंग**) की 70 प्रतिशत घटनाओं का जिम्मेदार मांसाहार है। फ्रोजन चिकन का विषाक्त असर होता है और बर्ड फ्लू फैलता है। फ्रिज में मांस के पदार्थ रखने से संदूषण का खतरा बढ़ता है। विख्यात वैज्ञानिक डॉ. थॉम्पसन का कहना है कि शरीर विज्ञान के अनुसार मनुष्य को शाकाहारी ही होना चाहिए।

यह विज्ञान सम्मत निष्कर्ष है कि अंडा मांसाहार है :

अंडा मांसाहार है-अब यह विज्ञान सम्मत निष्कर्ष निकाला जा चुका है। अब अंडे को शाकाहार बताने की बात गलत साबित हो चुकी है। अंडे का जनन बिम्ब जीव युक्त होता है और अंडो चाहे फर्टिलाइज्ड हो या इन्फर्टाइल-उसमें जीवनांश होता है। श्वासोश्वास जीवन की निशानी है और जब भी यह अवरुद्ध होता है, अंडा सड़ जाता है। वैज्ञानिक तमाम अंडों में जीव मानते हैं। वास्तव में अंडा गर्भरस है, अत: उसे शाकाहार में गिनना-गिनाना बहुत बड़ा धोखा है। अंडा हकीकत में पोषण शून्य होता है। उसे प्रोटीन, खनिज या विटामिन से भरपूर बताना एकदम गलत है। अंडे का 30 प्रतिशत हिस्सा जर्दी, 60 प्रतिशत हिस्सा सफेदी और 10 प्रतिशत हिस्सा खोल का बना होता है। शर्करा तत्त्व इसमें बिलकुल नहीं होता, जो शक्ति का स्त्रोत है। अंडे में प्रतिरोधक शक्ति देने वाला विटामिन सी भी बिलकुल नहीं होता। अंडे के संबंध में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि की गलत धारणाएँ फैलाई गई, जो अब स्पष्ट कर दी गई हैं। 100 ग्राम अंडे में सिर्फ 137 कैलोरी ऊष्मा ही मिलती है, जबकि 100 ग्राम मूंगफली से 549 कैलोरी ऊष्मा मिलती है। उबला अंडा तो एकदम अर्थविहीन आहार बन जाता है। सबसे ऊपर धार्मिक दृष्टिकोण तो सदा से स्पष्ट रहा है कि अंडा जीवधारी की प्रारंभिक अवस्था के रूप में जीव है और यह मांसाहार ही है।

शराब कितनी खराब-कोई हद नहीं और नशा बिगाड़ता दशा :

प्रचलित पाश्चात्य अपसंस्कृति के कुप्रभाव से मदिरापान का प्रचलन बहुत बढ़ा है। कोई 30 प्रतिशत आबादी शराब के व्यसन में डूबी हुई है। पुरुषों के अलावा स्त्री समाज में भी शराब का चलन बढ़ा है। विडम्बना तो यह है कि किशोरवय के लड़के-लड़कियों में चुपके-चुपके शराब पीने वालों का अनुपात बढ़ता जा रहा है और उसके जरिए अपराधवृत्ति भी बढ़ रही है। साथ ही अन्य नशीले पदार्थों जैसे ब्राऊन शुगर आदि का उपयोग भी बढ़ रहा है। इस नशेबाजी का बुरा असर गर्भस्थ शिशुओं पर पड़ता है और उससे बाल मृत्यु दर बढ़ी है तथा बाल रोग फैल रहे हैं।

नशे की लत फैलने में अज्ञान तो मुख्य कारण है ही, किन्तु आज के जीवन की जटिलता से उपजी परिस्थितियाँ भी सहायक कारण हैं। इनमें हैं-आधुनिकता का आग्रह, ऊब का निराकरण, तनाव मुक्ति की झूठी आशा, विलासिता का दिखावा, अनुकरण की प्रवृत्ति, सहज जिज्ञासा, कुसंगति आदि। ऊँची सोसायटी की निशानी नशेबाजी बना दी गई है। पियक्कड़ी की शुरुआत इसी तरह होती है कि एक-दो घूंट पी लेने से क्या बिगड़ता है? फिर बेजान बन जाने को मस्ती का कारण मान लिया जाता है।

कोई शराब या नशे की आदत तुरन्त ही नहीं पकड़ लेता है। एक-दो घूंट पीते-पीते वह धीरे-

धीरे बोतलों तक पहुँच जाता है और शराब की प्यास बढ़ती ही जाती है। एक किशोर जिज्ञासावश शराब चखता है और फिर शराब उसे जीवन भर मजा चखाती रहती है। एक-एक कदम खिसकते हुए ही नशेड़ी अध:पतन के खड्डे में गिरता है। नई पीढ़ी के लड़के-लड़कियों को यह सिद्धांत बहुत लुभाता है कि खाओ, पीओ और मजे करो-**'ईट, ड्रिंक एंड बी मेरी'**। मदिरापान की लत ने आज महामारी का रूप ले लिया है और उससे कितने गरीब और ग्रामीण परिवार उजड़ रहे हैं-वह एक चिंताजनक स्थिति है। यह अधिक चिंताजनक है कि स्वतंत्र भारत की अपनी सरकारें भी राजस्व कमाने के लोभ के कारण शराब का चलन बुरी तरह से बढ़ा रही है। शराबबंदी को लक्ष्य मानते हुए भी इस ओर शासन को कोई ध्यान नहीं है।

एक कहावत है कि पहले जाम में आदमी शराब को पीता है, दूसरे जाम में शराब शराब को पीती है किन्तु तीसरे जाम में शराब ही आदमी को पी जाती है। आज अध:पतन की यही दुर्दशा चारों ओर दिखाई दे रही है, जिसे मंद आत्मघात की दशा कह सकते हैं। इससे साफ हो जाता है कि शराब इतनी खराब है जिसकी कोई हद नहीं और नशा बुरी तरह दशा बिगाड़ रहा है।

तम्बाकू के पुराने-नए उत्पाद कर रहे जिन्दगियाँ बरबाद :

कहा जाता है **'जर्दा बड़ा बेदर्दा'**, क्योंकि जर्दा सेवन मृत्यु के पूर्व ही नारकीय यातनाओं का द्वार खोल देता है। धूम्रपान और जर्दा सेवन तो सर्व प्रचलित व्यसन हो गया है-गुटखा छैनी तो जैसे हरेक अपने मुंह में डाले शान दिशाता फिरता है। केवल गुटखा के तरह-तरह के मसाला पाऊचों का करोड़ों का व्यापार होता है। जर्दा सेवन करने वाले लोगों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। शहरों की बात छोड़ें, ग्रामीण क्षेत्रों में दस वर्ष से अधिक आयु के 75 प्रतिशत बच्चे 40 प्रतिशत महिलाएँ तक या तो धूम्रपान करती हैं या और गुटखा-जर्दा चबाती हैं। धूम्रपान में बीड़ी का चलन तो गांव-गांव, घर-घर में मिलेगा, बाकी सिगरेट का धुआं छोड़ना फैशन है और बड़े कहलाने वाले लोग चुरूट भी पीते हैं। धूम्रपान फेफड़ों को शराब करता है और टीबी लाता है। इससे होने वाली अकाल मौतें अनेक घर उजाड़ देती हैं।

आश्चर्य का तथ्य यह है कि जब तक कोई दस तक की गिनती गिने उतनी सी देर में देश के पांच व्यक्ति जर्दा-धूम्रपान के कारण मौत के शिकार हो जाते हैं। कैंसर से मरने वाले लोगों में 10 प्रतिशत तम्बाकू के व्यसनी होते हैं और हार्ट फैल के आधे रोगी भी तम्बाकू सेवी होते हैं। इस धूम्रपान की एक खास बुराई यह है कि धूम्रपान करने वाला तो अपनी प्राणहानि करता ही है किन्तु वे निर्दोष लोग भी धीमे जहर के शिकार बन जाते हैं जो तम्बाकू के धुएँ का असर खा जाते हैं। वे तो **'करे कोई और भरे कोई'** के चक्कर में आते हैं। धूम्रपान से चारों ओर का वातावरण विषाक्त बन जाता है। सार्वजनिक वाहनों में इसी कारण लिखा रहता है कि यहाँ धूम्रपान न करें, किन्तु उसकी पालना कहाँ होती है?

हकीकत यही है कि तम्बाकू के पुराने-नए सभी उत्पाद करोड़ों की जिन्दगियाँ बर्बाद कर रहे हैं। इस व्यसन से आर्थिक हानि बेहिसाब हो रही है। देश की अरबों रुपयों की राशि इस शौक के पीछे

फूंक दी जाती है। तम्बाकू के किसी भी उत्पाद का व्यसनी एक दिन में कम से कम 10 रु. भी प्रतिदिन बर्बाद करता है तो वर्ष भर में अपनी कितनी मेहनत की कमाई इसमें बर्बाद कर देता है। शरीर की हानि, धन की हानि तो सामने दिखती है, मगर संस्कारों की हानि कितनी लम्बी हानि पहुँचाती है-उसे अधिक लोग समझते ही नहीं हैं। तम्बाकू में जो निकोटीन तत्त्व होता है, वह कुछ देर के लिए दिमाग को आराम पहुँचाता है, मगर भयावह रोगों को पैदा करता है। यह थोड़ा सा आराम परिवारों को चौपट कर रहा है, समाज को तोड़ रहा है और व्यक्ति स्वयं तो टूटता ही है।

चारित्रिक अधःपतन की नीचाई में क्यों नहीं दिख रही सच्चाई?

दुर्व्यसनों के चक्रव्यूह में देश के अधिसंख्य लोग और खास करके युवक और युवतियाँ इतनी बुरी तरह से फंसे हैं कि वे निरन्तर अधःपतन की नीचाई में लुढ़कते ही जा रहे हैं, फिर भी आश्चर्य है कि अपनी ही जिन्दगी की बर्बादी की सच्चाई उन्हें नहीं दिखाई दे रही है। मूलतः यह मानव चरित्र का अधःपतन है।

वास्तव में व्यसन बिना बोए हुए ऐसे विष वृक्ष हैं, जो मानवीय गुणों को विकृत बना कर घातक दुर्गुणों में बदल देते हैं। वे विष वृक्ष जिस जीवन भूमि पर उग आते हैं, वे बराबर बढ़ते और बड़े होते रहते हैं तब तक जब तक जीवन का सारा रस चूस कर उसे मृत्यु में नहीं बदल देते। विष वृक्ष के तले सदाचार का कोई पौधा नहीं पनपता। जीवन में ज्यों-ज्यों दुर्व्यसनों का जहर फैलता जाता है, त्यों-त्यों सारी सात्विकता नष्ट हो जाती है तथा राक्षसी क्रूरता सबको आहत करती है। व्यसनी व्यक्तियों का जीवन एकदम नीरस हो जाता है, पारिवारिक जीवन रोज-रोज के झगड़ों से क्लेशमय बन जाता है तो समाज में व्यसनी की कोई इज्जत नहीं करता। एक व्यसनी व्यक्ति का जीना मरने से भी अधिक कष्टदायक हो जाता है।

कहा जाता है कि व्यक्ति मरता नहीं, वही स्वयं को मारता है और एक व्यसनी व्यक्ति के लिए यह कहावत सोलहों आने सच है। इस कहावत को उलट दें अगर एक व्यसनी व्यक्ति तो कहावत बन जाएगी कि व्यक्ति जीवित ही नहीं रहता, वह अपने जीवन को स्वयं जीवंत बना सकता है। ऐसा तभी घटित हो सकता है जब व्यसनी व्यक्ति अपने चारित्रिक अधःपतन को महसूस कर ले और उससे उबरने के लिए तत्पर बन जावे। सच्चाई समझ लेने के बाद ही ऐसा बदलाव आ सकता है। व्यसनी व्यक्ति निश्चय कर ले तो अपने सारे व्यसन छोड़ कर अपने जीवन को विकास की ओर मोड़ सकता है। वह अपने अकाल मरण को सुरक्षित कर सकता है और अपने निष्क्रिय जीवन में क्रियाशीलता का प्राण-संचार फैला सकता है। जीवन के रूपांतर की क्रिया कठिन संकल्प पर ही सफल हो सकती है।

चरित्र निर्माण अभियान में यह व्यसन मुक्ति का मोर्चा बहुत रचनात्मक सिद्ध हो सकता है क्योंकि व्यसनों को त्यागे बिना चरित्र को निर्माण की पटरी पर लाया ही नहीं जा सकता है। यह सही है कि दुर्व्यसनों की ताकत बहुत तगड़ी होती है, जो व्यक्ति एक बार त्याग का संकल्प लेकर भी उस पर खरा नहीं उतरता है। व्यसन मुक्ति के लिए एक व्यक्ति को निरन्तर देखरेख में रखना होगा तथा

उसके कमजोर पड़ते संकल्प को बार-बार सहारा देकर सफल बनाना होगा। व्यसन मुक्ति के संकल्प-काल में सभी दिशाओं में व्यसनी व्यक्ति को प्रेरणा और सहायता मिलती रहनी चाहिए, तभी उसका पूरा सुधार शक्य बनता है। व्यसनी को निर्व्यसनी बनाने के लिए चरित्र निर्माण अभियान के कर्मियों को अपना व्यवहार सद्भाव तथा सहानुभूति से भरा-पूरा रखना चाहिए। उसमें घृणा या अरूचि का अंश न रहे। इसे एक नैतिक व सामाजिक धर्म मानना चाहिए। घर-घर जाकर अलख जगानी होगी और उपलब्ध प्रचार साधनों का श्रेष्ठ उपयोग करना होगा। निर्व्यसन जीवन चरित्र निर्माण तथा विकास की आधारभूमि है-यह सत्य सामने रखना होगा।

पुनर्चेतन

पुनर्चेतन के बीज बोने होंगे व्यसनी जीवन की भाव भूमि में :

व्यसनी जीवन का सत्य नष्ट होता रहता है, किन्तु यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है और उसके बीच में कई मुकाम ऐसे होते हैं, जिन पर रचनात्मक उपाय काम में लिए जाएं तो व्यसनी के सोए हुए चैतन्य को पुनर्चेतन किया जा सकता है। चरित्र निर्माण अभियान में इसी पुनर्चेतन कार्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। व्यसनी जीवन की भाव भूमि सर्वथा बंजर नहीं हो जाती है और उसी भूमि पर सद्भाव एवं सहानुभूतिपूर्वक पुनर्चेतन के बीज बोने होंगे और उसके अंकुरण एवं पल्लवन पर इतना अधिक ध्यान देना होगा कि वे वृक्ष का रूप धर कर उस व्यसनी जीवन के सारे विष को पी जावें, जैसे कि सामान्य वृक्ष वातावरण के विषैलेपन को पी जाते हैं तथा प्राणवायु का अमृत बिखेरते हैं। पुनर्चेतन होकर वह व्यसनी जीवन इस प्रकार की अमृतमयता में परिवर्तित हो सकता है।

चरित्र निर्माण अभियान के व्यसन-मुक्ति कार्यक्रम का यह नारा बनना और कार्यान्वित होना चाहिए-'**व्यसनों को छोड़ें, जीवन को सुखों की ओर मोड़े।**' देश की अनेक समस्याओं में आज की विकट समस्या है चरित्र निर्माण की, क्योंकि चरित्रशीलता के अभाव में ही सब ओर भ्रष्टाचारिता, कर्त्तव्यहीनता तथा स्वार्थपरता का वातावरण छाया हुआ है और इसी वातावरण का विषैला भाग है लोगों की व्यसनाधीनता। इसलिए व्यसनमुक्ति की प्राथमिकता सर्वोच्च मानी जानी चाहिए। जब तक व्यसन नहीं छूटेंगे, चरित्र निर्माण की सफलता संदिग्ध ही रहेगी और आगे की बात सब जानते हैं कि चरित्र नहीं सुधरेगा तो जीवन का कोई भी क्षेत्र सुधर नहीं सकता है। व्यक्ति से लेकर विश्व तक की उन्नति चरित्र-निर्माण एवं विकास पर निर्भर करती है। अत: निर्व्यसन जीवन की महत्ता को सब स्वीकारें और व्यसनमुक्ति को आंदोलन का रूप दें।

तम्बाकू-अफीम की खेती ही हो बंद, जिससे मिटे करोड़ों के दुःख द्वन्द :

अनेक तरह के नशीले पदार्थ बनाए जाते हैं तम्बाकू और अफीम से और ये दोनों खेती की उपज हैं। एक ओर जहाँ नशेड़ियों का नशा छुड़ाने की कोशिशें की जाए, वहाँ यह मांग भी जोरों से उठाई जानी चाहिए कि तम्बाकू और अफीम की खेती ही कानूनन बंद करवा दी जाए ताकि '**न रहे बांस और न बजे बांसुरी**'। यह ठीक है कि किन्हीं ऐलोपेथी की दवाओं में अफीम का उपयोग होता है,

किन्तु वह अल्कोहल भी रोग निवारण नहीं करता, कोरी सुन्नता पैदा करता है। तम्बाकू और अफीम की खेती बंद करने की बात किसानों से तो मनवाई जा सकती है लेकिन व्यवसायियों को इसके पक्ष में लाना आसान नहीं है, क्योंकि तम्बाकू व अफीम के उत्पादों से अरबों-खरबों की कमाई की जाती है। व्यवसायी यदि इस तथ्य की चिंता करें कि इनसे करोड़ों जिन्दगियाँ तबाह हो रही हैं तो बात बन सकती है। ऐसे जहर को उगाना ही बंद कर दिया जाए तो समस्या का सदा के लिए सुखदायक समाधान हो सकता है।

सामान्य रूप से तम्बाकू (बीडी, सिगरेट, चुरुट, गुटखा, मसाला, छैनी आदि तथा अफीम, मारफीन ब्राऊन शुगर, ड्रग्ज आदि) से फैलने वाले व्यसनों से व्यक्तियों को मुक्त करने के विभिन्न उपायों पर गंभीर विचार किया जाना चाहिए तथा एक आंदोलन के रूप में उन उपायों को प्रचारित किया जाना चाहिए ताकि व्यसनों में डूबे व्यक्तियों को पुनर्चेतन किया जा सके। इस पुनर्चेतना के लिए इस प्रकार के विचार जगाए जाने चाहिए-

1. तलब नकारें, भला विचारें - जब भी तम्बाकू व अफीम के उत्पादों की तलब लगे तो मजबूत इरादे से उसे नकार दें और विचार करें कि अपना, अपने परिवार तथा अपने संघ- समाज का भला किसमें है-नशा लेते रहने में या नशे को पूरी तरह से छोड़कर दशा सुधार लेने में?

2. ले लें संकल्प, न रखें विकल्प - जब एक बार नशा-परित्याग का संकल्प ले लें तो मजबूती रखें-न उसमें गली निकालें और न मन को चंचल बनावें। सोचें कि यह परीक्षा की बात है और किसी भी परीक्षा में विफल रह जाने से इज्जत मिटती ही है।

3. कामकाज में रहें व्यस्त, लम्बे-लम्बे सांस लें, बनें मस्त - अपने आपको किसी न किसी उपयोगी कामकाज में व्यस्त रखें ताकि तलब जोर न पकड़ सके। साथ में मुँह में सौंफ-इलायची रखें तो उस सुगंध से तलब दब जाएगी। खासतौर पर तलब के वक्त लम्बे सांस लेकर मस्त रहें और सोचें कि चाहे कुछ भी हो जाए, मैं छोड़े हुए व्यसन को वापिस गले नहीं लगाऊँगा।

त्याग दें जो मदिरा का पान, जीवन में सूर्य उगे, हो स्वर्ण विहान :

मदिरापान का मद गहन अंधकार के समान है, जब जीवन का सारा तत्त्व और सत्य दृष्टिहीन हो जाता है, अत: यदि मदिरापान त्याग दिया जाए तो निश्चय ही उस जीवन में विकास का सूर्य उदित हो जाएगा और स्वर्ण विहान में आत्मोन्नति का पथ प्रकाशित बन जाएगा। व्यसन को छोड़ देने से जीवन के अनेक सुखों को सहज ही में प्राप्त कर सकते हैं।

यह मदिरा पान एक आसुरी वृत्ति है, जो वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी दूषित, कलुषित, विकृत एवं पीड़ित बना देती है। इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि महाभारत कालमें कौरवों और द्वारिका के यादवों का विनाश क्यों हुआ तथा क्यों मुगलों ने अपना साम्राज्य गंवाया? मद्यपान सर्वनाश के सिवाय और कुछ नहीं करता। वर्तमान वातावरण में मदिरा के भीषण दुष्प्रभावों को भलीभांति देखा जा सकता है। कुल अपराधों (**बलात्कार, लूट-पाट, हत्या, डकैती आदि**) का 60 प्रतिशत मदिरा पान के कारण घटित होता है। इस व्यसन से नैतिकता और धार्मिकता का कितना नाश हो रहा

है-इसका तो आकलन ही कठिन है।

व्यसनी व्यक्ति के भावना पक्ष को जगाकर ही उसे व्यसन मुक्त किया जा सकता है। मदिरापान के विकराल रूप को देखते हुए महात्मा गांधी के इस कथन का व्यसन मुक्ति के कार्यक्रम में उपयोग किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा था-'**मैं भारत का दरिद्र हो जाना पसन्द करूंगा, लेकिन यह कभी बर्दाश्त नहीं करूंगा कि हमारे हजारों लोग (जबकि आज तो करोड़ों हो गए हैं) शराबी हो जाएं। अगर भारत में शराबबंदी जारी करने के लिए, शिक्षा को भी बंद करनी पड़े तब भी कोई परवाह नहीं। मैं भारी से भारी कीमत चुका कर भी शराबखोरी बंद कराना चाहूंगा।**' इस कथन से पहले तो अपने आपको महात्मा गांधी की अनुयायी मानने वाली पर्टियों और सरकारों को सबक लेना चाहिए कि तुरन्त शराबबंदी कर दी जाए। जनता को भी शराबबंदी के लिए आंदोलन करना चाहिए। चरित्र निर्माण अभियान में मदिरा व्यसन मुक्ति पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

वैसे व्यक्तिगत स्तर पर ध्यान, जाप, समीक्षण आदि का अभ्यास आरंभ कराया जाए और बाद में इन आयोजनों को सामूहिक स्वरूप प्रदान किया जाए तो निर्व्यसनी भावना बलवती बनेगी। मदिरा की घातकता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसके संपूर्ण परित्याग की प्रेरणा जगाई जाए।

वास्तविकता तो यह है कि उस मदिरा व्यसन के त्याग में वह प्रत्येक प्रयत्न सार्थक रहेगा, जो व्यसनी के त्याग के विचार को पक्का करे, उसके आत्मविश्वास को बढ़ावें एवं उसके हृदय में परिवर्तन की लहर जगावे। सद्भावना का प्रभाव आचरण परिवर्तन में अवश्य दिखाई देगा। प्रवचनों, उपदेशों, विचारगोष्ठियों आदि का भी अच्छा असर पड़ेगा।

शाकाहार से बने जीवन सात्विक, तब विचार भी होवें तात्विक :

व्यसन शब्द ही विकृत आहार का प्रतीक है, अत: आहार शुद्धि से ही व्यसनों का मूलोच्छेद किया जा सकता है। आहार तामसिक न रहे और सात्विक बन जावे तो सभी व्यसनों की समस्या पूरी तरह से समाप्त की जा सकती है। आहार की सात्विकता शाकाहार से बढ़कर किसी में भी नहीं है। शरीर शास्त्रियों और वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव शरीर की जैसी संरचना है उसके लिए एकमात्र शाकाहार ही उपयुक्त है, मांसाहार तो कतई नहीं। मनुष्य की दैहिक रचना शाकाहारी वर्ग की है। प्रकृति ने मनुष्य को शाकाहारी रूप में ही रचा है। शाकाहार ही सभी दृष्टियों से मानवीय आहार है। यह शाकाहार सात्विक है, प्राकृतिक है, परिपूर्ण है, मानवानुकूल है, आरोग्यपूर्ण है, नैतिक है तथा अध्यात्म सहायक है। जब जीवन सात्विक बनता है तभी मनुष्य के विचार तात्विक बन सकते हैं तथा आत्मोन्नयन के द्वार खुल सकते हैं। सात्विकता से ही धार्मिकता का विकास होता है। यह नि:संकोच रीति से स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य शाकाहार के लिए हैं तथा शाकाहार मनुष्य के लिए है।

आहार के सारे प्रयोजन शाकाहार से सिद्ध होते हैं। शाकाहार शुद्ध और उपयुक्त है जबकि मांसाहार अशुद्ध और अनुपयुक्त ही नहीं, तन-मन के लिए भीषण हानिकारक भी है और हिंसा जनित भी। आहार ही पहली भूमिका तन के लिए है कि 1. वह गर्भस्थ शिशु को पोषण देकर उसे

युवा रूप में स्वस्थ रूप से विकसित करे। 2. कोषाणुओं की यथावय वृद्धि होती रहे। 3. अपेक्षित ताप और ऊर्जा शरीर को मिले। 4. शरीरगत रासायनिक क्रियाएँ क्षतिग्रस्त न हों। 5. शरीर श्रमशील भी हो और शक्तिशाली भी। 6. रक्त में अम्लीय व क्षारीय तत्त्वों का समुचित अनुपात बना रहे। 7. सात्विक आहार का श्रेष्ठ फल यह है कि मानव शरीर धर्म साधना का सहायक बने। इसी दृष्टिकोण से आहार की शुद्धाशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है।

आहार की महत्ता शारीरिक विकास तथा स्वास्थ्य तक ही सीमित नहीं है, उसका प्रभाव मानव को मानवीय मूल्यों से युक्त बनाने में प्रकट होना चाहिए। कहा है-'**जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन**'। इसका अभिप्राय यही है कि मानवता का सीधा संबंध भोजन से है-भोजन की सात्विकता से है, जो शाकाहार से ही प्राप्त हो सकती है। शाकाहारी व्यक्ति एवं जातियाँ शांत, स्नेहपूर्ण, अहिंसक और दयाशील होती है जबकि मांसाहारी हिंसक, क्रूर एवं आक्रामक। अत: शाकाहार सच्चरित्रता का कारणभूत भोजन है।

भान भूले और भयभीत मानव के लिए श्रद्धा पर लग जाता है प्रश्नचिह्न :

धर्माचरण की जड़ता मानव को भान भूला देती है और साम्प्रदायिक कट्टरता तब उसे इतना डरा देती है कि उसके द्वारा व्यक्त की जाने वाली श्रद्धा को क्या श्रद्धा का नाम भी दिया जा सकता है? उस श्रद्धा के आगे बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लग जाता है। ऐसी श्रद्धा का सबसे बड़ा कारण माना जाता है भय, जो परोक्ष रूप से संकीर्ण दायरों से फूटता रहता है। कट्टरता उसके मन-मानस को झिंझोड़ती रहती है और वह अपने में नायकों के समक्ष समर्थ अनुयायी नहीं, विवश कठपुतली के रूप में बदल जाता है। तब भय उसके भीतर मंडराता रहता है और सम्प्रदाय-संघर्ष चलते रहते हैं तथा वही सम्प्रदायों के तथाकथित धर्माचरण की खुराक बने रहते हैं।

जब श्रद्धा धूमिल और अंधी हो जाती है तो व्यक्ति का विवेक भी डूब-सा जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि उसका आत्मविश्वास डगमगा जाता है। उसकी निर्णायक बुद्धि कुंठित हो जाती है और वह किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाता है। ऐसी ही उसकी भान भूली दशा हो जाती है। यह दशा स्वबोध को क्षीण बना देती है। यह अनुभव तक समाप्त-सा हो जाता है कि हमारी आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं और हम अपने स्व को जगा कर चरित्र विकास के उन्नत पथ पर अग्रगामी हो सकते हैं।

धर्माचरण की रूढ़ता से उत्पन्न होने वाले ऐसे गंभीर परिणामों को अब अतीव गंभीरता से लेना चाहिए। धर्म और आचरण को जब जीवन से अलग कर दिया जाता है तब न तो सत्य को साथ में रखा जा सकता है और न ही गुणों की सम्पन्नता बचाई जा सकती है। आज यह निश्चय करने की वेला है कि हर कीमत पर सत्यनिष्ठा बनाई रखी जानी चाहिए क्योंकि इसी पर गुणों की अभिवृद्धि अथवा चरित्र का विकास निर्भर करता है। जब किसी का चरित्र विकास होता है तो उसकी प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता विस्तार पाती है और उसका धर्माचरण सत्यनिष्ठ बन जाता है। सत्य के प्रति समर्पण सदा ही क्षमता और महानता का आदर्श स्रोत बना रहता है।

रूढ़ता का उन्मूलन हो, निवारक एवं रचनात्मक उपायों से :

रूढ़ता उन्मूलन करने के लिए उसके कारणों पर प्रहार करना होगा। जैसा कि बताया जा चुका है कि मुख्य कारण है विवेक बुद्धि का कुंठित हो जाना। विवेक बुद्धि तभी कुंठित होती है अथवा की जा सकती है जब किसी को सम्यग् ज्ञान से विमुख कर दिया जाए और उसके धर्माचरण को अंधी गली में धकेल दिया जाए। इसका यह स्पष्ट अर्थ हुआ कि निवारक एवं रचनात्मक उपायों में सबसे पहले विचार क्रांति पर बल दिया जाए। पहले प्रबुद्ध वर्ग स्वयं इस क्रान्ति के महत्त्व का आकलन करे और तब सामान्य जन तक यह विचार फैलावे कि वे स्वयं आज की दुर्दशा को समझें, स्वार्थी और कट्टरवादियों के जाल को उखाड़ फैंके तथा जीवन, धर्म, आचरण और चरित्र की मौलिकता को आत्मसात् करें। विचार क्रान्ति की प्रक्रिया कुछ लंबी हो सकती है किन्तु स्थिर परिवर्तन इसके बिना संभव नहीं। फिर आज धर्म और सम्प्रदायों की जैसी तीखी जकड़ में सामान्य जन फंसा हुआ है, उसे वहां से मुक्त करने का आत्म-जागरण के अलावा अन्य क्या उपाय हो सकता है? सम्प्रदायों की विकृतियां तो है ही, किन्तु नामधारी धर्मों के प्रचलन में भी कितनी भ्रान्तियां समा गई है कि ये धर्म भी मानवता के सच्चे विकास में बाधक से बन रहे हैं। महान् दार्शनिक डॉ. एस. राधाकृष्णन् के इस सम्बन्ध में विचार मननीय हैं। उन्होंने धर्म के वर्तमान स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है-"यदि संसार अपनी आत्मा की खोज में है तो ये सारे धर्म-जिस रूप में वे हम तक पहुंचे हैं, हमें उस आत्मा की प्राप्ति नहीं करा सकते। वे मानवता को मिलाकर एक करने की बजाए उन्हें विरोधी दलों में विभाजित करते हैं। वे जीवन के सामाजिक पक्ष पर बल न देकर वैयक्तिक पक्ष पर बल देते हैं। वैयक्तिक विकास के मूल्यों का अतिरंजन करके वे सामाजिक भावना और कल्पना को निरुत्साहित करते हैं। वे कर्म की अपेक्षा सिद्धान्त पर अधिक बल देते हैं। अपने परमात्मा के राज्य की धारणाओं के द्वारा वे लोगों को इस पृथ्वी पर अपेक्षाकृत अच्छा जीवन बिताने के प्रयत्नों से विमुख कर देते हैं। ऐसा लगता है कि उनकी आत्मिक शक्ति समाप्त हो चुकी है।" (ग्रन्थ-धर्म और समाज, अध्याय 2, धर्म की प्रेरणा और नई विश्व व्यवस्था)।

धर्म-सम्प्रदायों की वर्तमान में जैसी भी अवस्था है, उसमें विचार-क्रान्ति से ही ठोस परिवर्तन आ सकता है। किन्तु यह एक प्राथमिक उपाय होगा। विचार-क्रान्ति के माध्यम से मानव चरित्र का नव निर्माण करना होगा-एक नया मानव बनाना होगा, जो सच्चे धर्म का वाहक बने, शुद्धाचरण की नई जागृति लावे और व्यक्ति से विश्व तक की चारित्रिक शक्ति को सुदृढ़ आधार प्रदान करें।

ऐसा ही चरित्र विकास जो रूढ़ता में भी टिका रहे और रूढ़ता को टिकने न दें-

अन्ततः चरित्र विकास ही रूढ़ता का सबसे अधिक असरदार उन्मूलक हो सकता है, बल्कि ऐसा सुदृढ़ चरित्र विकास साधा जा सकता है जो रूढ़ता में भी टिका रहे तथा सफल संघर्ष करते हुए रूढ़ता को टिकने भी न दे। ऐसा चरित्र विकास आधारित होना चाहिए मन, वचन, कर्म की एकरूपता पर। जिसका मन एक, वचन एक और कर्म एक, वह निश्चित रूप से सज्जन है जिसका ज्ञान और आचरण कभी भी रूढ़ताग्रस्त नहीं हो सकता है (**मनस्यैकं, वचस्यैकं, कर्मस्यैकं**

सज्जनानाम्) और दुर्जन वह, जिसका मन अलग, वचन अलग और उससे कर्म अलग होता है। यह व्याख्या किसी ग्रन्थ से सीखने की जरूरत नहीं पड़ती, वह व्यावहारिक अनुभवों में यदा कदा साकार रूप में सामने आती ही रहती है। इन्हीं अनुभवों से सीखा और समझा जाता है कि सज्जनता कैसी और दुर्जनता कैसी होती है? यही अनुभव विवेक को जगाता है कि किस दिशा में अपने जीवन को ढालना चाहिए। आप ही सोचें कि आप सज्जन बनना चाहेंगे या दुर्जन? आपका सज्जन से वास्ता पड़े या दुर्जन से? यदि आप सज्जन बनना और सदा सज्जनता पाना चाहते हैं तो सीखना और सिखाना पड़ेगा कि मन, वाणी तथा कर्म को जोड़ कर उन्हें एक रूप व संयुक्त कैसे बनाए रखें?

जब तक ज्ञान और आचरण की जड़ता को मिटाने के सार्थक प्रयास नहीं किये जाएंगे तथा मन, वाणी और कर्म को अलग-अलग दिशाओं में भटकने दिया जाता रहेगा, तब तक ये चार समस्याएं पैदा होती रहेगी एवं जटिल रूप धारण करती रहेगी-1. दृष्टिकोण मिथ्या बनेगा तथा मिथ्या बना रहेगा और सम्यक्त्व दूर की कौड़ी ही बना रहेगा। 2. नई-नई इच्छाएं उभरती रहेगी और तृष्णा न जीवन में शान्ति आने देगी और न उसे सच्चे धर्म से जुड़ने देगी। 3. विवेक पर प्रमाद का पर्दा पड़ जाएगा और पड़ा रहेगा। अन्दर-बाहर जड़ता पसरी रहेगी। 4. प्रतिकूलता मिलने और अनुकूलता न मिलने पर आवेश, उत्तेजना, क्रोध, हिंसा आदि की विकृत वृत्तियाँ स्वभाव में गहराती तथा विभाव में भटकाती जाएगी। ऐसी जड़ता दो दशाओं में जटिल बनती है-1. अज्ञान की दशा में, जब संकल्पों-विकल्पों एवं आवेगों-संवेगों का सही ज्ञान नहीं होता तथा 2. मूढ़ता की दशा में, जब जानकर भी न जानने की मूढता यानी तृष्णामय धूर्तता वृत्तियों और प्रवृत्तियों में फैली रहती है। ज्ञान और आचरणमय अभ्यास में इन दोनों का समाधान है।

मन, वाणी और कर्म को सुधारने-साधने का नाम ही योग है और सच्चे अर्थों में यही चरित्र विकास है। मनोयोग से वचन योग तथा दोनों से कर्म योग की पुष्टि होती रहे तो चरित्र में कहीं दाग तक लगने का अवसर नहीं आता है। कर्म योग का अर्थ किसी कार्य में लग जाना मात्र ही नहीं होता है। उससे कार्य को कामयाब करने का कमाल भी हासिल होना चाहिए। कार्य में कमाल का मतलब है-आपदा आने पर भीतर-बाहर का संतुलन न टूटे और कार्य की गति अन्त तक अबाध रूप से बनी रहे।

अपने आन्तरिक बल से ऐसे चरित्र का निर्माण और विकास किया जाना चाहिए जो एक ओर धर्म स्वरूप एवं धर्माचरण में किसी भी बहाने से किसी भी रूप में रूढ़ता का प्रवेश न होने दे तो दूसरी ओर आज फैली हुई रूढ़ता तथा जड़ता को जड़मूल से मिटा डालने के लिए कटिबद्ध हो जाय। ऐसा चरित्र विकास न केवल व्यक्ति में उत्पन्न हो, बल्कि उसके माध्यम से समाज, राष्ट्र और विश्व तक में स्थिरता के साथ प्रसारित हो जाय। ऐसे चरित्र विकास का अभियान कठिन अवश्य है किन्तु असाध्य कदापि नहीं। इसके लिए तीनों योग और प्रधान रूप से कर्म योग को साधने की अनिवार्यता रहेगी। कर्मयोग सतत सक्रिय रहे तथा अडिग भी रहे, इसके लिए इन सूत्रों का अनुसरण लाभदायक रहेगा-

1. कर्म बाधक आपदा के आने को पहले ही भांप लें तथा उसे भांप कर या आपदा के आते ही मन

को सहज और सतर्क बना लें ताकि आपदा का सही समाधान खोजा जा सके।

2. कर्म की साधना डर कर करें, लेकिन काम की खूब थकान के बाद तन, मन को ढीला छोड़ आवश्यक विश्राम भी अवश्य किया जाना चाहिए।

3. काम को रोकने वाली छोटी से छोटी अड़चन को भी नजरअंदाज नहीं करना चाहिए तथा यथासमय उसे हटा कर गति को सुगम बनाते रहें।

4. काम के बोझ से ज्यादा दबाव महसूस करें तो हंसते-हंसते कंधा बदल लिया करें किन्तु काम को बीच में कभी भी नहीं छोड़ें।

5. काम के बीच में आपदा के आने पर पहले उसके कारण पर नहीं, उसके निवारण पर तत्काल विचार करें ताकि काम की गति टूटे नहीं।

6. काम की लगन ऐसी गहरी होनी चाहिए कि मौत तक का भय सामने आ जाने पर खिलाड़ी की भावना बनी रहे।

7. आपदा आने के साथ डर कतई नहीं आना चाहिए। डर आवे तो इतना ही कि उससे बचाव का उपाय तुरन्त सूझ आवे और अमल हो।

8. कर्म साधना की मुख्य बात यह है कि सभी साथियों का परस्पर ऐसा दृढ़ सम्बन्ध हो कि हरेक हर हाल में आपदा के समय साथ रहे।

9. कर्म साधना में अन्याय से आगे बढ़कर लड़ना, आपदाओं को जगाने वाली मानना और चित्तवृत्तियों को संशोधित करते चलना जरूरी है।

चरित्र विकास के किसी भी अभियान में भी ये ही सूत्र दृढ़ता एवं सक्रियता के कारण होते हैं।

◆◆◆



धर्म और विज्ञान का सामंजस्य निखारेगा मानव चरित्र का स्वरूप

धर्म और विज्ञान दोनों का मानवीय पक्ष अनिवार्य

इस विषय पर किसी कथा का उल्लेख नहीं करेंगे, बल्कि सम्बन्धित दो समाचारों का ही विवरण यहां पर दे रहे हैं-

पहला समाचार है-हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश) का। एक समारोह में मिसाइल तकनीक के जनक, भारत रत्न डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम (वर्तमान में भारत के राष्ट्रपति) ने अपने जीवन की एक पुरानी घटना का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि कोई 38 वर्ष पहले त्रिवेन्द्रम (केरल) के एक छोटे से गांव में स्थित चर्च के बिशप से पूछा गया कि क्या वे 'गॉड' के इस निवास को वैज्ञानिक मिशन को दे सकेंगे? बिशप ने प्रार्थना में आए भक्तों से कहा कि मेरे साथ एक विख्यात वैज्ञानिक है, जो इस थुम्बा चर्च और मेरे घर को भी लेना चाहते हैं ताकि वे यहां अन्तरिक्ष की शोध का काम शुरु कर सकें। यह विज्ञान व अध्यात्म का मिलन है और मैं दैविक आशीर्वाद चाहता हूं कि जनता का भला हो। भक्तों ने 'आमेन' कह कर अपनी स्वीकृति दी और अन्तरिक्ष वैज्ञानिक विक्रम साराभाई ने वहां जो केन्द्र खोला वह अभी तक वहां चल रहा है जिसका नाम है थुम्बा इक्वेटोरियल रॉकेट लांचिंग स्टेशन। यह विवरण

धर्म और विज्ञान का सामंजस्य निखारेगा मानव चरित्र का स्वरूप

25

देते हुए अब्दुल कलाम ने बताया कि इस घटना ने उनके जीवन को बदल दिया। उन्होंने अनुभव किया कि किस प्रकार विवेकशील आध्यात्मिक और वैज्ञानिक नायक एक साथ मिल कर मानव जीवन और उसके कल्याण को बढ़ावा देते हुए जनहित का दायित्व निभा सकते हैं। ये बिशप विश्वव्यापी मानस के एक उदाहरण थे। कलाम ने आगे कहा-वह चर्च जहां रॉकेट डिजाइन सेन्टर कायम हुआ और बिशप का वह घर जहां हम वैज्ञानिकों ने कार्य किया-सदा मेरी स्मृति में रहेगा।

दूसरा समाचार है दिल्ली की एक विचार गोष्ठी का, जहां कई देशों के विशेषज्ञ सम्मिलित हुए तथा उन्होंने विज्ञान, धर्म और विकास विषय पर गहरी चर्चाएं की। इसमें इस्राइल बटाई टीचिंग सेन्टर के निदेशक भौतिक विज्ञानी फरजन अरबाब का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने कहा-विज्ञान आज भी हमारे विश्व को समझने की कोशिश में लगी जानकारी की एक विधि है, किन्तु इससे विज्ञान न तो मूल्यवत्ता प्राप्त कर सकता है और न ही विश्व के अर्थ और उद्देश्य को खोज सकता है। उन्होंने महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाईन के प्रसिद्ध सिद्धान्त को दोहराया कि विज्ञान धर्म के बिना अंधा है और धर्म विज्ञान के बिना लंगड़ा है। अरबाब ने अपने इस भाषण में निष्कर्ष निकाला कि सभ्यता की वास्तविक प्रगति तभी संभव होगी जब विज्ञान और धर्म साथ मिलकर शान्तिपूर्वक सत्य की खोज में जुटेंगे। आज जितनी विकास से सम्बन्धित विचारधाराएं हैं, वे मानवीय एवं आध्यात्मिक जरूरतों को नजरअन्दाज करती हैं और केवल भौतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करती है। अब विज्ञान और टेक्नोलॉजी को मानवाभिमुखी होना होगा। यह शुरूआत केवल कुछ व्यक्ति ही नहीं कर सकेंगे, यदि बहुसंख्यक लोगों की लगातार उपेक्षा ही की जाती रहेगी। इस्राइल के इस भौतिक वैज्ञानिक ने स्पष्ट किया कि धर्म निश्चित रूप से नैतिकता का प्रश्न उठा कर टेक्नोलॉजी पर सीमित रहने का प्रतिबंध लगा सकता है, किन्तु उसके समर्थकों को भी शोध के नए क्षेत्रों पर बिना विचारे प्रतिबंध लगाने के निर्देश जारी नहीं करने चाहिए।

इन दोनों समाचारों का अभिप्राय एक सा है कि धर्म और विज्ञान का समन्वय संभव ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है। इनसे यह ध्वनि भी निकलती है कि यह समन्वय अवश्यंभावी भी है।

समग्र जीवन में धर्म और विज्ञान का सामंजस्य क्या संभव है? :

अब तक का इतिहास बताता है कि धर्म और विज्ञान के बीच में संघर्ष जैसे अन्तर्निहित रहा है। इस संघर्ष का मूल कारण है-विश्व रचना के कारण का मतभेद। धर्म सृष्टि को रचित मानता है तो विज्ञान उसे विकासवाद की फलश्रुति बताता है। शुरू से यह विवादास्पद रहा है। इस विवाद की जड़ें गहरी है और मस्तिष्क में यह धारणा जम गई है कि दोनों के सिद्धान्तों तथा विधि विधानों में बुनियादी फर्क है। धर्म सबसे पहले विश्वास और आस्था की मांग करता है और एकनिष्ठ आस्तिकता चाहता है। विश्वास में प्रमाण की आवश्यकता वह नहीं मानता, बल्कि दरअसल तो वह प्रमाण मांगने की मनोवृत्ति को ही निरुत्साहित करता है। धर्म की नींव ही आस्तिकता के जिस विश्वास पर खड़ी हुई है, अगर उसे ही कोई छेड़े तो वह बर्दाश्त के काबिल नहीं माना जाता और निकृष्टतम कहा जाता है। धर्म की मांग है कि प्रत्येक को धर्म के अमुक सत्य को बिना ननूनच (प्रश्न या हिचकिचाहट) के स्वीकार करना चाहिए। स्पष्ट है कि सभी धर्म अपनी-अपनी मान्यताओं को एक-दूसरे से विशिष्ट बताते हैं

और चाहते हैं कि उनके अनुयायी इस विशिष्टता की प्राण प्रण से रक्षा करें।

दूसरी ओर विज्ञान प्रत्येक वस्तुस्थिति को शंका की नजर से देखता है। उसे सर्वदा और सर्वत्र सन्देह चाहिए। विज्ञान की मांग है कि विज्ञान क्षेत्र के प्रत्येक कार्यकर्त्ता को प्रत्येक बात पर प्रश्न ही प्रश्न करने चाहिए। वह वर्तमान स्थिति पर प्रश्न करे, नये साक्ष्य की खोज करे और उस साक्ष्य के नये और श्रेष्ठ विश्लेषण को तलाशे-तभी वह सच्चा वैज्ञानिक बन सकता है। विज्ञान की इस प्रक्रिया की पक्की सबूत है उसकी थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी (जो जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद के नाम से हजारों वर्ष पहले से मान्य और प्रचलित है)। न्यूटन के गति नियमों से भी विश्व के रहस्यों को समझने में पर्याप्त मदद मिली है। किन्तु थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी का परिपक्व स्वरूप तभी ढल पाया, जब आइन्स्टीन ने न्यूटन की थ्योरी को गलत सिद्ध कर दिया। इसी प्रकार विज्ञान को यह जानने में भी हजारों वर्ष लग गए कि यह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित है। इसी प्रकार लम्बे अर्से तक ग्रह नक्षत्रों के सम्बन्ध में कल्पनाएं दौड़ती रही, जटिल सिद्धान्त बनते रहे और आकाश में उनकी गति के बारे में अपने-अपने मत व्यक्त किये जाते रहे लेकिन इन ग्रह नक्षत्रों का मनुष्य जाति पर क्या प्रभाव होता है-इसके बारे में कुछ खास नहीं जाना जा सका। सबसे पहले वैज्ञानिक कोपरनीकस ने प्रस्तावित किया कि यदि सूर्य को केन्द्र में रख पृथ्वी आदि सभी ग्रहों को उसकी परिक्रमा लगाते हुए माना जाय तो ग्रहों की जटिल गति को आसानी से समझा जा सकेगा। इस सारे विवरण का आशय यह है कि वैज्ञानिक प्रचलित धारणा को ध्यान में नहीं लेता है, बल्कि विज्ञान के प्रति सच्ची लगन के नाते वह सारे तथ्यों व साक्ष्यों पर विचार करता है और इस सार को प्रस्तावित करता है जिसे वह ऐसी शोधपूर्ण विचारधारा मानता है जिस पर उसने काम किया है और उसका विस्तृत विवेचन दिया है। एक सच्चा वैज्ञानिक अपनी शोध को सर्वोपरि महत्त्व देता है।

इस पर प्रश्न उठता है कि क्या सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक रहते हुए भी धार्मिक बन पाना संभव माना जाएगा? क्या उत्तर हो सकता है इस प्रश्न का? उपरोक्त विवरण तो नकारात्मक संकेत देता है, किन्तु वास्तव में वह है नहीं। इसका उत्तर सकारात्मक है। अनेक विख्यात वैज्ञानिकों के नाम गिनाये जा सकते हैं जो गहरी धार्मिक आस्था के भी धनी रहे हैं। यह इस कारण संभव हो सका कि वे इन दोनों का सुन्दर तालमेल बिठा सके। एक ओर उन्होंने एक प्रकार से 'दोहरी सोच' (डबल थिंक) का अभ्यास किया, जिसमें प्रत्येक वस्तुस्थिति के बारे में प्रश्न करने की वैज्ञानिक वृत्ति को उन्होंने उन क्षेत्रों में लागू नहीं किया जो उनके जीवन में धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित थे। दूसरी ओर इस तथ्य को उन्होंन पहिचाना कि विज्ञान के पास हमेशा सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं रहते, जैसे यह प्रश्न अक्सर करके उठा करता है कि मैं एक श्रेष्ठ पुरुष कैसे बन सकता हूं तो कहना पड़ेगा कि ऐसे प्रश्नों के विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं होते हैं, क्योंकि यह तो अपनी आन्तरिकता का प्रश्न है। विज्ञान के पास आन्तरिक प्रश्नों के कोई उत्तर नहीं होते हैं और ऐसे उत्तर होने का विज्ञान ने कभी दावा भी नहीं किया है।

सृष्टि का रचयिता ईश्वर है-यह नास्तिक कहे जाने वाले लोग नहीं मानते। उनका तर्क है कि पांच की बजाय आठ अंगुलियां क्यों नहीं बनाई गई आदि। वे कहते हैं-सृष्टि का रचयिता न तो कोई अलौकिक शक्ति वाला आयोजक है जो प्राकृतिक इतिहास की छोटी-छोटी बातों का समायोजन

करता है और न ही सृष्टि रचना नाम के व्यवसाय को चलाने वाला सर्वशक्तिमान प्रबन्धक। सृष्टि ईश्वर की रचना नहीं है। यह तो अनादि है और विकासवाद की प्रक्रिया से निरन्तर गुजरती हुई आगे से आगे चल रही है। ईसाई धर्म के स्टीफन जे. पोप ने तो यहां तक कहा है कि विकासवान जीव-विज्ञान को पहिचाना जा सकता है किन्तु इस प्रश्न का कोई सटीक उत्तर नहीं है कि इस संसार का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है?

इस विश्लेषण का एक आशय है। सृष्टि को ईश्वर द्वारा रचित मानने वाले कट्टरपंथियों का विश्वास है कि ईश्वर ने ही ब्रह्माण्ड रचा, पृथ्वी बनाई और उस पर जीवन की सृष्टि की। किन्तु अब अनेक धर्मों के लोग इस विश्वास से दूर सरक रहे हैं और मानने लगे हैं कि आज जीवन का जो रूप अस्तित्व में है वह दीर्घावधि से विकसित हुआ व तैयार हुआ है। सच यह है कि विज्ञान के इस विचार को धर्म अपने हठवाद में घसीटता है। धर्म यह भी नहीं बताता कि आखिर विज्ञान को वह क्या और कैसा मानता है? धर्म हकीकत में वैज्ञानिक सहमति की उपेक्षा करता है और पृष्ठभूमि की जानकारी को बिना कारण नकारता है। वह अपनी भ्रान्त धारणा को छोड़ना नहीं चाहता, जबकि विज्ञान प्रत्येक स्तर पर वस्तुवादी बना रहता है, इस कारण सृष्टि रचना का धर्म का विश्वास पहले ही झटके में गिर जाता है। विश्लेषण का आशय यही है कि अब धर्म और विज्ञान के सह- अस्तित्व में कोई बाधा नहीं है।

आत्मा और प्रकृति दोनों के विज्ञान से मानव जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध :

यदि धर्म और विज्ञान को अलग-अलग मानना और रखना है तो समझिए कि मानव चरित्र को खंड-खंड करना होगा। मानव चरित्र की एकात्मा तोड़ी नहीं जा सकती है और उसकी चारित्रिक क्षमता का निरन्तर विकास भी आवश्यक है। इसके लिए न तो वह धर्म को दरकिनार कर सकता है और न ही विज्ञान से भी मुंह मोड़ सकता है क्योंकि यदि धर्म आत्मा का विज्ञान है तो भौतिक विज्ञान भी प्रकृति का विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही मानव जीवन के साथ गहराई से जुड़े हुए हैं। इस मानव जीवन के साथ दोनों विज्ञानों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु यह विडम्बना ही है कि दोनों विज्ञानों को भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर खड़ा कर रखा है और सामान्यजन को समझाया जाता है कि दोनों परस्पर विरोधी है। यह भी बताया जाता है कि दोनों का कार्य क्षेत्र अलग-अलग है जो एक दूसरे से मेल नहीं रखता तथा दोनों की पृष्ठभूमियां भी विपरीत है। अध्यात्म को कुछ विशेष क्रियाकांडों और प्रचलित मान्यताओं के साथ जोड़ दिया है और विज्ञान को केवल भौतिक अनुसंधान तथा विश्व के बाह्य विश्लेषण तक सीमित कर दिया है। दोनों ही क्षेत्रों में से जैसे एक वैचारिक प्रतिबद्धता खड़ी कर दी गई है, इतनी कि दोनों को परस्पर प्रतिद्वंद्वी बताया जाता है। तथाकथित धार्मिक लोग विज्ञान को पूरी तरह गलत व झूठा बताते हैं तो विज्ञान भी धार्मिक मान्यताओं को बेबुनियाद साबित कर रहा है। स्थिति यह है कि दोनों ओर के कट्टरवादी दोनों की सही उपयोगिता से मानव जीवन को वंचित करने में लगे हुए हैं।

अन्तरिक्ष यात्री चन्द्रमा की भूमि पर उतरे और जांच के लिए वहां की पत्थर मिट्टी भी ले आए। अब मंगल ग्रह की बारिकी से खोज तलाश हो रही है कि वहां जीवन विद्यमान है या नहीं। दिखाई दे रही बर्फ की परतों से अनुमान लगाया जा रहा है कि वहां जीवन का निर्वाह करने वाले तत्त्व तो

अवश्य मौजूद हैं। ऐसे कई वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण है जो प्रत्यक्ष है किन्तु धार्मिक जन उन्हें स्वीकार करने के मूड में नहीं है, क्योंकि अपने धर्मशास्त्रों एवं मान्यताओं के प्रति जो दीर्घकाल से एक वैचारिक प्रतिबद्धता जमी हुई है वह उन्हें रोकती है। धार्मिक जन न तो विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रगति का भलीभांति बौद्धिक विश्लेषण कर सकता है और न ही विश्लेषण से प्राप्त सत्य के आधार पर परम्परागत मोह को ठुकरा सकता है। वह बार-बार दुहराई गई धारणा एवं रूढ़िगत मान्यता के साथ कुछ ऐसा बंधा हुआ है कि जैसे वह बंधन को छोड़े तब भी बंधन उसे शायद नहीं छोड़ेगा। इस आग्रह की ही उसके मन में व्यग्रता है जो विज्ञान के सत्य को मानने और न मानने के बीच अड़ी हुई खड़ी है।

इस सत्य को आज समझ लेना होगा कि धर्म और विज्ञान परस्पर शत्रु कतई नहीं है, दोनों ही विज्ञान हैं-एक आत्मा का तो दूसरा प्रकृति का। मानव की मौलिकता आत्मा है तो उसका समूचा जीवन प्रकृति पर आधारित है तो वह दोनों में से एक को भी कैसे छोड़ सकता है? धर्म या अध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत आत्मा के शुद्धाशुद्ध स्वरूप, बंध-मोक्ष, शुभाशुभ परिणामों का उत्थान-पतन आदि आन्तरिक समस्याओं का समाधान आता है तो प्रकृति से सम्बद्ध इस भौतिक विज्ञान में मानव शरीर, इन्द्रिय, मन एवं प्रकृतिजन्य अनेक विषयों का विश्लेषण मिलता है। दोनों का ही जीवन की अखंड सत्ता के साथ गहरा जुड़ाव है। एक जीवन की अन्तरंग धारा का प्रतिनिधि है तो दूसरा उसकी बहिरंग धारा का। अध्यात्म का क्षेत्र मानव के अन्तःकरण, उसके चरित्र, इसकी चेतना एवं आत्मीयता तक फैला हुआ है तो विज्ञान का क्षेत्र प्रकृति के अणु से लेकर विराट खगोल-भूगोल आदि के प्रयोगात्मक अनुसंधान एवं अन्वेषणों तक पहुंचता है। एक मानव जीवन का अन्तरंग ज्ञान है तो दूसरा जीवन के दूसरे पक्ष बहिरंग का ज्ञान है। यों धर्म और विज्ञान दोनों ज्ञान भी है और विज्ञान भी। अतः दोनों विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान प्रयोग है तो अध्यात्म योग है। विज्ञान सृष्टि की अनेक चमत्कारी शक्तियों का रहस्य उद्घाटित करता है एवं प्रयोग द्वारा उन्हें हस्तगत करता है, वहां अध्यात्म उन शक्तियों का कल्याणकारी उपयोग करने की दृष्टि प्रदान करता है। मानव चरित्र को विकसित, निर्भय और निर्द्वन्द बनाने की विधि अध्यात्म के पास है कि भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों का कब, कैसे और कितना उपयोग करना चाहिए जिससे मानव जीवन संतुलित रह सके। अध्यात्म, भौतिक प्रगति को विवेक की आंख देता है, फिर धर्म और विज्ञान को परस्पर विरोधी कैसे माना जा सकता है?

सच तो यह है कि मानव जीवन केवल अन्तर्मुखी बन कर नहीं टिक सकता तो केवल बहिर्मुखी बन कर भी नहीं चल सकता है। उसे दोनों अन्तरंग एवं बहिरंग धाराओं में बहना होता है और दोनों प्रकार के तत्त्वों का सामंजस्य बिठाना होता है। जीवन की अखंडता इसी में है कि दोनों धाराओं का सम्यक् सम्मिश्रण किया जाए तथा जीवन को सन्तुलित बनाया जाए। बहिरंग जीवन में विश्रृंखलता और विवाद पैदा न हो इसके लिए अन्तरंग नियंत्रण चाहिए और अन्तरंग जीवन भी बहिरंग के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। यों दोनों का अपना-अपना महत्त्व है तथा जीवन को दोनों की अपेक्षा रहती है। दोनों को अमुक स्थिति एवं मात्रा में लेकर ही चला जा सकता है, तभी जीवन उपयोगी, सुखी एवं सुन्दर हो सकता है।

धर्म और विज्ञान के प्रति जमी हुई वैचारिक प्रतिबद्धता ही दोनों के जीवन्त सामंजस्य को नकार रही है। इस विषय पर मर्मज्ञ विचारक स्व. उपाध्याय अमर मुनि का चिन्तन अनुकरणीय है। वे कहते हैं-"किसी भी परम्परा के पास ग्रन्थ या शास्त्र कम-अधिक होने से जीवन के आध्यात्मिक विकास में कोई अन्तर आने वाला नहीं है। यदि शास्त्र कम रह गये तो भी आपका आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊंचा हो सकता है, विकसित हो सकता है और शास्त्रों का अम्बार लगा देने पर भी आप बहुत पिछड़े रह सकते हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए जिस चिन्तन और दृष्टि की आवश्यकता होती है वह तो अन्तर से जागृत होती है। जिसकी दृष्टि सत्य के प्रति जितनी आग्रह रहित एवं उन्मुक्त होगी, जिसका चिन्तन जितना आत्ममुखीन होगा, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास कर सकेगा। ...मैंने देखा है, अनुभव किया है-ग्रंथों एवं शास्त्रों को लेकर हमारे मानस में एक प्रकार की वासना, एक प्रकार का आग्रह-जिसे हठाग्रह ही कहना चाहिए-पैदा हो गया है। आचार्य शंकर ने विवेक-चूड़ामणि में कहा है-देह वासना एवं लोकवासना के समान शास्त्र वासना भी यथार्थ ज्ञान की प्रतिबंधक है। आचार्य हेमेन्द्र ने इसे ही "**दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद्यः सतामपि**" कह कर दृष्टिरागी के लिए सत्य की अनुसंधित्मा को बहुत दुर्लभ बताया है। ...हम अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद विचार पद्धति की बात-बात पर जो दुहाई देते हैं, वह आज के राजनीतिकों की तरह केवल नारा नहीं होना चाहिए, हमारी सत्य दृष्टि बननी चाहिए, ताकि हम स्वतंत्र अप्रतिबद्ध प्रज्ञा से कुछ सोच सके। जब तक दृष्टि पर से अंध श्रद्धा का चश्मा नहीं उतरेगा, जब तक पूर्वाग्रह के खूंटे से हमारा मानस बंधा रहेगा, तब तक हम कोई भी सही निर्णय नहीं कर सकेंगे। इसलिए युग की वर्तमान परिस्थितियों का तकाजा है कि हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नये सिरे से सोचें। प्रज्ञा की कसौटी हमारे पास है और यह कसौटी भगवान् महावीर एवं गणधर गौतम ने, जो स्वयं सत्य के साक्षात्दृष्टा एवं उपासक थे, बतलाई है-"**पन्ना समिक्खए धम्मे**" (उत्तराध्ययन 23-25) अर्थात् प्रज्ञा ही धर्म की, सत्य की समीक्षा कर सकती है-उसी से तत्त्व का निर्णय किया जा सकता है (ग्रन्थ 'चिन्तन की मनोभूमि', अध्याय 31, पृष्ठ 303-304)।"

जैन दर्शन की वैज्ञानिक विरासत है-धर्म विज्ञान सामंजस्य की प्रेरणा :

भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में जैन दर्शन की प्राचीन वैज्ञानिक विरासत अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है, बल्कि वह वैज्ञानिक प्रगति का एक मूल्यवान स्रोत भी है। महान् जैन आध्यात्मिक परम्पराओं तथा उनके प्रवर्तकों ने व्यापक रूप से भारतीय चिन्तन एवं वैचारिकता को मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों में प्रभावित किया-1. परमाणुवाद, 2. अनेकान्तवाद तथा 3. अंक सिद्धान्त सहित गणितीय विधियां। वास्तविकतावादी दृष्टिकोण के कारण जैन दार्शनिकों ने यह आवश्यक समझा कि वे इस भौतिक संसार की मौलिकता के विषय में संतोषजनक स्पष्टीकरण दें।

जैन सिद्धान्तों के अनुसार कर्म भौतिक स्वभाव वाला पुद्गल होता है, किन्तु उसका शरीर और आत्मा के साथ ऐसा बंध हो जाता है कि उसकी निर्जरा हुए बिना वह छूटता नहीं है। मृत्यु के बाद भी वह कार्मण शरीर के रूप में आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। इस प्रकार कर्म पुद्गल के अणुओं का ऐसा हलन-चलन होता है कि वे सम्बन्धित आत्मा द्वारा किये जाने वाले शुभ व अशुभ कार्यों के अनुसार

चिपकते रहते हैं तथा तदनुसार फलाफल देते हैं। कर्म पुद्गल के सिद्धान्त के माध्यम से जैन विचारकों ने भौतिक जगत् का विस्तार से विवेचन किया है। इनके विचार के अनुसार यह जड़ (पुद्गल) तत्त्व अपने निश्चित प्रकार एवं परिमाण के साथ शाश्वत पदार्थ है। घनत्व में यह बढ़ता-घटता रहता है किन्तु अणु-परमाणुओं में कोई कमी-बेशी नहीं होती है। ये अणु-परमाणु विभिन्न आकारों में रूपान्तरित होते रहते हैं और स्कंध रूप भी बनते रहते हैं। परमाणु के स्वभाव का विस्तृत वर्णन पंचास्तिकाय के अन्तर्गत हुआ है तथा भगवती सूत्र में परमाणु थ्योरी (सिद्धान्त) पर पूरा विवरण दिया गया है।

जहां तक अनेकान्तवाद की थ्योरी (सिद्धान्त) का प्रश्न है, जैन दर्शन के इस प्राचीन सिद्धान्त जैसा सिद्धान्त अन्य कोई नहीं है। जैन विचारकों ने पहचाना था कि यह संसार जैसा दिखाई देता है उससे कई गुना जटिल है और उसमें उठने वाले विभिन्न विचारों में सामंजस्य लाते रहने की आवश्यकता सदा बनी रहेगी। इसलिए उन्होंने अतिवादी और एकान्तवादी मान्यताओं को नकार दिया। अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहा जाता है जिसकी सप्तभंगी होती है अर्थात् सात नयों के द्वारा वस्तु का वर्णन किया जाता है। अस्तित्व और अनास्तित्व की दो ही नहीं, सात संभावनाएं होती हैं। नयवाद से वस्तु स्वरूप का पूर्ण परिचय होता है। विभिन्न अपेक्षाओं से पदार्थ के स्वरूप का जो अवलोकन किया जाता है, उससे इस भौतिक जगत् की संख्यात्मक जानकारी भी स्पष्ट होती है। जैन दार्शनिकों की अद्भुत दूरदृष्टि थी कि उन्होंने अतीव जटिलताओं के उपरान्त भी नक्षत्र मंडल आदि का भी निश्चित वर्णन किया है, जिससे उनके गणितीय, ज्योतिषीय एवं खगोलीय-भूगोलीय ज्ञान की विशिष्टता का भी परिचय मिलता है। जैन साधुओं ने आध्यात्मिक अभ्यास के साथ गणित में भी महत्त्वपूर्ण परम्पराएं स्थापित की।

वैज्ञानिक विषयों की चर्चा करने वाले प्रख्यात जैन ग्रन्थ हैं-गणित सार संग्रह, तत्त्व स्थानाधिगम सूत्र, स्थानांग सूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वार सूत्र, क्षेत्र समास, त्रिलोक सार, भगवती सूत्र आदि। गणित सार संग्रह के रचयिता मुनि महावीराचार्य बहुत बड़े गणितज्ञ थे। राजा राष्ट्रकूट अमोघवर्ष नृपतुंग (815-878 ई.पू.) की राज्य सभा में गणितज्ञ के रूप में उनका अत्यधिक सम्मान था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समान राष्ट्रकूट राजा ने भी राज्य का परित्याग करके जैन साधुता स्वीकार की थी। ग्रंथ गणितसार संग्रह में एरिथमेटिक, एलजेबरा और ज्योमेट्री के विषयों का समावेश है और इसमें एक कवि की कल्पना के साथ गणितज्ञ की तीव्रता का अच्छा प्रदर्शन हुआ है। विज्ञान के इतिहासज्ञों ने कई स्थलों पर उल्लेख किया है कि यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिकों के लिए विज्ञान विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं थी, बल्कि आध्यात्मिक उन्नति के चरम तक पहुंचने का एक मार्ग भी था जिसके द्वारा इस संसार के भौतिक आधार को भलीभांति समझा तथा महसूस किया जाता था। विज्ञान विषयों पर विद्वता से लिखे अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं अथवा दुर्लभ होते जा रहे हैं। इस विरासत की सावधानीपूर्वक रक्षा की जानी चाहिए क्योंकि धर्म एवं विज्ञान का सामंजस्य बिठाने में यह साहित्य अपूर्व प्रेरणा का स्रोत बन सकता है। आज यदि इस अमूल्य विरासत पर खोज हो, उन विषयों का

गहरा अध्ययन किया जाए तथा वर्तमान डिजीटल टेक्नोलॉजी की सहायता से नई विधियां निकाली जाए तो आधुनिक विज्ञान को प्रगति की नई दिशा मिल सकती है।

अब धर्म फिर से विज्ञान होने लगा है और विज्ञान धर्म की ओर बढ़ने लगा है :

प्रारम्भ में धर्म विज्ञान था, किन्तु बाद में धर्म ने अपने और विज्ञान के बीच मोटी दीवार खड़ी कर ली। सदियों बाद वह दीवार अब टूट रही है और धर्म पुनः विज्ञानमय होने लगा है। चरित्र निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया सम्यक् रूप से चल सके -इस उद्देश्य पूर्ति के लिए अब धर्म को पूरी तरह विज्ञान की पांत में बिठाने का कार्य जरूरी है क्योंकि दोनों शक्तियों के समन्वित प्रयास से ही लोक-कल्याण को व्यापक स्वरूप दिया जा सकेगा। दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों दोनों का प्रारंभिक लक्ष्य संसार के अज्ञात गूढ़ रहस्यों को जानने का ही था, ताकि उनके उद्घाटन से इस संसार में जीवन को श्रेष्ठतर बनाया जा सके। तब दोनों के बीच कोई प्रतिरोध नहीं था एवं उनके चिन्तन तथा अध्ययन की परस्पर कोई सीमा रेखा भी नहीं थी। यह सत्य जैन विज्ञान ग्रन्थों से प्रमाणित होता है।

किन्तु बाद में जाकर दोनों की कार्य प्रणाली में विशेष समस्या उत्पन्न हुई। दर्शन शास्त्र में 'क्यों' का संकेत बड़ा बना तो विज्ञान का लक्ष्य 'कैसे' तक सीमित हो गया। 'क्यों' का समाधान पाने में दार्शनिक चिन्तन से आगे बढ़ कर कल्पना की उड़ानें भी भरने लगा, जबकि वैज्ञानिक ने लक्ष्मण रेखा खींच दी कि 'कैसे' का तथ्यात्मक एवं प्रयोगात्मक समाधान पाकर ही आगे बढ़ा जाए और किसी भी प्राप्त समाधान को अंतिम न माना जाए, शोध एवं प्रयोग का क्रम चलता रहे। उसके बाद दर्शन की नकेल धर्म ने पकड़ ली और विज्ञान अकेला चल पड़ा, क्योंकि धर्म उसके प्रति उग्र बन गया। जो तथ्य आत्मानुभव से प्रमाणित नहीं किए जा सकते हों, उन्हें विज्ञान ने स्वीकार नहीं किया, जबकि धर्म तथ्यों को बिना किसी प्रमाण के भी स्वीकार कर लेता था उन्हें ईश्वरीय अनुभूति, महाज्ञानियों के वचन, पैगम्बर के पैगाम आदि के नाम देकर प्रत्यक्ष प्रमाणीकरण का मुद्दा ही धर्म और विज्ञान के बीच भेद का प्रधान कारण बन गया।

विज्ञान की विधि आनुभाविक अथवा प्रयोगाश्रित होती है और इसमें नये अनुभव के बाद पुराने निष्कर्षों में सहजता से, बल्कि अनिवार्य रूप से परिवर्तन लाया जाता है। इसके विपरीत धर्म की विधि पूर्वाग्रहों के साथ ही चलती है एवं जो स्थगन प्रिय होती है-मूलतः वह परिवर्तन की विरोधी ही होती है। विज्ञान के लिए सभी निर्णय अस्थायी होते हैं, क्योंकि नवीन ज्ञान के प्रकाश में उन्हें पुनः शोध एवं संशोधन योग्य मान लिया जाता है। धर्म में ऐसा कदापि नहीं होता-उसकी सीमा पूर्व निर्धारित, कठोर एवं अपरिवर्तनीय होती है, बल्कि शास्त्र वचन तो लोहे की लकीर माने जाते हैं। धर्म प्रणाली इस प्रकार एकाधिकारवादी हो जाती है और यही विभिन्न धर्म प्रणालियों के बीच विवाद एवं संघर्ष का हेतु बन जाता है। मतवादी हठाग्रहों के कारण ही धर्म में रूढ़ता व जटिलता समाती गई।

वैसे मानव धर्म के रूप में धर्म का स्वरूप दर्शन से भिन्न नहीं हो सकता एवं दर्शन तथा विज्ञान के अंतिम उद्देश्यों में भी कोई मतभेद नहीं। संसार के रहस्यों की गूढ़ता में दोनों ही प्रवेश करते हैं और अपने श्रम के सुफल को संसार के सुख का वाहक बनाते हैं। सच पूछे तो धर्म का उद्देश्य चिन्तन,

ध्यान या भाव समाधि मात्र नहीं है, अपितु जीवन की धारा के साथ एकात्म्य या तादात्म्य स्थापित करना तथा उसके लिए सृजनात्मक प्रगति में भाग लेना भी है। मानव चरित्र को विकास के उस वांछनीय बिन्दु तक पहुंचाना भी धर्म का दायित्व है जहां परस्परता से जुड़ी एक संगठित जीवनशैली का निर्माण हो सके। विश्व भ्रातृत्व का जन्म तभी हो सकता है जब व्यक्ति के मन में पहले संघ भावना उत्पन्न हो जाए। ऐसी पृष्ठभूमि की रचना करने का दायित्व भी धर्म का ही है। धर्म के मानवीय होने का अर्थ ही यह है कि संवेदना, सहानुभूति, विश्वास, स्नेह, सहयोग, सौहार्द आदि गुणों के प्रति मनुष्य की पूर्ण ग्रहणशीलता बने तथा साथ ही सामूहिक जीवन के छोटे से बड़े घटकों में लोकतंत्रात्मक मनोवृत्ति की प्रयोगधर्मिता चलती रहे, जिससे श्रेष्ठतर अभिप्राय उद्‌भूत हो। धर्म यदि इस स्वरूप से हीन है तो उसे मानवीय कहने में संकोच करना होगा। उसी प्रकार विज्ञान की भी यह बहुत बड़ी बुराई है कि वह ऐसी यांत्रिक सभ्यता फैलाता जा रहा है जिसमें व्यक्ति निजी प्रेरणाओं से वंचित रखा जा कर एक अस्तित्वहीन इकाई जैसा बनाया जा रहा है। विज्ञान व्यक्ति को नहीं, वस्तुओं को नियंत्रक बना रहा है। परन्तु मनुष्य के अन्तःकरण में अपने अस्तित्व और पहचान का एक स्तर अवश्य होता है, सत्य का एक क्रम भी होता है एवं आत्मीयता की ऐसी चिनगारी निरन्तर दमकती रहती है जो उसे पूर्ण रूप से यांत्रिक बनने नहीं देती है। अतः ज्वलन्त समस्या यही है कि धर्म और विज्ञान के सामंजस्य से नई जीवनशैली का निर्माण व विकास कैसे किया जाए तथा उसके योग्य मानव चरित्र को किस प्रकार ढाला जाए और पनपाया जाए। इस उद्देश्य को पाने के लिए तत्त्व और गुण धर्म, प्रतीति और यथार्थ एवं आत्मनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा के बीच विभाजक भेद न रहे। दोनों विज्ञान एवं धर्म की विशेषताओं का मानव चरित्र में ऐसा शुभ व स्वस्थ सम्मिश्रण किया जाए कि विधान एवं धर्म का सामंजस्य परस्पर नियंत्रक भी बने तो व्यक्ति से लेकर विश्व तक की मानवीय मूल्यवत्ता का सम्पोषक भी।

और आज का आशाजनक तथ्य यह है कि धर्म और विज्ञान के बीच के भेद अब घटने-मिटने लगे हैं। धर्म फिर से विज्ञान होने लगा है और विज्ञान धर्म की ओर बढ़ने लगा है। क्लासिकी भौतिकी का दृष्टिकोण नियतिवादी भी है, यांत्रिक तो है ही। क्वांटम यांत्रिकी ने अलग-अलग वस्तुओं की सत्ता की अवधारणा निर्मूल कर दी है। विज्ञान में व्यक्ति अब केवल प्रेक्षक ही नहीं, भागीदार भी माना जाने लगा है। विज्ञान को मानवीय स्वरूप देने के प्रयत्न भी व्यापक आधार पर होने लगे हैं। पारमाणविक भौतिकी ने वैज्ञानिकों को वस्तुओं की तात्त्विक प्रकृति की पहली झलक दिखाई है। रहस्यवादियों की तरह अब भौतिकशास्त्री भी सत्य के असंवेदी अनुभव का अध्ययन कर रहे हैं और उन्हीं की तरह उन्हें इस अनुभव के विरोधाभासी पहलुओं का सामना करना पड़ा है। तब से आधुनिक भौतिकी के मॉडल और उसके बिंब पूर्वीय दर्शनों की विचारधारा से मेल खा गये हैं। ब्रह्मांड का अंतिम लक्ष्य क्या है-यह जानने के लिए आधुनिक भौतिक शास्त्री विशुद्ध भौतिकी सिद्धान्तों से परे भी शोध कर रहे हैं। यह क्रम संसार के रहस्यवादी दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करता है, ताकि धर्म का वैज्ञानिक दृष्टि से पुनरुत्थान हो सके। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के दार्शनिक निष्कर्ष सर्वथा विलक्षण है।

वर्तमान को आप धर्म और विज्ञान का संधिकाल कह सकते हैं और शायद इसी प्रक्रिया में यह अनिश्चितता, अव्यवस्था एवं कुंठा का काल बन गया है। लगता है कि इसकी दिशा विघटन की ओर है और दशा है भावशून्य आस्थाहीन गतिरोध की, जिस कारण यह मूल्यों का संकट काल भी है परन्तु आज का मनुष्य अपनी सभी प्रकार की समस्याओं के प्रति जागरूक भी है और उनके समाधान निकालने के लिए उत्साहित भी। ऐसे समय में यदि उसके चरित्र का विकास प्रभावी ढंग से किया जा सके तो इस काल को उन्नति काल में बदला जा सकता है। अब मनुष्य जाति को समस्या बोध के साथ सम्यक् समाधान हेतु नये विश्वासों की खोज करनी होगी जो उसे धर्म विज्ञान के सामंजस्य से प्राप्त हो सकेंगे।

मानव चरित्र का नवरूप निखरेगा आध्यात्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक अध्यात्म से :

कल्पना करें कि एक कद कठी के दो घोड़े साथ-साथ खड़े हैं और दोनों पर सवार चढ़े हुए हैं। एक घोड़ा है काठ (लकड़ी) का, जिस पर जीन भी कसी हुई है और लगाम भी लगी हुई है। नीचे की लकड़ी इस तरह गोलाई में है कि बैठा हुआ उस तरह आगे पीछे होता हुआ रह सकता है, जैसे सचमुच के घोड़े पर चढ़ा हुआ हो। फर्क है तो इतना ही कि घोड़ा एक इंच भी आगे नहीं खिसकता। दूसरा असली घोड़ा है अरबी नस्ल का। लेकिन उस पर न जीन है न लगाम। जब दौड़ता है तो हवा से बातें करता है और उस वक्त सवार की दशा कुछ न पूछिए, गिरते-गिरते बच गया तो किस्मत, वरना हड्डी पसली एक हो जाती है। अब पूछा जाए कि कौनसा घोड़ा पसन्द है तो शायद विवेकवान पुरुष किसी भी घोड़े को पसन्द नहीं करेगा।

कारणों पर विचार करें। घोड़े की सवारी दूरी पार करने के लिए होती है और काठ का घोड़ा उस नजरिए से एकदम बेकार है-हां, बच्चों को वह लुभाता है और वे उस खिलौने से खूब खेलते हैं। दूसरा घोड़ा बहुत तेज है-दूरी बिजली की गति से पार करता है लेकिन वह गति भी किस काम की, जिस पर हर वक्त मौत मंडराती रहे। कह सकते हैं कि अपनी-अपनी कमियों से दोनों घोड़े बेकार हैं, लेकिन एक बात है। अगर काठ के घोड़े पर से जीन उतार कर अरबी घोड़े की पीठ पर कस दी जाय और लगाम उसके मुंह में लगा दी जाए तो फिर सवार उस घोड़े पर कुशलतापूर्वक और निश्चिन्त होकर सवारी कर सकेगा और मंजिल पर भी कम से कम वक्त में पहुंच जाएगा।

कल्पना जरा आगे बढ़े कि काठ का घोड़ा है वह धर्म या अध्यात्म है और अरबी घोड़ा है विज्ञान, लेकिन अपनी वर्तमान अवस्था में दोनों ही मानव जीवन के लिए उतने उपयोगी नहीं, जितना कि उन्हें होना चाहिए। लेकिन अगर धार्मिकता की जीन उद्दंड विज्ञान की पीठ पर कस दें और नैतिकता की मजबूत लगाम लगा कर उसे मनुष्य अपने मजबूत हाथों में कस कर पकड़ ले तो विज्ञान धार्मिक और नैतिक हो जाएगा तथा उन बदली हुई परिस्थितियों में धर्म विज्ञान बनने लगेगा, क्योंकि ज्ञान तथा सारे आचार विधान का प्रमाणीकरण अनिवार्य हो जाएगा। इस परिवर्तन को इस तरह कहा जा सकता है कि एक आध्यात्मिक विज्ञान बन जाएगा तो दूसरा वैज्ञानिक अध्यात्म। और तब यह निःसंकोच माना जा सकता है कि इन दोनों रूपों की भूमिका पर अद्भुत रूप होगा और वह नव रूप ऐसा निखरेगा कि जिसका निखार व्यक्ति से विश्व तक फैल जाएगा।

समता दर्शन प्रणेता स्व. आचार्य श्री नानेश ने 'धर्म और विज्ञान के समन्वय' पर भी गहरा चिन्तन किया तथा अपना निष्कर्ष निकाला है। उनका मन्तव्य है कि "प्रभु महावीर की परम पवित्र देशना प्रथम देशना के रूप में उद्घोषित हुई थी-"**जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ। जे बहिया जाणइ, ते अज्झत्थं जाणइ-एयं तुल्लमन्तेसिं**" (आचारांग, 1-1-4) अर्थात् जो अपने अन्दर अपने सुख-दु:ख की अनुभूति को जानता है, वह बाहर दूसरों के सुख-दु:ख की अनुभूति को भी जानता है। जो बाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है। इस प्रकार दोनों को, स्व एवं पर को एक तुला पर रखना चाहिए। इस वाक्य में परम विज्ञान समाया हुआ है। आज विज्ञान केवल भौतिक विकास के तत्त्वों की संज्ञा पा रहा है तो आध्यात्मिक ज्ञान अन्तर्विद्या से सम्बन्धित किया जाता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में दोनों की समन्वय शक्ति का एक दूसरे की पूर्ति से सिंचन किया गया है। जहां बाह्य मन में जिज्ञासाएं पैदा होती हैं और चिन्तन के क्षणों में सोचने की गहराई में पहुंचते हैं तो लगता है कि वहां से विज्ञान और धर्म के समन्वय की आवाज उठती है। ...इन्सान का दृष्टिकोण बाहरी वस्तुओं से बंधा हुआ होता है। वह दृश्य जगत् में अपनी पूर्ण स्थिति का समावेश करना चाहता है। दृश्य जगत् से परे जगत् की-अदृश्य सृष्टि की कल्पना भी प्राय: नहीं बनती है। उसकी तरफ मुड़ना कठिन होता है। लेकिन दृश्य और अदृश्य दिखने वाले और नहीं दिखने वाले इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का सम्मिश्रमण ही यह सृष्टि है। सिर्फ बाहर ही बाहर देखें और अन्दर में नहीं जावे तो जीवन की अवस्था अधूरी रहेगी। जीवन के अन्दर ही अन्दर देखें और बाहर को सर्वथा ओझल कर दें तो वह अवस्था भी परिपूर्ण नहीं बनेगी। सर्वथा भीतर का एकान्तिक रूप भी परिपूर्ण नहीं होता और सर्वथा बाहर की हलचल भी जीवन को अपंग रख देती है। इन्सान यदि अपनी समग्र जिन्दगी को सम्पूर्ण रूप से देखने की जिज्ञासा रखता है तो उसे भीतर और बाहर का समन्वय समुचित रूप से साध लेना चाहिए। वह बाहर को परिपूर्ण रूप से देख सकेगा। भीतर का समग्र स्वरूप सही मायने में तभी सामने आ सकेगा जब वह बाहरी दृश्यों को भी उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख लेगा। ...यों देखें तो विज्ञान और धर्म में भेद पूर्व और पश्चिम का है। विज्ञान का मुख्य आधार भौतिकता है तो धर्म ने अपना मूलाधार आध्यात्मिकता को माना है। भौतिकता शब्द भूत से बना है और भूत का अर्थ होता है जड़-पुद्गल। जड़ाधारित वह भौतिकता और अधि+आत्मिक हो यानी आत्मा की तरफ जाना है वह है आध्यात्मिकता। तो एक जड़ की दिशा है और दूसरी चेतन की दिशा है। वस्तु स्वरूप की दृष्टि से तो जड़ और चेतन की संयुक्त दशा है, जबकि जड़ और चेतन एकदम विपरीत तत्त्व है। अत: भेद तो स्पष्ट है, लेकिन क्या समन्वय भी उतना स्पष्ट है? एक दृष्टि से यह कहें कि समन्वय भी उतना ही स्पष्ट है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। ...दृश्य और अदृश्य तत्त्वों के सम्मिलन से ही इस सृष्टि की रचना हुई है। यह निर्विवाद तथ्य है। वीतराग वाणी भी इसकी पुष्टि करती है कि नौ तत्त्वों में मूल तो दो ही तत्त्व हैं-जीव और अजीव। जब जीव तत्त्व अजीव तत्त्व से मिलता है तभी जीवन की सृष्टि होती है। जीव है सो आत्मा है और अजीव है वह शरीर है। शरीर भी कोई तो इन बाहरी आंखों से दिखाई देते हैं तो कोई इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे इन आंखों से नहीं दिखाई देते। सूक्ष्म जीवाणुओं के शरीर की ऐसी ही स्थिति होती है। स्वयं कार्मण शरीर अति सूक्ष्म होता है-सूक्ष्म होकर भी वह जड़ ही होता है। ...वस्तु स्वरूप की दृष्टि से विचार करें तो जीव और अजीव दोनों एकदम विपरीत तत्त्व हैं। लेकिन दोनों का जो रूप इस संसार

के पटल पर सक्रिय रूप में दिखाई देता है, वह इन दोनों का समन्वित रूप ही तो होता है। आत्मा तत्त्व निराकार है, उसका आकार शरीर बनाता है। मानव शरीर जो दिखाई दे रहा है वह स्वयं जीव और अजीव तत्त्वों की समन्वित श्रेष्ठ रचना है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इन दोनों का जो समन्वित रूप है, वही सृष्टि का मूल है। ...धर्म और विज्ञान के बीच समन्वय की समस्या उसी अवस्था में समस्या है जबकि आत्मा संज्ञाहीन जैसी रहती है। इसलिए प्रमुख समस्या है आत्माभिमुखी वृत्ति के विकास की और जब तक ऐसा समीचीन विकास नहीं हो जाता है तब तक धर्म और विज्ञान के स्वस्थ समन्वय से आत्माभिमुखता की प्रमुख समस्या के समाधान में सहायता प्राप्त की जा सकती है। ...यह (धर्म और विज्ञान का समन्वय) आत्मा की चेतनावस्था के सन्तुलन का बिगाड़ है। कोरी भौतिक लिप्सा इसीलिए तो मनुष्य को राक्षस बना देती है। इसे वस्तुतः समन्वय का अभाव कहा जाएगा। भौतिकता तो आध्यात्मिकता की पूरक बनती है, विज्ञान की स्वस्थ सहायता से धर्म की उन्नति की जा सकती है, लेकिन शर्त यह है कि आत्मा जागृत हो–निजत्व के आधार पर खड़ी रहने की क्षमता उसमें पैदा हो जाए। इसके (समन्वय के) लिए आत्माभिमुख वृत्ति का विकास किया जाना चाहिए और जैसे शरीर को धर्म का साधन बनाया जाना चाहिए तो उसी तरह विज्ञान को भी धर्म का साधन बनाया जाना चाहिए (ग्रन्थ–अपने को समझें–प्रथम पुष्प, अध्याय 11 'धर्म और विज्ञान का समन्वय' पृष्ठ 95–101)।

सार संक्षेप यह है कि धर्म को गति चाहिए और विज्ञान को मति। मति धर्म के पास है और विज्ञान के पास गति। मति के बिना गति उद्दंडता की ओर जाती है तथा गति के बिना मति निष्क्रिय रहती है। अतः निस्सन्देह मति और गति को साथ जुड़ना ही होगा, यदि जीवन को सक्रिय बनाना है। मानव चरित्र का नवरूप निखरेगा इसी मति और गति की संयुक्तता से – धर्म और विज्ञान के स्थिर संयोग से।

◆◆◆



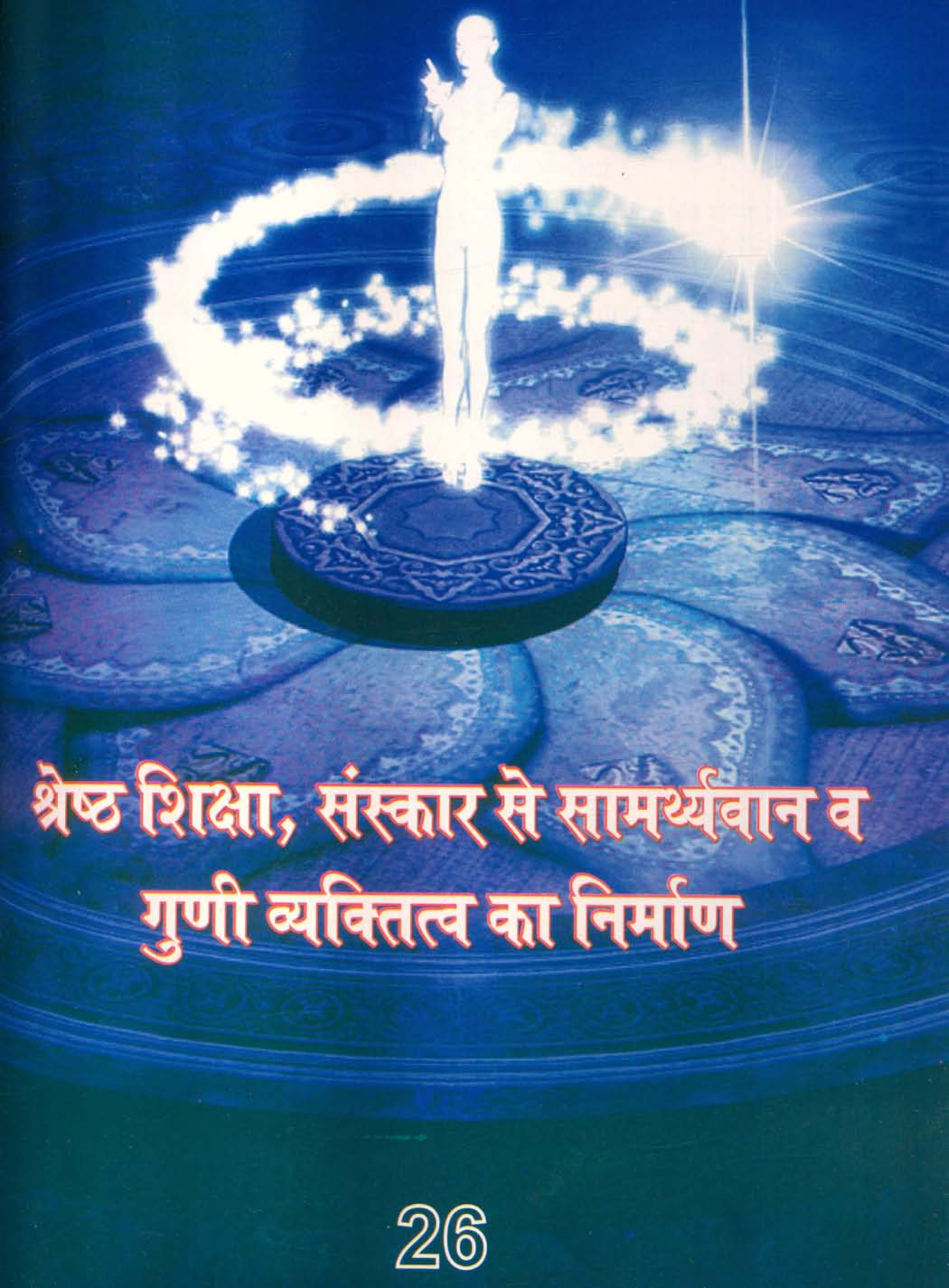
श्रेष्ठ शिक्षा, संस्कार से सामर्थ्यवान व गुणी व्यक्तित्व का निर्माण

चरित्र विकास में शिक्षा व संस्कार की भूमिका

एक बोध कथा है। दो साधु नदी किनारे बैठे अपने पात्रों को साफ कर रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि पानी में एक बिच्छू डूब रहा है। यह देख एक साधु से रहा न गया और उसने तुरन्त बिच्छू को पानी से अपनी हथेली पर उठाया और किनारे पर रख दिया। इस बीच बिच्छू ने उस हथेली पर अपना डंक मार दिया। साधु को जोर से पीड़ा हुई, पर उसने शान्त रह कर उसे सहन की। वह फिर से अपना पात्र साफ करने लगा।

उत्सुकतावश उसी साधु की दृष्टि फिर से किनारे पर बिच्छू को खोजने लगी तो वह वहां नहीं दिखाई दिया। चौंक कर उसने इधर-उधर देखा तो दिखाई दिया कि बिच्छू फिर पानी में चला गया है और डूबने लगा है। वह फिर उठा। पहले की तरह उसने बिच्छू को हथेली पर लिया और किनारे पर रख दिया। बिच्छू ने भी पहले की ही तरह डंक मारा, पर साधु उसे भी सह गया और पीड़ा को सहते हुए अपने पात्र साफ करने लगा।

दुर्योग कि बिच्छू फिर किनारे से पानी में चला गया। फिर साधु की नजर उस पर पड़ी और वह उसे डूबते हुए नहीं देख सका। तीसरी बार भी उसने बिच्छू को हथेली



श्रेष्ठ शिक्षा, संस्कार से सामर्थ्यवान व गुणी व्यक्तित्व का निर्माण

26

पर रखा और बाहर लाया। किन्तु उसने इस बार बिच्छू को किनारे पर नहीं छोड़ा, बल्कि दूर तक ले जाकर छोड़ा। इस दौरान बिच्छू ने उसकी हथेली पर कई बार दंश दे दिए परन्तु साधु अपने स्वभाव से विमुख नहीं बना और उसने बिच्छू के प्राण बचा कर ही दम लिया।

दूसरा साधु पहले साधु की सारी गतिविधि ध्यानपूर्वक देख रहा था। वह कुछ समझा और बहुत नहीं समझा। उत्सुकतावश उसने अपने साथी से पूछा-'भन्ते! क्या आप जानते नहीं थे कि बिच्छू का क्या स्वभाव होता है? आप नहीं जानते थे, ऐसा मैं नहीं मानता, फिर आप बार-बार दंश खाकर भी उस जहरीले प्राणी को बचा क्यों रहे थे?' पहले साधु ने उत्तर दिया-'मित्र! आप, मैं और सभी बिच्छू के डंक मारने के स्वभाव से परिचित हैं। बिच्छू का स्वभाव है डंक मारना और यह तो आप भलीभांति जानते ही होंगे कि मानव का स्वभाव क्या है और विशेष रूप से साधु का स्वभाव क्या होना चाहिए?' दूसरा साधु तब भी असमंजस में था, बोला-'मैं कुछ समझा नहीं, दोनों के स्वभावों की तुलना का क्या अर्थ है?' पहले साधु ने बताया-'सुनो, बहुत ध्यान से सुनो कि मानव और साधु का स्वभाव होना चाहिए प्राणी की रक्षा करना हर हाल में और हर कीमत पर। अब सोचने की बात यह है कि जब बिच्छू ने एक भी बार अपना स्वभाव नहीं छोड़ा तो फिर हम अपना ही स्वभाव क्यों छोड़ दें? हमारा यह दायित्व है कि हम भी अपने स्वभाव पर डटे रहें और दंश का उत्तर भी रक्षा से ही दें।' दूसरे साधु ने अपने वरिष्ठ साधु के चरण छुए और निवेदन किया-'भन्ते! अपने स्वभाव को पाने-पहचानने तथा उसका सदुपयोग करने की विलक्षण शक्ति आपको कैसे प्राप्त हुई जिससे आप दंश की कठिन पीड़ा को भी सहते रहे परन्तु अपने स्वभाव पर डटे रहे?'

पहले साधु ने शान्त स्वर में समझाया कि यह मेरी ही विलक्षण शक्ति नहीं है। यह शक्ति तो प्रत्येक मानव और साधु अपनी आन्तरिकता में विकसित कर सकता है। यह चरित्र विकास का सुफल है, क्योंकि चरित्र विकास के माध्यम से उत्तम संस्कार निरूपित होते हैं। उत्तम संस्कारों से श्रेष्ठ शिक्षा की ओर जिज्ञासा आकर्षित होती है तथा श्रेष्ठ शिक्षा सर्वहितैषिणी क्षमता को परिपुष्ट बनाती है। संस्कार, शिक्षा और क्षमता की भूमिका यह भी है कि उनके द्वारा चरित्र विकास को भरपूर प्रोत्साहन मिले। इन तीनों एवं चरित्र विकास की उच्चतर भूमिकाओं पर ही मानवता का निर्माण होता है तथा साधुत्व की श्रेष्ठता प्रकट होती है। ऐसी शक्ति अपने चरित्र विकास से हर कोई पा सकता है और पारम्परिक आधार पर हर कोई समूह, समाज या राष्ट्र भी चरित्र की उत्तमता के अनुरूप सर्वांगीण विकास साध सकता है।

निश्चित रूप से उत्तम संस्कार, शिक्षा एवं क्षमता मानव चरित्र का विकास करने वाले सहयोगी तत्त्व हैं, जिनकी साधना करके मानव मानवीय मूल्यों के उज्ज्वल चरित्र से सम्पन्न बन सकता है।

सुसंस्कारों के निर्माण की यात्रा एवं परस्परता का योगदान :

सुसंस्कारों के निर्माण का प्रश्न केवल एक व्यक्ति, एक समाज अथवा एक काल खंड के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं होता है। वास्तव में सुसंस्कारों का निर्माण एक अनवरत यात्रा है, जो संस्कारों को परिमार्जित करती है, परम्पराओं का रूप-स्वरूप संवारती है तथा व्यक्तियों के साथ-साथ समूहों

और आगे की पीढ़ियों के लिए भी चरित्र विकास का सुगम पथ निर्धारित करती है। इस यात्रा के विस्तार की कोई सीमा नहीं और इसकी प्रभाविकता का कभी भी अन्त नहीं। यह यात्रा बहती हुई नदी के समान है जिसका जल सबको स्पर्श करता है किन्तु नदी जल के समान ही इस यात्रा के मार्ग में भी मैला बिखरा होता है, कांटे-कचरा फैला रहता है और तीखी चट्टानों के समूह छिपे रहते हैं जल स्पर्श के साथ यात्रियों को इनका भी सामना करना होता है। कुछ यात्री जो अपने संकल्प को साहस के साथ सहेजे हुए चलते हैं, वे मैल से भी बचते हैं, कांटों-कचरे को एक ओर हटा देते हैं तथा चट्टानों से अपने तन-बदन को छिलने नहीं देते। लेकिन कई यात्री उस मैल से खुद को भी मैला बना देते हैं, कांटों-कचरे में उलझ जाते हैं और चट्टानों से टकरा कर अपने को लहुलुहान कर लेते हैं। इस प्रकार की दोनों स्थितियां चलती रहती हैं और इनसे सम्बन्धित प्रत्येक यात्री की मनोदशाएं भी बदलती रहती है। अगला यात्री इसी रूप में पिछले यात्री के लिए अपने संस्कार छोड़ता जाता है और यों संस्कारों की एक श्रृंखला बनती जाती है-परम्परा ढ़लती जाती है। परम्पराओं के निर्माण में संस्कारों की बुराईयों और कमजोरियों को दूर करते हुए सभी संस्कारों की श्रेष्ठताओं को सम्मिलित किया जाता है जो भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा की स्रोत बनती है। सुसंस्कारों के निर्माण की इसी यात्रा में चरित्रहीनता को मिटाने तथा चरित्र विकास को प्रोत्साहन देने के प्रयास भी चलते रहते हैं।

सुसंस्कारों के निर्माण की यह यात्रा एक जन्म तक भी सीमित नहीं होती है। जैसे मनुष्य आते रहते हैं और जाते रहते हैं, पर सृष्टि सतत चलती रहती है, उसी प्रकार यह यात्रा भी जन्म जन्मान्तरों तक चलती रहती है। इसकी निरन्तरता कभी टूटती नहीं है। कर्म सिद्धान्त की स्थिति को लेकर अनुवेक्षिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द आज के वैज्ञानिक जगत् में स्पष्ट रूप से आ चुका है। भारत में जन्मे डॉ. खुराना के बाद भी 'जीन' पर अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान किये जा रहे हैं तथा आनुवांशिक प्रभाव के क्षेत्रों की परख की जा रही है। जीन्स की सहायता से मानव संस्कारों का ही अध्ययन नहीं किया जा रहा है, बल्कि कृषि आदि क्षेत्रों में इसके सफल प्रयोग भी किए जा रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कारों के निर्माण, उद्गम, स्वरूप, फैलाव, जमाव आदि विभिन्न परिस्थितियों पर वंशानुक्रम का कितना और कैसा असर होता है तथा उस असर को प्रभावित कैसे किया जा सकता है-इसका भी अध्ययन चल रहा है। संस्कार निर्माण की प्रक्रिया में इससे नये आयाम जुड़ सकेंगे और कैसे भी संस्कारों को सुसंस्कारों में रूपान्तरित करने के प्रभावकारी उपायों की उपलब्धि की जा सकेगी। वंश परम्परा से आने वाले संस्कारों को चरित्र विकास के अनुकूल भी बनाया जा सकेगा। सुसंस्कारों के निर्माण का पथ प्रशस्त हो, सुसंस्कारों का सर्वत्र पूंजीकरण बने तथा वह चरित्र विकास के रूप में कार्यशील बन कर व्यक्ति एवं समाज के जीवन में शुभ एवं सुखद परिवर्तन लावे-आज ऐसे सघन प्रयत्नों की अपेक्षा है।

यह ज्ञातव्य है कि संस्कारों का निर्माण एकाकी नहीं होता, वह परस्परता का परिणाम होता है। समाज के विशाल क्षेत्र में जो शुभाशुभ गतिविधियां चलती है-घात-प्रतिघात होते हैं, उनका प्रभाव 'मैं, तुम और सब' पर पड़ता है और यहीं से संस्कारों की उत्पत्ति होती है। ये संस्कार ही बिगड़ते-सुधरते-बदलते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते हैं जब तक कि कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं आ

जाता है। तभी तो शिशु जो जन्म लेता है, वह भी निर्गुण नहीं होता। फिर जन्म से वह गुण कहां से लाता है? इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति केवल अपने में से ही नहीं, परस्परता में से वह लेता है। आशय यह है कि वह गुण पारस्परिकता से लेता है और गुण लाता है रक्त से-आनुवांशिकता से। ये संस्कार माता-पिता के होते हैं और माता-पिता के संस्कार उनके माता-पिता से और इस प्रकार क्रम का सिलसिला अन्तहीन होता है। संस्कारों की श्रृंखला के विषय में वैज्ञानिक डार्विन की अपनी थ्योरी है कि संस्कार पशु से आदि-मानव में और फिर आगे से आगे पनपते रहे हैं। किन्तु सांस्कृतिक थ्योरी यह नहीं। जब भी आदि तत्त्वों से सचेतन सृष्टि हुई तब कहा जा सकता है कि बीज रूप में सत्-चित्त-आनन्द आदि तत्त्व ही गर्भित था। इस प्रकार आदि संस्कार प्राणी मात्र और मनुष्य मात्र में अन्तर्भूत चिन्मयता का हो जाता है-शेष सब संस्कार उस पर ऊपर से चढ़े हो सकते हैं। मूल संस्कार यह दिव्यता और चिन्मयता है।

जीव अपने को ही दो में बांट लेता है और फिर गुणानुगुणित होता जाता है। संस्कार देने और प्राप्त करने की भूमिका शायद यहीं उत्पन्न हुई। पहले स्व-परता या परस्परता नहीं थी, अत: परस्परता के साथ ही संस्कारिता आई। संस्कारों को व्यक्ति द्वारा उद्‌भुत माना जाता है, किन्तु वास्तव में वे प्रतित्व से पैदा होते हैं। पुरुष-स्त्री भावों की या अन्यथा परस्परता में से संस्कार बनते और बिगड़ते हैं। उन पर स्वाधिकार किसी का नहीं है और न वे किसी समय प्रति निश्चित हो पाते हैं। ऐन्द्रिक आदान-प्रदान सम्प्रदान वे माध्यम हैं, जिनसे परस्परता सृष्ट, पुष्ट एवं व्यक्त होती है तो खंडित और भ्रष्ट भी होती है। संस्कार निर्माण एवं चरित्र विकास को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व हैं, उनमें परस्परता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सुसंस्कारों के निर्माण की यात्रा के सभी तत्त्वों तथा सभी पहलूओं को बारीकी से समझने की जरूरत है ताकि परिमार्जन एवं परिवर्तन की दृष्टि स्पष्ट हो सके और इनसे सम्बन्धित प्रयत्नों को एकजुट करके सार्थक बनाया जा सके।

संस्कार निर्माण से सत्शिक्षा तथा सत्शिक्षा से सुसंस्कार सृजन :

शिक्षा के साथ संस्कारों को न जोड़ पाने का खामियाजा आज हमारा देश भुगत रहा है। इस देश में छात्रों की ऐसी-ऐसी अवांछित गतिविधियों के समाचार बराबर छपते रहते हैं, जिन्हें जान सुन कर यह सोचना मुश्किल हो जाता है कि यहां कभी शिक्षा की गुरुकुल पद्धति प्रचलित थी। आज के विद्यालय, महाविद्यालय शिक्षा और विद्या के मंदिर हैं अथवा राजनीति के युद्धस्थल, नशेबाजी व कुकृत्यों के अड्डे और अनुशासनहीनता के जीते-जागते नमूने, असलियत सभी जानते हैं। रेगिंग की प्रथा तो उच्छृंखलता की हद है। शिक्षाविद् और राजनेता बराबर भाषण देते रहते हैं कि बच्चों में प्रारम्भ से शुभ संस्कार डालने चाहिए किन्तु इसके लिए क्या उपाय करने चाहिए-कोई नहीं बताता-प्रयास की बात तो बहुत दूर की है।

बाल्यावस्था से ही सुसंस्कार ढालने का कार्य शुरू हो जाना चाहिए ताकि चरित्र निर्माण की तभी से शुरूआत हो जाय तो चरित्र विकास छात्र जीवन तथा आगे के जीवन में आने वाली सारी बुराइयों

से बचा सके, किन्तु अभिभावक भी दायित्वहीन हो रहे हैं। वे सोचते हैं कि चरित्र निर्माण का कार्य शिक्षक और शिक्षण संस्थाओं का है। शिक्षक और शिक्षण संस्थाएँ अब शिक्षा को सेवा नहीं, व्यापार मानने लगी हैं। कुल मिलाकर देश की नई पीढ़ी के चरित्र निर्माण की जिम्मेदारी कोई नहीं ओढ़ रहा है। संस्कारों का आधार नहीं है तब भी शिक्षा तो हैं, पर वह सत्शिक्षा नहीं है और सत्शिक्षा नहीं है तो भविष्य के लिए सुसंस्कारों के सृजन का और चरित्र विकास का महद् कार्य उपेक्षित है। इस दुष्चक्र को तोड़ना होगा और सभी सम्बन्धित वर्गों को अपना दायित्व समझना होगा। संस्कार एवं शिक्षा को जोड़ना तो होगा ही, किन्तु उससे पहले उस वातावरण से संघर्ष करना होगा जो चरित्र निर्माण एवं विकास के लिए बाधक ही नहीं, घातक भी बना हुआ है। संस्कारविहीन शिक्षा एक अभिशाप से कम नहीं तो शिक्षा का भी प्रधान लक्ष्य निर्धारित होना चाहिए संस्कारों का संचार तथा चरित्र का निर्माण।

संस्कार निर्माण और सत्शिक्षा का सम्मिलित उद्देश्य होना चाहिए-चरित्रशील मानव का सृजन तथा ऐसे सामाजिक जीवन की रचना, जिसमें मूल्यवत्ता एवं गुणवत्ता का स्थान सर्वोपरि हो। सामाजिक जीवन में नैतिकता का मूल्य सब समझें और व्यावहारिक जीवन में उसका पालन हो, ऐसी संस्कारिता स्थाई बननी चाहिए। सामाजिक जीवन के तीन आधार स्तम्भ होते हैं-1. पारस्परिकता या परस्परता, 2. नैतिकता एवं सहनशीलता तथा 3. मानवीय सम्बन्धों की तरलता एवं पालनीयता। नैतिकता की समझ भी आज अधूरी है-उसके आधार तत्त्वों की स्पष्टता जरूरी है ताकि उन्हें शिक्षा की किसी भी योजना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सके। नैतिकता के आधार स्तम्भों को किसी प्रकार की संकुचितता से नहीं जकड़ना चाहिए, बल्कि ऐसा सार्वजनिक रूप दिया जाना चाहिए कि उसमें सभी विकारों एवं सबकी भावनाओं का समावेश हो।

नैतिकता को पथ भ्रष्ट करने और इस रूप में संस्कारिता तथा शिक्षा को बिगाड़ने का दोष आज के अर्थ युग को प्रमुख रूप से दिया जा सकता है। अर्थ की उपयोगिता को नकारने की बात नहीं है, किन्तु उसे जिस तृष्णा और लालसा के साथ जीवन का साध्य मान लिया गया है, उसी दूषित मनोवृत्ति एवं विकृत वातावरण ने सभी वर्गों में एक प्रकार की अराजकता-सी फैला दी है-माता-पिता को अपने ही कार्यकलापों का भान नहीं तो उनके पास सत्संस्कार है कहां? शिक्षकों को भी जीवन की वही सारी सुख सामग्री चाहिए जो नौकरशाह हड़पते हैं तो चरित्र निर्माण और शिक्षा की रचनात्मकता पर उनका ध्यान कैसे केन्द्रित हो? शिक्षण संस्थाएं व्यापार की मंडियां बन चुकी है-पैसा दो, प्रवेश लो और पढ़ो। समाज नायकों को ठेकेदारी से ही फुर्सत नहीं है, वे संस्कारों और शिक्षा की शुभता को कैसे समझें? और बचे धर्मनायक जो यशलिप्सा के चक्र में ऐसे भ्रमित हैं कि वे अपना चरित्र टटोलें या दूसरों का? यों अर्थ के आकर्षण ने सारी व्यवस्था को ही पटरी से नीचे उतार दी है। ऐसे में चरित्र की बात करना और चरित्र विकास को बढ़ावा देना कमर कस कर चलने के संकल्प के बिना संभव नहीं हो सकता है। नैतिकता, आर्थिक पवित्रता और सदाचार के प्रति निष्ठा जगानी होगी जो तभी होगा जब तृष्णा के भीषण दुष्परिणामों से सामान्यजन को अवगत कराया जाए। क्रान्ति जड़ से उठनी चाहिए। इस क्रान्ति से ही संस्कार और शिक्षा का द्वैत टूट पाएगा और

दोनों के पहले 'सत्' विशेषण लग पाएगा। संस्कार निर्माण से सत्शिक्षा तथा सत्शिक्षा से सुसंस्कारों के सृजन का क्रम सतत रूप से चलता रहना चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य ही चरित्र विकास, तभी तो कहा है- 'सा विद्या या विमुक्तये' :

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ही यह है कि जीवन के प्रारंभिक काल में अच्छी आदतें ढाली जाए, अच्छे संस्कार निरूपित किए जाए और ऐसे चरित्र का निर्माण किया जाए, जो अच्छी नागरिकता की क्षमता का विकास कर सके। केवल जीविका निर्वाह की क्षमता जीवन को सार्थक नहीं बना सकती है, किन्तु आज की शिक्षा तो यह भी नहीं कर पा रही है। मानव चरित्र के नवरूप की तैयारी करने का समय आ गया है जिसका आधार होना चाहिए धर्म और विज्ञान का सामंजस्य अथवा भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वय तथा यही आधार शिक्षा को दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा से जो नया व्यक्तित्व जन्म लेगा वह चरित्र का विकास करते रहने में पर्याप्त रूप से क्षमतावान भी होगा।

वह शिक्षा ही कैसी, वह ज्ञान ही क्या और किस प्रकार की है वह विद्या, जो आचरण का रूप न लेती हो चरित्र निर्माण को प्रोत्साहित न करती हो? क्रियाहीन कोरी विद्या का क्या मूल्य है? जो जीवन की बेड़ियां नहीं तोड़ सकती हो, सारे बन्धनों को हटा देने की क्षमता पैदा नहीं कर सकती हो, वैसी विद्या बन्ध्या है, वैसी शिक्षा निष्फल है और वैसा ज्ञान निरर्थक है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए उचित ही कहा है कि विद्या वही है, जो हमें विकारों से मुक्ति दिलाने वाली हो (**सा विद्या या विमुक्तये**), हमें स्वतंत्र करने वाली हो, हमारे बन्धनों को तोड़ने वाली हो। मुक्ति का अर्थ है-स्वतंत्रता, बन्धन मुक्ति। सामाजिक कुरीतियों, पारिवारिक कुसंस्कारों, धार्मिक अंधविश्वासों, पारस्परिक गलतफहमियों और मानसिक आशंकाओं आदि से-जिनसे भी वह जकड़ा हुआ हो-उनसे छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतंत्रता है।

शिक्षा और कुशिक्षा के अन्तर को आंक पाना भी जरूरी है। यदि किसी ने अध्ययन करके चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या सीखी है तो कहना चाहिए कि उसने शिक्षा नहीं, कुशिक्षा पाई है। कुशिक्षा अशिक्षा से भी ज्यादा भयानक होती है। इसीलिए शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य को ध्यान में ले। मूलत: यह लक्ष्य है अज्ञान को दूर करना। अज्ञान है अपने आपको नहीं जान पाना। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियां मौजूद हैं और जो अज्ञान के नीचे दबी हुई है, उन्हें प्रकाश में लाना तथा समुचित चरित्र का निर्माण करना शिक्षा का दायित्व है। शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं और जीवन की सभी शक्तियों के विकास के साथ ऐसी क्षमता फूटती है जिसके द्वारा मानव चरित्र का श्रेष्ठतम स्वरूप संवारा जाता है। तभी शिक्षा को सफल कह सकते हैं। सफल शिक्षा व्यक्ति को जीवन की सफलता का मूल मंत्र प्रदान करती है जो है-विनम्रता। नीति में कहा गया है कि विद्या विनय देती है, विनय से पात्रता मिलती है, पात्रता से धन प्राप्त होता है और धन से धर्म तथा धर्म से सुख मिलता है (**विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रताम्: पात्रत्वां धनमाप्नोति, धनं धर्म तत: सुखम्**)। विनय को विद्या प्राप्ति का चरम लक्ष्य माना जा सकता है।

चारित्रिक व्यक्तित्व के समग्र विकास हेतु शिक्षा प्रणाली का निर्धारण :

संसार का घटक है व्यक्ति और व्यक्ति की पहचान होती है उसके व्यक्तित्व से। यह व्यक्तित्व निर्मित होता है शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक गुणों को आचरण में उतारने से जिसे समुच्चय में चारित्रिक व्यक्तित्व का नाम दिया जा सकता है। पाश्चात्य विचारकों ने जहां व्यक्तित्व विकास के लिए बाह्य प्रतीकों-जैसे वेशभूषा, शिष्टाचार, बौद्धिकता आदि को विशेष महत्त्व दिया है, वहां पौर्वात्य विचारकों ने मानवीय मूल्यों एवं आन्तरिक गुणों को व्यक्तित्व का प्रधान अंग माना है। भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ नीतिशतक (63) में धैर्य, सहिष्णुता, आत्मनियंत्रण, वाणी चातुर्य, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि को महान् व्यक्तित्व के घटक गुण कहा है, वहां जैन आचार्यों ने व्यक्तित्व को प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं सदाचार सम्पन्न बनाने के लिए इक्कीस सद्गुणों पर विशेष बल दिया है, जिनमें उदारता, स्वभाव सौम्यता, करुणाशीलता, विनय, न्यायप्रियता, कृतज्ञता, धर्मनिष्ठा आदि सम्मिलित हैं (प्रवचन सारोद्धार द्वार 238, गाथा 1365-58)।

शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं है-उसे व्यक्तित्व का सर्वांग विकास करना चाहिए। अक्षर ज्ञान शिक्षा का एक अंग मात्र है। शिक्षा का फलित है-ज्ञान और आचार तथा बुद्धि और चरित्र का समग्र विकास। आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों-फ्रोबेल, डीवी, मॉन्टेसरी आदि ने विभिन्न शिक्षा प्रणालियों का प्रतिपादन किया है, किन्तु मुख्य रूप से शिक्षा प्रणाली के दो ही प्रकार होते हैं-1. अगमन (इंडक्टिव) और 2. निगमन (डिडक्टिव)। अगमन प्रणाली में शिक्षक अपने छात्रों को कोई सिद्धान्त या विषय समझाता है और वे उसे समझ लेते हैं-कंठस्थ कर लेते हैं। पूछने पर समझा हुआ बोल या लिख दिया जाता है। निबन्धात्मक प्रश्नोत्तर इसी प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं। निगमन प्रणाली में पहले परिणाम या फल बताकर फिर सिद्धान्त निश्चित किया जाता है। इस प्रणाली में उत्तर छात्रों से निकलवाए जाते हैं जिससे उनकी बुद्धि एवं योग्यता का परिचय मिलता है। लघु उत्तरीय प्रश्न इस प्रणाली के अन्तर्गत है। दोनों प्रणालियां अपने-अपने ढंग से ज्ञान और बुद्धि के विकास के साथ व्यक्तित्व का विकास करती है।

यहां प्राचीन जैन शिक्षा प्रणाली का उल्लेख दिशा सूचक होगा, जिसमें उपरोक्त दोनों प्रणालियों के तत्त्व समाए हुए हैं। उनसे अधिक विशेषता यह भी है कि जैन प्रणाली में शिष्य की पात्रता, उसका विनय चरित्र एवं उसकी आदतों-अन्तर्हृदय की भावनाओं आदि पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता था। समग्र लक्ष्य था तेजस्वी व्यक्तित्व (डायनमिक पर्सनेलिटी) का निर्माण। जैन प्रणाली के अनुसार शिक्षा दो प्रकार की है-

1. ग्रहण शिक्षा : शास्त्रों का ज्ञान, शुद्ध उच्चारण, पठन, अर्थ, भावार्थ आदि।

2. आसेवना शिक्षा : नियमों का पालन, व्रतों का आचरण, दोषों का परिमार्जन, निर्मल चरित्र आदि। दोनों विधियां मिलकर सर्वांग एवं सम्पूर्ण शिक्षा का स्वरूप बनाती है। शिक्षा प्रारम्भ की अवस्था सामान्य रूप से पांच वर्ष से मानी गई है तथा शिक्षण काल में छात्र की पात्रता तथा योग्यता की परीक्षा ली जाती थी। पात्रता के आठ गुण निर्धारित थे-हास्य न करना, इन्द्रिय दमन करना, मर्म

वचन न बोलना, शीलवान, चरित्र निष्ठा, रसलोलुप न होना, क्रोध नहीं करना तथा सत्यभाषी होना (उत्तराध्ययन, 11/4-5)। शिक्षा प्राप्ति में पांच बाधक कारण माने गए-अहंकार, क्रोध, प्रमाद (निद्रा, व्यसन) रोग, आलस्य (उत्तराध्ययन 11-3)। जैन शिक्षा पद्धति में विनय और अनुशासन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और संस्कार व समर्पण को आधार माना है। कहा गया है-गुरु की आज्ञा मानना, गुरुजनों के समीप रहना, उनके मनोभावों को समझना एवं तदनुसार आचरण करना-ये विनीत के लक्षण हैं (उत्तराध्ययन, 1-2)। विनय के रूप में विद्यार्थी के अनुशासन, रहन-सहन, व्यवहार, बोलचाल आदि सभी विषयों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया जाता था। उस पद्धति की प्रश्नोत्तर शैली भी जिज्ञासा को प्रोत्साहित करती थी। श्रेष्ठ समाधानों का भी उसमें समावेश था।

जैन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी की चारित्रिक विशेषताओं पर गंभीरता से विचार किया गया तथा तत्सम्बन्धी पन्द्रह गुणों का उल्लेख किया गया-1. नम्रता, 2. अचपलता, 3. दंभी नहीं होना, 4. कौतूहल से दूर, 5. निन्दा नहीं करना, 6. क्रोध पर नियंत्रण, मन में भी शान्ति 7. मित्रता निबाहना, कृतज्ञ होना, 8. ज्ञान प्राप्ति पर अहंकार नहीं, 9. किसी की भूल का न तिरस्कार, न उपहास 10. मित्रों-साथियों के साथ अक्रोध, 11. मित्र के साथ अनबन पर भी बुरा नहीं सोचना, निन्दा नहीं करना, भला ही करना, 12. कलह, विवाद, झगड़ों से दूर, 13. स्वभाव से शिष्ट, कुलीन, मृदु, 14. बुरे काम में शर्म महसूस करने वाला एवं 15. अपने आपको संयत एवं शांत रखना (उत्तराध्ययन, 11/10-14)।

आज हम इक्कीसवीं शताब्दी में पहुंच गये हैं, इस कारण अब तक के विकास, वर्तमान परिस्थितियों एवं भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर नई शिक्षा पद्धति का गठन अब किया जाना चाहिए, जिसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रणालियों के श्रेष्ठ गुणों का समावेश हो। आज सफल जीवन की क्या चारित्रिक आवश्यकताएं हैं-इस पर विचार करें। जीवन सात अंगों की समष्टि का नाम है जो हैं-शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म और बुद्धि। इन सात अंगों की उन्नति और पुष्टि पर ध्यान दें तो मोटे तौर पर जीवन की आवश्यकताएं उभरती हैं-प्रशिक्षण (मानसिक, शारीरिक आदि), अभ्यास संस्कार-आरोपण एवं चरित्र निर्माण। इनकी पूर्ति से जीवन की गतिशीलता, निर्मलता और उपयोगिता विकसित होगी। नई बताई जाने वाली शिक्षा पद्धति में इन मूल तत्त्वों का ध्यान रहे-1. रोटी जीने की पहली शर्त है अतः नीतिपूर्वक जीविकोपार्जन की गारंटी, 2. विषयों की प्राथमिकता में भाषा, गणित, कला, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि का इतना कम से कम से अध्ययन कि निर्वाह क्षमता बने और उच्चतर अध्ययन विशेषज्ञता के लिए, 3. अनावश्यक विषयों को निकालना तथा आवश्यक विषयों को जोड़ना जो नीति और चरित्र को स्वस्थता एवं दृढ़ता देने वाले हो, 4. उच्चतर शिक्षा के लिये चयन अभिरुचि एवं योग्यता के अनुसार ही, 5. अन्तर्जगत् एवं बाह्य जगत् के सुन्दर समन्वय की शिक्षा का समावेश, 6. अनुकूल ही नहीं, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी शिक्षा के उपयोग की व्यावहारिकता का प्रशिक्षण, 7. संस्कार बीज के विस्तार तथा परिष्कार की मनोदशा का निर्माण आदि। नई पद्धति की स्पष्ट रूपरेखा को राष्ट्रीय बहस के बाद अन्तिम रूप दिया जाना चाहिए। शिक्षा पद्धति

का मूलमंत्र यह हो कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक चरित्र का श्रेष्ठतम विकास हो सके।

क्षमता विकास का गुर है कि समाज को सदा आदर्शोन्मुख रखो :

जब उत्तम शिक्षा हो, उत्तम संस्कार हो तो क्षमता उत्तम बने उसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी उसके लिए प्रयत्न तो अपेक्षित रहते ही हैं। व्यक्ति के चरित्र विकास के साथ सामाजिक चरित्र भी एक स्तर तक उन्नत होना चाहिए जिससे चारित्रिक गुणों के विस्तार का सुन्दर वातावरण बन सके। विकास के दो प्रमुख तत्त्व होते हैं–आदर्श और यथार्थ। इन तत्त्वों की जानकारी कोई कठिन नहीं, हर कोई इन्हें आसानी से समझ सकता है। छात्र किसी परीक्षा के पहले यह धारणा बनाकर मेहनत से पढ़ाई करते हैं कि उन्हें अमुक प्रतिशत अंक अवश्य प्राप्त करने हैं। समझें, कोई छात्र निश्चित करता है कि उसे नब्बे प्रतिशत अंक लाने हैं तो वह उस लक्ष्य को सामने रखकर पढ़ता है। परन्तु यह निश्चित नहीं होता कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही ले। फिर भी प्रयास उस लक्ष्य का करने से वह लक्ष्य से बहुत पीछे तो नहीं ही रहेगा। इसका अर्थ यह है कि हमारा लक्ष्य आदर्श की ऊंचाई की ओर होगा तो उसके पीछे यथार्थ भी अवश्य उन्नति करेगा। जीवन विकास में भी इन दोनों तत्त्वों की आवश्यकता रहती है जो समाज व राष्ट्र के विकास के लिये भी जरूरी है। हम अपनी संस्कृति, सभ्यता या विचारधारा के माध्यम से अपने आदर्शों से परिचित होते हैं, अत: आसानी से अपना लक्ष्य निर्धारित कर सकते हैं। यों लक्ष्य काल्पनिक नहीं, व्यावहारिक होना चाहिये, फिर भी लक्ष्य प्राप्ति आसान नहीं होगी। अपने प्रयास में प्रकाश स्तंभ के समान लक्ष्य चमकता रहे और हम उसमें अपने निर्धारित पथ पर चलते रहे तब भी हमारी क्षमता ऊर्जा से भरी रहेगी। आदर्शों की प्रेरणा से उमंग, गति और कार्यशक्ति बढ़ती जाती है। अब यथार्थ की बात करे। यथार्थ अथवा आज की हकीकत। किसी भी विकास की प्रक्रिया हो, यथार्थ का आकलन ही स्पष्ट करता है कि हम सामान्य प्रगति से भी कितने पीछे हैं या क्या करने से कहां तक अग्रसर हो सकेंगे। इसी आधार पर व्यक्ति की नहीं, समाज या राष्ट्र की योजनाएं भी निश्चित की जाती है। यथार्थ का निरन्तर आकलन हमारी क्षमता का थर्मामीटर होता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि इसी रीति–नीति से यदि सदा समाज को आदर्शोन्मुख बनाए रखे तो सामान्य जन भी उन आदर्शों के प्रकाश में प्रगति की गति को संतुलित बनाए रख सकते हैं। क्षमता के सतत विकास के लिए भी यह रीति नीति लाभप्रद सिद्ध होगी। दूसरे, आदर्श या लक्ष्य को सामने रखते हुए गति करने की स्थिति में अपने मार्ग से कभी भटकाव नहीं होता है तथा निरन्तर गति में तीव्रता आती रहती है। समाज, राष्ट्र या विश्व के समक्ष निर्धारित आदर्श भले असाध्य ही दिखें, फिर भी मानना चाहिए कि प्रयास की कसौटी पर कुछ भी असाध्य नहीं होता, बल्कि असाध्य के समक्ष प्रयास कई गुने कठोर हो जाते हैं। उत्साह की कोई सीमा नहीं होती और एक दिन वह अप्राप्य को भी प्राप्त कर लेता है। प्रश्न सदा मन:स्थिति का ही मुख्य रहता है और मन:स्थिति आशा व उत्साह से परिपूर्ण रहे तो आदर्श या लक्ष्य उसे कभी शिथिल नहीं होने देता है। विश्वास पूर्वक यह कह सकते हैं कि क्षमता विकास का कोई कारगर गुर है तो वह है समाज को सदा आदर्शोन्मुख रखो और व्यक्ति को उसे पा लेने की संकल्पबद्धता के साथ उत्साहित बनाते रहो।

उत्तम संस्कार, शिक्षा व क्षमता चरित्र विकास के मूल भी हैं और फल भी :

उत्तम संस्कार, शिक्षा और क्षमता का सद्भाव चरित्र विकास के पहले भी चाहिए और बाद में भी। यदि पहले से ये तत्त्व समाज के वायुमंडल में विद्यमान हैं तो चरित्र विकास की श्रेष्ठता अतुलनीय होगी। तो ये इस प्रकार चरित्र विकास के मूल होंगे। यदि ये तत्त्व पहले दुर्बल हुए तो कठोर प्रयास की आवश्यकता होगी और चरित्र विकास के फल रूप में इन तत्त्वों की प्राप्ति हो सकेगी अर्थात् चरित्र विकास से संस्कार, शिक्षा तथा क्षमता में उत्तमता का संचार होगा। मूल और फल दोनों उत्तम रहें तो परम्परा उत्तम बनेगी, सभ्यता व संस्कृति समुन्नत होगी।

◆◆◆



धनबल, बाहुबल व सत्ता की ताकत का सदुपयोग चरित्रवान ही करेगा

धर्मरहित विज्ञान से चरित्र का नाश

विज्ञान ने अपार भौतिक विकास किया किन्तु वह विवेकहीन सिद्ध हुआ है, क्योंकि साथ-साथ मानव को विज्ञान का चेहरा नहीं बनाया गया और मानवता के मूल्यों से वंचित मानव भी विज्ञान को मानवीय रंग नहीं दे पाया। यों विज्ञान और मानवता का समागम यथार्थ नहीं हो सका। उसका दुष्परिणाम सामने है कि आज चारों ओर धन और सत्ता को हथियाने के लिए बीभत्स पागलपन फैला हुआ है, सुख-सुविधाओं की उद्दाम लालसाओं ने धर्म और नैतिकता की सारी हदें पार कर ली हैं और सत्ता नायक विज्ञान की सहायता से संहारक और अधिनायक होते जा रहे हैं-उनमें सेवा भाव तो नहीं ही है, पर उनके शासन में रचनात्मकता भी नहीं रही है। एक अंग्रेज कवि ने अपनी काव्य रचना 'पेराडोक्स' में आज के विरोधाभासों पर अपनी तीखी नजर फैंकी है जिसका अनुवाद यहां दिया जा रहा है-

इतिहास में आधुनिक समय का
विरोधाभास बड़ा विचित्र है
उन्हीं विडम्बनाओं का यह चित्र है।
हमारे गगनचुम्बी भवन हैं ऊंचे से ऊंचे

धनबल, बाहुबल व सत्ता की ताकत का सदुपयोग चरित्रवान ही करेगा



27

किन्तु हमारा स्वभाव चला गया है नीचे से नीचे
हमारी सड़कें बन गई हैं चौड़ी
और दृष्टिकोण संकड़े हो गये, कीमत नहीं कौड़ी
हमारी अपव्ययता का पार नहीं
पर अपना कहने को हमारे पास कोई आधार नहीं
हम वस्तुएं खरीदते हैं अनाप शनाप
परन्तु उनका सुख उठा नहीं पाते खुद आप।
हमारे पास बहुत बड़े-बड़े घर हैं
लेकिन परिवार छोटे से छोटे
जिसमें भी अपनापा बेघर है
सुख-सुविधाएं प्रचुर हैं
पर समय का साथ नहीं बैठता सुर है
जानकारी और ज्ञान बहुत बढ़ा लिया
परन्तु निर्णय शक्ति घट रही है
विशेषज्ञता हर क्षेत्र में हो गई
किन्तु समस्याओं से धरती पट रही है।
औषधियां तो असंख्य हो गई हैं
पर स्वास्थ्य और नीरोगता जैसे खो गई है
हमने अपनी सम्पतियां कर ली कई गुना
परन्तु घट गये हैं अपने ही मूल्य
आदर्श रह गया है अनसुना
हम बातें बहुत बनाते चिकनी-चुपड़ी
पर मुश्किल से करते हैं कभी प्यार
बस, बढ़ बढ़कर नफरत के तीर चलाते
भांत-भांत के मुखौटों का कर लिया प्रचार।
हमने सीखा है अच्छे से रहना-सहना
किन्तु आया नहीं जीवन का भाव
अधिक वर्ष तो जीने लगे हैं
पर जीवन के वर्षों को
जीवन्त बनाने का नहीं ताव।
हम ठेठ चन्द्रमां तक भी पहुंच गये
और लौट आये सकुशल
पर नये पड़ौसी से मिलने को
एक गली पार करने का नहीं लगाते बल

यों तो हमने अन्तरिक्ष को जीत लिया
पर जीत न पाए
अपना ही अन्तर्हृदय विशेष
अणु को विखंडित करते चले गए हम
पर खंडित नहीं कर पाए
अपना द्वेष-विद्वेष
आमदनियां खूब बढ़ाई हमने
पर नैतिकता तो टूट गई
मात्रा का विस्तार किया अपार
पर गुणवत्ता तो खूट गई।
यह ऐसा अजीब समय है कि
इन्सान हो गया लम्बा
और चरित्र बहुत छोटा
मुनाफों का लगा अम्बार चौतरफा
लेकिन संबंधों का रूप बहुत खोटा।
विश्व शांति की बातें की जाती है
किन्तु देश-देश में मचा संघर्ष
बहुत प्रमाद, ईर्षा
पर नहीं विनोद, नहीं विमर्श
भोजन के निकले अनेक स्वादिष्ट प्रकार
लेकिन पोषणता पर ही प्रहार
विवाहों की धूमधाम का जमाना
पर तलाकों का आंकड़ा बढ़ गया
मकान बन रहे आलीशान
लेकिन टूटे घरों का मलबा
उन पर चढ़ गया।
यह ऐसा युग है।
जब प्रदर्शनों में तो
सम्पन्नता दिखाई जाती है।
आडम्बर और दिखावों की बातें सिखाई जाती है
पर खाली है गोदाम, रहे अनजान
हकीकत बन गई है कहावत-
'ऊँची दुकान, फीका पकवान।'

नियंत्रण-शून्य विज्ञान ने दी विलासिता और संहारक शक्ति :

मानव समाज के लिये विज्ञान पूरी तरह से खोटा,सिक्का साबित हुआ है-ऐसा कतई नहीं है और अब तक वैज्ञानिक क्षेत्र की जो उपलब्धियां हैं, वे पूरी तरह विकृत और घातक ही हैं-ऐसा भी नहीं है। ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र कभी-भी मानव विरोधी नहीं होता, बशर्ते कि मानव ही उसका अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये शोषण न करें। विज्ञान के साथ मानव की स्वार्थ वृत्ति ने ही भयंकर खेल खेला है और उसका दुरुपयोग ही अधिक किया है। भला करने वाले साधन का भी दुरुपयोग करके उसे बुरा करने वाला बनाया जा सकता है, फिर उस साधन को कोसने से बुराई के कारण सामने नहीं आएंगे, क्योंकि बुरा तो उसे कहना होगा जिसने अच्छे साधन का दुरुपयोग किया। एक उदाहरण से इसे समझें। महात्मा गांधी के हाथों तकली का प्रयोग बढ़ा। चरखा सभी हमेशा साथ नहीं रख सकते और उन्होंने सूत कातने को एक नैतिक मर्यादा प्रदान की, अतः तकली का प्रयोग उस समय बहुत बढ़ा भी। तो तकली की खास बात बतावें। तकली का काम शुद्ध रूप से सूत कातना है और यह अच्छा प्रयोग है। अब ऐसे शुद्ध साधन का दुरुपयोग करके कोई दुष्ट व्यक्ति उस तकली को किसी की आंख में घुसेड़ कर उसे फोड़ दे तो इसमें तकली का क्या दोष होगा? दोष है पूरा उस दुष्ट व्यक्ति का। यही तर्क विज्ञान के साथ भी लागू होता है।

यह नहीं है कि विज्ञान का प्रयोग मानव समाज की सुख शान्ति के लिए अब तक हुआ ही नहीं है। पहिए से लेकर कम्प्यूटर तक विज्ञान ने आवागमन, सूचना, सम्पर्क, व्यापार, व्यवसाय आदि के इतने सशक्त साधन दिए हैं कि जिससे मानव समुदाय का सम्पर्क ही घनिष्ठ नहीं हुआ है, बल्कि एकता, सहयोग आदि के सूत्र भी मजबूत हुए हैं। अणु शक्ति की ही बात करें। इसके बारे में सामान्य जानकारी यही है कि अणु से बनने वाले बम एवं अन्य अस्त्र सर्व संहारकारी हैं और यह विज्ञान की घातक उपज है। इसमें भी रहस्य वही है। अणु के शान्तिपूर्ण उपयोग के भी अनेक साधन हैं और उनसे मानव जाति का काफी उपकार हो सकता है। ऐसे शान्तिपूर्ण उपयोग हो भी रहे हैं, लेकिन उनकी चाल धीमी है और आणविक अस्त्रों के उत्पादन की चाल तेज है क्योंकि बड़े राष्ट्रों के शासक अणु शक्ति के माध्यम से पूरे विश्व पर अपना दबदबा बनाना चाहते हैं। किसी भी अच्छे साधन के भी दुरूपयोग की आशंका तब बहुत बढ़ जाती है जब उस साधन के उत्पादन व उपयोग पर व्यक्ति और समाज का नियंत्रण नहीं होता। अणुशक्ति का भी यही हाल है। इस पर स्वार्थी शासकों का नियंत्रण है। सही सामाजिक नियंत्रण का अभाव है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रगति पर ही कभी सही सामाजिक नियंत्रण नहीं रहा। नियंत्रण शून्य स्थिति ने ही विज्ञान के दुरूपयोग की खुली छूट दी और इस क्षेत्र में जिसकी लाठी उसकी भैंस बनती रही। फलस्वरूप वैज्ञानिक खोजों के आधार पर ऐसे साधन निकाले गए, जिनके कारण न तो विज्ञान को मानवीय चेहरा मिला और न मानव समाज की वास्तविक प्रगति हेतु वैज्ञानिक खोजों का उपयोग हुआ।

अधिकांश में विज्ञान का जो स्वरूप मानव समाज के सामने आया उसे दो रूपों में देखा जा सकता है-

1. विलासिता वर्धक : इतने सभी प्रकार के उपकरण निकले हैं जिनसे घर की रसोई से लेकर कम्पनी के दफ्तर तक आदमी को आराम ही आराम मिलने लगा है और इस आराम का ज्यादा

मतलब यही निकला है कि मनुष्य पंगु हो गया है-उसकी प्रकृति पर आधारित जीवनचर्या समाप्त हो गई और उसका स्वास्थ्य भी चौपट हो गया। वह विलासी बन गया-तन बिगड़ा, मन बिगड़ा और यों पूरा जीवन बिगड़ा। प्राप्त सुख साधनों का वह स्वामी नहीं बना, बल्कि उनका दास हो गया। उसने स्वावलम्बन खोया, स्वतंत्रता गुमाई और स्वाभिमान डुबोया। मानवता के मूल्य गिरे, सामाजिक सहयोग मिटा और स्वार्थ के शिकंजे ने सब कुछ ढक लिया। सभ्यता और संस्कृति के मानदंड बदल गए, रहन-सहन के ढंग बदल गए और ऐसी फैशन का फैलाव हुआ जिसका आन्तरिकता से दूर-दूर का भी नाता नहीं। विज्ञान की विलासिता वर्धक प्रगति ने धनी को अधिक धनी और गरीब को ज्यादा गरीब बना दिया। गरीबों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही है बल्कि एक काल्पनिक गरीबी की रेखा से भी नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग खड़ा हो गया है। सबसे बुरी बात तो यह हुई है कि धनी वर्ग ने येन-केन-प्रकारेण धनार्जन के हथकंडे अपनाए तो मजबूर बहुसंख्यक वर्ग भी अपराध और हिंसा की ओर मुड़ने लगा। इस प्रकार समाज के सभी क्षेत्रों में विषमता की खाइयां खुद गई हैं।

2. संहारक : विज्ञान का पतन-कारक एक रूप है तो यह दूसरा रूप घातक है। मानव विनाश के इतने शस्त्रास्त्रों का अम्बार लगा है कि कौन कब आणविक शस्त्रों का बटन दबा दे और नरसंहार के भीषण दृश्य सामने आ जावे। एक ओर धन कमाने की दौड़ है तो उससे भी ज्यादा पागल दौड़ है सत्ता पाने और उस पर कब्जा जमाए रखने की और इस दौड़ में शामिल हैं देशों के शासन नायक और सत्ताधीश। इनमें भी कुछ बड़े देश पूरी दुनिया पर राज करने के सपने देखते हैं जो मौका आने पर विज्ञान की सारी संहारक शक्ति का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाएंगे। यह मौका कब आवे या कब लाया जाएगा, कोई नहीं बता सकता।

वर्तमान परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए यह माना जा सकता है कि चाहे विज्ञान का सत्ता स्वार्थी शासकों द्वारा दुरूपयोग ही किया गया हो अथवा किया जा रहा हो, पर आज की तारीख और तवारीख में विज्ञान विलासितावर्धक तथा संहारक ही सिद्ध हो रहा है और इसका मुख्य कारण है समुचित प्रभावशाली नियंत्रण का अभाव। इस दृष्टि से मूल में समस्या विज्ञान नहीं बल्कि स्वार्थ है जिस पर जब तक मारक प्रहार नहीं होगा तब तक विज्ञान के दुरूपयोग को रोक पाना भी शायद ही संभव हो सके।

यहां आकर इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति जब अपना चरित्र खो देता है और समाज में भी चरित्रहीनता का वातावरण छा जाता है तब किसी भी अच्छाई को बुराई के हमले से बचा पाना कठिन हो जाता है। जितनी चरित्रहीनता गहरती जाती है। उतने ही परिमाण में अच्छे साधनों का भी मानवता के अहित में जम कर दुरूपयोग होने लगता है। अतः चरित्र को मुख्य बिन्दु मानना ही होगा और उसके ही सर्वत्र उत्थान के उपाय करने होंगे। साथ में यह विश्वास भी पक्का बन जाना चाहिए कि विज्ञान को धर्म के साथ जोड़ा जाए ताकि सर्वांगीण विकास को गति भी मिले तो नियंत्रण की पूर जोर शक्ति भी। वाहन में जितना गति का महत्त्व होता है, उतना नियंत्रण (ब्रेक) का भी। अब विज्ञान पर पक्के ब्रेक लगाने का समय आ गया है।

सत्ता के संग में तपे तपाए नेता भी स्वच्छंदता और भ्रष्टता की ओर मुड़ जाते हैं-

एक दार्शनिक ने कहा है कि सत्ता भ्रष्ट बनाती है और निरंकुश सत्ता किसी को भी पूरी तरह भ्रष्ट बनाकर ही छोड़ती है (**पॉवर करप्ट्स एब्सोल्यूट पॉवर करप्ट्स एब्सोल्यूटली**)। इसी कारण महात्मा गांधी का विचार था कि अब तक अंग्रेजों ने सत्ता को जो शान दे रखी है, उसे स्वतंत्र भारत में मिटा दी जाए और भारत का राष्ट्रपति एक झौंपड़ी में रहे। कइयों ने इस विचार का मखौल उड़ाया और उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी पं. नेहरू ने भी शायद मन ही मन उसका मखौल ही उड़ाया होगा जो उन्होंने अपने शासनकाल में सत्ता की शान ज्यादा ही बढ़ाई जो बाद में बराबर इस कदर बढ़ती रही है कि आज का जन प्रतिनिधि अपने विचार, व्यवहार और कार्य की दृष्टि से तानाशाह से कम नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि गांधी जी का विचार अव्यावहारिक था। उस विचार का जीवन्त उदाहरण भी लोगों ने देखा है, उत्तर वियतनाम के राष्ट्रपति होचीमीन्ह के रूप में। वे जब भारत की राजकीय यात्रा पर आए थे तब अधिकारी उनका सामान खोजने लगे और जब कहीं कोई सामान नहीं मिला तो वे उनसे पूछ ही बैठे। होची तनिक मुस्कुराएं और बोले-सारा सामान मेरे अपने पास ही है-एक जोड़ा खाकी पेन्ट और शर्ट तथा पैरों में टायर की चप्पलें पहन रखी है तथा पेन्ट-शर्ट का दूसरा जोड़ा मेरे कंधे पर टंगे झोले में है-बस। वे भी आखिर उसी वक्त के एक राष्ट्र के राष्ट्रपति ही तो थे।

किन्तु भारत में ऐसा नहीं हुआ-उसकी त्यागमय, सरलतामय और सहयोगमय संस्कृति के उपरान्त भी। पं. नेहरू पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक था सो न तो राजकाज की शानो-शौकत में फर्क आया और न ही राज करने के तौर-तरीकों में। आम लोगों से शासकों की दूरियां बराबर बढ़ती रही और आज तो बुरा हाल ऐसा है कि छोटे बड़े सभी नेताओं को ऊंचे से ऊंचे दर्जे की सुरक्षा चाहिए। आम लोगों के साथ अंग्रेजों की पुलिस का जो बर्बर बर्ताव था, आज आधी सदी गुजर जाने के बाद भी आम आदमी पुलिस से दहशत खाता है-उसे दोस्त मानने की बात तो कही भले ही जाती है, अमल में आने में शायद आधी सदी और लग जाय। यहां इस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए कि सत्ता को जब तक सेवा का माध्यम नहीं बनाया जाएगा, सत्ता मानव या समाज की पूर्ण रूप से हितैषी कभी-भी नहीं बन सकेगी। कहने को भारत में लोकतंत्र की स्थापना हुई, सब को मताधिकार मिला और चुनाव द्वारा शासक से उपजे उन्माद ने किसी को भी सफल नहीं होने दिया-मजबूर मतदाताओं के मताधिकार के साथ खिलवाड़ होता है, चुनाव पद्धति विसंगतियों और विकृतियों से भरी पड़ी है पर कोई भी पार्टी उसे सुधारना नहीं चाहती और इस तरह लोकतंत्र मात्र एक मुखौटा बन कर रह गया है। जनता और अनपढ़ गरीब जनता के भले का सपना कब तक सिर्फ सपना ही बना रहेगा कोई नहीं जानता।

सत्ता के संग का भारत में जो असर हुआ वह आज की अपराधी राजनीति और भ्रष्ट राजनेताओं के रूप में भलीभांति आंका जा सकता है। यहां तो स्वतंत्रता-संग्राम में महात्मा गांधी जैसे आदर्श व्यक्तित्व का नेतृत्व प्राप्त था, आन्दोलन भी आत्मबल और अहिंसा पर आधारित था तथा खादी के प्रतीक से सादगी की संस्कृति बनाई गई थी, फिर भी सत्ता के संग में आकर तपे तपाए नेता भी

स्वच्छंदता तथा भ्रष्टता की ओर मुड़ गए। यहां तक कि उसी महात्मा के जीवनकाल में ही वे उसकी अन्तिम आज्ञा को ठुकरा बैठे। नोआखली की आग में जलने के लिए वह महात्मा अकेला ही रह गया। उसके देखते-देखते ही शानदार सत्ता का कुप्रभाव सब ओर फैलने लग गया था। स्वतंत्रता संग्राम में फैली नैतिकता को जब नेताओं ने धो डाली तो वह भारतीय जनता के मन-मानस से भी धुलती गई और सब तरफ स्वच्छंदता व भ्रष्टता का माहौल फैलता गया। ऐसा माहौल किनको रास आता है और कितनों का सत्यानाश कर डालता है-इसे कइयों ने देखा और महसूस किया है तथा जानते तो सभी हैं।

इस विषय में भी यही मानना होगा कि चरित्र जब पतित होता है तो सब कुछ जो अच्छा होता है, पतन के रास्ते मटियामेट हो जाता है। इस देश में यह तथ्य अनुभवगम्य हो गया है और इस कारण से यह आशा की जा सकती है कि यहां चरित्र निर्माण तथा विकास का जो भी सशक्त अभियान छेड़ा जाए वह अवश्य प्रभावशाली सिद्ध होगा। चरित्रहीनता से दु:खी लोगों की संख्या कोई मामूली नहीं है और यदि बहुसंख्या जगा दी जाती है तो चरित्रहीनता कहीं भी नहीं टिकेगी।

सत्ता से धन और धन से सत्ता के दुष्चक्र में सारी अच्छाइयाँ भेंट चढ़ी :

कहावत है-'साधु-सन्त अपने पास धन रखे तो तीन कौड़ी का और गृहस्थ के पास धन न हो तो वह तीन कौड़ी का।' मन्तव्य साफ है कि गृहस्थ या सामान्य जन को अपने जीवननिर्वाह के लिए समुचित धन की अनिवार्यता होती है। पेट पूर्ति के लिए धन चाहिए ही, लेकिन जब पेटी (तिजोरी) पूर्ति के लिए वह संचित किया जाता है तब धन की प्राप्ति की कोई सीमा नहीं रहती है। पहली स्थिति में धन आवश्यकता का रूप होता है तो दूसरी स्थिति में वह तृष्णा की प्रतीक बन जाता है। आज का युग अर्थ-युग कहलाता है और विज्ञान ने सुख-सुविधाओं के रूप में नकली आवश्यकताओं का इतना विस्तार कर दिया है कि धन की चाहत शराब के समान हो गई है। शराब जैसे जितनी पीते जाओ, तलब ज्यादा से ज्यादा की होती जाती है, उसी तरह आज धन की लालसा अंधे पागलपन में बदलती जा रही है। जो धनी हैं, उन्हें दुनिया भर का धन और चाहिए, जो मध्यम वर्गी है, उन्हें भी भरपूर धन चाहिए ताकि सुख-सुविधा के साधनों को प्राप्त करने में धनी वर्ग से होड़ ले सके। यह मध्यम वर्ग दरअसल अपनी होड़ के लिए गलत तरीकों से धन कमाने के कई अनैतिक तरीकों में लिप्त रहता है। निम्न वर्ग की दशा भी विचित्र है-अभावों से ग्रस्त बना हुआ यह वर्ग अपनी विवशता में अनीति भी करता है तो अपराध भी। इस समय इस आर्थिक चक्र की अग्नि में घी का काम किया है राजनीति ने। स्वतंत्र भारत में गांधी जी ने राजनीति को सेवा के आधार पर फलने-फूलने का रास्ता बनाया था ताकि राजनीति वे लोग न कर सकें जो उसका दुरूपयोग करके अपने मतलब पूरे करने की इच्छा रखते हों। जन सेवा का उद्देश्य रहेगा तो सेवाभावी व्यक्ति ही राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर सकेंगे-ऐसा गांधी जी का विचार था। लेकिन सत्ता मिलते ही उनके ही अनुयायी उनके सेवा के उद्देश्य से मुकर गए। उन्होंने राजनीति को सत्ता लाभ का साधन बना दिया-परिणामस्वरूप एक ऐसे दुष्चक्र का जन्म हुआ, जिसने समूची व्यवस्था की धुरी ही बदल दी।

यह दुष्चक्र है सत्ता से धन कमाने और धन से सत्ता पाने का दुष्चक्र। इसका सभी क्षेत्रों में ऐसा

फैलाव हुआ कि राजनीति सत्ता के गलियारों से उठकर सब क्षेत्रों पर हावी हो गई। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि सत्ता की कुर्सियों पर बैठकर इस कोशिश में जुट गए कि सत्ता के दुरूपयोग से ज्यादा से ज्यादा धन इकट्ठा किया जाए ताकि अगले चुनाव में वोट खरीदे जाए किसी भी कीमत पर और किसी भी उपाय से-ताकि फिर से सत्ता की कुर्सियों पर कब्जा हो जाए। इस प्रकार धन से सत्ता और सत्ता से धन के दुष्चक्र को राजनीति के हर खिलाड़ी ने अपना लिया। देश का प्रत्येक नागरिक भी इस दुष्चक्र से अछूता न रह सका। सब धन की लालसा के रंग में अपने आपको रंगते चले गये-चाहे हकीकत में धन मिले या न मिले-लालसा और आसक्ति ने सबको दबोच लिया। आज इसी लालसा का कुफल है कि राजनीति में धन बल के बाद बाहुबल भी चला और बाद में कई बाहुबलियों ने ही राजनीति में प्रवेश पा लिया, जिसके कारण राजनीति का अपराधीकरण होता गया है। राजनीति के अपराधीकरण का सीधा सादा अर्थ है अपराधियों का राज और अपराधियों के वर्चस्व पर चलने वाले राज्य में चरित्रशीलता की कैसी और कितनी दुर्गति हो सकती है, वह आज सबके सामने है। प्राचीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं की श्रेष्ठता आज समाप्त प्राय: है। नैतिकता तो दिखावे तक के लिए भी नहीं बची है-पहले कुछ शर्म-लिहाज के कारण रिश्वत का धन मेज के नीचे से छिपा कर लिया जाता था, अब मेज पर खुले आम सौदेबाजी होती है और रिश्वत दी-ली जाती है। राष्ट्र प्रेम की दुरावस्था तो दयनीय है। सच तो यह है कि राष्ट्रीयता का भाव ही गायब है, फिर कैसा राष्ट्र, किसका राष्ट्र? धन मात्र हरेक का है। राष्ट्र किसी का नहीं। धन कमाने की पागल होड़ में संबंधों का संकट भी गहराया है। धन के सामने रक्त-संबंध भी फीके पड़ गए हैं और आपसी सहयोग नाम मात्र का बचा है और तो और संयुक्त परिवारों का सफाया होता जा रहा है। शादी हुई और एकल परिवार की शुरूआत हो जाती है जिससे वृद्ध जनों का मान-सम्मान, निर्वाह और संरक्षण सब कुछ खतरे में पड़ गया है। सामाजिकता धन की इस लालसा में छिन्न-भिन्न होती हुई दिखाई दे रही है। ऐसे में धर्म का क्षेत्र अछूता कैसे रह सकता था? यहां भी यश लालसा और नामवरी की यक्षिणी सिर माथे पर बैठ रही है और आडम्बर व प्रदर्शन इस कदर बढ़े हैं कि धन ने धर्म के क्षेत्र में भी ऊंचाई पर अपना आसन जमा लिया है। संक्षेप में कहें तो यह है कि व्यक्ति और समाज की अधिकांश अच्छाइयाँ इस धन की अंधी लालसा की भेंट चढ़ चुकी हैं।

धन की प्रमुखता का सर्वाधिक घातक प्रहार हुआ है मनुष्य की आन्तरिकता पर, उसकी धर्म भावनाओं पर, उसकी मानवीय संवेदनाओं पर। आज मनुष्य पत्थर-दिल होता जा रहा है-उसे अपना ही स्वार्थ दिखता है, दूसरों का दु:ख उसकी नजरों से ओझल है-दया-करुणा उसे झकझोरती नहीं है। इस बदहाली की बुनियादी वजह यही है कि धन को माथे पर बिठा दिया गया है जबकि उसकी सही जगह पैरों में जूते के समान है। सादगी और नीति से जीवनयापन चले यानी धन पैरों में जूते का काम करे, लेकिन अगर जूते को पगड़ी की जगह सिर पर बांध दिया जाए तो उसे निरा पागलपन ही तो माना जाएगा। आज ऐसे पागलपन से अधिकांश लोग ग्रस्त हैं और ऐसे में सब ओर चरित्र को विकसित किए जाने के सिवाय अन्य कोई कारगर उपाय नहीं है। स्वस्थ चरित्र का निर्माण और उसका सतत विकास आज की ऐसी चरित्रहीनता की ज्वलन्त मांग है।

चरित्रहीनता से व्यवस्थाएं सड़ रही हैं, आपराधिकता बचे खुचे मूल्यों को निगल रही है :

चरित्रहीनता का महारोग प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था, जिसमें राज्य व्यवस्था भी शामिल है, को जकड़ता जा रहा है। जहां यह महारोग लगा, वहां कर्त्तव्य बुद्धि को नष्ट कर देता है, चरित्र और नैतिकता का नाश तथा समाज के प्रति दायित्वहीनता ला देता है। जहां भी जैसी भी गुंजाइश मिलती है, भ्रष्टता से स्वार्थ पूर्ति की कुचेष्टा ही लगी रहती है। इस पर यह समझना जरूरी है कि व्यवस्था क्या होती है और वह किन कारणों से सड़ती यानी निरर्थक हो जाती है? देश या राज्य की सरकार हो, छोटा-मोटा या विश्व स्तर तक का भी कोई संगठन हो अथवा किसी भी विषय से संबंधित समाज, संस्था या संस्थान हो, उस की विधिवत् या नियमबद्ध व्यवस्था स्थापित की जाती है ताकि उसका संचालन उद्देश्यपूर्ति की निश्चित दिशा में एक निश्चित लीक पर हो। ऐसे ही कोई भी व्यक्ति अपनी जीवनचर्या, यहां तक कि दिनचर्या भी निर्धारित कर सकता है, ताकि गति एवं प्रगति का क्रम बना रहे। यही होती है और कहलाती है व्यवस्था तथा किसी भी व्यवस्थित स्थिति की सब ओर सराहना की जाती है। व्यवस्था अर्थात् विशेष अवस्था, जिसका प्रारूप लिखित, धारित, पारम्परिक या कैसा भी हो सकता है? यह सत्य है कि व्यवस्था के बिना कोई भी संगठन या जीवन वास्तविकता एवं प्रगतिशीलता नहीं पकड़ता। यह सत्य व्यक्ति से लेकर विश्व के सामुदायिक जीवन तक लागू होता है।

कैसे भी स्वरूप में हो, सर्वत्र व्यवस्था बनती है और वह परम्परा में ढलती है। किन्तु व्यवस्था के निर्माता ही जब व्यवस्था का दुरूपयोग करने लगें और उसे चरित्र तथा नीति के स्तर से नीचे गिरा दें तो वह व्यवस्था असंतुलित हो जाती है तथा आवश्यक परिवर्तनों के अभाव में सड़ने लगती है-जनता का शुभ करने की अपेक्षा अशुभता की वाहक बन जाती है। परिवर्तन किसी भी व्यवस्था की सुचारूता का धर्म होता है। जैसे राजनीतिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए संविधान बनाया जाता है, पर उसमें भी समय-समय पर वांछित संशोधन किये जाते हैं ताकि उस लचीलेपन से उस संविधान की मूल आत्मा की रक्षा भी हो और प्रगति का क्रम भी नहीं टूटे। यही व्यवस्था चाहे अलिखित और अन्तर्भावना पर आधारित हो, पर धार्मिक क्षेत्र में भी होती है। व्यवस्था सुचारू रहे तो स्वार्थी जड़ें नहीं पकड़ पाएंगे और सार्वजनिक हित को क्षति भी नहीं पहुंचेगी। व्यवस्था का एक प्रकार का नियंत्रण होता है जो व्यक्ति संगठन या समाज को पतन के मार्ग पर जाने से रोकता है।

चरित्रहीनता का क्रम एक बार जब चल पड़ता है तो यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि वह कहां तक चलता रहेगा? ऐसा ही पतन हमारे इसी धार्मिक कहलाने वाले देश में हो रहा है। व्यक्ति और राष्ट्र का चरित्र जब स्वार्थ की फिसलन पर रपटने लगा तो धन व सत्ता पाने के स्वार्थ विशालकाय होते रहे तथा इनके लालच में धन ने रपटाया, फिर बाहुबल (गुंडा-माफिया की ताकत) साथ लगा और उसके बाद तो हदें ही टूट गई-तस्करों, चोरों या डाकुओं ने राजनीति में मदद देना बंद करके स्वयं राजनीति और सत्ता में प्रवेश कर लिया। बताया जाता है कि आपराधिक रिकार्ड वाले चुनिन्दा सांसदों या विधायकों की संख्या सिर्फ अंगुलियों पर गिनने लायक ही नहीं, सैंकड़ों में हैं। सोचिये कि कानून तोड़ने वाले ही जब कानून बनाने वाले बन जाएंगे तब मानवता, नीति या संस्कृति

के मूल्यों का क्या होगा? राजनीति ने जब से सेवा का लक्ष्य छोड़कर सत्तापरक रूख अपनाया तब से ही ये मूल्य छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं और राजनीति के जरिए पूरे समाज और राष्ट्र पर बहते जा रहे अपराधियों के प्रभाव से तो ये बचे खुचे मूल्य भी नष्ट होने से शायद ही बचेंगे।

यह गंभीर समय है, जब चरित्रहीनता के घातक खतरे को पूरा राष्ट्र महसूस करे और चरित्र निर्माण तथा विकास के कार्य में अब तनिक भी विलम्ब नहीं किया जाए। यदि अब भी इस उद्देश्य के लिए जन-जागरण नहीं किया तो बहुत देर हो जाएगी कि अपराध ग्रस्तता से फैली चरित्रहीनता को पूरी तरह मिटा सकें।

भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक ऐसा फैला कि बेशर्मी भी शरमा गई :

किसी भी राष्ट्र या समाज में भ्रष्टाचार के फैलाव के तीन मुख्य कारण हो सकते हैं-1. व्यक्ति की अपने मूल्यों के प्रति संज्ञा कैसी है यानी की उसके संस्कारों की दृढ़ता की स्थिति क्या है? 2. समाज उन मूल्यों से कितने अंशों में प्रभावित है? कितने लोग दुकान से कुछ खरीदने पर बिल या रसीद लेने का आग्रह करते हैं? इस प्रकार अनाग्रही लोग क्या काले धन को बढ़ाने में मदद नहीं करते, जो काला धन भ्रष्टाचार का मूल कारण हैं? कितने ऐसे हैं जो अपने बच्चों के शिक्षण संस्था में प्रवेश के लिए डोनेशन या रिश्वत देने से हिचकिचाएंगे? लगता है कि सभी मूल में स्वार्थी हैं और अदूरदृष्टि भी। इसी का परिणाम है कि बड़े-बड़े शहरों में बिजली की चोरी करने वाले झोंपड़पट्टियों में रहने वाले गरीब नहीं, बल्कि वे बड़े-बड़े लोग होते हैं जो बड़े-बड़े कारखाने चलाते हैं और घरों में एअरकंडिशनिंग में आराम करते हैं। लेकिन ऐसे कामों को जानते हुए भी सभी लोग उन्हें सहन करते हैं, ऐसा क्यों? क्या यह सामान्य मानसिकता नहीं बन गई है कि जानते देखते भी भ्रष्टाचारी बर्ताव को बर्दाश्त किया जाए? 3. तीसरा बड़ा कारण है कि राज्य चलाने की विधि और व्यवस्था कैसी है? इस देश में लोकतंत्र है। लोकतंत्र को राजनीतिक दलों की जरूरत होती है तथा दलों को अपना काम चलाने तथा चुनाव लड़ने के लिए फंड (धन) की जरूरत होती है। फंड नकद में इकट्ठा किया जाता है जो ज्यादातर काला धन होता है। यों काला धन सत्ता के गलियारों में घुसता है और राजकाज पर असर डालता है। फलस्वरूप काला धन बढ़ता है। जितना कालाधन बढ़ता है, उतना ही भ्रष्टाचार बढ़ता है। काला धन और भ्रष्टाचार आपस में एक दूसरे के लिए ऑक्सीजन (प्राणवायु) का काम करते हैं। किन्तु जब ऊपर से चलने वाले व्यवस्था के नीचे तक फैलाव के साथ समूची व्यवस्था में भ्रष्टाचार अपनी जड़ें जमा लेता है तब लोकतंत्र के तीनों प्रधान स्तंभ भी भ्रष्टाचार के कुप्रभाव से बचे हुए कैसे रह सकते हैं? इस प्रकार राज्य चलाने की विधि और व्यवस्था भी भ्रष्टाचार से ग्रस्त बन जाती है।

भ्रष्टाचार फैलता है तो चरित्र गिरता है और ज्यों-ज्यों भ्रष्टाचार अधिकाधिक फैलता जाता है, त्यों-त्यों चरित्र-पतन की गहराई भी बढ़ती जाती है। रोग जितना जटिल, निदान उससे भी ज्यादा कठिन और चिकित्सा तो भगीरथी प्रयत्न ही मानिए। आज भ्रष्टाचार ऊपर के वर्गों में थोक से चलता हुआ नीचे तक छितर गया है-विनोद में भ्रष्टाचार को शिष्टाचार कहा जाने लगा है तो असल में इसे कार्य शुल्क माना जा रहा है। भ्रष्टाचार का सभी ओर, सभी क्षेत्रों में फैलाव इस कदर बढ़ रहा है कि

बेशर्मी भी शरमा जाए। हकीकत में शासकों-प्रशासकों में भ्रष्टता की शर्म धृष्टता की बेशर्मी से बदल चुकी है और नौकरशाह तो जनसंवेदना से अब तक भी अछूते ही हैं। आम आदमी त्रस्त है, कुंठित है और असहाय है। एक आकलन के अनुसार भ्रष्टाचार के पांच द्वार हैं-1. बाबू (क्लर्क, अफसर, नौकरशाह), 2. नेता (राजनेता, समाज नायक आदि), 3. लाला (व्यवसायी, उद्योगपति, व्यापारी आदि), 4. झोला (गैर सरकारी संस्थाएं, दलाल, एजेन्ट आदि) तथा 5. दादा (अपराधी, माफिया आदि) यों भ्रष्टाचार की परिस्थिति बनी है बाबू, नेता, लाला, झोला और दादा की बपौती।

भ्रष्टाचार का दूसरा नाम है बेईमानी। ईमान का मतलब आन्तरिकता-आत्मा की आवाज। जब किसी भी कार्य की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है तब उसे करने या न करने के बारे में भीतर से आवाज उठती है जो सच्ची होती है, लेकिन स्वार्थ, लालच या किसी भी कारण वश वह आवाज दबा दी जाती है और मनमानी की जाती है। असल में यही मनमानी बेईमानी होती है। इस बेईमानी को बारीकी से समझने के लिये विख्यात इंजीनियर एम. विश्वेसरैया का उदाहरण लिया जा सकता है। उनका मानना था कि चरित्र निर्माण तथा बांध निर्माण दोनों एक से जिम्मेदारी भरे काम होते हैं। आज का ठेकेदार तो उनकी इस आदत का मखौल उड़ाएगा कि विश्वेसरैया अपनी जेब में हमेशा दो फाउन्टेन पेन रखा करते थे-एक सरकारी पेन सरकारी काम के लिए और दूसरा निजी पेन निजी काम के लिए तथा दोनों का प्रयोग कठोरतापूर्वक तदनुसार ही किया जाता था। एक तो यह उदाहरण है और दूसरा आज की भ्रष्ट जलवायु का उदाहरण हो सकता है। आज का कोई भी मोटा नौकरशाह जो बाहर से चरित्रशील होने का स्वांग करता है और भीतर से करोड़ों की राशियां डकार जाने में भी कतई परहेज नहीं करता। एक पेन की ईमानदारी और दूसरी करोड़ों की बेईमानी-क्या कहा जाए बेईमानी के लिए? पिछले दिनों अंग्रेजी के एक बड़े दैनिक ने भ्रष्टाचार के शर्मनाक आंकड़े दिये थे कि देश में शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिऐ कितना डोनेशन या रिश्वत देनी पड़ती है? नमूना देखिए-नामवर स्कूल में प्रवेश दिल्ली में 2 लाख रुपये या अधिक, बैंगलोर में मेडिकल या इंजीनियरिंग में 1 से 5 लाख रूपये और पटना में इसी के लिए 10 लाख रूपये। प्रश्न पत्र आउट कराने के लिए मुंबई में 1 लाख रूपये तो पटना में 2 लाख रू.। सरकारी नौकरियां पाने के लिए दिल्ली में ट्रेन्ड टीचर 2.5 लाख रू., बैंगलोर में पुलिस इन्सपेक्टर 2 से 5 लाख रूपये, चंडीगढ़ में चपरासी 1 लाख और टीचर 4 लाख रूपये, पटना में हर तरह की नौकरी के तबादले के लिए 20 से 50 हजार रूपये। देश की ऐसी दुर्दशा चरित्रहीनता की कितनी हदें पार कर रही हैं-अतीव गंभीरता से सोचने और भावी कार्यक्रम निश्चित करने की वेला है। भ्रष्टाचरण के इस विषैले वातावरण में सदाचरण का बीज वपन कैसे किया जाए, कैसे उसका अंकुरण हो, कैसे पौधे पनपे और उस पर चरित्र के फूल महकें? यह आज ही सोचना होगा, कल शायद बहुत देर हो जाए।

चरित्र के सर्वनाश के मूल में है धन-सत्ता लूटने का पागलपन :

विज्ञान ने अपने नये-नये अनुसंधानों एवं आविष्कारों के माध्यम से राष्ट्रों, समाजों एवं अन्य सभी प्रकार के संस्थानों के नायकों को अवसर दिया कि वे वैज्ञानिक प्रगति का पूरा लाभ उठाते हुए सर्वत्र गरीबी, अशिक्षा, पिछड़ेपन आदि से आम लोगों को छुटकारा दिलाने तथा सबको समानता के

आधार पर खुशहाल बनाने के काम में जुट जावें। इस तरह विज्ञान मानव जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता था। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए धर्म और अध्यात्म के क्षेत्रों का भी प्रभाव उन नायकों पर शुभदायक सिद्ध होना चाहिए था, किन्तु वैसा नहीं हो सका तथा कतिपय शक्ति सम्पन्न नायकों ने वैज्ञानिक शक्ति को अपने सत्ता स्वार्थों की पूर्ति में झोंक देने का निश्चय किया। फलस्वरूप नगरों पर पहली बार अणुबम गिराए गए। तदनन्तर भी शान्ति स्थापना के स्थान पर बड़े देशों ने शस्त्रों की शक्ति से लैस होकर विश्व विजय की कुटिल आकांक्षा से शस्त्रोत्पादन की अति कर दी। चाहे पहली बार गिराए गए अणुबम के बाद दूसरा मौका अब तक नहीं आया हो लेकिन दुनिया के कई भागों में युद्ध की स्थितियां बनती रही हैं और राष्ट्रों के बीच तनाव फैलता जा रहा है। आज भी इस स्थिति में खास सुधार नहीं हो पाया है।

विज्ञान द्वारा प्रदत्त ऐसे सुनहरे अवसर को गंवा देने का कुफल सामान्य जनता के लिए ही अधिक कष्टकारक रहा और निहित स्वार्थियों ने धन और सत्ता को कमाने की कोशिश कम रखी, बल्कि इन्हें लूटने का पागलपन ही उन पर अधिक सवार रहा। पागलपन इसलिए कहना होगा कि चारों ओर धन का संचरण सही रास्तों से कम और हवाला, शस्त्रास्त्र उत्पादन, नशीले पदार्थों के काले जरियों से ज्यादा किया जाने लगा। इसका नतीजा यह हुआ है कि सब ओर चरित्र की व्यापक रूप से गिरावट होने लगी। धनार्जन के सही रास्तों में अनेक रूकावटें खड़ी होती जाने के कारण गैर कानूनी रास्ते ज्यादा पकड़े जाने लगे और इस तरह चरित्रहीनता का दायरा बढ़ा होता ही रहा। अनीति, अवैधानिकता और अपराध चरित्रहीनता के माथे चढ़ कर ही तो फैल सकते हैं और वही जम कर हो रहा है। धन और सत्ता को नीति और विधि की सीमा में रहते हुए प्राप्त करने की कोशिश की जाए, वह जायज कहलाएगी। लेकिन धन व सत्ता को येन-केन-प्रकारेण हथियाने की दौड़ चल पड़े तो वहां चरित्र का सब कुछ अच्छा खत्म हो जाता है। यह आज प्रत्यक्ष हो गया है कि धन व सत्ता को लूट लेने के पागलपन ने मानव चरित्र का सर्वनाश कर डाला है और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के प्रयास तुरन्त शुरू हो जाना ही व्यक्ति एवं समाज के लिए श्रेयस्कर है। पाश्चात्य विचारक सेमूअल एडम्स का यह कथन ध्यान में रखा जाना चाहिए-'न तो बुद्धिमत्ता पूर्ण संविधान और न ही कुशलतम कानून उस देश की स्वाधीनता तथा सुखमयता की रक्षा कर सकते हैं, जहां के लोगों का व्यवहार व्यापक रूप से भ्रष्ट हो चुका हो।'

स्वार्थ, भ्रष्टाचार आदि दोष वैसे घुन हैं, जो व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन को लग जावें तो उस जीवन की मूल पूंजी चरित्रशीलता को खोखली करके ही छोड़ते हैं, अतः इन दोषों पर कठोर संकल्प के साथ मारक प्रहार करने होंगे।

धन को धन के स्थान पर ले जावें और धर्म को धर्म के स्थान पर लावें :

चरित्र निर्माण एवं विकास को आज एक मात्र उद्देश्य बनाने की आवश्यकता है, फिर जो कुछ साधन अपनाएं जावें, कार्यक्रम या योजनाएं बनाई जावें तथा आन्दोलन या अभियान छेड़े जावें-उन्हें पहले ठोक बजा कर परख लेना होगा कि उद्देश्य पूर्ति की ओर ही वे आगे बढ़ाएंगे-उद्देश्य से भटकाएंगे तो कतई नहीं। उद्देश्य का सार तत्त्व यह है कि इस युग ने धन (सत्ता, विलास आदि) और

धर्म (चरित्र, नैतिकता, कर्त्तव्य आदि) के स्थानों की जो अदला-बदली कर रखी है, उसे दुरूस्त की जाय। धन को धन के स्थान पर ले जावें और धर्म को धर्म के स्थान पर लावें। यह उल्लेख हो चुका है कि सही तौर पर धन का स्थान जूते के रूप में मनुष्य के पांवों में हैं और धर्म का स्थान पगड़ी के रूप में मनुष्य के माथे पर होना चाहिए। किन्तु आज के हालात उल्टे हैं। धन तो अधिकतर लोगों के माथे पर चढ़ा हुआ है यानी कि उन्होंने जूतों को सिर पर बांध रखा है और इसी तरह धर्म पैरों से कुचला जा रहा है, जैसे पगड़ी को गेंद बनाकर पैर उसे इधर-उधर उछाल कर उसकी बेइज्जती कर रहे हों। मूल में धन और धर्म को सही स्थानों पर पहुंचाने की ही समस्या मुख्य है।

इस समस्या के सही समाधान खोजने की जरूरत है, क्योंकि इस समाधान से ही चरित्रशीलता की ज्योति प्रकट होगी तो ऐसा समाधान भी चरित्रबल के आधार पर ही निकाला जा सकेगा। क्या-क्या हो सकती हैं ऐसे समाधान तक पहुंचने की राहें? यही मुख्य विचारणीय विषय समझा जाना चाहिए।

सारे संसार को एक मानव-शरीर का रूप मान लें तो धन को उसमें बहता हुआ खून मानना पड़ेगा। शरीर में खून कई वाहिनियों, नलिकाओं आदि द्वारा सारे स्नायु तंत्र में फैलता और बहता रहता है। शरीर का कोई भाग रक्त संचार से वंचित नहीं रहता और यदि रह जाए तो वह भाग लकवाग्रस्त हो जाता है। साथ ही जहां आवश्यकता से अधिक खून इकट्ठा हो जाए तो वह जमकर पूरे शरीर को कष्टित करता है। जमा खून गठानों में बदल जाता है, जिसकी चीरफाड़ जरूरी होती है। आशय यह है कि सर्वत्र नियमित एक संचरण ही पूरे शरीर को स्वस्थ रख पाता है। संसार के शरीर में यही रोल होता है धन का। धन खून की तरह आवश्यकतानुसार सर्वत्र बहता रहे तो सर्वत्र संतोष और सुख दिखाई देगा। लेकिन कोई या कई भाग अभावग्रस्त रह जावें तो वहां उतना ही विक्षोभ और दुःख फैलेगा। साथ ही कहीं धन-संग्रह का सिलसिला चले तो वहां गठानें उभर आएगी, जिन पर आज नहीं तो कल नश्तर जरूर चलाना पड़ेगा। गठानों वाला शरीर कभी स्वस्थ व सुखी नहीं रह सकता। स्वास्थ्य के अभाव में कहीं भी सुख में स्थायित्व भी नहीं आ सकता है। सुख नहीं तो शान्ति नहीं और शान्ति नहीं तो चरित्र विकास निर्विघ्न नहीं।

अपने-अपने जीवन में अनेक मनुष्यों को ऐसे आत्मानुभव होते रहते हैं कि संसार के स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली कुचेष्टाएं मनुष्य अपनी समझ से नहीं करता, बल्कि जैसे वे उसके द्वारा करवाई जाती हैं। कौन करवाता है-यह चौंकने की बात नहीं है। यह करवाने वाली उसकी स्वयं की विकृत वृत्तियां होती हैं जो उसे विवश कर देती हैं। तब उसका अपने ही मन पर अपना अधिकार नहीं रहता और वह किसी भी प्रकार अधिक से अधिक धन पाने की लिप्सा में फंस जाता है। वही लिप्सा मनुष्य से वे हरकतें यानी की कुचेष्टाएं करवाती है। ऐसा तब होता है जब धन जड़ होकर भी चेतन मनुष्य को चलाता है और मनुष्य धन का दासत्व स्वीकार कर लेता है। यदि मनुष्य धन को चलावे और उसका प्रभावशाली स्वामी बने तो ऐसी कुचेष्टाएं कतई नहीं होगी-कहीं भी न लकवा लगेगा और न गठानें उठेगी। सब ओर धन बहता रहेगा और सबको अपने लाभ से समानता के आधार पर आल्हादित करता रहेगा। यह तो आन्तरिकता का सशक्त उपाय रहा।

किन्तु विश्व के वर्तमान वातावरण में इस बाह्य उपाय पर भी काफी सोच विचार चल रहा है। यह है टूटी खिड़की(ब्रोकन विंडों) की रणनीति, जिसका स्वरूप बनाया है रूडी गुइलियानी और विलियम ब्रेटन ने और इसका प्रयोग चल रहा है न्यूयार्क (यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरीका) में। इसे सरल विधि मानी जा रही है। इसका विश्लेषण इस प्रकार है-यदि आपके घर की कोई खिड़की टूट जाय और बहुत दिनों तक उसकी मरम्मत न कराई जाय तो रास्ते पर चलते-फिरते लोग आसानी से यह निष्कर्ष निकाल लेंगे कि किसी को इस घर की कोई परवाह नहीं है या कोई इसका कर्त्ता-हर्त्ता (इनचार्ज) नहीं है। फिर लोग अन्य खिड़कियों को भी तोड़ने लगेंगे और उस घर से लेकर गली में अराजकता जैसी मानसिकता फैल जाएगी। इससे सबको यह संदेश मिलेगा कि यहां कोई कुछ भी कर सकता है क्योंकि सब चलेगा। शहरों-गांवों में छोटी समस्याएं जिस तरह कानून और सुरक्षा की बड़ी समस्याएं बन जाती हैं उनके लिए 'टूटी खिड़की' का सिद्धांत लागू किया जाता है। क्योंकि छोटे अपराध ही बेरोकटोक बेपरवाही में संगीन अपराधों में बदल जाते हैं।

भ्रष्टाचार के विरूद्ध 'टूटी खिड़की' के विचार को लागू करने का तरीका यह है कि भ्रष्टाचार से लड़ने का काम सबसे छोटे स्तर से शुरू किया जाना चाहिए। उससे पहले इसमें जुटने वाले कार्यकर्त्ताओं को तो रिश्वत न लेने-देने तथा ईमानदारी बरतने का पक्का निश्चय कर लेना चाहिए। इसका अर्थ यह होगा कि किनारों से भ्रष्टाचार को काटा जाएगा। हर गांव, कस्बे में तथा सरकारी विभागों के निचले से निचले कार्यालय में भ्रष्टाचार की खुली खिलाफत शुरू हो जाए जहां आम आदमियों का हर वक्त काम पड़ता रहता है। जगह-जगह इस काम के लिए 'चरित्रगठन नागरिक समितियां या भ्रष्टाचार संघर्ष नागरिक समितियां' बनाई जा सकती है। ऐसी समितियों के दिशा-निर्देशन में नागरिक चार प्रकार की एजेन्सियों की मदद भ्रष्टाचार से संघर्ष करने में ले सकते हैं-1. न्याय विभाग, जहां रिट याचिकाओं आदि के, 2. दूसरी एजेन्सी के रूप में भ्रष्टाचार निरोधक विभाग, सेन्ट्रल विजिलेंस कमीशन आदि की सहायता प्राप्त की जा सकती है।, 3. तीसरा बड़ा सहयोगी हो सकता है पत्रकार जगत जिसमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाएं तथा टी वी चैनलें शामिल की जा सकती है।, 4. चौथी एजेन्सी हो सकती है कि समितियों की अपने तौर पर की जाने वाली सीधी कार्यवाही। इस प्रकार के भ्रष्टाचार के बारे में एक दिलचस्प बात सामने आई है कि महाराष्ट्र में भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारियों के विरूद्ध लांछना का विशेष प्रयोग किया गया। उनको सार्वजनिक रूप से उनके सामने ऐसा कुछ कहा गया कि वे शर्म के मारे पानी-पानी हो जाए, उनके सामने सुधारक भजन गाए गए और ऐसे प्रयोग चल रहे हैं। इन छोटे-छोटे प्रयोगों से सामान्य जन को प्रेरणा और शक्ति मिलती है तथा वे भ्रष्टाचार के विरूद्ध संघर्ष में उत्साह के साथ कूद पड़ते हैं। शायद है एक दिन भारत में भी 'टूटी खिड़की' के विचार पर जोरदार अमल शुरू हो जाए।

चरित्र निर्माण एवं विकास का क्षेत्र वस्तुतः युवा शक्ति के लिए कठिन चुनौतियों से भरा हुआ है, किन्तु एक युवा के सपने बड़े होने चाहिए, महत्त्वाकांक्षाएं ऊंची रहनी चाहिए, उसकी संकल्पबद्धता गहराइयों को छूने वाली होनी चाहिए और होने चाहिए उसके प्रयास महत्तर।

◆◆◆



बढ़ते आतंकवाद व हिंसा के लिए धर्मान्धता जिम्मेदार

धर्म के नाम पर विषवमन

यह कहानी नहीं, हकीकत है। एक बार एक 95 वर्षीय आध्यात्मिक साधक विख्यात दार्शनिक यू.जी. कृष्णमूर्ति से मिलने पहुंचा। उस वृद्ध ने दार्शनिक से पूछा-'इस मानव जीवन का अर्थ क्या है?' उस वृद्ध साधक ने आध्यात्मिक जीवन पर सैंकड़ों ग्रंथ लिखे थे, अपने अनुयायियों को शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण उद्धरण सुनाए थे और संसार के समक्ष शास्त्रों का अर्थ-विन्यास स्पष्ट किया था, लेकिन वह स्वयं ही जीवन का अर्थ नहीं समझ पाया था। कृष्णमूर्ति ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया-'देखो, आप 95 वर्ष का लम्बा जीवन जी चुके हो, फिर भी जीवन का अर्थ नहीं खोज पाए। क्या आपने कभी सोचा है कि शायद है, इस जीवन का कोई अर्थ ही न हो?' उस दु:खान्तग्रस्त वृद्ध ने गलत भरोसा किया था कि कीर्ति और शक्ति के साथ उसे आध्यात्मिक सम्पत्ति भी अवश्य ही प्राप्त हो जाएगी। किन्तु कृष्णमूर्ति के नकारात्मक उत्तर ने वृद्ध की आंखें खोल दी।

क्या ऐसा ही कइयों के साथ-सबके साथ नहीं घटता-गुजरता? बार-बार लोग भूलते रहते हैं कि सच्चा संतोष तभी प्राप्त हो सकेगा, जब आन्तरिकता में ऐसी अनुभूति

बढते आतंकवाद व हिंसा के लिये धर्मान्धता जिम्मेदार





गहरी बने कि सबके प्रति 'अच्छा' रहा गया है। किन्तु आज के जीवन में यह अनुभूति कभी-कभी ही होती है ऐसे अच्छेपन की। सच तो यह है कि आज हमारा देश और समाज एक प्रकार के आध्यात्मिक संकट से गुजर रहा है। चारों ओर बढ़ती हुई हिंसा को देखिए और शोषण की कटुता को देखिए जिससे आज 'धर्म के विश्वास के नाम पर' जनता को प्रहार झेलने पड़ रहे हैं और जब धार्मिक विश्वास सत्ता के भूखे नेताओं के हाथों में सत्ता पाने का एक हथियार बन जाता है तो धर्म की आत्मा मर जाती है। 1992-93 में घटित साम्प्रदायिक दंगों को लोग अब तक भी भूले नहीं होंगे, जिनके कारण मुंबई जैसा व्यस्त और एकजुट नगर भी टूट कर तार-तार हो गया। इन दंगों का एक बड़ा सबक भी सामने आया कि जिसने भी हत्या जैसा जघन्य अपराध किया, वह किसी न किसी धर्म का विश्वास करने वाला ही था तो क्या यह आत्मालोचना का विषय नहीं कि आध्यात्मिकता जीवन की कठिन समस्याओं को शान्तिपूर्वक सुलझाने में असफल रही है? ये समस्याएं तभी सुलझाई जा सकती है, जब वर्तमान समाज की जड़ों में जाकर उसकी यथार्थता की पहचान की जाए।

इस यथार्थता की पहचान कर पाना कठिन नहीं। हमारा देश इतना विशाल है, इसमें इतनी विविधताएं हैं, फिर भी समानताओं के सूत्र पकड़े जा सकते हैं। देश के दूर-दराज के भागों में यात्रा करने वाले आध्यात्मिक सामर्थ्य का सच्चा परिचय पा सकते हैं। इस तथ्य का एक दृष्टान्त देखिए- एक आदिवासी नाव चलाने वाले से जब यह पूछा गया कि 'वह लोगों को नदी पार कराने का धंधा करते हुए दिन भर में कितना कमा लेता है, और क्या तुम यह नहीं सोचते कि सरकार नदी पर जो पुल बनवाने जा रही है, उसके बन जाने के बाद तुम्हें अपने जीवननिर्वाह के साधन से हाथ धो लेना पड़ेगा?' नाविक ने उत्तर दिया-'पुल बनने का मेरे निर्वाह पर असर जरूर पड़ेगा, लेकिन उससे क्या? पुल बन जाएगा तो सभी लोगों को अधिक आय के साथ अपने निर्वाह को बेहतर बनाने में कितनी सहायता मिल जाएगी। यह लाभ मेरे अपने लोगों को मिलेगा। इसके सामने यह कोई खास बात नहीं कि मुझे और मेरे परिवार को अपनी जिन्दगी की गाड़ी चलाने के लिए कोई और रास्ता ढूंढ़ना पड़ेगा।'

क्या नाविक का यह उत्तर, जो सहज सरलता से परिपूर्ण था, दिल के तार-तार को झंकृत कर देने वाला नहीं है? क्या इस उत्तर में आध्यात्मिक सामर्थ्य की झलक नहीं दिखाई देती? चाहे उसकी मान्यता का कोई धर्म रहा हो या नहीं, किन्तु क्या उत्तर में सभी धर्मों के विश्वास का सार नहीं खोजा जा सकता है? क्या उपरोक्त 95 वर्षीय आध्यात्मिक साधक, जिसने आध्यात्मिकता के शास्त्र खूब पढ़े और खूब सुनाए, इस साधारण नाविक से श्रेष्ठतर माना जा सकता है? इस नाविक की कोई विशिष्ट आध्यात्मिक साधना नहीं थी, फिर भी उसमें अपने आसपास की दुनिया को सही परिप्रेक्ष्य में समझने और तदनुसार अपनी सोच को ढाल लेने की योग्यता अवश्यमेव बहुत थी। इसे ही तो स्वाभाविक रूप से आध्यात्मिक समझ या विवेक का नाम दिया जाना चाहिए। उस नाविक का जीवन अपने यथार्थ अर्थ में उस आध्यात्मिक साधक के प्रश्न का परोक्ष उत्तर था कि इस जीवन का अर्थ क्या है?

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का यह मूलमंत्र रहा है कि आपको यदि ईश्वर को खोजना और

उसका साक्षात्कार करना है तो उसे लोगों के बीच ही खोजिए, वह वहीं मिलेगा। गांधी जी ने तो साफ-साफ कहा कि ईश्वर दरिद्रों की आत्मा में निवास करता है, इसलिए वह दरिद्रनारायण है और इन दरिद्रों के बीच उनके उत्थान का काम करते हुए ईश्वर के दर्शन होंगे-उसका साक्षात्कार होगा। जीवन की सार्थकता का ज्ञान तभी संभव है, जब जीवन की लहरों के साथ-साथ तैरने और तैरते रहने का अभ्यास किया जाए। साथ-साथ तैरने से जाना जा सकेगा कि एक से मानव जीवनों के बीच में कितनी दूरियां बढ़ गई हैं और उन्हें पाटने और सबको समान धरातल पर मिलाने के लिए क्या-क्या करना चाहिए और क्या-क्या किया जा सकता है व्यक्तिगत स्तर पर और सामाजिक स्तर पर भी? यदि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, समूहों के बीच और पूरे संसार के पटल पर अनेक प्रकार की विकृतियों तथा विषमताओं को दूर करने के साझा प्रयत्नों में साझीदार बना जाए तो उसे अवश्य समझ में आ सकेगा कि इस जीवन का अर्थ क्या है? वास्तविक चरित्रशीलता क्या है और सच्ची आध्यात्मिकता की पहचान कहां पर है? जीवन का अर्थ इन्हीं क्षेत्रों में खोजिए।

धर्म और धर्म के नाम पर दोनों अलग-अलग मनोदशाएं होती हैं :

जीवन का क्या अर्थ है अथवा जीवन क्या है-मूल प्रश्न यही है। संसार में जीवन का अस्तित्व ही मुख्य विषयवस्तु है और इस कारण केन्द्र बिन्दु भी। अन्य प्रत्येक विषय पर जीवन को केन्द्र में रख कर ही सोचना चाहिए तथा तदनुसार जीवन के साथ जुड़ने वाले सभी प्रकार के संबंधों के औचित्य पर निर्णय लिया जाना चाहिए। जीवन विकास के साध्य-साधनों पर चिन्तन करने से पहले जीवन क्या है-इस मूल प्रश्न का सही उत्तर अवश्य खोज लिया जाना चाहिए। स्व. आचार्य श्री नानेश ने इस विषय पर गंभीर चिन्तन किया है तथा अपने मार्मिक निष्कर्ष निकाले हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के मन में मूल में रही समता ज्यों-ज्यों उभरती जाएगी, वह अपने व्यापक प्रभाव के साथ मानव जीवन को भी उभारती जाएगी। उसे अशान्ति, दुःख-दैन्य एवं निकृष्टता के चक्रवात से बाहर निकाल कर यही समता उसे शान्ति, सर्वांगीण, समृद्धि तथा श्रेष्ठता के सांचे में ढालेगी। ऐसी ढलान के बाद ही मनुष्य विषमताजन्य पशुता के घेरों से निकल कर आत्मीयता पूर्ण मनुष्यता का स्वामी बन सकेगा। आचार्य श्री ने उक्त मूल प्रश्न के उत्तर में अपना एक नवीन सूत्र प्रस्तुत किया है। उनका कथन है-इस दिशा में विशिष्ट सत्यानुभूति के आधार से यह नवीन सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है कि **'किं जीवनम्? सम्यक् निर्णायकं समतामयं च यत् तज्जीवनम्।'** जीवन क्या है-प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी इसी सूत्र में दिया गया है कि जो जीवन सम्यक् निर्णायक और समतामय है, वास्तव में वही जीवन है।...जो जिया जाता है, वह जीवन है-यह तो जीवन की स्थूल परिभाषा है। एक आदमी को बोरे में बांध कर पहाड़ की चोटी से नीचे लुढ़का दिया जाए तो वह बोरा ढलान से लुढ़कता हुआ नीचे आ जाएगा-यह भी एक तरह से चलना ही हुआ। अपनी सजग दृष्टि के साथ चलता हुआ नीचे उतरे-उसे भी तो चलना ही कहेंगे, तो दोनों तरह के चलने में फर्क क्या हुआ? एक चलाया जाता है, दूसरा चलता है। चलाया जाना जड़त्व है तो चलना चैतन्य। अब दोनों के परिणाम भी देखिए। जो बोरे में बंधा लुढ़का कर चलाया जाता है, वह लहूलुहान हो जायगा-चट्टानों के आघात-प्रतिघातों से वह अपनी संज्ञा भी खो बैठेगा और संभव है कि फिर लम्बे अर्से तक वह चल सकने के

काबिल भी न रहे। तो जो केवल जिया जाता है, उसे केवल जड़तापूर्ण जीवन ही कहा जा सकता है। सार्थक जीवन वह जो स्वयं चले-स्वस्थ एवं सुदृढ़ गति से चले, बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।...जीवन की परिभाषा के अन्तर्गत निर्णायक शब्द अपेक्षा से विशेष्य के रूप में देखा जा सकता है। इसकी व्याख्या यदि हमारी समझ में आ गई तो हम शब्द के साथ लगने वाले सम्यक् विशेषण को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। वह निर्णायक शक्ति प्रत्येक जीवन में विद्यमान है और आत्मिक जागृति के परिमाण में वह शक्ति भी विकसित होती रहती है। निश्चय ही मानव जीवन में निर्णायक शक्ति अधिकतर मात्रा में हो सकती है बशर्ते कि उस शक्ति को जगा कर उसे सही दिशा में कार्यरत बनाई जाए।...इस निर्णायक शक्ति के विकास का पहले प्रश्न है और बाद में उसके सम्यक् विकास की समस्या सामने आती है। जब अन्तर में विकास जागता है तो जीवनी शक्ति का भी उत्थान होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवन तक तथा वहां से मानव जीवन की उपलब्धि इसी क्रमिक विकास का परिणाम होता है। मानव जीवन में यह निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट बने, अधिक सम्यक् बने-इस ओर मनुष्य के ज्ञान, दर्शन और आचरण की गति अग्रसर बननी चाहिए।...जीवन क्या है? उसे क्या होना चाहिए? इन दोनों स्थितियों को अन्तर की जितनी गहराई से देखने एवं समझने का प्रयत्न किया जाएगा, उतनी ही यह निर्णायक बुद्धि प्रबुद्ध बनती जाएगी।...समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो यही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति में उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है।...'जीवन क्या है' के सूत्र से जीवन की कसौटी का परिचय मिलता है। जड़ और चेतन की स्थिति को समझते हुए राग और द्वेष की भावना से हटकर जब निर्णय शक्ति एवं समता भावना पल्लवित होती है तभी जीवन में एक सार्थक मोड़ आता है। अंत: जीवन की कसौटी यह होगी कि किसी को जड़ पदार्थों पर कितना व्यामोह है और चेतन शक्ति के प्रति कितनी क्रियाशील आस्था और निष्ठा है तथा वह मन को कितना स्थिर तथा निरपेक्ष रख सकता है या मन की चंचलता में अपनेपन को भूल कर बाहरी दलदल में फंसा हुआ है? इसी कसौटी पर किसी के जीवन की सार्थकता व सजीवता का अंकन किया जा सकता है (ग्रंथ 'समता: दर्शन और व्यवहार', अ-2 पृष्ठ 20-21, 23, 25-26, 30-31)।

जीवन क्या है और उसे कैसा होना चाहिए अथवा जीवन का अर्थ क्या है-यह समझना-समझाना सच्चे धर्म का काम है। ऐसे धर्म को मानव धर्म कहें, स्वभाव प्राप्ति का माध्यम कहें या कर्त्तव्य-बोधक कहें-सब एक ही बात है। ऐसे धर्म का जीवन के साथ अभिन्न संबंध है। जीवन है और धर्म नहीं तो उस जीवन का कोई अर्थ भी नहीं। धर्म को जीवन के साथ एकरूप होना ही चाहिए-उसके पल-पल का पथ दर्शक बन कर उसे पूर्ण सार्थकता की राह पर आगे से आगे लेकर जाना ही चाहिए। जीवन विकास में सच्चे धर्म का योग-संयोग मिले-यह एक प्रकार की मनोदशा है जो शुद्ध है, शुभ है और बहुआयामी चरित्र का निर्माण तथा विकास करने वाली है।

परन्तु यह एकदम अलग ही मनोदशा होगी, 'जहां धर्म के नाम पर' प्रवृत्तियां चलाने की चेष्टा की जाती है। धर्म के नाम पर मतलब साफ है कि ऐसी प्रवृत्तियां चलाने वालों का सच्चे धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं हो उन्हें तो अपनी प्रवृत्तियां चलाने के लिए सिर्फ धर्म का नाम यानी धर्म की आड़

मात्र चाहिए। वे धर्म की ओट में अपने स्वार्थों का शिकार खेलना चाहते हैं। इसी क्रम में साम्प्रदायिकता उभारी जाती है, उत्तेजना फैलाई जाती है, विभिन्न सम्प्रदायों एवं नायकों के बीच अहं के संघर्ष पैदा किए जाते हैं तथा जीवन के विकास को ठेके पर चढ़ा दिया जाता है। पहले प्रकार की शुद्ध धार्मिक मनोदशा से यह साम्प्रदायिक मनोदशा एकदम भिन्न होती है किन्तु वातावरण इस कुटिलता से रचा जाता है कि सामान्य जन अपने भोलेपन में इस भिन्नता को भली प्रकार समझ नहीं पाता है और धर्म के नाम पर मतलब पूरे करने वालों के साथ लग जाता है, वह भी अंध श्रद्धा का आवरण ओढ़ कर। इस दशा और दिशा को भली प्रकार समझना एवं समझाना चाहिए ताकि सच्चे धर्म की स्वीकृति व्यापक बने और जीवन को सार्थक बनाने की प्रवृत्ति सघन होती हुई एक नई चारित्रिक क्रान्ति को जन्म दे।

असल में धर्म के दो छोर हैं-मानव धर्म एवं साम्प्रदायिक कट्टरता :

जीवन के शुद्ध एवं शुभ स्वभाव को प्राप्त करने के मार्ग का नाम धर्म है। इसे चरित्र की संज्ञा भी दी जा सकती है। स्वभाव यानी अपने मूलभाव को प्राप्त कर लेना सुगम नहीं होता, क्योंकि विभिन्न प्रकार की विषमताओं एवं विकृतियों के अनेक आवरण इस स्वभाव पर चढ़े हुए हैं, जिन्होंने स्वभाव को विभाव के रूप में पलट दिया है। इन आवरणों को पूरी तरह से हटाना और शुद्ध स्वभाव को प्रकट कर लेना यही जीवन का मूल अर्थ है। इस प्रक्रिया में एक नहीं, अनेक जीवन जब जुटते हैं तो समूह प्रभावित होते हैं और सामूहिक जीवन में श्रेष्ठ चरित्रशीलता, सौम्यता और साम्यता प्रवेश करती है। ये गुण ही विकसित होते हुए विश्वबंधुत्व तक पहुंचाते हैं। तो धर्म का एक छोर यह है, जो है मानव-धर्म।

दूसरा छोर हकीकत में धर्म का नहीं है लेकिन धर्म से ही उपजाया गया है-इस कारण इसको भी धर्म का ही छोर कहना होगा, यह साम्प्रदायिकता का छोर है। यह समझने की बात है कि साम्प्रदायिकता क्यों उपजती है अथवा उपजाई जाती है? सम्प्रदाएं अलग-अलग मार्गों से सत्य की ओर बढ़ाने वाली संस्थाएं कही जा सकती हैं बशर्ते कि वे अनेकान्तवादी दृष्टिकोण की समर्थक बनी रहें यानी सब सबके विचारों के प्रति सम्मान रखें, मिल बैठ कर सत्य समन्वय की चेष्टा करें और मतैक्य के साथ सामान्य जन को विवादहीन मार्ग सुझावें। किन्तु सम्प्रदाएं अलग-अलग मतों की वाहक बन कर जब हठाग्रही हो जाती हैं तो अपनी ही सम्प्रदाय को श्रेष्ठ मानना तथा अन्य सभी सम्प्रदायों को हीन समझना-ऐसी आग्रही हठ अनुयायियों में पैदा कर दी जाती है यानी कि आंखें बंद करा कर कट्टरता का पक्का पाठ पढ़ा दिया जाता है, तब जो आक्रामक वृत्ति पैदा होती है उसे साम्प्रदायिकता का नाम दिया जाता है। साम्प्रदायिक होना यानी कट्टर बन जाना और कट्टर बन जाने का मतलब हो जाता है कि अपना कहा जाने वाला सब सही और बाकी का सब गलत-कुछ भी इधर-उधर सोचने की जरूरत नहीं और जो अपनी साम्प्रदायिकता पर चोट करे, उसको छोड़ना नहीं-सार्वजनिक रूप से उसे आहत करना ही। ऐसी ही साम्प्रदायिकता कट्टरता घातों-प्रतिघातों में चलती है, कटुता से पारस्परिक संबंधों को तोड़ती है और भांति-भांति की हिंसा के दरवाजों को खोलती है।

एक अच्छा पहलू यह है कि जितने भी नामधारी धर्म हैं, वे सभी अपने-ग्रंथों व उपदेशों में मानवीय मूल्यों को प्रधानता देते हैं, किन्तु आज की विडम्बना यह है कि वह सब कुछ जबानी जमाखर्च तक ही सीमित हो गया है। उनके आचरण पर जोर नहीं दिया जाता है और इसका मुख्य

कारण यह है कि वे धर्मनायक भी ऐसा नहीं चाहते-वे अपने-अपने अनुयायियों को अपने नेतृत्व में जकड़े रखना चाहते हैं। समझ जगाने से जकड़ना मुमकिन नहीं होता-उसके लिए सही समझ को सुलानी होती है, अप्रभावी बनानी होती है और अंधी कट्टरता जगानी होती है धर्म के नाम पर कि धर्म खतरे में है, सम्प्रदाय खतरे में है इसलिए सम्प्रदाय की रक्षा में, उसके असर को बढ़ाते रहने में जुटे रहो-चाहे इसके लिए आक्रामक बनना पड़े या हिंसक प्रवृत्ति चलानी पड़े। वहां पर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा कर दिया जाता है और आंख मींच कर जो प्रतिष्ठा के लिए नहीं लड़ता उसे सम्प्रदाय का सच्चा भक्त कैसे कहा जाए? इस प्रकार साम्प्रदायिकता का जो चक्र चलता है, वह चरित्र की यथार्थता को काट देता है और निष्ठा की नई परिभाषाएं गढ़ता है।

प्राचीन से अर्वाचीन इतिहास पर यदि एक सरसरी नजर दौड़ाई जाए तो नामधारी धर्मों की अब तक कि सारी गतिविधियों का सार यह निकलता है कि धर्मों ने मानव को तोड़ा मरोड़ा है, बांटा है लेकिन जोड़ा बहुत कम है और अपनी कट्टरता में मानवीय मूल्यों का भी अधिकतर नाश ही किया है। क्यों बनी है ऐसी धारणा? इतिहास के इस पहलू पर विश्लेषणात्मक विचार-विमर्श से ही साम्प्रदायिकता के विषैले प्रभाव का आकलन किया जा सकेगा और समझा जा सकेगा कि किस रीति से सभी धर्मों में अंकित मानव-धर्म के सिद्धान्तों को प्रभावशाली बना कर आचरण में उतारने का एक प्रबल वातावरण बनाया जाए।

धर्म के नाम पर क्यों खुलते हैं हिंसा के दरवाजें और कौन खोलता हैं उन्हें :

किसी भी नये धर्म का जब प्रवर्तन होता है तो वह प्रभावशाली होता है। प्रवर्तक की सर्वांगीण महानता सामान्य जन को प्रभावित करती है और वह उसके उपदेशों में अपने उत्थान का मार्ग देखता है। प्रवर्तन समस्त वातावरण को नए उत्साह से भर देता है और अनुयायियों के समुदाय नए धर्म में सम्मिलित होते जाते हैं। उस धर्म के कथित सिद्धान्त भी प्रेरणाप्रद होते हैं। उस समय धर्म ही धर्म का प्रचार होता है, चरित्र अपने विकास के नये आयाम देखता है और नीति जीवन में एक नई ऊर्जा भर देती है।

वस्तुत: समस्याएं तभी पैदा होती हैं जब धर्म के लिए प्रवृत्तियां नहीं होती, बल्कि प्रवृत्तियां धर्म के नाम पर होने लगती है। असल में प्रवर्तन सर्वहित, शुद्धता और शुभता को उभारता है, किन्तु वही सब कुछ उसी धर्म के प्रचलन में बदल जाता है-तब सर्वहित मुख्य नहीं रहता, सम्प्रदाय के उचित या अनुचित स्वार्थ बड़े हो जाते हैं, शुद्धता व शुभता उपेक्षित हो जाती है। उस धर्म का उसके प्रचलन में मानवीय स्वरूप संकुचित हो जाता है। सम्प्रदाय के छोटे दायरे में कैद हो जाता है। तब वह स्वरूप मानवीय नहीं रहता, सिर्फ साम्प्रदायिक हो जाता है। तब उस धर्म के अनुयायी या तो पूर्व स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठा का आग्रह करते हैं अथवा अपने नए नायकों के सुर में सुर मिला कर उनके आदेशों की कठपुतलियां बन जाते हैं।

प्रचलन में समस्याएं क्यों पैदा होती है? प्रवर्तक सा उत्साह और सामर्थ्य उसके उत्तराधिकारियों में नहीं रहता। दूसरे, जो पूंजी उन्हें अपने पिता-पितामह से प्राप्त हुई है सम्प्रदायगठन के रूप में-वे उसकी ही रखवाली में लग जाते हैं। तीसरे, एक ही धर्म के प्रचलन में अनेक उत्तराधिकारियों के

दावों से वह सम्प्रदाय कई भागों में विभाजित भी हो जाती है। तब वे उप-सम्प्रदाएं अपने-अपने प्रभाव-विस्तार के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वे सब चालें चलने को तैयार हो जाती हैं, जो राजनीति के क्षेत्र में चली जाती हैं। इससे आपसी कटुता और विद्वेषता घातक रूप ले लेती है। यह तो एक नामधारी धर्म की बाद में दशा होती है। इसी प्रकार इतिहास के पन्नों पर अनेक नामधारी धर्मों के प्रचलन की संघर्ष-गाथाओं के विवरण अंकित हैं। हिन्दू धर्म में जब आपसी मतभेद और मनभेद से कई सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों ने जन्म लिया तो प्रचलन में कई विकृतियों ने भी प्रवेश किया तथा यज्ञ-याग आदि के ढंग में बिगाड़ आया। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों ने 'वैदिकी हिंसा' का विरोध करके नये अहिंसामय वातावरण की रचना की। किन्तु जैन धर्म भी अपने प्रचलन में पहले दो सम्प्रदायों-दिगम्बर व श्वेताम्बर तथा बाद में अनेक उप सम्प्रदायों में बंट गया। इससे इस धर्म की लोकप्रियता को धक्का लगा और अनुयायियों का वांछित रूप से विस्तार नहीं हो पाया। इसी प्रकार बौद्ध धर्म भी महायान और हीनयान सम्प्रदायों में बंटा लेकिन भारत की भूमि जन्म लेकर भी इसी भूमि पर लुप्त-सा हो गया।

यों धर्मों के प्रचलन के दोष उनकी सैद्धान्तिकता को निष्क्रिय बना देते हैं तो दूसरी ओर सम्प्रदायिकता की खोल में बन्द हो होने से दोषग्रस्तता उनका मूलाधार बन जाती है। इसी दोषग्रस्तता से धर्म के नाम पर कटुता, आतंकवाद और हिंसा के दरवाजे खुलते हैं। ज्यों-ज्यों सम्प्रदायों के बीच कटुता की परतें गहरी होती जाती हैं, हिंसा के नये-नये रूप सामनें आते हैं। ईसाई धर्म जब केथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों में बंटा तो उनकी कटुता संघर्षमय बनी और लम्बे अर्से तक चलती रही है। लेकिन इस्लाम के प्रचलन का दूसरा ही रूप दुनिया के सामने आया। इस्लाम ने लोगों के दिलों को जीत कर अपने साथ करने का रवैया नहीं अपनाया। मुसलमान हमलावर बन कर इधर-उधर बढ़ते गये और अपनी हकूमतें कायम करते रहे सो उन्होंने इस्लाम के अनुयायियों की संख्या तलवार के जोर से ही ज्यादातर बढ़ाई। कम से कम भारत तो इस तथ्य का सबूत है। बादशाह अकबर ने कुछ धार्मिक उदारता दिखाई तो वह नहीं चली और उसकी प्रतिक्रिया में औरंगजेब की नीति अधिक निर्दयी बनी।

इतिहास को एक ओर रख दें और केवल वर्तमान को देखें। आज पूरे विश्व में आतंकवाद के विरोध में संघर्ष चल रहा है। यह आतंकवाद कौनसा है? यह आतंकवाद मुसलमानों का चलाया हुआ है जिसे वे जेहाद कह रहे हैं यानि की धर्म युद्ध। आतंकवादी हरकतें कितनी नृशंस होती हैं-यह आज सभी जान रहे हैं। मुसलमान कट्टरपंथी सारी दुनिया को इस्लाम के रंग में रंगना चाहते हैं सो उनकी पहली लड़ाई ईसाइयत से है, जिसका फैलाव दुनिया में सबसे ज्यादा है और जिसकी शक्ति का प्रतीक अमेरीका है। उनकी दूसरी लड़ाई भारत से है, क्योंकि यहां भी हिन्दू धर्म के अनुयायी अधिक हैं। यह 'सब' धर्म के नाम पर ही तो हो रहा है और धर्म के नाम पर ही कटुता, आतंकवाद और हिंसा के दरवाजे खुले हैं तथा इन दरवाजों को खोलने वाले साम्प्रदायिक कट्टरपंथियों के सिवाय दूसरे कौन हैं? भारत में 1947 के बाद जितने दंगें हुए हैं उनमें वे ही लोग तो शामिल थे जो अपने आपको एक या दूसरे धर्म के कट्टर अनुयायी साबित करने में लगे थे। धर्म के नाम पर इतनी क्रूर हिंसा का तांडव

चलता रहा है और चल रहा है जिसे देख-सुन कर क्या किसी भी मानवता समर्थक के मन में धर्म-प्रेम बचा हुआ रह सकता है?

साम्प्रदायिक कट्टरता, आतंकवाद एवं हिंसा के दरवाजों के पीछे के नजारें :

आज कोई किसी से पूछता है-तुम्हारा धर्म क्या है? तो वह बिना किसी सोच या झिझक के तुरन्त उत्तर दे देता है-मैं हिन्दू हूँ, मुसलमान हूँ, जैन हूँ, सिख हूँ या और कुछ। किन्तु यह उत्तर शायद ही कोई देता हो कि वह किसी मत, पंथ या सम्प्रदाय को नहीं मानता-केवल धर्म को मानता है। उस धर्म को, जो बिना लिंग, भाषा, वर्ग, राष्ट्रीयता या अन्य किसी भेद के संसार में सबको-मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों एवं जीव-जन्तुओं तक को प्रेम करना सिखाता है और सबके हित में ही स्वयं का हित होगा-यह सत्य समझाता है। किन्तु क्या ऐसी कल्पना भी उठती है किसी के मन में? नहीं उठती तो क्यों नहीं उठती? सच जानते हुए भी बेहिचक झूठ क्यों कहा जाता है? अधिकांश लोगों के मन में ऐसा स्थायी बिगाड़ क्यों पैदा हो गया है? कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय ऐसा मुश्किल से ही होगा जो मानव धर्म को अपना सिद्धान्त न बताता हो, लेकिन ऐसा भी कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय मुश्किल से ही मिलेगा, जो अपने नाम की कट्टरता की सीख न देता हो-ऐसा विपर्यास कैसे? जान-बूझकर भी लोग इस असली-नकली को समझते क्यों नहीं हैं? चाहे जनगणना की पूछताछ हो या अदालत का बयान कि धर्म पूछने पर धर्म नहीं, अपनी सम्प्रदाय का नाम बताया जाता है और अपने आपको धर्म निरपेक्ष बताने वाला शासन भी इस उत्तर को रिकार्ड कर लेता है। चारों ओर यह व्यामूढ़ता क्यों?

यह केवल आज की ही बात नहीं है। सदियों से चली या चलाई जा रही बात है उन धर्म के ठेकेदारों द्वारा, जो धर्म के प्रभाव से जन-जीवन का उत्थान करना नहीं चाहते, बल्कि धर्म को बंद घेरों में बांध कर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते रहे हैं। रक्षक ही जब धर्म भावनाओं का भक्षण करते चले आ रहे हों, तब कैसे सुधरे और ऊपर उठे सामान्य जन का जीवन? धर्म-प्रवर्तकों ने नहीं, उनके धर्म को अपने घेरों में बंद कर देने वाले ठेकेदारों ने ही जनमानस को तंग, रूढ़िवादी और विवेकहीन बनाया है। अपने हीन स्वार्थों की सतत पूर्ति के लिए उपदेश देते हैं अहिंसा, क्षमा, करुणा, भ्रातृत्व, त्याग, संयम आदि मानवीय गुणों का हाथी के दिखाऊ दांतों की तरह, लेकिन भीतर में सिखाते हैं ईर्ष्या, होड़, टकराव और मुख्य रूप से कट्टरता-जिससे फैलती है कटुता और विद्वेष की वृत्तियाँ, आतंकवादी घृणा और तरह-तरह की हिंसक प्रवृत्तियां। यों केवल कट्टरता को पकड़ कर शुद्ध एवं शुभ धर्म भी घोर अधर्म का रूप ले लेता है-अमानवीय और आक्रामक। इसी परिमाण में चरित्र भी पतित होता रहता है, क्योंकि शुद्ध और शुभ वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ अशुद्धता तथा अशुभता के दलदल में गहरे धंसती चली जाती हैं।

क्यों हुआ यह? प्रत्येक मत, पंथ या सम्प्रदाय के दो पक्ष होते हैं-1. सिद्धान्त पक्ष तथा 2. उसको आचरण से पुष्ट करने वाला क्रियाकांड पक्ष। इस दूसरे पक्ष में कठिनाइयां होने से क्रिया तो कम पनपी, लेकिन कांड आडम्बरों और दिखावों में फूल कर पूरा पाखंड हो गया। इसका सचोट उदाहरण भारत की धर्म भूमि पर ही देखा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति और मोहम्मद अली जिन्ना की

कूटनीति शुरू होने से पहले यहां पर धार्मिक क्रियाकांड इतने मुखर नहीं थे। सब अपनी-अपनी पसन्द की उपासना चुपचाप करते थे और बाहर सभी सम्प्रदाय वालों के साथ सहज स्नेह से रहते और अपना कामकाज शान्तिपूर्वक करते थे। कुछ जहर जिन्ना ने बिखेरा लेकिन उसको नस-नस में इंजेक्ट किया देश के अपने ही शासकों ने। वोट की साम्प्रदायिक राजनीति चलाई तब प्रत्येक सम्प्रदाय के कर्मकांडी राजनीतिक लाभ उठाने की गरज से सारी सड़कों पर फैल गए और अपने क्रियाकांड़ों यानी अपनी 'ब्रांड' का सार्वजनिक प्रदर्शन करने लगे इस मतलब से कि वे अपनी सम्प्रदाय को ज्यादा असरदार बता सकें। फिर तो आडम्बरों की एक दूसरे से होड़ ही शुरू हो गई और पाखंड यानी कि कट्टरता रचा-बसा दी गई सबके मन में। राजनीति में साम्प्रदायिक मांगें उठने लगी और दबाव की सौदेबाजियां शुरू हुई। ऐसे में भला धर्म कहां टिकता? वह काफूर हो गया, कपूर बन गया। धर्म हवा में उड़ता रहेगा तो कैसा बनेगा लोगों का चरित्र और वही आज सबको दिखाई दे रहा है-सबको दुःख पहुंचा रहा है। कटुता, आतंकवाद व हिंसा के दरवाजों के पीछे के नजारे ऐसे होते हैं, जिनकी एकमात्र कारक होती है-कट्टरता।

धर्म अलोकप्रिय होता है धर्म के नाम पर की जाने वाली कट्टरता की कार्यवाहियों से -

धर्म के मौलिक स्वरूप पर पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है और बताया जा चुका है कि धर्म नाम है शुद्ध एवं शुभ कर्त्तव्यों का और कर्त्तव्य नाम है उन कार्यों का, जो सबके लिए सबके हित में करने लायक हों। ये करने लायक काम सदा एक से नहीं रहते, परिस्थितियों के बदलने से बदलते भी रहते हैं। इन करने लायक कामों का निर्धारण भी महापुरुष, धर्म प्रवर्तक या समाज नायक करते हैं, किन्तु इन कामों के कुछ स्थाई भाव भी होते हैं। इन स्थाई भावों का शाश्वत दृष्टि से अनुसरण करना होता है, जैसे अहिंसा यानी आपसी बातें प्रेम और शान्ति से निपटें चाहे मामले कैसे भी क्यों न हो? सत्य यानी परस्पर के व्यवहार में न झूठ रहे, न कपट, जो जैसा है वही कहा जाए और वही सामने आवे। क्षमा यानी बुरा लगने पर भी क्रोध का प्रयोग न हो, विवेक की खिड़की खुली रहे। त्याग यानी अपने स्वार्थ उस सीमा तक ही रहें कि परहित पर आघात न करें, बल्कि परहित के लिए स्वहित भी छोड़ दे। अपरिग्रह यानी केवल आवश्यकता की पूर्ति हो, धन एवं सत्ता का न संग्रह हो और न उन पर अपना एकाधिकार जमाया जाए। ऐसे अनेकानेक सद्गुणों का समूह ही धर्म है और यही चरित्र भी, जो सही कर्त्तव्यों का निर्धारण भी करता है तथा उनके पालन की प्रेरणा भी जगाता है।

ऐसा धर्म किसी सीमा में बंधा नहीं होता-सूर्य के समान सबको प्रकाश, वायु के समान सबको संस्पर्श और जल के समान सबको समान रूप से जीवन प्रदान करता है। इस धर्म को जो सीमा में बांधने की कुचेष्टा करता है, सबसे बड़ा अधर्मी वही है। वही कट्टरता की शुरूआत करता है और उस व्यापक धर्म को अपने बंद घेरे में सम्पर्कहीन बना कर पाप का प्रचलन करता है। धर्म का इससे बढ़ कर अन्य कौनसा दुरूपयोग हो सकता है? सोचे कि सच्चा धर्म किसके लाभ के लिए होता है? आप अहिंसक बनते हैं तो खुद को ही नहीं बचाते, बल्कि सबको बचाने में खुद को पहले लगाते हैं।

तभी तो अहिंसा का वास्तविक पालन होता है। सत्यनिष्ठ होते हैं तो अपने ही कर्म को शुद्ध नहीं बनाते-सबके कर्मों में शुद्धि लाने की अलख भी जगाते हैं। अस्तेय व्रत लेकर आप अपने व्यवसाय से सम्बद्ध सभी लोगों को आर्थिक आदि शोषण से रहित बनाते हैं। ब्रह्मचारी बने तो स्वयं को ही निर्मलता की ओर नहीं बढ़ाते, बल्कि अपने निर्मल आवरण में सबको लपेट लेने का उत्तम कार्य भी करते हैं। एक नहीं, अनेक प्रकार से धर्म-सिद्धान्तों के पालन का अधिक लाभ दूसरों को मिलता है और मिलना भी चाहिए-यही तो धर्म का सच्चा उद्देश्य है। तो हकीकत यह है कि धर्म-कर्म करता तो व्यक्ति है, किन्तु अधिकांश में उससे लाभान्वित होता है समाज, राष्ट्र और पूरा संसार, क्योंकि धर्म के आचरण से सर्वत्र शान्ति स्थापित होती है। यह व्यापक लाभ ही धर्म का हार्द है-केन्द्र है। धर्म का यही स्वरूप सच्चा मानव धर्म कहलाता है। यही व्यक्ति का सारभूत मूल्य है तो संसार का गौरव भी। यही धर्म व्यक्ति को सारे संसार के साथ आत्मीयता से जोड़ता है।

परन्तु आज तो धर्म के नाम से सामान्य जन के मन-मानस में जो तस्वीर उभरती है वह संगठित सम्प्रदायवाद, आक्रामक पूंजीवाद तथा मारक कट्टरतावाद के बदरंगों से बदली-बिगड़ी होती है। इस बदरंग तस्वीर के लिए जिम्मेदार है तो सिर्फ कट्टरतावाद। कट्टरपंथी ही भांति-भांति की विकृतियां पूरे क्षेत्र में फैला रहे हैं और अपनी विषैली कार्यवाहियों से धर्म के सत्य स्वरूप को कलंकित कर रहे हैं और वह भी धर्म के नाम पर। आज दुनिया के अधिकतर देश या तो ईसाई धर्म को मानने वाले हैं या इस्लाम को मानने वाले, परन्तु मानव धर्म का झंडा फहराने वाले विरले ही मिलेंगे। इसी कट्टरतावाद ने आतंकवाद का बाना पहन लिया है इसलिए चारों ओर क्रूर नृशंसता का फैलाव तथा निर्दोषों का रक्तपात हो रहा है। यों प्रत्येक धर्म के नित्य-व्यवहार में भी धर्म शब्द से 'पारलौकिक सुख का मार्ग' अर्थ पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है। यही अर्थ धर्म पालन कर्त्ता का नाता इस संसार से तोड़ता है।

धर्म के नाम पर की जाने वाली कट्टरता की घृणित कार्यवाहियां ही सच्चे धर्म को अलोकप्रिय बना रही है, क्योंकि सामान्य जन धर्म और धर्म के नाम पर बताये जाने वाले तथाकथित धर्म का अन्तर आंकने में असमर्थ होता है। जो धर्म नायकों ने बताया उसे ही वह धर्म मानता है तथा यथाशक्ति उसी का अनुसरण करने की वह चेष्टा करता है। तभी तो जब ईसाई धर्मगुरु धन लेकर स्वर्ग के पासपोर्ट बांटने लगे तो अनेक भोले भक्तों ने दिल खोल कर उनका क्रय किया।

धर्म-धारण से चरित्रशीलता पनपती है और धर्म के नाम पर सिर्फ चरित्रहीनता-

सच्चा मानव धर्म चरित्र का पोषक एवं संवर्धक होता है, अत: धर्म को जीवन में धारण करने से चरित्रशीलता पनपती है, सर्वत्र अपना सुप्रभाव दिखाती है तथा विविधताओं को जोड़ कर उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध करती है। देखिए कि शरीर के सभी अंग-उपांग आकार, प्रकार और कार्य में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं किन्तु शरीर रूपी संगठन में जुड़ कर कितने एकीकृत ढंग से कार्य करते हैं कि वही खून शरीर के प्रत्येक भाग में संचारित होता है और वही दिल धड़कता रह कर पूरे संगठन की दशा-विदशा का परिचय देता है। इनसे ऊपर शरीर की सारी गतिविधियों को निर्देशित करता और जांचता-परखता है एक अकेला मस्तिष्क। शरीर के इस स्वरूप से मानव शिक्षा क्यों नहीं लेता कि पृथक्-पृथक् गति-मति के होने के उपरान्त भी सारे मानव एकत्रित होकर एक मानव जाति के

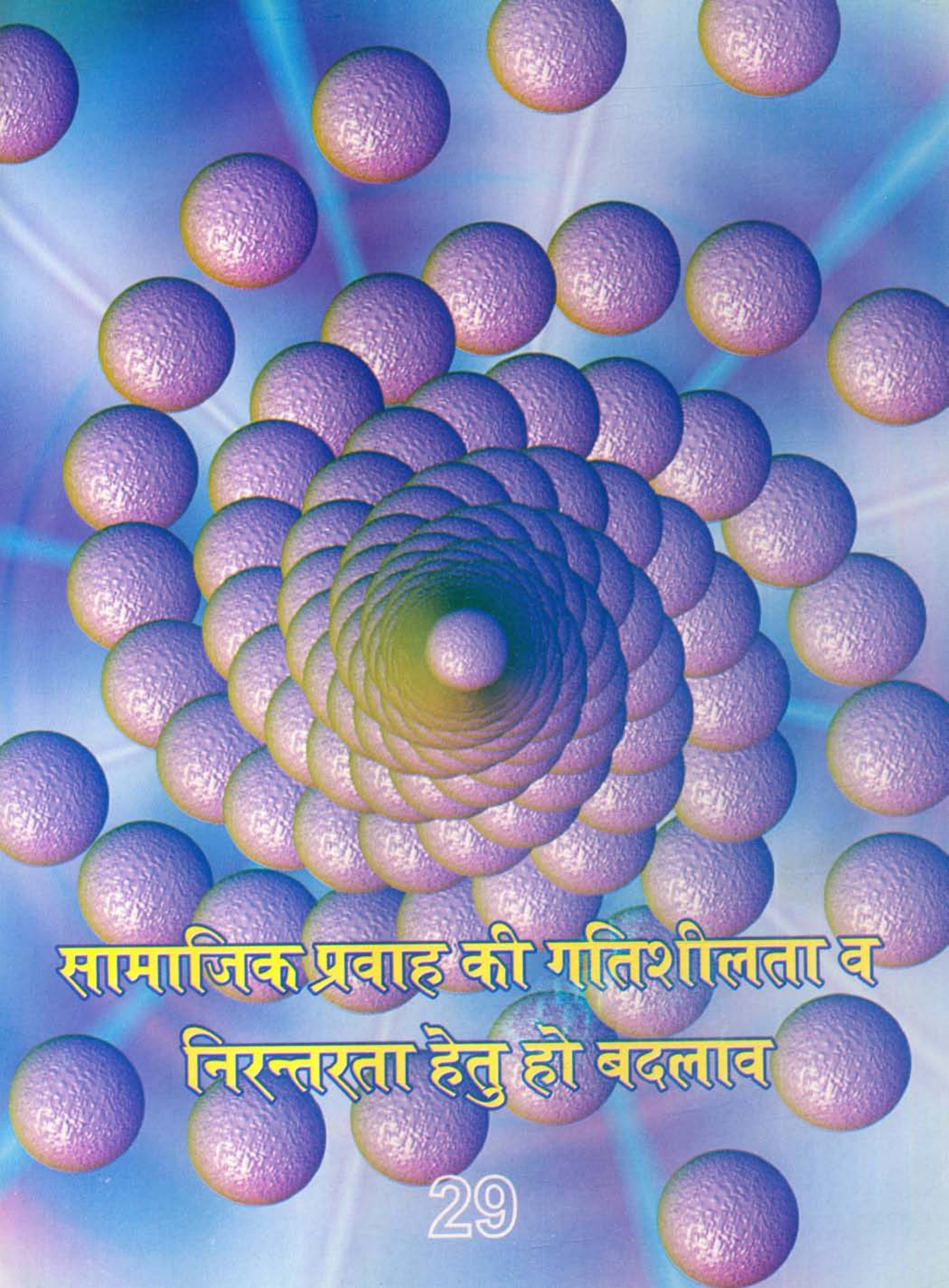
रूप में संगठित हो जाए। ऐसी प्रेरणा देता है धर्म और चरित्र, उसे व्यक्ति-व्यक्ति एवं समूह-समूह के आचरण में ढालता है, तब कहीं मानव गतिशील होता है और प्रगति की राह पकड़ता है।

ठीक इसके विपरीत धर्म के नाम पर चलाई जाने वाली गतिविधियां चरित्रशीलता को गिराती हैं और चरित्रहीनता को बढ़ावा देती हैं-चाहे उन्हें सच्चे धर्म के रूप में सजा-संवार कर लोगों को बताया जाता हो। मिथ्या आधार पर चलाई गई ऐसी प्रवृत्ति जो दिखने में शुभ भी समझ में आवे तब भी वह बुराई ही बिखेरेगी। मिथ्या से सत्य कदापि फूट नहीं सकता। बुराई से बुराई ही बढ़ेगी और चरित्रहीनता से चरित्रहीनता ही फैलेगी, क्योंकि जितनी कट्टरतावादी कार्यवाहियाँ होती हैं उनको आधार मिथ्या और कपट का ही मिलता है।

वर्तमान समय का यह शुभ संकेत भी दिखाई दे रहा है कि जागृति का एक नया वातावरण भी जन्म ले चुका है और जो विश्व स्तर पर फैलने भी लगा है। सामाजिक रूप से इस जागृति का असर यह हो रहा है कि सम्प्रदायों के बीच संघर्ष कम और जुड़ाव का भाव ज्यादा मजबूत हो रहा है। यह विचारणा भी चल रही है कि सहमति के मुद्दों को उभारा जाए और उन निर्विवाद क्षेत्रों में अधिकाधिक सहयोग बढ़े, जहां सहयोग करके सच्चे मानव धर्म को सशक्त बनाया जाए। राष्ट्रीय स्तर पर भी कौमियत और मजहबी अलगाव को कमजोर करते हुए निरपेक्षता पर अधिक बल दिया जाने लगा है। विश्व स्तर पर धर्म के नाम पर चल रहे आतंकवाद को पस्त करने के लिए प्रतिरोधी शक्तियां संगठित हो रही हैं और आतंकवाद के गढ़ों को ध्वस्त किया जा रहा है। इन सारे कार्यकलापों का परिणाम यही होगा कि धर्म के नाम पर चलाए जा रहे छद्म धर्म का सफाया हो जायेगा और सच्चे मानव धर्म को विश्व भर में व्याप्त बनाने के लिए सबके प्रयत्न एकजूट हो जाएंगे। इन आशाजनक परिस्थितियों में सर्वाधिक आवश्यकता यह है कि सभी क्षेत्रों में पसरी चरित्रहीनता पर सांघातिक चोट की जाए और चरित्र निर्माण तथा विकास के लिए कठोरतम प्रयास किए जाएं ताकि विकसित बनकर चरित्रशीलता फिर से मानव को कई वैचारिक, धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति लाने और उसे सफल बनाने का सामर्थ्य प्रदान कर सके। यह चरित्रशीलता ही आज के करोड़ों असंस्कृत, दलित एवं शोषित लोगों का त्राण बन सकती है तथा विश्व को एकता एवं सर्वसहयोगिता के आधार पर खड़ा कर सकती है। समय की मांग है कि युवा शक्ति चरित्रहीनता के विरुद्ध सफल संघर्ष की चुनौती को स्वीकार करे और अपनी बलिदानी वृत्ति तथा संकल्प शक्ति का परिचय दे। एक-एक कष्ट पीड़ित चेहरा इस युवाशक्ति को आशाभरी नजरों से देख रहा है और एक-एक आंसू बिखेरती हुई आंख अपने आंसू पौंछने वाले की बाट जोह रही है-क्या युवा शक्ति यह सब देखकर भी सन्नद्ध नहीं होगी?

पाश्चात्य दार्शनिक एच.एच. जैक्सन की भावना को अपने मन में भी रमा लें तो कैसा हो? वे कहते हैं-'यदि मैं जी सकूं तो किसी पीले पड़े चेहरे को कान्तिमान बनाने के लिए और देने के लिए किसी अश्रुधूमिल नयन को नई चमक या केवल दे सकूं किसी व्यथित हृदय को आराम की एक धड़कन या किसी राह चलते की थकी आत्मा को प्रफुल्लित कर सकूं। यदि मैं दे सकूं अपने सबल हाथ का सहारा गिरे हुए को तो मेरा जीवन व्यर्थ नहीं रहेगा।'

◆◆◆


सामाजिक प्रवाह की गतिशीलता व
निरन्तरता हेतु हो बदलाव
29



सामाजिक प्रवाह की गतिशीलता व निरन्तरता हेतु हो बदलाव

सत्कृति हेतु चारित्रिक निर्माण हो

घटना और भावना से सत्य, किन्तु असत्य नामों वाली एक कहानी यहां दी जा रही है। लहरबाई का विवाह 1951 में हुआ। उस समय औरतों द्वारा अपने पैरों में चांदी के मोटे कड़े पहनने का रिवाज था, सो उसकी सास ने उसे वैसे कड़े पहनने को दिए। उसने वे कड़े खुशी-खुशी लिए और पहने। फिर 1988 में लहरबाई के पुत्र वधु आई उर्मिला देवी। तब सास का धर्म पहनने के लिए चांदी के वैसे ही मोटे कड़े दिए। उर्मिला ने उन्हें लेने और पहनने से साफ इनकार कर दिया और मांग की कि उसे पहनने के लिए नई डिजाइन वाले हल्के वजन के पायजेब दिए जाए।

तब स्थिति यह बनी कि न तो लहरबाई उसे पायजेब देने को तैयार हुई और न उर्मिला मोटे कड़े पहनने को तैयार। दोनों अपनी-अपनी हठ पर अड़ी रही और उनके बीच द्वन्द लगातार जारी रहा। इतना ही नहीं, लम्बे अर्से तक चला वह द्वन्द संघर्ष तक पहुंच गया। संघर्ष तीखा होता जा रहा है और यदि समस्या नहीं सुलझी तो संबंध विच्छेद की घड़ी भी आ सकती है।

क्या है यह समस्या? यही न, कि पुरानी पीढ़ी अपनी ही चलाना चाहती है और नई पीढ़ी की आपत्ति तक सुनने

को तैयार नहीं, उसकी मांग मानने की बात तो अलग है। सामान्य रूप से भी पुरानी पीढ़ी किसी भी परिवर्तन की आवश्यकता देखती-मानती नहीं और आवश्यकता समझ में भी आ जाए, तब भी उसे स्वीकार करना नहीं चाहती। इस हठ से नई पीढ़ी भी हठी बनी है-बल्कि ज्यादा हठी, क्योंकि नया खून जो है और वह अपनी हर बात पर-चाहे वह अच्छी है या बुरी पूरा जोर देने लगी है। इस कारण दोनों पीढ़ियों के बीच समन्वय और तालमेल की बात नहीं बैठ रही है। रस्सी ताकत से ज्यादा खिंचती रही तो उसका टूटना अवश्यंभावी है। यों कई स्थानों पर रस्सियां टूटती भी जा रही है। उचित परिवर्तन भी जब रोका जाता है तो जवान दिलों में लावा भरता है और तब स्थिति विस्फोटक बन जाती है। विस्फोट हो जाने के बाद हानि-लाभ का लेखा नहीं लगता, इस कारण विस्फोट से पहले पक्का आकलन किया जाना चाहिए कि कितना और कैसा परिवर्तन उचित है तथा मानने योग्य है। इस के सिवाय जो एक पक्ष को उचित नहीं प्रतीत होता, उसके बारे में दोनों पक्ष चर्चा करके सहमति बना लें। इस आकलन में ही विस्तृत रूप से हानि-लाभ का लेखा लगाया जाना चाहिए और तदनुसार परिवर्तन के संबंध में निर्णय लेना चाहिए।

लहरबाई-उर्मिला देवी की समस्या यों जटिल कतई नहीं है। चांदी के मोटे कड़ों को तुड़वा कर पायजेब बना लिए जाए-तो इसमें ज्यादा सोच-विचार करने की कहां जरूरत है? चांदी की कोई हानि नहीं, बल्कि एक कड़ा जोड़ी की तीन-चार पायजेब जोड़ी बन सकती हैं, जिन्हें लहरबाई अपनी अन्य पुत्र वधुओं को भी भेंट में दे सकती है यानी कि कुल मिलाकर लाभ ही होगा-सिर्फ घड़ाई का खर्च ही अतिरिक्त होगा। चांदी का सिर्फ रूप ही नहीं बदलेगा, बल्कि उसका मैल जल जाएगा तथा पायजेब चमचमाते हुए दिखाई देंगे। तब उर्मिला देवी भी प्रसन्न हो जाएगी और दोनों सास-बहू के बीच सद्भाव पैदा हो जाएगा। यदि ऐसा परिवर्तन नहीं माना जाता है तो संघर्ष तथा संबंध विच्छेद का खतरा खड़ा है यानी कि जो लावा भरा है, उससे विस्फोट हो सकता है।

यही है आज के संसार और समाज की प्रधान समस्या है कि क्या किया जाए जिससे अनुचित हठ संघर्ष और संबंध विच्छेद तक न पहुंचे तथा शुभदायक शाश्वतता का निर्वाह करते हुए सही परिवर्तनों के साथ संबंधों की मधुरता को बनाए रखी जाए? पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी केवल अपने ही पक्ष की जानकारी तक सीमित न रहें, बल्कि दूसरे पक्ष की वैचारिकता को भी ध्यान में लें अर्थात् विवेक के साथ दोनों पक्षों की समस्याओं का मिल जुलकर अध्ययन करें और सहमति से निर्णय लें।

कृति का स्वर्ण-युग और प्रतिकृति का लम्बा अंधकार-काल :

संभवत: प्रत्येक संस्था, योजना, संगठन, आन्दोलन आदि की गति में कहीं न कहीं, कभी न कभी, किसी जाने या अनजाने कारण से बाधा अवश्य पैदा होती है और गत्यावरोध की स्थिति सामने आती है। किन्तु मात्र कालचक्र ही ऐसा एकाकी तत्त्व है जिसका गत्यावरोध कभी नहीं होता। काल का चक्र सदा निरन्तर चलायमान रहता है। काल की परिभाषा दी गई है कि वह वर्तता रहता है और नये को पुराना करता रहता है। काल प्रवाह में सभी तत्त्वों एवं पदार्थों का रूपान्तरण होता रहता है। परिस्थितियां बदलती हैं तो सोचने-विचारने के ढंग भी बदलते हैं। शैलियां और पद्धतियां भी बदलती हैं, यहां तक कि सिद्धान्तों के अर्थ विन्यास भी बदल जाते हैं, किन्तु नहीं बदलता है तो सिद्धान्तों का

शाश्वत रूप, उनकी स्थिर गुणवत्ता तथा मूल्यवत्ता और वह बदलनी भी नहीं चाहिए, बल्कि परिवर्तनों की आंधी में यह गुणवत्ता और मूल्यवत्ता नष्ट न हो जाए-उसकी सतर्कता नितान्त आवश्यक होती है। काल क्रम में ही नया पुराना होता है और पुराने को बदलने का उपक्रम किया जाता है, बल्कि समाज की सहमति से नवीनता पुन: स्थापित की जाती है। काल क्रम के साथ यह क्रम भी निरन्तर चलता रहता है। साम्यवादी विचारधारा के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने इस क्रम को साइकिल (चक्र) का नाम दिया है जिसे 'मार्क्सवन साइकिल' कहा जाता है। इसके तीन भाग हैं- 1. वाद (थीसिस), 2. प्रतिवाद (एन्टीथीसिस) तथा 3. समन्वय-वाद (सिंथिसिस) और मार्क्स के अनुसार परिवर्तन का यह क्रम सतत रूप से चलता रहता है।

यह सत्य भी है कि जब कोई भी वैचारिकता या व्यवस्था सर्वहितैषी चिन्तकों के द्वारा प्रस्फुटित, स्थापित एवं प्रचलित होती है, तब वह अपने विशुद्धतम स्वरूप में होती है। इसी कारण उसे सामाजिक स्वीकृति भी मिलती है। किन्तु काल प्रवाह में उसके प्रचलन तथा व्यवहार में पहले शिथिलता एवं मन्दता तथा बाद में स्वार्थपरता एवं वैकारिकता के दोष उसमें समाने लगते हैं। निहित-स्वार्थी वर्ग तब वैसी विकृत व्यवस्था को जारी रखना चाहते हैं ताकि अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए आम लोगों को अपने शोषण, दमन, उत्पीड़न आदि का उपकरण बनाए रखा जा सके। सहन शक्ति की सीमाएं जब टूटने लगती हैं, तब सामान्य जन का विक्षोभ उस विकृति के विरुद्ध गहराता जाता है और संतोषजनक परिणाम न मिलने पर वह विक्षोभ विद्रोह का रूप भी ले सकता है। यदि विद्रोह की स्थिति न आने दी जाए और समय पर चांदी के कड़ों की पायजेबें बनवा दी जाए तो अनावश्यक हानि से बचा जा सकता है। शुद्ध कृति प्रारंभ में रहती है, विकृति में वह प्रतिकृति बन जाती है और तब सत्कृति का नया युग शुरू होता है।

ऐतिहासिक घटनाओं का सिंहावलोकन करें तो ज्ञात होगा कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा असि, मसि, कृषि के साधनों के माध्यम से जिस नये कर्मयुग का आरंभ हुआ था, वह महावीर के काल के काफी बाद तक भी निरन्तर उन्नति के साथ चला। यहां तक कि मौर्य वंश के राजाओं के शासन काल को इतिहास का स्वर्ण युग कहा गया। तब सभ्यता और संस्कृति समुन्नत बनी तो धर्म जीवन के साथ जुड़ा रहा और जीवन को भावना जगत् में नैतिकता एवं श्रेष्ठता का पर्याय बनाए रखा। चारित्रिक गुणों का सर्वत्र विस्तार था और विकसित मानव चरित्र ने सभी क्षेत्रों में सफलता के नये आयाम साधे। रचनात्मकता ने दृष्टि एवं कर्म को ऐसा सृजनशील बनाया था कि इस काल को कृति का स्वर्णकाल कहा जा सकता है।

तदनन्तर इतिहास में नये-नये मोड़ आते रहे और युग कृति से प्रतिकृति में रूपान्तरित होने लगा। प्रतिकृति का यह अन्धकार काल था जो बहुत लम्बा चला और सच तो यह है कि इस काल ने शायद अभी तक भी देश का पीछा नहीं छोड़ा है। ईसा की पन्द्रहवीं सदी से इस देश पर विदेशियों के आक्रमण शुरू हुए। इस दौरान भारतीय चरित्र की ऐसी गिरावट दिखाई दी कि सत्ता की आपसी लड़ाइयों ने देश की एकता और शक्ति नष्ट कर दी। पहले मुसलमानों के कई वंशों ने देश पर शासन किया तो उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने अन्य विदेशियों तथा देशी राजाओं को परास्त कर अपना शासन

स्थापित किया। एक लम्बे स्वतंत्रता संघर्ष के पश्चात् अंग्रेजों के शासन से 1947 में देश को मुक्ति मिली। विदेशियों के लम्बे शासनकाल में इतनी चारित्रिक दुर्बलताओं से देश के सभी वर्ग ग्रस्त रहे कि स्वतंत्रता प्राप्ति की आधी शताब्दी के बाद भी विश्वासपूर्वक नहीं माना जा सकता है कि देश ने अब भी उन दुर्बलताओं पर विजय पा ली है। स्वतंत्रता संघर्ष का समय रचनात्मकता और नैतिकता की शक्ति वृद्धि का अवश्य रहा और यदि उस समय की भावात्मकता सहेजी गई होती तो चारित्रिक उन्नति का युग भी तभी से प्रारंभ होकर आज चरित्र विकास की सुदृढ़ स्थिति बन गई होती, किन्तु धन और सत्ता की जैसी बाद में आपाधापी मची उसने चरित्र के मोड़ को फिर से पीछे की ओर घुमा दिया। आज इसी कारण प्रतिकृति की छाया अब तक भी घिरी हुई है, जिससे न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि समाज और व्यक्ति के स्तर पर भी चरित्र का निर्माण धुंधला-सा पड़ा हुआ है।

काल क्रम के अनुसार चक्र एक ही दशा में सदा फंसा हुआ नहीं रह सकता है तथा प्रतिकृति के बाद नवोत्साह अवश्य जागता है और सभी स्तरों पर अनुकूल सुधार के लक्षण प्रकट होते हैं एवं सत्कृति का सवेरा उगता है। किन्तु मानव प्रयत्नों की अपेक्षा इस कारण रहती है और रहनी चाहिए कि अंधकार काल की समाप्ति जल्दी हो सके-रात जल्दी बीते व सवेरा जल्दी आवे।

चरित्रहीनता का तमस मिटे और परिवर्तन के प्रकाश में सत्कृति उभरे :

पतन के बाद परिवर्तन की अपेक्षा होती है कि व्यक्ति और समाज की गति अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हो, चरित्रहीनता का तमस पूरी तरह मिटे और परिवर्तन के प्रकाश में सत्कृति उभरे। सत्कृति का अर्थ है काल प्रवाह एवं निहित स्वार्थियों के कुकर्मों के क्रम में कृति का जो स्वरूप विकृत हुआ तथा विश्व के स्तर से लेकर व्यक्ति के स्तर तक में चरित्र का जो ह्रास हुआ उसका शुद्धिकरण किया जाए तथा उस स्वरूप में शुभता की पुनर्प्रतिष्ठा हो। प्रतिकृति विकृत स्वरूप की प्रतीक बनती है तो सत्कृति पुनः कृति की यथावत् स्वरूप-सृष्टि कर देती है। जन-जन के जीवन के सद्गुणों का विकास हो एवं मानवीय मूल्य जीवन के निर्देशक तत्त्व बनें, इसके लिए परिवर्तन अनिवार्य है। अशुद्धता से शुद्धता का परिवर्तन, अशुभता से शुभता का परिवर्तन और चरित्रहीनता से चरित्र सम्पन्नता का परिवर्तन। यह परिवर्तन धर्म को विज्ञान से जोड़ेगा तथा व्यक्ति को विश्व से ताकि नये प्रकाश युग का अवतरण हो सके।

यह चर्चित किया जा चुका है कि परिवर्तन का अर्थ उन परिवर्तनों से लिया जाना चाहिए जो समय, स्थिति एवं नई पीढ़ी की महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप समुचित सिद्ध होते हो। ऐसे परिवर्तनों को सरलतापूर्वक लागू कर देने से सामाजिक प्रवाह में गत्यात्मकता एवं निरन्तरता के तत्त्व अक्षुण्ण बने रह सकते हैं। किन्तु यदि इसके विपरीत स्थिति बनी रहती है और प्रतिकृति का कुप्रभाव बना रहता है तो दीर्घकाल से संरक्षित सभ्यता और संस्कृति ही अधिक क्षरित नहीं होगी, बल्कि सामाजिकता का मूल धरातल भी छिन्न-विछिन्न होता रहेगा। अतः परिवर्तन का बिन्दु गहन रूप से विचारणीय ही नहीं, अपितु विवेक एवं तत्परता से आचरणीय भी है। इस दिशा में आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि गतिशील समाज में निरन्तर उभरते रहने वाले परिवर्तन के लक्षणों की पहचान प्रारंभ में ही कर ली

जाए, उनके गुण दोषों को बारीकी से समझा जाए तथा उन पर सार्वजनिक बहस के माध्यम से सामूहिक धारणा का विकास किया जाए। इससे लागू किये जाने वाले परिवर्तनों को सामाजिक या राष्ट्रीय स्वीकृति मिल जाएगी तथा उनके विरोध के अवसर ही पैदा नहीं होंगे। इस प्रक्रिया के बाद उचित परिवर्तनों को लागू करना कठिन नहीं रह जाएगा। इस कर्त्तव्य की ओर पुरानी पीढ़ी तो ध्यान दे ही, लेकिन नई पीढ़ी को विशेष सजगता दिखानी पड़ेगी। इस सजगता का मूल प्रयोजन यह हो कि पुरानी पीढ़ी के अनुभवों का लाभ तथा उचित दिशा निर्देश नई पीढ़ी को प्राप्त हो सके और दोनों पीढ़ियों के बीच स्नेह सूत्र सुदृढ़ बन जाए।

आज सत्कृति के युग में प्रवेश करने के लिए ऐसी सकारात्मकता एवं रचनात्मकता की नितान्त आवश्यकता है। इससे नवनिर्माण का पक्ष प्रबल होता जाएगा और साथ ही पीढ़ियों का अन्तराल (जेनरेशन गेप) न्यूनतम बिन्दु पर लाया जा सकेगा। एक ओर नवनिर्माण में चारित्रिक जीवन्तता दृष्टिगत होगी तो दूसरी ओर व्यक्ति एवं समाज की प्रगति में अवरोध नहीं आ पाएंगे। व्यक्ति पूर्ण उत्साह से आगे बढ़ेगा तो सामाजिकता उस प्रगति के धरातल को समतल एवं पुष्ट बनाती जाएगी। व्यक्तिगत प्रतिभा तथा सामाजिक शक्ति एक दूसरी से टकराएंगी नहीं, बल्कि एक दूसरी की पूरक होकर गति को सन्तुलित एवं तीव्र बना देगी। इस स्थिति में विकास (इवोलूशन) तथा क्रान्ति (रिवोलूशन) दोनों तत्त्वों का सुन्दर समावेश हो सकेगा। वह समावेश व्यक्ति हित से लेकर विश्व-हित तक परम सहयोगी हो जाएगा। सोचिये कि क्या वैसा समय स्वर्णिम नहीं बन जाएगा? जब कृति अपने मैल से मुक्त होकर पुनः अपने शुद्ध स्वरूप में रूपान्तरित हो जाए और सत्कृति का वातावरण चारों ओर छा जाए तो वैसे काल को ही तो स्वर्णिम काल कहा जाता है। ऐसा स्वर्ण काल नवयुवक एवं युवतियों की उभरती हुई कर्म-शक्ति के सिवाय क्या कोई अन्य शक्ति ला सकती है? नहीं ला सकती है। परिवर्तन की डोर युवा हाथों में जाएगी तभी चरित्रहीनता का तमस मिटेगा और सफलतापूर्वक लाए गए परिवर्तनों के प्रकाश में सत्कृति का सारभूत स्वरूप समस्त वातावरण को आच्छादित कर लेगा।

किन्तु परिवर्तन की डोर को थामना एवं विवेक, साहस तथा शक्ति का संतुलन बनाए रखना युवा शक्ति के लिए आसान भी है तो परिस्थितियों की प्रतिकूलता में कठिन भी। आसान इस दृष्टि से कि युवा वर्ग अपने जोश और होश से पुरानी पीढ़ी का दिल जीतते हुए उसे नवसृजन की ओर मोड़ देगा। परन्तु कठिनाई का सबसे बड़ा कारण यही बनता है कि कभी-कभी या अक्सर करके कोई भी पीढ़ी-पुरानी या नई-अपनी-अपनी तानने की हठ नहीं छोड़ती। यह बुरी आदत दोनों को छोड़नी होगी। किसी भी विवाद का निर्णय सत्य के आधार पर करना होगा कि किसका किसी बात को तानना कितना उचित है? अथवा कितना अनुचित है? जब औचित्य सिद्ध न होता हो और हठ बनी रहती हो तो युवा शक्ति को समाज के लिए एक सर्जन (चीरफाड़ का डॉक्टर) का काम करना होगा। जैसे सर्जन शरीर के रोगग्रस्त भाग को छेदता-काटता है, लेकिन रोग (गांठ आदि) निकाल कर वापिस टांकें और मरहम भी लगाता है और उस भाग को स्वस्थ बना देता है। इसी प्रकार अन्तिम उपाय के तौर पर युवा वर्ग को-चाहे कुछ निर्मम भी होना पड़े-सद्भाव के साथ ऐसी चीरफाड़ के लिए तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना नवनिर्माण के अभियान को न दिशा मिल सकेगी और

न ही गति। अतः आज की मांग है कि नई पीढ़ी अपने मन-मानस को तैयार करे, अपने विवेक व सामर्थ्य को जगावें और अपने सार्थक व्यवहार से सर्वांगीण चरित्र को इस तरह ढालें जिससे समाज में विस्फोटों की आशंकाएं दूर हों और नये सुखद शुभ परिवर्तनों का पथ प्रशस्त हो। अब चरित्रहीनता का तमस सह्य नहीं होना चाहिए और सुदृढ़ चरित्र विकास के साथ सत्कृति के प्रकाश को सब ओर फैलाने के लिए कमर कस लेनी चाहिए।

सत्कृति में फिर से भरने होंगे, कृति के चमचमाते रंग :

जब प्रतिकृति पतन की गहराई के निचले तल तक पहुंच जाती है तो वहीं से उत्थान की चढ़ाई शुरू होती है और वहीं सत्कृति का आरम्भ माना जाता है। आज किसी समाज का क्षेत्र हो या राष्ट्र का, धर्म का क्षेत्र हो या राजनीति का, किसी वर्ग का प्रश्न हो या जाति का, सब ओर से चरित्रहीनता की जो अकुलाहट उमड़-घुमड़ रही थी, उसमें एक स्थगन सा प्रतीत होने लगा है और चारित्रिक गुणों की गिरावट को रोकने की कसमसाहट महसूस होने लगी है। यह गत्यारंभ का लक्षण है। इसलिए आशास्पद है। घने अंधेरे में कहीं दूर तक भी प्रकाश की क्षीण-सी रेखा दिखाई दे, तब उत्साह, उमंग और सक्रियता की नई लहर-सी फैल जाती है। आज हमारे यहां प्रभातकाल से पहले की ऊषा की हल्की-सी लाली फैलने लगी है। यह सत्कृति की लाली है, जो प्रतिकृति के कुप्रभाव को समाप्त करके कृति जैसे सद्वातावरण की रचना करेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक क्षेत्र में समस्याओं का जाल जंजाल फैला हुआ है, जो जटिल और कठिन है, फिर भी व्यक्ति से लेकर विश्व तक सत्कृति हेतु किये जाने वाले सघन प्रयत्नों का दौर भी विश्वास दिला रहा है कि अब अंधेर के मिट जाने में देर नहीं। इस दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों की वर्तमान अवस्था की सामान्य-सी समीक्षा करें।

1. धर्म का क्षेत्र-चरित्र, विकास एवं जीवन की नींव को सुदृढ़ बनाने वाले इस क्षेत्र की पहले चर्चा करें। सम्प्रदायीकरण के कारण धर्म की लोकप्रियता एवं सार्थकता घटी, किन्तु अब सम्प्रदायों को एक दूसरी के विरुद्ध संघर्ष में झौंकने की मनोवृत्ति मन्द हुई है तथा कट्टर विरोधी सम्प्रदाएं भी आपस में तालमेल बिठाने की कोशिशें करने लगी हैं। चाहे बड़े पैमाने पर बड़ी सम्प्रदायों का मामला हो या छोटे पैमाने पर छोटी सम्प्रदायों का मामला, आपसी वाद-विवाद, खंडन-मंडन और आरोप-प्रत्यारोप का क्रम समाप्त प्रायः है। आडम्बरों, प्रदर्शनों तथा दिखावों की जैसी बाढ़ उठी थी, उसमें कुछ कमी जरूर है और अब भी इसके लिए बहुत कुछ करने की जरूरत है। फिर भी कहा जा सकता है कि सामान्य जन के मन में ऐसे आडम्बरों के प्रति तितिक्षा अवश्य उत्पन्न हो गई है। आडम्बर चल इसीलिए रहे हैं कि नव धनाढ्य धर्म के इस अवैधानिक द्वार को ही अपनी कीर्ति प्रसार का माध्यम बना रहे हैं। भीतर से दिखावों की मानसिकता इतनी जर्जर होती जा रही है कि उसे एक धक्के की जरूरत है-मजबूत हाथों के धक्के की।

2. राजनीति का क्षेत्र-यह क्षेत्र इतनी प्रबलता पर है कि विश्व से लेकर व्यक्ति तक को प्रभावित कर रखा है। धार्मिक क्षेत्र में भी संस्थाओं के प्रबंधन, निर्वाचन आदि की प्रक्रियाओं में

अक्सर आलोचना होती रहती है कि यहां भी राजनीति चलाई जा रही है। असल में आज राजनीति एक घृणित बुराई का नाम हो गया है। राजनीति की निकृष्ट स्थिति उसके अपराधीकरण की भी बात चलती है तो राजनेताओं के भ्रष्टाचार से भी जनता विक्षुब्ध दिखाई देती है। लेकिन अब राजनीति के शुद्धिकरण की मांग जोरों पर है और विधिपूर्वक ऐसे उपाय किए जाने लगे हैं कि अपराधियों का राजनीति यानी चुनाव में ही प्रवेश न हो सके। चुनाव सुधारों की गूंज भी तेज है। सूचना के अधिकार ने राजनीति के शुद्धिकरण की प्रक्रिया में जनता के हाथ मजबूत किए हैं। सत्ता के विकेन्द्रीकरण को भी सुदृढ़ बनाया जा रहा है और उसे ग्राम स्तर तक प्रभावी बनाकर प्रत्येक नागरिक को महसूस करने लायक सत्ता की भागीदारी दी जा रही है। राजनेताओं के प्रति जनता के बढ़ते हुए असम्मानभाव ने उन्हें अपने चरित्र सुधारने को विवश किया है। ज्यों-ज्यों जनता की चेतना कार्यक्रम बनती जाएगी, इस बिगड़े हुए क्षेत्र में सुधार के स्पष्ट संकेत सामने आते जाएंगे। यहां भी अब निराशा का विचार हटता जा रहा है।

3. अर्थनीति का क्षेत्र-अब तक जड़ बनी रही आर्थिक व्यवस्था में मानवीय चेहरे को प्रमुखता देने की मांग ताकत पकड़ती जा रही है। सरकारों पर यह दबाव जोरदार है कि सब तरफ बेरोजगारी पर अंकुश लगाया जाए तथा निजी व सार्वजनिक उद्योगों में वांछित लोगों को रोजगार दिया जाए। शिक्षा को भी रोजगार-परक बनाने के प्रयत्न जारी हैं। आर्थिक विषमता का आज जो दर्दनाक दृश्य है, वह शासकों को विचलित करने लगा है तथा बुनियादी ढांचे के निर्माण के साथ एवं अन्यान्य योजनाओं एवं कार्यक्रमों के माध्यम से प्रयत्न चालू है कि गरीबी का एक निश्चित अवधि में उन्मूलन हो। विश्वास दिलाया जा रहा है कि 2020 तक गरीबी का उन्मूलन संभव है। बैंकों द्वारा छोटे व मध्यम ऋणों के बहुलता से वितरण द्वारा छोटे-छोटे उद्योग-धंधों में बेरोजगार युवक नियोजित किए जा सकें-ये प्रयास भी चल रहे हैं। सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं के प्रयत्नों से आर्थिक विषमता को घटाने की कसरत हो रही है।

4. सामाजिक क्षेत्र-इस क्षेत्र में पहले से सामाजिकता का भाव पर्याप्त रूप से विकसित हुआ है तथा सामाजिक सम्पर्क एवं सहयोग बढ़ रहा है-यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है। सरकारी प्रयत्नों के उपरान्त भी शिक्षा, चिकित्सा, बाल-महिला कल्याण के क्षेत्रों में सामाजिक प्रयत्न उल्लेखनीय बनते जा रहे हैं तथा इन क्षेत्रों में खुले दिल से दान की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। बड़े-बड़े विद्यालय तथा चिकित्सालय विभिन्न समाजों द्वारा संचालित किए जा रहे हैं किन्तु हर्ष का विषय है कि उनके द्वारा मिलने वाले लाभ को किसी संकुचित दायरे तक सीमित नहीं किया जा रहा है। सरकार की ओर से भी निरक्षरता एवं बाल-श्रम को मिटाने के लिए सघन अभियान चलाये जा रहे हैं तथा उनके सुपरिणाम भी सामने आ रहे हैं। लगता है कि धीरे-धीरे सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित होता जायगा और विकास का अधिकतम कार्य विकासशील सामाजिकता की छतरी के संरक्षण में आ जाएगा।

5. संबंधों का क्षेत्र-पिछले समय में सर्वत्र संबंधों का जो संकट आया हुआ था, उसमें सुधार के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। संयुक्त परिवारों की टूट के साथ जो माता-पिता एवं सन्तान के संबंधों में

एक बिखराव-सा आ गया था, उसके सूत्र फिर से जुड़ने लगे हैं। सरकार ने वरिष्ठ नागरिकों को अनेक प्रकार से सम्मान व सुविधाएं दी हैं तो समाज में भी बड़े-बूढ़ों के लिए सहानुभूति का भाव प्रबल बना है। पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में भी संबंधों की तरलता बढ़ रही है और जब संबंधों में तरलता, सरलता और मधुरता समाती है तो सहयोग एवं संवेदना की स्थिति सुदृढ़ बनती ही है।

6. साहित्य, कला, संगीत का क्षेत्र-ये तीनों क्षेत्र मानवीय वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के साथ गहराई से जुड़े हुए रहते हैं और इन्हीं के रूप-स्वरूप में मानवीय प्रगति का आकलन किया जा सकता है। इन क्षेत्रों के विषय में हो सकता है कि अधिक परिचितता न हो, किन्तु फिल्म संसार के साथ तो आज बहुसंख्या जुड़ी हुई लगती है तो जानने वाले बताते हैं कि फास्ट फूड के बाजारों से लोप होने की तरह ही निरुद्देश्य और विलासिता व हिंसा को फैलाने वाली फिल्मों के प्रति लोगों की रूझान घट रही है तथा सामाजिक संबंधों को जोड़ने वाली फिल्मों या टेली-सीरियलों की लोकप्रियता बढ़ रही है। आशय यह है कि लोगों की आम-पसन्द ने नई सुधारक करवट ले ली है।

विश्वात्मवाद की चेतना-सूचना तकनीक के अभूतपूर्व विकास ने मानवीय भावना के उदारीकरण को प्रोत्साहित किया है तथा अपने ही शहर की कॉलोनियों की तरह पूरी दुनिया के देशों के साथ सहज सम्पर्क की स्थिति बन गई है। इससे व्यापारिक व व्यावसायिक विस्तार तो हो ही रहा होगा किन्तु साथ ही विश्व स्तर पर सर्वहित के अनेकानेक कार्यक्रम भी सफलतापूर्वक चलाए जा रहे हैं जिनसे आभास मिलता है कि कहीं न कहीं मानवीय मूल्यों की भी पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसकी अनेक संस्थाओं के कल्याण कार्यक्रमों का निरन्तर विस्तार हो रहा है जो गरीबी उन्मूलन, स्त्री सशक्तिकरण, कन्या-शिक्षा, पोषाहार वितरण आदि कई उपकारी कार्यों से संबंधित हैं। सर्वत्र मानवाधिकार का कार्य क्षेत्र सशक्त हो रहा है तथा सरकारी दमन के विरोध में मानवाधिकार आयोगों की आवाज असरदार हो रही है। पर्यावरण संरक्षण के लिए सभी देशों में गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा उपयोगी कार्य किया जा रहा है। पशु क्रूरता के विरुद्ध तथा लुप्त होती प्रजातियों की रक्षा में भी प्रभावपूर्ण कार्य हो रहा है।

इस विहंगम सर्वेक्षण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रतिकृति का अंधेरा छंट रहा है तो सत्कृति की हल्की ही सही, लाली बिखरने लगी है। इससे विश्वास जमता है कि कालचक्र का पहिया प्रतिकृति से सत्कृति की दिशा में मुड़ गया है और अब इस पर युवा वर्ग का जोर लगे तथा पहिये की गति बढ़े तो सत्कृति की तस्वीर में कृति के चमकदार रंगों को भरना कठिन हो सकता है-दुस्साहस नहीं। कठिनाई को जीतना तो युवा वर्ग का प्रिय विषय होता है। अब आवश्यक है तो यह चारों ओर चरित्र निर्माण तथा विकास का ऐसा जोश फैल जाए एवं सशक्त क्रियाशीलता बने जिससे चरित्रहीनता की कालिमा सर्वत्र जड़-मूल से मिट जाए।

नई पीढ़ी का नींव से निर्माण बने सत्कृति के चरित्र की पहचान :

जब किसी विस्फोट से कोई इमारत ढह जाती है और उसकी नींव तक क्षतिग्रस्त हो जाती है तब

इसके सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं रह जाता कि उस ईमारत का नव निर्माण नींव से किया जाए। ऐसी ही दुर्दशा हुई है नई पीढ़ी के चरित्र निर्माण की अब तक कि उसके खड़े होने की कोई ठोस जमीन उसके पैरों तले नहीं रही है और न ही उसकी अपनी पहचान की विशेषता उसके व्यक्तित्व में सफाई है। ऐसे में नई पीढ़ी के नींव से नवनिर्माण की चर्चा उठाई जाए तो वह सभी दृष्टियों से उपयुक्त मानी जाएगी। लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि नई पीढ़ी का नवनिर्माण ऐसा प्रभावशाली हो जो नये सत्कृति युग की पहचान बन जाए। ऐसे नवनिर्माण के कुछ बुनियादी बिन्दु निर्धारित किए जाने चाहिए, जैसे कि-

1. चरित्र निर्माण का शुभारंभ : जब आमूलचूल परिवर्तन का उद्देश्य हो तो चरित्र निर्माण (केरेक्टर बिल्डिंग) को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना चाहिए तथा यह प्रक्रिया उस समय से ही प्रारंभ हो जानी चाहिए जब शिशु गर्भावस्था में हो। अभिमन्यु की कथा सभी जानते हैं कि गर्भावस्था में दिया गया ज्ञान और संस्कार कितना दृढ़ और दीर्घजीवी होता है। इस स्तर से जब चरित्र निर्माण का प्रशिक्षण शुरू हो जायगा तो वैसा नवनिर्माण उस शिशु को अपने जन्म के बाद पूरे जीवन में कभी-भी जर्जरित नहीं होने देगा।

2. सत्संस्कारों का धन : आज के अर्थ के अनर्थ को मिटाने के लिए जरूरी है कि प्राथमिक शिक्षा ही सत्संस्कारों के आरोपण से हो। बालक, किशोर और नवयुवक अपने अन्तर्हृदय में इस सत्य को स्थापित कर दें कि जीवन का उच्चतम विकास सत्संस्कारों के आधार पर ही साधा जा सकता है। यही सच्चा धन है। जो भौतिक धन-सम्पत्ति या सत्ता की बात है, वह कितनी भी आकर्षक लगे, पर अन्ततः वह चारित्रिक गुणों को नष्ट करने वाली ही सिद्ध होती है। अतः जीवन में सत्संस्कार, सद्व्यवहार एवं सहकार की त्रिवेणी बहती रहे-यही सुख का मूल है।

3. विचार, वाणी, व्यवहार की एकरूपता : जो सोचा जाए, वही वचन में व्यक्त हो तथा जो सोचा और कहा गया है, उसकी ही छवि उसके कार्य में दिखाई दे-यह सज्जनता का लक्षण है। दुर्जन की ये तीनों वृत्तियां पृथक्-पृथक् और कपटपूर्ण होती है। विचार, वाणी, व्यवहार की एकरूपता में ही सत्यनिष्ठा स्पष्ट होती है कि सत्य विचार, सत्य भाषा और सत्य कर्म, सम्पूर्ण विश्व के लिए हितावह होता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में ऐसा स्वभाव-संतुलन साध लेता है, उसके लिए पतित से पतित का हृदय परिवर्तन भी आसान हो जाता है। नई पीढ़ी के नवनिर्माण में इस गुण के सम्पोषण एवं संवर्धन से वैश्विक वातावरण इतना दोषमुक्त हो सकता है, जैसे कि सतयुग का आगमन हो गया हो। वैसे सत्कृति को सतयुग की कृति कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

4. प्रामाणिकता के मानदंड : प्रारंभ से मानव चरित्र का मोड़ आदर्श धरातल पर किया जाएगा तो वैसे में चरित्र का जो स्वरूप निर्मित होगा वही प्रामाणिकता का मानदंड होगा। सत्य से प्रामाणिकता सहज ही में उत्पन्न हो जाती है। किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में जो निष्ठा काम करती है, वह होती है कर्त्तव्यपालन की निष्ठा। कर्त्तव्यों का समूह होता है सच्चा मानव धर्म। कर्त्तव्यनिष्ठा का अर्थ होगा धर्म में विश्वास, अतः वैसी प्रामाणिकता धर्म का मुखर रूप होगी।

5. साध्य-साधन की सुनिश्चितता : उन लोगों का जीवन सफलता का स्वाद नहीं चख सकता

जो अपने जीवन का साध्य निर्धारित करने में ही विफल रह जाते हैं। साध्य निर्धारण के बाद ही जीवन में गतिशीलता आती है जैसे कि रेल का टिकट खरीद लेने के बाद उस स्थान पर पहुंचना तय हो जाता है। दूसरे, साध्य निर्धारित हो जाने से यह निश्चित करना कठिन नहीं रहता कि उस साध्य की प्राप्ति के लिए कौन से साधन अपनाए जाने चाहिए। सफलता के लिए साध्य-साधन का तालमेल जरूरी होता है।

6. भौतिकता-आध्यात्मिकता की पूरकता : जड़ चेतन के संयोग से संसार में जीवन मिला है तो उसके संरक्षण एवं सदुपयोग के लिए जड़ का योगदान भी चाहिए और चेतन की सहायता भी-यह मानते हुए कि भौतिकता एवं आध्यात्मिकता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं, क्योंकि शरीर ही तो धर्म-साधना का मुख्य साधन होता है **(शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्)**। दोनों तत्त्वों का व्यक्ति के ही नहीं, समूहों के अन्यान्य घटकों के जीवन में भी ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण हो कि धर्म, न्याय, समता तथा सर्व सहयोग पर आधारित समाज की रचना हो सके।

7. 'स्व' का 'सर्व' में समावेश : चरित्र की यह श्रेष्ठतम विशेषता होगी कि व्यक्ति अपने 'स्व' को गौण करता हुआ चले और सर्वहित के प्रति इतना निष्ठावान बन जाए कि धीरे-धीरे 'स्व' गलता हुआ 'सर्व' में समाविष्ट हो जाए। सर्व की प्राथमिकता ही व्यक्ति को पूरे विश्व के स्नेह बंधन में इस तरह बांध देगी कि पूरा विश्व ही उसके कुटुम्बवत् महसूस होगा।

8. संविभाग, सर्वजीव सुरक्षा एवं प्रदूषण मुक्ति : अर्थशास्त्र का इसे सौम्यतम सिद्धान्त बनाया जाना चाहिए कि पग-पग पर व्यक्ति अपने साथियों के साथ 'संविभाग' के सिद्धान्त पर चले। जो कुछ भी अर्जित किया जाता है उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व न माना जाए, महावीर का उपदेश उसे संविभाग का कर्त्तव्य देता है। प्राप्त को सब में बांटों और बराबर बांटों-इससे ऊपर कौनसा आर्थिक आदर्श हो सकता है? संविभाग की मनोवृत्ति सर्वजीव सुरक्षा में प्रवृत्त बनाएगी और उससे पर्यावरण की रक्षा भी होगी तो मानवीय मूल्यों की सुदृढ़ स्थापना भी। तब बाहर का और भीतर का भी प्रदूषण असह्य बन जाएगा और उससे मुक्ति पाने की ओर चरित्र के चरण तेजी से बढ़ेंगे।

इस प्रकार चरित्र के विकास कारक कई गुणों की गणना करवाई जा सकती है जिनके बल पर व्यक्ति और विश्व के हितों में सुन्दर सामंजस्य स्थापित हो जाए। इस रूप में चरित्र का विकास ही नई पीढ़ी के नवनिर्माण का मूल हो सकता है। चरित्र नींव में हो तो निर्माण के कण-कण में भी उसकी आभा अवश्य बिखरेगी, फिर ऐसे नवनिर्माण वाली नई पीढ़ी इस विश्व में सत्कृति का युग क्यों नहीं ला सकेगी?

धर्म, अहिंसा और लोकतंत्र से मिश्रित बने भावी जीवनशैली :

आधुनिक लोकतंत्र की परिभाषा है-जनता के द्वारा, जनता के लिए तथा जनता का शासन और इसकी विशेषताएं हैं-स्वतंत्रता, समानता एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। किन्तु प्राचीनकाल में आज से करीब 2600 वर्ष पूर्व भी लोकतंत्रीय शासन का अस्तित्व था। वह शासन था लिच्छवी वंश का तथा उनकी राजधानी थी वैशाली, जहां भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। लिच्छवी गणतंत्र ने बिम्बसार,

अजातशत्रु जैसे निरंकुश राजाओं के आक्रमणों को झेला था, किन्तु अंततः बिम्बसार के एक मंत्री वर्षकर ने कूटनीतिक षड्यंत्र से लिच्छवियों में मतभेद पैदा किए, जिसके परिणामस्वरूप बिम्बसार ने वैशाली पर विजय प्राप्त कर ली।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है। लिच्छवी गणतंत्र का यहां उल्लेख करने का आशय यह है कि लोकतंत्र से यह देश अपरिचित नहीं, बल्कि इस शासन प्रणाली पर सफलतापूर्वक राज्य चलाया जा चुका है। वह प्रणाली भी प्रत्यक्ष थी। लाल व काली पट्टिकाओं के द्वारा गुप्त मतदान किया जाता था और बहुमत के निर्णय क्रियान्वित होते थे, किन्तु अधिकांशतः निर्णय सर्वसम्मत ही हुआ करते थे।

लोकतंत्र की पहली शर्त है-स्वतंत्रता। महावीर ने भी स्वतंत्रता को धर्म का पहला लक्षण कहा है कि स्वतंत्रता सारे गुणों में उसी प्रकार श्रेष्ठतम है जिस प्रकार तारों में चन्द्र श्रेष्ठतम होता है (सूत्रकृतांग-1-11-22)। अथर्ववेद में भी स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए कहा गया है कि अपने आपको मुक्त बनाओ, मुक्त आकाश रचो, बंधनों की जकड़ से छुड़ाओं, फिर गर्भ से मुक्त हुए नवजात शिशु के समान स्वतंत्रतापूर्वक अपने पथ का चयन करो (6-121-4)। अपने गूढ़ अर्थ में अहिंसा की ऐसी स्वतंत्रता होती है कि किसी भी प्राणी को विनाश, शोषण, यातना और दासता का शिकार मत बनाओ, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में ईश्वरत्व का स्वरूप समाविष्ट है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों का क्षय करके पूर्णत्व प्राप्ति की दिशा में गतिशील होती है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं जिसका आत्माओं पर शासन हो या वह उनका कोई बुरा या भला कर सकता हो, क्योंकि स्वयं आत्मा अपने सुख या दुःख की विधाता होती है। आत्मा ही अपनी मित्र है और अपनी शत्रु भी, क्योंकि उसके अपने अच्छे-बुरे कार्यों का फल उसे ही भोगना पड़ता है। ऐसे में स्वतंत्रता का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है कि अपनी जीवनशैली की रचना में किसी अलौकिक शक्ति का कोई नियंत्रण या निर्देशन नहीं होता है। उसकी रचना का पूरा भार हमारे पर ही है। इसी दृष्टि से पं. नेहरू ने एक स्थान पर कहा है-'स्वतंत्रता और सत्ता के साथ जिम्मेदारियां आती है।' स्वामी चिन्मयानन्द कहते हैं-'वास्तविक स्वतंत्रता इस बात में नहीं है कि तुम जैसा चाहो, वैसा करो, बल्कि इस बात में भी है कि जैसा तुम चाहते हो वैसा न भी करो।' वास्तव में स्वतंत्रता का अर्थ अनुशासन से छुटकारा अथवा किसी भी प्रकार की व्यवस्था का अभाव नहीं होता है, बल्कि सही अर्थ यह है कि किसी अन्य के द्वारा थोपी गई व्यवस्था नहीं होती, बल्कि स्वयं द्वारा निर्धारित एवं स्वीकृत व्यवस्था होती है। इसलिए स्वतंत्रता है आत्मानुशासन, जो धर्म का प्राण भी है तो लोकतंत्र का भी प्राण है। दोनों क्षेत्रों में अनुशासनहीनता का कोई स्थान नहीं होता है, क्योंकि उससे दूसरों के हितों को आघात पहुंचता है और उससे अहिंसा की भी क्षति होती है। अनुशासन ही स्वतंत्रता की सबसे बड़ी नैतिकता है और यदि यह नहीं है तो कैसी भी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि स्वतंत्रता टिक नहीं पाएगी।

लोकतंत्र का दूसरा स्तंभ है समानता या समता। समता तो वस्तुतः धर्म ही माना गया है। सभी प्राणी समान हैं क्योंकि मूलतः सबकी आत्मिक शक्ति समान है, अतः असमान व्यवहार अधर्म है। मानवाधिकारों के उल्लंघनों तथा आर्थिक सामाजिक आदि असमानताओं को समाप्त करना प्रथम धर्म माना जाना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से अपरिग्रहवाद इसका समाधान है जिसके अनुसार धन-

सम्पत्ति व सत्ता का संचय तथा स्वामित्व का विचार अमान्य है। जीवन में मानवीय कर्त्तव्यों का निर्वाह अपनी श्रेष्ठतम योग्यता के अनुसार होना चाहिए, किन्तु उसके बदले में किसी प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा की कामना नहीं होनी चाहिए। समानता का प्रभाव जाति व्यवस्था पर यह हो कि जाति के आधार पर कहीं भी किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए। लैंगिक समानता के अनुसार स्त्री एवं पुरुष के समस्त अधिकारों में भी समानता होनी चाहिए। ये मूल्य लोकतंत्र को भी सुशोभित करते हैं तो धर्म को भी।

लोकतंत्र की तीसरी विशेषता है कि प्रत्येक जीवन के सम्मान एवं दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने में अटल विश्वास रखा जाए। इस दृष्टि से महावीर का अनेकान्तवाद का सिद्धान्त संसार के सारे सिद्धान्तों में अद्वितीय है कि अपने विचारों तक को दूसरों पर न थोपें। इससे बढ़ कर धर्म और अहिंसा का अभय क्या होगा? पहलुओं का दृष्टा हो सकता है, अतः कोई भी यह दावा नहीं कर सकता है कि वही सही है या यह आरोप भी नहीं लगा या सकता कि दूसरा गलत ही है। कोई एक पहलू के अनुसार सही हो सकता है तो दूसरे पहलू के अनुसार गलत। हाथी और अंधों की कहानी मशहूर है। सभी पहलुओं को जोड़ने से ही हाथी बनता है और अगर एकान्त रूप से एक पहलू को ही पूरा हाथी कहेंगे तो वह आंशिक सत्य भी असत्य बन जाएगा। कहने का अर्थ यह है कि किसी पर अपने विचार थोपो मत, बल्कि प्रत्येक विचार का आदर करो, उसे समझो-परखो और सत्यांश को मानो। इस प्रकार प्रत्येक विचारक अपने विचार के सत्यांश की स्वीकृति के साथ अन्य के विचारों के साथ सहमति स्थापित कर सकेगा। इससे बढ़कर सत्य-शोधन एवं विचार-समन्वय का अन्य मार्ग नहीं हो सकता है। विचार समन्वय और सहमति के बिना न धर्म चलता है और न ही लोकतंत्र। सबको साथ लेकर चलना है तो अनेकान्तवादी प्रणाली ही सफलता दिला सकती है। कारण, यह सहिष्णु प्रणाली है।

लोकतंत्र के ये आधारगत सिद्धान्त हैं और इन सिद्धान्तों का मानव धर्म के साथ कहीं कोई टकराव नहीं है, बल्कि जैन धर्म के तो ये प्रयोग किए हुए गणतंत्रीय सिद्धान्त हैं, जिनका प्रतिपादन स्वयं महावीर ने किया था। धर्म और लोकतंत्र की केन्द्र बिन्दु होगी अहिंसा, जो दोनों को मौलिकता प्रदान करती है। अहिंसा एक सिद्धान्त ही नहीं, अपितु पूरी जीवनशैली है, जो सह-अस्तित्व को साकार बनाती है। इस प्रकार यदि धर्म, अहिंसा तथा लोकतंत्र का सार्थक सम्मिश्रण किया जाए तो वह एक आदर्श भावी जीवनशैली का स्थान ले सकता है।

'स्व' के अनुसंधान से उभरेगा लालिमायुक्त चारित्रिक नवोदय :

धर्म, अहिंसा तथा लोकतंत्र पर आधारित जीवनशैली भी तभी सफल हो सकती है जब उसके साथ स्वानुभूति का संयोग हो। ऐच्छिकता मूल में हो तो वैसा नियंत्रण सदैव क्रियाशील रहता है। स्वेच्छा का संचालन सतत गतिमय भी बना रहता है। धर्म, अहिंसा और लोकतंत्र तीनों की शक्ति स्वेच्छा पर ही प्रभावपूर्ण बनी रहती है। स्वेच्छा का अर्थ है अपनी इच्छा और अपनी इच्छाओं के सही निर्धारण के लिए 'स्व' को समझना और प्रतिक्षण महसूस करते रहना जरूरी है। स्व का संयोग जीवनशैली के साथ न मिले तो उसका भावनात्मक आधार टूट जाएगा और कोरी जड़ मशीनवत्

जीवनशैली न तो सफल हो सकती है और न ही व्यक्ति से विश्व तक के किसी भी स्तर पर प्रगति के पथ को निर्बाध बना सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्व महासचिव दाग हेमरशोल्ड ने एक स्थान पर कहा-आन्तरिकता की यात्रा गहनतम और सबसे लम्बी यात्रा होती है। सच तो यह है कि बाहर की सारी व्यवस्था भीतर की यात्रा की सुचारूता पर ही टिकती है और टिकी रहती है।

ऐसी अन्तर्यात्रा प्रत्येक उन्नतिकामी व्यक्ति के लिए अनिवार्य है तो ऐसे अन्तर्यात्रियों की सहायता के बिना कोई भी व्यवस्था स्वस्थ, सुखद और स्थायी नहीं हो सकती है। इस अन्तर्यात्रा का एक ही लक्ष्य होता है कि 'स्व' को खोजा जाए। इस खोज का पहला परिणाम यह होता है कि कर्त्ता कोरा कर्त्ता ही नहीं रह जाता है, वह दृष्टा भी हो जाता है। कोई कुछ करता है-एक बात, किन्तु प्रतिपल वह अपने को देखता भी रहता है कि वह क्या कर रहा है तो इस सजगता को जीवन के लिए या जीवनशैली के लिए एक वरदान मानना चाहिए। आत्मनिरीक्षण, आत्मनियंत्रण, आत्मसंचालन के साथ आत्मालोचना के जुड़ जाने से विचार, वचन, व्यवहार का शुद्धिकरण हो जाता है। इन सबका केन्द्र बिन्दु होती है स्वानुभूति यानी कि आप अपने आपको हर समय महसूस करते हैं-अपने को कभी भूलते नहीं। इसे आत्म-साक्षात्कार भी कह सकते हैं। 'मैं' आत्म-शक्ति की पहचान है, क्योंकि यह 'मैं' दुर्बल या असहाय नहीं, पर जब जागे तो पूर्णता तक विकसित होकर ईश्वर या ब्रह्म का स्वरूप धारण कर लेता है **(अहं ब्रह्मोस्मि)**। बाहर में भटकते हुए मनुष्य को यह अपना ही 'मैं' बड़ी कठिनाई से यानी कि एकाग्र अभ्यास से समझ में आता है। यही उसका 'स्व' कहलाता है। स्व की अनुभूति मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाती है और चेतना शक्ति का भान दिलाती है। ध्यान, योग, कायोत्सर्ग आदि अन्यान्य प्रणालियों से यह अभ्यास किया जाता है किन्तु अन्तःकरण में जो गहरी लगन जग जाए तो वर्षों का काम क्षणों में बन सकता है। यह भावात्मक उत्कृष्टता का फल होता है।

स्व का अनुसंधान तथा चारित्रिक नवोदय का अभ्यास साथ-साथ चलना चाहिए, जितनी भीतर की महसूसगिरी गहरी होती जाएगी उतने ही चारित्रिक गुण जीवनशैली में घुलते-मिलते जाएंगे अथवा इसे भी यह कह सकते हैं कि चारित्रिक गुणों की सतत ग्रहणशीलता से स्व का अनुसंधान उदित ही नहीं होगा अपितु वह परिपक्व भी होता जाएगा। ऐसा चारित्रिक नवोदय लालिमायुक्त होगा क्योंकि उसके साथ आन्तरिक एवं बाह्य सभी शक्तियां संयुक्त होगी।

◆◆◆

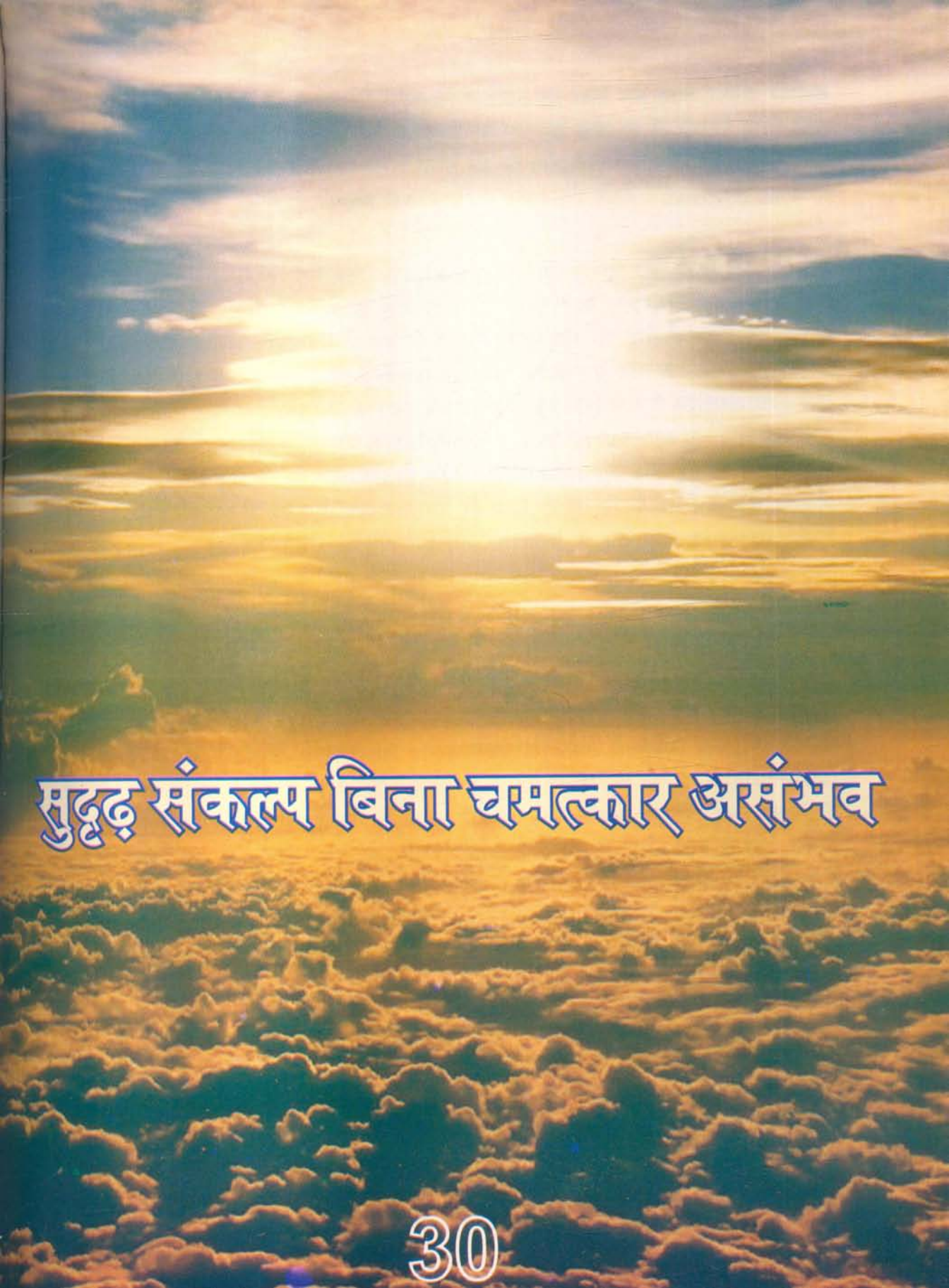


सुदृढ़ संकल्प बिना चमत्कार असंभव

चरित्रहीनता का चक्रव्यूह टूटना चाहिए

मुनिधर्म ग्रहण करने से पूर्व स्थूलिभद्र ने संकल्प किया कि वे अपने अब तक के रागात्मक संबंध को रागमुक्त कर लेंगे, क्योंकि वे तब विराग के क्षेत्र में प्रविष्ठ हो रहे थे, जहां से वीतराग के साध्य को उन्हें प्राप्त करना था। उन्होंने तभी विचार करके निश्चय किया था कि अपने संकल्प पर अटल ही नहीं रहेंगे, अपितु उसे अग्नि-परीक्षा से गुजार कर प्रमाणित भी करेंगे। इस निश्चय के अनुसार दीक्षित हो जाने पर मुनि स्थूलिभद्र अपने गुरु के समक्ष उपस्थित हुए। उनकी विधिपूर्वक वन्दना करके नवदीक्षित मुनि ने निवेदन किया-'गुरुदेव! मैं अपने इस मुनि-जीवन को वैराग्य से ओतप्रोत बनाना चाहता हूँ कि एक दिन आपकी कृपा से वीतरागता के पथ पर अग्रसर हो सकूँ।' गुरु को यह सुन कर अतीव हर्ष हुआ, उन्होंने पूछा-'तुम्हारा अति-उत्साह सराहनीय है किन्तु तुम चाहते क्या हो?' स्थूलिभद्र ने विनती की अपनी रागात्मकता के परिहार के लिए मैं इस चातुर्मास को कोशा नर्तकी के आवास पर सम्पन्न करने की आपसे आज्ञा चाहता हूँ। गुरु ने अतीव हर्ष से ही चातुर्मास की स्वीकृति दे दी।

अपने मुख्य द्वार पर आहट होने पर कोशा ने अपनी


सुदृढ़ संकल्प बिना चमत्कार असंभव
30

किसी दासी को नहीं भेजा, बल्कि खुद ही पागल की तरह उठ कर भागी और उसने तत्काल दरवाजा खोल दिया। यह क्या? उसकी आंखें फटी की फटी रह गई-वह सत्य था या स्वप्न? अपने जिस प्रियतम की प्रतीक्षा करते करते उसकी आंखें पथरा गई थी और उसका मन पूरी तरह निराशा के अंधकार में डूब चुका था, वे ही प्रियतम अब यकायक उसे अपने सामने दिखाई दे तो सहज ही विश्वास कैसे हो सकता है?

कोशा नर्तकी थी-उसके पुष्प नृत्य की प्रसिद्धि चारों ओर दूर-दूर तक फैली हुई थी। वह रूपवती ऐसी थी कि देखते ही कोई भी मुग्ध हो जाए। उसके लिए सुन्दर, धनवान और बलिष्ठ प्रेमियों की कमी नहीं थी। किन्तु उसने एक से ही प्रेम किया और वह प्रेमी थे स्थूलिभद्र। उनका रागात्मक बंधन ऐसा था कि जिसके लिए लोग समझते-यह इस जन्म में क्या, जन्म जन्मान्तर तक भी नहीं टूटेगा। कोशा और स्थूलिभद्र प्रेम के पर्याय बन गए थे। बहुत दिनों से न तो स्थूलिभद्र स्वयं आए और न ही उनका कोई संवाद इस कारण कोशा चिन्तित थी, दुःखी थी-एक-एक पल वर्षों जैसा बीत रहा था। वह उस बिन्दु के निकट पहुंच रही थी जहां से विक्षिप्त दशा शुरू होती है। ऐसी विह्वलता में अचानक अपने प्रियतम के दर्शन हो जाए और वह भी अपने ही द्वार पर तो उससे अधिक आल्हाद और क्या हो सकता है? वह बावरी-सी मुनि स्थूलिभद्र की आंखों में आंखें डाल कर एकटक देखती रही-हर्षावेग में बोल कुछ भी नहीं पाई।

बोलना स्थूलिभद्र को ही पड़ा-तुम देख रही हो न, कोशा! वह स्थूलिभद्र अब नहीं रहा-यह नया स्थूलिभद्र है मुनिवेश में और वह यह चातुर्मास तुम्हारे आवास पर सम्पन्न करने के लिए आया है। क्या तुम उसे भीतर आने को नहीं कहोगी? कोशा स्तब्ध थी-उसे समझ में नहीं आ रहा था कि यह नया और पुराना स्थूलिभद्र कैसे है और चातुर्मास उसके आवास पर क्यों? उसने कुछ भी समझना नहीं चाहा। उसके चेहरे पर प्रसन्नता की चमक फैल गई, उसने प्रेमपूर्वक अभ्यर्थना की-मेरे प्रियतम! यह आवास मेरा कहां? जब मैं ही आपकी हूँ तो यह आवास भी आपका ही हुआ न? फिर आज्ञा देने वाली मैं कौन होती हूँ? आप तो इस दासी को आज्ञा दीजिए। मुनि स्थूलिभद्र उस समय कुछ नहीं बोले और भीतर पहुंच कर एक अलग-थलक वाले कक्ष में जाकर खड़े हो गए। उन्होंने मर्यादानुसार आज्ञा मांगी और वस्त्र-उपकरण आदि एक ओर रख कर वे ध्यानस्थ हो गए। वह कोशा भी वहां से चली गई और अपने प्रियतम को रिझाने की तैयारियों में जुट गई।

आषाढ़ी पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र अपनी धवल चांदनी बिखेर रहा था और रागियों के लिए जैसे वायुमंडल में मादकता भर रही थी। तब कोशा का राग महाराग बना हुआ था और मुनि स्थूलिभद्र विराग की कसौटी पर चढ़े हुए थे, अपने संकल्प बल पर स्थित थे। स्थूलिभद्र के कक्ष के बाहर ही कोशा ने अपने प्रसिद्ध पुष्प नृत्य का आयोजन किया था। नृत्य वह करेगी और देखेंगे अकेले उसके प्रियतम स्थूलिभद्र। उसने बड़े ही मनोयोग से पुष्प नृत्य शुरू किया-फूलों की ढेरी पर वह लगातार घंटों तक नाचती रही, बिना एक भी फूल को हिलाए। जब वह थक कर निढ़ाल हो गई तो गिर पड़ी और प्रशंसा के लिए उसने आशाभरी नजरों से स्थूलिभद्र की ओर देखा। वह अपना होश ही खो बैठी कि तब भी स्थूलिभद्र आंखें बन्द किये ध्यानस्थ ही खड़े थे।

कोशा प्रतिदिन कुछ न कुछ ऐसा प्रेमाभिनय करती रही कि स्थूलिभद्र पहले की तरह ही उस पर मोहित हो जाए और उसके प्रेम पाश में बंध जाए। स्थूलिभद्र के लिए भी वह किसी अग्नि परीक्षा से कम नहीं था। उनका संकल्प बार-बार अग्नि में गिरने और जलने को होता, किन्तु अपने आत्मबल के प्रभाव से उसे जलने नहीं देते। यह क्रम दो माह तक चलता रहा, तब कहीं जाकर कोशा का आवेग शान्त हुआ और स्थूलिभद्र के संकल्प की अग्नि परीक्षा पूर्ण हुई। कोशा ने मुनि स्थूलिभद्र के नये रूप को समझा, राग के रास्ते से हट विराग की पहचान की और तब वह भी विराग के धरातल पर मुनि स्थूलिभद्र के समकक्ष खड़ी हो गई। यह अद्‌भुत परिवर्तन संकल्प बल का चमत्कार ही था।

संकल्प सुदृढ़ हो तो विचार क्या, कल्पना भी साकार हो जाती है :

संकल्प शक्ति की कोई तुलना नहीं। अपने भीतर ऐसी शक्ति जगाना अवश्य ही एक तपस्या जैसा है किन्तु जीवन के कण-कण में संकल्प शक्ति जो एकरूप होकर समा जाए तो वह क्या नहीं कर सकती है-यह सोचने की बात हो सकती है, लेकिन वह कुछ भी कर सकती है-इसकी कोई आशंका नहीं बचती। संकल्प शक्ति सुदृढ़ हो जाए तो विचार क्या, कल्पना तक सरलता से साकार हो जाती है तभी तो उपनिषद में प्रार्थना का एक सूत्र आता है-मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला बने। अपेक्षित यही होता है कि संकल्प को इतना सुदृढ़ बना लें कि जैसे उसके लिए सर्वस्व समर्पित कर दिया हो और वह संकल्प मनोभावों के साथ दूध-शक्कर की तरह घुल मिल गया हो। फिर उस संकल्प के अनुरूप कार्यारंभ कर दें और उसकी सम्पूर्णता तक डटे रहें-संकल्प अवश्यमेव सिद्ध हो जाएगा।

संकल्पता का अर्थ है मनोभावों के साथ धृत संकल्प की एकरूपता, एकात्मकता और एकाग्रता तथा जब ऐसी मन:स्थिति का निर्माण हो जाता है तो वह संकल्प सिद्ध न हो-ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। संकल्प को पुष्ट बनाने में तीन आन्तरिक शक्तियां काम करती हैं--**1. इच्छाशक्ति**-वह इतनी बलवती हो जाए कि संकल्प सिद्धि तक उस बल में तनिक भी मन्दता न आवे। आज राजनेताओं के लिए कहा जाता है कि यदि वे अपनी इच्छाशक्ति बना लें तो कौनसी ऐसी समस्या है जिसका सत्ता की सहायता से समाधान न किया जा सके। इच्छाशक्ति (विल पॉवर) का प्रभाव अपरिमित होता है। **2. एकाग्र साधना**- बिखरे मन से कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता है-ऐसे में मन हमेशा भ्रमित रहता है। किसी भी साध्य को पाना है तो उसके लिए एकाग्र साधना अनिवार्य है। एकाग्र का अर्थ है कि अग्र यानी अपने सामने सिर्फ एक को ही रखो-एक के सिवाय अन्य कुछ भी दृष्टि में ही न रहे। एक है, एक ही दिखाई देता है और एक को ही पाना है-यह होती है एकाग्रता की अवस्था। संकल्प सिद्धि के लिए एकाग्रता होनी ही चाहिए। **3. विचार-सामर्थ्य**-एकाग्रता के साथ वैचारिकता बनी रहनी चाहिए। यह न हो कि एकाग्रता का सही प्रयोग न करते हुए अपने मन-मानस को कुन्द बना लिया जा अथवा विचारहीनता की स्थिति आ जाए। विचार नहीं रहेगा तो विवेक नहीं रहेगा और बिना विवेक के संकल्प किस आधार पर टिकेगा? ये तीनों शक्तियां संकल्प की सुदृढ़ता के लिए रामबाण औषधि का काम करती है।

संकल्प को पुष्ट करने के लिए प्रयोजन और संकल्प के अन्तर को भी समझना चाहिए। यह प्राकृतिक नियम है कि कोई भी कार्य बिना प्रयोजन के नहीं किया जाता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक

व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। यह हो सकता है कि किन्हीं का प्रयोजन अति स्पष्ट हो और विवेक पूर्वक पहले निर्धारित किया हुआ हो और दूसरी ओर कइयों का प्रयोजन उन्हें स्वयं भी स्पष्ट नहीं होता। प्रयोजन की अस्पष्टता कार्य सिद्धि की बड़ी बाधा होती है तो निष्प्रयोजन कार्य को निरी मूर्खता माना जाता है। प्रयोजन का निर्धारण बुद्धि का महत्त्व सिद्ध करता है। तो संकल्प इसी प्रयोजन का उच्चतर चरण है। हमने जो सोचा या निश्चित किया है, वह पूरा होना ही चाहिए इस प्रकार की जो इच्छाशक्ति उभारी जाती है, वह संकल्प की दृढ़ता का अभ्यास होता है तथा सुस्थिर विचार, विवेक और कल्पना तक उस संकल्प को पूर्णता तक पहुंचाते हैं। यह अनुभव की बात है कि यदि संकल्प के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया जाए तो संकल्प सिद्ध होकर ही रहता है। संकल्प शक्ति के साथ कार्य की कठिनता भी कम हो जाती है। विचारणीय यह हैं कि चरित्र निर्माण और विकास के लिए व्यापक स्तर पर कोई अभियान छेड़ा जाता है तो सफलता के लिए संकल्पबद्ध होना चाहिए और गतिक्रम में पग-पग पर प्रयोजन की स्पष्टता जांचते रहना चाहिए।

संकल्प-यात्रा में भय का सामना तन-बल से नहीं, मन-बल से :

सामान्य यात्राओं में भी अनेक प्रकार के भय, आशंकाएं, सन्देह, अविश्वास आदि के अंधड़ उठा करते हैं और मार्ग को बाधित बनाते हैं तो संकल्प-यात्रा में यह सब स्वाभाविक होता है। जितना महद कार्य, उतनी ही आपदाएं-बाधाएं अधिक। इसका कारण है और वह सही भी है। सोना बिना अग्नि में तपाए शुद्ध नहीं होता। शुद्ध होता है अशुद्धता समाप्त होने पर, जो तपाने से ही समाप्त होती है। फिर जीवन कैसे निखर सकता है बिना कठिनाइयों को झेले और बिना उन पर विजय पाए। मानव जब तक बड़ी-बड़ी अग्नि परीक्षाओं से सफलतापूर्वक नहीं गुजर जाता, तब तक उसे महानता की प्राप्ति नहीं होती है। संकल्प यात्रा तो एक अति महत्त्वपूर्ण यात्रा होती है, जीवन यात्रा होती है-उसमें विविध प्रकार के भय संकल्प यात्री को घेरें और उसे डिगावें, पथ भ्रष्ट करना चाहें-यह तो होता ही है। भय से टकराना, अभय बनना तथा साथियों को अभय बनाना-इससे मनोबल संचित होता है, स्थिर और सुदृढ़ बनता है। यह मनोबल ही संकल्प सिद्धि का सबसे बड़ा सहायक तत्त्व माना गया हैं।

इतिहास साक्षी है कि राष्ट्र तक अपनी प्रगति की प्रक्रिया में भय से ग्रस्त बनते आए हैं वे उससे लड़ते भी आए हैं तथा कभी जीत और कभी हार झेलते आए हैं। फिर व्यक्ति के जीवन में तो पग-पग पर तरह-तरह के भय सताते ही हैं। भारत देश ने शक, हूण, तैमूर लंग, नादिरशाह, मुहम्मद गजनवी आदि आक्रान्ताओं के रूप में बार-बार भय का सामना किया है तो आज भी आतंकियों और आतंकवादी संगठनों का भय सिर पर मंडरा रहा है जो पूरी सतर्कता और सैनिक विरोध के बावजूद भी समाप्त नहीं किया जा सक रहा है। सच तो यह है कि यह हिंसक आतंकवाद पूरी दुनिया के लिए खतरा बन गया है और आश्चर्य का विषय है कि यह आतंकवाद भी धर्म या मजहब के नाम पर चलाया जा रहा है। निर्दोष लोगों के रक्तपात पर भी धर्म का मुलम्मा चढ़ाया जाता है। जो भी है यह आतंकवाद आज भय का सबसे बड़ा कारक बना हुआ है और भय संकल्प यात्रा का पहला शत्रु होता है। कोई भी विचारधारा चाहे वह धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक हो भय के आधार पर जब बन्द (अप्रकट) व्यवस्था में क्रियान्वित की जाए तो वह हानिप्रद हो जाती है, क्योंकि उस बन्द व्यवस्था में

किसी नये विचार को आने और अपना असर दिखाने का अवसर ही नहीं मिलता। इससे वह विचारधारा संकुचित और कट्टर बन जाती है तथा उस समाज को अपनी ही श्रेष्ठता के हठ में जकड़ लेती है। फिर वैसा समाज निहित स्वार्थियों का समाज बन जाता है जो अपनी विचारधारा दूसरों पर थोपने लग जाता है-थोपना अर्थात् बलात् थोपना। यही आज के सबसे बड़े भय-आतंकवाद का रहस्य है। जो अमुक मजहब को फैलाने के लिए खुली हिंसा का सहारा लेते हैं और साथ नहीं आने वालों को काफिर समझते हैं, वे पूरी मानव जाति के लिए आतंक, दहशत या भय का कारण बन जाते हैं। इस कारण आज ऐसे अटल संकल्प यात्रियों की आवश्यकता है जो **'घृणा पाप से, नहीं पापी से'** की मनोवृत्ति लेकर इस महाभय का मुकाबला करने के लिए तैयार हों। आतंकवाद का उग्रवाद एक प्रकार की मानसिक दशा ही है जो जाने-अनजाने में कट्टरता के बेहोश जोश में जम जाती है, जिसे उखाड़ने के लिए तन बल के विरोध में तन बल को ही लगाने से हिंसा बढ़ रही है-क्रिया-प्रतिक्रिया का संकट गहरा रहा है, अत: इसके विरोध और निरोध के लिए मन-बल लगना चाहिए। मनोबल चरित्र विकास की उपलब्धि होता है और चरित्र विकास से मनोबल बढ़े और संकल्प शक्ति उससे जुड़े-इसके लिए चरित्र निर्माण की सशक्त गूंज चारों ओर मुखर बननी चाहिए, जो प्रखर होकर आतंकवादियों का हृदय-परिवर्तन कर सके।

दूसरा महाभय है आणविक शस्त्रों तथा घातक शस्त्रों के अम्बार का, जिसने दुनिया को बारूद के ढेर पर बिठा दिया है। आज प्रत्येक नागरिक विनाश की आशंका से त्रस्त है। यद्यपि हिरोशिमा, नागासाकी (जापान) के बाद अणुबम का अब तक कहीं प्रयोग नहीं हुआ है, परन्तु सिर पर लटकती नंगी तलवार के नीचे कोई कब तक नि:शंक रह सकता है? इस प्रकार भय और आशंका से संसार को कैसे और कब तक मुक्त बनाया जा सकेगा, यह ज्वलन्त प्रश्न है। ओशो रजनीश एक स्थान पर कहते हैं-'आतंक, भय, संदेह, दहशत आतंकियों या अणुबमों से नहीं है, वह तो एक मन:स्थिति है जो तुम्हारे अवचेतन मन में जम गई है। उनके अनुसार आतंक, भय आदि का सामना बाहुबल से नहीं, अपने मनोबल से किया जाना चाहिए और वह भी अपने ही मन के साथ संघर्ष करके कि जमी हुई भय आदि की परतें मानसिकता में से उखाड़ कर बाहर फैंक दी जाए।' भयग्रस्त मानसिकता को निर्भय बनाने के ये उपाय हो सकते हैं-1. धर्म-मजहब के अंधानुकरण और उसकी कट्टरता को रोका जाना चाहिए। इसके लिए प्रबुद्ध जनों को धर्म के उन ठेकेदारों का कदम-कदम पर कठोर विरोध करना होगा जो अपने अनुयायियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाते हैं या फतवे आदि जारी करते हैं। 2. व्यक्ति और विभिन्न समूहों के जीवन में चारित्रिक आयोजनों, नैतिक समारोहों आदि के माध्यम से अधिक आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए ताकि लोगों को बन्दूक की संस्कृति (गन कल्चर) से सलूक (बिहेवियर कल्चर) की संस्कृति की ओर मोड़ा जा सके। 3. आम लोगों के मन में यह धारणा बिठाई जाए कि जीवन में परिवर्तन हिंसा से नहीं, अहिंसा से ही लाए जा सकते हैं और वे परिवर्तन शुभतादायक तथा आनन्द प्रदायक हो सकते हैं। मानसिकता को बुद्धि, विवेक तथा समझदारी से भयमुक्त बनाना चाहिए। 4. विश्वास और व्यवहार को सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त कर देना चाहिए तथा चरित्र निर्माण का पहला उद्देश्य बनना चाहिए कि घृणा, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष आदि सारे मानवता विरोधी दुर्गुणों से मन मुक्त रहें। धर्म से गुणवत्ता पनपनी चाहिए, कट्टरता नहीं। 5. सबसे

ऊपर चरित्र विकास के साथ चारित्रिक क्षमता का निर्माण किया जाए कि घृणा, हिंसा, प्रलोभन, सत्ता लिप्सा आदि दुर्गुणों का उन्मूलन उनके प्रारंभ होने के साथ ही कर दिया जाए।

वर्तमान समय में हिंसा आदि के फैलाव से नागरिकों के तन और मन दोनों आहत हैं, बल्कि आज की सभ्यता ही घायल हो चुकी है, अत: तन और मन के घावों पर मरहम लगा कर उन्हें स्वस्थ बनाने की पहली जरूरत है और इसके लिए चरित्र निर्माण के सिवाय अन्य कोई सशक्त उपाय नहीं- जागृति बढ़ावें, विवेक को परिपक्व करें तथा ध्यान आदि से माध्यमों से मनोबल को विकसित बनावें और चरित्र विकास का यह अभियान, आन्दोलन या क्रम तब तक सतत रूप से चलता रहे जब तक कि आज के भयग्रस्त मानव को मानवता के मूल्यों पर खड़ा सच्चा, निर्भय और सक्रिय मानव रूप में न ढाल दिया जाए। अब ऐसा संसार बने जिसका पहला मूल्य हो-बलशाली का वर्चस्व (सरवाइवल ऑफ दि फिटेस्ट) नहीं, बल्कि बुद्धिशाली और भावनाशील का वर्चस्व (सरवाइवल ऑफ दि वाइजेस्ट) रहेगा।

आपदा कितनी भी बड़ी या कड़ी क्यों न हो, साध्य को सदैव याद रखो :

संकल्पबद्धता की स्थिरता के लिए दो बातें जरूरी हैं-एक तो साध्य सदैव स्मृति में बना रहना चाहिए तो दूसरे, वह सत्साहस बना रहे जो किसी भी आपदा से टकराने में हिचकिचाहट नहीं, चाहे वह आपदा भीषण हो या कठोर साध्य याद रहे और साधन की शुद्धता से डिगें नहीं तो वैसा संकल्प कभी टलेगा नहीं। जब हम समस्याओं और संकटों से घिरे हों, तब भी यदि धीरज बना रहे तो छोटे स्तर पर प्रारम्भ किया गया प्रतिरोध भी संकल्प की दृढ़ता के साथ सशक्त बन जाता है। आपदा जितनी बड़ी और कड़ी हो, उतनी ही अधिक ऊर्जा सब ओर फैलाने के लिए कठोर प्रयास करना चाहिए ताकि संसार के सबसे बड़े घटक में तथा बीच के अन्य घटकों से लेकर सबसे छोटे घटक व्यक्ति तक स्वस्थता का नया वायुमंडल संचरित किया जा सके। इससे वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं, आने वाली अनेक पीढ़ियों के लिए भी प्रगति का पथ प्रशस्त होगा और ऐसी ऊर्जा चरित्र सम्पन्नता से ही उत्पन्न एवं प्रसारित की जा सकती है।

चरित्रशीलता का विस्तार विश्व तक माना गया है और हमारा साध्य भी इतना ही विस्तृत होना चाहिए। यह नित प्रति का चिन्तन हो कि सारा संसार हमारा घर है और सभी मानव हमारे परिजन तथा यह धारणा बने कि संसार का प्रत्येक मानव और प्राणी हमारे लिए महत्त्व का है-उसके सुख-दु:ख हमारे सुख-दु:ख हैं। यदि इस रूप में विश्व स्तर का चरित्र विकसित किया जाए तो हममें से प्रत्येक के श्रेष्ठ विचारों, उत्तम ऊर्जा, अविरल अनुभूतियों एवं सब के व्यावहारिक कार्यों से विश्व की वर्तमान अवस्था में शुभ परिवर्तन लाया जा सकता है। हमारे चारों ओर जो घट-गुजर रहा है, उसे शुद्धता और शुभता की दिशा में मोड़ने के लिए हमें निरन्तर धैर्य एवं सामर्थ्य की आवश्यकता रहेगी। इसके लिए हमें अपने चरित्र पर, अपनी आतंरिक बुद्धि एवं शक्ति पर पूरा विश्वास करना होगा अर्थात् हमारा अपना आत्मविश्वास सबल और पुष्ट बन जाना चाहिए जो उस प्रकार के चरित्र के निर्माण तथा विकास के अभाव में संभव नहीं। हमारे आत्मबल के असर से प्रभावित होंगे तथा वे भी आत्मबल के धनी बनने का यत्न करेंगे। गीता में कहा गया है-वह कार्य, जो नियमित है तथा जो

बिना किसी लगाव, बिना प्रेम या घृणा एवं फल की कामना के बिना किया जाता है, कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ाने वाला होता है।

प्रभु महावीर कहते हैं-'सभी जीवों के प्रति दया भाव रखें, क्योंकि घृणा केवल विनाश की ओर ले जाती है।' चरित्र सम्पन्न बनने का पहला अर्थ यह है कि घृणा को जीतें तथा सबके बीच प्रेम, दया और सहकार की संवदेना जगावें। यह कर्त्तव्य ही नहीं, दायित्व बनना चाहिए कि जहां भी लोग निराशा के काले बादलों से घिरे हों और जिन्हें प्रकाश की रेखा तक न दिखाई दे रही हो, उन्हें अपने चारित्रिक क्षमता का सम्बल दिया जाय तथा उनके बीच रह कर उनका भी तदनुरूप चरित्र गढ़ा जाय। यदि प्रत्येक चरित्रशील व्यक्ति अपने जीवन को दूसरों की सहायता में लगा दे तो वे दूसरे भी संकटकाल में क्या करें-उसका विवेक पा जाएंगे। सब पर प्यार, परवाह और दया दृष्टि रहेगी तो उसकी तरलता में प्यार देने वाले तथा प्यार लेने वाले दीनों के हृदय प्रफुल्लता से भर उठेंगे। श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है-वहां ईश्वर कतई नहीं आता, जहां कायरता, घृणा और भय का राज चलता है। उन्नत चरित्र का साध्य यही होता है कि वह दूसरों के उत्थान और विकास के लिए त्याग और बलिदान में अग्रणी रहे तथा समय आने पर सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने की तत्परता रखे। चरित्रशील व्यक्ति को सदैव सतर्क रहना चाहिए तथा उदार-हृदय भी कि वह आवश्यकता आने पर देने ही देने का भाव रखे। उसके कार्य के पीछे कभी निहित स्वार्थ न रहे। आत्मा की आवाज आ जाए कि प्रस्तुत समय त्याग का है तो उस समय विश्लेषण, परीक्षण अथवा आलोचना किए बिना देने का क्रम शुरू कर दे। उस दान से उन्हें नया जीवन मिलेगा, जिनके सिर पर संकट के बादल मंडरा रहे थे। वे नया प्रकाश पायेंगे, जिन्हें अंधेरा घेरे हुए था। आपकी शक्ति, साहसिक वृत्ति एवं निर्भयता उन दलितों, शोषितों एवं उत्पीड़ितों का चरण बनेगी। चरित्र विकास देना ही देना जानता है, लेने की लालसा कभी नहीं रखता। जरूरत मंद को उसकी जरूरत के मुताबिक देने की अनेक विधियां हो सकती हैं तो अनेक प्रकार भी-विवेक समय पर सही निर्धारण कर देता है।

वह ज्ञान जो सबको जगाता है, वही विश्व चेतना की एकता का भी ज्ञान होता है, जो चरित्र निर्माण के बाद आन्तरिकता में प्रस्फुटित होता है। सकल मानव जाति की एकता के विचार के साथ आत्मा की शक्ति उभरती है और संसार में शुभ परिवर्तन का शंखनाद करती है। आज का समय नाजुक है और इसमें कटुता व द्वेष को भूल कर दयालुता, स्नेहिलता तथा सज्जनता की वृत्तियों को जगाना एवं कार्यरत बनाना होगा। इसका केन्द्र बिन्दु बनाना होगा सर्वत्र शान्ति को और सबसे ऊपर विश्व शान्ति को। यदि किसी की धर्म और कर्म की भावनाएं अब तक क्रियान्वित न हो पाई हों तो वर्तमान समय से अधिक अन्य कोई उपयुक्त समय नहीं होगा कि आज वह अपना सम्पूर्ण सहयोग व्यक्ति से लेकर विश्व तक की समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में समर्पित करें। स्वयं स्वस्थ रहें और सबको स्वस्थ रहने की सीख दें-स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित यानी आत्मविश्वास से भरपूर। यह सतत जागृति का मार्ग है कि अधिक से अधिक व्यक्ति चरित्र-विकास के अभियान में साथ-साथ जुटें, स्थान-स्थान पर सहयोगी संगमों की रचना करें तथा परहित में स्व को अर्पित कर दें। जब मानव जाति एक बनेगी, संगठित होगी, तब ईश्वरत्व का सुप्रभाव अपने साध्य के प्रति अधिक

आश्वस्त बनाएगा और गति त्वरित प्रगति में बदल जाएगी। साध्य के प्रति सतत जागरूकता ही तो ईश्वरत्व की आभा प्रदान करती है।

चरित्रहीनता के चक्रव्यूह को तोड़ो, संकल्प से, संस्कार से, सदाशय से :

चरित्रहीनता अर्थात् विकृतियों, विषमताओं तथा तरह-तरह की बुराइयों का जमावड़ा बड़ा विकट होता है तो दुष्चरित्रों की चालें अमानवीय तथा घातक। उनकी कारगुजारियों में क्रूरता की मार मिलावट होती है। यह सब देखते हुए चरित्रहीनों की काम करने की विधि को चक्रव्यूह जैसी जटिल मानी जा सकती है। इस कारण चरित्रहीनता को परास्त करना चक्रव्यूह को भेदने जैसा ही होता है। किन्तु यह चक्रव्यूह भेदन अभिमन्यु के समान आधा अधूरा नहीं होना चाहिए अर्थात् चरित्र-विकास अभियान में प्रवृत्त कार्यकर्त्ताओं को पूरा प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए कि चरित्रहीनों की हीन गतिविधियों का कैसे सामना किया जाय तथा किस प्रकार उनके आचरण में बदलाव लाकर उन्हें चरित्रहीन से चरित्रशील बनाया जाय? अच्छाई और बुराई की लड़ाई बहुत पुरानी है और इसी लड़ाई की प्रतीक रूप में कही जाती है-देवासुर संग्राम कथा। देव अच्छाई के प्रतीक और असुर बुराई के। दोनों के बीच लड़ाई का क्रम बना रहता है। यही लड़ाई है चरित्रहीन और चरित्रशील के बीच की, किन्तु इसकी कल्पना कुछ अनूठी है। यह लड़ाई भीतर की मानी जाती है जिसकी रणभूमि अपनी ही आन्तरिकता होती है। मनुष्य इस लड़ाई का पुरोधा है। वह बुराई को करने वाला भी है और अच्छाई का समर्थक भी। मनुष्य के अन्त:करण में उसका यही द्वन्द चलता है। मन मूर्छा में भटक रहा हो तो वह विकृति, विषमता और बुराई में डूबा रहता है बेभान जैसा और जब तक कोई दयालु पुरुष उसे झिंझोड़ता नहीं तब तक वह जागृत भी नहीं होता है। किन्तु मनुष्य हमेशा बेभान नहीं रहता, अवसर आते ही जागृत होता है, अपनी ही बुराइयों से खुद लड़ता है और अच्छाइयों से अपनी झोली भर लेता है। यही मनुष्य-मनुष्य की जीवन गाथा होती है और जागरण अभियान सदैव फलदायक सिद्ध होते हैं। इस विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जागता है, सोता है, फिर जागता है-यह क्रम बना रहता है, किन्तु वह जागता रहे अधिक समय तक और कभी सो भी जावे तो जागरण का शंख ऐसा गूंजता रहे कि वह ज्यादा सोता न रह जाए। जागना, जगाना और जगाए रखना-यह मूलमंत्र है चरित्र निर्माण एवं उसके निरन्तर विकास का।

आज की तात्कालिक समस्या यह है कि मनुष्य अधिकांशत: सुप्त है, शिथिल है और निष्क्रिय है और सोते रहने वाले के घर में किस्म-किस्म के चोर घुस जावें और बुरी तरह लूटपाट मचावें-यह तो होता ही है। यही कारण है कि मानव चरित्र आज विभिन्न विकृतियों से कलंकित है, उसका जीवन जागरणहीन है और तदनुसार वह चरित्रहीन भी है। चरित्रहीनता है ही नहीं, बल्कि गहरा गई है और उसको देखते हुए उसे मिटाने के प्रयास भी उतने ही सटीक होने चाहिए। रोग जितना असाध्य, चिकित्सा उतनी ही असाधारण हो तभी काम बनेगा। देवासुर संग्राम में देवताओं का बल बढ़ना ही चाहिए तभी तो असुरों को बुरी तरह से परास्त किया जा सकेगा। इस कारण आज चरित्रशीलता को उभारना किसी भी गंभीर चुनौती से कम नहीं है। ऐसी चुनौती को झेलना, उसे जीतने के लिए संकल्पबद्ध होना तथा साध्य को प्राप्त कर लेना-यह सब अतिशय दायित्वपूर्ण है।

चरित्रहीनता के ऐसे जटिल चक्रव्यूह को भेदने के लिए और तोड़ने के लिए युवा शक्ति क्रियाशील बने-यह समय का आह्वान है। इस विजय के लिए इन अन्तर्आयुधों की सहायता ली जा सकती है-

1. संकल्प : संकल्पबद्धता के महत्त्व का ऊपर प्रतिपादन किया जा चुका है। संकल्प की शक्ति अद्‌भुत होती है और इतनी अद्‌भुत कि वह असंभव को संभव करके दिखा दे, क्योंकि संकल्प सम्पूर्ण आत्म-शक्ति को एकत्रित करके संघर्ष हेतु सामर्थ्य से परिपूर्ण बना देता है। संकल्प का लक्ष्य इतना एकाग्र और केन्द्रित बन जाता है कि उसके सिवाय संकल्पकर्त्ता को अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता और इस तादात्म्य का सुपरिणाम होता है संकल्प का सफल होना। संकल्प सफल अर्थात् लक्ष्य प्राप्त और लक्ष्य प्राप्ति जीवन की अनमोल उपलब्धि होती है। चरित्र निर्माण तथा विकास का संकल्प यदि युवा शक्ति के साथ एकरूप, एकाग्र और केन्द्रस्थ बन जाए तो सफलता को कोई भी शक्ति बाधित नहीं बना सकती है। यह अजेय शस्त्र है।

2. संस्कार : कोई भी सद् संकल्प वही कर सकता है जो संस्कारित है तथा सद् संकल्प की पूर्ति भी सत्संस्कारों की क्षमता के साथ ही संभव होती है। संस्कार पारम्परिक होते हैं और परम्पराएं स्वस्थ रीति से निभाई जाती रहें तो संस्कारों का क्रम भी स्वस्थ बना रहता है। संस्कारिता व्यक्ति के जीवन से उद्‌भूत होकर अपनी शुद्धता एवं शुभता समाज के क्षेत्रों में खुले हाथ बांटती है। संस्कारिता का व्यापक फल समूहों को मिलता है और वस्तुत: संस्कारिता का निर्माण भी समूहों की विभिन्न प्रकार की गतिविधियों के आधार पर ही होता है। जो समाज संस्कारों की शुद्धता एवं शुभता के प्रति सावधान रहता है, वह चरित्रहीनता के चक्रव्यूह में मुश्किल से ही फंसता है और परिस्थितिवश फंस भी जाता है तो उसे उससे उबरने के लिए अधिक आयास की आवश्यकता नहीं होती है। संस्कार निर्माण, चरित्र निर्माण का ही मुख्य अंग माना जाता है ।

3. सदाशय : सदाशय का अर्थ है-अच्छा भाव, जो प्रत्येक मनुष्य और प्राणी के लिए रहना चाहिए। सबका भला चाहना, किसी का भी बुरा न चाहना और हमेशा सबके भले के लिए ही बोलना तथा काम करना-यह सदाशय का सीधा-सा मतलब है। जो सदाशयी है, वह निष्कपट है, नि:स्वार्थी है और सरल स्वभाव वाला है। सरल है, वह सज्जन है और सज्जनता चरित्रशीलता का पहला गुण होता है। जिसका आशय सदैव सद्, शुद्ध और शुभ हो वह विभाव की विकृति से नहीं बंधता और सदा परोपकार के लिए मुक्त हृदय से कार्यशील रहता है।

यों संकल्प, संस्कार और सदाशय ऐसे ब्रह्मास्त्र हैं, जिनके आगे चरित्रहीनता का कैसा भी कसा हुआ चक्रव्यूह क्यों न हो, टूट कर चूर-चूर हो जाता है और जड़ मूल से उखड़ जाता है। चरित्र विकास के अभियान में ध्यान योग का सम्बल भी अपूर्व सिद्ध हो सकता है। सामान्य रूप से तन और मन दोनों को एकाग्र बना कर अवस्थित हो जाना तथा विशिष्ट विचारणा के साथ मन की गतिविधियों को नियंत्रित रखना ध्यान है। ऐसे ध्यान के लिए एकान्त स्थान, अनुकूल वातावरण तथा अन्य सुविधाएं आवश्यक होती हैं, परन्तु ध्यान की एक नई विधि भी विकसित हुई है कि चलते-फिरते, रेल-बस में चढ़ते-उतरते, ऑफिस में काम काज करते रहते हुए भी इस विधि से ध्यान की साधना

की जा सके। आप बाहर का कोई भी कार्य भले करते रहें, किन्तु भीतर में अपनी आत्मा की आवाज सुनने का अभ्यास भी करते रहें। वही बात है कि बाहर में कर्त्ता और भीतर में दृष्टा। कर्त्ता और दृष्टा एक साथ बने रहने में कोई व्यवधान नहीं आता, बल्कि दोनों क्षेत्र सुघड़ता से कार्य करने लगते हैं। इसकी सफलता सतत जागरूकता में छिपी होती है। वह जागरूकता निरपेक्ष हो। वस्तुत: ध्यान को सब ओर से कट कर कुछ करने के अनुष्ठान के रूप में देखने की अपेक्षा इस रूप में देखना विशिष्ट रूप से फलदायी होता है कि आप अपने सामने जो कुछ कर रहे हैं, उसके संबंध में भीतर-बाहर से जागृत रहें और अपने दृष्टा भाव को जागृत रखें। ऐसे ध्यान योग की साधना करने वाला स्वयं तो चरित्रशील होता ही है किन्तु चरित्रशीलता का ऐसा प्रभा मंडल रच देता है कि उसके सम्पर्क में आते ही चरित्रहीनता की कड़ियां खुद-ब-खुद टूटने लगती है और चरित्र निर्माण की क्रमिकता शुरू हो जाती है। दृष्टा भाव यानी सतत ध्यान योग के सुपरिणाम आश्चर्यजनक रीति से सामने आते हैं।

सामाजिक अन्याय को मिटाने से मिटेगी चरित्रहीनता :

समाज, राष्ट्र या अन्य प्रकार के समूहों में जब विभिन्न वर्गों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार पनपता है तथा निहित स्वार्थी वर्ग उस अन्याय के जरिये अपनी स्वार्थ पूर्ति करता है, तब एक ओर सामाजिक अन्याय की जड़ें मजबूत होती है तो दूसरी ओर चरित्रहीनता की जटिलता भी पेचीदी बनती जाती है। सामाजिक अन्याय के फलस्वरूप समाज में विभिन्न प्रकार की विषताएं बढ़ती हैं और विकृतियां फैलती हैं। अल्पसंख्या में लोग अर्थ आदि अन्यान्य शक्तियों से सम्पन्न होते हैं तो बहुसंख्या शोषण व दमन से पीड़ित होकर तरह-तरह की अभावग्रस्तता से दु:खी बन जाती है। फिर धनाढ्य वर्ग का चरित्र गिरता है धन के मद में तो निर्धन वर्ग विवशताओं के दबाव में अपने चरित्र को खोता है। इस प्रकार चरित्रहीनता की दोहरी मार ऐसी होती है कि समूचा समाज चरित्र की अपनी पहचान गुमा बैठता है। चरित्रहीनता सामाजिक अन्याय और विषमताओं के वातावरण से बढ़ती और फैलती है तो इसका निदान भी साफ है कि सामाजिक अन्याय को मिटाइए तथा विषमताओं को दूर करके समता का वातावरण बनाइए-चरित्र विकास का चक्र स्वयमेव तेजी से घूमने लग जाएगा।

इस दृष्टि से सामाजिक न्याय के लिए भी साथ-साथ में लड़ाई लड़नी होगी तो पहले यह समझना जरूरी है कि सामाजिक न्याय का स्वरूप कैसा होना चाहिए? हर किसी को समाज के बड़े दायरों के अनुभव हुए हों या नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार के न्यूनाधिक अनुभव अवश्य रखता होगा। यह परिवार पूरे विश्व का ही एक छोटा-सा घटक होता है अत: परिवार के अनुभव विश्व के विस्तृत पटल के वास्तविक वातावरण का आभास अवश्य दे सकते हैं। इस छोटे घटक के न्याय का चित्र ही समझ लें तो उसे बड़ा बना कर (एनलार्ज करके) देख सकते हैं। एक परिवार में आप जन्म लेते हैं, पोषित होकर बड़े होते हैं और वहां सबके साथ अच्छा सामंजस्य बना कर अपना पूरा जीवन भी सुख शान्ति से गुजार सकते हैं परिवार में आपके माता-पिता होते हैं, दीर्घायु हों तो दादा-दादी भी। साथ ही भाई-बहन भी होते हैं। आपका और उन सबके विवाह भी होते हैं जिनसे परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ती रहती हैं। परिवार के अनुभव लेने का चक्र आपकी समझ पकड़ने जितनी उम्र होते ही शुरू हो जाता है और उम्र बढ़ने के साथ अनुभवों में पकावट आती रहती

है। अपने इन्हीं अनुभवों और पास-पड़ौस के परिवारों के अनुभवों को समेट कर विश्लेषण करेंगे तो आपको वास्तविक न्याय-अन्याय के परिदृश्य साफ दिखाई देंगे और उनका भेद भी समझ में आने लगेगा। ये अनुभव आपको न्याय से मिलने वाले संतोष तथा अन्याय से उपजने वाले रोष की झलक भी दिखाएंगे। तब आप अपने इन सारे अनुभवों को न्याय तथा अन्याय के दो वर्गों में बांट कर उनका तुलनात्मक अध्ययन करें। फिर उस अध्ययन को सामाजिक न्याय के अध्ययन में आरोपित करके अपने निष्कर्ष निकालें।

अध्ययन की गहराई को इन सरल उदाहरणों के माध्यम से समझें। दृश्य एक-पहले एक न्याय सम्पन्न परिवार की झलक। सभी परिवार जन अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार काम करते हैं, काम का तदनुसार बंटवारा भी करते हैं, लेकिन किसी की कम या अधिक कार्यशक्ति अथवा प्राप्त आय पर कोई अंगुली नहीं उठाता। सबको सबकी भली नीयत पर भरोसा होता है सो काम अपनी-अपनी शक्तिभर-पर खाना, पीना, पहनना, रहना-सहना सबका करीब-करीब एक समान, बल्कि बालकों, रोगियों और वृद्धों की कार्यक्षमता नहीं जैसी होने पर भी उनके लिए अधिक पौष्टिक आहार, अधिक सुविधा और अधिक व्यय साध्य देखभाल। एक भाई के बच्चे सभी भाइयों के बच्चे यानी कोई किसी एक भाई का बच्चा नहीं-सभी एक परिवार के बच्चे। ऐसे परिवार की न्यायपूर्ण व्यवस्था का आकलन यह रहा-शक्ति साधन-सम्पूर्ति, आपसी मेल मिलाप, गहरा विश्वास, अभेद दृष्टि और सबके सम्मान, सुख में सबका सुख तथा एक का दु:ख सबका दु:ख। एक सजीव चित्र एक सबके लिए सब एक के लिए का।

दृश्य दो-अब एक अन्यायग्रस्त परिवार की झलक। माता-पिता अपने आनन्द-योग में अपनी ही संतान के हित की उपेक्षा करें-बच्चों को आया संभालें और माँएं क्लबों में मौज उड़ावें। पिता को व्यवसाय से तनिक फुरसत नहीं-बच्चे-बच्चियां नौकरों के भरोसे। प्यार से वंचित बच्चे भी हठी, दुराग्रही और प्रतिशोधी-बड़े होने पर अलग-अलग विदिशाओं में बिखर जाते हैं, व्यसनग्रस्त, अकेलेपन के तनाव से पीड़ित, सेक्स रोगी और स्नेहहीन निर्मम स्वभाव वाले। एक मकान में रहते हुए सबका एक साथ मिल कर बैठना, बतियाना और मनोविनोद करना मुश्किल और वृद्धों के साथ निभाह पाना तो एकदम मुश्किल। अपराधग्रस्त हो जाना, मनमाना खर्च करना और दूसरों का जितना झपट सके, झपटते रहना-यह घोर स्वार्थ दृष्टि बन जाती है। ऐसा परिवार लम्बा चलता नहीं, कहीं बीच में ही अकस्मात् ऐसी टूट होती है जैसे कि कोई दुर्घटना घटी हो, एक्सीडेंट हुआ हो।

अब करिए न्याय और अन्याय के वातावरणों तथा परिणामों की तुलना और आंकिए उन परिणामों का अन्तर। फिर आकलन करिए चरित्रशीलता अथवा चरित्रहीनता के अन्तर का और अपने इस अध्ययन को समाज, राष्ट्र या विश्व के विस्तृत फलक की दशा-दुर्दशा के साथ लागू कीजिए। कई दृष्टियों से अनुभवों में समानता प्रतीत होगी। यह प्रतीति ही आपको सामाजिक अन्याय के साथ सफल संघर्ष करने तथा सब ओर चरित्र का यथोचित विकास सम्पादित करने की प्रेरणा देगी। एक न्याय सम्पन्न परिवार के समान ही अन्य बड़े घटकों में भी न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित की जा सके तो उसका परिणाम होगा-मानव समाज की एकता, मानवीय मूल्यों की स्थापना, उदार हार्दिकता और

सबके शक्तिभर सहयोग से सबकी समान अभिवृद्धि। जीवन का स्वस्थ निर्माण, जो देश, दुनिया और पूरी मानव जाति के स्वास्थ्य की देखरेख करने में पूर्ण सक्षम होगा। मूल रूप से उत्तम परिणाम यह रहेगा कि सर्वत्र चारित्रिक गुणों की पर्याप्त समुन्नति-सब सबके हितैषी। यों तो यह परिणाम असाध्य-सा लगता है, किन्तु यह चरित्रसाध्य अवश्य है। वैसे भी साध्य ऊंचा और आदर्शमय हो तो प्रगति की गति राह नहीं भटकती और शुद्ध साधनों से विलग भी नहीं होती।

हीनता का उत्तर होता है सम्पन्नता अतः चरित्र सम्पन्नता ही प्रधान साध्य :

निहित स्वार्थी भले ही संतुष्ट रहें, किन्तु चरित्रहीनता की परिस्थितियों में पूरा समाज धधकते हुए असंतोष में जलता रहता है। क्योंकि जीवन मूल्यों की गिरावट में आम आदमी कभी-भी संतुष्ट नहीं रह सकता है। चरित्रहीनता की समस्या आज एक वर्ग या दूसरे वर्ग की अथवा, एक देश या दूसरे देश की ही समस्या नहीं रह गई है, बल्कि समूची मानव जाति तथा मानव सभ्यता की समस्या बनी हुई है। इस युग को एक असाधारण युग कह सकते हैं जब जीवन मूल्यों के अभाव में जीवनयापन करना पड़ रहा है। यह युग हिंसा, आतंक और उत्तेजनाओं से भरा हुआ है और चुनौतीपूर्ण है। लगता है कि जैसे शान्ति और चरित्रशीलता मनुष्य की प्रथम आवश्यकता नहीं रह गई है। विश्व में चारों ओर व्याप्त हिंसा, तनाव, शोषण, उत्पीड़न, विज्ञान के विनाशकारी स्वरूप और अशान्ति के बीच सभी दार्शनिक, विचारक, वैज्ञानिक, शिक्षाविद्, पत्रकार, उपासक तथा मानवता प्रेमी इस तथ्य से चिन्तित हैं कि जीवन के गुणात्मक मूल्यों का क्या भविष्य है?

यह सत्य है कि मानव सभ्यता एवं मानव-चरित्र के विकास के साथ जीवन के सभी गुणात्मक मूल्य भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचे थे, लेकिन आज उन्हीं मूल्यों का ऐसा भयावह पतन भी हो गया है। उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान, यह प्रकृति का नियम है तथा इसके अनुसार जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना आज की ज्वलन्त समस्या है। मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, क्योंकि उसके पास ज्ञान है, विवेक है, अपना चिन्तन है और दर्शन है। उसके पास अपनी आत्मशक्ति है जिसे परिष्कृत करके उसे ईश्वर तुल्य बना लेने की क्षमता भी उसके पास है। जीवन मूल्यों की गिरावट से वह क्षमता कुंठित होती है। परिष्कार विकार में बदलता रहता है और गुणवत्ता चरित्रहीनता में गुम होती रहती है। इस पतन को संभाल लेने का नाजुक दौर आज आ गया है क्योंकि जीवन मूल्यों का सीधा संबंध मनुष्य की आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति के साथ जुड़ा हुआ है। जनमत का अध्ययन स्पष्ट करता है कि जीवन मूल्यों के तनिक क्षरण की अवस्था में भी तीखी प्रतिक्रियाएं सामने आती हैं और इसे जागरण का लक्षण मानना चाहिए। यही जागरण सम्पूर्ण समाज में फैले, तभी जीवन मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा की आशा बलवती हो सकती है। सीधा सादा विश्लेषण है कि चरित्रहीनता का एकमात्र उत्तर है चरित्रसम्पन्नता और इस दृष्टिकोण से आज का प्रधान साध्य चरित्र-सम्पन्नता ही है। चरित्र-सम्पन्नता की स्टेज आएगी चरित्र निर्माण एवं विकास के बाद, अतः आज से ही ऐसा प्रयास प्रारंभ हो-यह अनिवार्य है।

यह निर्विवाद सत्य है कि चरित्रहीनता सर्वत्र हिंसा में उभरती है तथा हिंसा का अन्तिम विस्तार विश्व युद्धों में प्रकट होता है। युद्धों के पिछले आकंड़े इतने चौंकाने वाले हैं कि उन्हें जानकर ही

उत्साह जागता है कि दुर्दशा की मां चरित्रहीनता के उन्मूलन के लिए वह सब कुछ किया जाना चाहिए जो व्यक्ति और समाज के वश में हो। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) में एक करोड़ लोग मारे गए तो द्वितीय विश्व युद्ध (1944-46) ने पांच करोड़ लोगों की जान ली। एक स्विस वैज्ञानिक जे. जे. पाबेल के अनुसार पिछले 5500 वर्षों में यानी अब तक दुनिया में छोटे बड़े 14500 युद्ध हुए हैं और इनमें करीब 364 करोड़ लोग काल के गाल में समाए। इसका अर्थ है कि सातवें दशक में जितनी आबादी दुनिया की थी, लगभग इतनी ही आबादी युद्धों में स्वाहा हो चुकी है। हिंसा के अर्थशास्त्र का अनुमान भी लगा है कि आज विश्व में प्रति मिनिट दस लाख अमेरिकी डॉलर के हिसाब स खर्च हो रहा है। एक सर्वेक्षण यह भी है कि अगले 25 वर्षों में, अगर शस्त्रास्त्रों की होड़ नहीं रोकी गई तो इस पर 30 अरब डॉलर खर्च हो जायेंगे। यह धनराशि उस सम्पत्ति के कुल मूल्य के बराबर है जिसे आज तक मनुष्य ने संसार में अपने श्रम से अर्जित की है। हिंसा के इस व्यापार के सामने इस त्रासदी पर कम ध्यान है कि आज दुनिया की कुल छह अरब की आबादी में से करीब दो अरब लोग गरीबी की रेखा से नीचे अपनी जिन्दगी को घसीट रहे हैं। ध्यान है तो यह कि बड़े देश अरबों-खरबों के हथियारों का उत्पादन कर रहे हैं और भारत जैसे विकासशील देश भी हथियार खरीद कर आग में घी डाल रहे हैं। प्रतिवर्ष विकासशील देश ही 40 अरब डॉलर के हथियार खरीदते हैं।

मानव समाज और सभ्यता को आज हिंसा का सबसे बड़ा खतरा है। इसके अलावा मोटे तीन और खतरें हैं-पश्चिम के विकसित देशों का 'नव-साम्राज्यवाद, नस्लवाद और धार्मिक कट्टरवाद'। सोवियत संघ के विघटन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ता अमेरीका का अनुचित हस्तक्षेप तथा धर्म-मजहब के नाम पर देशों का ध्रुवीकरण इस बात के संकेत हैं कि हिंसा का तांडव अब भी सबके सिरों पर लटकती नंगी तलवार है। राज्यों और देशों की सरकारों का कामकाज इस दिखावे पर चलता है कि उनकी लोक-कल्याण की अवधारणा है किन्तु असल में उसका तरीका अधिनायकवादी होता जाता रहा है। इस समूची दुर्दशा के कारण के बारे में गहराई से सोचें तो एक ही निष्कर्ष निकलता है कि हमारा आचरण ही इसके लिए दोषी है। आज जीवन मूल्य जिस गति से एक-एक करके ध्वस्त हो रहे हैं और चरित्रहीनता फैल रही है-यह गहन चिन्ता का विषय है।

भारतीय चिन्तन एवं संस्कृति का यह निचोड़ रहा है कि जब तक लोगों को जीवन के मूलभूत तथ्यों, गुणवत्ता के मूल्यों तथा चारित्रिक गुणों से परिचित नहीं कराया जाता-उन्हें इन्हें अपनाने के लिए प्रतिबद्ध नहीं बनाया जाता, तब तक न तो सामाजिक व्यवस्था सुचारू एवं प्रगतिपरक बन सकती है और न ही व्यक्ति और समाज की उन्नति सर्वहितैषिता की दिशा में आगे बढ़ सकती है। आज जनता के चरित्र, ज्ञान और समाज बोध को नये सिरे से जगाना होगा कि वह उन्नत जीवन मूल्यों, सिद्धान्तों तथा आदर्शों को समझें, उन पर चलने का संकल्प लें तथा चरित्र-सम्पन्नता के प्रधान साध्य को प्राणपण से प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाएं। यदि आज के दौर में व्यक्ति और समाज ने मिल कर यह सब नहीं किया तो आने वाला काम और आने वाली पीढ़ियां हमें कदापि क्षमा नहीं करेगी।

◆◆◆



संकल्पित, समर्पित व सर्वस्व सौंपने की तत्परता ही युवा की पहचान

31



संकल्पित, समर्पित व सर्वस्व सौंपने की तत्परता ही युवा की पहचान

युवा पीढ़ी के सामने असीम चुनौतियाँ

धनुर्विद्या प्रतियोगिता की कठिन चुनौती प्रतियोगियों के समक्ष रखी गई-नीचे कड़ाह में पारदर्शी तेल भरा हुआ था और ऊपर एक चक्र घूम रहा था जिस पर टंगी हुई थी एक कृत्रिम मछली और नीचे कड़ाह में देखते हुए घूमते चक्र की उस मछली की दाहिनी आंख को शर-संधान करकें भेदना। धनुष-बाण का निशाना बारीकी से सधा हुआ हो, वे कुशल हाथ ही ऐसा चमत्कार दिखा सकते थे। अपनी धनुर्विद्या का कौशल दिखाने के उद्देश्य से प्रतियोगियों को बुलाना आरंभ किया गया। पहला प्रतियोगी आया तो धनुष हाथ में लेने से पहले उससे पूछा गया-'तुम्हें कितना क्या दिखाई दे रहा है?' वह कुछ समझा, कुछ नहीं समझा और बोला-'मुझे सब कुछ दिखाई दे रहा है-दर्शक, प्रतियोगी, निर्णायक, तेल का कड़ाह, चक्र, मछली आदि सब। मेरी दृष्टि साफ है, उसमें कोई दोष नहीं है।' उत्तर सुनकर निर्णायक ने उसे वापिस लौट जाने का निर्देश दिया। दूसरा, तीसरा और इस प्रकार कई प्रतियोगी आए और उन सबसे यही प्रश्न पूछा गया, किन्तु किसी का भी उत्तर निर्णायक को संतुष्ट नहीं कर सका।

तब बारी आई अर्जुन की। धनुर्विद्या में अर्जुन से

अधिक पारंगत एक ही स्वयं शिक्षित व्यक्ति सामने आया था-एकलव्य किन्तु अर्जुन पर गर्व करने वाले द्रौणाचार्य उसे सह न सके और एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा कटवा कर अर्जुन के शीर्ष स्थान के विषय में वे निश्चिन्त हो गए। अस्तु-यहां तो अर्जुन के अद्‌भुत कौशल का वर्णन किया जा रहा है। अर्जुन से भी वही प्रश्न किया गया, किन्तु वह उत्तर एकदम अलग था। अर्जुन ने कहा-'मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है सिवाय मछली की दाहिनी आंख के, जिस पर मुझे शर संधान करना है।' उत्तर सुनकर सब चौंके यह कैसी बात है? क्या अर्जुन की दृष्टि अवरुद्ध हो गई है सो सारा परिदृश्य ही लुप्त हो गया है। किन्तु निर्णायक की मुख मुद्रा पर संतोष और सराहना की रेखाएं खिंच आई। उन्होंने सहर्ष घोषणा की कि केवल अर्जुन का ही उत्तर सार्थक रहा है। चुनौती का सामना करने से पहले मन, भाव और विचार की एकाग्रता आवश्यक है और इस एकाग्रता से दृष्टि की एकाग्रता सधती है। जब एक बिन्दु को निशाना बताया गया है तो एक कुशल धनुर्धारी उस बिन्दु के अलावा और कुछ क्यों देखेगा? उसे जब वह केवल एक बिन्दु ही दिखाई देता है तो उसका शर-संधान उस बिन्दु के बाहर जा ही कैसे सकता है?

मन और दृष्टि की सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ जब अर्जुन ने उस कठिन चुनौती को चुनौती मानकर नीचे देखते हुए ऊपर तीर चलाया तो उससे मछली की दाहिनी आंख भिद ही गई। कैसा भी साध्य हो, उत्कृष्ट एकाग्रता किसी भी चुनौती के सामने कभी-भी हार नहीं मानती है।

युवाजन अपना व्यक्तित्व प्रचंड बनावें, एक मशाल से अनेक मशालें जलावें :

व्यक्ति स्वयं में एक तथ्य है, किन्तु उसकी चरित्रशीलता, गुणवत्ता एवं कार्यक्षमता का परिचायक होता है उसका व्यक्तित्व। यह व्यक्तित्व मूल में प्रकृतिदत्त होते हुए भी विशेष रूप से रचना का वस्तु विषय होता है। व्यक्तित्व गढ़ा जाता है पारम्परिक संस्कारों, शिक्षा के प्रभावों तथा वातावरण के अनुभवों से, किन्तु यथार्थ में व्यक्तित्व का निर्माण स्वयं व्यक्ति अपने संकल्प शक्ति के आधार पर करता है। तभी तो भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व दृष्टिगत होते हैं। किन्हीं का व्यक्तित्व इतना प्रचंड हो जाता है कि उसकी प्राभाविकता अप्रतिम बन जाती है। कई अन्य व्यक्तियों के सिवाय स्वयं पंडित नेहरू भी गांधी जी के व्यक्तित्व के संबंध में कहा करते थे कि जब भी हम बापू की किसी बात का विरोध करने के लिए अनेक तर्क सजा कर उनके सामने जाते तो उनके व्यक्तित्व की न जाने कैसी प्राभाविकता थी कि हम अपने सारे तर्क भूल जाते और उनकी ही बात को स्वीकार करके लौट आते। यह प्रचंड व्यक्तित्व की बात है और युवा अपनी आयु, अपनी ऊर्जा तथा अपनी निष्ठा के अनुसार रचनात्मकता का एकाग्र अनुसरण करते हुए अपने व्यक्तित्व को प्रचंड बना सकते हैं।

सम्पूर्ण संस्कारिता, शिक्षा एवं अध्ययनशीलता का एकमात्र उद्देश्य होता है श्रेष्ठ व्यक्तित्व का सृजन। आज भी यही उद्देश्य वर्तमान है, किन्तु बल दिया जाता है बहिरंग व्यक्तित्व के निर्माण में, जो अन्तरंग निर्माण के अभाव में संतुलित एवं स्थिर रूप नहीं ले पाता है। जबकि बल देने लायक उद्देश्य का वह भाग होता है मनुष्य का विकास, मनुष्यत्व का विकास एवं मनुष्यत्व के चारित्रिक गुणों का विकास। गढ़े गए व्यक्तित्व में झलकना चाहिए वह अन्तर्मानव, जो अपना उत्तम प्रभाव सब पर

डालता है, जो अपने संगी-साथियों पर जादू सा असर दिखाता है और जो शक्ति का महान् केन्द्र बन जाता है। ऐसे शक्तिसम्पन्न अन्तर्मानव का व्यक्तित्व ऐसा पथ-प्रदर्शक बन जाता है, जिसका अनुसरण करने के लिए लोगों के बीच होड़ मच जाती है। आधुनिक युग में भी ऐसे प्रचंड व्यक्तित्व के दर्शन हुए हैं गांधी जी के अन्तर्मानवीय व्यक्तित्व में। शास्त्रों, ग्रंथों तथा इतिहास के पन्नों पर अनेक प्रचंड व्यक्तित्वों का उल्लेख मिलता है, जो आज भी युवा वर्ग के लिए प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं।

क्या आप देखते हैं कि अपने आसपास की सारी दुनिया में क्या हो रहा है? अपना प्रभाव बनाना और चलाना-यह हर कोई कर रहा है। हमारी शक्ति का कुछ अंश तो हमारे शरीर धारण के उपयोग में आता है और शेष अंश का दूसरों पर प्रभाव डालने में व्यय किया जाता है। यह प्रभाव डालने की जो क्रिया है, उसके भिन्न-भिन्न उद्देश्य हो सकते हैं जो अच्छे परहित के भी हो सकते हैं तो बुरे स्वार्थ सिद्धि के भी। उद्देश्य के अनुरूप ही व्यक्तित्व की प्राभाविकता का गुण विकसित होता है। हमारा शरीर, हमारे चारित्रिक गुण, हमारी बुद्धि और हमारा आत्मिक-बल, ये सब लगातार किसी न किसी बहाने से दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की चेष्टा करते रहते हैं। यही प्रक्रिया दूसरों के संबंध में भी चलती है और हम उनके प्रभाव से भी न्यूनाधिक रूप में प्रभावित होते हैं। प्रभाव का क्रम दोनों ओर चलता रहता है और प्रभाव के घनत्व के अनुसार कोई कम और कोई अधिक प्रभावित होता है। प्रभाव की प्रक्रिया को भी थोड़ी-सी बारीकी के साथ समझने की जरूरत है। एक उदाहरण से समझें। एक व्यक्ति आपके पास आता है, वह खूब पढ़ा-लिखा है, बोली भी मधुर है। आपके साथ घंटे भर बातचीत करता है, फिर भी वह अपना असर नहीं छोड़ पाता। एक दूसरा व्यक्ति आता है, वह इने गिने शब्द ही बोलता है जो शुद्ध तक नहीं होते, फिर भी आपको प्रतीत होता है कि वह आप पर बहुत असर कर गया है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रकार के अनुभव सभी को हो सकते हैं और उनका कारण स्पष्ट है। मनुष्य पर किसी दूसरे का जो प्रभाव पड़ता है, वह सिर्फ शब्दों, शक्ल सूरत या पहनावे का ही नहीं होता-वह तो मामूली होता है। असली असर तो पड़ता है उसके व्यक्तित्व का, जिसे वैयक्तिक आकर्षण भी कहा जाता है।

क्या रहस्य है व्यक्तित्व का और कैसा होता है वैयक्तिक आकर्षण? व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसके व्यक्तित्व के तत्त्वों को गिनावें तो वे हो सकते हैं-व्यक्ति की आन्तरिक क्षमता, भाव शुद्धता, विशाल हृदयता, कर्त्तव्यनिष्ठा, आध्यात्मिक चेतना एवं अन्य चारित्रिक गुण। इसी प्रकार बाह्य तत्त्व हैं-व्यक्ति का शारीरिक ढांचा, स्फूर्ति, व्यवहार के तरीके, मिलनसारिता आदि। समुच्चय में व्यक्ति की मनोवृतियों, सामर्थ्यों, योग्यताओं, रुचियों तथा अभिरुचियों के विशेष संगठित रूप को उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाम दिया जा सकता है। व्यक्तित्व में सम्मिलित होते हैं उसके स्थायी गुण, उसके अनुभव, उसकी सामाजिक तथा अन्यान्य क्रियाएं, नये संयोग, गतिशील धारणाएं, उसका जैवयिक आधार, व्यवहार कार्य में उसकी अभिव्यक्ति। एक अमूर्त तथ्य ऐसा होता है जिसे खोजना पड़ता है और उस का विश्लेषण करना होता है। व्यक्तित्व के प्रधान निर्धारक होते हैं-1. शरीर का क्रियात्मक दृष्टिकोण, 2. सामाजिक दृष्टिकोण तथा 3. सांस्कृतिक दृष्टिकोण। संस्कृति के साथ व्यक्तित्व का घनिष्ठ संबंध होता है, बल्कि संस्कृति ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों का उल्लेख इस रूप में किया जा सकता है–1. उत्तरदायित्व की भावना, 2. सम्मान प्रदर्शन, 3. नैतिकता का स्वरूप, 4. यौन नैतिकता, 5. कष्ट सहिष्णुता, 6. मनोवृतियों की रचनात्मकता, 7. व्यवहार के प्रतिमानों का निर्धारण, 8. पालन-पोषण एवं प्रशिक्षण आदि। स्व की धुरी पर घूमता है एक सफल व्यक्तित्व और परहित के लिए सर्वदा तत्पर रहता है वह।

व्यक्तित्व कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे प्रचंड, तेजस्वी, ईमानदार, मधुर-स्नेहिल, मोहक आदि और इनके प्रभाव भी इसी प्रकार विविध होते हैं। समर्थ व्यक्तित्व वाले व्यक्ति और व्यक्तित्वहीन व्यक्ति के प्रभाव में ही बड़ा अन्तर होता है, बल्कि व्यक्तित्वहीन एक प्रकार से प्रभावहीन होता है। सोचें कि प्रत्येक परिवार में एक कर्त्ता या मुख्य संचालक होता है। कोई-कोई संचालक घर चलाने में सफल होता है तो कोई प्रयत्न करने पर भी असफल रहता है। ऐसा क्यों होता है? जिसको असफलता मिलती है, वह दूसरों को कोसता है और उन्हें अपने अपयश के कारण बताता है। परन्तु मनुष्य अक्सर करके अपनी कमजोरी और अपने दोषों को स्वीकार नहीं करता है और यही दिखलाने की कोशिश जारी रखता है कि वह निर्दोष है तथा सारा दोष दूसरों के सिर मढ़ देता है। सच में असफल मुख्य संचालक को स्वयं से ही यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्यों कई लोग अपने घर अच्छी तरह चलाते हैं, किन्तु वह क्यों नहीं चला सका? जब अन्तर पर गहरा विचार किया जाएगा, तब व्यक्ति और व्यक्तित्व का अन्तर भी उसको स्पष्ट हो जाएगा। सच्चा मनुष्यत्व या व्यक्तित्व ही वह तत्त्व है जो सब पर प्रभाव डालता है-व्यक्ति के कर्म तो उसकी बाह्य के रूप से प्रकट होगा ही-कारण के रहते कार्य का आविर्भाव अवश्यंभावी है।

आज युवा वर्ग को व्यक्तित्व की विशेषताओं को हृदयंगम करके अपने व्यक्तित्व को प्रचंड रूप देना चाहिए, क्योंकि उन्हें चरित्रहीनता के चक्रव्यूह को छिन्न-भिन्न करना है। जो व्यक्तित्व प्रचंड होगा, वह दुर्जन से दुर्जन तथा क्रूर से क्रूर व्यक्ति के दिल को भी दहला देगा और साथ ही उनके मन में पश्चात्ताप की धारा बहा देगा। प्रचंड व्यक्तित्व को एक मशाल के मानिन्द मानिए और ऐसी प्रज्वलित मशाल, जो एक नहीं, सैंकड़ों-हजारों-लाखों बुझी हुई मशालों को जलाती जाती हैं-उनमें प्रचंडता के प्राणतत्त्व भरती हुई चली जाती है। फलस्वरूप एक तेजोमय वातावरण की सृष्टि होती है, जो शुभ परिवर्तनों को साकार करने में जादू जैसा काम करता है। समय की मांग है तो यह कि आज का युवा वर्ग अपनी पहचान बनावे, अपने मंद पड़े व्यक्तित्व को संवारे और उपयुक्त भूमिका के साथ चरित्रहीन वृत्तियों तथा मनोवृत्तियों को बदल देने के प्रभावशाली अभियान का सहभागी बने।

आत्म-नियंत्रण, मनोबल एवं संतुलन में है स्वस्थ विकास का रहस्य :

व्यक्ति है और व्यक्तित्व नहीं है, मनुष्य है और मनुष्यत्व नहीं है अथवा मानव है और मानवता नहीं है तो वैसे व्यक्ति, मनुष्य या मानव को जीवन्त नहीं मान सकते हैं। व्यक्ति शरीर है तो व्यक्तित्व उसकी आत्मा होती है। अब बिना आत्मा के शरीर का क्या मूल्य है-यह सभी भलीभांति जानते हैं। अत: आवश्यक है कि अपने प्राणतत्त्व का संचार किया जाए तथा अपने व्यक्तित्व का निर्माण ही नहीं, उसके सम्यक् एवं स्वस्थ विकास के उपाय भी किए जाए। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास का रहस्य इन उपलब्धियों में बताया गया है-

1. आत्म नियंत्रण : जहां मोटरगाड़ी में गति बढ़ाने का संयंत्र एक्सक्लेटर होता है, वहां गति रोकने वे नियंत्रित करने वाला संयंत्र ब्रेक भी होता है। कारण, गति है किन्तु यदि उस पर नियंत्रण नहीं है तो यह संभव नहीं होगा कि गति को रास्ता भटकने से रोकने की दृष्टि से उसे यथापथ मोड़ने का उपक्रम किया जा सके यानी कि सामने घातक बाधा आ जाने पर गति एकदम रोक दी जा सके। सच पूछा जाए तो गति के आंरभ के साथ ही नियंत्रण की व्यवस्था जरूरी है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए अपनी ही आत्मा के नियंत्रण से बढ़ कर अन्य कौनसा नियंत्रण अधिक प्रभावी हो सकता है? इस दृष्टि से आत्म-नियंत्रण की पूरी महत्ता है। कैसे प्राप्त किया जा सकता है आत्म-नियंत्रण? इस नियंत्रण का रहस्य धर्म में ही निहित होता है। पहले देखें कि अपनी गतिविधियों में अपनी ही आत्मा का नियंत्रण क्यों नहीं रह पाता है? व्यक्ति के जीवन में उसके मूल स्वभाव को विकृत करने वाले अनेक दोष संलग्न होते हैं और वे विकार मन और इन्द्रियों को मोहित करते रहते हैं तथा उन्हें आत्मा की आवाज की अवहेलना करने के लिए उकसाते रहते हैं। ये दोष इन वासनाओं तथा लालसाओं के रूप में होते हैं-क्रोध, अहंकार, राग, लोभ, भय आदि। ये दोष आत्म- नियंत्रण को शिथिल और भंग करवाते रहते हैं-इस कारण पहले इन दोषों पर नियंत्रण करना होगा अर्थात् मन और इन्द्रियों को आत्मा की आवाज के अनुसार चलने का अभ्यास कराना होगा। तब आत्मा का नियंत्रण स्थापित हो जायगा। जो तत्त्व अदृश्य या अप्राप्य हैं, उन पर भले विश्वास जमने में विलम्ब लगे, किन्तु जीवन व्यवहार में शान्तिपूर्ण एवं तनाव रहित वातावरण बनाने में योगदान करने वाले गुणों तथा तत्त्वों पर तो शीघ्र ही विश्वास जम सकता है--हां, इसके लिए सच्चे धर्म के प्रति-मानव धर्म के प्रति पूर्ण आस्था होनी ही चाहिए। अपने मानसिक तथा भावनात्मक स्तर पर आवश्यक गुणों के संबंध में धर्म पर विश्वास न करना उचित नहीं होगा। कम से कम उपयोगिता तथा प्रत्यक्ष लाभ की दृष्टि से ही मूल्यवत्ता प्राप्ति हेतु धर्म के प्रति झुकाव होना चाहिए। यह मान लेना चाहिए कि आत्म-नियंत्रण की कुंजी धर्म के ही पास में है।

2. मनोबल : आत्मा और इन्द्रियों के बीच की कड़ी होती है मन और इसी कारण कहा गया है कि मन ही बंधन का कारण है तथा यही मन मोक्ष का भी कारण है **(मनः एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः)**। इसका अर्थ यह है कि मन जब इन्द्रियों का साथ देता है तो आकाश के समान अनन्त इच्छाओं **(इच्छा हु आगाससमा अणंतिया)** की पूर्ति का इन्द्रजाल दिखाता है और अनेक प्रकार के बंधनों से इस जीवन को जकड़ कर उसे निष्क्रिय करता रहता है। परन्तु यही मन इन्द्रियों का साथ छोड़ कर आत्मानुशासन में आ जाता है तब यही आत्मा का प्रमुख बल बन जाता है जिसे कहा जाता है मनोबल। मनोबल आन्तरिकता से परिपूर्ण होता है तथा जितने वैभाविक दोष हैं उन्हें घटाने-मिटाने में प्रवृत्त बनता है एवं आत्मा को उसके मूल स्वभाव में स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहता है। मनोबल जीवन में व्यक्तित्व-विकास का प्रमुख सम्बल बन जाता है। जीवन निरन्तर गतिशील रहता है और यदि इसे प्रगति की दिशा में गतिशील बनाए रखना है तो यह दायित्व मनोबल पूरे प्रभाव के साथ निभा सकता है। इस आत्मा में अनन्त विकास की अपार शक्तियां तथा संभावनाएं भरी पड़ी हैं, जिन्हें प्रकट करने के लिए आच्छादनों और आवरणों को दूर हटाना होगा। ये आच्छादन और आवरण हैं अतृप्त इच्छाओं के, विकृत दोषों के तथा विषमताजन्य विकारों के। इन्हें दूर हटाने के लिए मनोबल

ही सक्षम होता है तथा यही मनोबल व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में भी पुष्ट सम्बल का काम देता है। जब जीवन में व्यक्तित्व का विकास प्रारंभ होता है तो मानव धर्म का शीतल स्पर्श मिलता है, जो बंधन मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार धार्मिक चेतना एवं सामाजिक चेतना के संगम से व्यक्तित्व के विकास में ही नहीं, बल्कि समाज के सर्वांगीण विकास में भी एक रचनात्मक क्रान्ति के दर्शन होते हैं। यह क्रान्ति समग्र जीवन में एकरूपता स्थापित करती है और यों व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सहयोग से जीवन के उच्चतम लक्ष्यों को प्राप्त करना भी सहज हो जाता है। किन्तु इस समग्र विकास के मूल में दृढ़ एवं स्थिर मनोबल का मौजूद रहना अनिवार्य है।

3. सन्तुलन : नियंत्रण करने और गति करने की शक्तियों की उपलब्धि के साथ ही उस विवेक की नितान्त आवश्यकता होती है जो निर्देशित करे कि कब गति किस वेग से करनी है तथा किन दशाओं में किस प्रकार का नियंत्रण लागू किया जाना चाहिए। इस विवेक को संतुलन का नाम दें। यह संतुलन दो भिन्नताओं के बीच में अपना मार्ग बनाने की कला सिखाता है। सभी जानते हैं कि चाहे बाह्य जीवन की वस्तुएं हों या आन्तरिक जीवन की वृत्तियाँ-सब में पग-पग पर विभिन्नता दिखाई देती है, विपर्यास प्रतीत होता है तथा विरोधाभासों की झलक मिलती है। ऐसे में दो विरोधी विचार या अवस्थाएं सामने होती है जिनके बीच में से निर्वहन होकर आगे बढ़ना होता है। इस वक्त में संतुलन की ताकत आजमानी होती है। संतुलन का सादा-सा अर्थ तोलना यानी दो या अधिक विरोधी पक्षों का अपने विवेक के तराजू पर तोलना कि क्या हेय है और क्या ग्राह्य और फिर ग्राह्य को ग्रहण कर लेना-यह है उपयोगिता संतुलन (बैलेन्स) की। जैसे रस्सी पर अपने करतब दिखाता हुए नट इधर-उधर झुकते हुए भी अपना सन्तुलन बनाए रखता है और आगे चलता रहता है या एक साइकिल चालक समतल या असमतल दोनों प्रकार की भूमियों पर बैलेंस रखते हुए समान गति से दौड़ता रहता है। सन्तुलन इच्छाओं और वासनाओं के अभाव में अपने मनोबल को गतिशील एवं प्रगतिशील बनाए रखने की सर्वोत्तम कला है।

सार यह है कि नियंत्रणहीनता की कोई गति नहीं, हां, दुर्गति जरूर हो सकती है और नियंत्रण तो है किन्तु मनोबल नहीं है तो हाथ में तो होते हुए भी ब्रेक को समय पर दबा कर गति को रोक लेना कठिन हो जाएगा। नियंत्रण भी है और मनोबल भी है किन्तु सन्तुलन नहीं तो वैसा व्यक्तित्व विवेकहीन होने से समय पर यथोचित निर्णय नहीं ले सकेगा जिसके कारण मनोबल टूट सकता है या नियंत्रण भंग हो सकता है। अतः व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए तीनों गुण-आत्म नियंत्रण, मनोबल तथा सन्तुलन अत्यावश्यक है और इन्हीं गुणों की सहायता से चरित्र का विकास भी सहजतापूर्वक किया जा सकता है।

जीवन के सार्थक प्रयास, प्रतिभा का प्रस्फुटन एवं युवा शक्ति :

विश्वात्मवाद के विकसित एवं फलित होने की वर्तमान अवस्था में इस विश्व को एकता, सौहार्द्रता एवं सहयोगिता के सूत्रों से जोड़ने के लिए जीवन के क्या सार्थक प्रयास हो सकते हैं अथवा मानव चरित्र के विकास को क्या दिशा दी जाए कि वह विश्व सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणियों के

लिए सुखद आवास बन सके? अमेरीकी राष्ट्रपति फैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने एक स्थान पर कहा है-'हम चार मुख्य मानवीय स्वतंत्रताओं से सम्पन्न भावी विश्व की ओर आशाभरी नजरों से देखते हैं-1. भाषण एवं विचार प्रकाशन की स्वतंत्रता विश्व में प्रत्येक स्थान पर हो, 2. इसी प्रकार अपनी-अपनी विधि से अपने-अपने धर्म की उपासना की स्वतंत्रता, 3. किसी भी प्रकार की आवश्यकतापूर्ति की स्वतंत्रता अर्थात् आवश्यक वस्तुओं का अभाव किसी को ही कहीं पर न हो, 4. भय मोचन की स्वतंत्रता यानी कि विश्व में कहीं भी कोई किसी भी प्रकार के भय से त्रस्त न रहे।' ये चार मौलिक स्वतंत्रताएं उन्होंने बताई और आशा जताई कि विश्व अवश्यमेव एक दिन इन स्वतंत्रताओं से सम्पन्न बनेगा।

चरित्र निर्माण और विकास की दृष्टि से विचार किया जाए तो क्या ये चार मूल स्वतंत्रताएं इसका भी साध्य क्यों न बने? यह विश्व एकता के सूत्र में बंधे और पूरी मानव जाति परस्पर सहायक बने तो विचार प्रकाशन, उपासना, अभावपूर्ति एवं भयमुक्ति की स्वतंत्रताएं अवश्य ही ऐसे वातावरण की रचना कर सकेगी जिसमें एक ओर भौतिकता एवं आध्यात्मिक की सशक्त पूरकता स्पष्ट बनेगी तो दूसरी ओर व्यक्ति से विश्व तक का स्तर आपस में जुड़ कर प्रगति को स्थिरता एवं निरन्तरता प्रदान करेगा। वह स्थिति अवश्य ही मानव चरित्र के लिए चारित्रिक गुणों से सम्पन्नता की अवस्था बन सकेगी जब सच्चा मानव धर्म फलीभूत होगा एवं मानवीय मूल्यों की व्यवहारपरक गुणवत्ता प्रस्थापित बनेगी। मानवीय अधिकारों का समर्थन करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान महासचिव कोफी अन्नान कहते हैं-मानवीय अधिकारों की शिक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है? क्योंकि यूनेस्को के संविधान में अंकित है-'चूंकि युद्ध पहले मनुष्यों के मस्तिष्क में उपजते हैं, इस कारण मनुष्यों के मस्तिष्क में ही पहले शान्ति की रक्षा-पंक्ति निर्मित की जानी चाहिए'-इस दृष्टि से जितनी अधिक संख्या में मानव समुदाय अपने अधिकारों का ज्ञान करेगा, उतना ही ज्यादा दूसरों के अधिकारों तथा हितों का सम्मान बढ़ेगा, जिससे अच्छे अवसर पैदा हो सकेंगे कि पूरी मानव जाति शान्तिपूर्वक रीति से एक साथ रहे। मानवाधिकारों की शिक्षा से ही लोगों का मानस बनेगा और वे अधिकारों का कहीं भी उल्लंघन नहीं होने देंगे, फलस्वरूप युद्ध तो दूर, कहीं छोटे मोटे संघर्ष भी नहीं होंगे। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अथवा विश्वात्मवाद का यही तो साध्य है और यही चरित्र विकास का भी साध्य है, जो छोटे स्तर से शुरू होकर भी इस आदर्श को अपने समक्ष रखकर सकारात्मक रीति से कार्य करेगा।

जीवन के ऐसे प्रयासों को सार्थक कहा जा सकता है, क्योंकि एकता तथा सहयोगिता से प्रतिबद्ध मानव जाति अवश्य ही मानव धर्म का अन्तःकरण पूर्वक पालन करेगी तथा अपने मूल्यों की प्राणपण से रक्षा भी करेगी। इस साध्य को हस्तगत करने की दिशा में आगे बढ़ने के साथ ही वर्तमान जीवन की जटिलताओं को समझ लेना चाहिए। ये सारी जटिलताएं मानव-व्यवहार की ही उपज हैं तो मानव इनका परिहार भी सार्थक व्यवहार से ही कर सकता है। सवाल है कि इन जटिलताओं को कैसे जानें और कैसे अपने प्रयासों को सार्थक बनावें? आज की हमारी खोखली शिक्षा प्रणाली यह सब कुछ नागरिकों को नहीं सिखाती, न ही विभिन्न धर्म-मजहब इनसे संघर्ष करने की सही सीख देते हैं। मनुष्य के मन में जीवन के सार्थक प्रयासों की प्रेरणा जगावे-ऐसा कोई सशक्त साधन दृष्टि में नहीं हैं। विडम्बना तो यह है कि विपरीत स्थिति बनी हुई और शिक्षा प्रणाली हो या धर्मोपदेश-मनुष्य के

मन में असुरक्षा एवं भय के भाव ही ज्यादा पैदा करते हैं। जीवन की जटिलताओं को मिटाने की प्रेरणा या शिक्षा देने के स्थान पर उनको डराया जाता है और जीवन की धारा को अपने-अपने निहित स्वार्थों के अनुसार मोड़ने की चेष्टाएं चलती है। भय वैचारिकता तथा प्रतिभा को कुंठित करता है और मनुष्य के सोच को कुंद बना कर उसे परावलम्बी बना देता है।

इस दृष्टि से मनुष्यों के मन में सच्ची प्रतिभा के प्रस्फुटन की अपेक्षा है। सच्ची प्रतिभा वह होती है जो मनुष्य को स्वयं विचार करने तथा अपने विचारानुसार निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करती है। विश्व में आज दु:ख की गहराई जिस कदर बढ़ रही है, उसका मूल कारण यही है कि बहुसंख्या की प्रतिभा को निष्क्रिय बना दिया गया है। वह सोच नहीं सकती, निर्णय नहीं ले सकती-फिर उसके हितों का संरक्षण कौन करेगा? सच कहें तो इसी संरक्षण की बन्दरबांट हो रही है। राजनेता कहते हैं कि वे बहुसंख्यक जनता के हितों के रखवाले हैं। धर्मनायक बताते हैं कि उन्हीं के उपदेशों का अनुसरण करके दु:ख को दूर किया जा सकता है। संस्थाओं के संचालक आश्वस्त करते हैं कि अज्ञान और अभाव में पंगु बनी बहुसंख्या का उत्थान उनकी संस्थाएं ही कर पाएगी। यों राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति के झंड़ों पर झंड़ें गड़ रहे हैं लेकिन बहुसंख्या की दुर्बलता कम नहीं हो रही, उनके पांवों में खड़े होने की ताकत पैदा नहीं हो रही। बहुसंख्या को नासमझी के अंधेरे से बाहर निकालें, उनके मन में अपने हितों का सोच पैदा करें और उन्हें अपने पीछे चलाने की बजाए स्वयं निर्णय लेने तथा गति करने की शक्ति उनमें ही जगावें। यह प्रतिभा चरित्र निर्माण तथा विकास के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने वाले युवा वर्गों में पहले प्रस्फुटित होनी चाहिए। जीवन के सार्थक प्रयासों में जुटने से प्रतिभा का प्रस्फुटन होगा और प्रतिभा की वह शक्ति युवा-शक्ति के रूप में परिवर्तित होगी।

युवाओं में वैसा सामर्थ्य होता है जो अपने व्यक्तित्व को स्थिति के अनुसार ढाल सकते हैं और उसे प्रखर, प्रबल और प्रचंड तक बना सकते हैं। वे ही अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उन लोगों को स्वतंत्र बना सकते हैं, जो बंधे बंधाए संकुचित सोच में जकड़े रह कर अपनी बंधनग्रस्तता को तोड़ नहीं सकते हैं। जब तक लोगों की अन्तर्चेतना स्वतंत्र नहीं होती है, तब तक राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य उपाय उन्हें बंधन मुक्त नहीं बना सकेंगे। इसलिए युवाओं को आगे बढ़ कर अपने समर्थ व्यक्तित्व से सामान्य जन को जगाना होगा, बल्कि जागृति का ऐसा दौर चलाना होगा कि वे फिर से सुलाए और निष्क्रिय न बनाए जा सकें। यह सुनिश्चित है कि सतत जागृत व्यक्ति ही अपने अस्तित्व का अनुभव कर सकता है तथा अपनी पहचान बना सकता है। उसके बाद ही उसकी मन:स्थिति ऐसी बन सकेगी कि वे बंधनों से दूर रहेंगे तथा अपनी स्वतंत्रताओं की स्वयं रक्षा कर सकेंगे।

आचार्य रजनीश एक स्थान पर कहते हैं-'हमारी धारणा ऐसी बना दी गई है कि हमें आनन्द को प्राप्त करना चाहिए जो एकदम गलत धारणा है। कारण, सत्य यह है कि हम स्वयं अपने स्वभाव से आनन्द स्वरूप हैं, फिर आनन्द को प्राप्त करने का प्रश्न कहां रहता है?' एक दृष्टि से यह कथन सही है, क्योंकि जब आत्मा का मूल स्वभाव सत्-चित्-आनन्दमय है तो वह आनन्द तो हमारे पास में ही

हैं। देखना यह है कि पास में रहा हुआ तत्त्व ही हमें महसूस क्यों नहीं होता है? अन्तरानुभूति लेंगे तो यह सत्य अनुभव में भी आ जाएगा कि उस आनन्द को हमने ही अपने वैभाविक दोषों से ढक दिया है और जब भी उन दोषों से छुटकारा पा लेंगे, आनन्द प्रकट हो जाएगा-प्रकट क्या हो जाएगा, हमारा भीतर-बाहर सबका सब अस्तित्व ही आनन्दमय बन जाएगा। युवाजन इस सत्य को स्वयं समझें तथा अनजान लोगों को समझावें-यह समझ चरित्र विकास के लिए आवश्यक तत्त्व है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जार्ज बनार्ड शॉ की एक व्यावहारिक उक्ति है-तर्कशील व्यक्ति स्वयं को विश्व की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लेता है, किन्तु तर्क के पीछे नहीं अपने व्यक्तित्व की विवेकशीलता एवं चरित्रबल पर चलने वाला व्यक्ति विश्व को अपनी प्रगतिशील धारणा के अनुरूप मोड़ने की चेष्टा करता रहता है। इस कारण विश्व में जो भी प्रगति देखने को मिलती है उसका श्रेय ऐसे व्यक्तियों को ही जाता है।

जागृति एवं कर्मठता की चुनौती का उत्तर मिलेगा आत्मा की आवाज में :

किसी भी चुनौती पर विजय वही प्राप्त कर सकता है जो अपनी आत्मा की आवाज को सुनता है और उसी का अनुसरण करता है, क्योंकि उसकी आत्मा वैभाविक दोषों के चक्र से छुटकारा पाती हुई अपने स्वभाव में रमण कर रही होती है। युवावस्था जीवन का वह बिन्दु होती है। जहां से कर्म शक्ति का आविर्भाव होता है अर्थात् सब कुछ नवीन-विचार उत्साहपूर्ण और कर्म साहसपूर्ण। प्रगति की जिस राह पर वह चल पड़े-उसकी जीत सुनिश्चित। ऐसे स्फूर्तिवान एवं ऊर्जावान यौवन का धनी क्या नहीं कर गुजर सकता? वह धार ले तो अपने चरित्र की यौवनगत शुद्धता एवं शुभता को अपने जीवन का स्थायी अंग बना ले और इन मनोवृत्तियों को जन-जन के हृदय में प्रकाशित कर दे-काश कि वह धारे। यहां धारने का अर्थ संकल्पबद्ध होने से है। किसी भी चुनौती में वह ताकत नहीं जो किसी युवक या युवती के अदम्य साहस को तोड़ दे। यह हकीकत ही विश्वास पैदा करती है कि युवा शक्ति किसी भी चुनौती को झेल कर उस पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है। चरित्र विकास के अभियान को सफलतापूर्वक चलाने में जागृति और कर्मठता की जो चुनौती युवा वर्ग के समक्ष है, उस पर वह अवश्य ही विजय प्राप्त कर सकता है-इसमें कोई संदेह नहीं।

युवा वर्ग की विजय निर्भर करती है उस आन्तरिक शक्ति एवं आत्मिक जागृति पर, जिससे उसका कर्मयोग सक्षम बनता है। कर्मयोग की प्रबलता से कुशलता तथा कुशलता से सफलता मिलती है। कर्मयोग का अर्थ है अपने कर्त्तव्यों का ईमानदारी व सच्चाई से निर्वाह करना, अपने सामने आने वाली सामाजिक समस्याओं का व्यापक जनहित की दृष्टि से समाधान खोजना और फिर समाधान के क्रियान्वयन में अपना समग्र सामर्थ्य जुटा कर उसे सफल बनाना। यह कर्मयोग अपने लिए और सबके लिए कर्मरत होता है। कर्मयोग की जड़ होती है स्वयं की आत्मा में, अतः उसका व्यवहार आत्मा की आवाज के अनुसार होना चाहिए। आत्मा की जागृति में व्यक्ति-व्यक्ति का अन्तर हो सकता है किन्तु अप्रत्यक्ष-सी जागृति सभी व्यक्तियों में अवश्य होती है जो प्रतिक्षण अपनी आवाज उठाती है। यह अवश्य है कि आत्मा की जागृति को अधिक स्पष्ट, अधिक क्रियाशील तथा अधिक सुदृढ़ बनाते रहने का प्रयास चलता रहना चाहिए। आत्मा की आवाज पर उठाया गया कोई भी कदम कभी विफल नहीं होता क्योंकि उसके क्रियान्वयन में पूरी आत्मशक्ति नियोजित हो जाती

है। आत्मा का यह स्वभाव हम जान चुके हैं कि सदा शुद्ध और शुभ होता है, अतः शुद्धता व शुभता के क्षेत्र में और इस दृष्टि से चरित्र विकास के कार्य में आत्मा की आवाज का सर्वाधिक महत्त्व माना जाना चाहिए।

आत्मा की आवाज का मुखर होना व्यक्तित्व के प्राभाविक निर्माण का स्पष्ट लक्षण है। ज्यों-ज्यों आत्मा की आवाज सुनी जाएगी और अमल में लाई जाएगी, त्यों-त्यों आत्मानुभूति सुस्पष्ट एवं सुस्थिर बनती जाएगी। तब वह व्यक्तित्व महानता का बाना ओढ़ने लगेगा यानी कि बाहर की दुनिया उसे एक महान् व्यक्ति के रूप में देखने लगेगी और मान देने लगेगी। उसका नेतृत्व सबल बनता जाएगा तथा वह अधिक से अधिक संख्या में व्यक्तियों को जागृत एवं साध्य के प्रति प्रेरित कर सकेगा। आत्म-विकास के साथ सर्वात्म-विकास का महाद्वार जब खुल जाएगा तो फिर जागृति और कर्मठता का प्रसार चारों ओर आसानी से व्यापक बनता जाएगा।

युवाओं में क्षमता होती है अपने और दूसरों के चरित्र को उज्ज्वल बनाने की :

युवावस्था क्षमतावान ही नहीं, क्षमताओं का भंडार होती है। जिस साध्य के प्रति युवाजन निष्ठावान बन जाए, उनकी क्षमताएं उन्हें कभी-भी निराश नहीं करती। इन अजेय क्षमताओं का रहस्य यह है कि युवा वर्ग इन क्षमताओं का प्रयोग अधिकांशतः दूसरों के हित साधन के लिए ही करना चाहता है, क्योंकि युवान का दिल ही होता है जो ऊंचा से ऊंचा त्याग करने को उत्सुक रहता है। इस कारण यदि युवा वर्ग चरित्र विकास के अभियान के प्रति संकल्पित एवं समर्पित हो जाएं तो अवश्य उसकी क्षमताएं फलीभूत होगी कि वह अपने तथा दूसरों के चरित्र को उज्ज्वल बनाने के महद् कार्य में सफलता प्राप्त करे। उन्हें भगवती सूत्र का यह संदेश सदा ध्यान में रखना चाहिए कि जो दूसरों को समाधि (शान्ति) देता है, वह स्वयं भी समाधि पाता है (**समाहि कारएणं तमेव समाहिं पडिलब्भइ**-7-1)। समाधि देने से ही समाधि की प्राप्ति होती है, जो अस्त्र-शस्त्रों अथवा अन्य भौतिक साधनों की सहायता से कदापि प्राप्त नहीं की जा सकती है। वास्तविकता तो यह है कि बाहर के शस्त्रास्त्र भी तभी उठाये जाते हैं, जब भीतर के शस्त्र (दुष्ट भाव) सक्रिय होते हैं। युवावर्ग अपनी शक्ति के प्रवाह में कभी भ्रमित न हो जाए, इसके लिए ज्ञातव्य है कि बाहर के शस्त्र तभी उपयोग में आते हैं, जब भीतर के शस्त्र-काम, क्रोध, ममकार, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या आदि सक्रिय होते हैं। कोई भी युवक जब अपनी शक्ति के मद में अंधा होता है, तभी भीतर-बाहर के शस्त्र सक्रिय होते हैं और वह विपथगामी बन जाता है। भीतरी शस्त्रों की तो कोई गिनती ही नहीं है-वृत्तियां, विकार, विषमताएं अनेकानेक प्रकार की होती हैं। इन शस्त्रों को सक्रिय बनाने वाला स्वयं असमाधि को प्राप्त होता है तथा दूसरों को भी असमाधि में घसीटता है। इसके विपरीत यदि कोई भी और खास करके युवक स्वयं के तथा दूसरों के चरित्र को विकसित करने का निर्णय लेता है तो वह स्वयं के साथ सबको समाधि देने वाला बन जाता है।

समाधि के तीन सूत्र हैं-मनोयोग संवर, वचनयोग संवर तथा काययोग संवर। इनके विपरीत असमाधि के सूत्र हैं। हम अपने लिए समाधि का सुख चाहते हैं तो हमें दूसरों को समाधि का सुख देना ही होगा। दूसरों को असमाधि देकर स्वयं की समाधि को सुरक्षित रखना असंभव है। खून से

सना कपड़ा खून से धोने पर कभी स्वच्छ नहीं होता, उसकी स्वच्छता पानी से धोने पर ही प्राप्त हो सकेगी। इसी तरह असमाधि देकर समाधि चाहना निरर्थक है। आत्मिक शक्ति का एक प्रवाह बह रहा है-मन, वचन, काया के योगों से। इस शक्ति प्रवाह का उपयोग व्यक्तित्व विकास की दिशा में किया जाना चाहिए, किन्तु इसी शक्ति प्रवाह का दुरूपयोग किया जाय तो उससे व्यक्तित्व का विनाश होगा। इस शक्ति प्रवाह का श्रेष्ठतम उपयोग इससे बढ़कर क्या होगा कि अपने और दूसरों के चरित्र को गुणविभूषित धवलस्वरूप प्रदान किया जाए? कुछ उदाहरण देखिए-

1. एक व्यक्ति को एक टॉर्च मिली, उसकी मदद से उसने अंधेरे में खोई अपनी एक वस्तु खोज ली और वह प्रसन्न हो गया। दूसरे व्यक्ति को भी टॉर्च मिली, लेकिन उसने फालतू में ही इधर-उधर रोशनी बिखेरते हुए टॉर्च की बैटरी बरबाद कर दी और आखिर में उदासी लेकर अंधेरे में भटक गया।

2. एक व्यक्ति को अमृत कलश प्राप्त हुआ जिसके घूंट पीकर वह अमर हो गया। दूसरे व्यक्ति को भी अमृत कलश मिला, जिससे उसने अपने पांव धोकर अमृत को बहा दिया।

3. एक व्यक्ति को दैविक कृपा से चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ, उसने उससे मनोवांछित फल प्राप्त कर लिए। दूसरे व्यक्ति ने उसी चिन्तामणि रत्न को टुकड़े-टुकड़े करके फैंक दिया और अपने ही हाथों अपनी बरबादी कर ली। यह सब व्यक्ति की सदुपयोग एवं दुरूपयोग की प्रज्ञा पर निर्भर करता है कि वह किस प्रज्ञा से कौनसा उपयोग करता है? शक्ति का सदुपयोग किया जाए तो उसके व्यक्तित्व का भव्य विकास हो सकता है तथा उस व्यक्तित्व के प्रभाव से पिछड़ेपन से त्रस्त हजारों-लाखों-करोड़ों लोगों का उत्थान साधा जा सकता है और यदि उस प्राप्त शक्ति का दुरूपयोग किया जाए तो उससे सर्व विनाश की ही स्थिति सामने आती है। युवा शक्ति के सदुपयोग एवं दुरूपयोग के इस विश्लेषण से युवानों को विशेष शिक्षा लेनी चाहिए तथा सदुपयोग के बिन्दु को केन्द्रस्थ बना लेना चाहिए, क्योंकि युवावस्था की प्राप्त शक्ति टॉर्च, अमृत कलश या चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान होती है। जड़ शक्ति से चेतन शक्ति का क्या मुकाबला? युवा शक्ति यदि पूर्ण सदुपयोग से विस्तार पावे तो एक व्यक्ति, एक वर्ग, एक समाज या एक राष्ट्र क्या, सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित कर सकती है-मानव चरित्र में शुभ परिवर्तन लाकर समूची व्यवस्था को चरित्र सम्पन्न बना सकती है।

मन, वचन, काया के इन तीन योगों के शक्ति प्रवाह को हम अच्छी तरह से समझें। इन तीनों योगों का उपयोग हम अगर दूसरों को समाधि देने में करते हैं तो हमें भी समाधि प्राप्त होती है, अन्यथा असमाधि। दु:ख देने में यदि इस शक्ति प्रवाह का दुरूपयोग किया जाता है तो स्वयं के व सबके दु:खों में वृद्धि ही होगी। इन तीनों योगों में हम मनोयोग की शक्ति को अच्छी तरह से समझने का प्रयास करें। यह भी जान लें कि चरित्र निर्माण, चरित्र सुधार अथवा चरित्र विकास की किसी भी प्रक्रिया में इन तीनों योगों का तथा मुख्य रूप से मनोयोग का विशिष्ट महत्त्व होता है, क्योंकि हमारी मनोयोग की शक्ति ही वचन योग एवं काय योग में संलग्न होती है। मनोयोग की सक्रियता के बिना हमारा वचन योग तथा काय योग कार्यरत नहीं होता है। यह बात हमारे तथा समनस्क प्राणियों पर लागू होती है। अमनस्क प्राणी बिना मनोयोग के भी वचन व काय योग से प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु हमारी

सारी प्रवृत्तियां तो मनोयोग पूर्वक ही संचालित हो रही हैं। हम अपने इस विराट दर्शन का स्वरूप समझें तथा इससे दूसरों को समाधि देने का मानसिक संकल्प पैदा करें। आप कहेंगे कि हमारे सोचने और संकल्प करने से क्या कोई सुखी हो सकता है? अगर ऐसा हो तो सभी सुखी हो जाए, कोई दु:खी न रहे-क्या ऐसा नहीं? यह किसी सामान्य व्यक्ति का चिन्तन हो सकता है किन्तु तत्त्वज्ञ इस चिन्तन से सहमत नहीं होंगे, क्योंकि वे यह मानते हैं कि समाधि मन से भी दी जाती है ता वचन और तन से भी। मन में शुभ भावनाओं का जागरण कब होता है, जब वह दूसरी आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा उनके सुख-दु:ख को पहचानता है। जिस व्यक्ति ने पर-संवेदन का अनुभव नहीं किया, वह स्वसंवेदन का भी सही अनुभव कैसे कर सकता है? मानसिक उदारता जिसकी बन जाती है, वह मात्र अपना ही नहीं सोचता, वह दूरदृष्टि के साथ विशाल चिन्तन में संलग्न हो जाता है-यही उसकी महानता होती है। इसी विश्लेषण को युवा शक्ति के साथ जोड़ कर देखिए तो चरित्र विकास का सुन्दर भविष्य भी स्पष्ट हो जाता है। युवा वर्ग मनोयोग और उससे प्राप्त शक्ति प्रवाह का वचन योग तथा काय योग में सदुपयोग करेगा तो अवश्य उसका व्यक्तित्व प्राभाविक बनेगा तथा उसकी चरित्रशीलता प्रेरणाप्रद, किन्तु साथ ही संकल्प, त्याग एवं समर्पण से क्षमतावान बन कर उसकी ऊर्जा जब दूसरों के चरित्र को उज्ज्वल बना कर उसके विकास की क्रियाशीलता में प्रवृत्त होगी तो उससे होने वाला बहुआयामी नवनिर्माण अनुपम होगा।

चरित्र सम्पन्नता के लिए युवा व्यक्तित्व भी है तो संस्थान भी :

क्षमतावान युवा को कभी एकाकी मत मानिए, वह अपनी उमंग, ऊर्जा और उदारता के कारण एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक सशक्त व्यक्तित्व होता है-वह व्यक्तित्व जो नि:स्वार्थ वृत्ति में सबको अपना योगदान करने को उत्सुक रहता है-उच्चतम त्याग एवं बलिदान के लिए सदैव तत्पर रहता है। परन्तु जब उसका व्यक्तित्व अनेक युवानों के व्यक्तित्वों के साथ जुड़ कर सामूहिक व्यक्तित्व का रूप ले लेता है तब वह संस्थान बन जाता है। यही कारण है कि युवा व्यक्तित्व भी है और संस्थान भी। ऐसा युवा सर्वत्र विजय की कामना करे-यह उचित भी है और वांछनीय भी, किन्तु चरित्र विकास का क्षेत्र हो या परहित साधन का कोई अन्य क्षेत्र उसे विजय के स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे युवा शक्ति का उपयोग सर्वत्र गौरव का कारण और विषय बने।

विजय की खोज में निरत है युवक...खनखना रही हैं तलवारें विजय के लिये...कहां है वह विजय? वह विजय पराजय में बदलती जा रही है और वह विजय स्वप्न मात्र बनकर रह गई है। विजय किस पर? दूसरों पर या अपने आप पर? शरीर पर या आत्मा पर? किससे विजय? तलवार से या प्रेम से, स्नेह से? सोचकर बेहाल है, पसीने से तरबतर है...अनन्तकाल से समर भूमि में जूझ रहा है, विजय के लिए तड़प रहा है परन्तु जीवन में पराजय का मुंह ही दिखता रहा है, क्या यही नियति है या कुछ बदलेगी भाग्य रेखा...इस विजय की पृष्ठभूमि में बर्बरता नहीं, हृदय का उमड़ता हुआ सात्विक प्रेम का निर्झर है। यह विजय दूसरों पर नहीं, अपने आप पर है। यह विजय रक्तपात के लिए नहीं, यह आत्म शान्ति के लिए है। यह विजय पाशविकता से नहीं, सम्पूर्ण दैविकताओं के लिए है। हां...यही सच्ची शूरवीरता है और सच्ची विजय भी यही है। इस विजय की मनोभूमि से

क्षुद्रताओं के सारे बंधन टूट जाएंगे। जहां 'स्व' ही सब जगह दिखाई देगा, कोई भी 'पर' नहीं रहेगा, कोई भिन्न नहीं-सर्व में 'स्व' के दर्शन तो 'स्व' में 'सर्व' के दर्शन। 'पर' की विजय में घृणा है, हीनता है, व्यथा है, व्याकुलता है और है अहंकार का विस्तृत-विकृत रूप। मैं बड़ा, वह छोटा; मैं बलवान, वह निर्बल; मैं शक्तिशाली, वह कमजोर; मैं दिव्य, वह तुच्छ। मैं सर्वस्व, वह ना-कुछ,-न जाने अहंकार के कितने घिनौने रूप छिपे होते हैं उस विजय में, जहां वह विजित होकर भी पराजित है और जहां 'स्व' पर विजय हुई, वहां पर 'स्व-पर' का भेद ही नहीं रहा-'स्व' की विजय में सर्व पर विजय है। पर की विजय में स्व की विजय भी संदिग्ध रहती है-कितना अन्तर है?

प्रभु महावीर कहते हैं-'**अप्पा चेव दमेयव्वो**' अर्थात् अपना दमन कर। कहां तू दूसरों का दमन करता है? अपने को जीत तो दूसरा स्वयमेव जीत लिया जाएगा। जहां तू दूसरों को जीतने जाएगा, उसको तू जीत नहीं पाएगा और अपने आप से भी पराजित हो जाएगा। सत्य को समझ...दूसरों को जीतने की वासना भयंकर है, इसके कीटाणु बड़े ही जहरीले हैं, जरा बच कर रहना। इन जहरीले कीटाणुओं का असर जन्म-जन्मान्तर चलता रहता है, किसी भी जन्म में बच नहीं पाएगा। वैर से वैर बढ़ता है और प्रेम से प्रेम बढ़ता है। दूसरों की विजय वैर से नहीं, प्रेम से कर, वैर से किसी को जीता नहीं जा सका है आज तक...यह जीत कभी हो भी जाए तो क्षणिक, अस्थायी और आकांक्षाओं तथा निराशाओं से भरी होती है। सुख, शांति, समृद्धि, उल्लास एवं संतुष्टि देने वाली यह विजय नहीं हो सकती। मानसिक पीड़ा एवं व्याकुलता कितनी बढ़ती है, केवल 'पर' की विजय से?...कुणिक का संहार क्यों हुआ? विजय की सही परिभाषा और अर्थवत्ता किसमें रही है कि विजेता सदा-सदा विजित के हृदयासन पर विराजमान रहे? यह शक्ति एकमात्र प्रेम में रही हुई है। प्रेम ने हृदयासन पर साम्राज्य बनाया और चलाया। घृणा ने, तिरस्कार ने या वैर ने कभी किसी के हृदय पर अपना आसन नहीं बिछाया। प्रेम की अपूर्व शक्ति को पहचान, उसे अपनी ही शक्ति जान। तू जितना प्रेम-सहयोग दूसरों को देगा, उतना ही नहीं, उससे कई गुना प्रेम और सहयोग तुझे मिलेगा। हृदय की संकुचितता-क्षुद्रता को मिटा...स्वार्थ के घेरों को तोड़ और विराट प्रेम को धारण कर, अपने तरल ममत्व को सब पर छांट दे...फिर देख, कैसी होती है तेरी विजय? कहीं कोई शत्रु नहीं बचेगा, जिसे जीतना कठिन हो। तब समझना कि प्रेम के प्रताप से ईश्वरत्व तक का जागरण कितनी सहजता से हो जाता है।

ये हृदयोद्गार मनोयोग की विशेषता को स्पष्ट करते हैं कि मन में विजय की आकांक्षा सदा जुड़नी चाहिए प्रेम, सेवा और त्याग से, जिसके लिए पहले स्वयं को जीतना होता है अर्थात् अपने ही चरित्र को उज्ज्वल बनाना होता है। तब वह विजयाकांक्षी ऊर्जावान युवक दूसरों को जीतने के लिए कर्मरत होता है अपने हार्दिक प्रेम, सुखदायक सेवा एवं अद्भुत त्याग के साथ। फिर कौन ऐसा होगा जो उसके प्रेम सूत्र में न बंधना चाहेगा यानी कि अपने जीवन को उसका अनुगामी न बनाना चाहेगा? युवा वर्ग अपने इस शक्ति प्रवाह की प्रबलता को समझे, उसका सदुपयोग करे और सच्ची विजय प्राप्त करे। युवा शक्ति की सार्थकता इसी में है। वह युवा ही क्या, जो उच्चतम महत्त्वाकांक्षाओं से अभिभूत न हो, संकल्पित और समर्पित न हो तथा अपना सर्वस्व दे देने के लिए तत्पर न हो?

◆◆◆



चरित्र को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने हेतु सद्भाव जरूरी

समरस से ही चरित्र भौगोलिक सीमा तोड़ेगा

यह प्राची का अथ है
यह प्रकाश का पथ है।
यहीं से होकर जाता नित्य प्रति
सूर्य-किरण का रथ है।
अंधकार छाया घटाटोप आज
पर कल यहीं ऊषा दिखेगी
अविराम गति से पांव चले तो
उत्साहित अंगुलियाँ
यहीं पर काल चक्र का
विजयी इतिहास लिखेंगी।
इसलिए, हे पथिक!
निश्चल गति से बढ़ते जाना
बाधाओं से लड़ते जाना
इसी मार्ग पर बढ़ते-बढ़ते
टूटता स्वार्थ का मन्मथ है
यही प्रकाश का पथ है।

कवि के हृदयोद्‌गार स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं कि यह प्रकाश की प्रार्थना-अभ्यर्थना है। भारत में विशेष लगाव है, प्रकाश के साथ। दीपोत्सव उसका ज्वलन्त

चरित्र को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने हेतु सद्भाव जरूरी

32

प्रमाण है। प्राचीन काल से ऐसे अनेक त्यौहार मनाये जाते रहे हैं जिनकी मूल आत्मा प्रकाश के साथ सम्बद्ध रही है। और तो और इस देश का नाम ही प्रकाश के अर्थ से जुड़ा हुआ है। देश का नाम है भारत-इसके प्रथमाक्षर 'भा' का अर्थ होता है प्रकाश, जैसे प्रभा, आभा, विभा आदि और अन्तिम अंश 'रत' का अर्थ है निमग्न, सो भारत का अर्थ हुआ प्रकाश में निमग्न (ऑब्सेस्ड विद लाईट)। तो इस देश का अन्तर्रहस्य इसके नाम में ही छिपा हुआ है, फिर भारत में प्रकाश के प्रति सबका आकर्षण क्यों न होगा? अति प्राचीन काल से प्रकाश से हम प्रभावित हैं। वेदों की अनेक ऋचाएं ऊषा और प्रभात के गान गाती हैं और ऋग्वेद में तो प्रकाश का अत्यन्त सारगर्भित वर्णन है। प्रकाश का सम्बन्ध प्रभात से और प्रभात का सम्बन्ध अन्धकारमय रात्रि से है क्योंकि रात्रि के अंधकार से उबरने और निद्रा से जागृत बनाने वाला प्रभात का प्रकाश ही तो होता है। अज्ञान, अविद्या या विकार का रूप अंधकारमय माना गया है और इन्हें तमोगुण कहा है। ज्ञान के पूर्ण अभाव को हमारे देश में अंधा-युग कहा जाता है। मन मानस में गहरे पैठे अंधविश्वासों तथा मर्यादित शिक्षा के अभाव से लेकर हमारे चारों ओर फैली अंध श्रद्धा एवं विकारों के प्रति विचारान्धता के रूप में इस अज्ञान या अविद्या को व्यक्त करने के कई रंग-रूप है। और कहा यह भी जाता है कि अंधे युग की आत्म-घातक बुराईयों के कारक रूप अज्ञान के बन्धनों से जब स्वतंत्रता मिलेगी तभी अन्त होगा कलियुग का अर्थात् तब आविर्भाव होगा प्रकाश युग का।

प्रकाश की प्रार्थना-अभ्यर्थना की भावना ही दीपावली के समारोह के मूल में हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि अमावस्या की पूर्णांधकारमय रात्रि में छोटे-छोटे असंख्य दीप जला कर उस प्रकाश को ही तो प्रकाशित करने का उपक्रम किया जाता है। छोटे-छोटे दीपों की टिमटिमाती किन्तु चमचमाती पंक्तियां जैसे मुखर सन्देश देती हो कि शक्ति के महादैत्य अंधकार को मिटाने में हम मिट्टी के छोटे-छोटे दिये भी पीछे नहीं रहेंगे, अंधे युग के आत्मघाती विकारों से मुक्त होकर रहेंगे और असहायों का पथ प्रदर्शन करते रहेंगे। कोई भी हजारों-लाखों में इन नन्हें दियों की पंक्तियां देखें तो आनन्द से झूम उठने के बिना वह रह नहीं सकेगा, क्योंकि ऐसी दृश्यावली से सौन्दर्य बोध तो होता ही है, परन्तु सुन्दर-असुन्दर का भेद भी स्पष्ट दिखाई देता है। जर्मन कवि गोथे का मृत्यु के समय का यह कथन बहुत लोकप्रिय हुआ कि 'प्रकाश...और प्रकाश'-जो उनके अंतिम शब्द थे। हमारा प्रकाश पर्व दीपावली अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रतीक ही नहीं है, अपितु हमारे सत्य की क्षीण ज्योति के साथ अंधकार से वीरतापूर्वक लड़ने का प्रमाण भी है।

भारत में प्रकाश का लौकिक से भी अधिक अलौकिक महत्त्व है। ज्ञान को प्रकाश का प्रतीक कहा है और जब आत्मा सम्पूर्ण ज्ञानमय हो जाती है तो वह सिद्धशिला पर केवल ज्योतिस्वरूप रह जाती है। इधर जीव का लक्षण ज्ञान कहा है-ज्ञान नहीं तो चैतन्य नहीं अर्थात् प्रकाश जीव का लक्षण और प्रकाश ही आत्मा का प्रधान गुण। यह प्रकाश ही पुंज बनकर आत्मा को परमात्मा बना देता है। यही कारण है कि भारतीय जीवन साधना में ज्ञान रूप प्रकाश से प्रकाशित होने की प्रथम कामना की जाती है। भारत पहले भी ज्ञान गुरु होने के कारण ही 'विश्व गुरु' कहलाया और आज के हिंसा त्रस्त विश्व में अहिंसात्मक जीवनशैली के विकास को बल देकर भारत मानव जाति की एकरूपता एवं एकसूत्रता के आदर्श के माध्यम से पुनः विश्व गुरु का दायित्व तथा सम्मान प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य जाति एक है, उसे खण्ड-खण्ड से अखण्ड बनावें :

महापुरुषों का सत्य वचन है कि समस्त मनुष्य जाति एक है (**एगा मणुस्स जाई**)। इसका क्या अभिप्राय है? जाति के नाम पर आज की खंडित जातियों का उल्लेख नहीं है, बल्कि पांच पूर्ण जातियों का उल्लेख है-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय। एक से लेकर पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों की ये पांच जातियां हैं और मनुष्य पंचेन्द्रिय प्राणी होता है। यह उसकी पहिचान है। प्रकृति से या कर्मकृत नियति से जब पूरी मनुष्य जाति को इन्द्रियगत पहिचान ही मिली है तो स्वयं मनुष्य ने ही अपनी पहिचान को खंडित क्यों कर दी? आज मनुष्य की पहिचान के हजारों नाम गढ़ दिये गये हैं। वह देश, भाषा, धर्म, वर्ण, जाति, वर्ग, दल आदि अगणित टुकड़ों में खंड-खंड बना दी गई है। जहां तक किसी को व्यक्तिगत रूप से पहिचानने का सवाल था, उसका नामकरण कर दिया गया सो ठीक है। कौन किसको कैसे बुलावे, इस समस्या का हल हो गया। आदिमकाल का विवरण बताता है कि सब प्रकृतिदत्त आहार पर निर्भर रहते थे-फल-फूलों की विपुलता थी। तब आहार का कोई संघर्ष नहीं था और विचार का उत्कर्ष नहीं था। एकता भी परोक्ष थी और वह निराबाध चली।

परन्तु परिस्थितियां बदली, समय की धारा परिवर्तित हुई। बिना श्रम के प्रकृति को आहार सुलभ कराना स्वीकार नहीं रहा और मनुष्य को आहार पाने की समस्या हो गई। उसने श्रम करना शुरू किया, असि (तलवार) मसि (स्याही) और कृषि-खेती के साथ श्रमाधारित जीवन निर्वाह का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य समुदाय शक्ति, योग्यता, कौशल और श्रम के घेरों में विभाजित होने लगा। समुचित सामाजिक व्यवस्था की समस्या आई कि कौन क्या कार्य अपने हाथ में ले ताकि निर्वाह हेतु उत्पादन, सुविधा हेतु व्यापार तो जीवन श्रेष्ठता हेतु कर्त्तव्य पालन के कार्य सुचारू रूप से संगठित हो जाए। जो जिस कार्य के लिए सक्षम माना गया वह उस कार्य दल में शामिल कर लिया गया और कार्य स्थिरता की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात हो गया-रक्षा करे तलवार के बल पर सो क्षत्रिय, सुविधा के लिए व्यापार को नैतिक कौशल से चलाये सो महाजन, सबको श्रेष्ठ जीवन निर्माण के लिए नीति और कर्त्तव्यों की शिक्षा दे सो ब्राह्मण और चूंकि शेष जो किसी सशक्त विद्या या विद्या के धनी नहीं थे, उन्हें खेती और मजदूरी के वर्ण में शामिल कर दिया गया शूद्र के नाम से। यों चार वर्ण बन गए। एक से चार टुकड़ों में बांट दी गई मनुष्य जाति। तब मनुष्य वर्ण बन गया। वर्ण व्यवस्था से सामाजिक व्यवस्था सुगठित हुई प्रारम्भ में-इस तथ्य से इस विभाजन के औचित्य को भी स्वीकार कर लें।

दुःखद स्थिति तो यही है कि एक बार विभाजन का जो चक्र चला, वह निरन्तर चलता रहा और अब भी चल रहा है-यह कहा जा सकता है। आज मनुष्य को इतना खंड-खंड कर दिया गया है कि उसके कितने टुकड़े हैं, कहां-कहां गिरे हैं और उनमें मनुष्यत्व का कितना अंश शेष है-यह सब गंभीर शोध का विषय बन गया है। अब तो एक शिशु ने जन्म लिया, उसका नामकरण हुआ तब उसके नाम के साथ परिवार का गौत्र लगा, जाति लगी, धर्म सम्प्रदाय लगी, बोली-भाषा लगी, प्रदेश और देश लगा। बड़ा हुआ तो पाठशाला की किस्म लगी, राजनीति की पार्टी लगी और भांति-भांति के अनेकों ठप्पे लगे। मनुष्य जाति बंटी, लेकिन एक मनुष्य तक कई हैसियतों में बंट गया। जहां तक

व्यवस्था का सवाल है, बंटने या बांटने के पीछे न व्यवस्थागत उद्देश्य है और न कोई अन्य सार्थक उद्देश्य। वहां देखें तो लगेगा कि भिन्न-भिन्न प्रकार के निहित स्वार्थियों का जाल बिछा हुआ है जिसमें फंस कर मनुष्य खण्ड-खण्ड होता जा रहा है और खंड-खंड भी ऐसा कि प्रत्येक खंड दूसरे खंड से हर वक्त तनाव के मूड में, दो-दो हाथ करने को तैयार और स्थायी वैर मुद्रा में। मतलब यह कि सारा समाज एक तार-तार चादर का रूप बन गया है।

वर्तमान की प्रधान समस्या यही है कि इन परस्पर संघर्षशील टुकडों या घेरों के तालमेल का ढंग किस प्रकार बिठावें कि ये एक-दूसरे के सहायक और पूरक बनते हुए मानव जाति की एकता के आदर्श की दिशा में गति कर सके? एक विशाल महल में समझें कि सैकड़ों कमरें और एक-एक कमरे में कई खिड़कियां हो तथा सारे कमरों में लोग रहते हो। कल्पना करें कि सब कमरों और खिड़कियों के दरवाजे हमेशा बन्द रहते हो तो रहने वालों की मानसिकता कैसी बनेगी? साफ हवा-रोशनी नहीं, बन्द कमरे के भीतर का एक मात्र उबाऊ दृश्य, मुखिया की धौंसपट्टी में दिमाग का भी दरवाजा बंद, अंधा और चिड़चिड़ा स्वभाव सो कभी कमरों के दरवाजें खुले भी जड़मति नादान बाहर आते ही आपस में उलझ पड़ते हैं-वाद विवाद से हाथापाई की हिंसा तक पहुंच जाते हैं। इसके विपरीत यदि अलग-अलग कमरों में रहते हुए भी सब लोग कमरे-खिड़कियां खुली रखते हों, आपस में बार-बार मिलते-जुलते हों, एक दूसरे के दु:ख-सुख में सहभागी बनते हों, मुस्कुराहटों का लेन-देन करते हों और एक-दूसरे के कमरों में आते जाते, खाते खिलाते, हंसते-बतियाते हों तो वह विविधता भी मूलत: एकता का स्वरूप बन जाएगी।

मानव जाति की वर्तमान समस्या को इसी रंग ढंग से सुधारने और सुलझाने की जरूरत है। किन्तु समस्या साधारण नहीं है, व्यापक और विशाल भी है तो कठिन और जटिल भी। बन्द कमरों में रहते-रहते लोगों के मिजाज जो बुरी तरह बिगड़े हुए हैं उन्हें समरस बनाने का सवाल है और उससे भी पहले यह सवाल है कि लोगों को नादानी में ढकेल कर जो धूर्त लोग बहुसंख्यक लोगों को भेडों की तरह हंकालते आए हैं, उन्हें बदला जाए। ये धूर्त एक भांति के नहीं हैं-महल के हर कमरे में बैठे हुए हैं और इन्होंने हर छल बल से लोगों को अपने पांवों तले दबा रखा है। काम बहुत बड़ा है और बड़े सवालों के जवाब भी बड़े ही खोजने होंगे। बहुसंख्यक लोगों के दिलों में अज्ञान बैठा है तो कुछ लोगों के दिलों में शैतान और इन दोनों प्रकार के दिलों को बदल कर उनमें भगवान् को बिठाना है सो जिनके दिलों में भगवान् बैठा और जगा हुआ है, वे ही इस काम के लिए आगे आ सकते हैं। इनके पास भी कोई सत्ता, धन या दूसरी पाशविक ताकत नहीं होगी, सिर्फ दिल में बैठे भगवान् की ही ताकत होगी, लेकिन आत्मविश्वास और आत्मबल से सब कुछ साध्य हो सकता है। इस विशाल परिवर्तन का एक मात्र माध्यम बन सकता है, विशाल पैमाने पर चरित्र निर्माण एवं चरित्र विकास। यह महद् कार्य छोटे स्तर से शुरू हो, पर यही चरित्र निर्माण व्यक्ति से लेकर विश्वस्तरीय स्वरूप ग्रहण करके व्यापक परिवर्तन का कारक बन सकता है।

सीमा रहित विश्व के निर्माण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की दिशा :

आज विश्व की सीमाएं हैं अलग-अलग राष्ट्रों के रूप में। वैसे विश्व सरकार के अभाव में

आज राष्ट्र की सरकार ही सबसे बड़ा शासकीय घटक है। यों तो राष्ट्र बंटे हुए हैं प्रदेशों में, प्रदेश जिलों में, जिले तहसीलों में, तहसीलें ग्राम पंचायतों में, किन्तु अब यह सारा विभाजन एक प्रकार से विभाजन हैं भी और दूसरी दृष्टि से विभाजन नहीं भी है। क्योंकि मानव समाज की व्यवस्था अब राष्ट्रीय स्तर तक संघर्षशील नहीं रही है और नीचे का यह सारा विभाजन मात्र शासकीय-प्रशासकीय सुविधा के लिए ही है। भूगोल और जन मानस में यहां तक एकता का तालमेल बैठ गया है और इससे ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का ही क्रम है। किन्तु अभी राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय के बीच अन्तर बहुत है। राष्ट्र नायकों के अपने-अपने स्वार्थ निहित है और इस नजरिए से वे राष्ट्रवाद की लकीर पीटना आसानी से नहीं छोड़ेंगे। राष्ट्रीयता वह भावनात्मक कड़ी है जिसकी कसाहट कठोर है। फिर भी वर्तमान में जो घटनाएं गुजर रही है, उनके परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद की सख्त कड़ियों को भी तोड़ने की तैयारी जरूर शुरू हो गई है, बल्कि इससे आशा बंधने लगी है कि प्रदेशवाद के समान राष्ट्रवाद भी एक दिन विश्वात्मवाद की शरण में आ जाएगा। मानव जाति की एकता तथा विश्व संगठन या सरकार का स्वर्णिम दिन होगा वह।

गत 11 सितम्बर 2000 के दिन अमेरिका के व्यापार केन्द्र पर आतंकवादियों ने जो विनाशकारी आक्रमण किया, उसके बाद से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बारे में राष्ट्र नेताओं का नजरिया बदलने लगा है। आतंकवाद के विरुद्ध अनेक देशों की जो साझी लड़ाई शुरू हुई है, उससे वर्तमान कानूनों पर प्रश्नचिह्न लग गया है-1. किसी भी छोटे उद्दंड देश के आतंकी भी जब बड़े और विकसित देश को दहशत में डाल सकते हैं तो इन कानूनों की पालनीयता प्रभावहीन नहीं हो जाएगी? फलस्वरूप हर देश को कहा जा रहा है कि या तो वह आतंकवाद विरोधी खेमे में रहे या फिर वह आतंकियों का साथी माना जाएगा। इससे इच्छा हो या अनिच्छा-सभी देश एक समूह में हैं और आतंकवाद के विरोध के लिए सहमति है। 2. अब तुरताफुरत में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को कुचलने के लिए प्रत्येक सहयोगी देश भी राष्ट्रीय कानून बना रहे हैं। 3. अब अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का भी ऐसा नेटवर्क बनाया जाने लगा है और देशों पर विनाशक शास्त्रों की कमी का दबाव बढ़ रहा है। इस तरह परोक्ष रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संगठित हो रही है। नई शक्ति आतंकियों को अलग-थलग करके शेष को एक सूत्र में पिरोने का काम करेगी। 4. आतंकवाद विरोधी राष्ट्रों का नया कानून उन्हें नये उद्देश्य के लिए प्रतिबद्ध बनाएगा। 5. अब सोवियत संघ के विघटन के बाद दुनिया में दो गुट नहीं रहे, अकेला अमेरिका महाशक्ति के रूप में है और अब तीसरी दुनिया (विकासशील देशों की) भी नाम मात्र की रह जाएगी। महाशक्ति की सहायिका के रूप में-सो कैसे भी हो या कैसा भी हो-पूरे विश्व की एकजुटता तो निर्माण की प्रक्रिया में आ गई है। राष्ट्रीयता के बंध ढीले हो गए हैं सो यह एकजुटता उचित अवसर पर साकार रूप ले सकती है। कारण, यदि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की रीढ़ तोड़ती है तो राष्ट्रों की सीमाओं को नजरअन्दाज करना ही होगा।

सीमा रहित विश्व के निर्माण के लिए अब अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की एक दिशा निश्चित हो गई है और अब धीरे-धीरे वैश्वीकरण का जो स्वरूप उभरेगा, उसमें बहुसंस्कृतिवाद को ही नागरिक धर्म बनाना होगा-किसी एक ही संस्कृति का वर्चस्व नहीं चलेगा और बहुसंस्कृतिवाद के चलते

प्रभावशाली सांस्कृतिक तत्त्व अवश्य ही एक विश्व संस्कृति के रूप में ढलते जाएंगे। जातीय स्वतंत्रताओं तथा धार्मिक परम्पराओं को आतंकवाद के विरोध में सहमत होना पड़ेगा और संभवत: यह सहमति यथार्थ में ढलती हुई नई विश्वस्तरीय सभ्यता का रूप ले लें। तब तो विश्व युद्ध के प्रतिमान भी बदल जाएंगे, क्योंकि राष्ट्रों की सीमाएं तब महत्त्वहीन होकर संघर्ष से दूर लुप्त हो जाएगी। सारे संघर्ष धीमे हो जाएंगे या उठ जाएंगे तथा साथ रह कर सबके लिए एक ही निशाना रह जायगा-आतंकवाद। इस कारण व्यापारिक सम्बन्धों तथा विश्वस्तरीय व्यापार व्यवस्था में भारी तब्दिलियां आ सकती हैं। अनुमान यह है कि काफी कशमकश और उलटफेर के बाद राष्ट्रीय पृथक्ता का युग समाप्त हो सकता है और हो सकता है नये अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के माध्यम से एक विश्वस्तरीय व्यवस्था का समारंभ। परिवर्तन के इस चक्र में समय तो लगेगा और किसी अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन के लिए एकाध शताब्दी का समय भी अधिक नहीं होता है। किन्तु इस प्रकार के अनुमानों के संदर्भ में जो विचारणीय विषय चरित्र निर्माण व विकास का है, उसको अति व्यापक पैमाने पर लेकर ही चिन्तन करना होगा तथा तदनुसार ही करना होगा उसके लिए साध्य एवं साधनों का निर्धारण। पूर्व भूमिका जितने गहरे सोच विचार के साथ यदि निश्चित की जाएगी तो आगे का काम उतना ही सुगम होगा।

पहले सुलझानी होगी विचार संघर्ष की जटिल समस्या को :

नीति वाक्य है-'**वादे वादे जायते तत्त्वबोधः**' अर्थात् विचार मंथन से तत्त्व ज्ञान सुबोध बनता है और विचार मंथन कैसा? विचार मंथन का अर्थ है विचारों का आलोड़ित होना, जैसे कि दही आलोड़ित होकर मक्खन रूप बनता है। बहुत सारे भिन्न-भिन्न विचारों पर जब वाद-विवाद यानी कि खंडन-मंडन होता है तब प्रत्येक विचार की सभी अपेक्षाओं से चर्चा होती है तथा निष्कर्ष रूप में चर्चा का सार सामने आ जाता है। सार होता है वस्तु या तत्त्व के स्वरूप का सही दर्शन। वाद-वाद में तत्त्व बोध होने का यही विश्लेषण है कि भिन्न-भिन्न विचार भले हो और वे होंगे तथा होने चाहिए, लेकिन सभी अपेक्षाओं की आलोचना के बाद उसका समन्वित स्वरूप अवश्य स्पष्ट होना चाहिए जो सबको मान्य हो। इस प्रक्रिया के स्थान पर यदि अपने विचार के प्रति प्रारम्भ से हठी रूख अपनाया जाए और उसे एकान्त रूप से सत्य कहा जाए जिसका सीधा अर्थ निकलेगा कि अन्य सबके विचार मिथ्या हैं तो वहां एकान्तिकता के कारण विचार में जो सत्यांश रहा हुआ है, वह भी समग्र रूप से मिथ्या हो जाएगा। इस प्रकार एकान्तिक सत्य की हठ में सत्यांशों को लिए हुए होने पर भी सभी विचार मिथ्या के ही पोषक होंगे। इस प्रकार विचार संघर्ष किसी भी विचार को सत्य से बहुत दूर ले जाता है और अनजाने में भी हो, असत्य का पोषण करता है।

किसी भी वस्तु अथवा तत्त्व के स्वरूप का सत्य ज्ञान करने के लिए उसके एक ही पहलू को जानकर सही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। कारण, प्रत्येक वस्तु या तत्त्व के अनेक पहलू होते हैं और उन सभी पहलुओं की जानकारी में लेकर सार रूप में समन्वित स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए-वही सत्य के समीप होगा। एक होता है एकान्तवाद कि एक ही पहलू को हठपूर्वक सत्य कह दिया जाए तो दूसरा अनेकान्तवाद होता है अनेक पहलुओं की जानकारी के जरिए सत्यांशों का

संचय करते हुए सत्य के समीप पहुंचा जाए। बहुस्वरूपी पदार्थ व तत्त्व के ज्ञान की अनेकान्तवाद ही सही विधि होती है। भारतीय दर्शनों में यह अनुपम देन जैन दर्शन की है तथा इस दर्शन में स्वरूप ज्ञान की सही विधि का विस्तृत विवेचन भी दिया गया है जो विधि है नयवाद की विधि। नय पद्धति जैन दर्शन की पूर्णतया मौलिक विचारशैली है। यह एकदेशीय विचारशैली को नकारती है और वास्तु की अनन्त धर्मात्मकता को दृष्टिगत रखकर उसके विविध रूपों को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करती है। जैन दृष्टि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विचारों में अविरोध का बीज खोजती है और उसमें समन्वय स्थापित करती है।

स्वरूप के अनेक पक्षों वाली वस्तु के विषय में अपना एक मत निर्धारित करना तय है, किन्तु वह मत ऐसा हो जो अन्य विभिन्न मतों की उपेक्षा या अवहेलना न करता हो। यह मत आंशिक मत होगा। एक मत को ग्रहण करना तथा अन्य मतों के प्रति उदासीनता, यह सुनय का लक्षण है और अन्य मतों का तिरस्कार करना दुर्नय है। प्रत्येक नय की अपनी-अपनी सीमा है जिसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए स्वरूप के एक गुण 'सत्' को लें। नय 'सत्' को 'स्यात्' कह कर ग्रहण करता है-स्यात् का अर्थ है-हो सकता है (मे बी) अर्थात् वहां 'ही' (यही है) का प्रयोग न होकर 'भी' (हो सकता है) का प्रयोग होता है। 'ही' के कथन में एकान्त हठ है तथा अन्य सभी मतों का तिरस्कार है और 'भी' के कथन में अपना मत है किन्तु सभी मतों की स्वीकार्यता भी है जो समन्वय का रास्ता खोलती है। इसे दर्शन की भाषा में सापेक्षता कहते हैं। सापेक्षता का अर्थ है सबकी अपेक्षा-सबके सत्यांशों की ग्रहण वृत्ति। यह 'स्यात्' नयवाद का प्राण है। इसे न तो स्वपक्ष आग्रह स्वीकार है और न ही पर-पक्ष निषेध। इसे सबकी अपेक्षा है। अति संक्षेप में नय के भेदों की चर्चा करें

1. **नैगम नय :** संकल्प मात्र को ग्रहण करना, जैसे कोई व्यक्ति दरवाजा बनाने के लिए लकड़ी लेने को जंगल की ओर जा रहा है और कोई उसे पूछता है, कहां जा रहे हो? वह उत्तर देता है-दरवाजा लेने के लिए, तो यह उत्तर संकल्प मात्र है किन्तु है तो सच ही।

2. **संग्रह नय :** वस्तु के द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्मों को ग्रहण करने वाला विचार। जैसे स्वामी ने सेवक से कहा-'दातुन लाओ।' इस प्रकार सेवक सिर्फ दातुन ही नहीं लाता बल्कि पाट, बिछौना, जल का लोटा, अंगोछा आदि सब लाता है। एक आदेश से सम्बन्धित सामग्री का ज्ञान कर लेना, इस नय का वस्तु विषय है।

3. **व्यवहार नय**-संग्रह नय द्वारा संग्रहित अर्थ में विधिपूर्वक, अविसंवादी तथा वस्तु स्थिति मूलक भेद करना अर्थात् विभाग करने वाला विचार। रोगी औषधि विक्रेता से जाकर इतना ही कहे कि औषधि दो तो उससे काम नहीं चलता। उसे औषधि का नाम, आसेवन विधि आदि सब बताना पड़ता है। स्वरूप की सामान्यता से यह नय विशेषता की ओर आगे बढ़ता है-समग्रता में निश्चय की स्थिति लाता है।

4. **ऋजुसूत्र नय :** वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करना। कोई कहे कि मैं सुखी हूँ तो वह स्पष्ट करता है कि वर्तमान में सुख की अवस्था है। इस नय में भूत व भविष्य का विचार नहीं होता, केवल वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार किया जाता है।

5. **शब्द नय :** काल, कारक, लिंग संख्या, पुरुष, उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ-भेद मानना। जैसे मूल तट शब्द को भी यह नय लिंग भेद-तट, तरी, तटम् को अलग-अलग मानता है।
6. **समाभिरूढ़ नय :** पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ मानने वाला। इन्द्र और पुरन्दर पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु इनको भी यह नय अर्थ भेद से अलग मानता है। विशेषता में भी स्वरूप का इस रूप में केन्द्रित अर्थ लिया जाता है।
7. **एवंभूत नय :** पदार्थ जिस समय अपनी अर्थक्रिया में प्रवृत्त हो उसी समय उसे उस शब्द का वाच्य मानना-ऐसी निश्चय दृष्टि वाला यह नय है। इन्द्र जब नगर का विनाश कर रहा हो तब ही उसे पुरन्दर कहा जाए। अन्य समय में नहीं।

नयवाद का सार यह है कि किसी भी वस्तु स्वरूप को उसके सभी पहलुओं से समझा जाए क्योंकि सत्य अनन्त पहलुओं वाला होता है, उसे किसी एक पहलू से समझा नहीं जा सकता है। एकांगी दृष्टि वस्तु के सत्य स्वरूप को दिखाने में असमर्थ है। नयवाद के माध्यम से वस्तु स्वरूप पर विचार करने से समस्त विवादों का समाधान हो जाता है। आग्रहवाद या हठवाद या एकान्त वाद असत्य के अंग हैं, जबकि अनाग्रह 'स्यात्' के साथ अनेकान्त है और इसकी आधारशिला है नय। नय की पृष्ठभूमि में काम करती है सहिष्णुता और जिज्ञासा, ये दोनों वृत्तियां ऐसी है जो विवाद या संघर्ष को पैदा ही नहीं होने देती है। आग्रह और हठ से दूर रहने के कारण अन्य सभी विचारों के प्रति सम्मान का भाव रहता है और साहचर्यता की प्रवृत्ति पुष्ट होती है। नयवाद एक प्रकार से उन विचारकों के लिए एक चुनौती है जो अपनी ही विचारधारा या व्यवस्था को ही पूर्ण सर्वव्यापक मानते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि वास्तविकता बहुत जटिल होती है और उसे सामान्य-सी परिभाषा से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। सभी पहलुओं को विधिवत् समझ लेने पर ही वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है।

यह विवेचन विचार समन्वय से विचार साम्यता का पथ प्रदर्शन करता है। सभी विचारों में कुछ न कुछ अच्छापन होता है, किन्तु किसी एक विचार को ही पूरी तरह अच्छा बता कर उसे ही मान लेने का जो हठाग्रह किया जाता है, वही मनोवृत्ति विचार संघर्ष पैदा करती है। यदि हठाग्रह छूट जाए और सभी विचारधाराओं पर सत्य शोध की दृष्टि से चर्चा हो तो सही निष्कर्ष सामने आ सकते हैं, ऐसा रास्ता मिल सकता है, जिस पर सभी साथ-साथ चलने को राजी हो सके। विश्व की एकता पाने का जब लक्ष्य बना लिया गया हो तो विचार संघर्ष को मिटा कर विचार समन्वय की शैली का विकास करना ही होगा।

नया अर्थशास्त्र भी होना चाहिए विषमताओं को समाप्त करने वाला :

विश्व में दो प्रकार के संघर्ष मुख्य होते हैं-एक विचारों का संघर्ष तथा दूसरा स्वार्थों का संघर्ष। विचारों का संघर्ष दूर करने की दृष्टि नई समन्वय शैली अपनाने और पनपाने का उल्लेख किया जा चुका है। अब स्वार्थों के संघर्ष को दूर करने के अर्थशास्त्र की नव रचना के विषय में विचार किया जा रहा है। सांसारिक जीवन निर्वाह के लिए अर्थ का महत्त्व सदा ही रहता है, कोई भी काम बिना

पैसे के नहीं होता-गृहस्थ को अपनी गाड़ी चलाने के लिए पग-पग पर धन की जरूरत होती है। किन्तु यही अर्थ तब अनर्थ का रूप ले लेता है जब इसका अर्थशास्त्र बिगड़ता है यानी कि मनुष्य ही तृष्णा और लालच में अंधा बन कर अर्थ के उत्पादन को केन्द्रित बनाता है, अर्थ का विषम वितरण करता है तथा अर्थ में निहित स्वार्थों के घेरे बना कर पूरी अर्थशक्ति को कुछ ही हाथों में संग्रहित करने की चेष्टा करता है। यही अनर्थ बना अर्थ समाज के सभी क्षेत्रों-आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि में विषमताओं के विषैले कीटाणु फैलाता है और समूची व्यवस्था को अमानवीय रूप दे देता है। फलस्वरूप समाज की सत्ता और सम्पत्ति का नियंत्रण कुछ लोग अपने हाथों में ले लेते हैं और शेष विशाल जन समुदाय दीनहीन अवस्था में शोषण, दमन तथा उत्पीड़न के लिए असहाय छोड़ दिया जाता है। यों अर्थ का अनर्थ अर्थात् विषैली विषमताएं और मानवीय मूल्यों का ह्रास। इस अनर्थ को दूर करने का यह उपयुक्त समय है, जब राष्ट्रों की सीमाएं मिटा कर एक विश्व बनाने की तैयारी चल रही हो।

सभी प्रकार की सामाजिक विषमताओं की जननी है आर्थिक विषमता, क्योंकि अर्थ की सबको आवश्यकता होती है और इस रूप में वह प्रत्येक नागरिक के जीवन को प्रभावित करता है। अर्थ की विषमता जब गहरी हो जाती है, तब विद्रोह होते हैं, क्रांतियां होती हैं और कभी-कभी भीषण रक्तपात भी होता है कि किसी प्रकार से समाज में अर्थ की समानता आवे या कम से कम सबको सुविधा तो मिले ही। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में साम्यवाद को असली जामा पहिनाने के रूप में एक प्रयोग हुआ और आर्थिक समानता की व्यवस्था आधी दुनिया में कायम भी हुई किन्तु मूल में दोष के कारण वह साम्यवादी व्यवस्था स्थिर और स्थाई नहीं हो पाई और उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में वह व्यवस्था टूट गई। मूल का दोष यह था कि वह व्यवस्था बलात् लागू की गई और बलात् ही चलाई गई। इसका कुपरिणाम यह रहा कि साम्यता के विचार को शोषितों ने समझा नहीं और मसीहा बन कर आये नेता खुद ही शोषक बन गए। इस प्रयोग से शिक्षा लेने की बात यह है कि सारा काम 'इच्छात्' लोगों की सहमति से होना चाहिए।

विश्व में आज आर्थिक विषमता अति भयंकर रूप में फैली हुई है। कुछ विकसित देश ही अपनी उन्नत तकनीकों के कारण दुनिया के सभी भागों में ताकत से व्यापार करते हैं और भारी मुनाफे लूटते हैं-साथ में सर्वत्र अपनी राजनैतिक ताकत भी बढ़ाते रहते हैं। परिणामस्वरूप अनेक देश आर्थिक रूप से पूरी तरह पिछड़े हुए हैं तो कुछ विकासशील देश अपने आर्थिक विकास के प्रयास अवश्य कर रहे हैं किन्तु उनकी सफलता का ग्राफ बहुत धीमा है। दुनिया की दो तिहाई आबादी गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी आदि में पशुओं-सा जीवन बिताने को अभिशप्त है। यह अतीव दयनीय दशा है। शोषण और दमन का सिलसिला जब तक बन्द नहीं होता यानी कि विषमताओं की चौड़ी खाई पाटी नहीं जाती, तब तक करोड़ों-अरबों लोगों के लिये खुशहाली का कोई रास्ता निकाल पाना दुष्कर है।

नये अर्थशास्त्र की रचना करनी होगी, उसके सिद्धान्तों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करना होगा और पिछड़े मानव समुदायों को तद्हेतु विश्वास में लेना होगा, तभी आर्थिक एवं अन्य प्रकार की

सारी सामाजिक विषमताओं को मिटाने का एक कारगर माहौल बन सकेगा। यह नया अर्थशास्त्र इन सिद्धान्तों के आधार पर रचा जाना चाहिए-

1. आवश्यकतानुसार उत्पादन : वैश्विक अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से दो निर्णय लिये जाने चाहिए-एक तो यह कि उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा जो दुनिया की सारी आबादी के लिए सुखमय जीवन निर्वाह हेतु आवश्यक हो। व्यर्थ के विलासिता के उत्पादन बंद हो जाए और वे सभी उत्पादन भी बंद हो जो स्वास्थ्य घातक व्यसनों के रूप में आज चल रहे हैं। दूसरे, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी उस नियमित मात्रा में होता रहे जो सभी विश्व नागरिकों के जीवन निर्वाह हेतु आवश्यक हो-अतिरिक्त उत्पादन न हो। उत्पादन में गुणवत्ता और मात्रा की आवश्यकताओं के अनुसार किए जाने का अभिप्राय यह है कि फिर ऐसे व्यापार का वजूद नहीं बचेगा जो सिर्फ मुनाफा कमाने के आधार पर ही चलता और टिकता हो। उस समय व्यापार का दृष्टिकोण मात्र यही रहेगा कि उत्पादित सामग्री को स्थान-स्थान पर समयानुसार पहुंचा कर या कच्चा माल लाकर सुविधा की स्थिति बनाई जाए। पदार्थों का मूल्य निर्धारण उत्पादन की लागत तथा सुविधा व्यय के अनुसार किया जाएगा, जिसमें मुनाफे जैसी कोई राशि शामिल नहीं होगी। इस व्यवस्था से शोषण पूरी तरह समाप्त हो सकेगा।

2. संविभाग अर्थात् सम-वितरण : संविभाग क्या? शब्द का अर्थ है बराबर बांटना। आज जो बांटने की प्रक्रिया है वह बन्दरबांट है। धूर्तों की माल मारने की मनमानी चलती है और उत्पादक किसान, मजदूर तक अभावों में जिन्दगी जीने को मजबूर होते हैं। वैश्विक अर्थ व्यवस्था में पूरे विश्व को एक परिवार का रूप ही समझना और मानना होगा तथा संविभाग के अर्थ को पारिवारिक ढंग से ही लेना होगा। जैसे एक संस्कारित परिवार में कमाते सभी स्वस्थ परिजन हैं किन्तु यह हिसाब नहीं लगाया जाता कि कौन कितना यानी कम-ज्यादा कमाता है। हां, अधिक उपार्जन कर सके ऐसी योग्यता सभी स्वस्थ परिजनों में पैदा की जाती है। बाद में जो भी जितना कमाता है-सम्मिलित कोष में चला जाता है। किन्तु सबको उपभोग-परिभोग की जो सामग्री मिलती है वह समान रूप से और प्रत्येक की आवश्यकता के अनुरूप अर्थात् वृद्ध, रोगी या बालक सदस्यों के अर्जन योग्य न होने पर भी उन्हें अधिक पौष्टिक आहार दिया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में किसी का कोई विरोध नहीं होता, बल्कि अनुरागपूर्वक स्वेच्छा से सहयोग दिया जाता है, तो विश्व परिवार की व्यवस्था का भी मौलिक रूप से ऐसा ही स्वरूप होना चाहिए। प्रश्न यह है कि ऐसी लोकप्रिय व्यवस्था कैसे कायम की जाए?

ऐसी सर्वप्रिय एवं सर्वहितैषी अर्थ व्यवस्था की स्थापना के सफल सूत्र महावीर ने जैन दर्शन में बताये हैं। ये सूत्र मात्र वैचारिक ही नहीं रहे हैं, बल्कि उनके अनुयायी इन पर यथाशक्ति आचरण भी करते आ रहे हैं। इस दृष्टि से नये अर्थशास्त्र का आधार सूत्र होना चाहिए-मर्यादित जीवन ऐसा जीवन जिसमें मर्यादाओं के पालन का सर्वोपरि स्थान हो। मर्यादाओं के पालन से ही संविभाग अर्थात् सम-वितरण का सूत्र निकलता है। जैन साधु का तो सर्वथा परिग्रह मुक्त जीवन होता ही है, किन्तु एक जैन श्रावक को भी परिग्रह रखने तथा उपभोग-परिभोग की सामग्रियों के उपयोग करने की निश्चित

सीमा स्वीकार करनी होती है जो वह यथाशक्ति न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर मर्यादाएं ग्रहण करता है। पांचवें अणुव्रत के अनुसार खेती की जमीन, वस्तु सामग्री, सोना-चांदी, धन सम्पत्ति, अनाज आदि, नौकर-चाकर, पशु घोड़ा, गाय, भैंस आदि सबका परिमाण निश्चित किया जाता है और उसका यथाशक्ति पालन किया जाता है। यदि उस पालन में दोष लगे तो उसके लिए प्रायश्चित्त भी किया जाता है। इसी प्रकार सातवें अणुव्रत के अनुसार उपभोग (एक बार उपयोग में आने वाले पदार्थ भोज्य आदि) तथा परिभोग (बार-बार उपयोग में आने वाले पदार्थ वस्त्र आदि) की सामग्री की भी सीमा बांध कर मर्यादा ली जाती है जिसमें छोटी-मोटी वस्तुओं जैसे दतौन, उबटन, मुखवास तक शामिल हैं। कुल 26 प्रकार के पदार्थ लिये गये हैं। इस मर्यादा निर्धारण के दो उद्देश्य हैं-एक तो अंतर की आसक्ति घटती जाए और दूसरा बाहर की, एक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सामग्री अपने पास नहीं रखेगा, जिससे उसका विकेन्द्रीकरण होगा और सब उन सामग्रियों को यथोचित मात्रा में प्राप्त कर सकेंगे और सम वितरण हो सकेगा। महावीर का इस रूप में संविभाग का दर्शन अर्थशास्त्र का मार्गदर्शक सिद्धान्त है-जो न्यायपूर्ण दृष्टि से वितरण नहीं करता और बांटने में आनंद का अनुभव नहीं करता, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता (**असंविभागी असंगरुई...अप्पमाण भोई से तस्सिए नाराहए वयमिणं**, प्रश्न व्याकरण सूत्र, 2-3)। महावीर का अर्थशास्त्र अर्थोपार्जन की मना नहीं करता, वह मर्यादा की बात करता है, विसर्जन की बात करता है और अपरिग्रहवाद की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह अर्थशास्त्र मनुष्य की अन्तरात्मा में झांकता है तथा स्वेच्छिक त्याग को प्रोत्साहित करता है। यह अर्थशास्त्र जीवन की पूर्णता का विधान है जो अहिंसक जीवनशैली से प्राप्य है। इस अर्थशास्त्र का आधार बिन्दु यह है कि इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं अत: उनकी पूर्ति संभव नहीं, जो प्रयास संभव है वह है इच्छाओं का न्यूनीकरण, पदार्थों की मर्यादाओं का ग्रहण तथा पूर्ण अपरिग्रह का वरण। असीमित इच्छाओं तथा शान्ति के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से संविभाग नये अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

3. सीमित स्वामित्व : सादा जीवन-उत्पादन तथा वितरण के सन्तुलन को निबाहने के लिए एक यह प्रयोग भी किया जाना चाहिए कि व्यक्तिगत स्वामित्व का दायरा बहुत छोटा हो ताकि संग्रह की नौबत ही पैदा न हो। दूसरे, संग्रहवृत्ति के अभाव में जीवन की सादगी की ओर रुचि बढ़ेगी तथा सादा जीवन, उच्च विचार की उक्ति चरितार्थ हो सकेगी। किन्तु ये सारे परिवर्तन उचित रूप से व्यक्ति एवं समूहों के चरित्र निर्माण तथा विकास पर निर्भर करेंगे। चरित्र के अभाव में कुछ भी संभव नहीं।

सामाजिकता हजार जिह्वाओं से बोले, पर मूल जिह्वा एक हो :

विश्व को एकता के सूत्र में बांधने के लिए उसकी बहुआयामी विविधताओं का गला नहीं घोंटा जा सकता है, बल्कि ऐसी व्यवस्था अपेक्षित रहेगी कि सभी प्रकार की विविधताएं फले-फूलें, किन्तु उन सबके बीच ऐसा तालमेल भी हो कि वह विविधता एकता की प्रतीक भी बने। यों कहें कि सामाजिकता चाहे हजार जिह्वाओं से बोले, लेकिन मूल जिह्वा एक होनी चाहिए-मौलिक स्वर तो एकता का स्वर ही होना चाहिए।

अकेले देश भारत में ही जब अनेक भाषा-बोलियां, वेशभूषा, रीति-रिवाज, धर्म-मजहब, जीवनशैलियां, व्यवहार प्रणालियां मौजूद हैं तो पूरे विश्व में तो इन प्रकारों की संख्या कई गुनी होगी। भारत का इतिहास और वर्तमान वातावरण आश्वस्त करता है कि इन बहुविध विविधताओं की सुरक्षा भी हो रही है तो मूल में राष्ट्रीय एकता का भाव भी प्रबल है। इसी प्रकार बहुसंस्कृतिवाद की अवस्था का भी विश्वस्तरीय तालमेल बैठ सकता है। इसके लिए आवश्यकता होगी तो ऐसे भावनात्मक परिवर्तन की कि विश्व का प्रत्येक नागरिक विश्व परिवार का सदस्य है तथा उसे प्रत्येक समस्या का समाधान पारिवारिक दृष्टिकोण से ही खोजना होगा। मानव चरित्र को इसी रूप में विकसित करना होगा कि समूची मानव जाति की एकता के आधार पर परस्पर में सहानुभूति, स्नेह तथा सहयोग के सूत्र जुड़े।

मानव मन में एकता, समता तथा एकरूपता की चाह सदा से रही है। उसका यह सपना भी रहा है कि उसकी यह चाह विश्वव्यापी स्वरूप ग्रहण करें। इस कारण वह कई बार ऐसी आशंकाओं से भी घिरता रहा है कि सब ओर बढ़ती हुई विविधताओं तथा फैलते हुए विरोधाभासों से कहीं विश्व एकता का सपना भंग न हो जाए। कभी-कभी उसकी मान्यता बन जाती है कि इन भिन्नताओं के कुप्रभाव से धर्म, विज्ञान, भाषाएं, साहित्य, कला और राष्ट्र तक जैसे खिड़कियों की कोठरी में बन्द हो गये हैं और उनका विकास अवरुद्ध हो गया है। उसे यह भी लगता है कि लोगों के दिमागों में अलगाव की भ्रान्तियां, अज्ञान, विद्वेष, असहिष्णुता, घृणा आदि की विकृतियां पनप रही हैं जो एकता के लिए शुभ लक्षण जैसा कि सोचा जाता है। उसके सिवाय कई कारणों के आधार पर बन रहा वातावरण इस सोच को बेबुनियाद भी साबित कर रहा है। भारत में तो ऐसा दृष्टिकोण प्रत्यक्षत: ही दिखाई दे रहा है। यहां विविधता में एकता का प्रयोग काफी अंशों तक सफल रहा है तथा इस विधि का कार्यान्वयन बड़े पैमाने पर करके भी सफलता अर्जित की जा सकती है। इस देश में भी इस प्रयोग को जारी रखा जाना चाहिए। यह प्रयोग असामान्य है कि भारत अनेक जिह्वाओं से, स्वरों से तथा समुदायों की आवाजों से बोलता है और फिर भी एकता की मूल ध्वनि सर्वत्र प्रसारित है। बहुसंस्कृतिवाद का सिद्धान्त ही एकता की सफलता की गारंटी बन सकेगा। ऐसी एकता जिसमें सभी अपनी-अपनी संस्कृतियों का अनुसरण भी करते रह सकेंगे।

इसके उपरान्त भी यह मान लेना भूल होगी कि एकता से संबंधित आशंकाओं से डरने की जरूरत नहीं है। कारण, अभी भी कुछ सशक्त वर्ग ऐसे हैं जिन्हें कट्टरपंथी कहा जा सकता है। ये वर्ग बहुसंस्कृतिवाद के विरुद्ध हैं और अपनी एक ही संस्कृति, एक ही भाषा और एक ही धर्म का फैलाव चाहते हैं। राष्ट्रीयता के प्रति कट्टरता भी इन वर्गों में है और कट्टरता सर्वत्र एकता की शत्रु होती है। एकता सबको साथ लेकर चलना चाहती है, वहां कट्टरता मनुष्य को अलग-अलग संघर्षशील गुटों में बांट देती है। ये गुट एकता के बाधक बने रहते हैं। अत: सर्वत्र कट्टरता को सहयोगिता में बदलना बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य होगा। वर्तमान समय की मांग है कि सभी प्रकार की विविधताओं की सुरक्षा की जाए, उन्हें फलने-फूलने का अवसर दिया जाए, किन्तु कट्टरता से बनाई गई उनकी अन्तर्द्वन्द्व की वृत्ति को स्नेह और सहयोग से समाप्त कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सहकारी

बनाया जाए। यह जरूर है कि बनावटी आधारों पर जुड़ाव होने से वैसी विविधता प्राणवान् नहीं बन सकेगी। उसकी पृष्ठभूमि वास्तविक होनी चाहिए।

चरित्र निर्माण तथा विकास का दौर इस मोड़ से गुजरना चाहिए कि मनुष्य जाति की एकता तथा मानवीय मूल्यों की गुणवत्ता का आदर्श सर्वोपरि रहे और उस आदर्श की छांव में ही सभी प्रकार की विविधताएं विविध होकर भी एकता की जड़ों को मजबूत करें। अत: यह कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि विविधताओं से भरी सामाजिकता को हजार जिह्वाओं से बोलने दो, विचार प्रकाशन को रोको मत, किन्तु जिह्वा का आदर्श सम्मुख रहे।

चरित्र सम्पन्नता का लक्ष्य बने विश्वस्तरीय चरित्र का गठन :

समाज आज जिन विषम परिस्थितियों से गुजर रहा है, समाज विरोधी कुकृत्यों का जाल फैल रहा है, भ्रष्टाचार, अपराध और अव्यवस्था सबको दु:खी बना रही है और जिस प्रकार समाज का एक बहुत बड़ा भाग गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, बेरोजगारी आदि बुराईयों से जूझ रहा है, इन सबके मूल में चरित्रहीनता ही मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं। चारों ओर सामूहिक चरित्र का अभाव सा दिखाई देता है क्योंकि व्यक्ति ही चरित्रशील नहीं बन रहा है। वास्तव में जब सामूहिक (परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व आदि) चारित्र का अभाव होने लगता है तो वह स्थिति विकास के लिए घातक बन जाती है। व्यक्ति की चरित्रहीनता के कारण सामूहिक चरित्र का विकास नहीं हो पाता है और उसके बिना कहीं भी नवनिर्माण की संभावनाएं धूमिल पड़ जाती है।

चरित्र की सामान्य व्याख्या करे तो यही होगी कि आपका जीवन जिस रूप में दिखाई देता है और कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से जिस रूप में दिखाई देना चाहिए वह वास्तव में अन्दर से भी वैसा ही हो–उसमें दोहरापन न हो। फिर आचरण की सीमा में सभी प्रकार की मर्यादाओं का पालन किया जाए जो सर्वत्र अनुशासन के लिए आवश्यक होती है। आप अपनी दिनचर्या में, धन कमाने में, परस्पर व्यवहार करने में उन सामाजिक मर्यादाओं का पालन करते हैं जो नीति द्वारा निर्धारित है तो वह सामान्य चरित्र का रूपक हो जाएगा। सामूहिक चरित्र का विकास तभी हो सकेगा, जब व्यक्ति पहले अपने जीवन को चरित्र सम्पन्न बनाने का प्रयास करेगा। व्यक्ति के जीवन में आज जो चरित्रहीनता दिखाई दे रही है उसका यह कारण है कि व्यक्ति अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य निर्धारित नहीं कर पाता है और कहीं कहीं निर्धारण होता भी है तो उसकी गति स्थिर नहीं रहती। उद्देश्यहीनता चरित्र सम्पन्नता को पनपने ही नहीं देती है। उद्देश्यहीन व्यक्ति का चरित्र उसके परिवार के लिए सहायक नहीं बनता, अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह नहीं करता तो राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के पालन से भी उपेक्षित हो जाता है। व्यक्ति से समाज की रचना बनती है। व्यक्तिगत चरित्र यदि समृद्ध बन जाता है, समता के धरातल पर ममता के बंधनों को शिथिल बना देता है तो उस चरित्र का सुप्रभाव अन्य व्यक्तियों पर पड़े बिना नहीं रहता है। यों जब अनेक चरण शुभता की ओर चल पड़ते हैं तो वे विश्व संगठन को भी एकता के सूत्र में आबद्ध कर सकते हैं।

चरित्र सम्पन्नता से ही गुणों का विकास होता है, समाज में न्याय की स्थापना होती है तथा विश्व

का भी एकता के आधार पर नव निर्माण किया जा सकता है। आज अलग-अलग राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, सभ्यता, भाषा, रहन-सहन आदि विभेदों वाले विभिन्न वर्गों युक्त इस विश्व समाज में जो एकता और एकरूपता लाने के प्रयास चल रहे हैं, उनके पीछे एक ही दृष्टिकोण है और एक ही दृष्टिकोण रहना चाहिए और वह है मानवता का दृष्टिकोण। इसी मानवता से और तदनुरूप चारित्रिक सम्पन्नता से विश्व स्तर तक न्यायपूर्ण समाज गठित किया जा सकेगा जिसका उद्देश्य होगा कि किसी भी नाम पर होने वाले मनुष्य और मनुष्य के बीच के अन्याय की सारी कड़ियां तोड़ दी जाए और ऐसी न्यायपूर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो जिसके अन्तर्गत न्याय सम्पन्न परिवार की तरह विश्व के सभी नागरिक शान्ति से रहे, सुख से जिएं और एक-दूसरे के मददगार बनें।

इस लक्ष्य को पाने के लिए समाज में आज प्रचलित नियमों को दो वर्गों में बांट कर समझना होगा। एक तो है शोषण का नियम (लॉ ऑफ एक्सल्पोइटेशन) जिसमें '**जीवो जीवस्य भक्षणम्**' का रंग-ढंग दिखाई देता है कि किसी अन्य की कुछ भी हानि (प्राण-हानि तक भी) हो तब भी अपना काम बना ही लेना चाहिए। इसके विपरीत नियम होता है जो मानवता के लिए स्वाभाविक भी है, वह है त्याग-बलिदान का नियम (लॉ ऑफ सेक्रीफाइस) जिसमें '**जीवो जीवस्य रक्षणम्**' के अनुसार अपने स्वार्थों से ऊपर उठ कर परहित करने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। समाज का सदस्य यानी कि व्यक्ति उपलब्ध चरित्र और वातावरण के अनुसार इस या उस नियम में ढलता है, किन्तु आवश्यकता इस प्रयास और चरित्र विकास की है कि त्याग-बलिदान का नियम लोगों के मन में जमे और परिवार से लेकर विश्व तक के सभी समूह इस प्रकार की चरित्र सम्पन्नता से विभूषित होकर सर्वत्र समतामय एकता की स्थापना का शंखनाद कर दें। यों चरित्र का निर्माण व विकास भी आज विश्व स्तरीय ही होना चाहिए।

◆◆◆

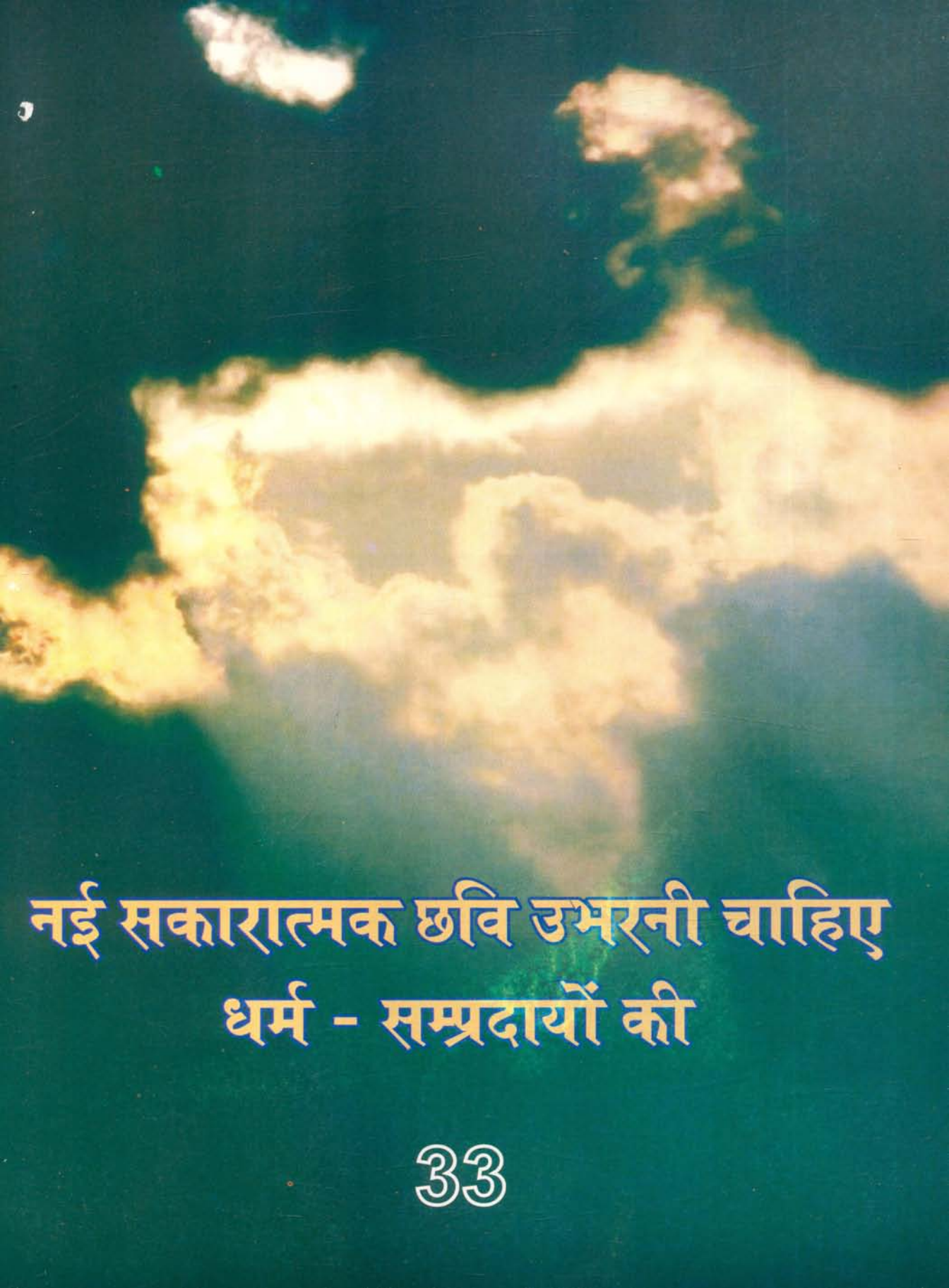


नई सकारात्मक छवि उभरनी चाहिए धर्म-सम्प्रदायों की

धर्म व सम्प्रदाय में प्रगतिशीलता की जरूरत

पदाघात-इस जैन कथा का यही शीर्षक ठीक रहेगा। पदाघात का अर्थ है-पांवों के टकराने से शरीर पर लगने वाली चोट। दीक्षा लेने के बाद पहली रात में मुनि मेघकुमार को पदाघात का कटु अनुभव हुआ-उससे वे विह्वल हो उठे, बल्कि मन ही मन सोच लिया कि सुबह उठने के बाद वे अपने पात्र आदि भगवान् महावीर को सौंप देंगे और दीक्षा छोड़ कर पुनः अपने राजमहल में चले जाएंगे।

महाराजा श्रेणिक और रानी धारिणी के पुत्र राजकुमार मेघ की कथा गहराई से समझने योग्य है। गर्भ में थे तब रानी को असमय दोहद हुआ कि वे बरसती फुहारों में हाथी पर आरूढ़ होकर बाहर भ्रमण करने जावें। इसी कारण नाम रखा गया-मेघकुमार। किशोरावस्था में ही थे कि भगवान् महावीर की देशना सुनकर विरागी हो गए। देशना समाप्त होते ही भगवान् से अपने चरणों में स्थान देने की उन्होंने प्रार्थना कर दी। भगवान् तो भविष्यवेत्ता थे-क्या होने वाला है, यह सब कुछ जानते थे सो संयत भाषा में ही स्वीकृति दे दी और कहा-'हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, किन्तु धर्म कार्य में विलम्ब न



नई सकारात्मक छवि उभरनी चाहिए धर्म - सम्प्रदायों की

33

करो।' फिर तो राजकुमार ने माता-पिता को भी मना लिया और भगवान् के समीप दीक्षित हो गए।

पदाघात से क्यों कर विह्वल हुए मेघ मुनि? नवदीक्षित होने से वे सबसे छोटे मुनि थे, इस कारण उनकी पतली सी पथारी को वरिष्ठ सन्तों की लम्बी पंक्ति के एकदम अन्त में निकास द्वार के पास ही में स्थान मिला। कहां तो महल की सुख सज्जा और पलंग पर मोटे रेशमी गद्दों पर सोने वाले राजकुमार मेघ और कहां दीक्षा की पहली रात में पतली सी पथारी पर सोए मेघ मुनि? उस पर निरन्तर हो रहे पदाघात-वे विह्वल हो उठे। रात भर एक न एक संत निवृत्ति के लिए बाहर जाता-आता रहा और अंधेरे के कारण निकास द्वार के पास सोए मेघ मुनि के शरीर से उनका पांव टकरा ही जाता। वे 'क्षमा' कहकर आगे बढ़ जाते, किन्तु मेघ मुनि तो मन मसोस कर रह जाते और मन ही मन कुढ़ते रहते। पूरी रात पदाघात सहते-सहते ही बीती-पल भर को भी पलक नहीं झपक सकी। वे घबरा गए कि ऐसा कष्टमय होता है यह साधु जीवन? उन्होंने सोच लिया कि वे यह सब कुछ सहन नहीं कर पाएंगे।

तनिक से पदाघातों ने मेघ मुनि के हृदय की पूत भावनाओं को दबा दिया-उनका चित्त भ्रांत होने लगा। असह्य कष्ट की व्याकुलता तथा महलों की सुखभरी याद के साथ वे भगवान् के समक्ष चले गए और आवेश में अपने कष्टानुभव का तीव्रता से वर्णन करने ही वाले थे कि भगवान् ही पहले बोल पड़े-क्यों मेघ मुनि! रात्रि में लगे हल्के पदाघातों से ही घबरा कर दीक्षा त्याग के लिए आ गए हो? मेघ मुनि स्तब्ध-अब क्या कहें भगवान् को, उन्हें लज्जा-सी अनुभव होने लगी कि क्या उनमें वीरता का भाव नहीं रहा सो ऐसी विह्वलता आ गई? पश्चात्ताप का भाव जैसे उनके मन-मानस पर छाने लगा। तब वे व्यथित से खड़े ही रहे, कुछ भी बोल नहीं पाए। फिर भगवान् ही बोले-'मन को शान्त करो मेघ! कष्ट सहिष्णुता ही सच्ची आत्म-साधना होती है। जब तक शरीर का मोह मौजूद रहेगा, आत्मा की ओर दृष्टि अंचल कैसे बनेगी? और तुमने तो ऐसा कष्ट समझते-बूझते इतनी शान्ति से सहा था कि तुम्हारा प्राणान्त ही हो गया और सन्तों के मामूली से पदाघातों पर भी इतना आक्रोश?' मेघ मुनि अपलक भगवान् के आभा मंडल को निहारते रहे। भगवान् ने उन्हें उनके ही पूर्व जन्म की कहानी सुनाई-मेघ कुमार का जीव पहले के जन्म में एक हाथी के रूप में था। अपनी विशालता और शक्ति के उपरान्त भी वह छोटे से छोटे प्राणी को भी कभी सताता नहीं था-बड़ा दयालु था। एक बार उस वन में दावाग्नि लगी-वह पूरे वन प्रदेश में फैल गई। वन के सभी छोटे-बड़े प्राणी अपने प्राण बचाने केलिए बाहर भागे। वह हाथी भी भागा। सभी प्राणी एक मैदान में जमा हुए-कहीं तिल तक रखने की जगह नहीं बची। उस समय हाथी को पेट पर खाज होने लगी तो वह एक पैर उठा कर खाज करने लगा। इतने में एक खरगोश, जिसे कहीं भी जगह नहीं मिली थी, हाथी के पैर से खाली हुई जगह पर आकर जम गया। अब वह दयालु हाथी अपना उठाया हुआ पैर फिर से यथास्थान पर रखे तो कैसे? वह बड़े असमंजस में पड़ा, किन्तु अन्ततः निश्चय किया कि अपने सुख के लिए वह खरगोश के प्राण नहीं लेगा। वह पूरी रात तीन पैरों पर ही खड़ा रहा। प्रातः अग्नि के शान्त होने से सब प्राणी वहां से चले गए, किन्तु गहरी थकान से वह हाथी बेसुध होकर नीचे गिर पड़ा और शान्त मरण को प्राप्त हो गया। वही हाथी नये जन्म में राजकुमार मेघ के रूप में उत्पन्न हुआ।

मेघ मुनि अपने ही पूर्व जन्म की कथा सुनकर विचार मग्न हो गए-सन्तों के चरण तो कमल रूप होते हैं उनका कैसा पदाघात, वे इतने से कष्ट से क्यों विह्वल हो गये जबकि खरगोश की जीवन रक्षा हेतु उन्होंने पदाघात नहीं किया और ऐच्छिक मरण का चयन किया। भावों की उत्कृष्टता ने उनके चंचल मन को संयम में सदा के लिए सुस्थिर बना दिया।

कथा सार इस रूप में ग्रहण किया जा सकता है कि बिगड़ा हुआ मन बिगड़े हुए घोड़े की तरह हो जाता है और वह आसानी से नहीं सुधरता-उसे पदाघात की आवश्यकता होती है। पदाघात से भ्रमित-चेतना लौटती है और पश्चात्ताप की स्थिति पैदा होती है। वह आत्म-संशोधन की दशा होती है। पदाघात और संशोधन का शायद आपस में गहरा संबंध होता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी न कभी प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आता है। चरित्र निर्माण एवं विकास की रचनात्मक यात्रा में इस सम्बन्ध को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

सच्चा धर्म सदा शुभतामय, पर सम्प्रदाएं भी शुभता की वाहक थी :

सच्चा धर्म सर्व-शुभता का प्रतीक होता है और तदनुरूप आचरण पर बल देता है। चरित्र ऐसी शुभता का व्यापक प्रसार करता है और समाज को शुभतामय बनाता है। चरित्र सच्चे धर्म का अनुसरण करता है, किन्तु सच्चे धर्म के स्वरूप को अन्त:करण पूर्वक समझना चाहिए। आन्तरिकता में जो पवित्र सर्वहितकारी भाव तरंगें उठती है, जागृत चेतना की निर्मल धारा बहती है, मन-मानस में शुद्ध संस्कारों का एक प्रवाह उमड़ता है-क्या वही सच्चा धर्म है? अथवा बाहर में जो हमारा कृतित्व है, क्रियाकांड है, रीति रिवाज है, जीवनशैली के तौर-तरीके हैं-क्या वे धर्म हैं? संक्षेप में हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या बाह्य व्यक्तित्व? व्यक्तित्व के ये दो रूप होते हैं-आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक व्यक्तित्व वह जो वास्तव में हम जैसे अन्दर में होते हैं-उस 'होने' से निर्मित होता है और बाह्य व्यक्तित्व वह जो हम जैसा बाहर में करते हैं-उस 'करने' से निर्मित होता है। प्रश्न यह है कि 'होना' और 'करना' इनमें धर्म कौनसा है यानी कि व्यक्तित्व का कौनसा रूप धर्म है? सच पूछे तो 'होना' और 'करना' में बहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं, क्योंकि आन्तरिक व्यक्तित्व को सही-सही वे ही समझ सकते हैं जो निकट सम्पर्क में हों और गुणी व विवेकशील भी हों। परन्तु बाहरी व्यक्तित्व को समझ लेना उतना कठिन नहीं। सामान्य व्यक्ति भी बाहर के क्रियाकलापों से अपना निष्कर्ष निकाल लेता है। उसका निष्कर्ष बाहरी ही होता है अत: बाहर के व्यक्तित्व को ही सामान्य रूप से समूचा व्यक्तित्व मान लिया जाता है तथा उसके ही आधार पर धर्म का स्वरूप भी निर्धारित हो जाता है। आशय यह कि आज बाहरी व्यक्तित्व मात्र ही हमारा धर्म बन रहा है। यह स्थिति विडम्बना पूर्ण है।

विचार करें कि आन्तरिक व्यक्तित्व और बाह्य व्यक्तित्व में क्या अन्तर है? मोटे तौर पर समझें कि आन्तरिक आत्मा है और बाह्य है शरीर, शरीर में आत्मा रहेगी तभी वह जीवन्त कहलायेगा, वरना मृत शरीर का क्या मूल्य है-यह सभी जानते हैं। जितना जिसका आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व एकरूप होगा, वह उतना ही निष्कपट और सरल होगा। इसके विपरीत जिसका अन्तर बाह्य भिन्न-भिन्न होगा, वह उतना ही कपटी और धूर्त होगा। अब प्रश्न यही है कि किसी भी व्यक्ति को सामान्य

लोग उसके बाह्य व्यक्तित्व से ही जान पाते हैं, फिर सही व्यक्तित्व की परख कैसे हो? धूर्त व्यक्ति के भीतर स्वार्थ का कपट जाल होता है, लेकिन बाहर में वह वैसा अभिनय कर सकता है जैसे कि उसके जैसा ईमानदार दूसरा नहीं। एक बार ऐसा अभिनय चल सकता है, लेकिन हमेशा नहीं चलता- भीतर का विकार बाहर फूटे बिना नहीं रहता और जब फूटता है तो सारा भंडाफोड़ हो जाता है। इस कारण वास्तविकता यही माननी चाहिए कि जो कुछ व्यक्ति का आन्तरिक व्यक्तित्व है, वही उसके चरित्र की और धर्म की कसौटी है। सच्चा धर्म हृदय में रहता है और वह बाहर प्रकट हुए बिना नहीं रहता। असल नकल का खेल कुछ वक्त के लिए चल सकता है, हमेशा के लिए नहीं। इसलिए परख बुद्धि की धार को सदा तीक्ष्ण बनाए रखना चाहिए।

सच्चे धर्म का दर्शन करने की जिनकी जिज्ञासा हो, उन्हें सारे बाहरी आवरणों को हटा कर भीतर में झांकना होगा, क्रियाकांडों की बाह्य भूमिका से ऊपर उठ कर मन को आन्तरिक भूमिका तक चलना होगा। तब स्पष्ट होगा कि धर्म तो एक अखण्ड, शाश्वत और परिष्कृत विचार है और हमारी विशुद्ध आन्तरिक चेतना है। मुक्ति उसे ही मिल सकती है, जिसकी साधना समभाव से परिपूर्ण है। जो दुःख में भी और सुख में भी सम है, निर्द्वन्द्व है, वीतराग है-वही है धर्मनिष्ठ। लोग वर्षा के समय बरसाती ओढ़ कर निकलते हैं, कितना ही पानी बरसे, वह भीगती नहीं, गीली नहीं होती और पहिनने वाले को पानी से बचाती है, फिर पानी बह गया और बरसाती सूखी की सूखी। समता के साधक का मन भी बरसाती के समान हो जाता है। सुख का पानी गिरे या दुःख का-मन को भीगना नहीं चाहिए-यही धर्माराधना है और यही समता की साधना है। यही द्वन्द्वों से अलिप्त रहने की प्रक्रिया है और यही वीतरागता की उपासना है। यही वीतरागता हमारी शुद्ध अन्तश्चेतना है और यही हमारा धर्म है। यही धर्म भीतर पलता है और बाहर फलता है। इस सच्चे धर्म में केवल शुभता है- सबका शुभ चाहने की भावना है और सबके लिए शुभ ही करने की कामना है। ऐसे धर्म में विवाद और संघर्ष कैसे हो सकता है? इसका तो जिसको भी स्पर्श मिलेगा, वह धन्य हो जायेगा-'स्व' को भूल कर 'पर' के शुभ में इतनी तल्लीनता से निमग्न हो जाएगा कि जब तक उसका चरित्र उत्कृष्टता के शिखर तक न पहुंचे, वह समता की साधना में निरत रहेगा।

यह सच है कि सच्चा धर्म सर्वथा और सदा शुभतामय ही होता है और सच यह भी है कि इसी शुभता की वाहक बन कर सम्प्रदायों ने प्रारम्भ में शुभता के साध्य को ही फलीभूत करने के प्रयास किए। सम्प्रदाय का अर्थ है समान रूप से देना। सम्प्रदाय क्या देने के लिए बनी और वह क्या वस्तु थी जो उन्हें सबको समान रूप से देनी चाहिए थी? धर्म का एक सन्देश रहा है कि अपना ऐसा चरित्र गठित करो जो सबके लिए शुभ हो, शुभता देने वाला हो। इसी सन्देश को विभिन्न सिद्धान्तों का पुट देकर सभी धर्म प्रवर्त्तकों ने बार-बार गुंजाया है और इसी सन्देश को व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में उतारने का दायित्व सम्प्रदायों ने उठाया कि वे शुभता-सन्देश समान रूप से व्यक्ति-व्यक्ति को दें, समूह-समूह को दें और सारी व्यवस्था में उसका समावेश करावें। सम्प्रदाएं यथार्थ में सच्चे धर्म की ही वाहिकाएं थीं, जो प्रवर्त्तक के जन-प्रभाव को बनाए रखकर धर्म की ज्योति को जलाए रखती थी ताकि सामान्य जन के समक्ष विकास का मार्ग स्पष्ट रहे।

सम्प्रदायों की सम्प्रदायता में कई कारणों से जब आशय की भिन्नता उभरने लगी, तब उनकी निर्देशित क्रियाओं में भी भिन्नता झलकने लगी। फिर भी यह माना जाता रहा कि सम्प्रदायों की भिन्नताओं के बीच में भी यदि व्यक्ति की दृष्टि और कृति सत्यमय बन गई है तो कोई भी सम्प्रदाय उसके विकास में बाधक नहीं बन सकेगी। यह मान्यता उस अवस्था में थी जब व्यक्ति धर्म और सत्य का पारखी था। इसी पर तो भगवान् महावीर ने अपने श्रावक-श्राविका समुदाय को साधु-साध्वी समुदाय का माता-पिता (**अम्मा-पियरो**) कहा। क्यों ऐसा कहा? इस कारण कि साधु-साध्वी भी यदि कहीं मार्गच्युत हो तो श्रावक-श्राविका उन्हें सावचेत करें और मार्ग भ्रष्ट न होने दें। यह निम्न श्रेणी का साधक होने पर भी श्रावक-श्राविका समुदाय की योग्यता एवं परीक्षा बुद्धि का विश्वास था कि वह अपने से ऊपर की श्रेणी के साधकों के चरित्र पर भी निगाह रखें। जब तक विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों में ऐसी योग्यता और परीक्षा बुद्धि रही, तब तक न तो सम्प्रदायों का उद्देश्य चलित हुआ और न ही वे सच्चे धर्म का प्रचार-प्रसार करने से विमुख बनी।

क्यों गिरी सम्प्रदाएं अपने दायित्वों से और क्यों अशुभता की कारण बनीं?

शुभत्व भी भाव है और अशुभत्व भी भाव ही है, लेकिन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जहां शुभत्व मानव चरित्र का स्वभाव है, वहां अशुभत्व विभाव। अब इन भावों के स्रोत तो अनेक हो सकते हैं, परन्तु दोनों प्रकार के भावों का जन्म स्थल एक ही है और वह है मानव का अन्तःकरण। इसी अन्तःकरण में शुभता की ठंडी बयार भी चलती है तो अशुभता के आंधी-अन्धड़ भी। वही धर्म और वे ही सम्प्रदाएं जो मानव के सर्वहित में संलग्न थी अर्थात् सम्प्रदायों के नायक धर्म के आन्तरिक पक्ष को प्राथमिकता देते थे, उन्हीं के अन्तःकरण में शुद्धता, शुभता और सच्चाई के स्थान पर व्यक्तिगत वर्चस्व, मान-सम्मान आदि के निहित स्वार्थ पनपने लगे यानी कि भावों की अशुभता फैलने लगी। अशुभता से अशुभता फैलती है या फैलाई जाती है। तब इन धर्म नायकों ने अपने अनुयायियों की घेरेबंदी शुरू की, उनमें अन्ध श्रद्धा पनपाई और कट्टरपंथिता पैदा की। यों शुभता का वातावरण मलिन होने लगा। तब आन्तरिक व्यक्तित्व को परखने और मान देने की वृत्ति उखाड़ी जाने लगी तथा बाह्य व्यक्तित्व को ही मानने पर बल दिया जाने लगा। सम्प्रदाएं जिनका क्षेत्र विशाल था और कार्य व्यापक, अब संकुचित होने लगी, क्योंकि वे धीरे-धीरे निहित स्वार्थियों के अधिकार में जाने लगी। बाहरी दिखावा और आडंबर ही धर्म व सम्प्रदायों का आभूषण बन गया। ऐसे में सम्प्रदाएं अपने मूल दायित्वों के निर्वाह में जुटी हुई कैसे रह सकती थी? वे अपने शुभ दायित्वों से गिरने लगी तथा अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने और अपने घेरे में आए अनुयायियों को कट्टर बनाने में जुट गई। जब ये सम्प्रदाएं अपने सही उद्देश्यों से गिरने लगी तो यह होना ही था कि वे अशुभता की कारण बनें। इस प्रकार धर्म को भी शुभता से हटा कर अशुभता के बीहड़ वन में धकेला जाने लगा। इसका नतीजा यह सामने आया कि धार्मिक क्षेत्र में विवाद और संघर्ष बढ़ने लगे तथा रागद्वेष दूर करके वैराग्य और वीतरागता का उपदेश देने वाली सम्प्रदाएं भी राग द्वेष के दल-दल में बुरी तरह फंस गई। वही धर्म, मजहब और वे ही सम्प्रदाएं जो मानव समुदायों को जोड़ा करती थी, अपनी नामवरी की आपाधापी में सब ओर तोड़ने की प्रक्रिया चलाने लगी। हिन्दू-मुसलमानों के बीच

जगह-जगह हुए खूनी दंगों की सबकी याद खत्म नहीं हुई है तो छोटे-मोटे संघर्ष प्रत्येक धार्मिक क्षेत्र में चलते रहे हैं।

विश्व के सभी भागों में जितने भी विवाद उठे हैं, संघर्ष उभरे हैं और मत-पंथों का विस्तार हुआ है, वे सब धर्म में मात्र बाहर के व्यक्तित्व, बाहर के क्रियाकांड और बाहर की ही दृष्टि अपना लेने के कारण ही हुआ है। भारत में ही देखें कि वैदिकों के शैव और वैष्णव मतों, बौद्धों के हीनयान व महायान मतों की भी उपशाखाओं पर उपशाखाएं निकलती गई और विवाद के दायरे बढ़ते रहे। जैनों को ही ले लें-दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में दो टुकड़े हुए और अब एक-एक टुकड़े के दसियों टुकड़े हुए हैं व होते जा रहे हैं। आखिर यह कौनसा जमीन-जायदाद का झगड़ा है, सो मूल शाखाएं भी विभाजित होती गई और नई-नई उपशाखाएं कायम होती रही। मूल में वर्चस्व और कीर्ति की लालसा ही काम करती है, क्रान्तिकारी बदलाव मुश्किल से ही कहीं दिखाई देता है। असल तथ्य यह है कि संसार छोड़ कर संयमी बनने वालों के मन में भी निष्कामता और निस्पृहता का भाव मंद हो गया है और बाह्य आडंबर सबके (अधिकांश के) माथे पर चढ़ कर बोल रहा है।

किसी एक ही धर्म-परम्परा की बात नहीं है, बल्कि जो जो धार्मिक परम्पराएं धर्म के बाह्य अतिवाद से ग्रसित हुई अर्थात् जिनका धर्म विचार सिर्फ बाहर ही में अटक गया तो वहां पर आन्तरिक व्यक्तित्व को संवारने की बात तो बहुत दूर रह गई, भीतर में झांकने की प्रवृत्ति ही समाप्त हो गई। जहां आत्मालोचना नहीं रही, वहां पथ भ्रष्ट न होने का आत्मानुशासन ही कहां बचा? ऐसी धार्मिक संस्थाएं, सम्प्रदाएं आदि भीतर में गिरती गई और भीतर के पतन को नजरन्दाज करने के लिए बाहर में आडम्बरों की धूम मचाई जाने लगी। वैष्णव परम्परा में जब शैव व वैष्णव भक्तों के बीच झगड़े तीखे हुए और सुलझे ही नहीं तो तिलक को तूल दिया गया। कोई सीधा तिलक लगाता है, कोई टेढ़ा, कोई त्रिशूल मार्का, कोई 'यू' मार्का, कोई गोल बिन्दु और तिलक को मुक्तिदाता बना दिया। तिलक लगाया तो दुराचारी भी मुक्ति पा लेगा और नहीं लगाया तो सदाचारी भी बाहर रहेगा। सोचने की बात है कि धर्म सिर्फ बाहर में रख दिया गया और भीतर को वीरान बना दिया. धर्म के पोंगापंथियों में। गुरु के स्थान पर गुरुडम रह गया और सावचेत अनुयायियों के स्थान पर अंधश्रद्धालु भक्त। बौद्ध परम्परा में भिक्षु को चीवर धारण करने का विधान है-चीवर का अर्थ है फटा पुराना सिला हुआ वस्त्र यानी कि कंथा। अब परम्परा का पालन कैसे होता है कि एकदम नये रेशमी वस्त्र के टुकड़े किए जाते हैं और उन टुकड़ों को सिल कर चीवर बनता है। ये सब धर्म को बाहर से देखने वाली परम्पराएं बन गई हैं। ये बाहरी क्रियाओं को, रीति रिवाज, पहिनावे और बनाव को ही धर्म समझ बैठी हैं, ये सब तो एक प्रकार की सभ्यता अथवा कुलाचार की मात्र प्रतीकात्मक बाते हैं। बाहर में क्या किया जाता है, उससे सच्चे धर्म का कदापि मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। धर्म को बाहर से अटका देने के कारण ही धर्म और सम्प्रदाएं अशुभता की कारण बन गई।

बाहर की भूल-भुलैया से निकल कर सकारात्मक छवि बनाने की जरूरत :

जब भीतर से धर्म निकल जाता है और वह सिर्फ बाहर में ही अटक जाता है तो निश्चय है कि वातावरण में जडता, अंधता और कट्टरता का फैलाव हो जाता है। आम लोग तब भेड़चाल में चलते

हैं और निहित स्वार्थी उनके नेता बन कर उनको मनचाही दिशा और गिरावट की दशा में हंकालते रहते हैं। ऐसे में बाहर की भूल-भुलैया में किंकर्त्तव्यमूढ़ता फैल जाती है, कोई साध्य या कर्त्तव्य निश्चित नहीं हो पाता है तथा समूचे जीवन की व्यवस्था में नकारात्मक शून्यता पसर जाती है। तब भीतरी धर्म को खोजने अथवा वस्तुओं के सत्य स्वरूप का ज्ञान करने में सच्चे साधक को भी ऐसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जिनसे विरोधाभासों का जन्म हो जाता है और भ्रान्तियां बढ़ जाती है। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद का कथन है-वस्तुओं का सत्य स्वरूप क्या है, यह जानने के लिए हम चाहे किसी दिशा में झुकें, गंभीर चिन्ता करने पर हमें दिखाई यही देगा कि अन्त में हम वस्तुओं की एक ऐसी अजीब अवस्था पर आ पहुंचते हैं, जो विरोधात्मक-सी प्रतीत होती है। हम उस अवर्णनीय धर्म को जा पहुंचते हैं, जो बुद्धि से ग्रहण तो किया नहीं जा सकता, परन्तु फिर भी सत्य है। हम ज्ञान प्राप्ति के लिए एक वस्तु लेते हैं, हम जानते हैं कि वह सान्त है, लेकिन ज्योंही हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं, वह हमें एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है जो बुद्धि के अतीत है। उसके गुणधर्मों का, उसकी संभवनीय अवस्थाओं का, उसकी शक्तियों और उसके सम्बन्धों का हम अन्त नहीं पा सकते। वह अनन्त बन जाती है। ...यही विचारों और अनुभवों के विषय में सत्य है, चाहे वह अनुभव भौतिक हो या मानसिक। आरंभ में हम वस्तुओं को छोटी समझ कर ग्रहण करते हैं, लेकिन शीघ्र ही वे हमारे ज्ञान को धोखा दे देती है और अनन्त के गर्त में विलीन हो जाती है। हमारे स्वयं के अस्तित्व के बारे में भी ऐसा ही है। हमारे इस अस्तित्व के विषय में भी वह विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि हमारा अस्तित्व है। हम देखते हैं कि हम शान्त जीव हैं। हम जन्म लेते हैं और हमारी मृत्यु होती है। हमारे जीवन का क्षितिज परिमित है। हम इस विश्व में मर्यादित अवस्था में विद्यमान है। ...हम समुद्र में उठने वाली लहरों के समान हैं। लहर समुद्र से बिल्कुल ही पृथक् नहीं है, फिर भी वह स्वयं समुद्र नहीं है, लेकिन लहर का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है, जिसे हम ऐसा कह सके कि यह समुद्र नहीं है। 'समुद्र' यह अभिधान उसे तथा समुद्र के प्रत्येक अंग को समान रूप से लागू है। इस प्रकार जब तक बाहर के धर्म को भीतर के धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किया जाएगा, तब तक भ्रान्तियां उठती रहेगी और सत्य स्वरूप का निर्णय संभव नहीं रहेगा। आज की यही पुकार है कि अब धर्म और सम्प्रदायों की नई, सकारात्मक छवि उभरनी चाहिए। इन्हें शायद पदाघात की सख्त जरूरत है।

कैसी होनी चाहिए धर्म और सम्प्रदायों की नई सकारात्मक छवि? कृति, विकृति और प्रतिकृति का क्रम चलता रहता है, तदनुसार आज की विकृति को समाप्त करने के लिए प्रतिकृति के चरण की ओर बढ़ना होगा, जिसका मूल अभिप्राय यही होता है कि युगानुसार परिवर्तनों को अपनाते हुए कृति के मौलिक सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना की जाए। आज धार्मिक क्षेत्र में विकृतियां फैल गई हैं, किन्तु धर्म के संबंध में प्राचीन काल से गहन चिन्तन होता आया है तथा उसे समत्व के रूप में सर्वशुभदायक मार्ग माना गया है। ऋषियों, आचार्यों, सन्त-संन्यासियों ने धर्म पर मनन भी किया और आचरण भी तथा साधना से सर्वहितकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जैनाचार्यों ने धर्म के दो रूप बताए हैं- निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म। वस्तुत: धर्म दो नहीं होते, एक ही होता है। किन्तु धर्म का वातावरण तैयार करने वाली तथा उस प्रकार की साधन सामग्रियों को भी धर्म की परिधि में लेकर उसके दो

रूप बना दिये हैं। व्यवहार धर्म का अर्थ है-निश्चय धर्म तक पहुंचने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला धर्म। साधना की उत्तरोत्तर प्रेरणा जगाने के लिए और उसका अधिकाधिक प्रशिक्षण लेने के लिए व्यवहार धर्म की आवश्यकता है। यह एक प्रकार का विद्यालय है। विद्यालय ज्ञान का दावेदार नहीं होता किन्तु ज्ञान का वातावरण जरूर निर्माण करता है। विद्यालय में आने वाले के भीतर प्रतिभा है तो वह विद्वान् बन सकता है, ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर सकता है, लेकिन निराबुद्धु तो वहां भी वैसा का वैसा ही रहेगा। विद्यालय में यह शक्ति नहीं कि किसी को विद्वान् बना दे। यही बात व्यवहार धर्म की है। बाह्य क्रियाकांड किसी का कल्याण करने की गारंटी नहीं दे सकता जिसके अन्तःकरण में अंशतः ही सही, निश्चय (आन्तरिक) धर्म की जागृति होगी, उसी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। वर्तमान परिस्थितियों में हमारे जीवन में निश्चय धर्म अर्थात् आन्तरिक व्यक्तित्व की साधना जागनी चाहिए। कोरे व्यवहार धर्म के कारण जो विकट विवाद, समस्याएं और नकारात्मक रुख मुंह बांए खड़ा हैं, उनका समाधान केवल निश्चय धर्म की ओर उन्मुख होने से ही हो सकता है। निश्चय धर्म को सकारात्मक रूप में ढाल कर न सिर्फ धर्म की, बल्कि सम्प्रदायों की भी नई छवि का निर्माण किया जा सकता है जो ऐसे मानव चरित्र का गठन करेगी जिसके द्वारा चरित्र की सुधारात्मक शक्ति को विश्व स्तर तक प्रभावात्मक बनाई जा सकेगी।

आज का धार्मिक जीवन उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन विविध समस्याओं से घिरा है, राजनीतिक जीवन भ्रष्टता के तनावों से अशान्त है, इन और अन्यान्य सभी समस्याओं का समाधान तभी संभव है जब व्यक्तिगत एवं समूहगत जीवन में विषमताओं एवं विकृतियों का अन्त हो तथा अनासक्ति के साथ समतापूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का समुचित विकास हो अर्थात् चरित्र विकास की श्रेणियों में आगे बढ़ते हुए आन्तरिक व्यक्तित्व की सुदृढ़ रचना की जाए तथा बाह्य व्यक्तित्व का आधार आन्तरिक व्यक्तित्व को बनाया जाए। जब शुभता की भाव प्रधानता होगी तभी क्रियाकांडों में वास्तविकता रहेगी, अन्यथा आज के भावहीन क्रियाकांड सबको कितनी क्षति पहुंचा रहे हैं, यह सभी के सामने है। अनासक्ति, अपरिग्रह अथवा वीतरागता का दृष्टिकोण व्यापक होता है। हम अपनी वैयक्तिक, सामाजिक एवं सांप्रदायिक मान्यताओं के प्रति भी आसक्ति न रखें, आग्रह न करें-यह एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। सत्य के लिए आग्रही होना एक बात है और मत के लिए आग्रही होना दूसरी बात। सत्य का आग्रह दूसरे के सत्य को ठुकराता नहीं, बल्कि सम्मान करता है, जबकि मत का आग्रह दूसरे के अभिमत सत्य को सत्य होते हुए भी ठुकराता है, उसे लांछित करता है। सत्य के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती, उसके लिए तो साधना करनी पड़ती है, मन को अनाग्रह और समता से जोड़ना होता है।

किन उपायों से ढाली जा सकती है धर्म-सम्प्रदायों की नई छवि?:

धर्म की नई छवि निखरेगी तो सम्प्रदायों की तदनुसार छवि अवश्य ढलेगी या दूसरे शब्दों में यों कहें कि यदि सम्प्रदायों के नायक धर्म के आन्तरिक स्वरूप को प्राथमिकता दें और भीतर के अनुसार बाहर को चलावें तो धर्म व सम्प्रदाय दोनों की छवि व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए कल्याणकारक बन जाएगी।

धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है और अधर्म है चरित्र का कलंक। कर्त्तव्य पालन में धर्म का प्रकाशन होता है और उसके विपरीत पाप कर्मों में अधर्म प्रकट होता है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है जिसे कर्त्तव्यपालन का दृढ़ अभ्यास है। जो व्यक्ति संकट के क्षणों में भी अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं करता, उससे बढ़ कर विश्व में कौन धर्मशील हो सकता है? कर्त्तव्य और धर्म में परस्पर जो सम्बन्ध है वह तार्किक नहीं। जो कर्त्तव्यों का दृढ़ अभ्यास कर लेता है उसके लिए धार्मिक प्रवृत्तियां सहज हो जाती है। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे प्रत्येक कर्त्तव्य धर्म में परिणत हो जाता है। कर्त्तव्य उस विशेष कर्म की ओर संकेत करता है, जिसे मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। कर्त्तव्य करने के सतत अभ्यास से धर्म की विशुद्धि बढ़ती है। वस्तुत: धर्म और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं-एक दूसरे के विघटक नहीं, क्योंकि धर्म का कर्त्तव्य में प्रकाशन होता है और कर्त्तव्य में धर्म की अभिव्यक्ति होती है। धर्म के संबंध में एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है-धर्म मनुष्य के मन की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियंत्रित करने एवं आत्मा के समग्र शुभ का लाभ प्राप्त करने का एक अभ्यास है। इस कथन का भी आशय यही है कि धर्म आत्मा की एक स्वाभाविक वृत्ति का नाम है। यह स्वाभाविक वृत्ति परिपुष्ट होती है, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ, अत: नई सर्वहितकारी छवि धर्म को देने के लिए उसे कर्त्तव्य के साथ जोड़िए।

धर्म को कर्त्तव्य के साथ जोड़ों। कर्त्तव्यनिष्ठा को धर्म मानने से मानव में उत्तरदायित्व की वृत्ति एवं प्रवृत्ति विकसित होगी।

धर्म को चरित्र के साथ जोड़ों। वस्तुत: कर्त्तव्यनिष्ठा से उत्पन्न उत्तरदायित्व की भावना मनुष्य के चरित्र का गठन करती है-उससे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। चरित्र है क्या? यही कि अशुभता की वृत्ति-प्रवृत्तियों से निकल कर शुभता के क्षेत्र में सर्वभावेन प्रवृत्त होना अर्थात् अपने को अशुभ विचार, वचन, व्यवहार से अलग करो, दूसरों को भी अलग करने का यत्न करो तथा स्व सहित पर को शुभता के रंग में रंगने का कल्याणकारक कार्य करो। इससे बढ़ कर धर्म का स्वस्थ आचरण अन्य क्या हो सकता है? धर्म और चरित्र को एकरूप बना दो अपनी प्रत्येक गतिविधि में, फिर देखों कि धर्म की वह छवि कितनी प्रभावोत्पादक बन जाती है और व्यक्तित्व को परोपकार का कितना बड़ा माध्यम सिद्ध कर देती है?

धर्म को आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ जोड़ों-आध्यात्मिक चेतना के साथ जोड़ों। इसी से यथार्थता का बोध हो सकेगा। अध्यात्म की गहराई में जाना सरल कार्य नहीं, अत: सामान्य जन के लिए अध्यात्म का सतही रूप भी काफी लाभदायक हो सकता है कि उसे आत्मानुभूति हो-वह आत्मा की आवाज को सुन-समझ सके। व्यक्ति में मोटे तौर पर ही सही, जब आत्मबल की सृष्टि होती है तो उसकी जीवनशैली में एक नयापन आ जाता है जो उसे सबके प्रति संवेदनशील बना देता है। तब वह सबके हित के बारे में सोचता है।

धर्म को आत्महित एवं लोकहित दोनों के साथ जोड़ों। जो एक सामान्य धारणा है कि धर्म से आत्महित ही साधा जा सकता है, वह भ्रमपूर्ण है। सच यह है कि आत्महित से पहले धर्म लोकहित का प्रधान साधन है। जितने भी धर्म सिद्धान्त हैं, उनके स्वस्थ पालन का तत्काल लाभ पालनकर्त्ता के

सिवाय अन्य लोगों को होता है। लोकहित के कारण ही उन सिद्धान्तों की सार्थकता प्रकट होती है। स्व का सुधार होगा, हित होगा तो उससे दूसरों को भी सुधार एवं हित की प्रेरणा मिलेगी ही।

धर्म को स्व-पर की एकात्मकता के साथ जोड़ों। महावीर का यह मुख्य उपदेश सूत्र है कि व्यक्ति चिन्तन करे-"**मैं अकेला नहीं हूं।**" यह दूसरों के अस्तित्व को स्वीकार करने का सिद्धान्त है। जो दूसरे के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को भी अस्वीकार करता है। ध्यान रहे कि स्व और पर-अर्थात् मैं और अन्य दोनों के बीच जब एकात्मकता की अनुभूति होती है तब व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरे के सुख में बाधा नहीं पहुंचाता, दूसरों के हितों का हनन नहीं करता है। यह सूत्र राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि का भी भला कर सकता है। प्राचीन कूटनीति के प्रणेता चाणक्य ने भी इस सूत्र पर बल देते हुए कहा था-समाज में तुम अकेले ही मत खाओ, दूसरों को भी उनका हिस्सा दो। संविभाग के सूत्र से ही शायद यह सूत्र निकला हो।

धर्म को विज्ञान के साथ जोड़ों। धर्म आध्यात्मिकता का प्रतीक तो विज्ञान भौतिकता का प्रतीक माना जाता है-इस नाते धर्म को भौतिकता के साथ जोड़ों। भौतिकता के साथ यदि धर्म नहीं जुड़ा तो भौतिकता से मिलने वाली सुविधाएं तथा उससे प्राप्त होने वाले साधन व्यक्ति एवं पूरे विश्व के लिए प्रलयंकारी हो जायेंगे जैसा कि आज का आतंककारी वातावरण है। यदि सुख-शान्ति का जीवन जीना है तो भौतिकता के साथ धर्म रूप ईमानदारी, नैतिकता और प्रामाणिकता को जोड़ना ही होगा। इसी प्रकार धर्म के साथ विज्ञान को जोड़ने का लाभ होगा कि आधारहीन विचारणाएं पनप नहीं पाएगी, विचार के साथ व्यवहार जुड़ेगा, अंध श्रद्धा के स्थान पर सच्ची आस्था विकसित होगी और आदर्श के साथ यथार्थ के जुड़ जाने से व्यक्ति एवं विश्व के कार्यकलापों में समरूपता आएगी। विज्ञान पूर्णत: या तथ्यात्मक होता है और धर्म भावनात्मक। तथ्य भावना के बिना अपरिपक्व तो भावना तथ्य के बिना अपुष्ट है।

धर्म को समता के साथ जोड़ो। यह समता सर्वांगीण और सर्वव्यापी होगी। समता का सामाजिक-व्यावहारिक प्रयोग निर्देश देगा कि तुम अकेले ही सब कुछ मत करो। भूमि पर, धन पर और सत्ता पर तुम अकेले ही अपना अधिकार मत जमाओ, क्योंकि इन सब पर दूसरों का भी अधिकार है। समता का जब आत्मिक प्रयोग शुरू किया जायेगा तो यह सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा। सामायिक के अनुष्ठान को जो समझ लेता है। जहां सामायिक है, वहां अध्यात्म है, वहां जाति-पांती, सम्प्रदाय-पंथ बहुत नीचे रह जाते हैं-मानवीय समरूपता ही समक्ष में रहती है। समाज को संगठित बनाने के लिए आवश्यकता होती है पवित्र मन की, मुक्त एवं अप्रतिबद्ध व्यक्ति की, जो समता से ही पूरी हो सकती है। समताधान् और अप्रतिबद्ध व्यक्ति शान्ति-साधक बन जाता है।

धर्म को अन्ततोगत्वा मानव जीवन के साथ जोडो। यही धर्म का साध्य है। धर्म से यदि मानव जीवन ही प्रभावित नहीं होता तो वह धर्म की विफलता होगी-धर्म अप्रासंगिक बन जायेगा, किन्तु धर्म कदापि न अप्रासंगिक होता है और न है। अपेक्षा यही है कि जीवन के साथ सच्चे धर्म को जोड़ो-धर्म के नाम पर चल रहे कट्टरवाद, वितंडावाद और पाखंड को नहीं। धर्म को थोपिये मत-व्यक्ति को प्रतिबद्ध मत बनाइये। जरूरी है उसके विवेक को, उसकी आध्यात्मिक चेतना को

जगाना। फिर वह स्वयं परख कर लेगा कि क्या सत्य है और क्या मिथ्या? अप्रतिबद्ध मस्तिष्क वाला व्यक्ति केवल प्रचलित धारणाओं पर ही नहीं चलता, अपितु स्वयं भी अपनी आत्मानुभूति एवं सामाजिक प्रतीति के आधार पर नई स्वस्थ धारणाएं गढ़ भी सकता है। वह अपने आत्मबल से उन धारणाओं का उपयोग भी कर सकता है तथा प्रचलन को लोकप्रिय भी बना सकता है। समूचे मानव जीवन के साथ जब धर्म जुड़ेगा तो मानव नित प्रति चिन्तन करेगा कि वह कौन है, कहां है तथा उसकी चेतना किस दिशा व दशा में कार्य कर रही है? यह चिन्तन उसे दृष्टा बनायेगा और दृष्टा ही सृष्टा बनता है।

क्या ऐसे धर्म और उसका प्रचार-प्रसार करने वाली सम्प्रदायों की छवि व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपनी शुभ प्रेरणाओं से अनुप्राणित नहीं बना देगी?

चरित्रशीलता ही धर्म और नीति पर चढ़े मैल को धो सकेगी :

आज तक दुनिया में जब-जब धर्म के असली मर्म को समझे बिना धर्म के नाम पर जितनी धींगामस्ती अथवा खंडन-मंडन, झगड़े, विवाद, दंगे-फसाद हुए हैं या हो रहे हैं, तब-तब वे बेमिसाल रहे हैं। यही कारण है कि नामवर धर्मों ने जोड़ने की बजाय लोगों को तोड़ा ही तोड़ा है। वास्तव में देखें तो वह सब धर्म ही कहां था? धर्म के यथार्थ स्वरूप के बारे में कई परिभाषाओं की चर्चा की जा चुकी है, जिनमें **'वत्थु सहावो धम्मो'**, **'धारयते इति धर्मः'** आदि सम्मिलित है। धर्म का अंग्रेजी शब्द **रिलीजन** (Religion) लेटिन के रिलीगेरे (Religere) शब्द से बना है जिसका अर्थ है To Restrain यानी कि संयत होना, रोकना। इन सभी परिभाषाओं में मानवता की प्राप्ति को ही वास्तविक धर्म कहा गया है। सवाल है कि फिर भी धर्म के नाम पर इतनी धींगामस्ती क्यों? यह है लेबल वाले धर्मों यानी मतों, पंथों, सम्प्रदायों के कारण। नामवर धर्मों के उपदेशों में बातें सब अच्छी-अच्छी की जाती है, लेकिन अपने-अपने नाम और प्रभाव विस्तार का उद्देश्य ही सबसे ऊपर रहता है, क्योंकि असलियत धर्म गुरुओं की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के नीचे दबा दी जाती है। जैसे राजनेता को वोट बटोरने के लिए उचित-अनुचित सब करना पड़ता है, शायद उससे भी अधिक उचित-अनुचित धर्मगुरुओं को अपने लिए अंध श्रद्धालु भक्त बटोरने के लिए करना पड़ता होगा। अतः आज धर्म के नाम पर प्रचलित पूरे वातावरण में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

धर्म के साथ नीति जुड़ी हुई होती है यानी कि मानवता धर्म है तो उसे प्राप्त करने के जो साधन हैं, उन्हें नीति का नाम दिया जा सकता है। धर्म मानवता का सिद्धान्त है-साध्य है तो उस सिद्धान्त तक पहुंचाने का व्यावहारिक मार्ग बताती है नीति। नीति स्वस्थ हो तभी सच्चे धर्म तक पहुंचा जा सकता है। अभिप्राय यह कि मनुष्य अपने मूल स्वभाव मनुष्यता को पूर्णांश में प्राप्त करे-यह धर्म है। उस धर्म तक पहुंचाने वाली नीतियां या नैतिकता बहुरूपी हो सकती है। ये रूप हैं-धर्म के नाम से पहचाने जाने वाले धर्म, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि, लोकतंत्र, प्रगतिशील विचारधाराएं, आर्थिक नीतियां और स्वस्थ समाज निर्माण के उपाय आदि, क्योंकि इन सभी साधन-रूपों की कसौटी है कि मनुष्य के चरण अपने ढके-दबे मानवीय मूल्यों को गुणवत्ता की चमक देने की ओर बढ़ रहे हैं या नहीं? इसी दृष्टिकोण से आज धर्म तथा नीति के मूल स्वरूप पर जो विकृतियों के मैल की परतें चढ़

गई है, उन्हें धो पौंछ कर मूल स्वरूप को चमकाने का काम प्रमुख है ताकि धर्म के रूप में मानव का मूल स्वभाव पूर्णत: प्रकाशित बने।

सामान्य जन में जमे इस भ्रम को मिटाना होगा कि अधिकतर लोग नैतिकता को पसन्द नहीं करते हैं। यह भ्रष्टाचारियों का दुष्प्रचार है। हकीकत यह है कि सभी लोग (मन ही मन में भ्रष्टाचारी भी) नैतिकता को चाहते हैं, पर आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं एवं धर्म के नाम पर पनपने वाली विकृतियों के प्रचलित रहने की दशा में नैतिकता के हर क्षेत्र में असफल रहने से आम लोग अवश्य अपनी धारणा से कभी कभी डगमगा जाते हैं। इस कारण इस प्रदूषित वातावरण को अप्रभावी बनाना आवश्यक है।

धर्म (मूल स्वभाव) को प्राप्त करने के प्रति सबका रुझान हो इसके लिए नीतियों का स्वस्थ होना जरूरी है, प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति में नैतिकता का समावेश होना ही चाहिए। परन्तु प्रश्न है कि यह सब होगा कैसे? इसका एक ही उत्तर देना हो तो वह यह होगा कि सब चरित्र निर्माण एवं चरित्र विकास से अवश्य संभव होगा। चरित्रशीलता ही धर्म और नीति के सारे मैल को धोकर उन्हें शुद्ध एवं शुभदायक बनाने में पूर्णत: समर्थ होती है। चरित्रशीलता पनपती है तो कर्त्तव्यनिष्ठा परिपुष्ट होती है। कर्त्तव्यनिष्ठा नैतिकता को प्राणवान बनाती है तथा परिपक्व नैतिकता ही धर्म का मौलिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। चरित्रशीलता के मोर्चे पर डटने वाले सैनिकों के लिए ये कुछ सुझाव उपयोगी हो सकते हैं-

1. जीवन में धर्म यानी कि मानव धर्म को ही स्थान दें, साम्प्रदायिकता या कट्टरता को कदापि नहीं। इससे सबके साथ सहज सम्पर्क, सौम्य व्यवहार तथा विचार-आचार का सामंजस्य बन सकेगा।
2. जीवन के सभी क्षेत्रों-वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक में वैचारिक क्रान्ति जगावें तथा अहिंसापूर्ण विधि से आत्मवत् व्यवहार को विकसावें।
3. समग्र प्राणियों के साथ भावात्मक तथा संवेदनामूलक एकता को सर्वत्र प्राथमिकता दें।
4. सभी प्रकार की विषमताओं-जातिगत, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि से डट कर लोहा लें एवं मानवीय चेतना को उद्‌बुद्ध बनावें।
5. सर्वत्र आत्मिक चेतना की जागृति तथा मानवीय मूल्यों की रक्षा को अपना लक्ष्य बनावें।
6. सभी दृष्टियों से मनुष्यकृत असमानता को मिटावें तथा मानवीय समता को सर्वोच्च स्थान दें।
7. अपनी चरित्रशीलता की यात्रा 'स्व' से प्रारम्भ करें और 'पर' के साथ सम्पन्न, किन्तु 'स्व' को सदा गौण करें और समय आवे तो 'स्व' को न्यौछावर कर देने से भी हिचकिचाएं नहीं।

ऐसे ही उन सूत्रों को अपनाना होगा कि जिससे चरित्र विकास नव मानव धर्म का प्रतीक बन जाए।

नई सकारात्मक छवि मूल से उभरेगी और वही नई विश्व-संस्कृति रचेगी :

आधुनिक सभ्यता के उदयकाल से लेकर अब तक मानवीय कष्टों के निवारण के अथक प्रयास किए गए हैं जिनमें विज्ञान एवं तकनीक का उपयोग भी शामिल है। लेकिन क्या हम

नि:संकोच कह सकते हैं कि अब तक साधी गई प्रगति अपने सच्चे अर्थों में वास्तविक है? क्या अभी तक हम प्रेम, सहानुभूति, नम्रता एवं लघुता का पाठ पढ़ पाए हैं और उसे अपने चरित्र में उतार पाए हैं? उत्तर नहीं में होगा। सामान्यजन को परमाणु बम नहीं चाहिए, उसे चाहिए भोजन, आवास, वस्त्र और स्वस्थ चरित्र का निर्माण। किसी को नहीं चाहिए घृणा और जातीय भेदभाव, आज मानव जाति को चाहत है प्रेम, संवेदना तथा वैश्विक भाईचारे की। स्वार्थवादिता और तनाव ने आज मनुष्य के मन तथा जीवन का सन्तुलन अस्त-व्यस्त कर दिया है। लोग धर्म के नाम पर मारकाट मचाते हैं, घरों को जलाते हैं और बस्तियां उजाड़ते हैं-यह जानते हुए भी कि कोई धर्म हिंसा और घृणा को नहीं मानता। वेद, सूत्र, गीता, बाइबिल, कुरान-सब में यही लिखा है कि प्यार, सहकार और भाईचारे का व्यवहार सबके साथ किया जाए, किन्तु धूर्त लोग इन उपदेशों में गलत अर्थ समझाते हैं और लोगों को भ्रमित बनाते हैं। यह गतिविधि बंद होनी चाहिए।

ढाई हजार वर्ष पूर्व महावीर, बुद्ध आदि धर्म प्रवर्त्तकों ने लोगों के 'दु:ख' की ओर सबका ध्यान दिलाया, दु:ख के कारण तथा उसके निवारण के उपाय बताए और अहिंसा मूलक जीवनशैली का विकास किया। उत्थान का मार्ग कहा-सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र-यह महावीर ने उपदिष्ट किया तो बुद्ध ने अष्टयामी मार्ग का निर्देश किया। आज इस मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता है एवं तदनुसार ही अपने चरित्र का गठन एवं विकास करने की भी आवश्यकता है। इस प्रकार के चरित्र निर्माण से ही अथवा ऐसी चरित्रशीलता या चरित्र सम्पन्नता से ही धर्म तथा सम्प्रदायों की नई छवि उभरेगी और विश्वास करने की बात है कि इस नई छवि से ही नई विश्व संस्कृति का उद्‌भव होगा, विकास होगा।

नई विश्व संस्कृति के निर्माण में प्राचीन संस्कृतियों के अनुभवजन्य गुणों का समावेश करना होगा जिनमें आत्मानुशासन, सत्यशीलता एवं संवेदनशीलता मुख्य होंगे। शिक्षा प्रणाली में बुनियादी बदलाव लाना होगा और बुनियादी सिद्धान्त होंगे, जीवन में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता की मूल्यवत्ता, सत्यवादिता एवं उच्च कोटि का चरित्र निर्माण। चरित्र निर्माण का सुप्रभाव यह होगा कि विद्यार्थी से गृहस्थ बना व्यक्ति इन्द्रियजन्य वासनाओं के पीछे नहीं भागेगा और दैनिक जीवन में हिंसा तथा अपराध ने जो घर बना लिया है, उसे नहीं टिकने देगा। नई विश्व संस्कृति में केवल आध्यात्मिकता की सराहना से काम नहीं चलेगा, उसे आत्मसात् करनी होगी। वह प्रत्येक नागरिक के आचरण में परिलक्षित होगी। विश्व की नई संस्कृति तभी रची जाएगी जब प्रत्येक नागरिक का नया चरित्र ढलेगा, जो स्वयं से प्रारम्भ होकर विश्व के कोने-कोने तक पहुंचेगा और नई संस्कृति का अभिन्न अंक बन जाएगा। इस संदर्भ में चरित्र संघटकों के लिए यह संदेश है कि पहले स्वयं चरित्रशील बनो, फिर चरित्र गठन को अपने अगले साथी का श्रृंगार बनाते हुए आदर्श परिवार, समाज एवं विश्व तक के नव निर्माण में जुट जाओ कि एक दिन विश्व के समस्त नागरिक विवेकशील, ईमानदार और गुणवान् बन जाए।

एक बुनियादी हकीकत भी सदैव ध्यान में रहनी चाहिए कि व्यक्ति ही समूह को जगाएगा, जग कर समूह अन्य व्यक्तियों के लिए सुगम धरालत बनाएगा जिस पर चलने वाले व्यक्तियों की मंजिल

आसान बन जाएगी अर्थात् व्यक्ति का जागृत होना और कार्यक्षमता दिखाना, सबसे पहले जरूरी होता है। यह सामर्थ्य व्यक्ति के चरित्र निर्माण तथा विकास से ही प्राप्त हो सकेगा। यों समग्र विश्व की धुरी व्यक्ति के कन्धों पर ही टिकी हुई है-एक बार यह कह दिया जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्यक्ति की महत्ता को सभी धर्मग्रन्थों ने भी सुस्पष्ट किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति अर्थात् उसकी आत्मा ही स्वयं की मित्र भी है और शत्रु भी है-सन्मार्गगामी बने तो मित्र है और उन्मार्गगामी बने तो शत्रु। यह आत्मा ही अपने लिए सुख और दुःख का कर्त्ता भी है और विकर्त्ता भी है **(अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठियोः अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य**-20/37)। व्यक्ति जब अपना मित्र बनता है तो अपना सन्मार्गगामी चरित्र बनाता है और उस सन्मार्ग पर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व को चलने के लिए प्रेरित करता है। ऐसे चरित्र का निर्माण व्यक्ति के लिए धर्म बन जाता है। गीता में भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए हैं-"व्यक्ति को अपने ही यथार्थ की खोज करनी चाहिए, अपने आपको लांछित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसकी अन्तरात्मा ही उसकी एक मात्र मित्र है, अन्यथा वही उसकी एक मात्र शत्रु है। एक व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा को मित्र तभी मान सकता है जब उसने उस पर विजय प्राप्त कर ली, किन्तु यदि वह अपनी ही वास्तविकता को अस्वीकार करता है तो अपने ही विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है।" कुरान में भी इसी सत्य को समर्थन मिला है-"निशानेबाजी के अभ्यास में निशाने के बिन्दु के समान ही व्यक्ति के जीवन में नैतिकता की जगह होती है। जब निशानेबाज निशाने के बिन्दु को चूक जाता है तो वह मुड़ कर अपने ही भीतर अपनी नाकामयाबी की वजह ढूंढता है। उसी तरह व्यक्ति को भी जीवन की प्रत्येक असफलता के लिए अपने ही भीतर झांकना चाहिए।" (टाइम्स ऑफ इंडिया, सेक्रेड स्पेस)।

धर्म, संस्कृति, चरित्र-ये सब एक ही वस्तु विषय के पहलू हैं-एक में दूसरे का समावेश है। जब मनुष्य ही अपनी चरित्रहीनता से अथवा अधर्म और अपसंस्कृति से स्वयं के और समूहों के जीवन को विकृत, विषपूर्ण एवं संकटमय बना देता है तब उसे फिर से इसी त्रिपुटी की शरण में जाना होता है। इनकी शुद्ध छवि वही रहती है, व्यक्ति को ही अपनी दृष्टि में नयापन लाना होता है और वही उसके लिए नई छवि बन जाती है।

◆◆◆

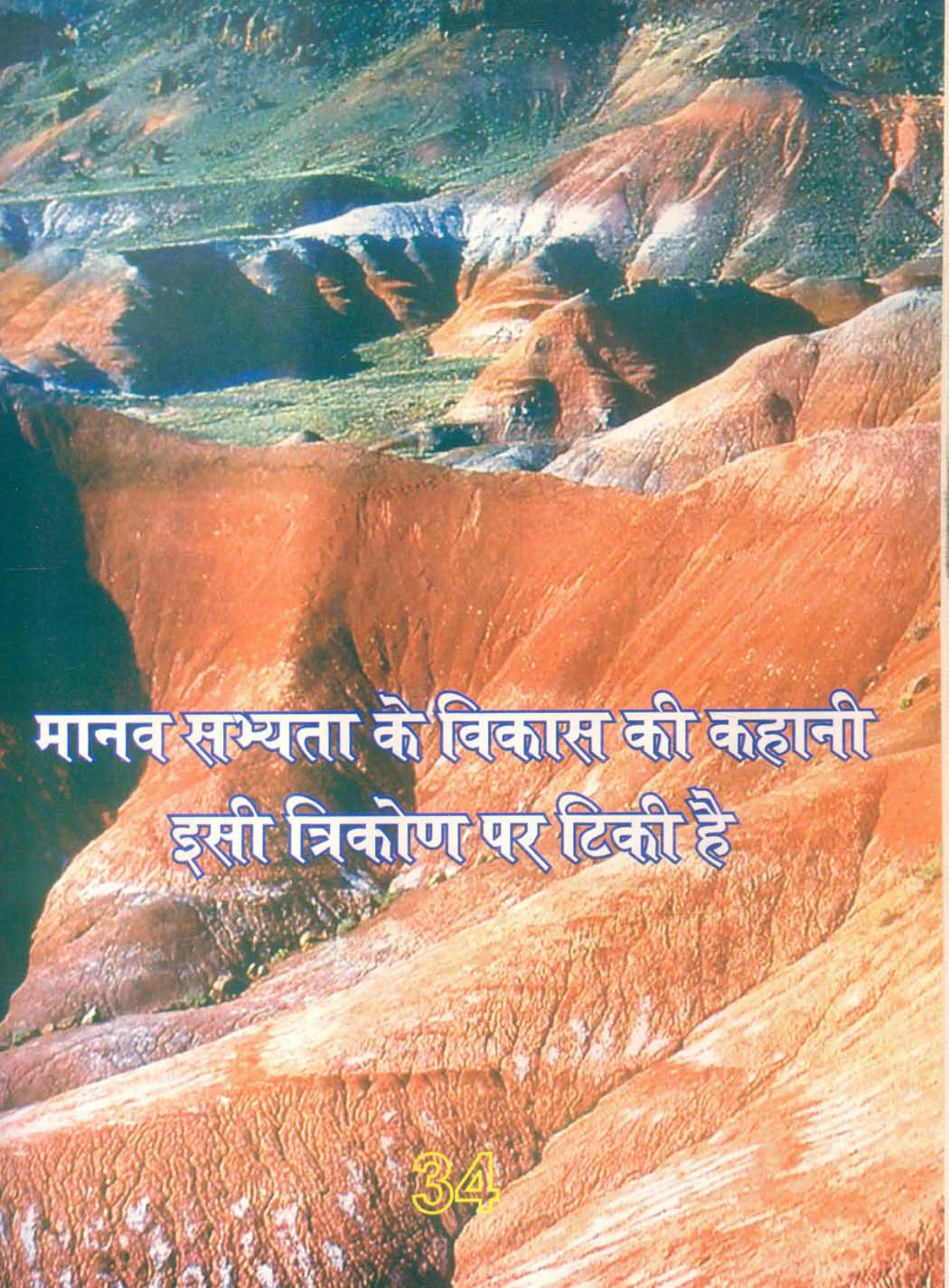


मानव सभ्यता के विकास की कहानी इसी त्रिकोण पर टिकी है

चरित्र, धर्म और विज्ञान का त्रिकोण

भगवान् महावीर के समय में अनाथी नाम के एक मुनि हो गए हैं। वे अपने घर में विपुल, वैभव और ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति थे। विशाल वैभव, माता-पिता का कोमल स्नेह, पत्नी का अनन्य प्रेम-इन सबको ठुकरा कर उन्होंने साधना का मार्ग स्वीकार किया और राजगृह के शैल शिखरों की छाया में, लहलहाते वन प्रदेश में जाकर सजीव चट्टान की तरह साधना में स्थिर होकर खड़े हो गए। भगवान् महावीर ने उनके अन्तर में त्याग और साधना के दिव्य सौन्दर्य को देखा। किन्तु जब राजा श्रेणिक ने उन्हें देखा तो उसका दृष्टिकोण उनके बाह्य रूप एवं यौवन के सौन्दर्य पर ही अटका रह गया और उसी पर मुग्ध हो गया। श्रेणिक के मन में विचार आया कि यह युवक साधना के मार्ग पर क्यों आया है? उसने युवक मुनि से साधु बनने का कारण पूछा तो उन्होंने नम्र भाव से उत्तर दिया-"मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई सहारा नहीं था, इसलिए मुनि बन गया।"

श्रेणिक ने इस उत्तर को अपने दृष्टिकोण से नापा कि युवक गरीब होगा, अतएव अभावों और कष्टों से प्रताड़ित होकर गृहस्थ जीवन से भाग आया है। राजा के मन में एक


मानव सभ्यता के विकास की कहानी
इसी त्रिकोण पर टिकी है
34

सिहरन हुई कि न जाने इस प्रकार कितने ही होनहार युवक अभावों से ग्रस्त होकर साधु बन जाते हैं और ये उभरती तरुणाइयां, जिनमें जीवन का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, यों ही बर्बाद हो जाती है। श्रेणिक इन विचारों की उधेड़बुन में कुछ देर खोया-खोया सा रहा और फिर युवक की आंखों में झांकता हुआ-सा बोला-'यदि तुम अनाथ हो और तुम्हारा कोई सहारा नहीं है तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को प्रस्तुत हूं।' इस पर उस युवक साधक ने, जिसको साधन के अनंत सागर की कुछ बूंदों का ही रस-स्वाद प्राप्त हुआ था, बड़े ओजस्वी और निर्भय शब्दों में कहा-"तुम तो स्वयं अनाथ हो, फिर मेरा नाथ बनने की बात कैसे कर सकते हो? जो स्वयं अनाथ हो, भला वह दूसरों के जीवन का नाथ किस प्रकार हो सकता है?"

युवक साधक ने यह बहुत बड़ी बात कही थी। यह बात केवल जिह्वा से नहीं, अन्तर्हृदय से कही गई थी। उनके शब्द अन्तर से उठ कर आ रहे थे, तभी वे इतने वजनदार और इतने सच्चे थे। राजा श्रेणिक के ज्ञान चक्षु पर फिर भी पर्दा पड़ा रहा। उसने सोचा, शायद युवक को मेरे ऐश्वर्य और वैभव का पता नहीं है। अतः थोड़ा आत्म-परिचय दे देना चाहिए। राजा ने कहा-'मुझे जानते हो, मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूं-मैं मगध का सम्राट हूं। मेरा विशाल वैभव एवं अपार ऐश्वर्य मगध के कण-कण में बोल रहा है।' इसके उत्तर में युवक मुनि (अनाथी) ने कहा-'तुम मेरे भाव को नहीं समझे, मेरी भाषा भी नहीं समझे। शब्दों के चक्कर में उलझ कर उनकी आत्मा से बहुत दूर चले गए। तुम तो मगध के ही सम्राट हो, किन्तु चक्रवर्ती और इन्द्र भी अनाथ हैं। वे भी विषय-वासना, भोग-विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी संसार के इन्हीं दासों में से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओं के इशारे पर, क्रीत दास की तरह नाच ही रहे हो, तो फिर दूसरों के नाथ किस प्रकार बन सकते हो? जो स्वयं अपने विकारों के समक्ष दब जाता है, अपने आवेगों के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरों पर शासन कर सकता है? जब तुम अपने मन की गुलामी से भी छूटकारा नहीं पा सकते हो तो संसार के इन तुच्छ वैभव और ऐश्वर्यों की बात करते हो, जिनके भरोसे तुम दूसरों के नाथ बनना चाहते हो?'

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह संवाद जीवन-विजय का संवाद है। यह संदेश साधना की उस स्थिति पर पहुंचाता है, जहां भक्त को भगवान् के पीछे दौड़ने की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जहां वह होता है, वहीं पर भगवान् उतर आते हैं। अनाथी मुनि की वाणी में वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा बोल रही थी। उन्होंने जो संदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नहीं, महावीर का ही संदेश था। महावीर की आत्मा स्वयं उसके अन्तर में जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का संस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अंग-अंग में प्रकाशित होने लग जाए। उसके संस्कारों का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। किसी शायर ने ऐसी ही चरम दशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है-"**शहरे तन के सारे दर्वाजों पे हो गर रोशनी, तो समझना चाहिए कि वहां हुकूमत इल्म की।**" इस शरीर रूपी शहर के हर गली कूचे और दरवाजों पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहां का

स्वामी स्वयं घर में है और वह पूरे होश में है। उस शहर पर कोई हमला नहीं कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ बन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन में धर्म का स्रोत प्रतिक्षण और पद-पद पर बहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण बना रहे। जीवन में धर्म का सामंजस्य होने के बाद साधक को अन्यत्र कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं। मुक्ति के लिए भी कहीं दूर जाना नहीं है, अपितु अन्दर की परतों को भेद कर अन्दर में ही उसे पाना है (चिन्तन की मनोभूमि द्वारा उपाध्याय श्री अमर मुनि जी, पृष्ठ 275-277)।

अनाथी मुनि की चरित्र सम्पन्नता अद्वितीय थी, क्योंकि वह सच्चे धर्म पर आधारित थी। सच्चे धर्म में विज्ञान और विकास समाविष्ट थे। उस समय धर्म का जो विवेचन होता था, वह वैज्ञानिक होता था-उसमें मिथ्या या अविश्वसनीय तत्त्व कदापि सम्मिलित नहीं होता था। आज भी चरित्र सम्पन्नता प्राप्त करने की प्रक्रिया बदली नहीं है, उसे पूर्णता एवं परिपक्वता के लिए धर्म, विज्ञान व विकास के त्रिकोण से ही गुजरना होगा।

चरित्र निर्माण से चरित्र सम्पन्नता तक की सतत यात्रा :

चरित्र निर्माण से चरित्र सम्पन्नता की सतत यात्रा को महायात्रा का नाम दिया जा सकता है, क्योंकि इसका फल विलक्षण होता है। चरित्र सम्पन्नता की अवस्था में समाज और संसार में ऐसी चमत्कारी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जब सब ही स्वामित्व के धनी होंगे और दासत्व कहीं पर दिखाई नहीं देगा। इसका अर्थ यह है कि सभी अनाथी मुनि की संयम सफलता के अनुरूप स्वयं के स्वामी या नाथ बन जाएंगे, परन्तु ऐसा होने पर भी दास या अनाथ कहीं भी कोई नहीं रहेगा। इस फल को विलक्षण ही मानना होगा।

व्यक्ति से लेकर विश्व तक के स्तर पर मानवीय मानदण्डों से परिपूर्ण व्यवस्था को स्थापना हेतु मूल रूप में चरित्र की अपेक्षा रहती है तो विकास के अग्रिम चरणों में भी चरित्र के उन्नत स्वरूप का विस्तार अनिवार्य कहा जाएगा। चरित्र मूल में भी चाहिए तो शिखर तक भी चाहिए। चारित्रिक गुणों की उपलब्धि जितने परिमाण और घनत्व में होती जाएगी, तदनुसार व्यक्ति विकास के साथ विश्व का सर्व आयामी विकास भी सफल होता जाएगा। चरित्र निर्माण से लेकर चरित्र सम्पन्नता तक की यात्रा अपनी सफलता के साथ मानव जीवन की उत्कृष्टता की परिचायिका होती है।

मनुष्य परिवार तथा समाज के बीच में रहता है और इस कारण इन क्षेत्रों की जिम्मेदारियों को निबाहने से वह अपना मुंह नहीं मोड़ सकता है। आप यदि सोचे कि परिवार के लिए कितना पाप करना पड़ता है, यह बन्धन है, भागो इससे, इसे छोड़ो-तो क्या काम चल सकता है और छोड़ कर भाग भी चलो तो कहां? वनों और जंगलों में भागने वाला क्या निष्कर्म रह सकता है? गंगा में समाधि लेकर क्या पाप और बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है? सोचिए, ऐसा कौनसा स्थान है, कौनसा साधन है, जहां आप निष्कर्म रह कर जी सकते हैं? वस्तुतः निष्कर्म अर्थात् क्रियाशून्यता जीवन का समाधान नहीं है। भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर समाधान दिया है-निष्कर्म रहना जीवन का धैर्य

नहीं है। जीवन है तो कुछ न कुछ कर्म भी है। केवल कर्म ही जीवन का श्रेय नहीं, किन्तु कर्म करके अकर्म रहना, कर्म करके कर्म की भावना से अलिप्त रहना-यह जीवन का मार्ग है। बाहर में कर्म और भीतर में अकर्म-यह जीवन की कला है। कर्म तो जीवन में क्षण-क्षण होता रहता है। गीता में कर्मयोगी कृष्ण की वाणी है, कोई भी क्षण भर के लिए भी अकर्म होकर नहीं बैठता है (**न हि कश्चित् क्षण- मपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**)। प्रश्न है कि किस स्तर पर क्या कर्म किया जावे?

यहां चरित्र निर्माण एवं चरित्र सम्पन्नता का प्रसंग चल रहा है। चरित्र निर्माण की पहली शर्त यह है कि आप अपने विविध विकारों से धीरे-धीरे ही सही, मुक्त होने का सत्कर्म करते रहे। यह सत्कर्म ही चरित्र निर्माण के धरातल को पुष्ट बनाता हुआ आगे तक ले जाएगा। विकार मुख्यतया दो स्थूल भागों में बांटे जा सकते हैं-एक विषय अर्थात् काम, कामनाएं, वासनाएं आदि तथा दूसरा कषाय अर्थात् काषयिक वृत्तियां जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। कामनाओं एवं इच्छाओं को जीत लेना प्राथमिक कार्य होता है। वासनाओं को जीतने का अर्थ है विषय को जीत लेना और इससे विकार-विजय का मार्ग निष्कंटक हो जाता है। काम तो जीता, कामनाओं को जीता तो फिर कषायों पर विजय दुष्कर नहीं रहती है। तथापि क्रोध, मान, माया, लोभ के विकारों की ताकत कम नहीं होती, जो मनुष्य को अपने जीवन में पीछे की ओर खदेड़ती रहती है।

आइए, सबसे पहले क्रोध विकार की विस्तृत चर्चा करें। क्रोध को जीवन की सबसे बड़ी पराजय के रूप में देखा गया है। विद्वानों की सभा में चर्चा चली कि संसार में विष क्या है (**विसं किम्**)? सभासदों ने अलग-अलग उत्तर दिए। किसी ने संखिया को तो किसी ने तालपुट जहर को और किसी ने अफीम को तो किसी ने अन्य पदार्थ को विष बताया। तब एक मनीषी सन्त ने उक्त प्रश्न का उत्तर दिया-क्रोध विष है (**कोहो विसं**)। एक कवि मुक्तक में बताता है-

"बिच्छू का जहर अंग को तिलमिला देता है।
सर्प का जहर उम्र के वृक्ष को हिला देता है।
औरों के जहर के नुकसान की तो सीमा है,
मगर आदमी का जहर संसार को जला देता है।"

क्रोध आत्मा को ऊर्ध्व गति से गिरा कर अधोगति में पटक देता है। क्रोध प्रीति एवं प्रतीति का विनाश करता है (**कोहो पीइं पणासेइ**)। भक्त सूरदास कहते हैं-"**सूरदास खल कारी कामरी, चढै न दूजो रंग**"-यानी जैसे काली कजरारी चादर पर दूसरा कोई भी रंग नहीं चढ़ सकता है, वैसे ही क्रोध युक्त आत्मा पर चरित्र का धवल रंग नहीं चढ़ सकता है। एक सच्चाई यह है कि साढ़े नौ घंटों के परिश्रम से व्यक्ति को जितनी शारीरिक थकान नहीं आती, उससे अधिक थकान पन्द्रह मिनट के क्रोध में हो जाती है तथा उससे भी अधिक थकान मानसिक होती है सो अलग। क्रोध से शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि सभी शक्तियां क्षीण होती रहती है।

क्रोध की तीन श्रेणियां बताई गई हैं-1. जघन्य, 2. मध्यम एवं 3. उत्कृष्ट। उत्तम पुरुषों को क्रोध आता नहीं, कभी आ जाए तो जल में खिंची रेखा के समान होता है-आगे पाट, पीछे सपाट। मध्यम पुरुषों को कभी-कभी क्रोध आता रहता है और अल्प समय के अन्तराल में समाप्त हो जाता

है। यह क्रोध तालाब में पानी सूखने से मिट्टी में पड़ी दरार के समान होता है जो वर्षा के होते ही मिट जाती है। जघन्य श्रेणी का क्रोध तो पर्वत के बीच पड़ी चट्टानों की दरार की तरह होता है जो दरार प्रयत्न करने पर भी वर्षों तक नहीं पाटी जा सकती है। जघन्य क्रोध जीवन भर तक बना रहता है। यह क्रोध निकृष्ट गतियों में भ्रमण कराता है। एक सूक्ति है-क्रोध अनर्थों का मूल है, संसार की परम्परा को बढ़ाने वाला है, धार्मिकता को क्षत-विक्षत करने वाला है, अत: क्रोध त्याग देना चाहिए **(क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्धनम्। धर्म क्षयकरः क्रोधः, तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्)**। आगमों में क्रोध की उत्पत्ति के कारण बताए गए हैं-

1. **क्षेत्र** - किसी स्थान विशेष पर पहुंचने से उत्पन्न होने वाला क्रोध।
2. **वस्तु** - जड़ चेतन किसी वस्तु विशेष को देख कर उत्पन्न हुआ क्रोध।
3. **शरीर** - अपने अथवा परायों के शरीरों की न्यूनाधिकता या कुत्सित आकृतियां देख कर पैदा होने वाला क्रोध।
4. **उपधि** - उपकरणों के माध्यम से उत्पन्न होने वाला क्रोध।

कहा गया है-**'क्रोध हि शत्रु प्रथमो नराणाम्'** अर्थात् क्रोध मनुष्यों का पहला शत्रु है, क्योंकि यह तन को तपाता है, मन को सताता है, रक्त-मांस को सुखाता है, सारे सद्गुणों को नष्ट करता है और यह साथ ही आत्मभान को भुलाता है। क्रोध, एक ऐसा तूफान है जिसके प्रबल वेग में पिता-पुत्र, भाई-भाई, माता-पुत्री, सास-बहू, पति-पत्नी और गुरु-शिष्य के आत्मीय सम्बन्ध भी हवा में उड़ जाते हैं। सहज व स्वाभाविक प्रेम द्वेष और विद्वेष में बदल जाता है। क्रोध की निष्पत्तियां हैं-1. समस्त समस्याओं का आगमन-द्वार, 2. एक दूसरे पर आक्रमण, 3. अधिकारों का अपहरण, 4. विश्वास व प्रेम का ह्रास और सर्वनाश, 5. सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में आपाधापी, 6. घृणा, द्वेष, वैमनस्य, छल-छद्मों की आग, 7. मन, बुद्धि, निर्णय शक्ति, कार्य क्षमता की कुंठा, 8. शारीरिक व मानसिक असन्तुलन, 9. भय, उद्वेग, तनाव व व्याधियों का सर्जक, 10. सम्पूर्ण विवेक विकलता का उद्गम स्थल, 11. जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाली वैर परम्परा का विष बीज, 12. जीवन की सुन्दरता, सुकुमारता, सौम्यता, सरलता व स्वस्थता पर कुठाराघात, 13. भाषा संयम, विचार संयम और व्यवहार संयम का अन्त आदि।

क्रोध को जीतने के कुछ उपाय-1. क्रोध को उपशम भाव से जीतें **(उवसमेण हणे कोहं)**।

2. छोटा सा है एक उपाय-**एक मौन सब दुःख हरे, नहीं बोले तो गुस्सा मरे।**

3. प्रबल क्रोध के रोग को हर सकता हैं कौन? उसका एक इलाज है-मन में रखना मौन। या गुस्से से बढ़कर कौन है, इन्सान का दुश्मन-है शान का, रुतबे का और ईमान का दुश्मन।

4. क्रोध को क्षमा से जीतें। क्षमा रूपी शस्त्र जिसके हाथ में है, क्रोध उसका क्या बिगाड़ सकता है **(क्षमा खड्गं करे यस्य, किं करिष्यति क्रोधः)**।

5. वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता अत: क्रोध छोड़े, वैर होने ही न दें।

6. एक मुक्तक-"**क्रोध स्वर्ग को भी नरक बना देता है,**
क्रोध खुशियों को भी आग लगा देता है।
इतिहास साक्षी है, इस बात का अभय,
क्रोध उपवन को भी वीरान बना देता है।"

क्रोध के बाद क्रम है मान, माया तथा लोभ का

शिष्यों की गोष्ठी में चर्चा चल रही थी कि नरक में कौन जाता है? गुरु ने शिष्यों से पूछा कि-यह प्रश्न कौन पूछ रहा है? एक शिष्य ने कहा-मैं। गुरु तुरन्त बोले-बस यही 'मैं' नरक में जाता है। 'मैं' ही नरक है और 'मैं' ही नरक में ले जाने वाला है। छोटा सा व सुन्दर सा स्पष्ट समाधान सुनकर सारे शिष्यों को सम्यक् बोध हो गया। स्थानांग सूत्र में अहंकार को मदस्थान कहा है और इसके आठ प्रकार बताये हैं-1. जाति, 2. कुल, 3. बल, 4. रूप, 5. तप, 6. श्रुत, 7. लाभ और 8. ऐश्वर्य मद (**अट्ठहिं मय ट्ठाणेहिं पण्णत्तेतंजहा, जाइमए, कुलमए, बलमए, रूवमए, तवमए, सुयमए, लाभमए, इसरिए मए**)। इन आठों मदस्थानों का स्वरूप विचारणीय है। जाति मनुष्य मात्र की एक है (**मनुष्यजातिरेकेव**), फिर भी छोटे-छोटे टुकड़ों पर अभिमान करना कि मैं ऊंची जाति का हूं और वह नीची जाति का है-यह निन्दनीय है। इसी प्रकार कुल, बल, रूप, लाभ और ऐश्वर्य का घमंड करना भी अज्ञान है क्योंकि ये सब संकुचित दृष्टि वाले तथा नाशवान स्थान हैं। यहां तक कि तपस्या और ज्ञान के लिए भी अहंकार करना आत्मघाती माना गया है।

माया और लोभ का चक्र भी किसी कुचक्र से कम नहीं। कपट और लालच के भंवर में जो फंस गया, उसका वहां से निकल पाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसा व्यक्तित्व कौनसा कुकर्म न कर बैठे, इसकी कोई सीमा नहीं। चरित्र निर्माण का मार्ग वहीं से शुरू होता है, जहां से विषय एवं कषाय के विकारों को घटाने-मिटाने का क्रम आरंभ होता है और इन विकारों से पूर्ण मुक्ति से प्राप्त होती है चरित्र सम्पन्नता। यह सतत यात्रा किसी भी मनुष्य के जीवन सुधार की प्रमुख यात्रा होती है जो उसे चरित्रशीलता के उच्चतर आयामों की ओर अग्रसर बनाती रहती है।

धर्म और विज्ञान की मजबूरियां मिटाने का वक्त आ गया है :

विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नित नये अनुसंधानों एवं आविष्कारों ने इस विश्व को जानने और समझने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया है। नित प्रति यह प्रतीति दृढ़ होती जा रही है कि विज्ञान इस विश्व की नई-नई परतों का उद्घाटन करता है। इस दृष्टिकोण ने धर्म और विज्ञान को आमने-सामने खड़ा कर दिया है। वास्तव में ऐसा लगता है कि विज्ञान ने बुद्धिमत्ता के नजरिए से धर्म को अतार्किक या मिथ्या-सा बना दिया है। कई यह भी महसूस करते हैं कि विज्ञान ईश्वर के अस्तित्व को परे हटा देता है। दूसरे लोग यह सोचते हैं कि विकासवाद की विचारधारा ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना तथा संचालन के पूरे विश्वास को ही खंडित कर देती है।

तो प्रश्न यह उठता है कि क्या दरअसल धर्म विज्ञान के विरुद्ध है? इसका उत्तर जानने के लिए विभिन्न कोणों से धर्म और विज्ञान के संबंधों का विश्लेषण उपयुक्त रहेगा। यों धर्म और विज्ञान के

बीच संबंध का निर्णय इस तथ्य पर किया जाना चाहिए कि कोई व्यक्ति अपने जीवन के तथ्यपरक अनुभव से दोनों के बीच के संबंध को किस रूप में आंकता है। वैसे एक अमेरिकन धर्मवेत्ता प्रोफेसर जे.एफ हॉट ने धर्म और विज्ञान के संबंधों को चार कोणों से देखने, समझने और निर्णय लेने के बारे में अपने विचार रखे हैं। पहला कोण विश्वास का है कि धर्म और विज्ञान मूल रूप से ही परस्पर में विरोधी है। कई विज्ञानवेत्ता भी यह मानते हैं कि धर्म को विज्ञान के अनुकूल कभी भी नहीं बनाया जा सकेगा, क्योंकि विज्ञान के समान धर्म कभी भी अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट रीति से प्रमाणित नहीं कर सकेगा। विज्ञान हमेशा अपने प्रस्तावों तथा विचारों को अनुभव के आधार पर जांचता है, जबकि धर्म के विचार निष्पक्ष साक्ष्य के माध्यम से प्रयोगात्मक रूप से प्रमाणित नहीं किए जा सकते हैं। आज भी अपने आपको आस्तिक मानने तथा ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना में विश्वास रखने वाले ग्रह-नक्षत्र, भौतिकी और जैविकी के क्षेत्र में प्राप्त वैज्ञानिक उपलब्धियों को मानने से इन्कार करते हैं। अब धर्म व विज्ञान के संबंधों को देखने का दूसरा कोण है तुलनात्मक। वे वैज्ञानिक और धार्मिक पुरुष जो धर्म तथा विज्ञान के बीच विरोध को नहीं मानते, तर्क देते हैं कि अपने-अपने स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्रों में धर्म और विज्ञान दोनों सही है। विज्ञान के स्तरों के अनुसार धर्म का मूल्यांकन अपने-अपने कार्य की दृष्टि से होता है। विज्ञान प्राकृतिक जगत् का परीक्षण करता है तो धर्म उससे बहुत ऊपर अंतिम सत्य की खोज करता है। विज्ञान प्रकृति में पदार्थों का घटनाक्रम क्या होता है-इस पर विचार करता है तो धर्म प्रत्येक अस्तित्व पर गहराई से सोचता है। विज्ञान का मुख्य ध्यान कारणों पर तो धर्म का मुख्य ध्यान परिणामों पर रहता है। तीसरा कोण है जीवन्त सम्पर्क का कि धर्म और विज्ञान के संबंधों को तदनुसार समझा जाए। यह कोण दोनों के बीच सार्थक सम्पर्क एवं चर्चा का पक्षपाती है। यह चाहता है कि ज्ञान के सभी क्षेत्रों में शोध और सहयोग से शाश्वत मानवीय जिज्ञासा को सदैव प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जीवन्त सम्पर्क के समर्थकों का विश्वास है कि वैज्ञानिक जानकारियों से धार्मिक श्रद्धा को अतिशय विस्तार मिलता है एवं श्रद्धा जागरूक व सशक्त बनती है। इसी प्रकार धार्मिक सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रयोगों को सम्बल प्रदान कर सकते हैं। इस सम्पर्क में ईश्वर के अस्तित्व को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित करने के तर्क पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता है ताकि आपसी विवाद बढ़े नहीं। यह कोण चाहता है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों का धार्मिक महत्त्व प्रतिपादित किया जाए। मानव चरित्र के निर्माण में अन्ततः धर्म और विज्ञान दोनों की भूमिकाएं हैं और दोनों का योगदान अपेक्षित रहता है। जैसे आज के वास्तविक संसार का स्वरूप समझने के लिए मस्तिष्क कार्य करता है, उसी रूप में धर्म और विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध मानना चाहिए तथा मनुष्य के कृतित्व का कहीं भी विस्मरण नहीं होना चाहिए। चौथा कोण है प्रमाणीकरण का। जीवन्त सम्पर्क से यह आगे का कोण है। इस कोण के समर्थक मानते हैं कि धर्म को समूचे वैज्ञानिक उपक्रम का सहायक होना चाहिए। सच में धर्म की इस मान्यता ने कि यह विश्व एक मर्यादित, सम्बद्ध तथा व्यवस्थित घटक है-विज्ञान की ज्ञान-पिपासा को जागृत बनाए रखा है। यथार्थ में विज्ञान इसी पूर्व विश्वास पर अपनी जड़ें जमाता है कि यह विश्व समग्र वस्तुओं की न्यायपूर्ण व्यवस्था पर टिका है और मानव मस्तिष्क उसकी सम्पूर्ण रूपरेखा का ज्ञान करने में समर्थ है।

व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक चारों कोणों को भली प्रकार समझ कर धर्म एवं विज्ञान के सम्बन्धों पर अपना विचार स्थिर कर सकता है। धर्म का अस्तित्व ही इस मान्यता पर निर्भर है कि विश्व एक व्यवस्थापूर्ण घटक है और इस विश्वास के कारण ही जब अन्यायपूर्ण घटनाएं घटती हैं तो सामान्यजन तक का धर्म के प्रति विश्वास डगमगा जाता है। धर्म का मुख्य काम है इस विश्वास को बनाए रखना। दूसरी ओर विज्ञान का अस्तित्व जानने की मूल इच्छा तथा प्रबल जिज्ञासा पर टिका है। सच तो यह है कि यदि धर्म को न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था के विश्वास का प्रतीक मान लिया जाए तो वह विज्ञान के कार्य को रोकेगा नहीं, अपितु भरपूर प्रोत्साहन भी देगा।

धर्म-विज्ञान के संबंधों से संबंधित इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और विज्ञान के दोनों क्षेत्रों में प्रचलित रूढ धारणाएं दोनों के समागम की बाधक बनी हुई है और ये ही धर्म और विज्ञान की अपनी-अपनी मजबूरियां हैं, जिन्हें मिटा देने का अब वक्त आ गया है। ये मजबूरियां समय की कसौटी पर खरी नहीं उतरी है और इनका लाभ उठाने वाला भी एक निहित स्वार्थी वर्ग है जिसे धर्म और विज्ञान से भी ऊपर अपनी ही स्वार्थपूर्ति की चिन्ता रहती है। इस कारण अब तक धर्म और विज्ञान दोनों का जितना लाभ जनता को मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया है। अब उससे वंचित रहना उचित नहीं।

अब बात सोचनी होगी धार्मिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक धर्म की :

धार्मिक विज्ञान तथा वैज्ञानिक धर्म का मौलिक अर्थ यही माना जाए कि धर्म और विज्ञान के बीच सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ तथा प्राभाविक बने जो धर्म को अंधश्रद्धाओं के अंधेरे कुएं से निकाल कर ज्ञान की प्रभा से ओजमय बनावे तो विज्ञान पर धर्म की सर्वहितैषिता, पवित्रता एवं शुभता का नियंत्रण स्थापित किया जाए। धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी तो हैं ही नहीं, परन्तु दोनों को घनिष्ठ रूप से परस्पर पूरक बनाया जाए। मानव चरित्र के विकास एवं जीवन के अभ्युदय के लिए शुद्ध धर्म भी चाहिए और हितकारी विज्ञान भी। एक के भी अभाव में जीवन में वांछित पूर्णता प्राप्त करना दुष्कर होगा।

संगठित मतवाद तथा पूंजीवाद के कुप्रभाव से आज धर्म के क्षेत्र में भले अनेक विकृतियां आ घुसी हों, किन्तु धर्म की उपयोगिता शाश्वत है। मानव हृदय को और उसकी भावनाओं को सही पोषण सच्चे धर्म से ही मिल सकता है। अपने जैसे अस्तित्व वाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ हम समझ या बुद्धि का सम्बन्ध बिठा कर व्यवहार चला लेते हैं, लेकिन भीतर में कुछ अधिक पाने की भूख बनी रहती है। वह भूख निश्चित रूप से है और उस पर तर्क उचित नहीं। व्यवहार जिस बुद्धि की शक्ति से चलता है, उसका उत्स मूल की इस भावात्मक भूमिका से अभिन्न है। धर्म इसी भावात्मक भूमिका के तल की अनुभूति का नाम है। यह अनुमान सत्य जैसा लगता है कि जब मनुष्य आज की तीव्र गति की तथाकथित प्रगति से ऊब जाएगा, तब वह धर्म की संभावनाओं की ओर ही मुड़ेगा। आज गहराई से झांके तो वर्तमान समाज के सभ्य स्तर के नीचे एक पूरी की पूरी दुनिया अपनी अलग जिन्दगी जीती है और जिसका ढांचा पूरी तरह से नरक जैसा है। यह अपराधों की

दुनिया है जिसे 'अंडरवर्ल्ड' कहा जाता है। यह दुनिया इतनी ताकत पकड़ती जा रही है जो सभ्य स्तर को तनावपूर्ण बना कर अपनी ओर खींचती है। यह सभ्य संसार के विस्फोट का कारण भी बन सकती है। तो ऐसे में धर्म की अपूर्व भूमिका है। इतिहास के पन्नों पर अंकित है कि सभ्य और सज्जन लोगों ने अपने जीवन में धर्म के प्रभाव से इतना परिवर्तन नहीं लाया होगा, जितना आमूलचूल परिवर्तन अर्जुनमाली, अंगुलीमाल जैसे हत्यारे व डाकू और कोशा आदि वेश्याओं जैसे घोरतम अपराधी ले आए। इससे लगता है कि भयंकर डाकू और घोरतम वेश्या भी मूल में धार्मिक है। ऐसे में आज धर्म सामाजिक परिवर्तन का कितना शक्तिशाली माध्यम सिद्ध हो सकता है?

दूसरी ओर यदि वैज्ञानिक अपनी प्रयोगधर्मिता के साथ धर्म की ओर खिंचेगा तो वह नहीं होगा जिसे केवल विश्वास या श्रद्धा कहते हैं, बल्कि उससे कुछ अधिक होगा। विश्वास निश्चित रूप से वह है जो शत-प्रतिशत रूप से तर्क पर आश्रित नहीं होता। तर्क-विचार जहां तक जाता है और फिर आगे बढ़ने में असमर्थता के कारण रुक जाता है, वहीं से विश्वास प्रारम्भ होता है। विश्वास का संबल बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। आखिर वैज्ञानिक भी विरोधाभासों के जाल में उलझता हुआ शोध की दिशा में आगे बढ़ता है तो विश्वास के संबल की ही मदद से। सब कुछ से हार थक जाए तो अंत में केवल विश्वास ही तो रहता है, जिसके सहारे विकास का नया क्रम बनाया जा सकता है। बुद्धि भी अगर विश्वास का आसरा न पकड़े तो वह बांझ ही रहेगी। यह विश्वास बुद्धि का पूरक होता है, जो बुद्धि को नहीं, बुद्धि के दंभ को परास्त करता है और बुद्धि को नम्रता, ऋजुता तथा ग्रहणशीलता के गुण देता है। आज भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक हैं जो पूरी तरह आस्तिक हैं और यह आस्तिकता उनके वैज्ञानिक कार्यों में कहीं भी आड़ी नहीं आती है। सच तो यह है कि विश्वास का धनी वैज्ञानिक ही सच्चे अर्थों में सृजनशील बन सकता है। इसमें सच्चे मानव धर्म तथा प्रचलित धर्म के अन्तर को अवश्य समझ लेना चाहिए तथा मानव धर्म को ही विज्ञान की कसौटी बनाना चाहिए। धर्म वस्तुतः एक भावनात्मक वृत्ति है। सामूहिक भाव में उसे धारण रखने के लिए एक मतवादात्मक पात्र आवश्यक होता है। अमुक धर्म मात्र पात्र है, उससे अधिक नहीं। पात्र न हो तो रस किसमें टिके? परन्तु रस स्वयं पात्र नहीं होता और हकीकत में वह पात्र-निर्भर भी नहीं है। विज्ञान शुद्ध मानस-रस के नाते पात्र को भी स्वीकार करें-इसमें कुछ अनहोनी बात नहीं है। यदि रस प्रेमियों का केवल रस पर ही ध्यान केन्द्रित हो तो पात्र भी आपस में कभी खड़केंगे नहीं और न उनमें परस्पर गर्व या बिगाड़ पैदा होगा। परस्पर विवाद अथवा संघर्ष का मूल कारण होता है कि लोग रस को तो भूल जाते हैं तथा पात्र को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। यह एक मौलिक भूल है। चाहिए सबको रस और रस ही पीना है-पात्र तो मात्र रस भरने का आधार है। रस आत्मा है और पात्र शरीर-सब ओर आज मृत शरीर (शव) को कंधे पर लटकाए-लटकाए चलने का जो रोग हो गया है, उसे धर्म और विज्ञान की गाढ़ी परस्परता से ही दूर किया जा सकता है। इसी दृष्टि बिन्दु से अब सोचना चाहिए कि धर्म वैज्ञानिक बने, भावना के साथ विचार का भी महत्त्व माने, विश्वास से पहले तर्क को स्थान दे और लोगों को अंध श्रद्धा के गलियारों में भटकाने की बजाए उन्हें सत्याभिमुखी बनावे। इसी प्रकार विज्ञान भी धार्मिक बने, प्रकृति के चेहरे के साथ मानव के चेहरे को जोड़े, विचारांध न बनकर भावनाओं के मूल्य को समझे तथा व्यक्तियों के हाथों में संहारक शस्त्रों की काली ताकत थमाने की अपेक्षा विश्व

एवं समाज के सामूहिक हितों को सर्वत्र प्राथमिकता दे। फिर धर्म और विज्ञान दोनों सार्थक बनेंगे और दोनों व्यक्ति व समाज के व्यापक हितों के लिए ही काम करेंगे।

भौतिक-आत्मिक दो नहीं, प्रवहमान सरिता के दो तटों की तरह एक है :

प्राचीन काल से यही माना जाता रहा है कि धर्म आत्मिक-विज्ञान है और ज्ञान ही विशिष्टता पाकर विज्ञान बन जाता है। इस प्रकार धर्म और विज्ञान संयुक्त रहे हैं तो विज्ञान का आधार भौतिकता तथा धर्म का आधार आत्मिकता के रूप में पृथक्-पृथक् क्यों? दोनों के बीच में भी अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होना चाहिए। यह जो अन्तहीन ब्रह्माण्ड है, इसको चेतना कैसे समझे? उसकी समग्रता को लेकर एक गहरा घनिष्ठ भाव जो चेतना में समाता है, उसे अध्यात्म का बीज माना जा सकता है। समग्रता को किसी भी तरह चेतना अपने भीतर समाविष्ट नहीं कर पाती है, तब वह व्यग्रता से ही उस समग्रता को स्पर्श करती है। अचानक उस विवशता में से यह ध्वनि निकलती है कि समग्रता चेतना में नहीं समाती तो चेतना ही क्यों न समग्रता में समा जाए? इस प्रयास में एक अन्तर्भाव उत्पन्न होता है जो चाहे क्षण भर ही टिके, किन्तु वह चेतना को धन्य बना देता है। कोई व्यक्ति गर्मी के कारण पसीने से लथपथ हो और उसे शीतल जल से स्नान करने का अवसर मिल जाए-तब जो अनोखी स्वच्छता का अनुभव होता है, उसमें एक झलक मिल सकती है उस परम आनन्द की जो समाविष्ट होने के प्रयास से फूटता है। स्व को खोकर स्वास्थ्य अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनजानी या अनोखी नहीं है। यह प्रक्रिया तो शाश्वत है। परन्तु जहां समग्र को हम अपनी व्यग्रता से लेते हैं, उस व्यग्रता को होमते नहीं, क्रमशः झेलते हैं तो शायद उसी से जन्म मिलता है वैज्ञानिक अध्यात्म को। व्यग्रता की व्यथा को वहां बहलाया, पुचकारा नहीं जाता, जितना कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में गहरे उतारा और भोगा जाता है। इस साधना से ज्ञान-विज्ञान को जन्म मिलता है। गणित की सृष्टि होती है, जिससे ब्रह्माण्ड अणु में आ जाता है। नारायण नर में अवतीर्ण होता है और समष्टि का अध्ययन व्यक्ति में किया जा सकता है। पहली प्रक्रिया समग्रता में समाविष्ट होने की अभेद श्रद्धा से संबंधित थी तो दूसरी व्यग्रता को झेलने की यह प्रक्रिया भेद-विज्ञान से संबंधित है। दोनों ही प्रक्रियाएं व्यक्ति में उत्कर्षण लाती है तथा उसे उत्कृष्ट बनाती है। आशय यह कि धर्म और विज्ञान अथवा आत्मिकता और भौतिकता का जन्म ब्रह्माण्ड के प्रति चेतना से ही हुआ है। यह अलग बात है कि विभिन्न वृत्तियां विभिन्न रूपों में प्रतिफलित हुई। यदि भेद-विज्ञान से अध्यात्म मुंह नहीं मोड़े तो वह वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण कर लेगा। ऐसा अध्यात्म कभी जड़ता या विमुखता को स्वीकार नहीं करेगा। जहां तक इस भौतिकवाद का प्रश्न है, यह अनुभव जन्य है कि जो चेतना संगत हो, वह स्वयं भौतिक विकास प्रक्रिया की अंगभूत होने से सच्ची ठहरती है। भौतिकवाद जब चेतन पर न टिक कर वस्तु और बिन्दु से आरम्भ होता है तब वह अनिष्टकारी नहीं बनता। वह सत्य साधन की एक पद्धति के रूप में ढल जाता है और आसानी से संस्कृति का उपकरण बन जाता है। ऐसे भौतिकवाद को अध्यात्म अपने में आसानी से खपा और समा सकता है।

आत्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में वही समान रूप से विजेता बन सकता है जिसके पास अलग अहं का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है और विग्रहों के बीच में से जो न्याय की खोज कर

लेता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भौतिक और आत्मिक यों एक हैं, दो नहीं और अगर दो भी मानें तो इस अर्थ में कि जैसे प्रवहमान सरिता के दो तट दो दिखते हुए दो नहीं होते। वे दोनों तट परस्पर जल प्रवाह के स्पर्श से शीतल और एकत्रित बने रहते हैं। यदि कोई नदी में स्नान करने के लिए उतरता है तो किसी एक ही तट से उतरने की अनिवार्यता नहीं रहती। दोनों में से किसी भी तट से नदी में उतरा जा सकता है। इस नदी में वे दोनों तट सहज रूप से मिले हुए ही रहते हैं। स्थिति को स्पष्ट करें तो यह कहा जाएगा कि जब तक नदी का प्रवाह है, प्रवाह में जल है-तट तो दो रहने ही वाले हैं और प्रवाह के स्पर्श के माध्यम के अतिरिक्त वे कभी आपस में एक होने वाले भी नहीं। यही विश्लेषण भौतिक एवं आत्मिक तत्त्वों पर भी लागू किया जा सकता है। इन दोनों के बीच पैदा होने वाला मतवाद आग्रह डालने वाले अहंकार को ही प्रकट करता है। विभिन्न वादों के बीच भी जो विग्रह पनपता है उसका मूल कारण भी अहंवाद ही होता है। शुद्ध रूप में देखें तो सभी धर्म, सिद्धान्त, विज्ञान और वाद उसी को पाने और देने की कोशिश में बने हैं, जो परम सत्य है। यह एकता और अभिन्नता श्रद्धा और विश्वास में से ही दिख सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में यही एकत्रितता और एकाग्रता लाना चाहता है। दृढ़ व्यक्तित्व भी हमें दिखाई देते हैं, वे वही हैं, जिन्होंने किसी न किसी प्रकार से यह योग और ऐक्य अमुक मात्रा में साधा है। एक लगन से बंध जाने वाले लोग ही बहुत कुछ कर गुजरते हैं। दृढ़ता एवं क्षमता अन्तः-प्रवृत्तियों में इसी एकीकरण का नाम है। चरित्र निर्माण एवं विकास की यात्रा में ऐसा एकीकरण निश्चित सफलता की ओर ले जाता है।

धर्म, विज्ञान व विकास का अन्तर्सम्बन्ध एवं चारित्रिक प्रगति :

वर्तमान समय में धर्म, विज्ञान एवं विकास के बीच कैसा संबंध है? विज्ञान के नये अनुसंधानों से जो नई तकनीकें पनप रही हैं, उनसे पैदा होने वाली नैतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं का निदान कहां और किस प्रकार खोजें? विज्ञान और विकास के क्षेत्रों में अभी तक जो मानवीय चेहरा गुम है, उसकी प्रतिष्ठा कैसे की जाए? धर्म की नई क्रांतिकारी भूमिका क्या होनी चाहिए? क्या सबसे पहले यह बुनियादी जरूरत नहीं कि चरित्र निर्माण पर गंभीरता से ध्यान दिया जाए और निश्चित अवधि के बाद हर वक्त चारित्रिक प्रगति का लेखा-जोखा लिया जाए? ऐसे कई प्रश्न हैं जिनकी ओर व्यक्ति, समाज एवं विश्व का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए ताकि व्यापक रूप से मानव चरित्र के उत्थान के लिए उपयुक्त उपाय किए जा सके। चरित्रशीलता के सर्वत्र विस्तार के साथ-साथ ही धर्म, विज्ञान एवं विकास की समस्याओं का सही समाधान निकाला जा सकेगा तथा इन तीनों साधनों का मानव की चरित्र सम्पन्नता के साध्य प्राप्ति हेतु भरपूर सदुपयोग किया जा सकेगा।

धर्म, विज्ञान एवं विकास के बीच अन्तर्सम्बन्धों के लिए आज सबसे बड़ी समस्या है आर्थिक विषमता। धनवान और गरीब के बीच की आर्थिक खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है-गरीबों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और गरीबी की मार भी बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप एक ओर हिंसा बढ़ रही है तो दूसरी ओर निराशा भी बढ़ रही है। तरह-तरह की विकास प्रक्रियाओं के कार्यान्वयन

के उपरान्त भी बहुसंख्या में लोग जीवन निर्वाह की मूल आवश्यकताओं की उपलब्धि तक के लिए कठिनाइयों से जूझ रहे हैं। सारे प्रयत्नों के बाद भी उनकी अनेक समस्याएं अनसुलझी ही रह जाती है। इस परिस्थिति को ध्यान में रख कर सोचते हैं तो मूल कारणों में से एक कारण यह स्पष्ट होता है कि आज जो विकास की धारणा बनी है, वही भूल भरी है। यह भूल गंभीर है, क्योंकि विकास का पूरा ढांचा सिर्फ भौतिकवादी है-उसमें न तो मानवीय आकांक्षाओं का समावेश है और न ही उसके साथ मानव-निर्माण की कोई सार्थक योजना है। मानव के आध्यात्मिक स्वभाव तथा उसकी नैतिकता को उठाने की कहीं भी कोई बात नहीं है। विकास की सारी विचारधाराएं तथा सारी योजनाएं केवल भौतिक, आर्थिक तथा राजनीति दबावों की भूमिका पर बनाई गई है और उनके क्रियान्वयन की स्थिति तो और भी ज्यादा खराब है।

विचारणीय तथ्य है कि मानव का स्वभाव क्या है? अपने स्वभाव के अनुरूप मनुष्य की दो वृत्तियां दिखाई देती हैं-1. नीचे के स्तर पर प्रबल रहती है भोगैषणा अर्थात् जो हमेशा देह सुख की तलाश में रहती है तथा सुख-सुविधा के साधनों को बटोरने में ही लगी रहती है। 2. ऊपर के स्तर पर जागृत होती है त्याग, दया, न्याय, सहयोग आदि की वृत्तियां जो स्व से अन्य के, समाज के और विश्व के हित साधन हेतु तत्पर रहना चाहती है। इन वृत्तियों का निर्माण प्राकृतिक भी होता है तो निर्मित भी। यदि चरित्र निर्माण की ओर ध्यान नहीं है तो प्राकृतिक भोग लालसाएं भी उद्दाम एवं निरंकुश होकर अव्यवस्था तथा अराजकता की कारक बन जाती है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से चरित्र निर्माण तथा विकास के प्रयास निरन्तर चलते रहते हैं और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार मूल्य प्रचलन में बने रहते हैं। फिर भी चरित्र पतन के साथ बहुमुखी पतन की राहें भी खुल जाती है। अत: मानव स्वभाव को चारित्रिक प्रगति के साथ अधिकाधिक रूप से श्रेष्ठता में ढाला जा सकता है और निर्मित किया जा सकता है। यह इस तथ्य पर भी निर्भर करता है कि प्रत्येक नागरिक की जागृति के लिए क्या उपाय किए जाते हैं। एक व्यक्ति का व्यवहार भी विभिन्न परिस्थितियों में नई-नई विभिन्नताएं लेकर सामने आता है। ऐसी विभिन्नताएं सबके अनुभव में आती है। जैसे एक कुशल व्यापारी होता है जो अपने व्यापार के कामकाज में पूरी तरह भौतिकवादी रहता है, किन्तु वही व्यापारी अपने परिवार में त्यागवृत्ति को भी अपनाता है, जहां वह प्रेम, उदारता, बलिदान आदि की आध्यात्मिक वृत्तियाँ दिखाता है।

अब प्रश्न यही उठता है कि प्रत्येक मानव हृदय में दबी-छिपी ही सही-जो ऊपर के स्तर की वृत्तियाँ हैं, उन्हें जागरूक बना कर सार्वजनिक भले के लिए कैसे प्रयुक्त किया जाए? प्रत्येक व्यक्ति जो अपने परिवार तथा मित्रों के साथ व्यवहार में ऊपर के स्तर की वृत्तियों को अपनाता है-उसमें उन वृत्तियों का बहुत आगे तक भी विस्तार करने की पूरी क्षमता मौजूद होती है। इस विस्तार के लिए उचित शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में भौतिक शिक्षण-प्रशिक्षण के सिवाय पुष्ट मात्रा में आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। यहां सच्चे धर्म की प्रमुख भूमिका होनी चाहिए। यह धर्म मानव धर्म होना चाहिए और वह विश्व धर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सक्षम हो। सच तो यह है कि विकास का नाता जैसा विज्ञान से है उससे भी गहरा धर्म के साथ होना चाहिए।

कारण, जब तक मानव चरित्र सुगठित नहीं होता है तब तक विज्ञान और विकास सार्थक नहीं हो सकता है। सच्ची सार्थकता धर्म देता है जो चरित्र विकास के रूप में प्रकट होती है तथा व्यक्ति से विश्व तक में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की क्षमता रखती है। धर्म को या यों कहें कि प्रमुख धार्मिक सिद्धान्त अहिंसा को पूर्णतया एक जीवनशैली के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। जैसे विज्ञान की भौतिक जगत् पर पकड़ है, वैसी ही पकड़ आध्यात्मिक जगत् पर धर्म की बननी चाहिए। धर्म और विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र में बुनियादी काम करते हुए साथ-साथ में जुड़े और मानव चरित्र के निर्माण में सम्मिलित प्रयत्न करें तो विकास को सर्वथा उपयोगी एवं लाभदायक बनाया जा सकता है। विज्ञान प्रामाणिक ज्ञान देता है किन्तु मूल्य नहीं बना सकता और मूल्यों के अभाव में वह प्रामाणिकता प्रदूषित बना दी जाती है। तब विकास तो होता है, पर मानव-हितों के विरुद्ध। मूल्यों का निर्माण तथा नैतिकता का प्रचलन धर्म द्वारा ही संभव है। वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान के सद्भाव में विकास पूर्णतया मानव हितकारी बन सकता है।

चरित्र सम्पन्नता का यह त्रिकोण, मानव जीवन का रक्षा-मानव :

धर्म, विज्ञान तथा विकास के नव रूप के साथ यह जो चरित्र सम्पन्नता का त्रिकोण बनता है, इसे मानव जीवन का रक्षा-कवच कहा जा सकता है। यदि मानव जीवन इस प्रकार सुरक्षित हो जाता है तो समाज, राष्ट्र और विश्व के नवनिर्माण को कोई भी शक्ति प्रतिबाधित नहीं कर सकती है।

चरित्र सम्पन्नता के इस त्रिकोण की बारीकियां समझिए। इस त्रिकोण की तीन भुजाएं हैं-धर्म, विज्ञान एवं विकास। तीनों भुजाएं जब जुड़ती हैं तब त्रिकोण बनता है और यह त्रिकोण जितना पूर्ण होगा, उतनी ही चरित्र सम्पन्नता की शुभता व्यापक और विस्तृत बनेगी। चरित्र व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उस व्यक्तित्व को उन सद्गुणों से परिपूरित बनाता है जिनके आधार पर वह आगे से आगे सफलता का वरण करता रहता है। चरित्रशील व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वव्यापी गुण होना चाहिए-हिंसक जीवन। अहिंसा को पूरी तरह जीवनशैली के रूप में अपनाने के लिए हिंसा से मुंह मोड़ लेना जरूरी है। हिंसा से छुटकारा कब हो सकता है-यह समझने की बात है। हिंसक व्यक्ति कितना ही साहसी या पराक्रमी दिखाई देता है किन्तु असल में वह वैसा होता नहीं है। उस हिंसा के तल में भय होता है और भय की मौजूदगी किसी को भी हिंसक बना देती है। भय व्यक्तित्व को कई रूपों में बांट देता है, व्यक्तित्व में संयुक्तता नहीं रहने देता। संयुक्तता नहीं रहती तो एकाग्रता नहीं बनती। इस कारण व्यक्तित्व को संयुक्त और एकाग्र बनाने के लिए अहिंसा का आधार ही आवश्यक होता है। अहिंसा से सहयोग और प्रेम पैदा होता है और उस कोमल प्रेम से व्यक्तित्व में जो दृढ़ता तथा साहसिकता जागती है, वही चरित्रशीलता में ढल कर नवनिर्माण की प्रखर सहायिका बनती है। मानव व्यक्तित्व की अखंड संयुक्तता कठोरता में नहीं, कोमलता में ही सम्पन्न हो सकती है। जिन पर कष्टों पर कष्ट आते रहे और जो उत्तर में मिठास पर मिठास देते रहे, उनका व्यक्तित्व ही महानता में ढला है। वे किसी से बलिदान लेते नहीं, तिल-तिल अपना ही बलिदान देते हैं और अन्ततोगत्वा वे परम सिद्धि अर्थात् व्यक्तित्व के सम्पूर्ण एकीकरण को साध लेते हैं।

निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि विश्व समाज के प्रति मानव व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित अहिंसा की भावना जब तक कार्यरत नहीं बने, तब तक अहिंसक समाज रचना की बात केवल विचारों में ही रहेगी, क्योंकि विश्वानुभूति से ही व्यक्ति व्यक्ति में समानता और सहजीवन के संस्कार उत्पन्न किये जा सकते हैं तथा अपने दृष्टिकोणों एवं लक्ष्यों को विशाल एवं व्यापक उद्देश्यीय रूप दिया जा सकता है। समाज में अहिंसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए दृष्टि का विस्तृत होना अनिवार्य है-अपने-पराये के ये ओछे घेरे, स्वार्थ और इच्छाओं के कलुष कठघरे तोड़ देने होंगे। विश्व की प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख के साथ एक्यानुभूति का आदर्श जीवन में लाना होगा। भारतीय संस्कृति का यह स्वर तो अतीव उच्चादर्शयुक्त है कि यह मेरा है, यह दूसरे का है-ऐसा मानना संकुचित हृदय वालों का काम है, क्योंकि विशाल हृदय वाले तो पूरे विश्व को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं (**अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**)।

व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना श्रेष्ठ हो कि वह अपने अर्जित सद्‌गुणों का प्रयोग सर्वहित में ही करे और उसका व्यक्तित्व इतना विशाल भी हो कि वह परिवार से लेकर सभी वर्गों, समाजों, राष्ट्रों तथा विश्वभर में सर्वांगीण उन्नति एवं समता स्थापना की दृष्टि से प्राभाविक भी बने। ऐसे उत्तम व्यक्तित्व के निर्माण से ही धर्म, विज्ञान और विकास सार्थक बन सकते हैं। इस व्यक्तित्व के निर्माण का एक ही सशक्त साधन है कि चरित्र का निर्माण हो, वह सुगठित बने, निरन्तर विकास करता रहे तथा एक दिन सम्पन्नता से प्रकाशमान बन जाए।

◆◆◆



शोषण और उत्पीड़न मिटे बिना प्रेम कहां? प्रेम बिना समता कैसी?

प्रेम ही संसार का आधार

प्रेम व मोह में भेद पूछा है
मैं सब भेदों के पीछे
एक ही चीज देखता हूं
वह एक मूल भेद ही सब में प्रकट होता है
वह भेद क्या है?
मैं या तो अपने को जानता हूँ
या नहीं जानता हूँ
''मैं कौन हूँ''-यह नहीं जानने से
जो प्रीति पैदा होती है
वह मोह है।
''मैं कौन हूँ''-यह जानने से
प्रेम आता है।
प्रेम ज्ञान है, मोह अज्ञान है
प्रेम निरपेक्ष है-
सबके, 'समस्त' के प्रति
वह 'पर' पर निर्भर नहीं है
वह स्वयं में है
वह 'किसी से' नहीं होता है
बस होता है।


शोषण और उत्पीड़न मिटे बिना प्रेम कहाँ?
प्रेम बिना समता कैसी ?
35

बुद्ध उसे करुणा कहते हैं
महावीर उसे अहिंसा कहते हैं
वह अकारण है
इसलिए नित्य है
मोह अनित्य है
जो कारण से होता है
'पर' निर्भर है
सापेक्ष है
एक के प्रति है
इसलिए दुःख का मूल है।
प्रेम आता है
जब मोह जाता है
मोह मुक्ति प्रेम से होती है
इस कारण प्रेम पा लेना
सब कुछ पा लेना है।
प्रेम मुक्ति है।

यह आचार्य रजनीश 'ओशो' की रचना है। आज की दुनिया अधिकांशतः मोह को ही प्रेम मान कर चलती है। यहां विषमताओं तथा विरोधाभासों का साम्राज्य है जिसने मनुष्यों के हृदय को संकुचित, व्यथित तथा अदूरदर्शी बना रखा है। वे अपने सोच में तात्कालिकता से आगे नहीं बढ़ पाते हैं। इस कारण उनके सोच में स्वार्थ रहता है, आग्रह रहता है और कारण-अकारण दृढ़ भी। देह सुख हो या देह रक्षा-उनका ध्यान यहीं तक सीमित है अतः इनमें जिनका सहयोग सहायक होता है, उन्हीं से सम्पर्क और उन्हीं से निकटता की प्रवृत्ति बनी हुई है तो उन्हीं के साथ उनकी नजर में प्रेम किया जाता है। वे प्रेम और मोह का अन्तर नहीं जानते, क्योंकि वे समता को नहीं पहिचानते और उन सद्गुणों को नहीं चिह्नते, जो उनके व्यक्तित्व को बनाते हैं, चरित्र को गढ़ते हैं तथा उनकी दृष्टि को विशालता देते हैं। यही कारण है कि प्रेम और मोह का भेद उनकी सोच और समझ में स्पष्ट नहीं है।

मानव चरित्र को एक वृक्ष की उपमा दें तो उसके पत्ते होंगे छोटे बड़े व्रत-प्रत्याख्यान, उसकी छोटी शाखाएं होगी गृहस्थों के अणुव्रत तथा बड़ी शाखाएं साधुओं के महाव्रत। फिर उस वृक्ष पर जो फूल खिलेंगे, उन्हें समता के फूल कहना उपयुक्त रहेगा और उस वृक्ष का जो फल होगा, वह प्रेम का फल। मोह नहीं, प्रेम का सर्वत्र प्रसार मानव चरित्र के उन्नयन का उच्चतम शिखर होगा। इस प्रेम को भगवान् कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

जब तक मनुष्य हिंसा से घिरा है, विषमताओं से ग्रस्त है, स्वार्थपूर्ति के लिए लालायित है अथवा भौतिक सुखों की मूर्छा है, उसे अपनी, समाज की या विश्व की वास्तविक उन्नति का मार्ग नहीं मिलेगा। प्रेम को पहिचानना तथा उसका रसास्वादन करना तो बहुत दूर की बात है। ऐसे प्रेम को पाने

के लिए समता का आह्वान करना होगा। समता यों ही नहीं मिल जाएगी, उसके लिए पहले बहुत कुछ करना होगा। व्यक्ति को चरित्र निर्माण के नए पाठ पढ़ने होंगे, समाज के ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होंगे तथा सभी प्रकार की विषमताओं को मिटाने के लिए अथक प्रयत्न करने होंगे ताकि मनुष्य द्वारा ही मनुष्य का शोषण, दमन तथा उत्पीड़न पूरी तरह बंद हो सके। तभी समता की रचना शुरू की जा सकेगी सभी क्षेत्रों में। मनुष्य मात्र मनुष्य की पहिचान होगी, अन्य सारे कृत्रिम भेदभाव मिटा देने होंगे। मनुष्य-मनुष्य में व्यवस्थागत कोई असमानता नहीं रहेगी तथा मनुष्यों को आत्मिक समता का भी भान दिलाया जाएगा। बाहर और भीतर की समता ही जब फलेगी-फूलेगी तभी प्रेम का माधुर्य जन्म लेगा।

मानव-हृदय में समता का वास : समानता का मापदंड चरित्र :

मौलिक रूप से सभी मानवों के हृदय में समता का वास होता है, उसका आभास भले ही अपनी-अपनी जागृति एवं योग्यता के अनुसार प्रकट या अप्रकट रूप में अथवा न्यून या अधिक मात्रा में होता हो। लेकिन यह सच है कि सभी तहेदिल से समता या समानता चाहते हैं। यह चाह आज की नहीं, प्राचीनकाल से उसके संस्कारों में ढलती हुई चली आ रही है। सभी धर्मनायकों ने इस चाह को संवारा है और मनुष्य को प्रेरित किया है कि वह इसे पूरी करने के लिए धर्म और नीति के अनुसार सभी प्रयत्न करें। भगवान् महावीर का उपदेश है कि सब में समान आत्मा है और राजा तथा रंक की आत्मा में मूल स्वरूप के नाते कोई भेद नहीं है। उन्होंने कहा-'यदि तुम्हारे सामने कोई आता है तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके नाम, रूप आदि में मत उलझो। तुम आत्मवादी हो सो आत्मा को देखो।' आत्मा के स्थान पर शरीर को देखना, उसके नाम, रूप या जाति को देखना शरीरवादी या भौतिकवादी दृष्टि है, आत्मवादी नहीं। आत्मवादी इन बाहरी प्रपंचों में नहीं उलझता है, उसकी नजर में परख होती है, अतः सूक्ष्म से भी सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण कर लेता है-स्थूल पर उसकी दृष्टि अटकती नहीं। एक आत्मवादी सूक्ष्म तत्त्व को पहिचानता है तथा उसी का सम्मान करता है। प्रमाणस्वरूप आचारांग सूत्र में कथन आया है कि साधु के समक्ष चाहे कोई सम्राट आवे या तुच्छ दरिद्र भिक्षुक, वह बाह्य स्थिति को न देखे तथा दोनों को आत्म-जागरण का समान उपदेश दे (**जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ। जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ**)। आत्म-समानता का बोध वही करा सकता है जिसके चरित्र में सदाशय एवं साहस कूट-कूट कर भरा हो, वरना इस संसार में सोने के मोल सभी बिक जाते हैं और स्वर्ण में ही सभी गुणों का संग्रहण देखते हैं (**सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति**)। स्वर्ण को वही ठोकर मार सकता है, जिसका सत्य का स्वर मुखर एवं प्रखर बन चुका हो। इसकी विपरीत अवस्था का मार्मिक वर्णन ईशोपनिषद् में आता है कि सोने के पात्र से सत्य का मुख ढ़क दिया जाता है (**हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य विहितं मुखम्**)। इससे स्पष्ट होता है कि यह स्वर्ण सदा से सत्य तथा समता का शत्रु रहा है। स्वर्ण की महत्ता को समाप्त करने पर ही स्थिति में बदलाव लाया जा सकता है। यह निश्चित है कि मानव हृदय के मूल में स्वर्ण का नहीं, समता का ही वास है।

चरित्र से ही व्यक्ति का मूल्यांकन करो तथा चरित्र को ही समता या समता समाज का मापदंड

बनाओ, यह संदेश प्राचीनकाल से गूंजता रहा है। शरीर, जाति, कुल, वंश या ऐसे ही भौतिक भेदभावों पर धर्म को मत चलाओ। धर्म तो बस चरित्र को देखे, अध्यात्म को देखे कि कैसी ठोस भूमिका पर खड़ा है। धर्म को यह कदापि नहीं देखना चाहिए कि कौन धनी है, कौन दीनहीन, कौन क्षत्रिय महाजन है या कौन भंगी चमार अथवा कौन ऊंचे व्यवसाय के साथ जुड़ा है या कौन नीचे व्यवसाय के साथ। धर्म की दृष्टि समानता की दृष्टि होनी चाहिए, गुणवत्ता की दृष्टि होनी चाहिए।

इस दृष्टि से इतिहास के पन्नों को देखें तो यह विरोधाभास भी सामने आएगा जब तथाकथित धर्मों ने वर्ण और जाति का भयंकर पक्षपात किया, ब्राह्मण और शूद्र को आकाश व पाताल माना तथा धार्मिक व सामाजिक असमानता के बीज बोए। यह कितनी दर्दनाक बात थी कि शूद्र अर्थात् नीच वर्ण और नीची जाति के लोग धर्मशास्त्र का प्रवचन न सुने और कोई चोरी-छिपे सुन ले तो उसके कानों में पिघला शीशा भर दो। अस्पृश्यता का रोग भी तभी चला और मानव-मानव के बीच पशुता का भेद डाल दिया या उससे भी निकृष्ट कि पशु को गोद में बिठा लो तो कोई हर्ज नहीं, मगर शूद्र को स्पर्श तक करना पाप है और ऐसे स्पर्श के बाद स्नान से शुद्धि जरूरी है। यह अत्यन्त अमानवीय व्यवहार का चलन हुआ, जिसे भारी प्रयासों के बाद अब तक भी पूरी तरह से नहीं मिटाया जा सका है। ऐसी असमानता के विरुद्ध महावीर ने क्रान्ति का शंखनाद किया और स्वर गुंजाया कि जाति से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र मानने की जरूरत नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र अपने कार्य की उच्चता या नीचता के अनुसार माना जाना चाहिए (**कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो। वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा**)। यदि कोई ब्राह्मण शूद्र जैसा नीच कार्य करता है तो उसे शूद्र मानना होगा। इसके विपरीत कोई शूद्र उच्चता के कार्य करता है तो उसे ब्राह्मण जैसा सम्मान मिलना चाहिए। समानता की यही मांग थी। कहा गया कि जाति को विशेषता देने का कोई कारण नहीं है (**न दीसई जाइविसेस कोई**)। मनुष्य अपने कर्म के अनुसार ही ऊंचा बनता है और तदनुसार ही नीचा। किसी की जीवन की ऊंचाई को नापना है तो उसके चरित्र को देखो-उसके कर्म को देखो और उसके जीवन का मूल्यांकन करो। मनुष्य के मन में जातिवाद, वर्गवाद आदि विभिन्न वादों के जो विषम घेरे खड़े कर दिए गए हैं, उन्हें निर्मम बन कर तोड़ना होगा तथा समता का सजग आह्वान करना होगा कि मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एवं समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया जा सके।

सर्वव्यापी एवं बहुआयामी समता की स्थापना के लिए आत्मीय समानता का सिद्धान्त सर्वोच्च रहना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओं को समत्व-दृष्टि देते हुए कहा है कि संसार की समस्त आत्माओं को हम दो प्रकार की दृष्टियों से देखते हैं-एक द्रव्य दृष्टि से तथा दूसरी पर्याय दृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते हैं-पर्याय की दृष्टि से विचार करते हैं तो सभी आत्माएँ न्यूनाधिक रूप से अशुद्ध स्वरूपी प्रतीत होती है-चाहे वह आत्मा ब्राह्मण की हो या चांडाल की, यहां तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यों न हो-वह जब तक संसार की भूमिका पर स्थित है, न्यूनाधिक अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो कर्म एक आत्मा के लिए बंधन रूप हैं वे सभी आत्माओं के लिए भी बन्धन-रूप होते हैं। किन्तु बन्धन मुक्ति के भी सब के लिए समान उपाय होते हैं। यह पर्याय की

बात की गई है-पर्याय का अर्थ होता है वर्तमान दशा। जैसे किसी को मैली कमीज पहने हुए देखते हैं तो मुंह से निकल जाता है कि वह कितना गंदा है। लेकिन अच्छे कपड़े वाली उस मैली कमीज को साफ धो डाले तो वह सबको सुहा जाएगी। पर्याय वह है जो मनुष्य के कर्म के अनुसार बदलती रहती है। द्रव्य आत्मा के मूल स्वरूप को कहा है, जो विशुद्धतम होता है। द्रव्य दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं और पर्याय की दृष्टि से भी उनकी अशुद्धता एवं अशुभता को दूर करते हुए शुद्ध एवं शुभ चरित्र का जितना अधिक विकास व विस्तार किया जाएगा, उतनी ही आत्मा की पर्याय स्थिति भी द्रव्यस्वरूप के निकट होती जाएगी। द्रव्य से प्राप्त सभी आत्माओं की समानता को पर्याय की समानता में ढालने के उपक्रम का नाम ही समता है। यह समता मूल्यों पर आधारित होती है तथा गुणवत्ता को प्रोत्साहन देती है-साथ ही भौतिक असमानताओं को कदापि सहन नहीं करती है।

समता आएगी जब विषमता मिटेगी और विषमता मिटेगी तब जब हिंसा घटेगी :

यह सीधा-सादा फार्मूला है कि जब राज-समाज में हिंसा बढ़ जाती है तो व्यवस्था ढीली होती है और वे लोग अपनी स्वार्थपूर्ति में सक्रिय हो जाते हैं जिनके पास धन, बाहुबल, सत्ता बल या अन्य प्रकार की ताकत होती है। ये निहित स्वार्थी प्रत्येक क्षेत्र में विषमताएं बढ़ाने लगते हैं, जैसे राजनीति में ये लोग उसी को अपना उम्मीदवार बनाएंगे जो उनकी हां में हां मिलाते हुए उनकी स्वार्थपूर्ति को दमन आदि भी करके आसान बना सके या खुद ही खड़े हो जाएंगे। इससे वे योग्य, चरित्रशील तथा लोकतंत्र की नीतियों के अनुसार चलने वाले लोग चुनाव से वंचित हो जाएंगे। इस प्रकार राजनीति विषम होती जाएगी जैसे कि उसका आज अपराधीकरण तक हो रहा है। इसी तरह आर्थिक क्षेत्र में धनिक को अधिक धनी तथा गरीब को ज्यादा गरीब बनाने की रणनीति बड़े उद्योगपति व व्यवसायी चलाते हैं तो आर्थिक विषमता फैलती है। यही क्रम समाज तथा धर्म के क्षेत्र में भी चल पड़ता है कि धार्मिक और गुणवान व्यक्तियों को कोनों में दुबक जाना पड़ता है तथा ढोंगी व पाखंडी ही नेतृत्व की बागडोर अपने हाथों में ले लेते हैं तथा अपने वर्चस्व का सिक्का जमाते हैं। विषमता का फैलाव इस प्रकार चारों ओर हो जाता है, तब लगता है कि ऐसे में समानता का शंखनाद कैसे सफल बन सकेगा?

तो प्रश्न यह उठता है कि हिंसा क्यों बढ़ती है? यह संस्कृति तथा सभ्यता के विकास स्तर का सवाल है कि लोगों के क्रियाकलापों में पशु बल की अधिकता है अथवा मानवीय मूल्यों की? पशु बल का अर्थ है शरीर-बल और उसके साथ ही भौतिक बल के अन्य साधन-शस्त्रास्त्र, सेना सिपाही आदि। इस बल का प्रयोग जितना होगा उतना हिंसा का विस्तार होगा। इसके विपरीत मानव चरित्र में करुणा, दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि के गुणों का समावेश होगा तो हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रभाव बढ़ेगा। हिंसा हटती है तो समझिए कि विषमताएं भी मिटने की दशा में आ जाती है और व्यवस्था भी सुचारू होने लगती है। तब समता को व्यक्ति से विश्व तक की व्यवस्था रचना में समाविष्ट करने में अधिक कठिनाई नहीं रहती। इसके साथ ही यह तथ्य ज्ञातव्य है कि हिंसा की भी जड़ भय-वृत्ति में होती है। हिंसक की जो ताकत बाहर निकलती और दिखाई देती है उसका उद्गम उसके मन के भय से ही होता है। वह जो कभी टूटे नहीं, डिगे नहीं, ऐसी दृढ़ता हिंसक की कभी

नहीं होती। हिंसक की दृढ़ता कट्टर होती है, लोच उसमें नहीं होता, पर वह दृढ़ता नहीं होती। ऐसा बल सदा अपने से अधिक बल से डरता है। इस बल से प्रबल माने जाने वाले हिंसक व्यक्तियों के समक्ष यदि उनकी पत्नी या पुत्र की हत्या का दृश्य आवे तो क्या होगा? क्या वे अविचल रह सकेंगे, बल्कि वे डर से बौखला जाएंगे। दूसरी ओर महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता कि स्वयं उनके पुत्रों को उनके सामने फांसी दी जाती है तो वे तनिक भी नहीं डिगते। यह भारी अन्तर होता है शरीर बल और आत्मबल में। आशय यह है कि हिंसक से हिंसक व्यक्ति भी उपचार के योग्य होता है कि वह अहिंसक बन सके। उसके मन में रचे-बसे भय को निकाल दीजिए, वह अवश्य हिंसा से हटने लगेगा। फिर फार्मूला यह बनेगा कि हिंसक को सुधारिए, हिंसा को हटाइए। विषमताओं को मिटाने के लिए आगे बढ़िए, व्यवस्था को नये सिरे से ढालिए कि समतामय वातावरण तथा रचना का आरम्भ हो सके। किन्तु यह सब चरित्र बल के आधार से ही किया जा सकेगा जिसके सामने बाहर का कोई भी बल टिकता नहीं। गांधीजी ने कभी किसी को नहीं मारा, पर खुद हमेशा मरने के लिए तैयार रहे तथा आत्मबल का अमोघ उपाय सबको बताया।

विश्व में शायद ही ऐसा कोई धर्म होगा जो हिंसा का समर्थन करता हो। सभी धर्मग्रन्थों में अहिंसा और शांति की चर्चा मिलती है। यह दूसरी बात है कि अनुयायी अंधे जोश में अपनी ही धर्माज्ञाओं को न माने। हिंसा के सवाल पर कुरान (इस्लाम का मुख्य धर्म ग्रंथ) की किन्हीं आयतों का जिक्र करना उचित रहेगा। कहा गया है कि खुदा के नाम पर उन लोगों से इतनी ही लड़ाई करो जितनी लड़ाई वे तुमसे कर रहे हैं, खुद हमला कभी मत करो। खुदा हमलावरों को पसंद नहीं करता। (अल-बकर, 2-191) और अगर तुम हमलावरों को सजा देना चाहते हो तो उन्हें उतनी ही सजा दो जितनी उन्होंने तुम्हारे साथ बुराई की हो। यह न करके अगर तुम सहनशीलता दिखलाओ तो वह सबसे अच्छी है (अलनहल, 16-127) तथा अगर वे हमलावर अमन की ओर आगे बढ़ते हो तो तुम जरूर अमन की ओर ही बढ़ो (अल अनफल 8-62) यहां तक कि दो मुसलमान आपस में जो दुआ सलाम करते हैं, वह "अस्सलाम-ओ-अलेकुम" कहा करते हैं जिसका मतलब है-आपको शान्ति प्राप्त हो। कुरान में एक स्थान पर तो यह भी लिखा है कि शहीद के खून से भी ज्यादा पाक होती है सत्य-शोधक की कलम की स्याही। इस विवेचन का अन्तर्भाव यह है कि जिस धर्म-मजहब के क्षेत्र में उनके अनुयायी अपनी सच्ची शिक्षाओं को भूल कर अतिचार या मिथ्याचार में भटक गये हों, उनके जागरण का प्रश्न भी चरित्र निर्माण व विकास की दृष्टि से ध्यान में रखा जाना चाहिए। यह एक और धार्मिक शिक्षा भी प्रचार में आनी चाहिए उन लोगों के लिए जो कर्म, नियति या भाग्य में अधिक ईश्वर द्वारा सृष्टि संचालन में ज्यादा भरोसा करते हैं। उन्हें बताया जाए कि ईश्वर अपने काम में भेदभाव कदापि नहीं करता, इसलिए वह उन सब भेदभावों के विरुद्ध है जो भेदभाव मनुष्य ने अपनी काली ताकतों की मदद से जन्म, सम्पत्ति, वर्ण, धर्म या अन्य बातों को लाद कर पैदा किए हैं। वे यह मानेंगे कि सभी मनुष्य समान हैं, समानता उनका अधिकार है तथा समाज, राष्ट्र व विश्व में समानतापूर्ण व्यवस्था स्थापित करने में प्रत्येक मनुष्य को आगे आना चाहिए तथा अपनी योग्य भूमिका निभानी चाहिए।

सम्पूर्ण जीवनशैली का अहिंसक होना ही समता का मूलाधार :

महाभारत के भीषण युद्ध का वर्णन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि युद्ध द्वारा प्राप्त विजय निचले स्तर की या घटिया होती है। अत: किसी भी राजा को विजय के लिए युद्ध के सिवाय अन्य उपाय तलाशने चाहिए। निर्णय निकाला गया कि जिस प्रकार आग में लकड़ियां डालने से आग कम नहीं होती, बढ़ती ही रहती है, उसी प्रकार वैर की आग वैर से कभी भी शान्त नहीं हो सकती है बल्कि वैर बढ़ता ही जाता है। वैर की आग को एक बार दबा भी दें, तब भी लम्बे समय बाद किसी भी मामूली से कारण या अकारण भी वह फिर से भड़क सकती है। जब तक क्षमा और सहिष्णुता की सीख पल्ले नहीं पड़े, वैर की आग दब कर भी जलती रहती है। वैर का चलते रहना हिंसा और अशांति का चलते रहना है। वहां डर बना रहता है कि कब कौन किस पर वार कर बैठे? इस कारण वहां शान्ति कभी नहीं आती। यों युद्ध के अंत में परिणाम क्या सामने आते हैं? अपनों ने ही अपनों को मारा है, एक दूसरे को लूटा है-सताया है और मिला क्या-सिर्फ विनाश? विजय पराजित के पास नहीं रहती तो क्या विजयी के पास भी रहती है? वास्तविकता में नहीं।

ऐसे में यह समस्या सामने आती है कि कोई भी राजा या शासक अपने शत्रुओं को बिना युद्ध के कैसे परास्त करे? इसका उत्तर दिया गया है कि जो राजा या शासक अपनी प्रजा का कल्याण चाहता है, उसे युद्ध हर कीमत पर हर समय टालना चाहिए। सबसे पहले वह अपने पर, अपनी कामनाओं, वासनाओं एवं दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करें। तब शत्रुओं को जीतने की बात सोचे। अधर्म से वह अगर पूरी पृथ्वी भी जीत ले तो उसका अंश भी उसके पास रहेगा नहीं। इन सारे विचारों का उल्लेख उद्योग एवं शान्ति पर्वों (महाभारत) में मिलता है।

अटल सत्य यह है कि अहिंसा और शान्ति खोखले नारें नहीं हैं, बल्कि विचारशील एवं बुद्धिमान् जनता के जीवन का स्वर है। अहिंसा और शान्ति को नहीं मानना स्वयं जीवन को नकारना है। घृणा और हिंसा जहां जीवन के नकारात्मक पहलू है, वहां अपने स्वयं की भी नकार है। मनुष्य की तात्कालिन उत्तेजना तथा हिंसा की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति को समझ कर ही महाभारत काव्य में ही नहीं, उससे भी बढ़ कर जैन दर्शन में अहिंसा के विवेक को जगाया गया है। जीवन से बढ़ कर मनुष्य या प्राणी के पास अन्य कोई उपहार नहीं और स्वयं के जीवन से बढ़ कर भी मनुष्य की अन्य कोई इच्छित वस्तु नहीं-यह बिना किसी संदेह के प्रत्येक मनुष्य की मान्यता है। जब स्वयं वह सदा जीने की कामना करता है तो वह दूसरे का जीवन छीन कैसे सकता है? भगवान् महावीर ने कहा है- "वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो, कुछ भी कुकर्म हो, अन्तत: सब लौटकर कर्त्ता के पास ही आता है। यह समझना भारी भूल है कि की हुई बुराई उसके शत्रु पर असर डाल कर वहीं ठहर जाएगी-वह वापस कर्त्ता के पास कर्म बंधन के रूप में लौटेगी। इसलिए उनका उपदेश है कि मनुष्य-मनुष्य एक है, चैतन्य-चैतन्य एक है, जिसे तू पीड़ा देता है वह और कोई नहीं तू ही तो है। जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग सूत्र)।" यह अहिंसा ही है जो हृदय और शरीर के बीच, बाह्य प्रवृत्ति चक्र और अन्तरात्मा के बीच, स्वयं और साथियों व समाज के बीच एक सद्भावनापूर्ण

व्यावहारिक सामंजस्य पैदा कर सकती है, मानव-मानव के बीच बन्धुता की मधुर धारा बहा सकती है। मानव ही अहिंसा के विकास पथ पर निरन्तर प्रगति करते करते एक दिन अखिल प्राणी जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। संक्षेप में अहिंसा क्या है? समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य-आत्मौपम्य स्थापित करना ही अहिंसा है। अहिंसा में तुच्छ से तुच्छ जीव के लिए भी बन्धुत्व का स्थान है। जो जीव या व्यक्ति सर्वात्मभूत है, सब प्राणियों को अपने हृदय में बसा कर विश्वात्मा बन गया है, उसे विश्व का कोई भी पाप कभी स्पर्श नहीं कर सकता (**सव्व भूयप्प भूयस्स... पावकम्मं न बंधई**-दशवैकालिक सूत्र)।

यह सच है कि अहिंसा की नींव पर ही समता का भवन निर्मित किया जा सकता है। जब समाज, राष्ट्र और विश्व को समतामय बनाने की बात करें तो उसी परिमाण में अहिंसा का फैलाव अत्यावश्यक है। अहिंसा के फैलाव का अर्थ क्षेत्र से ही नहीं है, व्यक्तियों के स्वयं में तथा उनके सामाजिक जीवन से अधिक है। इस रूप में अहिंसा का विस्तार व्यापक और स्थाई तभी हो सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व के स्तर तक पूरी जीवनशैली अहिंसक बने। जीवनशैली का अर्थ मात्र खाना-पीना या रहना ही नहीं है। अहिंसा व्यक्ति के तथा सामूहिक संगठनों के भीतर में रच-बस जानी चाहिए कि वहां सोचा जाए तो अहिंसा की सद्भावना के साथ, बोला जाए तो अहिंसा की निश्छलता के साथ और किया जाए तो अहिंसा की आत्मशक्ति के साथ। अहिंसक जीवनशैली की विशेषता यह होगी कि व्यक्ति अत्यन्त संवेदनशील होगा तथा दूसरों की पीड़ा की पहले ही यह सूसगिरी कर लेगा-इसमें वह अपनी पीड़ा को भी भुला देगा कि उसे पहले पर-पीड़ा को मिटानी है। अपने भले की जो भी बात वह सोचेगा, उसे पहले दूसरों के भले के लिए क्रियान्वित करेगा। वह इस बोध के साथ करेगा कि दूसरों के सुख से ही स्वयं को सुख मिलता है। वह जान जाता है कि यदि कोई अपनी ही स्वार्थपूर्ति करेगा तो वह दूसरों के हितों को तो आघात पहुंचाता ही है, लेकिन अन्ततोगत्वा स्वार्थपूर्ति का सुख उसके पास भी नहीं रहता है। यही बात समाज, राष्ट्र व विश्व के हितों के साथ भी लागू होती है।

अहिंसक जीवनशैली में घृणा, वैर या राष्ट्रों के स्तर पर युद्ध का कोई स्थान नहीं रहेगा, इसलिए क्रोध और दबाव का भी काम नहीं बचेगा। वाद होंगे पर विवाद नहीं, सहयोग होगा पर संघर्ष नहीं- यह अहिंसा की पहिचान है। यह मूलभूत तथ्य स्मरण में रहना चाहिए कि जीवन का अस्तित्व जीवन पर निर्भर करता है अत: जीवनों के बीच जो प्रकट-अप्रकट अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है, उसे भावनात्मक रूप से पुष्ट करते रहना चाहिए ताकि सब ओर सुखद शान्ति फैली हुई रहे। यह भी याद रहे कि झगड़ों का मूल गुस्सा होता है और वही हिंसा में प्रवृत्ति करता है, वह दूसरे के वजूद को ही नकारता है। यों अहिंसा अमारक, रक्षक व संरक्षक है, विचार समन्वय है, अध्यात्मक बोधक है तथा संविभाग के आधार पर समाज व अर्थ की पुष्टिदायिनी है।

परिग्रह संचय पर अंकुश से समता स्थाई व सर्वव्यापी होगी :

जैसे-जैसे वैज्ञानिक सुख साधनों में वृद्धि होती जा रही है, वैसे-वैसे मनुष्यों का जीवन अधिक असन्तुष्ट और अशान्त होता जा रहा है। जहां एक ओर साधन सम्पन्न वर्ग ऐश्वर्य भोग में लिप्त है,

वहीं दूसरी ओर सर्व सुख सुविधाहीन अभावग्रस्त वर्ग पशुवत् जीवन जीने को अभिशप्त है। इससे मानव समाज में संघर्ष और द्वन्द्व का वातावरण बना रहता है। तृष्णा की जाज्वल्यमान अग्नि ने अहिंसा का प्रकाश नहीं, अपितु हिंसा की ज्वाला ही भड़काई है। यह हिंसा, परिग्रह लालसा के ही कारण है और इस कारण को दूर करने के लिए अपरिग्रह एवं संविभाग से अहिंसा की भावना फैलाई जा सकती है। यही नहीं, परिग्रह संचय पर अंकुश लगा कर स्थापित समता को स्थाई एवं सर्वव्यापी भी बना सकते हैं। जिन धर्म का पंच व्रतात्मक प्रतिपादन हुआ है। ये व्रत-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, भिन्न-भिन्न नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा के विकास बिन्दु से प्रारम्भ हुई जीवनयात्रा अपरिग्रह के शिखर पर पहुंच कर शोभायमान होती है तो अपरिग्रह से उद्गमित जीवन यात्रा अहिंसा के विराट सागर में महानता का वरण करती है।

वस्तु सत्य यह है कि अहिंसा, अपरिग्रह के बिना सफल नहीं हो सकती है, क्योंकि हिंसा का जन्म ही परिग्रह की भूमि पर होता है। यह अर्थ ही अनर्थ का मूल कारण है (**अत्थोमूलं अणत्थाणं** (ग्रन्थ मरणसमाधि) तथा हिंसा से पहले परिग्रह आता है (**आरंभपूर्वको परिग्रह**-सूत्रकृतांग सूत्र चूर्णि, 1-2-2)। अत: अहिंसक बनने की पहली शर्त है अपरिग्रही बनना। त्याग इसके मूल में है तथा त्याग के बल पर ही अशुभ से निवृत्ति लेकर शुभ में प्रवृत्ति संभव बनती है। यह परिग्रह बाहर की सत्ता-सम्पत्ति से भी बढ़ कर भीतर की मूर्छा रूप अधिक होता है। यह मूर्छा टूटे, आसक्ति मिटे तो फिर बाहर का परिग्रह महत्त्वहीन बन जाता है। मूर्छा होती है विचार-मूढ़ता कि विवेक विस्मृत हो जाता है। विवेकहीनता से कितना अहित हो सकता है, उसकी कोई सीमा नहीं। परिग्रह की प्राप्ति और परिग्रह का संचय सुखकारी लगता है, किन्तु वह वैसा होता नहीं है। परिग्रह अन्तत: दु:खदायी ही होता है। परिग्रही विमूढ़ होता है, विवेकहीन होता है और प्रमादी होता है तथा प्रमादी व्यक्ति सदा भय से ग्रस्त रहता है (**सव्वओ पमत्तस्स भयं**-आचारांग, 1-3-4) और ज्यों-ज्यों परिग्रह का संग्रह बढ़ता है त्यों-त्यों वैर, हिंसा और दु:ख बढ़ता जाता है (**परिग्गह निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढइ**-आचारांग, 1-9-3)। सूत्रकृतांग सूत्र की टीका में शीलंकाचार्य ने यहां तक कहा है कि परिग्रह (अज्ञानियों के लिए तो क्या) बुद्धिमानों के लिए भी ग्राह (मगर) के समान क्लेश एवं विनाश का कारण है (**प्राज्ञस्थाऽपि परिग्रहो ग्राह-इव क्लेशाय नाशाय च**-1-1-1)। परिग्रह के दो भेद हैं-बाह्य एवं आभ्यन्तर। आभ्यन्तर भेद में मूर्छा, तृष्णा, आसक्ति आदि का समावेश होता है।

आभ्यन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या इच्छा इतनी बलवती होती है कि धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाए, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं होगा (**जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई**-उत्तराध्ययन-8-17)। बाह्य परिग्रह का संचय भी कुकर्मकारी बनता है और तृष्णा को फैलाता है। ऐसे अनेक ऐतिहासिक उदाहरण है जब राज्य, धन और भूमि आदि के लिए विवाद और संघर्ष ही नहीं, विनाशकारी युद्ध हुए हैं। अत: अब अपरिग्रह की ओर व्यक्ति से लेकर विश्व तक की गति होनी ही चाहिए।

परिग्रह की समस्या की यह भावात्मक चर्चा हुई, किन्तु इसकी तथ्यात्मक चर्चा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। यह साफ हकीकत है कि सर्वत्र व्यक्तियों को जीवन जीने के जीवन निर्वाह की सामग्री

अवश्य चाहिए ताकि वे संतोष एवं सुरक्षा के साथ अपना कर्त्तव्य पालन कर सके। शास्त्र का यह मत भी है कि निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्छा-आसक्ति है तो परिग्रह है और वह नहीं है तो अपरिग्रह (**गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा, मुच्छाहि निच्छयओ**-विशेषावश्यक सूत्र-भाष्य 2573)। अतः आसक्ति मनुष्यों के मन से छूटे-ऐसे बाहरी उपाय भी अवश्य किए जाने चाहिए। भीतरी उपाय शुद्ध दृष्टि से भावात्मक है जिसकी साधना व्यक्ति को ही करनी होगी, किन्तु इस साधना में बाहरी उपाय भी सहायक हो सकते हैं। समझें कि राज्य या समाज की ओर से ऐसे विधान व नियम जारी किए जाए जिनके कारण व्यक्ति के हाथों में आवश्यकता से अधिक परिग्रह का संचय न हो सके। जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं का देश, काल के अनुसार एक मानदंड कायम किया जा सकता है और उसके अनुसार धन-धान्य या सम्पत्ति रखने की छूट दी जा सकती है। उस छूट से ज्यादा परिग्रह कोई नहीं रख सके तो उसके दो लाभ होंगे एक तो यह कि निर्वाह योग्य सभी आवश्यक वस्तुओं का सबके बीच संविभाग हो सकेगा तथा दूसरा यह कि जब परिग्रह संचय का अवकाश ही नहीं रहेगा तो क्यों कोई अपने व्यापार, व्यवसाय या सेवा में किसी भी प्रकार से अनीति का आचरण करेगा? व्यक्ति की ओर से भावात्मक तैयारी, समाज-राज की ओर से परिग्रह संचय पर अंकुश और फलस्वरूप अपरिग्रह एवं अनासक्ति का पुष्टिकरण। यही स्तर होगा जब समाज, राष्ट्र व विश्व में समता की स्थापना हो सके, उसका निरन्तर विस्तार होता रहे तथा समतामय व्यवस्था में स्थायित्व भी आवे।

अपरिग्रह का अर्थ है जागरण, जागरण भीतर में भी और बाहर में भी। तभी तो समता भीतर में भी प्रतिष्ठित होगी और बाहर में भी नई रचना की सृष्टि करेगी। अपरिग्रह अपनाने से सभी द्वन्द्वों का विसर्जन हो जाएगा एवं शान्ति तथा सुख की अनुभूति होगी। यह सबके स्पष्ट अनुभव में आता है कि परिग्रह प्राप्ति तथा संचय की अन्धी दौड़ के कारण ही मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं उत्पन्न होती हैं और लाख कोशिशों के बाद भी वे सुलझाई नहीं जा सकती है। परिग्रह संचय पर अंकुश से एक ही झटके में सारी समस्याएं सुलझ जाएगी।

हिंसा, भय, घृणा के त्याग के साथ समता हेतु वांछित गुणों का वरण :

आज विश्व में नीचे से ऊपर तक के सभी स्तरों पर फैले वातावरण की जांच-परख करे तो ज्ञात होगा कि भय, आतंक या दहशत जैसे हवा में ही घुल गई है। सबको सांस लेना पड़ता है और सबको भयभीत भी रहना पड़ता है। यही भय आज घृणा और हिंसा से लिपट कर विनाशक रूप धारण कर चुका है। मजहबी कट्टरवादिता ने हजारों निर्दोष नागरिकों का खून बहाते हुए इस भय को आतंक में बदल दिया है कि हर पल व्यक्ति दहशत से थर्राता रहता है-न जाने कब किस दिशा से आतंकवादियों की एक साथ बरसती हुई गोलियां उनके शरीर को छलनी बना दे? इस वातावरण में समता की बात करना भी जैसे आशंकित बना देता है कि कोई भला उसे सुनेगा भी। किन्तु यह याद रखें कि अंधेरा जितना गहरा होता है, उसमें एक तीली के जलने से उत्पन्न क्षीण प्रकाश भी रास्ता दिखा सकता है-राहत दे सकता है। उसी प्रकार हिंसा की सघन उपस्थिति में ही अहिंसा की बात की जानी चाहिए, विषमता के विषैले वर्गों के बीच ही समता की बात की जानी चाहिए तथा अशान्त लोगों के बीच ही

शान्ति की बात की जानी चाहिए। इससे अधिक उपयुक्त अवसर दूसरा नहीं हो सकता। चारित्रिक बल का तकाजा होना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियों में ही अहिंसा, समता और शान्ति की बात हो-बात ही नहीं, उनके विकास व प्रसार की पूरी योजना हो, अभियान व आन्दोलन हो तो जितना जन समर्थन आज मिल सकता है, उतना फिर कभी शायद ही मिले।

विश्व की वर्तमान परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डालें। मजहबी कट्टरवादियों ने जिहाद के नाम पर एक सर्वाधिक शक्तिशाली देश के व्यापार केन्द्र पर आक्रमण कर विनाशकारी लीला दिखाई। उसका नतीजा यह सामने आया कि शक्तिशाली होते हुए भी वह देश भय से कांप उठा, घृणा से भर गया और बदले की आग में जलने लगा। आतंकवाद के विरुद्ध विश्व स्तर पर लड़ने का कई देशों का मोर्चा बना-वह कितना सफल या कितना असफल रहा-इसकी चर्चा छोड़ें। चर्चा तो हम भय, घृणा और हिंसा की कर रहे हैं। शक्ति होते हुए भी हिंसा का विरोध हिंसा से करें और घृणा के विरुद्ध घृणा ही फैलावें तो क्या भय की समस्या का कभी भी समाधान हो सकेगा? आग-आग से नहीं बुझती, पानी से बुझती है। यदि इसी आतंकवाद का सामना अहिंसा, प्रेम और उदारता से किया जाता तो समस्या ही सरलता से समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि अपराधियों का हृदय परिवर्तन भी हो जाता। आज भय को जीतने का एक ही उपाय है कि पूरी मानव जाति से प्रेम करो और उसी आधार पर सारी समस्याओं का समाधान निकालो-अहिंसक जीवनशैली का यही संदेश है।

हिंसा, भय, घृणा आदि सारी बुराइयों की जड़ में एक ही सबसे बड़ा दोष है और वह है अहंवादिता में अपने में ही बंद हो जाना (सेल्फ सेन्ट्रेडनेश) और अपनी ही स्वार्थी इच्छाओं के वशीभूत हो जाना (सेल्फिसनेश) और ये दोनों मनोवृत्तियां पूरी मानव जाति में उत्तेजना, उत्पात, विवाद, संघर्ष तथा युद्ध तक की कारणभूत बनती है। इन कुत्सित मनोवृत्तियों के विपरीत होगी वे सदाशयी एवं सद्भावपूर्ण मनोवृत्तियाँ, जो व्यक्ति को मानव जाति की सेवा में मानवता, प्रेम, दयालुता, उदारता आदि सद्गुणों से सजाती हैं। असल में तो यह समझने की बात है कि जिस परवाह, लगन और सावधानी से हम अपने हितों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार अन्य सबके हितों की रक्षा करते हैं। सैनिक या आयुधीय शक्ति का युग बीत रहा है और आत्मशक्ति का युग मानिए कि प्रारंभ हो गया है। अब उस प्रकार के चरित्रनिष्ठ स्वयंसेवियों की नितान्त आवश्यकता है जो सब ठौर दानवता और पशुता के विरुद्ध मानवता की स्थापना में जुट जावे। ऐसे चरित्रगठन के लिए प्रत्येक धर्म, वर्ग या समूह को अहंवादिता त्याग देनी चाहिए जिससे सभी लोग सारे विश्व को अपने ही परिवार के रूप में देख सकें तथा सबके साथ वैसा ही प्रेममय व्यवहार कर सकें। आज धर्म-मजहब के नाम पर संघर्ष बढ़ाना और खून खराबा करना नितान्त पागलपन है। यह पागलपन अब अधिक नहीं सहा जाएगा। सभी धर्मनायकों ने सबके साथ प्रेम से रहने का उपदेश दिया है। कहा है-मानव जाति एक है (जैन), जैसे अपने से प्रेम करते हो वैसे ही पड़ौसी से भी प्रेम करो (ईसाई), सभी प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करो और उन से प्रेम करो (हिन्दू), तुम सभी एक ही पिता की सन्तान हो इसलिए एक दूसरे के साथ भाई और बहन की तरह रहो (इस्लाम)। सवाल है कि फिर भी परस्पर घृणा, वैर, भय और हिंसा क्यों? इसका कारण आज के धर्म-सम्प्रदायों म फैली अहंवादिता ही है,

जिससे वे संकुचित घेरों में बंद हो गए हैं और विशाल दृष्टि से हीन बन कर पूरी मानव जाति के कल्याण के विषय में सोचने में असमर्थ हो गए हैं। एक ही सत्य सभी धर्मानुयायियों को सिखाया गया है और यदि वही सत्य अनुयायियों की कथनी व करनी से ओझल हों जाए तो उन धर्मों की सार्थकता पर क्या प्रश्न चिह्न नहीं लग जाएगा?

अत: आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि समता स्थापना हेतु वांछित गुणों को अपनाने तथा तदनुसार चरित्र का निर्माण करने की दिशा में सभी देश, सभी संगठन, सभी धर्म और सभी प्रबुद्ध जन आगे आवें। समता योग्य कुछ प्रमुख गुण इस प्रकार हो सकते हैं-

1. **क्षमा :** क्रोध को जीतने का सर्वोत्तम गुण। क्षमा के अनेक उदाहरण जैन, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम के धर्मग्रंथों में मिलेंगे, जिनसे क्रोध की भीषणता और क्षमा की सार्थकता का परिचय मिलता है।
2. **नम्रता :** अहंकार को नम्रता के गुण से जीतें।
3. **सरलता :** कपटाचार को सरलता से ही समाप्त कर सकते हैं।
4. **अपरिग्रह :** लोभ लालसा पर सफल अंकुश लगता है।
5. **करुणा :** हिंसा के स्थान पर करुणा-दया से हृदय आप्लवित हो तो क्रूर भाव टिकेंगे ही नहीं।
6. **प्रेम :** घृणा को जीतने का प्रभावकारी गुण।
7. **दान :** किसी भी प्रकार का सही योगदान मानवों के सन्ताप को घटा या मिटा सकता है।
8. **मैत्री :** मित्रता की कोई सीमा नहीं होती। वैर नष्ट होता है तो मैत्री होती है जो समस्त प्राणिजगत् तक फैल सकती है।
9. **संवेदना :** हृदय की ऐसी तरलता का सुपरिणाम सहानुभूति और सहयोग में प्रकट होता है।
10. **उदारता :** हृदय और दृष्टि में विशालता प्रसारित हो।
11. **उत्सर्ग :** अपने आपका शुभ उद्देश्य हेतु बलिदान।

सहमति से समता और समता से प्रेम की सरसता :

असहमति के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं-यह आज की धार्मिक कट्टरपंथिता ने साफ कर दिया है। सारी दुनिया में इस्लाम को फैलाने का मंसूबा लेकर अलकायदा के ओसामा बिन लादेन ने जैसे अपना पैगाम दिया हो कि या तो इस्लाम को मंजूर कर लो या फिर मारे जाने के लिए तैयार रहो। इसका मतलब क्या हुआ? यही कि असहमति ने इतना घृणास्पद रूप बना लिया है जिसका एलान है-सिर्फ मेरा ही मजहब अच्छा है और दूसरे सारे मजहब बेकार हैं। यह धार्मिकता नहीं है, कोरी कट्टरपंथिता है। कट्टरपंथिता धार्मिक नहीं होती। कारण, वास्तविक धर्म कट्टरता के घेरे में कभी बंद नहीं होता है। वह तो बताता है कि ये सिद्धान्त हैं, इन्हें जांचों-परखों, उचित लगे तो मानो और मानने के पहले अपने उसूल भी बता दो जिनके साथ इन सिद्धान्तों का समन्वय करने से शायद अधिक सच

उभर आवे। अपनी मान्यताओं पर दृढ़ता हो परन्तु दूसरे को समझा कर सहमत बनावें किन्तु हठ कदापि न हो। सभी मान्यताओं का सम्मान करें, श्रेष्ठताओं का चयन करें और सत्य के अधिक समीप जावें-यह होती है सहमति की प्रक्रिया। धर्म के क्षेत्र की ही बात नहीं, सहमति की यह प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में सार्थक रीति से अपनाई जा सकती है। सहमति सबको साथ में जोड़ती है।

सहमति की परम्परा प्राचीनकाल से भारत में प्रचलित थी और सहमति से समाज का ही नहीं, राज का कामकाज भी चलाया जाता था। सच पूछें तो यह परम्परा लोकतंत्र से भी श्रेष्ठतर मानी जा सकती है। अल्पसंख्यक सदा असन्तुष्ट रहते हैं। किन्तु सहमति की परम्परा में किसी को असंतोष नहीं-अदने से अदने को भी नहीं। अत: आज फिर से सहमति की परम्परा प्रारंभ की जा सकती है। प्रयोग अपने परिवार, ग्राम सभा या सामाजिक संस्था से शुरू किया जा सकता है कि वहां प्रत्येक निर्णय सामूहिक रूप से ही लिया जाए। यही प्रक्रिया संयुक्त राष्ट्र संघ तक भी फैलाई जा सकती है। इससे पूरा क्षेत्र जागृत होगा तथा हरेक व्यक्ति सोच समझ कर अपने विवेक को सक्रिय बना सकेगा।

सहमति के मार्ग से ही समता का साध्य पाया जा सकेगा, क्योंकि सहमति सबको जोड़ेगी और समता उन्हें एक सूत्र में बांध देगी। यह बंधन जो होगा वह प्रेम का बंधन होगा। प्रेम की सरसता तब सब ओर फैल जाएगी। प्रेम वहां पर फल-फूल नहीं सकता है जहां पग-पग पर अन्तर्विरोध जन्म लेते हैं तथा असहमति एवं असन्तुष्टि की नागिनें फुफकारती हैं। अन्तर्विरोध की स्थिति इस तथ्य को बताती है कि वहां पर चरित्र का अभाव है। चरित्रहीनता इस स्थिति को विषम बनाती रहती है, इसलिए सहमति की प्रक्रिया को चलाने के लिए चरित्र निर्माण तथा विकास प्राथमिक रूप से अनिवार्य माना जाना चाहिए। निर्दोष चरित्र ही वास्तव में सच्चा जीवन है (**जीवितं चारू चरित्रमुक्तम्**-सुभाषित रत्न संदोह), जो सम्यक् चरित्र वाला होता है, वही गुणज्ञ होता है (**यस्यास्ति चरित्रमसौ गुणज्ञ:**-पर्व कथा, मौन एकादशी)। मन, वचन और काया की समस्त परपीड़क पापमय प्रवृत्ति का त्याग करना ही चरित्र माना गया है (**सर्व सावद्ययोगानां त्यागश्चचरित्र-मिष्यते-योगशास्त्र**)। चरित्रगठन से अन्तर्विरोध कम होंगे और सहमति का मार्ग बाधारहित बनेगा। चरित्रगठन का यह लाभ भी होगा कि उससे मनुष्य के मन में संवेदना का अंकुर जमेगा, जो प्रेम के पौधे के रूप पल्लवित हो जाएगा। सच्चे प्रेम के स्वरूप को भी समझ लें कि प्रेम अविभाज्य होता है। प्रेम को मापा भी नहीं जा सकता है कि यह एक का प्रेम है या अनेक का प्रेम हैं। प्रेम में सबको सरस बनाने की क्षमता है तो अपना सब कुछ दे देने की भी क्षमता होती है। प्रेम किसी धर्म से भी आवृत्त नहीं होता। प्रेम अपनी सरसता में सबको सराबोर कर सकता है-यही कारण है कि समता स्थापना से संवेदना और सहयोग का जो वृक्ष लगेगा, उसका फल प्रेम ही होगा। प्रेम सब कुछ होता है और प्रेम में सब कुछ समा जाता है। प्रेम की व्यापकता व विशालता असीम होती है-'**ढाई अक्षर प्रेम के जो पढ़े सो पंडित होई।**'

बहुआयामी समता का लक्ष्य रहे जीवन में अथ से इति तक :

जीवन की सार्थकता को यदि किसी एक गुण से तोलना हो तो वह होगी समता की साधना। समता को समानता माने या समत्व अथवा समत्व योग की संज्ञा दें-मूल में सब एक हैं। जिसने अपने

जीवन में समता को अपना लक्ष्य बना लिया तथा जीवन के अथ (आरंभ) से इति (समाप्ति) तक उसी लक्ष्य का अनुसरण किया तो निस्सन्देह उसका जीवन धन्य हो जाएगा। समता संकुचित होती भी नहीं है तथा उसे संकुचित दायरों में कैद करने की कोशिश भी नहीं की जानी चाहिए। समता सबके लिए होती है और यदि सबके लिए न हो तो वह समता ही कैसी?

समता ही वह कड़ी है जो मानव-मानव के बीच भावात्मक एकता स्थापित कर सकती है। समभाव से जब हृदय आलोकित हो जाता है तो वहां कोई विषमता शेष नहीं रहती और समूची व्यवस्था समता पर आधारित बना दी जाती है। भारतीय संस्कृति का स्वर पुकारता रहा है-अरे मनुष्य! तेरा आनन्द स्वयं के सुख भोग में नहीं है, स्वयं की इच्छापूर्ति में ही तेरी परितृप्ति नहीं है, बल्कि दूसरों के सुख में ही तेरा आनन्द छिपा हुआ है। दूसरों की परितृप्ति में ही तेरी परितृप्ति है। तेरे पास जो धन है, सम्पत्ति है, बुद्धि है-वह सब किस लिए है? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है? क्या यह सब कुछ स्वयं की सुविधा के लिए ही है? अपने सुखभोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है-अपनी कलाबाजी से खुद की रक्षा करता है, इच्छापूर्ति करता है। फिर पशुता और मनुष्यता में अन्तर क्या है? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वयं के सुखभोग में नहीं, बल्कि दूसरों को अर्पण करने में है। मनुष्य के अपने पास जो उपलब्धि है वह अपने बंधु के लिए है, पड़ौसी के लिए है, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए है। यही सच्ची मनुष्यता है और यही समता साधना है।

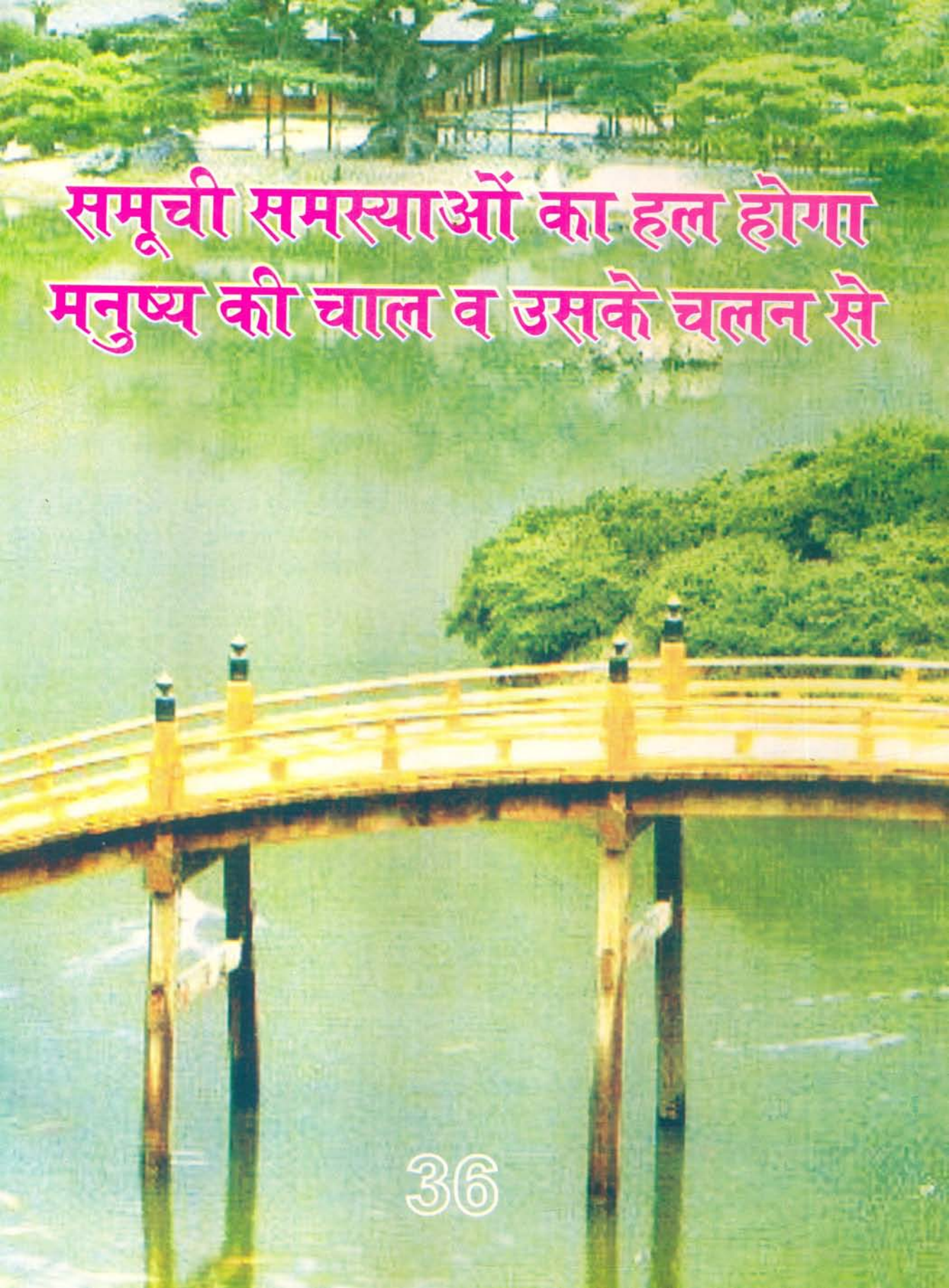
◆◆◆



समूची समस्याओं का हल होगा मनुष्य की चाल व उसके चलन से

आदर्श चरित्र ही महापुरुष की पहचान

भगवान् महावीर विहार करते हुए अनायास ही उस वन प्रदेश में प्रविष्ठ हो गए, जहां विषधर नाग चंडकौशिक का उत्पात चल रहा था। उस वन प्रदेश के आस पास के अनेक ग्राम चंडकौशिक के विष के प्रभाव क्षेत्र में आते थे। जिस ओर भी वह विषधर नाग फुकार मारता था, विष की नीली ज्वालाएं निकलती, जो कई योजनों तक फैल जाती। उनकी चपेट में जो भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव आता, उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता। महावीर के समक्ष भी वह समस्या आई, किन्तु वे निर्भयतापूर्वक चंडकौशिक की बांबी तक चले गए। नाग के क्रोध का पार नहीं था वह जोर-जोर से फुकारे मारने लगा, पर सब महावीर पर बेअसर। चंडकौशिक चौंका, किन्तु क्रोधित अधिक हुआ। वह आगे बढ़ा और उसने ध्यानस्थ महावीर के चरणों को डस लिया। किन्तु यह क्या? चरणों से रक्त तो बहा पर वह लाल नहीं, सफेद था और दूध से भी कई गुना मधुर। चंडकौशिक उस अलौकिक स्वाद से चकित हो उठा-इसलिए भी कि उसका क्रोध पूरी तरह शान्त हो गया था और वह पश्चात्ताप की आत्मालोचक भावधारा में बह चला था। महावीर ने उस समय अपने नेत्र खोले और


समूची समस्याओं का हल होगा
मनुष्य की चाल व उसके चलन से
36

उसे बोध दिया इन शब्दों के साथ कि प्रबोध पाओ, जागो, जागते क्यों नहीं हो? (**संबुज्झह, किं न बुज्झह?**) फिर चंडकौशिक ऐसा जागा कि सब कुछ बदल गया। वह प्रायश्चित्त की अवस्था में चला गया-फन बांबी में डाल दिया और बाकी शरीर बाहर। आते जाते लोग उसे देखते तो कई कहते-इसने मेरे अमुक संबंधी को मार दिया था और वे लाठियों, पत्थरों से उसके शरीर को मारते-पीटते तथा क्षत-विक्षत करते और कुछ ऐसे भी थे जो उसके चमत्कार के लिए दूध आदि से उसकी पूजा करते। परन्तु अब पुराना चंडकौशिक कहां रहा था-वह तो सहनशील और समभावी बन गया था-चोट और पूजा दोनों एक-सी हो गई थी उसके लिए।

◆◆◆

बलदेव श्री राम का समभाव अनुपम था-वे तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। चौदह वर्षों के वनवास के दौरान जब श्री राम, सीता व लक्ष्मण पद विहार कर रहे थे तब शबरी भीलनी ने उनकी राह रोक कर अपनी कुटिया पर चलने का आमंत्रण दिया। श्री राम एक क्षत्रिय राजकुमार और शबरी शूद्र वर्ण की अस्पृश्य भीलनी। श्री राम के सिवाय शबरी के सदाशय को कौन पहचानता? वे उसकी कुटिया पर पहुंच गए और शबरी द्वारा दिए बेर खाने लगे। उन्हें ज्ञात हो गया था कि वे सारे बेर शबरी के जूठे थे, फिर भी बिना झिझक वे स्वाद ले लेकर बेर खाते रहे। शबरी ने इस सदाशय से एक-एक बेर अपने मुंह से काट कर चखा था कि भगवान् को कहीं खट्टा बेर न खाना पड़े। जहां सदाशय, वहां समता। मर्यादाओं के तो प्रतीक थे श्री राम।

◆◆◆

भगवान् बुद्ध एक बार अपनी शिष्य मंडली के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर विहार कर रहे थे। मार्ग में दूर से सबको दिखाई दिया कि एक मरे हुए कुत्ते का शरीर बुरी तरह से सड़ रहा है और उसकी दुर्गंध दूर तक भी असहनीय प्रतीत हो रही। विहार में कोई रुका नहीं, किन्तु अधिकांश भिक्षुओं ने चीवर वस्त्र से अपने नाक-मुंह ढक लिए। बुद्ध सब देख रहे थे, पर कुछ बोले नहीं। जब सब कुत्ते की लाश के पास से गुजर रहे थे तब बुद्ध उस स्थान पर रूके और भिक्षुओं को संबोधित करते हुए उन्होंने इतना ही कहा-'देखो, इस कुत्ते की लाश के दांत कितने उजले और सुन्दर हैं?' तभी एक भिक्षु ने पूछा-'भन्ते! आपने दांत की बात कही, पर दुर्गंध की बात क्यों नहीं कही?' बुद्ध ने शांन्त भाव से बताया-'हमें वही देखना, सुनना और लेना चाहिए जो ग्राह्य हो, अग्राह्य का ध्यान भी क्यों आवे?' शुभ के साथ अशुभ भी दिखता है, परन्तु अशुभ के प्रति घृणा या जुगुप्सा का भाव नहीं आना चाहिए।

◆◆◆

महात्मा गांधी के पास एक बार एक व्यक्ति पहुंचा और कहने लगा-'बापू! एक व्यक्ति ने मेरे गाल पर एक चांटा मार दिया, उसके लिए मैं क्या करूं-यह आपसे पूछने के लिए आया हूँ।' गांधी जी ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया-'जाओ और उसके सामने अपना दूसरा गाल भी कर दो।' वह व्यक्ति उछल पड़ा-'क्या कहते हैं बापू?' एक तो उसने मेरे एक गाल पर चांटा मारने की नीचता की और आप उसके सामने अपना दूसरा गाल भी करने की सीख दे रहे हैं कि वह दूसरे गाल पर भी एक

चांटा और जड़ दे। बापू हंसे, बोले-'फिर तुम क्या करना चाहोगे?' वह रोष सहित बोला-'एक ही जगह उसके दो चांटें मारना चाहता हूँ।' तब बापू ने समझाया-'तुम दो मारोगे, वह चार मारेगा और मारने का क्रम क्या कभी टूटेगा?' शरीर बल से शरीर बल नहीं झुकता, वह झुकता है आत्मबल से। जब तुम उसके सामने दूसरा गाल भी कर दोगे तो वह लज्जित होगा। फिर चांटा मारने के लिए शायद उसका हाथ न उठे। यह भी हो सकता है कि उसका हृदय बदल जाए और वह तुम से अपनी गलती के लिए माफी मांग ले।

◆◆◆

एक संयमी साधक मुनि एक नगर के मुख्य पथ से निकल रहे थे-तभी एक दुकानदार ने उन्हें रोका और अभद्रता दिखाते हुए उन पर अपशब्दों तथा गालियों की बौछार करने लगा। मुनि खड़े हो गए और तब तक मौन खड़े रहे, जब तक वह बोलता रहा। बिना उत्तर के जब दुकानदार थक गया तो चुप हो गया। फिर मुनि बोले-'भाई! क्या तुम्हारी दुकान (दिल) में यही सब कुछ माल था? किन्तु इस माल की मुझे कतई जरूरत नहीं है सो इसे मैं तुम्हारे पास ही छोड़ कर जा रहा हूँ। क्षमा करना, ग्राह्य नहीं होने से मैं कुछ भी ग्रहण नहीं कर सका।' शान्त और सरल भाव से मुनि चले गए और दुकानदार भौंचक्का-सा देखता ही रह गया।

ये हैं कुछ उदाहरण, जो सबके लिए मननीय हैं। इन उदाहरणों से महापुरुषों द्वारा आचरित आदर्शों का जो परिचय मिलता है, वस्तुतः वही मननीय है। चरित्र सम्पन्नता मननीय है।

महाजनों ने मार्ग बनाया, चलाया, हर युग में महाजन होते हैं :

एक नीति वाक्य है-'**महाजनो येन गतः स पंथः**' अर्थात् महाजन (महापुरुष) जिधर होकर गए, वही जन-जन के लिए मार्ग बन जाता है। महापुरुष जिन आदर्शों को अपने जीवन में आचरित करते हैं और उनसे जो उदाहरण सबके सामने आते हैं, वे सभी के लिए प्रेरणा के स्रोत होते हैं। ऐसे महापुरुषों का समग्र जीवन ही आचरण की आग में तपे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान होता है, जो भविष्य के लिए मार्ग बन जाता है। वे अपने अनुभवों से प्राप्त ज्ञान का जब प्रकाश बिखेरते हैं तो उस प्रकाश में वह मार्ग सबको साफ-साफ दिखाई देता है। उस मार्ग को उन्नति का मार्ग मान कर जन-जन उसका अनुसरण करने के लिए अग्रगामी होते हैं।

प्रत्येक युग में ऐसे 'महाजन' होते हैं, जो मार्ग बनाते हैं और अनुयायी उसका अनुसरण करके उस मार्ग को चलाते हैं यानी कि उस मार्ग का प्रचलन बढ़ता है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहिए कि 'विकसित' मनुष्य अपनी चाल बताते हैं और 'विकासशील' मनुष्य उसका चलन बढ़ाते हैं। इस प्रकार चाल चलन बनता है यानी कि सबके लिए चरित्र का गठन होता है। जो मनुष्य को महाजन बनाता है, वह विकास कैसा है, जो उस महाजन के पीछे अनगिनत पांवों को चलने की प्रेरणा देता है? और इस विकास का क्रम चला कैसे? समुच्चय में कहें तो यह विकास धर्म है। धर्म प्रवर्तित होता है और अनुकृत होता है, लेकिन तब जब उसे कोई महाजन मिले। ये महाजन धर्म का स्वरूप बताते हैं और उसके अनुपालन का उपदेश देते हैं। उस समय के अनेक महाजनों द्वारा वर्णित धर्म स्वरूप

में अधिकांशत: एकरूपता होती थी। वह एकरूपता प्रभाव डालती थी। यह एकरूपता इस सिद्धान्त को लेकर होती थी कि व्यक्ति का 'स्व' तब धन्य होता है जब वह शेष विराट् में लय हो जाए। धर्म यह तो सिखावें ही, बल्कि यह भी करे कि उस विराट को सीमाओं में बांधा भी जाए। यही विकास का अन्तिम छोर माना गया। वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार इस विकास के चार मूल तत्त्व माने गए-

1. **आस्तिकता :** विकास या धर्म का पहला चरण था कि आदिम मनुष्य प्रकृति से चमत्कृत हुआ और वह मुख्य वस्तुओं को देवता मानने लगा। उसका ज्ञान अल्प था सो उनमें विश्वास भी करने लगा, उन्हें पूजने भी लगा। यों मानसिक रूप से आस्तिकता का जन्म हुआ।

2. **अहं :** दूसरा चरण जब शुरू हुआ जब उसका ज्ञान बढ़ा, अनुभव बढ़ा और उसमें 'मैं पन' जागा। व्यक्तित्व अहं के साथ समूह का भी अंह होता है और वही अहं राष्ट्रवाद, पूंजीवाद या समाजवाद के रूप में सामने आया। जैसा भी अंह हो, वह सदा निषेधात्मक और हठवादी होता है। अहं अंश है और शेष पूर्ण अस्तित्व। अहं और शेष मिलकर विश्व या धर्म की समग्रता का मान दिलाते हैं।

3. **परस्परता :** तीसरा चरण शुरू हुआ, जब अहं ने शेष के साथ अपने संबंधों की समीक्षा की। अहं को लगा कि अकेले से सब कुछ नहीं होता है। स्व और पर मिलते हैं तभी कोई व्यवस्था चलती है। यों परस्परता अथवा अन्योन्याश्रितता का भान हुआ। यह सामाजिकता का प्रारंभ है।

4. **अहिंसा :** सामाजिकता का विकास अहिंसा के रूप में प्रस्फुटित हुआ कि उसका निर्वाह हिंसा, घृणा या वैर के बल पर नहीं किया जा सकता है। सच्चा विकास अहिंसा की शक्ति से ही संभव हो सकता है। चरित्रशीलता की उन्नति हो, सबके कदम सद्भावना और समता की ओर बढ़ें और सारे विश्व में प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाए-आज इस साध्य की दिशा में गति करने की क्रियाशीलता जागने लगी है। इस वैज्ञानिक अवधारणा के उपरान्त भी संस्कृति एवं सभ्यता के विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने जितना अपना पाशविक स्वभाव (हिंसा आदि का आचरण) छोड़ा है और मानवीय स्वभाव (अहिंसा एवं संबंधित चारित्रिक गुण) को अपनाया है, उतनी ही उसकी संस्कृति और सभ्यता उन्नत होती गई है। धर्म की इसमें प्रधान भूमिका रही है।

इस विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि धर्म चक्र के प्रवर्त्तन, मनुष्यता के निर्माण या सामाजिकता के विकास आदि में इन महाजनों अर्थात् महापुरुषों का रचनात्मक योगदान रहा है। उनके समय में जन-जन में नया उत्साह जागा है तथा नया-नया कृतित्व प्रकट हुआ है। किन्तु अनेक कारणों से जन-जन में शिथिलता और निष्क्रियता भी आती रही है और ऐसे में नये-नये महाजन विश्व पटल पर आते रहे हैं और धर्म तथा विकास को नया क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करते रहे हैं। यह निश्चय मानें कि नया महापुरुष कहीं से अवतरित नहीं होता है, अपितु पुरुषों के बीच में से ही एक या कुछ पुरुष आगे आते हैं और अपने ज्ञान, अनुभव तथा बलिदान की शक्ति से धर्म के स्वरूप को निखारते हैं, चरित्रशीलता को नये आयाम देते हैं तथा सोये हुए जन-मन को सर्वांगीण प्रगति के लिए तत्पर बनाते हैं। ये कार्य उन्हें महानता का सम्मान देते हैं। यह जन-सम्मान होता है, तब पुरुष महापुरुष बन

जाता है। किसी एक युग की बात नहीं, प्रत्येक युग में पुरुष का निर्माण होता है, महापुरुष बनता है, वह मार्ग बनाता है और नये उत्साह के साथ पुनः जन-जन उस मार्ग पर चल पड़ता है। महापुरुष द्वारा चाल बताना और उस पर चल कर पुरुषों द्वारा उस चाल का चलन बढ़ाना, यह विकृतियों एवं विषमताओं से उपजे पतन के बाद अवश्य घटित होता है। अभिप्राय यह कि महाजन प्रत्येक युग में स्वतंत्रता तथा मुक्ति की ओर जाते हुए पथ बनाते हैं और विश्व उस पथ का प्रचलन करता है ताकि सामान्य जन सरलतापूर्वक उस पथ पर चलकर उन्नति की साधना कर सके।

वर्तमान युग में सभी ओर कितना भी पतन हो गया हो या हो रहा हो, निराशा या कुंठा का भाव कभी नहीं आना चाहिए और प्रबुद्ध पुरुषों को चरित्र निर्माण, सुव्यवस्था स्थापना तथा सर्वांगीण उन्नति के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करने से हिचकिचाना नहीं चाहिए क्योंकि महापुरुषत्व उन्हीं में छिपा हुआ है।

चरित्र निर्माण नहीं होगा तो कहां से आएंगे नये मनुष्य और महाजन :

आधुनिक युग की यह सबसे बड़ी विडम्बना कही जाएगी कि विकास का क्षेत्र हो या विज्ञान का क्षेत्र, शासन-प्रशासन की बात हो या शिक्षण-प्रशिक्षण की, सर्वत्र पर्याप्त विकास हुआ है और विज्ञान ने तो सुरखाब के पंख लगा लिए, लेकिन नहीं हुआ तो वही जो इन सबसे ऊपर सबसे बड़ा काम था। उद्योग लगे और विभिन्न उत्पादनों में तेजी और बहुलता आई। बड़े-बड़े बांध बने और अनाज आदि कृषि उत्पाद प्रचुरता में पैदा किए जाने लगे। यों भौतिक क्षेत्रों में विज्ञान द्वारा निर्मित सुख सुविधा के उपकरणों की अनगिनत किस्में सामने आई। बाहर के देहसुख-साधनों की बाढ़-सी आ गई लेकिन एक हकीकत पर ध्यान नहीं गया सो अब तक भी रचनात्मक रूप से नहीं जा रहा है। क्या है वह बड़ा काम और बड़ी बात? यह काम और बात है-मानव चरित्र का निर्माण। दूध के भरे हुए कड़ाह में यदि नींबू का रस डाल दिया जाए तो क्या दूध फटने से बचेगा? सारा बाहर का विकास हो और भीतर पूरी तरह पिछड़ा हो तो क्या होगा परिणाम? वही जो आज सब ओर देखा जा रहा है। सारे विकास का चाक-चाक कर रही है मनुष्य की चरित्रहीनता।

अब तक मनुष्य का चरित्र निर्माण नहीं होता है यानी कि भावनात्मक, गुणात्मक एवं मूल्यात्मक रूप से नये मानव का निर्माण नहीं होता है तब तक कैसे अपेक्षा की जा सकती है कि चरित्रहीन मनुष्य सारी व्यवस्था को सार्वजनिक हित की दृष्टि से चलावे? कारण, उसके पास सार्वजनिक हित की न तो दृष्टि होती है और न ही कार्य की इच्छाशक्ति। चरित्र के अभाव में उसकी अशुभ वृत्तियाँ ताकतवर बनी रहती हैं और उनके असर से मनुष्य की प्रवृत्तियाँ भी अधिकांश रूप से स्वार्थों, विकृतियों तथा विषमताओं से घिरी रह कर अशुभता को ही उकसाती हैं। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता ने भारत की स्थिति पर बड़ी मार्मिक बात कही कि '1947 में आधी रात को देश की स्वतंत्रता की घोषणा हुई, लेकिन विडम्बना है कि आधी शताब्दी से ऊपर समय बीत जाने पर भी उस आधी रात का प्रभात अब तक नहीं आया है।' क्या है इस कथन का निचोड़? यही कि मानव चरित्र की उन्नति नहीं होने के कारण विकास के सारे प्रगति कारक आंकडों के बावजूद देश का सही विकास रत्ती भर भी नहीं हुआ है। गगनचुम्बी इमारतें बन जाने के बाद भी गंदी बस्तियों (स्लम्स) की संख्या सभी

महानगरों में खास तौर से बढ़ती ही जा रही है। गंदी बस्तियों की झौंपड़ियों का बदहाल देखकर कोई भी मानव प्रेमी खून के आंसू ही पी सकता है कि जानवरों से भी बदतर हालात में कैसे रहते होंगे ये मानव नामधारी जीव? फिर देश में मानव-मानव के बीच भेदभाव का जहर मिटने की बजाय ज्यादा ही फैला है और सर्वत्र मनुष्यत्व की अवहेलना होती है। अस्पृश्यता के कीटाणु मौजूद हैं तो नाना प्रकार के भेदों के आधार पर मानवीय उपेक्षा बढ़ी है। आज मनुष्य ही मनुष्य से भयभीत है, मनुष्य का ही मनुष्य पर विश्वास नहीं है और मनुष्य ही मनुष्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचता है, तो कहा क्यों न जाय कि मनुष्यता की रोज हत्या होती है? तो विचार और चिन्ता की बात यही है कि आज का मनुष्य कहां पर खड़ा है? जहां या जिस स्तर पर आज वह खड़ा है, क्या वह वास्तविक विकास का मार्ग है अथवा क्या उसकी दिशा दृष्टि भी विकास पथ की ओर है? इस का उत्तर अपने-अपने दिलों से पूछना ही उचित रहेगा। जो लोग भौतिक विकास के टीलों पर खड़े हैं, वे भांति-भांति की धूर्त-चालों से अपनी सत्ता-सम्पत्ति को बचाने की चेष्टाएं करते रहते हैं, किन्तु अभावों में जी रही बहुसंख्या को अपनी दुरावस्था का न भान है, न होश है-जोश की बात तो दूर रही। मतलब यह कि एक वर्ग धन की बहुतायत से चरित्रहीन बन रहा है तो दूसरा वर्ग अभावग्रस्तता में अपने चरित्र को नहीं बचा पा रहा है यानी कि सब ओर चरित्रहीनता का आलम है। इससे यह न समझा जाए कि लम्बे चौड़े रेगिस्तान में सिर्फ रेत ही रेत है और हरे भरे भूखंड (ओएसिस) नहीं है। आज भी सन्त महात्मा चरित्रनिष्ठ पुरुष तथा उत्साही कार्यकर्त्ता चरित्र निर्माण के क्षेत्र में अथक रूप से कार्य कर रहे हैं तथा उनके सुपरिणाम भी सामने आ रहे हैं।

तथापि चरित्र निर्माण एवं विकास की दृष्टि से बहुत कुछ करना बाकी है। व्यक्ति के जीवन से लेकर विश्व संचालन तक की सभी व्यवस्थाओं में जो अनियमितता और अवैधता घुस आई है उसको दूर करने के लिए एक ओर व्यवस्था को पटरी पर लाना है तो दूसरी ओर नये मानव का निर्माण भी करना है। मानव में नयापन केवल चरित्र निर्माण तथा सुधार से ही आ सकता है और इस कारण युद्ध स्तर पर चरित्रशीलता उत्पन्न करने के कठिन प्रयास आरंभ किए जाने चाहिए। परम्पराओं, संस्कृति तथा मानवीय मूल्यों के क्षेत्रों में फिर से शुद्धता और शुभता परिपूर्ण बने-इसके लिए पुरानी पीढ़ी को अपने जीवन व्यवहार में अच्छा बदलाव लाना होगा, जिससे नई पीढ़ी प्रभावित हो और श्रेष्ठताओं का वरण करने के लिए तत्पर बने। इसके लिए दोनों पीढ़ियों के बीच प्रगाढ़ सम्पर्क, विचार-विनिमय तथा चर्चा-विचर्चा की आवश्यकता होगी। यदि सच्चाई से सही संबंध बनाए गए तो स्वतंत्रता, आत्मविश्वास एवं आत्मशक्ति का ऐसा भव्य उद्भव होगा कि सदियों का कार्य वर्षों में सम्पन्न हो सकता है। नई पीढ़ी को जब ऊपर से स्नेह मिलेगा तो वह अपने आपको अनुशासित भी बना लेगी। अब फिर से समय आ गया है कि भारतीय संयुक्त परिवार की परम्परा को भी फिर से नया जीवन दिया जाए जिससे चरित्रशीलता पुष्ट हो एवं व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र, समाज एवं विश्व भर के परिवर्तन का चक्र तेजी से घूमे।

आज जितनी चरित्रहीनता है, उससे भी अधिक मात्रा में चरित्रशीलता की चाह जागनी चाहिए। चरित्रनिष्ठा की प्राभाविकता के संबंध में महापुरुषों के मार्मिक कथन हैं-जो सम्यक् चरित्र की

परिपालना निर्दोष रीति से किया करते हैं, ऐसे धर्म शूर महापुरुष ही मुक्ति मार्ग के सच्चे पथिक होते हैं (**सच्चारित्र समायुक्ताः शूराः मोक्षपथे स्थिताः**-तत्वामृत)। सच्चारित्रता का आचरण करके ही अपने कुल को पवित्र बनाओ (**कुलं पवित्रीकुरू सच्चारित्रतः**-उपदेश ग्रंथ माला)। पवित्र चरित्र वाले महापुरुष बिना आभूषणों के भी अत्यन्त सौन्दर्यशील दिखाई देते हैं (**निरस्तभूषोऽपि यथा विभाति पवित्र चारित्र विभूषितात्मा**-सुभाषित रत्न संदोह)। जब पुरुष का कषाय शान्त हो जाता है तभी वह पवित्र चरित्र को प्राप्त कर सकता है (**यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम्**-सुभाषित रत्न संदोह)। शरीरधारियों की सर्वत्र रक्षा करने वाला महामंत्र चरित्र ही है (**संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनः**-तत्वामृत)। सम्यक् चरित्र के अभाव में दया, दान आदि सब निष्फल होते हैं-ऐसा जानकर महापुरुष सम्यक् चरित्र में यत्नशील होते हैं (**व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते**-सुभाषित रत्न संदोह)। अब चरित्र को चरित्र कहें, संयम कहें या धर्म कहें-सब एक ही बात है और इस बात के बने बिना नया मनुष्य नहीं बन सकेगा और ये मनुष्यों के समूह नहीं होंगे तो उनमें से महाजन कहां से प्रकट होंगे? चरित्रशीलता के बिना महानता अस्तित्व में नहीं आती है-यह स्थापित सत्य है।

आज के मनुष्य को भी नये चरित्र के साथ अपनी नई चाल बनानी होगी :

नयापन सबको भाता है। चाहे प्रतिदिन रात आती है, वह बीतती है और प्रभात का उदय होता है, फिर भी प्रत्येक नव प्रभात पूरी दुनिया में नई हलचल, नई उमंग, नई कर्मनिष्ठा को अवश्य जगाता है। वह कितना स्थायित्व पाती है-यह कई कारणों पर निर्भर करता है। नये वर्ष का भरपूर उत्साह से स्वागत किया जाता है तो किसी भी नई शुभ-सुखद घटना को समारोहपूर्वक मनाते हैं। किसी भी क्षेत्र में हो नयापन सब पसन्द करते हैं, किन्तु फिर भी यह अवस्था क्यों है कि मनुष्य स्वयं नया बनने के लिए उत्साहित नहीं है और सर्वत्र नये पन को स्थायी बनाने के प्रयास नहीं करता है? यह मात्र अज्ञान है। जैसे अंधेरे में जब रास्ता बिल्कुल नहीं दिखाई देता है तो कोई बलिष्ठ व्यक्ति भी चलना बन्द करके बैठ जाता है, उसी प्रकार आज बहुसंख्यक लोग अज्ञान के वशीभूत होकर न अपने अस्तित्व को पहचानते हैं और न ही अपनी कर्मशक्ति को जानते हैं। एक बार जो उन्हें सोते से उठा दिया जाए, उनके चरित्र में प्रेरणा भर दी जाए, चारों ओर की कठिन परिस्थितियों में उसको उसकी इच्छाशक्ति से परिचित करा दिया जाए तो कोई सन्देह नहीं कि आज का पिछड़ा दबा मानव भी क्रान्ति की करवट ले, अवश्य उठ खड़ा होगा-फिर उसे आदर्श नेतृत्व चाहिए वह कहीं रुकेगा नहीं।

मनुष्य अबोध है, उसकी मनुष्यता लुप्त नहीं है-केवल उसे थपथपाकर जगाने की जरूरत है। उसे समझाने की जरूरत है कि ज्ञान का कैसा प्रकाश उसे चाहिए और चरित्र का कैसा प्रभाव वह बनावे। इसके लिए आज के मनुष्य या आगे आने वाले महाजन को नया मार्ग रचने के लिए अपनी खुद की एक नई चाल बनानी ही होगी ताकि वह नये चलन के रूप में सर्वत्र प्रचलित हो जावे। इसे चाल-चलन का रहस्य मानिए। नई चाल में क्या उपादेय रहे और क्या हेय, इसे वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में अपने सोच विचार से निर्णित कीजिए। इसमें कोई विवाद नहीं कि प्राचीनकालीन साहित्य में इससे संबंधित भरपूर सामग्री है और उसका पूरा सदुपयोग किया जाना चाहिए किन्तु

वर्तमान विचारों के प्रति भी वैसी ही ग्रहणशीलता रखी जाए ताकि नये-पुराने का श्रेष्ठ सम्मिश्रण तैयार हो सके। किसी भी तरफ का आग्रह न हो, अच्छे-अच्छे का चयन हो और एक समन्वित एवं व्यावहारिक कार्यप्रणाली का निर्धारण हो जाए। न सब नया हो और न सब पुराना बल्कि सब अच्छा पुराना भी हो और सब अच्छा नया भी हो, लेकिन चाल जो तैयार हो वह नई हो, सब को अपनी ओर खींचे तथा मानव-चरित्र का नव विकास करे।

चरित्र के बिना मनुष्य का नवनिर्माण नहीं, संयम के बिना चरित्र नहीं और धर्म के बिना संयम नहीं यानी कि मूल आकर मानव धर्म पर ही टिकता है, जहां मूल्यों का मान है, गुणों की गरिमा हो तथा आचरण का आधार हो। इसी संदर्भ में एक आचार संहिता जैसी जीवनशैली का प्रवर्त्तन, प्रभाव और प्रसार अनिवार्य है। इस बिन्दु पर पहले काफी चर्चा हो चुकी है, अतः यहां संक्षेप में उसकी रूपरेखा के विचार से ही कुछ चर्चा करें। पहले हिंसा की रौद्रता को समझें। प्रश्न व्याकरण सूत्र (1-1) में कहा है-कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं और कुछ बिना प्रयोजन के। कुछ क्रोध से, कुछ लोभवश और कुछ अज्ञान से हिंसा करते हैं। परन्तु हिंसा के कटु परिणामों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। हिंसा अर्थात् प्राणवध (दस प्राणों में किसी एक या अधिक प्राण को आघात पहुंचाना) चंड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है और महाभयंकर है (**अट्ठा हणंति, अण्णट्ठा हणंति, कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, न य अवेदयिता, अत्थि हु मोक्खो, पाणवहो चंडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारियो, निग्घिणो, निसंसो, महाब्भयो**-प्रश्न व्याकरण सूत्र)। हिंसा के परिप्रेक्ष्य में अहिंसात्मक रचना की उपादेयता को समझें। अहिंसा में वह अचूक शक्ति है, वह असीम सामर्थ्य है जो हिंसा की कैसी भी आग हो उसे शान्त कर सकता है। हिंसा की कराल कालाग्नि से सारी मानवता संत्रस्त है, जिसकी सुरक्षा अहिंसा रूपी वर्षा से ही हो सकती है। अहिंसा वह परम तत्त्व है जिसमें जीव मात्र के प्रति समता, सद्भावना एवं सद्बुद्धि का संचार होता है। अहिंसा के सार्वभौम सर्वसिद्ध स्वरूप के सामने हिंसा की समग्र गतिविधियां स्वयं निरस्त व निस्सार हो जाती हैं। यह भगवती स्वरूपा अहिंसा भयभीतों के लिए शरणस्थली है, वैचारिक तुच्छताओं में फंसे हुओं के लिए विचारों की विशालता की जननी है तथा विषमताओं से ग्रस्त लोगों के लिए समता, मानवता, गुणवत्ता आदि चारित्रिक गुणों की एकाकी स्रोत है।

यह अहिंसा एकरूपा ही नहीं है। जहां इसका नकारात्मक पक्ष प्राणघात न करने का है, वहां उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका सकारात्मक पक्ष है कि प्राणों का रक्षण एवं संरक्षण किया जाए। तदनुसार अहिंसा की पीयूषवर्षिणी वह धारा है जिसके संस्पर्श से समस्त मानव जाति अपने चरित्र पटल पर विश्वशान्ति, पारस्परिक प्रेम, आत्मवत् मैत्री के शुभग सुमन खिला सकती है और युद्ध, महायुद्ध, विश्व युद्ध तक से मुक्ति पा सकती है। वस्तुतः अहिंसा मानवीय चेतना की आधारशिला है। कहा है-संसार रूपी मरुस्थल में अहिंसा ही अमृत का झरना है, अहिंसा अमृत है, अमृत वर्षिणी है। (**अहिंसैव हि संसारमरावमृत सरणिः**-आचार्य हेमचन्द्र), अहिंसा सब प्राणियों के लिए अमृत के समान है (**अहिंसाया च भूतानातमत्तथाय कल्पते**-मनुस्मति), जीवों को सुख प्रदान करने वाली कौन है? अहिंसा है (**का स्वर्गदा प्राणभूतां? अहिंसा**-शंकराचार्य)। यों अहिंसा मनुष्य की मूल

प्रकृति है, स्वाभाविकता है, क्योंकि हिंसा की विकृति वैभाविकता से उत्पन्न होती है।

अहिंसा का आचरण-पथ अति विस्तृत है। इसका सामाजिक रूप है अचौर्य व्रत। जीवन में अर्जन अथवा निर्वाह हेतु किसी भी रूप में चोरी के कुकर्म से बचा जाए। चोरी की बड़ी बारीक व्याख्या की गई है। बिना दी हुई अथवा बिना आज्ञा के तिनका तक लेना चोरी है। आज के जटिल औद्योगिक युग में शोषण, दमन या श्रमहरण जैसे कार्य भी चोरी में ही आते हैं। अत: जो सम्पूर्ण नैतिकता के साथ ही अर्जन करता है उसी से अपना निर्वाह चलाता है वही चोरी के कुकर्म से बच सकता है। चौर्य कर्म के मुख्य चार कारण माने गए हैं-

1. **लाभ की अंधी लालसा :** पहले लागत जितना ही लाभ लेने की परिपाटी थी, फिर भावों के कृत्रिम उतार चढ़ाव से भारी लाभ कमाने की प्रवृत्ति चली और अब तो कैसे भी हो-अपराध करके, अनैतिकता करके या मानव रक्त को चूस कर भी लाभ कमाने की अंधी लालसा चल पड़ी है। इससे धनी अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब होता गया है।
2. **गरीबी या बेकारी की विवशता :** धनाभाव में अपनी आवश्यक जरूरतें भी पूरी नहीं होने के कारण अथवा कुसंस्कारों से वृत्ति बिगड़ जाने के कारण नाना प्रकार से चौर्य कर्म होता है। समाज की शान्ति इस कारण भंग होती रहती है और कभी अराजकता भी फैल जाती है।
3. **फिजूलखर्ची :** समाज सुधारों के अभाव में अथवा अपने धन का आडम्बर दिखाने के लिए विवाह आदि समारोहों में भारी फिजूलखर्ची की जाती है। यह सामाजिक कुप्रथाओं तथा दुर्व्यसनों के सेवन से भी होती है।
4. **यश कीर्ति की कामना :** कीर्ति यानी नामवरी के लिए कवि या लेखक दूसरों की रचनाएं चुरा कर अपना नाम करते हैं, व्यापारी दूसरों का धन-माल उड़ाते हैं तो साधु संत भी पतित होकर अपने गुरुओं के नाम से लोगों को ठगते हैं और अपनी पूजा करवाते हैं।

अहिंसा का आर्थिक प्रयोग भी कम महत्त्व का नहीं है। संविभाग एवं मर्यादाओं का मार्ग दिखाती हुई अहिंसा समाज में सभी पदार्थों का विकेन्द्रीकरण कराती है जिससे संचय की प्रवृत्ति नहीं पनपती और अर्थ शरीर के सब भागों में रक्त संचरण के समान समाज के किसी भी भाग या वर्ग को अर्थाभाव में नहीं रहने देती है। इच्छा एक असीम अन्तरिक्ष के समान होती है, जिसकी कोई परिधि या पराकाष्ठा नहीं। यह एक मृगतृष्णा है। अर्थ और पदार्थ की अंधी दौड़ में, होड़ में मानव अपने शरीर, मन, वचन, व्यवहार तथा आत्मा और परिवार, समाज, राष्ट्र के साथ कितना अन्याय कर रहा है-इसका लेखा जोखा सभी जानते हैं। इस मशीनी युग में मशीनें बंद नहीं हो सकती और न उनसे बचा जा सकता है, किन्तु मानव अपने जीवन को मात्र मशीन बनाने से तो बच ही सकता है और यह बचाव करती है अहिंसा, अपने इस सामाजिक स्वरूप के साथ कि अर्थ का संविभाग करो और पदार्थ की मर्यादा लो। इसी स्वरूप को अपना कर उपभोक्तावाद को भी सीमित किया जा सकता है। कहा है-जो कामनाओं के वशीभूत रहता है वह जीवन को निष्प्राण बना लेता है किन्तु निष्काम वृत्ति वाला पुरुष सदा सुखी रहता है। इच्छा के अनेक नाम हैं-आशा, लालसा, कामना, तृष्णा आदि, जो वेश्या

की तरह नित रूप बदलती रहती है और मनुष्य को छलती रहती है। अपरिग्रह उसके स्थान पर विषमता तथा स्वार्थवृत्ति के कीटाणुओं को समाप्त करता है, वर्ग संघर्ष को मिटाता है तथा मनुष्य निर्भयता और नि:शंकता से साहसी बन कर सर्वत्र सुख शान्ति की पताका लेकर सबका नेतृत्व करता है।

अहिंसा अनेकान्तवाद के रूप में ढलकर सत्य के द्वार पर पहुंचाती है। वह विचार संघर्ष को मिटाती है और समन्वय के मार्ग पर मनुष्य को आगे ले जाती है जहां वह सबके विचारों में से सत्यांश चुन कर सत्य का साक्षात्कार करने के लिए अग्रगामी बनता है। सत्य शाश्वत है, लोककल्याणकारी है और आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति है। संसार में सारभूत सत्य ही है-वह समुद्र से अधिक गंभीर, सुमेरू से अधिक अडिग, चन्द्रमंडल से अधिक सौम्य, सूर्यमंडल से अधिक देदीप्यमान, शरद्कालीन आकाश से अधिक निर्मल और गंधमादन पर्वत से अधिक सुरभित है। कहा है-जो शब्द सज्जनता का पावन संदेश देता है, सौजन्य भाव को उद्बुद्ध करता है और जो यथार्थ व्यवहार का पुनीत प्रतीक हो, वह सत्य है। दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि में मृषावाद के चार प्रकार कहे हैं-

1. सद्भाव प्रतिषेध : सही संबंध को नकारना।

2. असद्भाव उद्भावना : जो नहीं है उसे कहना कि वह है।

3. अर्थान्तर : एक वस्तु जो है उससे उसे भिन्न बताना। और

4. गर्हा : पीड़क शब्द कहना।

सत्यवादी इन चारों प्रकारों से दूर रहता है। सत्य के तीन लक्षण हैं-1. कठोर व सावद्य भाषा का त्याग, 2. मधुर-मृदु-यथार्थ शब्दों का प्रयोग एवं 3. जैसा सोचे वैसा बोले और जैसा बोले वैसा करे। मन सत्य से ही शुद्ध होता है (**मनः सत्येन शुद्ध्यति**-मनुस्मृति, 5-109)। सत्य की आराधना के प्रकार हैं-1. सत्य वाक्, 2. सत्य कर्म, 3. सत्य विचार, 4. सत्य परिश्रम, 5. सत्य मनन और 6. सत्य आनन्द।

अहिंसा आध्यात्मिकता की भी जननी है। उसके ही गर्भ से ब्रह्मचर्य उत्पन्न होता है। यह ब्रह्मचर्य मात्र मिथुन सेवन से निवृत्त होना ही नहीं है, बल्कि सर्वोच्च स्वरूप, ब्रह्म में विचरण करना अथवा आत्मा में रमण करना है, जो आध्यात्मिकता का शिखर कहा जा सकता है। शक्ति की प्रतीक रूप में की जानी वाली समस्त साधना ब्रह्मचर्य के बिना निष्फल है। क्या जल का विलोड़न करने से मक्खन की प्राप्ति हो सकती है? नहीं। वैसे ही बिना ब्रह्मचर्य की उपासना के किसी भी प्रकार की शक्ति का सर्जन, उपार्जन या सम्पादन नहीं हो सकता है। अनन्त आत्मशक्ति के स्रोत को अनावृत्त करने का एक ही साधन है-ब्रह्मचर्य, जो सर्वत्र और सर्वदा स्थिरता की उपलब्धि प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य की तीन अर्थों में साधना की जानी चाहिए-1. वीर्य रक्षण, 2. आत्म चिन्तन एवं 3. विद्याध्ययन और आत्म रमण।

समग्र व्यवस्था एवं जीवनशैली का समुचित निर्धारण ऐसी व्यापक एवं विशद् स्वरूप वाली अहिंसा के माध्यम से ही संभव हो सकता है। आज मानव-चरित्र के नवनिर्माण के साथ अहिंसा को ही अपनी चाल बनाने की नितान्त आवश्यकता है।

तब उस चाल का चलन कैसे हो-यह भी निश्चित करना होगा :

चीन के ताओवाद के मूलग्रन्थ ताओ-ते-चिंग में कहा गया है-'तुम नम्र बनो तो सदा पूर्ण बने रहोगे, तुम झुक जाओ तो हमेशा सीधे रह सकोगे, तुम खाली हो जाओ तो रोज भरे हुए रहोगे और तुम पुराने पन को पहने हुए रहो तो सदा नये बने रहोगे।' यह चरित्र निर्माण की बुनियादी बात है। चरित्र निर्माण कहे या आत्म-संयम का अभ्यास, कर्त्तव्य निष्ठा कहें या धर्माराधना-सर्वत्र एक ही साधना है कि सद्गुणों को ग्रहण करो, व्यक्तित्व की सफलता का वरण करो और लोक कल्याण के मार्ग पर चरण धरो। ऐसा मार्ग जो बताते हैं, वे महाजन कहलाते हैं तथा महाजन प्रत्येक युग में सद्गुणाधारित आचरण के द्वारा सार्वजनिक 'चाल' (मार्ग) का प्रतिपादन करते हैं और उसका जब 'चलन' अर्थात् प्रचलन लोकप्रिय होता है तो वह सब चाल-चलन (केरेक्टर) का आधार बन जाता है। वर्तमान युग में कैसी चाल बने-इसकी चर्चा ऊपर की गई है जिसका सार यह है कि आज के विश्रृंखल विश्व तथा विभ्रमित व्यक्ति के जीवन में सन्तुलन, समन्वय एवं शुद्ध-शुभ जीवन की सृष्टि तभी की जा सकती है जब समूची व्यवस्था तथा व्यक्ति की चर्या में अहिंसक जीवनशैली का समावेश हो। यह शैली ही आज की विभिन्न विविधताओं तथा विषमताओं के बीच सहनशीलता एवं एकता की स्थापना कर सकती है, जिसे आज 'बहुमान्यतावाद' (प्लूरिज्म) कहा जाता है। आज इस अहिंसक जीवनशैली को अपनाने के अलावा अन्य कोई प्रभावी उपाय नहीं जो व्यक्ति से लेकर विश्व तक में जीवन निर्माण का नया अध्याय प्रारम्भ कर सकती हो। तो इस 'चाल' का 'चलन' कैसे हो-इस निश्चयीकरण के लिए इसी ग्रन्थ के अगले सातवें खण्ड में पूरे विस्तार के साथ विचार किया जाएगा तथा व्यावहारिक दृष्टि से आयोज्य अभियान आदि की रूपरेखा दी जाएगी। अभी यहां तो उस व्यावहारिक योजना के सैद्धान्तिक पक्ष पर ही संक्षिप्त में चर्चा की जा रही है।

अहिंसक जीवनशैली की मूल धारणा यह है कि सभी धर्म, सभी वाद और सभी विचारधाराएं तथा यहां तक प्रत्येक व्यक्ति की धारणाएं ध्यान में ली जानी चाहिए, ससम्मान उनकी अच्छाईयों को सामने लाना चाहिए तथा उन सबके आधार पर एक समन्वित विचार परिपाटी का सूत्रपात किया जाना चाहिए। 'मेरी ही मान्यता, मेरा ही विश्वास अथवा मेरा ही धर्म श्रेष्ठतम् है'-इस हठाग्रह का यह शैली पूर्ण विरोध करती है। इस शैली की यह एक अच्छाई ही एकता का वातावरण रच सकती है क्योंकि यह सबको महत्त्वपूर्ण मानती है और सबको विकास प्रक्रिया में सम्मिलित करना चाहती है। इस अहिंसा का सिद्धान्त पक्ष इतना सुदृढ़ है जो अपनी सुरक्षा में प्रत्येक मानव ही नहीं, जीव तक को अपने जीवन के प्रति निश्चिन्त बना सकती है। यदि मानव को केवल अपने जीवन की सुरक्षा की गारंटी दे दी जाए तो कल्पना नहीं की जा सकती है कि जीवन के अन्यान्य क्षेत्र में कितनी सार्थक प्रगति वह कर सकता है। दिग्घ निकाय (बौद्ध धर्म ग्रन्थ) में कहा है-"यह सृष्टि चक्र तुम्हारी (किसी की) बपौती नहीं है। तुम स्वयं दूसरों का भला करो, जैसा कि मैंने किया तो तुम भी इस चक्र के नियन्ता बन सकते हो। धर्म और कर्त्तव्य के आदर्शों के अनुसार अपना आचरण बनाओ, जो तुम्हारे सामने महापुरुषों ने रखा है। तुम उस आदर्श का सम्मान करोगे, प्रसार करोगे तथा स्वयं उसका पालन करोगे तो तुम स्वयं भी उस आदर्श के ध्वजवाहक बन सकोगे। तुम भी उस आदर्श के प्रतीक

बनोगे और वह आदर्श तुम्हारा प्रकाश स्तम्भ होगा। तब तुम्हें उस आदर्श की सही देखरेख, रखवाली और सुरक्षा करनी होगी (3/60-61 चक्कवत्ती सिंहनद सुतन्त)।"

यह चाल-चलन मानव मार्ग का प्रतीक हो और समूची समस्याओं का निर्णायक :

नये मानव चरित्र को प्रोत्साहित करने वाले इस चाल-चलन से दो अपेक्षाएं हैं-एक तो यह ऐसा सुरक्षा कवच सिद्ध हो जिससे समूची समस्याओं के संबंध में समय-समय पर समुचित निर्णय लिये जा सके तथा व्यवस्था की सुचारूता बनी रहे तथा दूसरा यह चाल-चलन शुद्ध रूप से मानव-मार्ग का प्रतीक होना चाहिए जिसका आने वाली पीढ़ियां निश्चिन्तता पूर्वक अनुसरण कर सके। यह चाल-चलन सारे विश्व का चाल-चलन बन जाए।

अहिंसक जीवनशैली की मानव मार्ग की प्रतीकात्मकता से संबंधित कुछ बिन्दुओं पर विचार करें, जो सामान्य रूप से बाह्य एवं आभ्यन्तर-सभी तत्त्वों को अपने में समेटते हैं-

1. अपने आपको बनाने का मार्ग : आधुनिक युग में सबसे ज्यादा उपेक्षा इस मार्ग की हुई है जबकि यह कार्य सबसे पहले होना चाहिए। अपने आपको बनाने का मार्ग है। व्यक्ति के चरित्र निर्माण तथा विकास का मार्ग। जिसके हाथ खून से भरे हुए हो-उसके हाथों में प्राणियों की रक्षा का भार सौंपा जाएगा तो क्या होगा? रक्षा की जगह हिंसा का क्षेत्र बढ़ जाएगा और खून चारों ओर फैल जाएगा। क्या मानव चरित्र के निर्माण के बिना सब ओर जो विशाल पैमाने पर भौतिक निर्माण हुआ है-उसकी क्या दशा है? सभी जानते हैं कि विकास का अनुपात बहुत कम और भ्रष्टाचार का दैत्य महादैत्य बन गया है। एक पूर्व प्रधानमंत्री के शब्दों में-भारत में विकास पर जो खर्च किया जाता है उसके प्रति रूपया सौ पैसों में सिर्फ पन्द्रह पैसे ही विकास पर खर्च होता है, बाकी पिच्यासी पैसे भ्रष्टाचार के ऊपर में समा जाते हैं। और विकास के नाम आज तक भी जो खर्च हुआ वह अरबों-खरबों से भी बहुत अधिक होगा। इससे व्यक्ति चरित्र के गठन का प्रश्न अहम बन जाता है। मनुष्य का निर्माण नहीं तो समझिए कि सही निर्माण कुछ भी नहीं।

2. अपने व परिवार के निर्वाह हेतु सही साधन अपनाने का मार्ग : जब व्यक्ति चरित्रनिष्ठ होगा, चरित्रशील बनेगा, तब वह अपने परिवार को भी प्रभावित करेगा। यह शुभ प्रवाह व्यावहारिक रूप से धनार्जन की नीति एवं संस्कार निर्माण पर सबसे पहले पड़ेगा। वह व्यक्ति तथा उसका परिवार निर्वाह हेतु सही साधन ही अपनाएंगे। धर्नाजन का तरीका यानी धंधा नैतिक होगा तो व्यय किया जाने वाला धन भी संविभाग तथा मर्यादा पालन पर आधारित होगा। जीवन निर्वाह में जब पूरी तरह नैतिकता होगी तो उस परिवार में नये आने वाले मेहमान भी नैतिक संस्कारों से युक्त होंगे-चरित्रनिष्ठा का बीज गर्भ में ही उनमें आरोपित हो जाएगा। वैसा भविष्य कितना सुन्दर होगा-सहज ही में सोचा जा सकता है।

3. अपने आपको समझने का मार्ग : जब अपने आपको बना लें, अपना चरित्र विकसित कर लें तब आप अपने को श्रेष्ठ कर्त्ता बना लेते हैं किन्तु अपना कृतित्व कितना सफल होता है-इसका अंकन करने के लिए चरित्रशील व्यक्ति को दृष्टा भी बनना चाहिए-दृष्टा बन कर ही वह अपने

आपको भलीभांति समझ सकता है-जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।

4. सम्पर्कगत संसार अर्थात् परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के साथ व्यक्ति के तालमेल का मार्ग : व्यक्ति अकेला नहीं रहता, अन्य लोगों के बीच में रहता है तथा अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति भी वह स्वयं अकेला नहीं कर सकता है सभी के सहयोग से उसका काम बनता है। अभिप्राय यह कि वह अन्याश्रित होता है और इसी से परस्परता की स्थिति पैदा होती है। अपने-अपने सम्पर्क का संसार हरेक का छोटा-बड़ा हो सकता है किन्तु परोक्ष सम्पर्क के नाते तो पूरा विश्व ही सबके साथ संवेदना, सहानुभूति एवं सहयोग की भावनाओं के साथ सदा जुड़ा हुआ रहना चाहिए।

5. मानव मूल्यों के सर्जन एवं संरक्षण का मार्ग : चरित्रशीलता मनुष्य को भावनात्मक रीति से इतना सशक्त बना देती है कि वह अपने चारित्रिक गुणों के आधार पर देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार नये मानव मूल्यों का सर्जन कर सकता है, उनकी ग्रहणशीलता को विस्तार दे सकता है तथा प्रतिपादित मानव मूल्यों का संरक्षण इस प्रकार से सुनिश्चित कर सकता है कि वे मूल्य आने वाली पीढ़ियों का मार्गदर्शन करते रहे। ऐसी सर्जक शक्ति चरित्र सम्पन्नता की अमूल्य उपलब्धि होती है।

6. पर्यावरण एवं प्राणी मात्र के संरक्षण का मार्ग : यह विश्व केवल मनुष्य की ही बपौती नहीं है। इसमें छोटे-बड़े प्राणियों की अनगिनत प्रजातियों का भी निवास है और इन्हीं प्राणियों की उपस्थिति से ही मनुष्य का रक्षात्मक पर्यावरण बनता है। यदि यह पर्यावरण प्रदूषित होता है या नष्ट होता है जैसा कि आज हो रहा है तो मनुष्य जाति पर भी तरह-तरह की घातक विपत्तियां हावी होती है। अत: प्राणियों की रक्षा में मानव की सुरक्षा भी सम्मिलित है। चाहे वनवासी प्राणी हो या अन्य जलचर, नभचर आदि आज उनके रक्षण के लिए अनेक संगठन अच्छा कार्य कर रहे हैं जिससे अहिंसा वृत्ति का प्रसार साफ झलकता है। यह शुभ लक्षण है।

7. सकारात्मक जीवनशैली अपनाने का मार्ग : वैज्ञानिक सुख सुविधाओं तथा उपभोक्तावादी संस्कृति ने व्यक्तियों की आज की जीवनशैली को नकारात्मक एवं निरर्थक बना रखा है। स्वस्थ विकास के लिए जीवनशैली से बढ़ कर अन्य कोई सकारात्मक जीवनशैली नहीं। यह सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय है।

8. भ्रष्टता व दुष्टता के दलन का मार्ग : अब अवतारवाद की धारणा से मनुष्य बहुत आगे बढ़ गया है और वह अपनी आन्तरिक शक्ति की प्रखरता पर विश्वास करने लगा है। उसकी यह प्रखरता हिंसक नहीं, अहिंसक है तथा अहिंसा तथा हृदय-परिवर्तन के मार्ग से ही भ्रष्टता एवं दुष्टता का दलन करने में वह समर्थ बनना चाहता है।

9. सज्जनता एवं सहयोगिता के प्रोत्साहन का सामाजिक मार्ग : यह व्यक्ति के चरित्र की सर्वांगीण उन्नति का ही सुफल हो सकता है कि वह समाज में सज्जनता तथा सहयोगिता को सर्वत्र प्रचलित बना दे-**'एक के लिए सब और सबके लिए एक'** का आत्मीय सूत्र क्रियान्वित हो जाए।

10. सबमें एक और एक में सबकी अनुभूति लेने का मार्ग : मानव चरित्र का यह उन्नति-

शिखर होगा कि वह 'पर' तथा 'शेष' के विकास के लिए 'स्व' को विगलित कर दे। यह विगलन तभी संभव है जब 'स्व' तथा 'पर' में एकात्मकता की अनुभूति होने लगे। यह अनुभूति ही विकसित आध्यात्मिकता का लक्षण बनाती है।

11. सकल वसुधा को एक कुटुम्बवत् बनाने का मार्ग : 'स्व-पर' की एकात्मकता के बाद मनुष्य की कर्म-शक्ति अत्यन्त विस्तृत बन जाती है। इसका अर्थ है कि वह पूरे विश्व तक प्राभाविक हो जाती है। चरित्र सम्पन्न महात्मा के लिए उनके आदर्श प्रेम की कोई सीमा नहीं रहती-वह प्रेम सम्पूर्ण विश्व को अपनी तरलता से आप्लावित बना देता है। इसका सुपरिणाम इसी रूप में प्रकट होगा कि पूरा विश्व यानी कि पूरी वसुधा एक कुटुम्ब के समान हो जाएगी। पूरी पृथ्वी एक परिवार और सारे मनुष्य, जीव-जन्तु उसके सम्मानित एवं संरक्षणीय सदस्य-वसुधैव कुटुम्बकं की अवधारणा साकार रूप ले लेगी। मानव चरित्र के श्रेष्ठ धरातल पर निर्मित ऐसा मानव मार्ग सर्वोदय का प्रधान माध्यम हो सकता है।

इस चाल-चलन का उद्देश्य हो-पीढ़ियों के लिए असीम आनन्द :

मानव का धर्म क्या है? यदि इसका उत्तर एक वाक्यांश में देना हो तो वह है स्वभाव की अवाप्ति। जैसे पानी का भिगोने का तथा आग का जलाने का स्वभाव है और जब तक यह स्वभाव बना रहता है तब तक ही लोग उन्हें पानी व आग कहेंगे अन्यथा ये स्वभाव खो देने पर उनके ये नाम भी नहीं रहेंगे। यही बात मानव के धर्म के साथ भी होनी चाहिए, लेकिन क्या ऐसा है? मानव चेतना की शक्ति उसके शरीर तक ही सीमित नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति उसके व्यवहार तथा आचरण में भी झलकनी चाहिए। यदि एक विद्वान् का भी आचरण दोषपूर्ण है तो उसे वह सम्मान नहीं मिलेगा जो उसकी विद्वत्ता का होना चाहिए। मानव के साथ यदि उसका धर्म है, स्वभाव है तो उसकी परिणति असीम आनन्द में ही होती है। तभी वह **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** का अनुकर्त्ता होता है और सम्पूर्ण प्राणी जगत् को अपने असीम आनन्द का स्रोत मानता है।

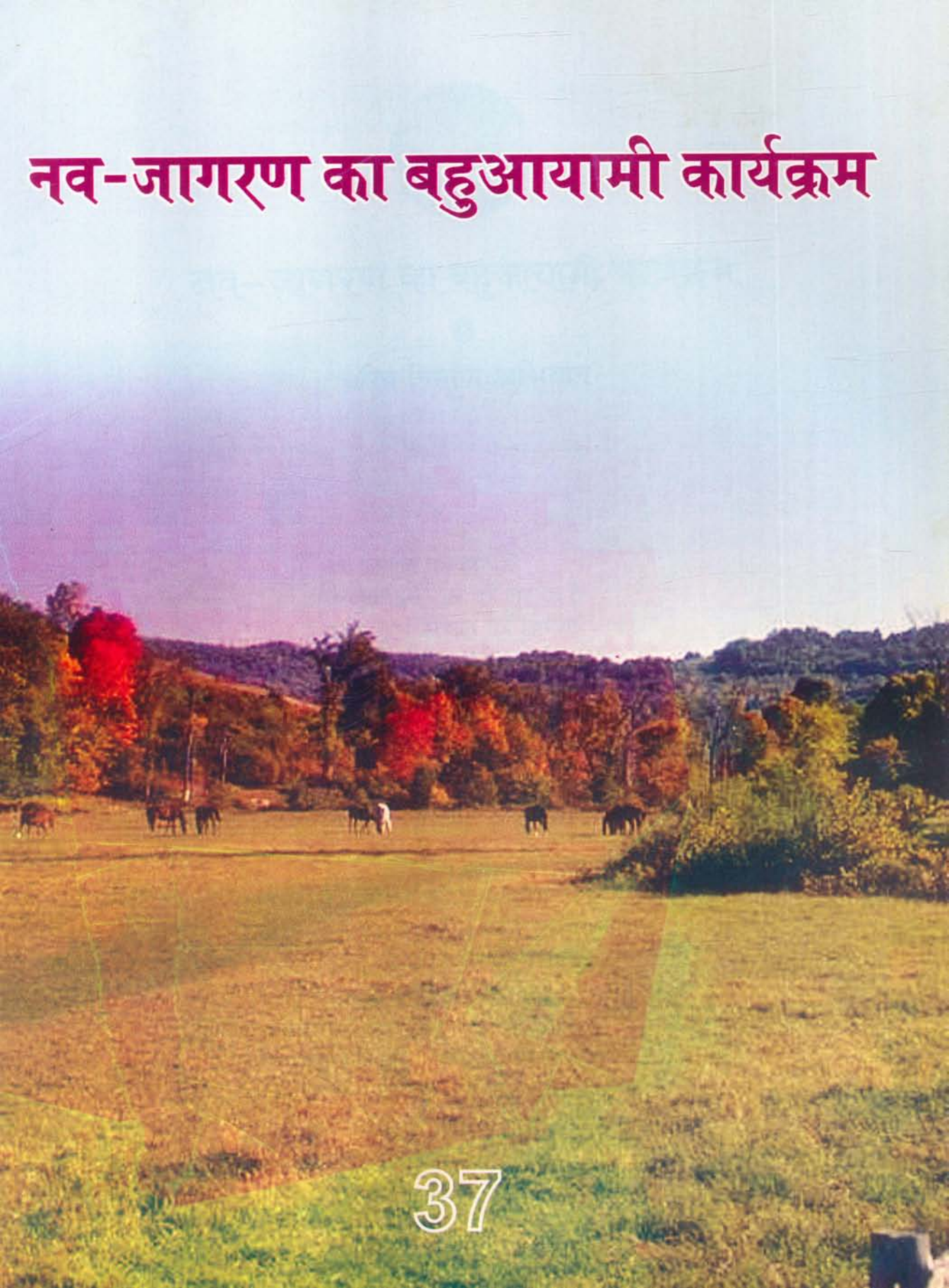
आज का मानव फिर भी अपने धर्म को अवाप्त करने के लिए प्रयत्नशील क्यों नहीं हो रहा है? यह कारण है चाल-चलन का, चरित्र गठन का कि वह अपने धर्म के रहस्य से अनजान है। वह पूरी तरह विभाव में भटक रहा है-पथ से विपथगामी बने रहने पर सही पथ कैसे मिलेगा? उसके लिए पहले ज्ञान की ओर मुड़ना होगा। श्रीमद् भागवत गीता में कहा है-सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियां भलीप्रकार से शान्त है, विकार रहित है-ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिानन्द परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उनके ज्ञान में परमात्म तत्त्व के सिवाय कुछ अन्य है ही नहीं (**जितात्मनः प्रशंसस्य परमात्मा समाहितः शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयो**-अध्याय 6 श्लोक 7) और यही अवस्था स्वभाव अवाप्ति की होती है। मानव जब इस उद्देश्य की ओर गतिशील बनता है तब से ही उसमें वह नयापन झलकने लग जाता है, जिसकी कल्पना मानव के नवनिर्माण के रूप में की गई है। धर्म को प्राप्त करना सम्यक् नीति पर आधारित होता है-साध्य और साधन दोनों की शुद्धता एवं शुभता आवश्यक है। सम्यक् नीति पर आचरण तभी सुगम बनता है जब व्यक्ति की चरित्रशीलता विकसित हो चुकी हो

और उस चरित्रशीलता का चरम एवं परम लक्ष्य यही हो कि वह स्वयं में असीम आनन्द की सृष्टि करेगा और अपने आनंद को सब में परम उदारता के साथ बांटता रहेगा। आनंद बांटने से निरन्तर बढ़ता रहता है।

वर्तमान विश्व की कठिन एवं दु:खभरी परिस्थितियों में आन्तरिक आनन्द की चाह बनना सरल नहीं है। जो व्यक्ति आज विभाग में, बाहरी वस्तुओं के सुख में इतना लिप्त है, उसे अपने स्वभाव का भान दिलाना होगा–अपनी अपार शक्ति की पहचान करानी होगी और यही काम है चरित्र निर्माण की प्रक्रिया का। चरित्र विकास के दौरान ही मनुष्य को अपने भीतर भी झांकने का अवसर मिलता है। तभी वह अपने कर्त्ता भाव को भी समझता है और दृष्टा भाव को भी पहचानता है। चरित्रशीलता से चरित्र सम्पन्नता का ही वह मार्ग है जो विकास के अन्तिम छोर तक पहुंचाता है।

◆◆◆

नव-जागरण का बहुआयामी कार्यक्रम





नव-जागरण का बहुआयामी कार्यक्रम

चरित्र निर्माण अभियान

नव निर्माण की तड़प है
न पाया उसे पाने की ललक है
आशा और उत्साह की शहनाई
बज रही है भीतर में
तो अवश्यमेव चरण बढ़ेंगे
कदम-दर-कदम मंजिल पे चढ़ेंगे
विघ्न बाधाओं के निशाचर दूर भगेंगे
हम नवनिर्मित बनेंगे
न पाया उसे पाकर ही ठहरेंगे।

नव निर्माण, निर्विघ्न गति, साध्य गति आदि ये सब विचार ही हैं। विचार, दृढ़ता पकड़ कर संकल्प बनते हैं। संकल्प समभाव से तरंगित होकर समर्पण के साथ जब आबद्ध होते हैं तो जैसे सफलता की गारंटी हो जाती है। हमारे विचार ही हमारे सुख दु:ख के आधार हैं। व्यक्ति परिस्थितियों, घटनाओं, अन्य व्यक्तियों या पदार्थों से सुखी या दु:खी नहीं होता, उनका सद्भाव या अभाव उसे सुखी या दु:खी बनाता-वह सुखी अथवा दु:खी बनता है तो अपने ही विचारों से-यह सत्य है। इस सत्य की रोशनी में क्यों नहीं हम भी अपने विचारों को नया मोड़ दें? इसके

लिए अन्तराभिमुखी बनकर विचार करें। अन्तराभिमुखी विचार हमारे भीतर विवेक को जागृत करेगा। आप परमात्म तत्त्व की शक्ति को पहचानें, अपनी आत्मशक्ति को तोलें और अपने लिए नव-जागरण का वातावरण बनावें, जिसमें से नव-जागरण की प्रेरणा सबको भी प्राप्त हो सकेगी। भीतर-बाहर स्वस्थता, जागरूकता एवं कर्मठता को जागृत बनाने के कुछ ध्यान सूत्र-

1. मैं स्वस्थ हूँ, स्व में स्थित हूँ, तन-मन जीवन से प्रसन्न हूँ...ऐसा प्रतिक्षण चिन्तन करें, अनुभव करें और कर्त्तव्य शक्ति को जगावें।
2. मेरी आन्तरिक शक्ति-आत्म-बल सदा सन्नद्ध है, मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता है-इसका मनन सदा करते रहें।
3. मैं निर्भय हूं, अज्ञात भय एवं भयंकर आशंकाओं से मैं मुक्त हूँ-व्यावहारिक जीवन में इस सत्य का साक्षात्कार करते रहें।
4. मैं अनन्त शक्ति का स्वामी हूँ-मेरी शक्ति सदा लोककल्याण में लगी रहे-मन में यह भावना-प्रवाद सदा चलता रहे।
5. मैं सर्वतंत्र एवं स्वतंत्र हूँ, मेरी स्वतंत्रता प्रत्येक प्राणी की स्वतंत्रता जगाने और दिलाने में सहायक बने-ऐसी हार्दिक अनुभूति लेते रहें।
6. मैं मानव जाति की एकता का समर्थक हूँ, इस एकता से विश्व सधे और समूची व्यवस्था समता में ढले-अन्तरंगता की गहराइयों में इसे उतारें।
7. आत्मा ही आत्मा की मित्र है और आत्मा ही आत्मा की शत्रु-मेरी आत्मा सदा मेरी मित्र बनी रहे और समस्त आत्माओं को अपनी मैत्री के बंधन में बांधे, इसे अवचेतन मस्तिष्क में जमावें।
8. मैं संसार की समस्त ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि का स्वामी हूँ, किन्तु उसकी आसक्ति से भी दूर रहूँ-ऐसा ज्ञान करें।
9. समस्त दिव्य शक्तियाँ मेरी आत्मा में विद्यमान हैं और उनका प्रयोग-उपयोग सदा परोपकार में करूँ-यह संकल्प बनावें।
10. संसार में जितनी भी श्रेष्ठताएं हैं, वे सब मेरे में हैं। संसार में जो महानताएं हैं वे सब मेरे मन-मानस में हैं। मैं सृष्टि का सुन्दरतम उपहार हूँ, श्रेष्ठतम वरदान हूँ, किन्तु चरित्र निर्माण की प्रक्रिया से इन श्रेष्ठताओं को साकार रूप दूं-ऐसा निश्चय बनाते रहें।
11. मेरे विचार सदा सकारात्मक एवं क्रियात्मक रहें, उनमें कभी नकारात्मक, निराशा या कुंठा का प्रवेश न हो। मैं यह नहीं कर सकता कि ऐसी दुर्बलता कभी न जागे। यह कभी न सोचें मैं सब कुछ कर सकता हूँ, कुछ भी मेरे लिए असंभव नहीं। मैं अनन्त शक्ति का स्रोत हूँ। मैं अनन्त ज्ञान, दर्शन, चरित्र से सम्पन्न भव्यात्मा हूँ-इसे दृढ़ आत्मविश्वास के साथ प्रत्यक्ष करते रहें।
12. सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म की अनन्त कृपा वृष्टि मेरे पर हो रही है, मैं अनुगृहीत हो रहा हूँ, उससे मैं पवित्र, शुद्ध, निर्मल एवं उज्जवल हो रहा हूँ-इन आल्हादक भावों का अन्तर्मन में संचार महसूस करें।

13. मैं 'स्व' हूँ, संसार के सर्व प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व 'स्व' से सम्बद्ध हैं, मेरा उनके प्रति कर्त्तव्य है- ऐसी सहयोगात्मक चेतना बनी रहे।

14. मैं आत्मा हूँ, मैं भी परमात्मा हूँ। न मैं शरीर हूँ, न इन्द्रियां, न मन, न और कुछ। ये सब मैं नहीं हूँ। न यह मेरा है, जो 'यह' होता है, वह मैं नहीं होता, जो 'वह' होता वह यह नहीं होता। मैं इनसे परे हूँ। जो परमात्म स्वरूप है, आनन्दमय नित्य चैतन्य स्वरूप है वह मैं हूँ, जिसका न जन्म होता है, न मरण, न यौवन, न वृद्धत्व। जो शिव, अचल, अरूज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध अनश्वर सुखों में रमण करने वाला है, वह 'मैं' हूँ-इस विराट सत्य-तथ्य की अनुभूति लेते रहें।

मानवीय दृष्टिकोण के साथ सार्वजनिन चरित्र निर्माण का उद्देश्य बनावें :

आज व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के सभी स्तरों पर चरित्र निर्माण की महती आवश्यकता है। चरित्र का स्वरूप-चाहे व्यक्तिगत जीवन में हो या सामूहिक जीवन में बहुआयामी होता है। व्यक्ति एक साथ धार्मिक, सामाजिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि कई क्षेत्रों में कार्य करता है। सर्वत्र उसकी कार्य प्रणाली का प्रभाव समूह, संगठन या समाज आदि पर भी अवश्य पड़ता है। दूसरी ओर किन्हीं क्षेत्रों में कार्य न करते हुए भी सामूहिक अथवा सामाजिक प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ता है। इस संदर्भ में चरित्र निर्माण की महत्ता एवं अनिवार्यता समझी जानी चाहिए।

एक पहलू यह भी विचारणीय माना जाना चाहिए। जन्मना और कर्मणा जीवनशैली में अन्तर होता है। जन्मना कोई एक डॉक्टर के घर जन्म लेता है तो वह निश्चित रूप से डॉक्टर नहीं बन जाता है। डॉक्टर के घर में जन्म लेने के बाद भी उसे डॉक्टरी की डिग्री प्राप्त करने के लिए कर्मणा पुरुषार्थ करना पड़ता है। वैसे ही एक चरित्रनिष्ठ व्यक्ति के घर में जन्म लेने से कोई स्वतः ही चरित्रनिष्ठ नहीं हो जाता है, हां, संस्कार उसे अवश्य मिलते हैं। किन्तु अनुकूल संस्कार के उपरान्त भी चरित्रनिष्ठा की उपलब्धि के लिए जन्म के साथ उसे कर्मणा पुरुषार्थ भी करना होता है।

चरित्र का मूल संबंध आत्मा, स्वभाव एवं हृदय से मानना चाहिए। हृदय जिसका दयालु, उदार एवं ऋजु होता है, वह चारित्रिक मूल्यों को सरलता से उन्नत बना लेता है। हृदय या मन वह भूमि है, जिसमें जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। हृदय में चारित्रिक निष्ठा जगाने हेतु क्रमबद्ध योजना बनाना जरूरी है। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में कई तत्त्वों की संयुक्तता आवश्यक है जैसे कि माता-पिता के संस्कार, शुद्ध वायुमंडल, श्रेष्ठ शिक्षण-प्रशिक्षण तथा चरित्रशीलता के प्रति दृढ़ निष्ठा। आज जबकि सम्पूर्ण विश्व में चरित्र-विनाश के कारण जैसी भयावह परिस्थितियां ढलती जा रही हैं, उनको ध्यान में रखते हुए चरित्र निर्माण की शीघ्रगामी प्रक्रिया तथा चरित्रशील समाज की संरचना अनिवार्य प्रतीत होने लग गई है, जितनी शायद पहले कभी नहीं रही हो। व्यक्ति से लेकर विश्व तक के कर्त्तव्यों के अपने-अपने क्षेत्रों में चरित्र की महत्ता, अर्थवत्ता तथा गुणवत्ता को समझना-समझाना महत्त्वपूर्ण है।

सार्वजनिन मानवीय दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैन दर्शन के सिद्धान्त वस्तुतः मानव धर्म का

प्रतिपादन करते हैं, जिनका तथा अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण दिया जा चुका है। मानव धर्म के सिद्धान्तों में संकुचितता के स्थान पर व्यापकता व उदारता तथा कट्टरता के स्थान पर विवेकमय ज्ञान और व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुणपूजा को महत्ता मिली हुई होती है। रत्न त्रय के संदर्भ में चरित्र का जो महात्म्य जैन दर्शन में वर्णित है, वह अनुपम है। तदनुसार सत्चारित्र्य के संस्कार आदि बाल्यकाल से देने-दिलाने की जीवनशैली बने तो उन संस्कारों के सामाजिक एवं राष्ट्रीय विस्तार में कठिनाई नहीं होगी। फिर भी चरित्र निर्माण का प्रयास आवश्यकतानुसार किसी भी आयु में किया जाना समुचित ही होगा। अत: समग्र चरित्र निर्माण का यह अभियान किसी एक या खास वर्ग, क्षेत्र या उद्देश्य तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि मानवीय दृष्टिकोण के साथ यथासाध्य उसे विस्तृत क्षेत्र में तथा विभिन्न समुदायों में और मुख्य रूप से जैन समाज के सकल क्षेत्र में चलाया जाएगा ताकि सार्वजनिन चरित्र का निर्माण हो सके तथा चरित्र विकास का मार्ग बाधारहित बनाया जा सके। किन्तु यह जैन समाज तक भी सीमित नहीं रहेगा, इसमें किसी भी धर्म, वर्ण या विश्वास के व्यक्तियों का प्रवेश भी स्वीकार्य होगा। इसका व्यापक क्षेत्र पूरा मानव समाज ही माना जाएगा।

अभियान के राष्ट्रस्तरीय उद्देश्यों की अर्थवत्ता पर एक विहंगम दृष्टि :

चरित्र निर्माण अभियान एक बहुउद्देश्यीय एवं बहुआयामी अभियान है तथा उसका कार्यक्षेत्र प्रगति के साथ सम्पूर्ण विश्व तक विस्तृत बनाया जा सकता है। फिलहाल जो अभियान चलाने की योजना है, वह अपने देश भारत तक सीमित है। इस दृष्टि से अभी इस अभियान के राष्ट्रस्तरीय उद्देश्यों का निर्धारण किया गया है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. पर्यावरण संरक्षण और सूक्ष्मजीव रक्षण के प्रति दयालुता की भावनाएं जागृत करना।
2. धार्मिक जागरण तथा युवा नेतृत्व को प्रमुखता देने की दृष्टि से एक युवा शाखा का गठन करना और युवाओं को उत्साहपूर्वक कार्य करने हेतु प्रोत्साहन देना।
3. चरित्र निर्माण को व्यापक रूप से लोकप्रिय बनाने के लिए गोष्ठियों, भाषणमालाओं तथा चर्चा-बहस के सब ओर कार्यक्रम आयोजित करना और जन-जन को व्यसनों, दुर्गुणों तथा असमानता से छुटकारा दिलाने की प्रवृत्तियों का संचालन करना।
4. आपदाग्रस्त लोगों तथा दलित-पतित भाई-बहनों को प्रत्येक प्रकार की संभव सहायता पहुंचाना।
5. रक्तदान तथा नि:शुल्क स्वास्थ्य परीक्षण का आयोजना करना।
6. मरणोपरान्त नेत्रदान करने की प्रवृत्ति लोगों में जगाना और उन्हें प्रोत्साहित करना।
7. जनता को दहेज देने तथा दहेज की सामग्री का प्रदर्शन करने की कुप्रथा को तोड़ने हेतु जागृत करना तथा यथावसर यथोचित विरोध करना।
8. आत्महत्या एवं जीवहत्या के विरुद्ध जनता में जागृति फैलाना तथा इस उद्देश्य से आन्दोलन आदि चलाना।
9. बाल-विवाह तथा मृत्युभोज की घातक कुप्रथाओं को छोड़ने के लिए भी लोगों को समझाना तथा आन्दोलन चलाना।

10. धर्म-मजहब, जाति-पांति, वर्ण या शुद्धि के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक भेदभावों को उखाड़ने के लिए लोगों को जागृत करना एवं सामूहिक आन्दोलन चलाना।

11. व्यक्ति के जीवन को शुद्ध एवं सरल बनाए रखने के उद्देश्य हेतु लोगों को धूम्रपान, गुटखा व पान मसाला लेने की बुरी आदतों को समझाइश से छुड़ाना और हिंसक कार्यों से उत्पादिक फैशन की सामग्री को न अपनाने पर जोर देना। आवश्यकतानुसार इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनान्दोलन खड़े करना।

12. विवाह में दहेज न लेने, महंगे बैंड बाजे न लगाने, आतिशबाजी नहीं करने तथा अन्यथा भी आडम्बर नहीं करने के लिए संकल्प दान कार्यक्रम आयोजित करना और इन बुराइयों के विरुद्ध जनान्दोलन चलाना।

13. वेश्यावृत्ति, महिलाओं के शील हरण, अंडा खाने सहित मांस भक्षण, पशु-पक्षियों के शिकार, जुआबाजी, तम्बाकू सेवन और अफीम, ब्राऊन शूगर, स्मैक, शराब, बीअर आदि के सेवन से संबंधित सभी व्यसनों को छुड़ाने के लिए व्यक्ति एवं समाज की हित दृष्टि से जनान्दोलन चलाना तथा उनसे व्यसन मुक्ति का संदेश जन-जन तक पहुंचाना।

चरित्र निर्माण से संबंधित यथावसर अन्य उद्देश्यों को भी इस सूची में सम्मिलित किया जा सकेगा तथा प्रयत्न किया जाएगा कि कोई भी संबंधित विषय इस अभियान की कार्यसूची से न छूटे।

व्यक्ति के उत्तरोत्तर चरित्र विकास हेतु अभियान के तीन चरणों का विवरण :

व्यक्ति के उत्तरोत्तर चरित्र विकास की दृष्टि से इस अभियान को तीन चरणों में चलाए जाने का प्रस्ताव है-

1. **चरित्रशील :** चरित्र निर्माण में दृढ़ आस्था बनाना तथा प्रक्रिया में सम्मिलित हो जाना।

2. **चरित्रनिष्ठ :** चरित्र निर्माण में गंभीरतापूर्वक सक्रियता धारण करना और अपने शुभदायक कार्यों से अन्यों को प्रभावित करना।

3. **चरित्रलीन :** चरित्र निर्माण की निर्धारित गुणानुसार पूर्णता प्राप्त कर लेना तथा सम्पूर्णत: अथवा अंशत: अभियान को रचनात्मक सहयोग देना।

अब इन तीनों चरणों का कुछ विस्तार से विवरण दिया जा रहा है तथा प्रत्येक चरण में किस प्रकार की प्रतिज्ञाओं का संकल्प-पत्र भरना एवं उनका निष्ठापूर्वक पालन करना-इसका भी ब्यौरा दिया जा रहा है।

इन तीन चरणों के अन्तर्गत नव्य समतामय एवं चरित्र सम्पन्न समाज की संरचना का उद्देश्य लेकर अभियान को प्रगति की दिशा में आयाम दिया जाएगा।

प्रथम चरण : चरित्रशील-इस चरण में ऐसी सरल एवं सामान्य प्रतिज्ञाएं रखी गई हैं, जिनके अनुपालन का संकल्प कोई भी सामान्यजन ग्रहण कर सकेगा। इस चरण के संकल्प-पत्र का प्रारूप निम्नानुसार है, किन्तु विभिन्न सुझावों के आधार पर इसमें यथोचित संशोधन किए जाते रहेंगे।

संकल्प-पत्र (प्रथम चरण)

1. मैं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म को अंगीकार करके उनके प्रति दृढ़ आस्था रखूंगा/रखूंगी। किसी भी रूप में चल रही या चलाई जा रही कैसी भी साम्प्रदायिकता एवं कट्टरता से दूर रह कर मानव धर्म की विशेषताओं को ग्रहण करूंगा/करूंगी। मैं राग द्वेष एवं ममत्व से मुक्त समत्व की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में, कृत कर्मों के फल में, स्वयं के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों में तथा दीनता-हीनता से रहित अपनी आत्मा के सम्पूर्ण सामर्थ्य में दृढ़ विश्वास रखता/रखती हूँ। मैं अहिंसा, अनाग्रह एवं अपरिग्रह पर आधारित जीवनशैली को तथा धर्म व ऊंच-नीच या स्पृश्य के भेदभाव से दूर आत्मीय समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता/करती हूँ।
2. मैं प्रतिदिन प्रात: उठते ही महामंत्र की एक माला का जाप, घर में अग्रजों को प्रणाम, यथासाध्य सामूहिक प्रार्थना तथा सबके साथ आदर व प्रेम-स्नेह का व्यवहार करूंगा/करूंगी। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि किसी दुर्गुण के वशीभूत होकर अपने व्यवहार के सन्तुलन को न बिगड़ने देने का पूरा ध्यान रखूंगा/रखूंगी।
3. मैं वैवाहिक आदि अवसरों पर सड़कों पर नाचना, बिन्दोली आदि में या पर्वों पर आतिशबाजी तथा अपने परिवार जन के देहान्त पर मृत्युभोज का आयोजन आदि कुरीतियां बंद करूंगा/करूंगी और जहां ऐसा होगा उसमें शामिल नहीं होऊँगा/होऊँगी।
4. मैं अपने जीवन सुधार हेतु कुव्यसनों में वेश्यागमन, पर-स्त्री (पुरुष) गमन, मांसाहार (अंडा सहित), शिकार, जुआ आदि का सेवन, तम्बाकू, गांजा, भांग, चरस, ब्राऊन शूगर, स्मैक, शराब, बीअर आदि नशीले पदार्थों का उपयोग और कम्पनियों द्वारा तैयार वस्तुओं का 'फास्ट फूड' भोजन नहीं करूंगा/करूंगी। (यदि किसी भी व्यसन की आदत हो तो निश्चित अवधि में उसे त्यागने का कठिन प्रयास करूंगा/करूंगी)।
5. मैं व्यापार व व्यवसाय में खोटा तोल-माप का प्रयोग तथा पदार्थों में मिलावट नहीं करूंगा/करूंगी। (यदि करता होऊं तो शीघ्र छोड़ने की कोशिश करूँगा/करूँगी)। यथासाध्य नैतिकता के अधिकतम व्यवहार की तथा आमदनी में से कुछ निश्चित प्रतिशत धार्मिक व पारमार्थिक कार्यों में लगाने की चेष्टा रखूँगा/रखूँगी।
6. मैं राष्ट्रीय एवं सामाजिक कर्त्तव्य की दृष्टि से-
   (अ) वन, पर्यावरण व सामान्य जीवों के रक्षण-संरक्षण का समर्थन तथा उनके प्रति क्रूर व्यवहार का विरोध करूँगा/करूँगी।
   (ब) हरे वृक्ष, वनस्पति व पानी की बरबादी से बचाव करूँगा/करूँगी तथा
   (स) पर्यावरण की रक्षा से संबंधित कार्यों में स्वयं सक्रिय रहूंगा/रहूंगी तथा इनके हेतु संघर्षशील तत्त्वों का साथ दूँगा/दूँगी।
7. मैं आवेशपूर्वक आत्महत्या का प्रयास तथा भ्रूण-परीक्षण व भ्रूण-हत्या का जघन्य अपराध कदापि

नहीं करूँगा/करूँगी।

इन सात प्रतिज्ञाओं का संक्षिप्त नामकरण इस प्रकार है-1. मानव धर्म एवं अहिंसक जीवनशैली में आस्था, 2. नित्य कर्म सुधार, 3. कुरीति-उन्मूलन, 4. व्यसन मुक्ति, 5. नैतिक व्यापार, 6. पर्यावरण व जीव रक्षण तथा 7. आत्म हत्या व भ्रूण हत्या निषेध।

दिनांक : ..... हस्ताक्षर

संकल्पकर्त्ता

साक्षी : 1. स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्ति

2. चरित्र निर्माण अभियान का सदस्य

प्रथम चरण की परीक्षा : एक वर्ष की समाप्ति पर प्रथम चरण संकल्प-पत्र भरने वाला व्यक्ति अपने चरित्र निर्माण तथा अभ्यास का विवरण देगा और यदि उसका आचरण सामान्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट श्रेणियों में से किसी भी श्रेणी में निर्धारित मानदंडों के अनुकूल परीक्षित होगा तो वह द्वितीय चरण का संकल्प-पत्र भर सकेगा। इसके लिए प्रथम चरण के परीक्षक की स्वीकृति आवश्यक होगी। फिर वह केन्द्रिय चरित्र निर्माण समिति द्वारा अधिकृत परीक्षक या पर्यवेक्षक को अपने आचार-सुधार को स्तरीय बनाने का आश्वासन देगा, तभी वह द्वितीय चरण का संकल्प-पत्र भर सकेगा। इसके साथ ही उसे 'चरित्रशील' होने का प्रमाण-पत्र दिया जाएगा तथा तदनुसार वह इस 'अलंकरण' का प्रयोग इच्छा हो तो अपने नाम के साथ करने का अधिकारी होगा।

द्वितीय चरण : प्रथम चरण के संकल्प-पत्र के अभ्यास एवं चरित्र सुधार से स्वयं संकल्पकर्त्ता एवं पर्यवेक्षक के पूर्ण संतोष के पश्चात् ही इस श्रेणी का संकल्प-पत्र भरा जा सकेगा। यदि संतोष में कमी होगी तो प्रथम श्रेणी के संकल्प-पत्र का ही एक और वर्ष के लिए नवीनीकरण किया जाएगा। इस द्वितीय श्रेणी का संकल्प-पत्र (प्रारूप) निम्नानुसार होगा -

संकल्प-पत्र (द्वितीय चरण)

1. मैं प्रतिदिन अपने मन, वचन तथा कर्म के समभाव के विकास की दृष्टि से सामायिक/स्वाध्याय/चिन्तन-मनन/आत्मालोचना का अभ्यास/तपाचरण (पांच तिथियों को रात्रि भोजन व जमीकंद त्याग एवं ब्रह्मचर्य पालन से लेकर उच्चतर कोई भी) को नित्य कर्म में निश्चित रूप से स्थान दूंगा/दूंगी। मेरे चिन्तन के विषय रहेंगे कि विनय एवं विवेकमय व्यवहार मेरे जीवन का आदर्श है, मैं किसी के अहित का, असुख का, अकल्याण का आचरण नहीं करूँगा/करूँगी और मैं सेवाभाव के साथ पारस्परिक सहयोग को प्रमुख मानूँगा/मानूँगी।
2. मैं आत्मशुद्धि कारक तपस्या अथवा अन्य किसी अनुष्ठान के उपलक्ष में कोई भी आडम्बर, जैसे जुलूस, दिखावा, भोज, भेंट आदि न तो करूँगा/करूँगी और न ऐसे आडम्बर को बढ़ावा दूँगा/दूँगी।
3. मैं अपने यहां वैवाहिक आदि समारोह कार्यों में दहेज की मांग, महंगे बाजों की धूम, फूलों की सजावट तथा किसी भी रूप में वैभव का प्रदर्शन या आडम्बर नहीं करूँगा/करूँगी और पांच सितारा होटलों में अथवा जिन होटलों में सामिष और निरामिष आहार सम्मिलित बनता हो वहाँ

किसी समारोह का भोज आदि का आयोजन नहीं करूँगा/करूँगी। अपने यहां आयोजित सामूहिक भोज में कुल 15 आइटम से ज्यादा नहीं बनवाऊँगा/बनवाऊँगी। इस भोज में जमीकंद का उपयोग नहीं होगा।

4. मैं अपने जीवन शुद्धि एवं सादगी हेतु धूम्रपान, पान पराग, गुटखा या अन्य नशीले पदार्थ का सेवन, हिंसापूर्ण सौन्दर्य प्रसाधनों व असली रेशमी परिधानों का उपयोग तथा नॉन-वेज और संभव हो तो किसी भी होटल में भोजन नहीं करूँगा/करूँगी। सभी सप्त कुव्यसनों के त्याग को मजबूत बनाकर निर्व्यसनी जीवनशैली के प्रचार-प्रसार में भाग लूँगा/लूँगी।

5. मैं व्यापार-व्यवसाय में नकली को असली बताने का मायाचार या अन्य कोई छल-कपट, श्रम का शोषण आदि अनैतिक, अमानवीय तथा तस्करी आदि राष्ट्र विरोधी कार्य नहीं करूँगा/करूँगी। धन संग्रह व संचय से दूर रह कर मैं सबके साथ संविभाग एवं मर्यादाओं के आधार पर आर्थिक दृष्टि से भी वात्सल्य एवं स्नेह भरा व्यवहार करूँगा/करूँगी।

6. मैं राज-समाज के काम-काज में रिश्वत न लूँगा/लूँगी और न दूँगा/दूँगी तथा भ्रष्टाचार के किसी भी कुकृत्य में लिप्त नहीं होऊँगा/होऊँगी और यथाशक्य भ्रष्टाचार उन्मूलन के अभियानों में सहायक बनूँगा/बनूँगी।

7. मैं धार्मिक एवं पारमार्थिक कार्यों के लिए अपनी कुल आमदनी का दस प्रतिशत भाग अथवा दो घंटा प्रतिदिन का समय अथवा वर्ष भर में पांच या तीन हजार की सामग्री का दान आरक्षित रखूँगा/रखूँगी। प्रतिदिन समय नहीं दे सका तो वर्ष में एक माह पूरी तरह चरित्र निर्माण अभियान के कार्य में संलग्न रहूँगा/रहूँगी।

इन सात प्रतिज्ञाओं का संक्षिप्त नामकरण इस प्रकार है-1. समभाव-विकास, 2. तप के साथ आडम्बर नहीं, 3. विवाह में दहेज-दिखावा नहीं, 4. जीवन में शुद्धि-सादगी, 5. धंधे में छल नहीं, 6. भ्रष्टाचार निषेध तथा 7. धनदान-समयदान।

द्वितीय चरण की परीक्षा : प्रथम चरण के समान ही इस चरण की भी प्रक्रिया चलेगी तथा प्रमाण-पत्र **'चरित्रनिष्ठ'** के अलंकरण से युक्त होगा।

तृतीय चरण-चरित्रलीन : तृतीय एवं अन्तिम चरण का संकल्प-पत्र (प्रारूप) इस प्रकार का होगा-

संकल्प-पत्र (तृतीय चरण)

1. मैं नियमित रूप से प्रतिदिन सामायिक, स्वाध्याय या अन्य धर्मानुष्ठान, पाक्षिक प्रतिक्रमण या आत्मालोचना का चिन्तन एवं प्रतिमाह दो आयंबिल, एक उपवास अथवा अन्य तपस्या करके अपने ज्ञानमय आचरण का विकास करूँगा/करूँगी। मेरा चिंतन रहेगा कि मैं सामूहिक संयम तथा त्याग के भावों को विकसित करूँ, परमात्म भावों में पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण रखूँ, प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयतापूर्ण मैत्री का भाव हो तथा सबके अभ्युदय और आध्यात्मिक एवं चरित्र विकास में अपनी शक्ति का प्रयोग-उपयोग करने हेतु सदैव तत्पर रहूँ।

2. मैं धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रों में वैभव प्रदर्शन और रूढ़िचुस्त रस्मों को बढ़ावा देने वाला कोई काम नहीं करूँगा/करूँगी। सादा जीवन, उच्च विचार के मर्म को स्वयं आत्मसात करके सर्वत्र उसका प्रचार-प्रसार करूँगा/करूँगी।

3. मैं व्यापार, व्यवसाय, नौकरी आदि में पूर्ण नैतिकता, सही हिसाब, ग्राहकों व श्रमिकों के साथ सद्व्यवहार एवं संबंधित सभी कानूनों का ईमानदारी से पालन करूँगा/करूँगी और जीवन के अन्य व्यवहार में भी अधिकतम सच्चाई के साथ सभी कार्य करूँगा/करूँगी।

4. मैं अपने लिए उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा (वार्षिक) ग्रहण करके शेष का परित्याग करूँगा/करूंगी तथा अपनी आयु का अधिकतम भाग धार्मिक एवं पारमार्थिक कार्यों में लगाऊँगा/लगाऊँगी। चरित्र निर्माण अभियान में सेवा हेतु अधिकतम समय भी दूँगा/दूँगी (मर्यादा एवं समय की स्पष्ट घोषणा की जाए)।

5. मैं सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में शुद्धि, एकता एवं समानता लाने की दृष्टि से अपने मताधिकार का सही प्रयोग करते हुए अवैध चुनावी गतिविधियों का विरोध करूँगा/करूँगी एवं किसी भी प्रकार की विषमता व विकृति के विरुद्ध डटकर संघर्ष करूँगा/करूँगी।

6. मैं पारिवारिक सुख और शांति के लिए पारस्परिक तालमेल व त्याग पर बल देते हुए सन्तान (नई पीढ़ी) की संस्कारिता, शिक्षा, चरित्र निर्माण एवं वृत्ति शुद्धि की तरफ पूरा ध्यान दूँगा/दूँगी।

7. मैं ऐसा अग्रिम निर्देश दूँगा/दूँगी कि मेरे मरणोपरान्त मृत्युभोज न किया जाए, नेत्र एवं अन्य उपयोगी अंगों का दान किया जाए तथा मेरे पार्थिव शरीर को अन्तिम क्रिया से पहले अधिक समय तक न रखा जाए।

इन सात प्रतिज्ञाओं का संक्षिप्त नामकरण इस प्रकार है-1. चरित्र एवं आचरण विकास, 2. सादा जीवन, उच्च विचार, 3. धनार्जन नीति से, काम सच्चाई से, 4. वस्तु मर्यादा एवं त्याग वृत्ति, 5. सर्वत्र शुद्धिकरण के प्रयास, 6. संतान की संस्कारपूर्ण शिक्षा-दीक्षा तथा 7. मरणोपरान्त निर्देश।

तृतीय चरण की परीक्षा : प्रथम चरण के समान इस चरण की भी प्रक्रिया चलेगी तथा प्रमाण-पत्र '**चरित्रलीन**' के अलंकरण से युक्त होगा।

विशेष : चरित्र निर्माण अभियान के संविधान में यह प्रावधान होगा कि प्रत्येक '**चरित्रशील**' चरित्र निर्माण अभियान महासभा का, प्रत्येक '**चरित्रनिष्ठ**' महासभा एवं क्षेत्रीय कार्यकारिणी का तथा प्रत्येक '**चरित्रलीन**' महासभा, अपने क्षेत्र की कार्यकारिणी एवं केन्द्रीय कार्यकारिणी का स्वतः ही स्थायी सदस्य हो जाएगा।

अभियान के आयोजनों व प्रभातफेरी आदि के कार्यक्रमों में उत्साह का संचार करने वाले गीत-प्रगीतः

सुचिन्तित विचार लेख, भाषण आदि के रूप में अभिव्यक्त होते हैं तो संवेदनशील भाव काव्यात्मक रूप में व्यक्त होकर जन-जन के हृदय में उत्साह का संचार करते हैं। मेरी लेखनी

अपने भावों को गीत-प्रगीत के रूप में प्रकट करती रहती है। कुछ गीत-प्रगीत मैंने विशेष रूप से चरित्र निर्माण अभियान की दृष्टि से रचे हैं, जिनके द्वारा सभी संबंधित वर्गों को आह्वान किया गया है वे इस अभियान को अपना पूर्ण योग दें। अभियान के निमित्त से किए जाने वाले आयोजनों और प्रभातफेरी आदि के कार्यक्रमों में ये गीत-प्रगीत नवोत्साह-संचार के कारक बन सकते हैं। विशेष रूप से बहन और बच्चे वैचारिक लेख आदि की अपेक्षा भावमय गीत-प्रगीत के माध्यम से निहित भावनाओं को अधिक सहजता से समझते हैं।

1. चरित्र निर्माण अभियान का स्वरूप दर्शक गीत :

(तर्ज : जिया बेकरार है...)

चरित्र शक्ति महान् है, सच्ची यह पहचान है
चरित्रनिष्ठ नियमों से, निश्चित जन-जन का उत्थान है
चरित्र शक्ति...

जात पांत का, ऊंच नीच का नहीं भेद है इस दल में
संयमित नियमित रहने की ही प्रबल प्रेरणा है इस क्रम में
परम पुनीत अभियान है, शुभतम श्रेष्ठ विधान है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥ 1॥

आत्मिक शक्ति प्रकटे इससे, तन, मन, तेजस्वी बन जाएं
नैतिक आध्यात्मिक बल बढ़ता सद्गुण सारे आ जाएं
शाश्वत सुख की खान है, जीवन का निर्माण है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥ 2॥

विकार भाव से मुक्त बनें, संस्कार जगे--यह नारा है
अज्ञान अंधेरा दूर रहे, जीवन का नव उजियारा है
मानव की यह शान है, वरना यह हैवान है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥ 3॥

अपना उन्नत हो चरित्र, तो जग उन्नत बन जाए
परिवार, समाज और राष्ट्र सभी की सुख सम्पदा बढ़ जाए
विज्ञानों का ज्ञान है, रखना इसका मान है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥ 4॥

चरित्रशील, चरित्रनिष्ठ, चरित्रलीन प्रसाधन है
वृद्धिगत हो सबमें सबका--यही धर्म आराधन है
मुक्ति का सोपान है, चरित्रवान भगवान् है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥ 5॥

वैज्ञानिक युग में ज्ञान बढ़ा, चरित्र पिछड़ता क्यों जाए

रख कर आशा और प्रेरणा, इसको शिखर चढ़ा पाएं
तब ही सच्चा ज्ञान है, यही 'विजय' अभियान है
चरित्रनिष्ठ नियमों... ॥6॥

2. छात्रों को संदेश देने वाला गीत :

(तर्ज : नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे...)

देखो, देखो छात्रो! अपना अपने से निर्माण है
उस मिली है प्यारी इसमें, जगे शक्ति महान् है
देखो, देखो छात्रों...

चरित्रनिष्ठ जो छात्र हुए हैं, उनने किए कमाल हैं
क्या वैज्ञानिक, क्या वे साधक बने यहां बेमिसाल हैं
भारत की क्या पूजा रहा है, उनको सकल जहान है
देखो, देखो छात्रों... ॥1॥

श्वेत वस्त्र सम निर्मल मन है, जीवन उज्ज्वल कहलाता
उस पर जैसा रंग चढ़ाना, वैसा ही है चढ़ जाता
दुर्गुणों के लगे न धब्बे, रखना हरदम ध्यान है
देखो, देखो छात्रों... ॥2॥

मिट्टी का घर जब तक कच्चा, चाहे जैसा रंग करो
पकने पर फिर नहीं हो पाता, देख के अपना ढंग वरो
अच्छे बुरे जीवन की बस, करना सद् पहचान है
देखो, देखो छात्रों... ॥3॥

चरित्र है जिसका उन्नत, यहां पर वही सदा पूजा जाए
क्या पूजें पद और प्रतिष्ठा, क्या पैसा सम्माना जाए
चरित्र ही सच्ची पूजा है, यह रखना सच्चा ज्ञान है
देखो, देखो छात्रों... ॥4॥

सारी जिम्मेदारी जग की, आज तुम्हारे कंधों पर
है नाज तुम्हारे ही जीवन से, टिकी नजर तुम बंदों पर
है उत्थान तुम्हारा तो फिर जग का भी उत्थान है
देखो, देखो छात्रों... ॥5॥

नशा नाश कर देता सबका, सदा दूर ही रहना है
दुर्विचार, दुर्व्यसन सभी से नाता अपना तजना है
संयमशील, सदाचारों का 'विजय' नित्य अभियान है
देखो, देखो छात्रों... ॥6॥

3. युवकों का आह्वान करता गीत :

(तर्ज : दिल लूटने वाले...)

चरित्रशक्ति के सम्बल से, इतिहास नया बन जाएगा
युवकों, बस तुम जग जाओगे तो संसार बदलता जाएगा
चरित्र शक्ति...

है आत्मशक्ति का प्रबल तेज, युवकों के भीतर में बहता
यदि सही दिशा मिल जाए तो शुभ संस्कृति को जागृत करता
साहस के धनी युवकों से ही, आलोक नया छा जाएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 1॥

सारे व्यसनों से मुक्त रहो, उन्मुक्त रहो कुविचारों से
दंभ दिखावे कभी न हो, अनुरक्त रहो संस्कारों से
हृदय हो निश्छल, चरित्र हो उज्ज्वल, स्वर्ग धरा पर आएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 2॥

संयम ही जीवन मंत्र बने, संयम ही मन श्रृंगार रहे
दृष्टि, वाचिक और कायिक संयम, अन्तर का आधार रहे
ना रहे असंभव इस जग का कुछ, सब संभव हो जाएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 3॥

कथनी-करणी विवेकभरी, भाषा भी मधुर, मन पुलकित हो
हो स्वभाव सरल, व्यवहार मधुर, धार्मिकता से अनुरंजित हो
क्षीर नीर विवेक बुद्धि से, मंगल मन हरसाएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 4॥

हे वीरपुत्र, वीरत्व वरो, सेवा सहयोग में अर्पण हो
संगठन की शक्ति पहचानो, खुद ही खुद का दर्पण हो
प्रगति के पथ पर चलो यहां, इतिहास तुम्हें ही गाएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 5॥

प्रबुद्धमना बन शुद्ध बनो, दृढ़ विश्वास जगाओगे
चरित्रनिष्ठ बन करके ही तुम अपनी शान बढ़ाओगे
'विजय' श्री हर कदम-कदम पर, तेरा यश छा जाएगा
युवकों, बस तुम... ॥ 6॥

4. शिक्षकों द्वारा चरित्र शिक्षा की महत्ता का गीत :

(तर्ज : खड़ी नीम के नीचे...)

शिक्षक देते शिक्षार्थी को, अभिनय शिक्षा दान है
सच्ची शिक्षाओं से मानव, बन जाता भगवान् है
कुंभकार सम कलाकार ही तो शिक्षक कहलाता है
वह जैसा चाहे वैसा निर्माण करे, वह तो निर्माता है
संस्कारों से बनी संस्कृति, शिक्षा प्रथम सोपान है
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 1॥

नीतिनिष्ठ चरित्रवान निःस्वार्थी शिक्षक की शोभा
निर्मल मन हो गंगाजल सम, ब्रह्म तेज की हो आभा
कर्त्तव्यपरायण शुभ हो चिन्तन, कथनी करणी समान है
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 2॥

धर्मनिष्ठ हो, व्यसन मुक्त हो, अपनत्व स्वयं संवेदन हो
विनय विवेक जगाने वाला, जागृत स्वयं सचेत न हो
शिक्षक है आदर्श जगत् में, शिक्षा शुभ वरदान है
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 3॥

शिक्षा को पेशा नहीं माने, शिक्षक स्वयं निरीक्षक हो
रोजी रोटी का नहीं साधन, शिक्षक स्वयं समीक्षक हो
आत्म-परीक्षण ही तो शिक्षा, शिक्षक का शुभ प्राण हो
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 4॥

भूल गए आदर्श हमारे, शिक्षक गण से कहना है
छात्रवृन्द पर असर पड़ेगा, चरित्र तुम्हारा गहना है
भावी भारत और भाग्य का, करना शुभ निर्माण है
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 5॥

चरम लक्ष्य है मुक्ति पाना, शिक्षा उसका साधन है
केवल साक्षर नहीं बनाना, दीक्षा तितिक्षाराधन है
'विजय' वृत्तियाँ बनें सुनिर्मल, तो ही शिक्षा महान् है
सच्ची शिक्षाओं... ॥ 6॥

5. व्यापारियों के ध्यानाकर्षण का गीत :

(तर्ज : उड़ते पंछी नील...)

जो व्यापारी न्याय नीति से, अपना व्यापार चलाएँ
वो सद्गृहस्थ कहाएँ
मानवता से प्यार है जिसको, वो भगवत्ता पाएँ
वो सद्गृहस्थ कहाएँ
गृहस्थ धर्म का है कर्त्तव्य, जग सारा है पलता
जन-जीवन आधार सहारा, बिन व्यापार न चलता
धर्म को सम्मुख रख कर अपना, श्रम से जीवन सजाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 1 ॥

पैसा ही सब कुछ नहीं होता, धर्म ही सब कुछ होता
धर्म के पीछे लम्बी चलती, सुख की नींद वह सोता
धोखे की जो होती कमाई, धोखा देकर जाए
वो मानव कहलाएँ... ॥ 2 ॥

असली वस्तु बता कर नकली, कभी नहीं जो देता
निज विश्वास जमाकर जग में उचित नफा जो लेता
उसका सुयश बढ़े निरन्तर, गुण सारे ही गाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 3 ॥

तृष्णा की है आग भयंकर, सारा यह जग जलता
तृष्णा जीते जो व्यापारी, वह सिरमौर है बनता
तोल-माप में करके ठगाई, कभी न पाप कमाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 4 ॥

व्यापारी की साख रहे तो लाख गए फिर आए
साख गई तो राख हुई, फिर क्या इज्जत बच पाएँ
उतरा पानी मोती का तो, कांच पड़ा रह जाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 5 ॥

सत्यशील, संतोष, सादगी व्यापारी के भूषण
झूठ, कपट, बदनीति-नीयत-ये व्यापारी के दूषण
चरित्रनिष्ठ हो व्यापारी तो सारे गुण विकसाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 6 ॥

लाभ-हानि, सुख-दुःख ये सारे, कर्मों के हैं नजारें
धर्मनिष्ठ हो जो व्यापारी, कभी न इससे हारे
समत्व भाव को धारण करके, कर्म 'विजय' कर पाएँ
वो मानव कहलाएँ... ॥ 7 ॥

6. वाणी की चरित्रशीलता का गीत :

(तर्ज : जरा सामने तो आओ...)

जरा वाणी का महत्त्व समझ लें
यह वाणी हमारी पहचान है
कैसा अन्तर्मन है आपका,
शीघ्र होता इसी से ज्ञान है।
जरा वाणी...

जैसी हो भाषा, वैसे ही भावों की वह दर्पण कहलाती है
सुख उपजाती, दुःख भी बढ़ाती, मान-अपमान भी पाती है
जिसको बोलने का विज्ञान है, वही पाता सदा सम्मान है
कैसा अन्तर्मन... ॥ 1 ॥

अपशब्दों से गिरता है मानव, कभी न ऊँचा उठ पाता
अपना अवमूल्यन अपने ही हाथों, कैसी मूर्खता कर जाता
गाली देना भयंकर पाप है, इससे होता सदा नुकसान है
कैसा अन्तर्मन... ॥ 2 ॥

बिना विवेक के जो बोलता है, वो न कहीं आदर पाए
इज्जत गंवाए, शान भी जाए, पीछे वही फिर पछताए
होता वातावरण निर्माण है, शब्द शक्ति बड़ी ही महान् है
कैसा अन्तर्मन... ॥ 3 ॥

याद रखें-यह क्रोध हमारा, सर्व विनाशी बन जाता
इस पर नियंत्रण रखकर ही तो मानव ज्ञानी बन पाता
आदत अपनी बदल ले सयाने, वरना होना नहीं कल्याण है
कैसा अन्तर्मन... ॥ 4 ॥

वचन-वचन से दिल जुड़ते हैं, प्रेम परस्पर हो जाता
गम खाकर जो नम जाता है वो सबका बल पा जाता
क्षमा जीवन सुखद अरमान है, होती 'विजय' सदा बलवान है
कैसा अन्तर्मन... ॥ 5 ॥

अभियान के संविधान की संक्षिप्त रूपरेखा :

संविधान कहिए या नियमोपनियम जिनके बिना किसी भी संगठन या संस्था का कामकाज सुचारू रूप से नहीं चल सकता-नियमित सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है। यहां पर चरित्र निर्माण अभियान के संगठन को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए मोटे तौर पर कुछ बुनियादी बिन्दु बताए जा रहे हैं जिन्हें संविधान की संक्षिप्त रूपरेखा कहा जा सकता है। यथासमय इसके

आधार पर संविधान का पूर्ण प्रारूप तैयार किया जा सकता है। तात्कालिक प्रबन्ध से संबंधित कुछ बिन्दु भी इस रूपरेखा में सम्मिलित हैं।

1. इस संगठन का पूरा नाम '**चरित्र निर्माण विजय अभियान**' रहेगा तथा 'अभियान' के संक्षिप्त नाम से इसका उल्लेख किया जाएगा।
2. अभियान का कार्य क्षेत्र पूरा भारतवर्ष होगा। यथावसर कार्य क्षेत्र बढ़ाया भी जा सकेगा।
3. अभियान का एक केन्द्रीय कार्यालय होगा (स्थान का यथासमय निश्चय) और प्रारंभ में केन्द्रीय अभियान संयोजन समिति मनोनीत की जाएगी जिसमें सात सदस्य होंगे-एक सदस्य संयोजक का कार्य करेगा। यह संयोजन समिति अस्थायी होगी। एक वर्ष के बाद विधिवत् चुनाव हो जाने के बाद स्थायी समिति 'अभियान कार्यकारिणी समिति' अस्तित्व में आएगी। संयोजन समिति के निर्णय यथासमय सर्वसम्मत होने चाहिए-ऐसा नहीं होने पर निर्णय बहुमत से किया जाएगा।
4. इसी प्रकार तात्कालिक व्यवस्था की दृष्टि से जहां-जहां अभियान का कार्य शुरू हो तथा शुरू होता रहे उन-उन राज्यों में राज्य संयोजक तथा राज्य के उन-उन जिलों में जिला संयोजक मनोनीत किए जाते रहेंगे। ये मनोनयन केन्द्रीय संयोजन समिति करेगी।
5. केन्द्रीय संयोजन समिति अपने सभी राज्य एवं जिला संयोजकों के सम्पर्क में रहेगी, उन्हें उचित निर्देश देगी, उन्हें कार्य विस्तार हेतु आवश्यक सुविधाएं, सामग्री एवं धन प्रदान करेगी तथा उनसे कार्य की रिपोर्ट लेगी। राज्य संयोजकों पर जिला संयोजकों के काम को देखते रहने का विशेष दायित्व होगा।
6. जिस राज्य में उसके जिलों की दस प्रतिशत संख्या में यदि जिला संयोजक मनोनीत हो जाएंगे तो राज्य के अकेले संयोजक के स्थान पर पांच सदस्यों की संयोजन समिति जिला संयोजकों में से बनाई जाएगी जो केन्द्रीय संयोजन समिति का काम होगा। इसी प्रकार जिले में तहसीलों की दस प्रतिशत संख्या में तहसील संयोजक मनोनीत हो जाए तो जिले में अकेले संयोजक के स्थान पर तीन सदस्यों की संयोजन समिति बनाई जाएगी जो काम राज्य संयोजन समिति करेगी। नीचे से ऊपर तक का संबंध व्यवस्थित रूप से अभियान को सशक्त बनाता रहेगा।
7. तात्कालिक प्रबन्ध के लिए मनोनीत सदस्यों की चारित्रिक प्रामाणिकता एवं न्यायप्रियता की विशेष ख्याति होनी चाहिए।
8. एक वर्ष बाद चुनाव प्रक्रिया संचालित की जानी चाहिए। चुनाव का क्रम इस प्रकार होगा-
   (अ) प्रत्येक ग्राम, नगर या तहसील स्तर पर एक साधारण समिति बने जिसमें '**चरित्रशील**' अलंकरण से युक्त सभी सदस्य होंगे तथा उतने ही सदस्य चारित्रिक प्रतिष्ठा वाले संबंधित क्षेत्र के लोगों में से लिए जावें। यह साधारण समिति अपने क्षेत्र में अभियान का कामकाज संचालित करेगी। ये सभी सदस्य जिला साधारण समिति के अपने प्रतिनिधित्व के लिए दस प्रतिशत प्रतिनिधि चुनकर भेजेंगे।
   (ब) ग्राम, नगर या तहसील समितियों से चुन कर आए प्रतिनिधियों से जिला साधारण समिति

संगठित होगी। कार्य की सुविधा के लिए यह समिति जिला कार्यकारिणी का चुनाव करेगी।

(स) इसी प्रकार जिला साधारण समितियों द्वारा दस प्रतिशत प्रतिनिधियों का चुनाव होगा जिनसे राज्य साधारण समिति का गठन होगा। यह समिति अपनी कार्यकारिणी का चुनाव करेगी।

(द) इसी प्रकार राज्य साधारण समिति से चुने गए प्रतिनिधि केन्द्रीय साधारण समिति का गठन करेंगे। केन्द्रीय साधारण समिति अपनी कार्यकारिणी का चुनाव करेगी।

(य) सभी स्तरों पर साधारण समितियां चरित्र निर्माण की दृष्टि से स्थानीय योग्य व्यक्तियों को सदस्य के नाते मनोनीत कर सकेंगी।

(फ) सदस्यों की चारित्रिक प्रतिष्ठा सर्वत्र महत्त्वपूर्ण रहेगी।

9. सदस्यों तथा पदाधिकारियों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के संबंध में निर्णय यथावसर लिया जाएगा।

10. पूर्ण संविधान की रचना यथावसर एक संविधान समिति द्वारा की जाएगी।

अभियान को एक रचनात्मक प्रयोग मानते हुए पूरी सतर्कता रहे :

यह सही है कि देश के सभी क्षेत्रों में वातावरण विकृत है तथा कई प्रकारों से अनियमित तथा अनैतिक कार्य किए जाते हैं, किन्तु इस वातावरण की छाया तक अभियान के कामकाज पर नहीं पड़नी चाहिए। इसका कारण साफ है। यह अभियान चरित्र निर्माण का अभियान है, जिसे चरित्र को ही सर्वोपरि महत्त्व देना है। जहां चरित्र को ही संवारने का कार्य करना है, उस संगठन में उदाहरण के लिए भी चरित्रहीनता का कोई कार्य जाने-अनजाने भी नहीं होना चाहिए। इसकी कठोर सतर्कता रहनी चाहिए। यह अभियान एक रचनात्मक प्रयोग है अत: इसकी प्रक्रिया सर्वत्र स्वच्छ एवं शुद्ध होनी चाहिए, बल्कि प्रत्येक सामान्य जन तक को वह स्वच्छ एवं शुद्ध दिखाई भी दी जानी चाहिए। यों समझिए कि चरित्रशीलता का प्रमाण-पत्र इस अभियान के प्रत्येक सदस्य, पदाधिकारी एवं कार्यकर्त्ता की कमीज पर सदा टंगा हुआ ही रहना चाहिए। ये सब चरित्र निर्माण की प्रक्रिया के ही स्तंभ होंगे।

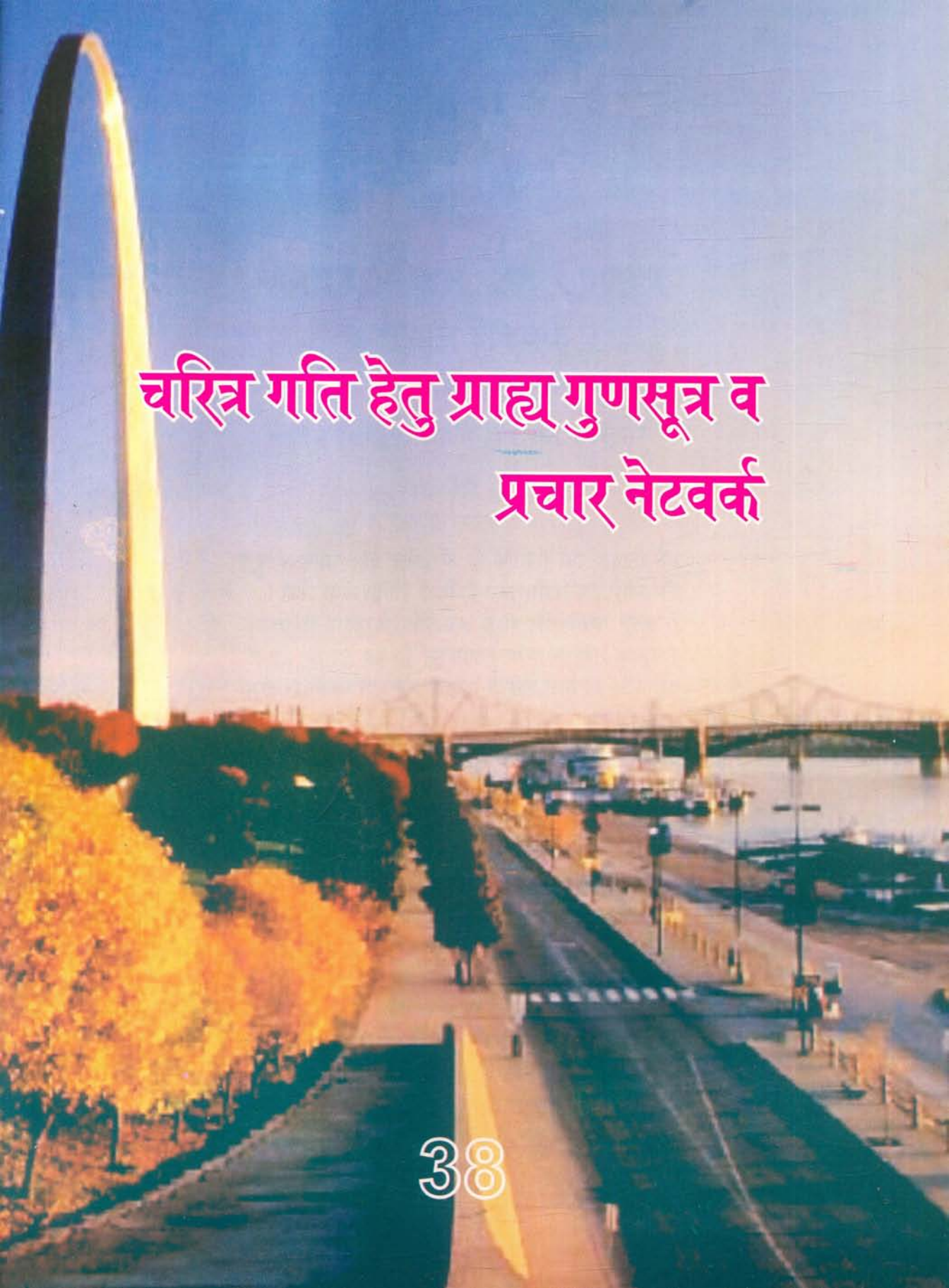
चरित्र निर्माण पहले स्तर पर स्वयं का भी सरल नहीं होता है। व्यक्ति को अपने कार्य क्षेत्र में कई हैसियतों से अलग-अलग क्षेत्रों में काम करना पड़ता है तथा उनमें सभी प्रकार के तत्त्व मौजूद रहते हैं। जब तक चरित्र निर्माण की प्रक्रिया ऊपरी स्तरों तक सफलतापूर्वक नहीं पहुंचती है, तब तक तो चरित्रशील व्यक्ति को उनका मुकाबला करते रहना पड़ेगा। चरित्रशील व्यक्ति का चरित्रहीन व्यवस्था में काम कर रहे चरित्रहीन व्यक्तियों से पग-पग पर टकराना उसके लिए कई प्रकार से हानिकारक सिद्ध हो सकता है, किन्तु ऐसा तो होगा और हानि सहन करने की तैयारी भी चरित्रशील व्यक्ति को रखनी होगी।

परन्तु यह घबराने की बात नहीं है। ये परेशानियां प्राथमिक समय में ही ज्यादा आएगी। इस सत्य को कभी नहीं भूलें कि चोर के पांव हमेशा कच्चे होते हैं, अत: जब चरित्र के बिन्दु पर किसी भी कीमत पर न झुकने वाला व्यक्ति भ्रष्टाचारियों को ललकारेगा तो उनकी हिम्मत जवाब दे देगी। यों

एक ओर भ्रष्टाचारियों के हौंसले टूटते जाएंगे और दूसरी ओर चरित्र निर्माण अभियान में लगे कार्यकर्त्ताओं का साहस और जोश हर जीत के मोर्चे पर बढ़ता जाएगा। फिर तो उनकी संघर्ष की ख्याति दूर-दूर तक फैलती जाएगी और उनका काम आसान होता जाएगा। एक बार एक स्थान पर पांव जमने के बाद तो चरित्र निर्माण अभियान एक शक्ति के रूप में फैलता जाएगा। सर्वाधिक प्रोत्साहन की बात तो यह होगी कि सफलता के दौर में अपार जन सहयोग इस अभियान को मिलता हुआ चला जाएगा। जन सहयोग से कौनसी ऐसी समस्या हो सकती है जिसके समाधान का दबाव नहीं बढ़ जाता है।

चरित्र निर्माण की इस प्रक्रिया में व्यक्ति का चरित्र संघर्षों को झेलता हुआ तथा कामयाबी हासिल करता हुआ फौलादी रूप ले लेगा। यह स्वरूप अधिक से अधिक व्यक्तियों को आकर्षित करेगा तथा चरित्र का सामूहिक स्वरूप ढलता हुआ चला जाएगा। यदि पूरी सच्चाई और समर्पण की वृत्तियों के साथ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया चले तो चारित्रिकता के पक्ष में एक प्रबल वातावरण बन जाएगा और यह वातावरण तूफान की तरह चरित्रहीनों के महलों तक को हिला देगा। उनके सामने बदलो या छोड़ो के सिवाय तीसरा विकल्प नहीं बचेगा। इस प्रवाह में अभियान का कार्य-विस्तार आश्चर्यजनक रीति से हो सकता है। अभी जो अभियान का कार्य भारतवर्ष तक सीमित रखा गया है, कोई अतिशयोक्ति नहीं कि अभियान अन्यान्य देशों में भी फैले और पूरे विश्व के चरित्र निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने के लिए विवश कर दे। युवा शक्ति की जागृति और कर्मठता असंभव को भी संभव करके दिखा सकती है।

◆◆◆



चरित्र गति हेतु ग्राह्य गुणसूत्र व प्रचार नेटवर्क

38



चरित्र गति हेतु ग्राह्य गुणसूत्र व प्रचार नेटवर्क

चरित्र निर्माण अभियान का विस्तार

यह सवा-सवा लाख के दो मोतियों की कहानी है। कैसे थे वे मोती? वे मोती एक चरित्रनिष्ठ पुरुष की आंखों से टपके थे और एक दूसरे चरित्रनिष्ठ पुरुष ने उनकी पहचान की थी, मूल्यांकन जांचा था और तदनुसार भुगतान किया था। यह कहानी है सेठ सवाचंद और सेठ सोमचंद की।

सेठ सवाचंद वैसे तो उच्च चरित्रवान एवं धैर्यशाली प्रकृति का पुरुष था, मगर मुसीबतों की एक के बाद एक आती टक्करों ने उसे हताश कर दिया था। परिस्थिति इतनी विषम बन गई कि लाखों का स्वामी अपने परिवार का पालन-पोषण तक करने में अशक्त हो गया। इतनी बड़ी विपदा में घिर जाने के बावजूद भी सवाचंद ने अपने चरित्र को कहीं से भी दुर्बल नहीं होने दिया तथा न ही अपनी न्याय-नीति एवं नैतिकता ही त्यागी। जिन-जिन से उसे बकाया राशियां लेनी थी वे इस विपरीत परिस्थिति में उन्हें लौटाने से मुकर गए, किन्तु जिनको सवाचंद से रूपया लेना था, वे सभी तकादा करने लगे। उसने अपने मकान-दुकान तथा चल-अचल सम्पत्ति बेच कर सब की देनदारी चुकाई। उसने किसी का कर्ज बाकी नहीं

रखा-ईमानदारी का दामन नहीं छोड़ा। सेठ ने संतोष की सांस ली और नगर से बाहर एक छोटी-सी झोंपड़ी में गरीब-गुजरान करने लगा।

कहावते हैं-कोढ़ में खाज और अकाल में अधिक मास की या गरीबी में आटा गीला होने की। अचानक एक लेनदार और आ गया। वह एक राजपूत भाई था और उसका सेठ के यहां पुराना हिसाब किताब था। उसके सवा लाख रूपए रुके हुए थे। उसने भी सेठ के बारे में सुना तो वह भी अपनी राशि वसूल करने के लिए आ खड़ा हुआ। सेठ ने आजीजी से उसे कहा-भाई, मेरी आर्थिक दशा को अभी भारी धक्का लगा है, इसमें थोड़ा सा सुधार होते ही सबसे पहले मैं आपकी पाई-पाई चुका दूंगा। लेकिन ऐसे वक्त में कोई विरला ही साथ देता है। राजपूत ने कमर में बंधी तलवार की मूठ पर हाथ रख कर धमकी दी कि उसे उसका सारा रूपया अभी ही चाहिए। सेठ की आंखों के आगे अंधेरा छा गया कि अब वह क्या करे? कोई नहीं दिखता जो उसकी सहायता कर सकता हो।

सेठ सवाचंद ने अहमदाबाद के एक बड़े सेठ का नाम सुन रखा था, परिचय कुछ भी नहीं था। लेकिन उस वक्त तो जान पर आई आफत को टालने का सवाल था। उस सेठ का नाम था सेठ सोमचंद। इष्टदेव का स्मरण करके उसने एक हुंडी सेठ सोमचंद के नाम लिखी की अमुक राजपूत भाई को सवा लाख रुपए का भुगतान कर दिया जाए और हुंडी राजपूत भाई को सौंप दी। सवाचंद मन में घबरा रहा था कि उसकी हुंडी सिकरनी तो है नहीं, तीन चार दिन बाद अधिक क्रोधित होकर लौटने पर यह भाई न जाने क्या करेगा?

राजपूत भाई सवा लाख की हुंडी लेकर सेठ सोमचंद के यहां पहुंचा। उसने हुंडी का एक-एक अक्षर पढ़ा, ऊपर से नीचे तक उसकी मन ही मन पूरी जांच पड़ताल की और अपनी याददाश्त पर जोर दिया, लेकिन उसे याद नहीं आया कि वह सेठ सवाचंद नाम के किसी व्यक्ति को जानता है और उसी की है यह सवा लाख की हुंडी। वह विचार में पड़ गया। फिर एक बार और उसने हुंडी पर अपनी पारखी नजर घुमाई, तब उसे न जाने क्या नजर आया कि उसने अपने मुनीम को कहा कि हुंडी लाने वाले को सवा लाख की राशि का चुकारा कर दिया जाए। उस राजपूत भाई को रूपया ही नहीं मिला, बल्कि सेठ सोमचंद की शानदार मेहमाननवाजी भी मिली। उसने लौटकर खुशी-खुशी ये सारी बातें सेठ सवाचंद को सुनाई और उसका धन्यवाद करके वह अपने स्थान को लौट गया। सेठ सवाचंद यह सब सुनकर चकित रह गया कि आखिर यह सब हो कैसे गया? घातक चिंता मिटी और उसने मन ही मन सेठ सोमचंद के प्रति लाख-लाख आभार व्यक्त किया। उधर सेठ सोमचंद भी वह भुगतान करके काफी समय बाद उसे एकदम भुला ही बैठा।

सदा समय एक सा नहीं रहता और सवाचंद के दिन भी फिरे। फिर से उसके पास लाखों की सम्पत्ति जमा हो गई। सेठ सोमचंद तो देकर भूल गया-चरित्रनिष्ठा जो उसकी रग-रग में समाई हुई थी, लेकिन लेकर सवाचंद के लिए भूलने की बात कहां थी-उसके भी रक्त में चरित्रनिष्ठा का ही तो संचार था। ब्याज सहित हुंडी की राशि लेकर सेठ सोमचंद को चुकाने के लिए वह अहमदाबाद पहुंचा। कोई किसी को जानता-पहचानता नहीं था सो पहले बड़ा असमंजस रहा, लेकिन सवाचंद ने सारी बात बताई और अपना अमित आभार प्रकट करते हुए राशि सोमचंद के सामने धर दी। बड़ी

मुश्किल से उसे याद आया कि सवा लाख की राशि किसी राजपूत भाई को दी थी। हुंडी की बात भी याद आई और हुंडी के रहस्य की बात भी। जब सवाचंद ने राशि स्वीकार करने की हठ की तो सोमचंद ने कहा-भाई! मैंने तुम्हारे पर कोई उपकार नहीं किया और न ही सवा लाख की राशि मैंने तुम्हें दी थी। मैंने तो दो मोती खरीदे थे, उनमें से एक का मूल्य सवा लाख मैंने उस राजपूत भाई को चुका दिया और दूसरे के मूल्य के सवा लाख रुपए बाकी हैं वे तुम्हें लेने होंगे। यह कहकर उसने मुनीम को सवा लाख रुपए लाकर सवाचंद को देने का आदेश दिया। सेठ सवाचंद तो हतप्रभ रह गया कि यह दो मोती वाली बात क्या है? उसको चकित होता हुआ देख सोमचंद ने मुनीम को वह हुंडी लाने को भी कहा।

हुंडी के साथ सवाचंद की चिट्ठी थी उसे सोमचंद ने सवाचंद को दिखाई और बताया कि तुम्हारी आंखों से जो दो मोती इस चिट्ठी पर गिरे, वे इस पर साफ दिखाई दे रहे हैं, बस मैंने ये ही दोनों मोती खरीद लिए और यह दूसरे मोती का मूल्य तुम संभालो, मुझे कोई राशि देने की जरूरत नहीं है। सवाचंद तो जैसे स्नेह भरे आभार के शीतल जल में डूब कर नहा उठा। वह बोल ही पड़ा-''मैं धन्य हुआ आप जैसे चरित्रवान पुरुष के दर्शन करके, जिसने मेरी गहरी व्यथा समझी और हुंडी स्वीकार करके मुझे घातक स्थिति से बचाया। आपने तो चरित्र सम्पन्नता की उस उत्कृष्टता का परिचय दिया है मुझे कर्जदार भी नहीं बनाया और अधिक राशि देने का प्रस्ताव करके मुझे अनूठा स्नेह दिया है। मैं परम आभारी हूँ।''

अभियान की मार्मिकता स्पष्ट करने वाले ग्राह्य गुणसूत्र : प्रश्नोत्तर के माध्यम से-

चरित्र निर्माण अभियान कोई सामान्य अभियान नहीं है। जैसा ऊँचा इस अभियान का उद्देश्य है, वैसी ही ऊँची इसकी गुणात्मकता भी होनी चाहिए। अभियान की प्रक्रिया में प्रयासरत चरित्र निर्माण के प्रशिक्षणार्थियों, स्वयंसेवकों आदि का प्रधान स्वभाव गुण-ग्राहकता के रूप में ढ़लना चाहिए। प्रत्येक गुण के स्वरूप को स्पष्टतया समझ कर उसे क्रियान्वित करने के कार्य में एकाग्रता का अभ्यास किया जाना चाहिए। यहां प्रश्नोत्तर के माध्यम से अभियान की मार्मिकता को स्पष्ट करने वाले ग्राह्य गुणसूत्रों का संक्षिप्त स्वरूपांकन सहित विवरण दिया जा रहा है।

1. **शिष्य** ने पूछा - 'क्या धारण करूँ-शक्ति या शान्ति?'

   गुरु ने कहा-'शान्ति।' शक्ति की साधना द्वैत की साधना है। उसके प्रयोग के लिए कोई दूसरा चाहिए जबकि शान्ति की साधना अद्वैत की साधना है, उसके लिए एकत्व की अनुभूति ही पर्याप्त है।

2. **शिष्य** ने पूछा-'क्या बनूं-मृण्मय या चिन्मय?'

   गुरु ने कहा-'चिन्मय।' क्योंकि चिन्मय ऊर्ध्वगामी होता, जबकि मृण्मय अधोगामी। ऊंचा उठना हल्केपन पर निर्भर करता है, भारी तो नीचे ही गिरेगा।

3. **शिष्य** ने पूछा-'सही क्या-उलझना या सुलझना?'

गुरु ने कहा-'सुलझना।' क्योंकि जिसने ममत्व के वशीभूत होकर जीवन को देखा, वह उलझ गया और जिसने निरपेक्ष होकर मृत्यु को देखा, वह सुलझ गया।

4. **शिष्य** ने पूछा-'आवश्यक क्या, सुनना या सीखना?'

गुरु ने कहा-'सीखना।' क्योंकि दुनिया गलतियों के बारे में सुनती है, पर सबक नहीं सीखती। गलती को मात्र सुनना नहीं, उससे सीखना चाहिए ताकि वह दुबारा न हो।

5. **शिष्य** ने पूछा-'क्या करना-पकड़ना या छोड़ना?'

गुरु ने कहा-'छोड़ना।' क्योंकि पकड़ना भी आसान और छोड़ना भी आसान है, किन्तु पकड़े हुए को छोड़ देना अत्यन्त कठिन है।

6. **शिष्य** ने पूछा-'क्या करूँ-चिन्ता या चिन्तन?'

गुरु ने कहा-'चिन्तन।' क्योंकि चिन्तन चांदनी की तरह झिलमिलाता है, जबकि चिन्ता अग्नि की तरह जलाती है।

7. **शिष्य** ने पूछा-'श्रेष्ठ क्या, मांगना या देना?'

गुरु ने कहा-'देना।' क्योंकि मांगना पुरुषार्थ का कलंक है जबकि देना पुरुषार्थ का वरदान।

8. **शिष्य** ने पूछा-'क्या चाहूँ-मौन या वाचालता?'

गुरु ने कहा-'मौन।' क्योंकि मौन सर्वनाश से बचा सकता है तथा मौनी कभी नुकसान में नहीं रहता, जबकि वाचाल हर वक्त भयभीत रहता है।

9. **शिष्य** ने पूछा-'सही क्या-जलना या बुझना?'

गुरु ने कहा-'बुझना।' क्योंकि क्रोध की आग में जल कर सब कुछ स्वाहा किया, जबकि क्रोध की आग को बुझा कर सब कुछ बचा लिया।

10. **शिष्य** ने पूछा-'क्या चाहिए-खाली दिमाग या भरा दिमाग?'

गुरु ने कहा-'खाली दिमाग।' क्योंकि खाली दिमाग भगवान् का घर होता है, जबकि भरा दिमाग शैतान का घर बन सकता है।

11. **शिष्य**-'क्या लूँ-अधिकार या कर्त्तव्य?'

गुरु-'कर्त्तव्य।' क्योंकि अधिकार में अहं है और अहं के आंखें होती हैं पर वे देखती नहीं, कान है पर सुनते नहीं, पूंछ है पर पशु नहीं, मूंछ है पर मर्द नहीं, परन्तु कर्त्तव्य के पास कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ होता है।

12. **शिष्य**-'क्या बनूँ-ताला या चाबी?'

गुरु-'चाबी।' क्योंकि चाबी भले ही छोटी है, पर वह बड़े से बड़े ताले को खोल सकती है।

हथौड़े की मार ताले को चिपका सकती है पर खोल नहीं सकती, जबकि छोटी-सी चाबी ताले को खोल देती है क्योंकि वह अन्दर तक पहुँच सकती है।

13. **शिष्य**-'क्या चुनूँ-आग या जल?'

गुरु-'आग।' क्योंकि आग पानी को जला कर भाप बना सकती है पर जल स्वयं भाप नहीं बन सकता। आग निर्भार है और ऊर्ध्वगामी, जल भारी है और अधोगामी।

14. **शिष्य**-'श्रेष्ठ कौन-जिज्ञासु या साधक?'

गुरु-'साधक।' क्योंकि साधक साधना पहले करता है और फिर जानता एवं मानता है, जबकि जिज्ञासु पहले जानता है, फिर मानता है और फिर करता है।

15. **शिष्य**-'किसमें विश्वास करें-दल में या दिल में?'

गुरु-'दल में।' क्योंकि दिल वाले का कोई दल नहीं होता, जबकि दल वालों में दिल नहीं होता।

16. **शिष्य**-'क्या अच्छा है-उदाहरण अथवा आचरण?'

गुरु-'आचरण।' क्योंकि नेता उदाहरण देकर जनता को सिर्फ खुश करते हैं, जबकि संत आचरण करके जनता को सीख देते हैं।

17. **शिष्य**-'क्या चाहूँ-विश्वास या श्वास?'

गुरु-'विश्वास।' क्योंकि विश्वास ही सच्चा श्वास होता है, जबकि अनित्य श्वास का क्या विश्वास? यह श्वास राह चलते-चलते कभी-भी रुक सकती है।

18. **शिष्य**-'क्या प्रिय हो-प्रसन्नता या खिन्नता?'

गुरु-'प्रसन्नता।' क्योंकि प्रसन्नता प्रकृति की देन होती है जबकि खिन्नता विकृति की उपज। प्रकृति की देन को विकृत नहीं बनाना ही प्रिय होना चाहिए।

19. **शिष्य**-'क्या अच्छा-जोड़ना या तोड़ना?'

गुरु-'जोड़ना।' क्योंकि टूटी हुई हड्डी प्लास्टर से जुड़ जाती है, पर टूटा हुआ दिल प्लास्टर से नहीं जुड़ता, दिलों को तोड़ना कभी नहीं और जोड़ना सदा चाहिए।

20. **शिष्य**-'श्रेष्ठ क्या-क्रोध या प्रसन्नता?'

गुरु-'प्रसन्नता।' क्योंकि प्रसन्नता होने पर व्यक्ति पहले स्वयं से सुखी होता है और बाद में सभी को सुखी करता है। किन्तु क्रोध, पहले स्वयं व्यक्ति को दु:खी बनाता है और बाद में सबको दु:खी बनाता है।

21. **शिष्य**-'क्या चाहूँ-सत्य या संयम?'

गुरु-'संयम।' क्योंकि सत्य कभी-कभी कटु हो सकता है, दूसरों को अप्रिय लग सकता है,

जबकि संयम सत्य को भी मधुर एवं प्रिय बना देता है।

22. **शिष्य**-'क्या बनूँ-गुणी या गुणानुरागी?'

गुरु-'गुणानुरागी।' क्योंकि गुणी बहुत मिल सकते हैं, पर गुणानुरागी कम मिलते हैं। ये गुणानुरागी गुणियों के सर्जनहार होते हैं। बीज अंकुर को पैदा करता है, पर अंकुर बीजों को नहीं।

23. **शिष्य**-'क्या चाहूँ-स्नेह या सद्भाव?'

गुरु-'सद्भाव।' क्योंकि स्नेह तो अपने वालों को समान समझना मात्र है जबकि सद्भाव प्राणि मात्र के प्रति शुभ-भावनाओं का प्रतिफल है।

24. **शिष्य**-'किसकी आवश्यकता है विचार की या कल्पना की?'

गुरु-'विचार की।' क्योंकि कल्पना में केवल उड़ान होती है, नयेपन की तड़पन होती है किन्तु समय उसी क्षण नए को पुराने में बदल देता है जबकि विचार वर्तमानिक होते हैं और सार्थक होते हैं।

25. **शिष्य**-'क्या बनूँ-अमीर या अमर?'

गुरु-'अमर।' क्योंकि अमीर मर जाता है पर उसका धन पड़ा रह जाता है, जबकि अमर न मरता है, न जन्म लेता है, न धन कमाता है और न उसे धन को छोड़ना पड़ता है।

26. **शिष्य**-'श्रेष्ठ कौन-सागर या झील?'

गुरु-'सागर।' क्योंकि नाला बहता हुआ झील के पास पहुंचा मिलने के लिए, पर झील ने इन्कार कर दिया। नाला सागर के पास पहुंचा, सागर ने मिला लिया। झील रुक गई, सागर लहराता रहा। बड़ा-बड़ा ही रहता है, वह सबको मिलाता और सब में मिलता हुआ अपने अस्तित्व को स्थाई बना लेता है।

27. **शिष्य**-'ताकत बड़ी है या तपस्या?'

गुरु-'तपस्या।' क्योंकि ताकत के बल पर अर्जित की गई ख्याति बिजली के बल्ब के समान होती है जो फ्यूज होते समय अधिक प्रकाश देता है पर अन्त में उसके तार बिखर जाते हैं जबकि तपस्या से प्राप्त ख्याति को भी तपस्वी विसर्जित कर देता है।

28. **शिष्य**-'मायूसी चाहूँ या मुस्कान?'

गुरु-'मुस्कान।' क्योंकि मुस्कान जिंदादिलों की पहचान होती है, आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बनती है जबकि मायूसी मृत्यु का आमंत्रण है और निमंत्रण होती है अनादर एवं अवसाद का।

29. **शिष्य**-'क्या कठिन है और क्या सरल है?'

गुरु-'आत्म-प्रशंसा करना सरल है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी प्रशंसा करने में संकोच नहीं करता जबकि पर-प्रशंसा करना कठिन है। जब तक गुणानुराग पैदा नहीं होता, तब तक

दूसरों की प्रशंसा नहीं होती।'

30. **शिष्य**-'ईमानदारी क्यों नहीं टिकती?'

गुरु-'क्योंकि व्यक्ति अपने ही लाभ का ध्यान नहीं छोड़ पाता। जहां अपने ही लाभ का ध्यान हो, वहां ईमानदारी कहाँ?'

31. **शिष्य**-'श्रेष्ठ क्या-शिक्षा या दीक्षा?'

गुरु-'दीक्षा श्रेष्ठ है।' क्योंकि दीक्षा देह को श्रम करने की, मन को करुणाशील रहने की और मस्तिष्क को निष्पाप बनने की शिक्षा प्रदान करती है जबकि दीक्षा विहीन शिक्षा केवल धन कमाने की कला सिखलाती है।

32. **शिष्य**-'क्या चाहूँ-सिद्धि या प्रसिद्धि?'

गुरु-'सिद्धि।' क्योंकि प्रसिद्धि के जाल में फंसा व्यक्ति सिद्धि से कोसों दूर होता जाता है जबकि सिद्धि की प्राप्ति में प्रसिद्धि अपने आप हो जाती है।

33. **शिष्य**-'क्या अच्छा-विवाद या संवाद?'

गुरु-'संवाद।' क्योंकि सुलझे हुए मन-मस्तिष्क में ही संवाद पैदा होता है, जो समन्वय एवं शालीनता को विकसित करता है जबकि विवाद विग्रह तथा वैमनस्य को जन्म देता है, जो अनेकता और विखंडता को पनपाता है। संवाद सुख और शान्ति का मार्ग है तो विवाद दु:ख और अशान्ति का।

34. **शिष्य**-'क्या करूँ-श्रम या चिन्ता?'

गुरु-'श्रम।' क्योंकि श्रम स्फूर्ति देता है, मन में आशाओं को पल्लवित करता है जबकि चिन्ता, चित्त एवं स्वास्थ्य को चौपट कर देती है।

35. **शिष्य**-'कौन अच्छा-स्वार्थी या परमार्थी?'

गुरु-'परमार्थी।' स्व-देह के भाव के अहं से मुक्त स्वार्थ ही परमार्थ है। ऐसा परमार्थी ही सच्चा स्वार्थी होता है, जिसके लिए 'स्व' ही सर्व होता है और उस 'स्व' में सर्व की अनुभूति करता हुआ वह परमार्थ का सर्वोच्च मंगल रूप बन जाता है।

36. **शिष्य**-'क्या चाहूँ-स्वर्ग या नरक?'

गुरु-'स्वर्ग भी और नरक भी, मुक्ति प्राप्ति की गारंटी में स्वर्ग और मुक्ति प्राप्ति की अयोग्यता में नरक।'

37. **शिष्य**-'क्या मांगू-आशा या विश्वास?'

गुरु-'विश्वास।' क्योंकि आत्मविश्वास से भरे व्यक्ति की सारी आशाएं पूर्ण होती है जबकि मात्र आशावान व्यक्ति अविश्वास के घेरे में आबद्ध होकर ही असफल हो जाता है।

38. **शिष्य**-'अनुशासन बड़ा या संगठन?'

गुरु-'अनुशासन।' क्योंकि अनुशासन, संयम और नियम में जीना सिखलाता है जबकि संगठन व्यक्तियों का समूह मात्र होता है।

39. **शिष्य**-'दान बड़ा या ज्ञान?'

गुरु-'ज्ञान।' क्योंकि ज्ञानवान अनेक व्यक्तियों को ज्ञानवान बना सकता है और श्रेष्ठ ज्ञान भी वही है जो 'पर' में भी 'स्व' को देखता है जबकि दान में 'स्व' और 'पर' के बीच एक भेद की दीवार खड़ी रहती है।

40. **शिष्य**-'आसक्ति चाहूँ या समर्पण?'

गुरु-'समर्पण।' क्योंकि सत्य के प्रति आकर्षण ही समर्पण को जन्म देता है जबकि आसक्ति असत्य के आकर्षण का प्रतिफल होती है। आसक्ति अंधकार है तो समर्पण प्रकाश है। आसक्ति स्वार्थ से सनी होती है तो समर्पण नि:स्वार्थ से पावन होता है।

41. **शिष्य**-'दरिद्रता चाहूँ या संयम?'

गुरु-'संयम।' क्योंकि धनाढ्यता में यदि संयम है तो वह पतन के गर्त से बचा सकता है और दरिद्रता में संयम है तो वह दरिद्रता के दु:ख से भी उबर सकता है जबकि संयम के अभाव में दरिद्रता एवं धनाढ्यता (अदरिद्रता) दोनों ही अभिशाप है।

42. **शिष्य**-'भक्ति चाहूँ या शक्ति?'

गुरु-'भक्ति।' क्योंकि भक्ति शक्ति का अजस्र स्रोत होती है। बिना भक्ति की शक्ति विनाश का खुला प्लेटफार्म होती है। भक्ति से नियंत्रित शक्ति से ही विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

43. **शिष्य**-'लघुता चाहूँ या प्रभुता?'

गुरु-'लघुता।' क्योंकि प्रभुता तो लघुता में ही बसी है। जिसका अहं गल जाता है, वही 'अर्हम्' बनता है। जबकि अपने आपको प्रभु मानने वाला प्रभु नहीं, पशु-सम जीवन जीता है।

44. **शिष्य**-'इज्जत चाहूँ या दौलत?'

गुरु-'इज्जत।' जिसकी इज्जत होती है उसके पास सबसे बड़ी वही दौलत है और बिना इज्जत के दौलत किस काम की?

45. **शिष्य**-'बदलता क्या है-रूप या स्वभाव?'

गुरु-'स्वभाव।' क्योंकि रूप रंग जन्मजात होते हैं जो बदले नहीं जा सकते जबकि स्वभाव संसर्ग एवं संस्कारों का सहजात होता है, उसे बदलना व्यक्ति के हाथों में है। वह जैसा चाहे, अपने स्वभाव का निर्माण कर सकता है।

46. **शिष्य**-'पराक्रमशील होऊँ अथवा गतिशील होऊँ?'

गुरु-'पराक्रमशील।' क्योंकि पराक्रम जीव का स्वभाव है, वह जब तक नहीं जागता है तब

तक गति में प्रगति नहीं आती। गति जड़ पदार्थ में भी संभव है, जबकि पराक्रम चैतन्य में ही होता है।

47. **शिष्य**-'बहिर्नाद सुनूँ या अन्तर्नाद?'

गुरु-'अन्तर्नाद।' क्योंकि अन्तर्नाद सुनने वाला सद् एवं असद् के विवेक से सम्पन्न हो जाता है। विवेक सम्पन्न साधक आर्त्त एवं आर्त्त के कारणों से मुक्त हो जाता है। जबकि आर्त्तनाद या बहिर्नाद को सुनने वाला संयोग में प्रसन्न तथा वियोग में खिन्न तथा निराश होकर ही जीता है और मरण भी उसी अवस्था में प्राप्त करता है।

48. **शिष्य**-'बहिर्वेद जानूँ या अन्तर्वेद?'

गुरु-'अन्तर्वेद।' क्योंकि अन्तर्वेद को जाने बिना बहिर्वेदों का ज्ञान अधूरा है। अन्तर्वेद से ही ब्रह्मा या परमात्मा का स्वरूप ज्ञात होता है जबकि बहिर्वेद मात्र भौतिक जगत् का ज्ञान करवा सकता है।

49. **शिष्य**-'सुख चाहूँ या समाधि?'

गुरु-'समाधि।' क्योंकि समाधि आत्मिक होती है जबकि सुख तन एवं मन से संबंध रखता है। आत्मिक समाधि प्राप्त करने वाला तन एवं मन के दु:खों में भी सुख का अनुभव करता है।

50. **शिष्य**-'कातर श्रेष्ठ है या दुर्बल श्रेष्ठ है?'

गुरु-'दुर्बल श्रेष्ठ है।' क्योंकि दुर्बल व्यक्ति भय एवं शोक से विमुक्त हो सकते हैं जबकि कातर व्यक्ति सदा भयभीत रहते हैं तथा शोक से संतप्त रहते हैं। कातरता एवं भय के बीच घनिष्ठ संबंध है।

51. **शिष्य**-'लेना चाहूँ या देना?'

गुरु-'देना।' क्योंकि देने वाला अवश्य ही प्राप्त करता है जबकि लेने वाला दिए बिना कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। देने वाला बिना चाहे भी सम्मान प्राप्त करता है जबकि सम्मान दिए बिना सम्मान पाना संभव नहीं है।

52. **शिष्य**-'कीर्ति चाहूँ या श्लाघा?'

गुरु-'कीर्ति।' क्योंकि श्लाघा की परिधि बहुत छोटी एवं स्थानीय होती है जबकि कीर्ति की परिधि सर्व दिक् एवं स्थायी होती है। चाह न कीर्ति की होनी चाहिए और न श्लाघा की। फिर भी श्लाघा की बजाय कीर्ति श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ है।

53. **शिष्य**-'उत्सुकता चाहूँ या धैर्य?'

गुरु-'धैर्य।' क्योंकि उत्सुकता अप्राप्त को प्राप्त करते ही समाप्त हो जाती है, पर समाप्ति से पहले अन्य अनेक उत्सुकताओं को जन्म देती है जबकि धैर्य अप्राप्त को प्राप्त करने की चाह से ही श्रान्त एवं विश्रान्त होता है।

इस आत्मानुभूति के क्षणों से गुजरना चाहिए अभियान के प्रत्येक सहभागी को :

चरित्र निर्माण अभियान के प्रत्येक सहभागी-चाहे वह अभियान का संचालक हो या पर्यवेक्षक, स्वयं-सेवक हो या कार्यकर्त्ता अथवा अभियान का प्रशिक्षणार्थी हो या अभ्यासी, सबको अपना-अपना दायित्व बखूबी समझना चाहिए। सामान्य की अपेक्षा कई गुना विशेष दायित्व मानना चाहिए, इस सर्वोपयोगी विजय अभियान का। इनकी सफलता पर देश के अनेक नागरिकों का ही नहीं, समूची व्यवस्था के चरित्र परिवर्तन का भी भावी टिका हुआ रहेगा। इस दृष्टि से अभियान के सभी सहभागियों की मानसिकता में एकाग्रता, संयुक्तता तथा कर्मठता के लिए आवश्यक है कि वे अपनी आत्मानुभूति को सशक्त बना लें ताकि उनकी इच्छाशक्ति एवं कार्यक्षमता अभियान के दौरान सजग एवं सक्रिय रह सके। तदर्थ आत्मानुभूति के कुछ चिन्तनीय बिन्दु यहां प्रस्तुत हैं और इन आत्मानुभूति के क्षणों में सहभागीगण तब तक गुजरते रहें, जब तक आवश्यक दृढ़ता की उन्हें प्राप्ति न हो जाए-

1. हम ऐसी चिनगारी बन सकते हैं जिससे असत्, अशुद्ध एवं अशुभ के ढेर को जला कर नष्ट कर सकें। वास्तव में चिनगारी का ही महत्त्व है। छोटे-छोटे प्रयास जितने महत्त्वपूर्ण होते हैं, उतना महत्त्व बड़े प्रयास का नहीं होता। ज्वालाएं एक साथ भभकती है और सबको भस्मीभूत कर देती है। हाँ, चिनगारी भी यही जलाने का ही काम करती है, लेकिन ताकत में अन्तर है। ज्यादा ताकतवर जल्दी ही निरुत्साहित हो जाता है, परन्तु चिनगारी भले ही कम ताकतवर हो, पर जलती ही रहेगी और ऐसा काम करेगी जो ज्वाला नहीं कर पाती। फिर ये चिनगारियाँ एक साथ समूह में ही उछलती और काम करती हैं। वही चिनगारी हम बनें, जो हमारे भीतर रहे हुए असत्, अशुद्ध एवं अशुभ के ढेर को जला सके, चारित्रिकता का उत्थान कर सके एवं बाहर के ऐसे ही ढेर को भी चरित्रबल के माध्यम से जला कर सर्वत्र चरित्रनिष्ठा के सुखद वातावरण की रचना कर दे।
2. हम कष्टों, संकटों एवं आपदाओं के हलाहल को पीना सीखें, क्योंकि हमारे आदर्श पुरुषों ने भी ऐसा ही किया था। कोई भी साधना या कोई भी अभियान सुगम नहीं होता, उसके पीछे कितने कष्ट भरे होते हैं। इसका पूर्वाकलन आवश्यक है ताकि समय पर दृढ़ता का परिचय दिया जा सके।.
3. हमारे आराध्य, साध्य, लक्ष्य इस चरित्रहीनता के गहन अंधकार में चरित्र सम्पन्नता के चमकते हुए सितारे हैं-इनके प्रकाश में भी अगर हम अपने दायित्वों का सम्यक् निर्वाहन कर सके तथा चरित्र निर्माण अभियान को शानदार सफलता न दिला सके तो इससे बढ़ कर दुर्भाग्यसूचक दूसरी बात क्या होगी?
4. गुरु, प्रभु एवं आदर्श पुरुषों की शरण चरित्र निर्माण अभियान का माध्यम व्यक्ति से लेकर विश्व तक को चरित्रशीलता के किनारे तक पहुंचाने के लिए एक सुन्दर, सुव्यवस्थित एवं मजबूत पोत के समान है तथा इस अभियान के रूप में वह पोत हमें प्राप्त हुआ है। उस पर हम सवार हो जाए। बस, सवार होने भर की आवश्यकता है कि यह शरण हमें अपनी मंजिल तक पहुंचा देगी।
5. चरित्र निर्माण के सत्कार्य में हम इतने मग्न हो जाएं कि हमारे अन्तर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की

त्रिवेणी बहती रहे और हम उसमें अवगाहित बने रहें। यह एक ऐसी त्रिवेणी है जिसमें अवगाहित रहने वाला साधक सफल ही नहीं, अमर भी हो जाता है।

6. हमारे जीवन का क्या श्रृंगार है-यह अभियान के सहभागियों को चिन्तन करते रहना चाहिए। अनुशासनपूर्वक मर्यादाओं का पालन करना-यह श्रृंगार हम ही कर सकते हैं-हमें छोड़कर अन्य कोई पशु-पक्षी नहीं कर सकते। यह मानव की ही शक्यता होती है। हमें तो आनुषंगिक और वास्तविक रीति से अनुशासन पूर्वक मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन को श्रृंगारित करना है।

7. हमारी प्रगति का आधार क्या है? यह तो नहीं कि हम कितना खा सकते हैं या चल सकते हैं या बोल सकते हैं या ऐसे ही अन्य कार्य कर सकते हैं-प्रगति के मापदंड इन से अलग होते हैं। हमारी भीतरी या बाहरी समूची प्रगति का आधार तो हमारी चरित्रनिष्ठा ही हो सकती है जिसके द्वारा सरलता, सहजता, वास्तविकता आदि सद्गुणों की हम अपने स्वयं के आचरण से अन्य लोगों को प्रेरणा भी दे सकते हैं। हमारे जीवन की प्रगति का यही सच्चा मापदंड होता है।

8. हमारे आनन्द के द्वार क्या हो सकते हैं? चरित्र निर्माण से प्राप्त मृदुता, मैत्री, सहजता हमारे आनन्द के द्वार हो सकते हैं जो हमें चरित्र सम्पन्नता के आनन्द-भवन में प्रवेश कराएंगे।

9. चरित्र निर्माण की नींव ऐसी ठोस हो कि जो हमें यथार्थताओं के इन्द्रलोक में विचरण करना सिखावें तथा चरित्र विकास के पथ पर आगे बढ़ावे। कल्पनाओं का इन्द्रलोक बड़ा सुरम्य हो सकता है, लेकिन उससे प्राप्त कुछ भी नहीं होता। यथार्थताएं ही हमें अप्राप्त भी प्राप्त करवाती हैं तो अप्राप्य को भी प्राप्य बना देती हैं।

10. चरित्रशीलता के फुल्ल-प्रफुल्ल उद्यान में कोई भी चेहरा मुर्झाया हुआ न रहे। खिले हुए फूल की तरह हम सदा सर्वदा मुस्कुराते ही रहें, क्योंकि जैसे मुर्झाए हुए फूल को कोई नहीं चाहता, वैसे ही हम भी मुर्झाया चेहरा लेकर फिरते रहेंगे तो हमें कोई नहीं चाहेगा।

11. जब हम विचारों को अभिव्यक्त करने लगते हैं तब हमें अपनी योग्यता की परीक्षा देनी होती है। विचाराभिव्यक्ति द्वारा वैचारिकता में प्रखरता आती है। उस समय हमारे भीतर में रहे हुए अनुभवों के निधान प्रकट होने लगते हैं। इसलिए चरित्र निर्माण अभियान के दौरान जन-समूह के बीच हमें अपने विचारों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने से नहीं कतराना चाहिए।

12. चरित्र निर्माण अभियान में हम हमारे जीवन प्रवाह की प्रत्येक लहर को सम्यक् मोड़ देते रहने के लिए तत्पर रहें और यही हमारा उद्देश्य बन जाए। बहुत बार हम उद्देश्य निर्धारित तो कर लेते हैं, पर उसके अनुकूल कर्मठता नहीं सध पाती है। हम कठोर से कठोर प्रयत्न करने से कतराने लगते हैं और आवश्यक कटिबद्धता नहीं बनती। परन्तु इस अभियान के लिए कर्मठता के कार्य करने के लिए हम संकल्पबद्ध हो जाए।

13. खतरों को झेलने वाला ही कामयाब होता है। जो खतरों को देख कर घबरा जाता है और कार्य क्षेत्र से भाग खड़ा होता है वह कहीं भी किसी विजयश्री को प्राप्त नहीं कर सकता है। विजयश्री उन्हीं को हस्तगत होती है जो बड़े से बड़े खतरे का मुकाबला करने का सामर्थ्य पैदा कर लेता है। इस

अभियान को पूर्ण सफल बनाने के महद्कार्य में हमारी क्षमताएं बढें, हमारी उपयोगिता बढें, हमारी कार्य पद्धतियां विकसित हों-इसके लिए हमें किसी के अवदानों की भिक्षा नहीं मांगनी है, हमें स्वत: से ही ऐसी परिस्थिति पैदा करनी होगी, एक-सा वातावरण और ऐसा देश, भाव निर्मित करने होंगे कि चरित्र निर्माण का उद्देश्य पाने के लिए जन-जन की तत्परता उग्र बने और हम सबको साथ में लेकर विकास की दिशा में निरन्तर आगे से आगे बढ़ते रहें-सदैव सबके लिए उपयोगी बने रहें।

14. केवल प्रवृत्तिपरक धर्म और कर्त्तव्य की साधना हमारे अभियान के दायरे को विस्तृत बना सकती है, परन्तु उतने मात्र से केन्द्र मजबूत नहीं हो सकता। साथ ही निवृत्तिपरक धर्म की साधना केन्द्र को मजबूत बना सकती है परन्तु उससे भी परिधि को सुदृढ़ एवं परिष्कृत नहीं बनाया जा सकता। इसलिए जीवन और धर्म में एक श्रेष्ठ कार्यशील संतुलन पैदा करना होगा, जो केन्द्र को मजबूत बनाएगा तो उससे उन कठिन परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना भी किया जा सकेगा, जो अभियान के दौरान तरह-तरह की शक्लों में सामने उपस्थित हो सकती हैं। यह संतुलन ही हमारे व्यक्तित्व को सर्वतोमुखी बना सकेगा।

आत्मानुभूति का अभिप्राय स्पष्ट होना चाहिए कि माननीय विचार मन-मस्तिष्क में जम जाएं और उनके स्मरण से शिथिल होती इच्छाशक्ति सक्रिय हो जाए तथा कार्य-क्षमता निरुत्साह के घेरों से निकल कर अपना जौहर दिखाने लगे।

अपने आपको स्वयं देखें-देखते रहें और दृढ़ता के सूत्रों को जोड़ते रहें :

अपने आपको स्वयं देखने के अर्थात् दृष्टा बनने के अनेकानेक लाभ हैं। किसी भी वस्तु को देखने और देखते रहने से ही उस वस्तु के मूल तथा परिवर्तनशील स्वरूपों की सही समीक्षा की जा सकती है। सही समीक्षा के आधार पर लिया जाने वाला सही सुधार या परिवर्तन का चरण ही निश्चित सफलता प्राप्त कर सकता है। सही समीक्षा, सही कार्य और सही मानसिकता रहे तो उसका परिणाम भी सही ही रहेगा। यही पद्धति जब हम अपने ही ऊपर लागू करें कि अपने आपको स्वयं देखें-देखते रहें तो निश्चित मानिए कि जो कार्य हम करेंगे वह अवश्य फलदायी होगा। चरित्र निर्माण अभियान के संदर्भ में तो प्रत्येक सहभागी के लिए यह कार्य पद्धति अनिवार्य-सी माननी चाहिए। इसके द्वारा यदि हम सदा सर्वत्र पूरी तरह सन्नद्ध रहते हैं तो हम निरन्तर दृढ़ता के सूत्रों को आपस में जोड़ते रह सकेंगे और बढ़ती हुई दृढ़ता से उत्साहित होते हुए अथक रूप से गति करते रहेंगे।

इस उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में यहां हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों की चर्चा कर रहे हैं, जिनका सुप्रभाव अभियान के सहभागियों के स्वयं के जीवन, उनकी कार्य क्षमता एवं पद्धति पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

1. क्षण को जानिए : महावीर का उपदेश है कि क्षण को जानिए और जो क्षण को जान लेता है, वास्तव में वही पंडित है, वही ज्ञानी है (**खणं जाणई पंडिए**)। क्यों जानें क्षण को? क्योंकि क्षण ही वर्तमान है-जो क्षण बीत गया, वह अतीत हो गया तथा जो क्षण आने वाला है वह भावी है। इस कारण जो क्षण वर्तमान है, वही महत्त्वपूर्ण और वास्तव में वही जीवन है-जीवन निर्माता है। क्षण को जानने

का यही रहस्य है कि आप अपनी दृष्टि क्षण पर केन्द्रित कर लें और उसी की सार्थकता देने के लिए कटिबद्ध हो जाए-बस एक क्षण को जान लेने वाला पूरे समय पर विजय प्राप्त कर सकता है। पश्चिम के एक लोकप्रिय लेखक डेल कार्नेगी ने भी इसी बिन्दु पर बल देते हुए सूत्र-वाक्य ही कहा है-क्षण को पकड़ लो। उनके अनुसार क्षण को पकड़ लिया यानी कि उसका सदुपयोग कर लिया तो जीवन का सदुपयोग स्वत: ही सध जाएगा।

2. स्मृति को संवारिए : स्मृति के बिना विस्मृत हो जाती है सभी बातें और अति महत्त्व की बातें भी। यह उक्ति सभी जानते होंगे कि '**पाठ भूला क्यों, घोड़ा अड़ा क्यों और पान सड़ा क्यों**'-सबका एक ही उत्तर है कि '**फेरा नहीं**' यानी कि स्मृति नहीं की, उलट-पुलट नहीं किया। पाठ पढ़ने के साथ अभ्यास करना होता है कि वह याद रहे। घोड़ा तब अड़ता है जब उसे लगातार फेरा नहीं जाता। पान भी सड़ जाता है जब उसे बार-बार उलटा-पुलटा नहीं जाता। हम जो भी संकल्प करें, जो भी प्रतिज्ञाएं लें तथा जो भी कार्य करने का निश्चय करें-उसके साथ स्मृति को संवार कर जोड़ लें जो आपको उसकी प्रतिक्षण याद दिलाती रहेगी और आपको कार्यरत बने रहने के लिए उत्साहित करती रहेगी। एक उदाहरण लें। हमने यह समझ लिया और धारणा बना ली कि चरित्र निर्माण तथा विकास के प्रभाव से हम सर्वत्र अहिंसक जीवनशैली का विकास कर सकते हैं तो इस धारणा को जब बार-बार स्मरण करते रहेंगे तो हम निष्क्रिय नहीं रह सकेंगे।

3. सत्संस्कार ढालिए : हम अपने जीवन को सुधारें, चरित्रशीलता की दिशा में आगे पग बढ़ावें तथा आवश्यक परिवर्तनों को तेजी से लावें-यह वर्तमान के लिए जरूरी है, किन्तु यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिए, चरित्र निर्माण एवं विकास का कार्य सतत रूप से चलता रहना चाहिए-इसके लिए नई पीढ़ी में भी सत्संस्कारों का आरोपण अनिवार्य है। आप अपने सदाचरण से सत्संस्कार ढालिए ताकि वे सत्संस्कार स्वत: ही आपकी सन्तति में ढलतें जावें।

4. आत्मालोचना करना न भूलें : हमने क्या किया, क्या जो करना चाहिए था वह नहीं किया अथवा करणीय को हम भूल ही गए, इसकी जानकारी तभी हो सकती है जब हम प्रतिदिन आत्मालोचना का क्रम बनावें। प्रतिक्रमण क्या है? यही तो है कि जो किया और अच्छा नहीं किया उसका पश्चात्ताप करें तथा आगे से वैसा न करने का संकल्प ग्रहण करें। आत्मालोचना से आत्ममंथन होता है और आत्मविश्वास सुदृढ़ बनता है। आत्म-विश्वास ही तो वह अनूठी शक्ति का प्रदाता है जो कभी किसी भी परिस्थिति में निस्तेज नहीं होती। चरित्र निर्माण अभियान में सच कहें तो इसी शक्ति की सबके लिए महती आवश्यकता होती है।

5. सर्वाराधक बनें : आकृति, प्रकृति, व्यवहार, विचार-इन सबको सह पाना जीवन की बड़ी कला है और इस कला की शिक्षा मिलती है सर्वाराधक होने में। सर्वाराधना क्या? सबकी आराधना अर्थात् सबको सहो, किसी को भी अपने विचार, वचन या व्यवहार से आहत मत करो। आज की सबसे बड़ी समस्या है-असहिष्णुता। कोई किसी को सहना नहीं चाहता। क्यों मैं ही सहूं-जैसे यह हठ बन गई है। एक विचार दूसरे विचार को, एक देश दूसरे देश को, एक समाज दूसरे समाज को, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को, यहां तक कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं कर रहा है।

असहिष्णुता के कारण अनेक समस्याएं जन्म लेती जा रही हैं, अत: सहिष्णुता का विकास आवश्यक है तथा इस अभियान के लिए तो अनिवार्य मानिए।

ज्ञाता-दृष्टाभाव का मलूल अभिप्राय यही है कि मन का शोधन हो, मन का सामर्थ्य बढ़े तथा मन को चरित्रशीलता के पथ पर गतिमान बनावें। इसके लिए मन का रेचन करना चाहिए-पंच कर्म करना चाहिए। इसमें सम्मिलित हैं-ज्ञाता-दृष्टा भाव का विकास, अशुद्ध एवं अशुभ विजातीय कणों से छुटकारा, निर्मलता का प्रसार, आचरण शुद्धता एवं क्रियाशीलता आदि। ज्यों-ज्यों मन का शोधन होता जाएगा, ज्ञाता-दृष्टा भाव स्थायित्व पकड़ लेगा। यह भाव हमारे मन का प्रहरी बन जाएगा, फिर कोई विभाव भीतर कैसे घुस सकता है? ऐसे शुद्ध एवं सक्रिय मन के साथ चरित्र निर्माण के अभियान में प्रवृत्ति करेंगे तो निश्चय मानिए कि दृढ़ता के सूत्र जुड़ते रहेंगे।

आधुनिक युग में प्रचार का सही नेटवर्क सफलता की गारंटी होता है :

एक दृष्टि से आधुनिक युग प्रचार का युग है। यह नहीं कि प्रचार का पहले महत्त्व न रहा हो-आखिर साधु साध्वी अपनी मर्यादाओं के अनुसार विहार करते हुए उपदेशों, प्रवचनों आदि के द्वारा धर्म का प्रचार ही तो करते हैं। यह अवश्य है कि आधुनिक युग में प्रचार के अनेक ऐसे माध्यमों का विकास हो गया है जिनके उपयोग से प्रचार प्रभावशाली बन गया है। चरित्र निर्माण अभियान भी एक ऐसा विषय है जिसका नानाविध प्रचार किया जाए तो इस अभियान की सफलता सुनिश्चित की जा सकती है। अभियान हेतु प्रचार के निम्न शालीन माध्यमों का प्रयोग करके चरित्र निर्माण को लोकप्रिय बनाते हुए इसका त्वरित प्रसार किया जा सकता है-

1. संगठन की सुगठितता : अभियान का आधार बनेगा इसके निमित्त बनाया जाने वाला संगठन। संगठन की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है किन्तु संगठन का नेटवर्क सब ओर फैला हुआ होना चाहिए, पर साथ ही बारीकी से आपस में जुड़ा हुआ भी होना चाहिए कि कोई भी कार्यक्रम एक साथ सब ओर जन-जागरण के साथ आरंभ किया जा सके। इसके लिए संगठन की सुगठितता आवश्यक है। सुगठन को दो पहलुओं से लें। एक पहलू यह कि पूरे देश में संगठन का फैलाव हो-प्रत्येक राज्य के प्रत्येक जिले तक तथा प्रत्येक जिले के पूरे अन्दरूनी भागों में जो सारी तहसीलों, नगर-कस्बों तथा ग्रामों को अपने में समेट ले। सब जगह यथास्थिति चरित्र निर्माण समितियां काम करती हों अथवा एकाकी प्रतिनिधि या पर्यवेक्षक फैलाव में नए केन्द्र बनते रहने चाहिए। जैसे एक राज्य पकड़ लिया तो दूसरे अनजाने राज्य में कार्य शुरु करने की अपेक्षा पहले उसी राज्य के सभी जिलों में और एक-एक जिले की छोटी ईकाइयों में विस्तार किया जाए। यदि एक राज्य में संगठन का नेटवर्क गहराई से जम गया तो दूसरे राज्य में अभियान को आरंभ करते समय पहले राज्य की जमावट उसमें मदद देगी तो वही जमावट दूसरे राज्य को आसानी से प्रभावित भी करेगी। आशय यह कि जहां भी कार्यारंभ हो वह सघनता पकड़े। इससे अभियान की लोकप्रियता बढ़ेगी और स्थान-स्थान पर अच्छा जन समर्थन प्राप्त होने लगेगा।

दूसरा पहलू यह कि संगठन में मुख्य रूप से ऐसे व्यक्तियों को स्थान मिले जिनका चरित्र अति

प्रशंसनीय न भी हो तो कम से कम निन्दनीय तो कतई न हो। अधिकांशत: ऐसे युवानों का चयन किया जाए, जिनमें कुछ नया करने की तमन्ना तथा समर्पण की भावना हो। ऐसे सहभागी स्वयं के आदर्श से चरित्र निर्माण को प्रभावित करेंगे तो अधिक से अधिक लोगों, युवकों, छात्रों आदि को प्रेरित भी करेंगे कि वे अभियान में सम्मिलित हों। संगठन के छोटे-बड़े सभी घटकों के बीच अच्छा तालमेल और सम्पर्क रहे, पूर्व प्रचार के साथ नए-नए कार्यक्रम आयोजित किए जाते रहें तथा परीक्षण, पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण की प्रणाली सुव्यवस्थित रूप से चलती रहे। सुगठित संगठन को अभियान की आत्मा मानिए और आत्मा जितनी पुष्ट व प्रभावी रहेगी, उतना ही अभियान चरित्र के सर्वत्र उत्थान के नए आयाम खड़े करेगा और नई-नई सफलताएं दिलाएगा।

2. सरल सुबोध साहित्य : देश में समाज के सभी वर्गों को उनकी शिक्षा एवं योग्यता के अनुसार चरित्र निर्माण से संबंधित साहित्य एवं विविध प्रकार की अन्य सामग्री रचित कर वितरित की जाए तथा तदनुसार उन वर्गों में प्रत्यक्ष सम्पर्क से पहले उसे प्रचारित की जाए ताकि वे इस अभियान की उपादेयता के बारे में अपनी धारणा बना सकें तथा समय पर सम्पर्क से उनका सहयोग सहज ही में प्राप्त हो सके। इस साहित्य का सबसे बड़ा अंग तो प्रस्तुत ग्रंथ ही है, किन्तु अल्प शिक्षित वर्गों के लिए उपयुक्त छोटी पुस्तिकाएं, पेम्पलेट, परिपत्र आदि भी तैयार करके वितरित किए जा सकते हैं। जहां तक संभव हो, अभियान की प्रगति से संबंधित महत्त्वपूर्ण संवाद, लेख आदि देश की सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजे जाएं। संभव हो तो टी.वी. चैनलों के माध्यम से भी प्रचार को गति दी जा सकती है किन्तु ये सारे कार्य संगठन की केन्द्रीय समिति ही सोचेगी और निर्णय लेगी।

3. प्रवचन, भाषणमालाएं, साक्षात्कार आदि : प्रचार का यह प्रचलित तरीका है कि साधु, संत अपने प्रवचनों या व्याख्यानों के माध्यम से किसी भी श्रेष्ठ अभियान या आन्दोलन का समर्थन कर सकते हैं। चरित्र निर्माण से अधिक श्रेष्ठ अभियान कौनसा हो सकता है? एक व्यक्ति का भी चरित्र निर्मित होता है अथवा विकसित होता है तो उसके हाथों न जाने कितना उपकार संभव है, फिर यह तो समूचे देश की चारित्रिक शक्ति के उत्थान का अभियान है और इसकी सफलता और इसके विस्तार से तो न जाने कितने व्यक्तियों को और उनके जरिए कितने संगठनों तथा वहां की व्यवस्था को चरित्रशीलता की उज्ज्वलता से सुशोभित किया जा सकता है। अत: इसमें कोई विवाद नहीं मानना चाहिए कि चरित्र निर्माण अभियान किसी भी दृष्टि से प्राथमिकता से अपनाने योग्य अभियान नहीं है। इसके बाद गृहस्थों, विभिन्न वर्गों, शिक्षकों, छात्रों आदि के लिए तो चरित्र निर्माण की अपूर्व महत्ता है और इस अभियान को व्यापक रूप से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए स्थान-स्थान पर भाषणमालाओं के आयोजन रखे जा सकते हैं कि चरित्र निर्माण से संबंधित एक-एक विषय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों के भाषण रखे जाएं जिससे उस विषय के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से रोशनी पड़ सके। ऐसी भाषणमालाओं की श्रृंखला से एक साथ बहुत बड़े क्षेत्र में चरित्र निर्माण के संबंध में जागरूक वातावरण निर्मित हो सकता है। इस संदर्भ में साक्षात्कारों के कार्यक्रम भी रखे जा सकते हैं जिनके द्वारा विशिष्ट व्यक्तियों से रूबरू होकर चरित्र निर्माण की महत्ता पर उनके विचार जाने व प्रचारित किए जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न वर्गों आदि से संबंधित विद्वानों के विचारों में जब सामान्य जन को

समरूपता मिलेगी तो उनकी चरित्र के प्रति निष्ठा मजबूत बन जाएगी। निष्ठा मजबूत बनेगी तो उस क्षेत्र में कार्य करने की क्रियाशीलता जागृत हो जाएगी। माध्यम अलग-अलग हों पर चरित्र निर्माण के प्रति व्यापक जागृति बने-यह उद्देश्य रहेगा।

4. गोष्ठियां, वाद-विवाद प्रतियोगिताएं, प्रभात फेरियां आदि : भिन्न-भिन्न वर्गों की दृष्टि से संबंधित वर्ग में इन कार्यक्रमों के द्वारा चरित्र निर्माण के प्रति जागृति उत्पन्न की जा सकती है, जैसे विचारशील, उच्चशिक्षित एवं चिन्तक वर्ग के लिए विचार गोष्ठियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं और इसी प्रकार वाद-विवाद प्रतियोगिताएं छात्र वर्ग के लिए जिज्ञासा पूर्ति का माध्यम बन सकती हैं। प्रभातफेरियों में सभी तरह के वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं और जन-साधारण में चरित्र निर्माण अभियान के प्रति उत्सुकता पैदा कर सकते हैं। इन कार्यक्रमों के लिए समय-समय पर विषयों का चयन तथा गीत-प्रगीतों का संग्रह एक विशेषज्ञ समिति द्वारा कराया जा सकता है।

5. सांस्कृतिक कार्यक्रम : चरित्र निर्माण से संबंधित विषयों की जानकारी अल्पशिक्षित अथवा अशिक्षित भाई-बहनों को रचनात्मक रूप से कराने के लिए सांस्कृतिक माध्यम का उपयोग भी किया जा सकता है। नुक्कड़ नाटकों अथवा सांस्कृतिक समारोहों के जरिए चारित्रिक गुणों से संबंधित विशिष्ट पुरुषों के जीवन की झलकियां अथवा नैतिक व्यवस्था की बातों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाए तो आम आदमी गहराई से उन्हें पकड़ सकता है और अपने योगदान के बारे में सोच सकता है। विद्या और बुद्धि पृथक्-पृथक् है। अशिक्षित में विद्या नहीं होती, बल्कि बुद्धि का अभाव नहीं होता, बल्कि कई बार देखा जाता है कि अनपढ़ों का बुद्धि कौशल देखकर अचंभित हो जाना पड़ता है। अत: ये सांस्कृतिक माध्यम ऐसे हैं जो दर्शकों के मन पर सीधा प्रभाव छोड़ते हैं। एक बार मन में बैठ जाए कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक की सर्वांगीण उन्नति के लिए चरित्र निर्माण कितना अहम है तो फिर उसमें अपना योगदान देने वालों की कमी नहीं रहेगी। पूरा जन समर्थन मिले तो इस अभियान की त्वरित सफलता तथा त्वरित विस्तृति में कोई संदेह नहीं।

चरित्र निर्माण से प्राप्त होने वाले देवत्व पर सोचते रहिए :

चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को सदा चरित्र निर्माण से प्राप्त होने वाले देवत्व पर सोचते रहना चाहिए, क्योंकि चरित्रशीलता मानवता के मूल्यों को ही हृदयंगम नहीं कराती, अपितु देवत्व की भूमिका तक भी पहुंचा सकती है। क्या होता है देवत्व? इस पर जरूर विचार होना चाहिए। यह तो सब ने समझ लिया है कि चरित्र का मूल है अशुभता से निवृत्ति और शुभता में प्रवृत्ति। शुभता जिस परिणाम में विकसित होती उस परिणाम में मनुष्यत्व प्रकट होता है और जब वह शुभता ऊंचाइयां छूने लगती है तो उसी के गर्भ से देवत्व का जन्म होता है। इसे समझने के लिए एक रूपक का सहारा लें। कहा जाता है कि भगवान विष्णु की ओर से देवताओं को प्रीतिभोज का आमंत्रण दिया गया। सभी अतिथियों को दो पंक्तियों में आमने-सामने बिठा कर भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरु करने का निवेदन भी किया गया, किन्तु विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे ही अकड़ गए, किसी का हाथ मुड़ता तक नहीं था। तब समस्या हो गई कि खाएं तो कैसे खाएं? जब सुस्वादु भोजन परोसा हुआ सामने पड़ा हो, पेट में जोरों की भूख भी लगी हो और हाथ नहीं

चलता हो तो ऐसी हालत में कोई भी झुंझला ही जाता है। आखिर देवताओं में जो विवेकशील थे और चरित्रशीलता को समझते थे, उन्होंने एक तरकीब निकाली। अपने हाथ से स्वयं तो नहीं खा सकते थे किन्तु सीधे हाथ से सामने वाले को तो खिला ही सकते थे। बस, उन देवताओं ने आमने-सामने वालों को खिलाकर अपनी क्षुधा तृप्त कर ली। शेष जो इतने उदार नहीं थे अथवा स्वार्थ में ही फंसे हुए थे, वे भूखे ही रह गए। तब विष्णु ने समझाया--देखो, जिन्होंने एक दूसरे को खिलाया, वे देवता हैं और जिन्होंने किसी को नहीं खिलाया, वे राक्षस हैं।

वास्तव में यह रूपक जीवन की ज्वलन्त समस्या का समाधान करता है। देव और राक्षस के विभाजन का आधार इसमें एक सामाजिक ऊंचाई पर खड़ा किया गया है और उसमें चरित्रशीलता और चरित्रहीनता का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। जो दूसरों को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नहीं रहता और बड़ी बात यह है कि वह देवत्व के आदर्श को आत्मसात् करता है। जबकि स्वयं के ही पेट भरने की चिन्ता में पड़ा रहने वाला स्वयं भी भूखा रहता है और समाज में भी उसका राक्षसी रूप ही प्रकट होता है। इन्हीं वृत्तियों के आधार पर चरित्र की महत्ता का अंकन किया जाना चाहिए तथा चरित्र निर्माण अभियान के माध्यम से देवत्व को आदर्श मान कर चरित्र विकास में ठोस प्रवृत्ति करनी चाहिए।

◆◆◆



चरित्रबल से ही घूमेगा शुभंकर परिवर्तन का चक्र

आदर्श संकल्पों से ही नव समाज की स्थापना

बौद्ध साहित्य का यह कथानक है। भारत में एक ऐसा सम्राट था जिसके राज्य की सीमाओं पर भयंकर वन प्रदेश फैला हुआ था जहां पर हिंसक वन्य पशुओं की दहाड़ों और गर्जनाओं से आस पास के क्षेत्र बुरी तरह से आतंकित रहते थे। इस संदर्भ में वहां एक विचित्र प्रथा बन गई थी कि कोई भी राजा अपने सिंहासनारोहण के बाद केवल पांच वर्ष तक ही शासन कर सकता था। पांच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर बड़ी धूमधाम और समारोह के साथ उस राजा और रानी को राज्य की सीमा पर स्थित उस वन प्रदेश में छोड़ दिया जाता था, जहां हिंसक वन्य पशु उनकी जीवन लीला समाप्त कर देते थे।

ऐसी विचित्र प्रथा के चलते एक बार एक राजा को जब उस राज्य का सिंहासन मिला तो जनता ने शानदार उत्सव मनाया और उसकी जय-जयकार के नारे लगाए। किन्तु राजा जब अपने महल की छत से सीमावर्ती वन प्रदेश को निहारता तो उसका मन बुरी तरह आतंकित हो उठता और पांच वर्ष की अवधि पूरी होने पर सामने आने वाली अपनी दुर्दशा की बात सोच कर कांप उठता। वन प्रदेश को निहारना और मन ही मन सिहरते रहना, उसका


चरित्रबल से ही घूमेगा
शुभंकर परिवर्तन का चक्र
39

प्रतिदिन का क्रम बन गया। इस भीषण चिंता के असर से राजा का खाया-पिया सब जलकर भस्म हो जाता और वह सूख-सूख कर कांटा होने लगा।

एक दिन राजा उदास मन अपने सिंहासन पर बैठा कुछ सोच रहा था, तभी प्रहरी ने सूचना दी कि एक वृद्ध दार्शनिक उनसे भेंट करना चाहता है। राजा ने उसे तत्काल बुला भेजा। दार्शनिक ने आते ही एक नजर में राजा को देखा और वह व्यग्र हो उठा कि यह राजा तन और मन दोनों से इतना व्यथित क्यों दिखाई दे रहा है? उसने निवेदन किया-'राजन्! आप इतने आतंकित और व्यथित क्यों दिखाई दे रहे हैं? कृपया कारण बताएं तो शायद मैं कोई उपाय सुझा सकूं।' अंधा मांगे दो आंख और उसको क्या चाहिए? राजा ने दार्शनिक को अपनी पीड़ा का कारण विस्तार से बताया और उसका समाधान पूछा। दार्शनिक ने कुछ देर विचार किया और प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा-'राजन्! आपकी चिन्ता उचित नहीं। पांच वर्ष तक तो निस्संदेह रूप से आप राज्य करेंगे ही-फिर ऐसी पीड़ा क्यों? पांच वर्ष का समय तो बहुत होता है-इतनी बड़ी अवधि में तो यदि अपना चरित्रबल जगाया जाए तो बहुत कुछ किया जा सकता है। पांच वर्ष तक चिन्ता, निराशा और पीड़ा में ग्रस्त रहकर अवधि बिताने की बजाय अपने व्यक्तित्व को संवार कर तथा चरित्रनिष्ठा को जगा कर आप रचनात्मक कार्य क्यों नहीं करते हैं?'

राजा ने यह सब सुना तो एक ही बार में उसके मन-मानस में जोश भर उठा और कुछ उल्लेखनीय करने की इच्छा जाग उठी। उसने दार्शनिक से पूछा-'आपके कथन से मैं उत्साहित हुआ, अब बतावें कि मुझे क्या करना चाहिए?' दार्शनिक ने स्फूर्ति जगाते हुए उत्तर दिया-'राजन्! पांच वर्ष तक तो आपका अखंड राज्य रहेगा और जैसा आप चाहें, कर सकते हैं। मेरा सुझाव है कि आप अपने इस राज्याधिकार का सदुपयोग करें और अपने राज्य को स्थाई बनालें।' राजा ने कहा-'यही तो मैं चाहता हूँ, परन्तु प्रश्न यह है कि मैं करूं क्या?' दार्शनिक ने राजा को आश्वस्त करते हुए बताया-'आपके हृदय में जब कुछ भी करने का उत्साह और वीर भाव जाग उठा है तो आपको सफलता भी अवश्य प्राप्त होगी। चरित्रनिष्ठा जाग जाने के बाद अप्राप्य कुछ भी नहीं रहता। आपको अपना नया साम्राज्य बनाने का उपक्रम करना होगा। आप कम से कम समय में सीमांवर्ती पूरे वन प्रदेश के पेड़ों को कटवा कर साफ करवा दें सो हिंसक वन्य पशु वहां से भाग खड़े होंगे। फिर वहां नई-नई बस्तियां बसाइए, अपना नया राजमहल भी बनाइए और इस प्रकार पूरे वन प्रदेश को आबाद कर दीजिए। फिर निश्चिंत हो जाइए।' राजा ने कहा-'यह सब मैं कर भी लूंगा तब भी प्रचलित प्रथा का पालन तो किया ही जाएगा, फिर क्या होगा?' दार्शनिक ने समझाया-'प्रथा के अनुसार जब आपको वन प्रदेश में छोड़ा जाएगा, तब वहां न वन होगा, न हिंसक वन्य पशु, फिर आपको भय कैसा? वहां तो जो आप नई बस्तियां बसाएंगे, वहां के नागरिक उस समय आपका भव्य स्वागत करेंगे और आपको अपना भरपूर समर्थन देंगे। अभी का और नया राज्य मिला कर भला आपका नया साम्राज्य नहीं खड़ा हो जाएगा और क्या आप सम्राट नहीं बन जाएंगे। आप तो बस अपने चरित्रबल को जगाइए और सब कुछ आसान हो जाएगा।' राजा को उपाय जंच गया और दूसरे ही दिन से उसने दार्शनिक के सुझाव के अनुसार कार्य शुरू करवा दिया। तत्काल आदेश से सारा वन प्रदेश साफ करवा दिया गया और फिर वहां कई बस्तियाँ बसाई गई जिनके मध्य में एक सुन्दर नगर का निर्माण

कराया गया। नई बसाहट की साज-सज्जा दर्शनीय बन गई। तब राजा भी बहुत प्रसन्न रहने लगा- उसका मन स्वस्थ हुआ तो तन ने भी स्वास्थ्य पकड़ा और सबसे ऊपर उसका चरित्र बल जाग उठा कि वह कुछ भी करने को तत्पर था पूरी शूरवीरता के साथ। वह पूरे वन प्रदेश और सुन्दर नगर-बस्तियों को निहारता तो उसका चित्त पुलकित हो उठता।

पांच वर्ष की अवधि पूरी हुई तो एक नया ही वातावरण सामने आया। जहां पहले उत्सव के धूमधाम में भी राजा-रानी रोते बिलखते हुए राजधानी से विदा लेते थे, क्योंकि वहां मौत से मिलने के लिए जाना होता था। लेकिन इस बार बात एकदम पलट गई थी। अवधि समाप्त होने पर राजा-रानी जब अपने ही द्वारा निर्मित नए साम्राज्य में पहुंचे तो वहां बसी जनता ने उनका भाव-भीना स्वागत किया। तब पुराने राज्य की जनता भी वहां पहुंची और राजा से निवेदन किया कि वह उन्हें अब भी अपना राजा मानती है सो वहां का शासन भी वे ही सम्भाले रहें।

सच यह है कि यदि कठिनतम परिस्थितियों में भी मनुष्य का चरित्र बल जाग उठे तो वह उनका सामना करते हुए ऐसी नई परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है, जिनके बीच न केवल उसका वर्तमान और भविष्य दोनों संवर सकते हैं, बल्कि वह अपने चरित्र बल के विस्तृत होते प्रभाव से समाज, राष्ट्र और विश्व तक को चरित्र निर्माण की दिशा में मोड़ सकता है। अभी-अभी पिछली शताब्दी के पूर्वार्ध में ही भारतवासियों ने देखा है कि किस प्रकार अकेले एक गांधी ने अपने चरित्र बल से सभी देशवासियों को एक व्यक्ति के रूप में खड़ा कर सशक्त बना दिया कि अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा और उसे स्वाधीनता देनी पड़ी। चरित्र बल का प्रभाव अपार और असीम होता है।

कैसे जागेगा चरित्र बल और कैसा होता है शुभंकर परिवर्तन? :

चरित्र बल जागता है चरित्र के निर्माण और विकास से। पहले चरित्रनिष्ठा निर्मित होती है और इस निष्ठा से अन्तर में जिस बल की प्रतीति होती है उसे ही चरित्र बल कहा जाता है। अशुभताओं को मिटाने तथा शुभताओं को संवारने का कार्य सरल नहीं होता है। चाहे व्यक्ति को यह कार्य करना हो अपने स्वयं के चरित्र का निर्माण करने के लिए अथवा समूहों के द्वारा स्थापित विभिन्न व्यवस्थाओं में चारित्रिक गुणों का संचार करने के लिए-यह सब एक विशिष्ट बल के प्रयोग से ही संभव हो सकता है तथा इसी विशिष्ट बल का नाम है चरित्र बल। चरित्र द्वारा प्राप्त बल असाधारण होता है तथा इस बल को विश्व की कोई भी शक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती है।

चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को इस सत्य को भलीभांति हृदयंगम कर लेना चाहिए। चरित्र निर्माण एवं विकास का मूल उद्देश्य ही यह है कि उससे चरित्र के प्रति निष्ठा और उससे उपजा बल प्राप्त हो। यह बल ही सब कुछ करने में समर्थ होता है। इस चरित्र बल से ही प्रत्येक युग में घूमता है शुभंकर परिवर्तन का चक्र और इस युग में भी चरित्र बल ही घुमा सकेगा शुभंकर परिवर्तन का चक्र, जिसकी आज महती आवश्यकता है।

'शुभंकर' शब्द से ही स्पष्ट है कि कोई भी या कैसा भी परिवर्तन नहीं चाहिए, वही परिवर्तन चाहिए जो शुभंकर हो अर्थात् सबका सभी प्रकार से शुभ करने वाला हो। शुभ में सत्य, अहिंसा,

समन्वय, सहयोग, संवेदना, सौहार्द्र, समृद्धि, सुख, शांति आदि सब कुछ हितावह सम्मिलित होता है। शुभ के लिए ही तो चरित्र की आवश्यकता है, फिर वह चाहे स्वयं के शुभ के लिए हो या समूह, समाज, राष्ट्र और विश्व के शुभ के लिए हो। अहिंसक जीवन प्रणाली को इसी शुभ का कारक माना जाता है तो अहिंसा की पीठ पर सत्य का वरण अनिवार्य हो जाता है। सच्चा साधक जानता है कि सत्य अनन्त है, किन्तु जन साधारण के लिए उसका सत्य उसके आग्रह में निहित होता है और सत्याग्रह का यही रहस्य है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह से ही प्राप्त होती है। सत्य न हो तो अहिंसा को भी क्रियाशील नहीं किया जा सकता है। कर्म का उद्‌गम सत्याग्रह से ही होता है तथा उसी से गति और वेग मिलता है। अहिंसा के योग से जो होता है, वह यह कि उस कर्म से बंधन पैदा नहीं होता और उस गति से स्थिति में भंग नहीं आता। परन्तु यह स्पष्ट रहना चाहिए कि अहिंसा जीवन की अस्थिरता को दूर करती है और सत्याग्रह जीवन में क्षमता का विकास करता है। वह मानो, सिक्के का सामने का पहलू है जिसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है। अहिंसा मानो, सत्य की पीठ है, जिस पर सत्य को सदा सक्षम बने रहना चाहिए।

सत्य के साथ जो आग्रह का संयोग है, वह सत्य के लिए संघर्ष का संकेत देता है और यह सही है। सत्याग्रह ही कर्म युद्ध को धर्म युद्ध का रूप देता है, क्योंकि धर्म युद्ध में धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्राथमिक बन जाती है और बाकी सब दूसरे नम्बर पर। तो कहने का अभिप्राय यह है कि परिवर्तन लाने के लिए सदा धर्म युद्ध करना पड़ता है। यही कारण है कि परिवर्तन आसान नहीं होता। एक व्यवस्था के अन्तर्गत उसके विकृत हो जाने के बावजूद भी जन-मन में एक स्थगन ही जड़ता पैदा हो जाती है। यही जड़ता उसे किसी भी परिवर्तन से भयभीत बनाती है चाहे वह परिवर्तन कितना ही शुभंकर क्यों न हो? इसके लिए अभियान के सहभागियों के मन-मानस में एक उत्साह जागृत रहना चाहिए जो जन-जन के स्थगन-भ्रम को दूर करते हुए उन्हें परिवर्तन के सत्य से परिचित बना सके। शुभंकर परिवर्तन के लिए होने वाले ऐसे धर्म युद्धों से ही संस्कारिता की धारणा मुखर होती है और संस्कृति सम्पन्न बनती है। चरित्र निर्माण अभियान में भी सत्य का आग्रह रहता है और जड़ता मिटाने का धर्म युद्ध भी होता है।

वस्तुत: चरित्र निर्माण अभियान एक धर्म युद्ध है, जहां सत्, शुभ और शुद्ध को असत्, अशुभ एवं अशुद्ध के साथ संघर्ष करना पड़ता है। इसे जीतता है चरित्रशील व्यक्ति अपने चरित्र को विकसित बनाकर। उसकी जीवनशैली होती है अहिंसा पर आधारित, तो लक्ष्य होता है सत्य के साथ साक्षात्कार का। सत्य धर्म है और अहिंसा है उस धर्म को प्राप्त करने की साधिका और ये ही हैं चरित्र निर्माण के मूलाधार भी तथा ज्योतिर्स्तंभ भी। चरित्र बल पथ निर्माण भी करता है तो पथदर्शन भी ताकि चरित्रशील अपने साध्य को निश्चित रूप से प्राप्त कर ही ले।

धर्म को भेदभाव विहीन अखंड मानें और उसे जीवन से जोड़ें :

चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को एक और सैद्धान्तिक बात भी भली भांति समझ लेनी चाहिए। कुछ समय से कई बुद्धिजीवियों द्वारा यह पूछा जाता रहा है कि 'जैन' हिन्दुत्व के अन्तर्गत है या नहीं? हालांकि यह विषय विवादास्पद बनता जा रहा है या बनाया जा रहा है। मूल बात यह है कि

'जैन' शब्द 'जन' व 'जिन' शब्द से बना है। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया वे 'जिन' कहलाते हैं और जो 'जन' राग-द्वेष को जीतने की प्रक्रिया अपनाते हैं वे 'जैन' हैं। इस पारिभाषिक शब्दावली के अन्तर्गत जैन कोई जाति नहीं है, वरन् एक विशुद्ध आत्मसाधनापरक दृष्टिकोण है। भगवान् महावीर से पूछा गया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कौन? उन्होंने कहा-कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है (**कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ: वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा**)। महावीर का दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार रहा है, वे जाति से किसी से कुछ नहीं कहते। ये जातीयता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि व्यक्ति को संकीर्ण बनाती है, जबकि गुण व कर्म के आधार पर व्यक्ति विस्तीर्ण बनता है। यही स्वस्थ एवं स्वच्छ दृष्टिकोण आज बने तो जैनत्व व हिन्दुत्व की समस्या नहीं रह सकती। उपासना-पद्धति की दृष्टि से भले ही जैनों को अलग माना जा सकता है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से जैन वर्ग हिन्दुत्व से भिन्न नहीं है। वे हिन्दुत्व के अटूट अंग हैं और अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक के मुद्दे पर उन्हें हिन्दुओं से अलग रख कर हिन्दू समाज को कमजोर नहीं करना चाहिए। कुछ कटुता तथा कट्टरता से भरे हिन्दू लोग भी अपने अहं और आग्रह के कारण वैचारिक संकीर्णता के शिकार होते जा रहे हैं, जिसके कई कारण हो सकते हैं, पर यथार्थ में देखा जाए तो आधुनिक भारतीय संस्कृति के निर्माण में जैन, बौद्ध, सिख, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी धर्मों का योग रहता है, इसलिए हिन्दू धर्म का अर्थ अगर हिन्दुस्तान में पलने वाला अथवा चलने वाला धर्म किया जाए तो ज्यादा श्रेष्ठता व आत्मीयता मिलेगी। मूलत: हिन्दू शब्द सिंधु का अपभ्रंश है, सिंधु नदी के तट पर बसने वाले ही है, सिंधु नदी के एक तट पर बसने वाले ही आगे चल कर हिन्दू कहलाने लगे और वे ही हिन्दू धर्म से अभिसंज्ञित हो गए। यह नहीं कहा जा सकता है कि जिन धर्मों का उद्‌गम स्थान भारत भूमि नहीं, वे भारतीय धर्म नहीं है। बौद्ध धर्म उद्‌गम की दृष्टि से विशुद्ध भारतीय धर्म है, पर उसने विकास पाया चीन और जापान में। अत: वह चीनी धर्म या जापानी धर्म कहलाने लग गया। वैसे ही उद्‌गम और विकास इन दोनों दृष्टियों से देखते हैं तो हिन्दुस्तान में प्रचार-प्रसार पाने वाले सारे धर्म हिन्दुस्तानी धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर केवल एक धर्म को ही हिन्दू धर्म कैसे कहा जा सकता है? यह एक विचारणीय बात है।

वस्तुत: धर्म नहीं, आज धर्मान्धता ही व्यक्ति को बांटती चली जा रही है। धर्म का स्थान पहला होना चाहिए-उसके कोई भेद-विभेद नहीं हो सकते। धर्म एक एवं अखंड है। सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं, पर उनमें भी 'मैं ही सच्चा और मैं ही अच्छा' वाली दृष्टि नहीं होनी चाहिए। जिन व्यक्तियों की ऐसी दृष्टि बन जाती है, वे साम्प्रदायिक उन्माद पैदा कर आपस में घृणा, वैर, विद्वेष पैदा कर देते हैं। ये ही विषाणु मानव समाज को विषाक्त बना रहे हैं। कुछ राजनीतिक स्वार्थी तत्त्व भी आपसी सौहार्द्रता और सौमनस्यता को तोड़ने में लगे हुए हैं और इसमें विदेशी शक्तियां भी शायद प्रच्छन्न रूप से अपना काम कर रही है, ऐसा लगता है। अस्तु, अभी चर्चा का विषय यह है कि धर्म वही है जो शुद्ध रूप से मानव धर्म है और ऐसा धर्म मानव-मानव के बीच किसी भी प्रकार के भेदभाव को अस्वीकार करता है। सम्प्रदायें खंडित होती है, सच्चा धम कभी खंडित नहीं होता। अत: अभियान की दृष्टि से मानव धर्म को प्रत्येक व्यक्ति सीधे रूप में अपने जीवन से जोडें और उसकी शिक्षाओं को ग्रहण करें। यथार्थ में मानव धर्म कहीं शुद्ध एवं शुभ चरित्र का निर्माता होता है। धर्म द्वारा निर्देशित

सद्गुणों को अपनावें तथा मानवीय कर्त्तव्यों का पालन करें तो समझें कि हो गया चरित्र निर्माण।

अभियान के सहभागियों के लिए चरित्र निर्माण विचार व आचार संहिता हो सकती है :

यहां चरित्र निर्माण से संबंधित विचार व आचार के कुछ बिन्दु इस उद्देश्य से दिए जा रहे हैं जो अभियान के सहभागियों को सतत् सावधान रखने की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं। दूसरे नाम से इन बिन्दुओं को विचार व आचार की संहिता कह दें तो अनुपयुक्त नहीं होगा। ये बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. मनुष्यता को केन्द्र में स्थापित करो : इस बुनियादी हकीकत को हर वक्त याद रखना होगा कि जो भी सोचा जाता है, किया जाता है या योजना-प्रायोजना बनाई जाती है वह सब मानव समाज के लिए होती है। फिर भी विचार विमर्श में मानवीय चेहरा भुला दिया जाता है जैसे कि आज के विकास की कोरी भौतिक धारणा है-यह एकदम गलत है। प्रत्येक विचार, धारणा, कार्यक्रम या अभियान में सदा मनुष्यता को केन्द्र में स्थापित करके ही निर्णय लो। मनुष्य विश्व का केन्द्र है, बुद्धि, भावना एवं पौरुष का धनी है तथा आत्मा व परमात्मा का सच्चा प्रतिनिधि है। मनुष्य तो केन्द्र में रहता है किन्तु मनुष्यता नहीं और उसी कारण सारा शोषण, दमन, उत्पीड़न होता है। अत: मनुष्यता सदा केन्द्र में रहे और उसके इर्द-गिर्द ही रचनात्मकता का संसार घूमे।

2. प्रकृति के साथ समन्वय करो : प्रकृति और पुरुष का सहयोग समाज में सुख-शांति बनाता है। पुरुष ने सबसे पहले प्रकृति को माता माना, उसकी साल सम्भाल की तो पुरुष भी समृद्धिशाली बना तथा स्वस्थ बना रहा। फिर उसका अहं जागा और वह प्रकृति पर विजय पाने का प्रयास करने लगा। तब वह प्रकृति को छिन्न-भिन्न व क्षत-विक्षत करने लगा। घने जंगल लोभवश काटे जाने लगे। औद्योगिक धुएं ने धरती की ओजोन परत को ही हानि पहुंचानी शुरू कर दी। प्रकृति को भोग्या अभिमानी और लोभी पुरुष ने। पर्यावरण प्रदूषित हुआ और हो रहा है-प्राकृतिक सुव्यवस्था टूट रही है। अत: प्रकृति की रक्षा और सेवा, पहला कर्त्तव्य माना जाना चाहिए ताकि मनुष्य के हीं जीवन का नहीं, स्थूल-सूक्ष्म सभी जीवों का भी संरक्षण हो सके।

3. संसार को बदलने से पहले स्वयं को बदलो : सभी धर्म, सभी नीतियाँ, सभी विचारधाराएं आज दु:ख तप्त संसार को बदलने की बात कहती हैं किन्तु वह बात तभी सार्थक हो सकती है जब पहले व्यक्ति ही स्वयं को बदल डाले-चरित्र निर्माण तथा विकास के माध्यम से अपने को इस योग्य बना ले कि वह संसार की अशुभता को दूर करने का बीड़ा उठा सके।

4. संसार से प्रेम करो, सांसारिकता की उपेक्षा : संसार और सांसारिकता के भेद को समझना चाहिए। संसार तो वह पुण्य क्षेत्र है जहां भव्य और दिव्य महापुरुषों ने जन्म लिया तथा अपने आदर्शों का उदाहरण प्रस्तुत करके सबको उसी राह पर चलने की प्रेरणा दी। ऐसी पुण्य भूमि से घृणा या उपेक्षा भी कैसे की जा सकती है? इस भूमि से तो प्रेम होना चाहिए और इसके निवासी प्रत्येक प्राणी, भूत, सत्त्व और जीव के साथ अनुराग। जो उपेक्षा की वृत्ति है अथवा त्याज्य है वह है सांसारिकता अर्थात् राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुणों से भरी हुई जीवन पद्धति। सांसारिकता से

विरक्त होना जीवन को वास्तव में महापुरुषों के आदर्शों पर चलना ही कहा जाएगा।

5. अपनी मूल परम्पराओं को जानो और परखो : मूल परम्पराओं का दीर्घ समय से चला आ रहा प्रचलन दिखाता है कि प्रारंभ में उनकी गुणवत्ता अपूर्व रही होगी। कालान्तर में ही उनमें विकृतियों ने प्रवेश पा लिया होगा अत: मूल परम्पराओं को भूलें नहीं, उन्हें जानें और परखें इस दृष्टि से कि उनके विकृत अंशों को अलग कर दिया जाए। ये परम्पराएं कर्म शोधन एवं सत्संस्कारों की परम्पराएं रही हैं और इनसे सदा सद्गुणों का विकास होता रहा है। इनमें जोड़ने वाली कड़ियां ही लगी हुई थी जिन्हें निहित स्वार्थियों ने विभाजक दीवारों का रूप दे दिया। दीवारें तोड़नी हैं और कड़ियों को फिर से नई बनानी है।

6. जिज्ञासाओं के संदर्भ में दर्शन को देखो : दर्शन का अर्थ होता है देखना। देखना समीप का होता है, दूर का होता है और अति दूर का भी, सो इसी शक्ति-भेद से दृष्टि एवं दार्शनिकता के रूप ढले। देखने का सीधा परिणाम ज्ञात नहीं होता क्योंकि दर्शन धुंधला भी हो सकता है सो दर्शन से पैदा होती है जिज्ञासा तथा जिज्ञासा समाधान पाकर ज्ञान को जन्म देती है। सत्य शोधन ज्ञान का उच्चस्थ फल है। आशय यह है कि अपनी दृष्टि, जिज्ञासा एवं सत्य शोधक वृत्ति को जीवन्त रखें।

7. कट्टरता से दूर मानव धर्म को मानो : जिस धर्म के दरवाजे प्रत्येक मानव के लिए खुले हों और जहां सबका सप्रेम एवं ससम्मान प्रवेश संभव हो-वही होता है मानव धर्म। मानव धर्म में कट्टरता कदापि नहीं होती। वहां तो सदा उदारता, सहिष्णुता एवं सहयोगिता की प्रेम धाराएं बहती रहती हैं। कट्टरता वहीं फैलती है जहां यह समझ बन जाती है कि मेरा ही धर्म सच्चा और अच्छा है-बाकी सब झूठे और खराब हैं। वह असल में धर्म नहीं रहता, मात्र सम्प्रदाय रह जाती है। अत: साम्प्रदायिकता के स्थान पर सदा ही मनुष्य जाति की एकता का समर्थन करो।

8. धर्म को विज्ञान की पांत में बिठाओ : धर्म का संबंध हृदय से अधिक और विज्ञान का संबंध मस्तिष्क से अधिक होता है किन्तु शरीर को हृदय और मस्तिष्क दोनों की आवश्यकता होती है। धर्म भावना में ही न बह जाय और अंध श्रद्धा का मार्ग न पकड़ ले-इसके लिए वैज्ञानिक वैचारिकता चाहिए और विज्ञान सिर्फ भौतिकता में भटक कर मानवता विरोधी बन रहा है-उसके लिए धर्म का नियंत्रण चाहिए। इसका एक ही उपाय है कि दोनों को विलग न करके एक दूसरे का पूरक बनाओ।

9. मानव चरित्र को मानवीयता में ढालो : मानव जीवन में चरित्र का अमित महत्त्व है और यदि उसके चरित्र का सम्यक् रूप से निर्माण एवं विकास होता है तो उससे मानवीय मूल्यों में निखार आता है। ऐसे चरित्र के आधार पर ही मानव जाति की एकता एवं विश्व बन्धुत्व में निष्ठा जागती है। चरित्र निर्माण अभियान की दृष्टि से तो मानव जीवन का और समस्त विश्व की व्यवस्था का सर्वाधिक उपादेय कोई तत्त्व है तो वह है चरित्र बल। चरित्र सम्पन्न बन कर मानव महामानव बन जाता है।

10. विश्व की वर्तमान विकृतियों को पहचानो : वर्तमान विश्व में विकृतियों, विषमताओं एवं विसंगतियों की जो विडम्बना छाई हुई है उससे निस्तार तभी पाया जा सकेगा जब यह अध्ययन

किया जाएगा कि इनके फैलने के कारण क्या हैं तथा इन्हें दूर करने के उपाय क्या हैं? यह भी जानना होगा कि व्यक्ति इनके जाल में क्यों फंस जाता है और किस प्रकार अपने जीवन को भी विकृत, विषम एवं विसंगत बना लेता है? इनसे संबंधित कुछ समस्याओं का आगे उल्लेख किया जाएगा किन्तु समुच्चय में इनका आकलन किए बिना विश्व के विभिन्न क्षेत्रों तथा विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के जीवन में चरित्र निर्माण की संभावनाओं की ठीक से जानकारी नहीं की जा सकेगी।

11. मनुष्य की धन लिप्सा पर सांघातिक चोट करो : आज की सारी बुराइयों के जड़ में जावें तो एक बुराई जो वृहदाकार में दिखाई दे रही है, वह है मनुष्य की धन लिप्सा। धन सबको चाहिए इसमें कोई विवाद नहीं, बल्कि इस सुव्यवस्था की नितान्त आवश्यकता है कि सभी मनुष्यों की मूल आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति होती रहे। पेट पूर्ति तो जरूरी है। किन्तु जो अव्यवस्था है वह है पेटी-पूर्ति की और इस तृष्णा का कोई अन्त नहीं। यह धन लिप्सा ही दैन्य, शोषण, उत्पीड़न आदि को चरम तक ले जाने वाली बुराई है और इस पर अब सांघातिक चोट जरूरी हो गई हैं। इसका उपाय यही है कि धन को सब ओर बहता हुआ द्रव्य बनाओ जैसे कि शरीर में सब ओर खून का संचरण चलता रहता है। शरीर स्वास्थ्य के समान सामाजिक स्वास्थ्य भी वैसे ही बनेगा।

12. चिन्तन-स्वाध्याय की परिपाटी को नियमित बनाओ : आज की अधिकांश समस्याएं इसी कारण है कि कोई भी कार्य शुरू करने से पहले उसके गुण-दोषों पर गहरा विचार नहीं किया जाता। व्यक्ति स्वयं यह नहीं सोचता कि दिन भर में उसे क्या करना है? यदि किसी भी प्रश्न पर पहले ही गंभीरता पूर्वक चिन्तन कर लिया जाए तो काम का उसी रूप में निर्णय हो सकेगा कि उसको करते समय कोई समस्या पैदा ही न हो। चिन्तन और स्वाध्याय दोनों ऐसी प्रणालियां हैं जिनके प्रभाव से व्यक्ति एवं समूह के जीवन को सुव्यवस्थित एवं उन्नतिशील बनाया जा सकता है।

13. मन को समझो और उसे घोड़े की तरह चलाओ : बंधन का कारण भी मन ही होता है और मन ही मुक्ति भी दिलाता है। **'मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।'** अभिप्राय यह कि मन इन्द्रिय सुख व स्वार्थ में लिप्त हो जाए तो बंधन ही बंधन है और मन यदि इन्द्रियों पर नियंत्रण कर ले तथा आत्मा की आवाज के अनुसार चले तो मुक्ति दूर नहीं रहती। प्रश्न यही है कि मन को आत्म-नियंत्रण में कैसे लें? मन को घोड़े की तरह चलाओ मगर उसे बेलगाम न रखो। वह खूब तेजी से दौड़े पर वह दौड़े मुक्ति के पथ पर। मन पर लगाम लगाने का काम अभ्यास से ही सफल बनाया जा सकता है और चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को इस तरफ खास ध्यान देना चाहिए। विकसित मनोबल के बिना संघर्ष में टिका नहीं जा सकता और अभियान के पग-पग पर मनोबल के प्रयोग की अपेक्षा रहती है।

14. 'मैं' को हमेशा 'हम' में बदलते रहो : 'मैं' को 'मैं पन' में फंसाए रखा तो वह अहंकार होगा तथा सारी विषमताओं का मूल कारण यह अहंकार ही होता है। अहंकार को घटाएं-मिटाए बिना कोई गति नहीं। इसका एक ही उपाय है कि 'मैं' को सदा और सर्वत्र 'हम' में बदलते रहो। यह विश्व क्या है, ब्रह्मांड क्या है? 'स्व' और 'पर' मिलाकर ही तो 'सर्व' बनता है। 'स्व' अकेला हो सकता है और समाज में अकेला 'स्व' एक कदम भी नहीं चल सकता है-सर्वत्र 'पर' के सहयोग की

अनिवार्यता रहती है-यही अन्योन्याश्रितता या परस्परता है। अत: 'स्व' को जितना अधिक 'पर' से जोड़ा जाएगा उतना ही व्यवस्था का तालमेल अच्छा बैठेगा तथा बढ़ता हुआ भाईचारा समाज-समता तथा विश्व-कुटुम्बकम् की दिशा में अग्रसर बनाएगा।

15. व्यवस्थाओं के सड़ेपन को बारीकी से देखो : चरित्र निर्माण का सीधा सादा अर्थ है कि चरित्रहीनता मिटे, अशुभता दूर हो और ये बुराइयाँ नीचे से ऊपर तक की सभी व्यवस्थाओं में इतनी गहराई तक फैल चुकी है कि जब तक इन व्यवस्थाओं के सड़ेपन का बारीकी से अध्ययन नहीं किया जाएगा तब तक चरित्र निर्माण का एक पग भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकेगा। सड़ेपन को समझने के साथ ही यह भी आकलन करना होगा कि जन साधारण में इस विकृति के विरुद्ध कितना आन्दोलनात्मक भाव है, क्योंकि इसके आधार पर चरित्र निर्माण अभियान को अधिक सशक्त बनाया जा सकेगा। जन समर्थन का सम्बल सबसे बड़ी बात है।

16. सामाजिक न्याय के लिए लड़ो, मानवीय मूल्यों को उठाओ : चरित्र पतन का प्रधान कारण होता है सामाजिक अन्याय और सामाजिक अन्याय से क्षरित होते हैं मानवीय मूल्य। मानवीय मूल्यों के अभाव में नैतिकता खत्म होती है और स्वार्थ मनुष्य राक्षसी रूप अपना लेता है। अत: अन्याय कहीं भी सहन नहीं किया जाना चाहिए। कहा गया है कि अन्याय करने वाले से भी उसका अधिक दोष और अपराध उस पर है जो अन्याय को चुपचाप सहता है अथवा सहते हुए लोगों को चुपचाप देखता है। यों चरित्र दोष जिम्मेदारी कई वर्गों पर रहती है। अन्याय से पग-पग पर कठिन संघर्ष किया जाए तथा उसके अस्तित्व को निर्मूल बनाया जाए। इसके लिए दुतरफी कोशिश होनी चाहिए। एक ओर तो विचार क्रांति फैलाई जाए ताकि अन्याय सहने वाले जागें और उसका प्रतिरोध करें। दूसरी ओर समाज में ऐसा व्यवहार पनपाया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति सदा दूसरों के लिए पहले विवेकवान् रहे। धर्म के क्षेत्रों में भी ऐसी ही जागृति फूटनी चाहिए। तब कहीं जाकर चरित्र निर्माण के अनुकूल वायुमंडल की रचना हो सकेगी तथा मानवीय मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा संभव बनेगी।

17. मन, वचन, कर्म को जोडो, अहिंसक जीवनशैली बनाओ : सज्जनता और दुर्जनता का प्रधान भेद यही है कि मन, वचन, कर्म की एकता वाला सज्जन और भिन्नता वाला दुर्जन। वह व्यक्ति जो जैसा सोचता है, वैसा ही बोलता है तथा जैसा सोचता व बोलता है, वैसा ही करता है, सज्जन इसलिए कहा गया है कि वह निश्छल, सरल और सौम्य होता है और सबका सहायक बनता है जबकि दुर्जन की तीनों वृत्तियां भिन्न-भिन्न होती हैं जिनके प्रयोग से वह सब जगह कपटाचार फैलाता है। मायावी किसी का भी सगा नहीं होता। चरित्र निर्माण की पहली शर्त है कि मन, वचन, कर्म में समरूपता हो। इस समरूपता के अनुसार जब सम्पूर्ण जीवनशैली अहिंसा पर आधारित की जाएगी तो व्यक्ति से लेकर विश्व तक में समता की लहरें तरंगित होने लगेगी।

18. लक्ष्य बनाओ कि एक भी आंख में आंसू न रहे : चरित्र निर्माण साध्य भी है तो साधन भी। साधन इस दृष्टि से कि व्यक्तियों तथा व्यवस्थाओं का चरित्र उस स्तर तक पहुंचे जहां से स्नेह, संवेदना एवं सहकारिता की धारा बहे और दलित, शोषित तथा पिछड़े वर्ग भी अन्याय मुक्त होकर खुशहाल बन जाए। अत: चरित्र निर्माण की प्रक्रिया के साथ यह लक्ष्य भी निर्धारित किया जाए कि

एक भी आंख में आंसू न रहे।

19. समता को आरंभ और अन्त की कड़ी बनाओ : समता को ही धर्म कहा गया है जो समभाव, साम्ययोग, समानता आदि से लक्षित है। चरित्र निर्माण अभियान में समता के साथ कर्मठता का आरंभ हो तो अन्ततः समता स्थापना के साथ उसका समापन भी। समता मानव मन की मूल भावना होती है और समता स्थापना के लिए सर्व सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। जन समुदाय में नव चेतना समतापूर्ण व्यवहार से ही लाई जा सकती है। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में आरंभ से अन्त तक समता का संचार बना रहना चाहिए तथा बीच में जो भी समस्याएं पैदा हो, उनके समाधान भी समभाव एवं समतुलन के साथ खोजे जाने चाहिए। ज्यों-ज्यों समतामय आचरण विकसित एवं प्रसारित होगा, त्यों-त्यों सहयोगात्मक वृत्ति एवं प्रवृत्ति घनिष्ठ होती जाएगी अर्थात् एक सबके लिए जो सब एक के लिए बनते जाएंगे। समता और संयुक्तता से चरित्र विकास सबका उद्देश्य बन जाएगा।

20. व्यष्टि-समष्टि के संबंधों को नवीनता दो : वैज्ञानिक प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय निकटता, सामाजिक सम्पर्कों की गहनता आदि अनेक कारणों से समष्टि की शक्ति और महत्ता बढ़ी है तथा व्यष्टि के लिए समष्टि की सघनता एक अनिवार्य अंग बन गई है। व्यक्ति और समाज के बीच परस्परता की गहराई भी बढ़ी है। इसलिए व्यक्ति और समाज के प्रचलित संबंधों की आज समीक्षा एवं संबंधों की नवीनता विचारणीय है। इससे समूहों का बिखराव मिटेगा तथा एकीकरण की नई कोशिशें शुरू होगी। एक दूसरे का अशुभ नहीं, शुभ करने की वृत्ति प्रबल बनेगी। तब सहकार के विकास से एकाकार का वातावरण सृजित होगा। जहाँ व्यष्टि एवं समष्टि के बीच एकाकार की रूपरेखा बनने लगती है तो वहां चरित्र निर्माण का क्षेत्र विश्व तक बढ़ा लेने में विशेष कठिनाइयाँ मौजूद नहीं रहेगी।

21. चरित्र निर्माण के साथ नई व्यवस्था की रूपरेखा बनाओ : चरित्र निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ होने से जन-जागरण होता है और जन-जागरण के बढ़ते रहने से चरित्र निर्माण की प्रक्रिया बलवती बनेगी। ऐसे में नई व्यवस्था की रूपरेखा अवश्य बनाई जानी चाहिए जिसकी चरित्रहीन व्यवस्था के स्थान पर स्थापना की जा सके। इसके मोटे मुद्दे हो सकते हैं-(अ) साम्प्रदायिकता टूटे, मानव धर्म फैले, (ब) समाज भोगवाद से हटे, समता के साथ जुड़े, (स) शासन-प्रशासन यथार्थ रीति से लोकतांत्रिक बने, (द) आर्थिक व्यवस्था संविभाग और मर्यादाओं के अनुसार चले, (य) राजनीति का शुद्धिकरण हो तथा उसका महत्त्व बहुत नीचे के बिन्दु तक घटाया जाए-जनता की सीधी भागीदारी कायम हो, (र) निहित स्वार्थियों के मुखौटे उघाड़े जाए और उनकी प्रवृत्तियों को शुभता की ओर मोड़ी जाए, (ल) उद्योग, व्यवसाय व व्यापार में पूर्णतः नैतिकता बरतने की बाध्यता हो, (व) नागरिक स्वतंत्र बने पर स्वच्छंद नहीं, अधिकारों का प्रयोग करें पर कर्त्तव्यों का पालन भी और ऐसे ही कई मुद्दे हो सकते हैं जिनको लेकर नई व्यवस्था की रूपरेखा बनाई जा सकती है और उसके अनुसार चरित्र विकास के प्रयास किए जा सकते हैं।

22. धर्म और नीति के मैल को धोओ : मूल स्वभाव के रूप में धर्म साध्य है तो नीति उसकी साधिका। जब नीति बिगड़ती है तो उसका मैल धर्म पर चढ़ता ही है। धर्म पर मैल जमने का मतलब

है-गुणवत्ता का क्षरण, व्यक्ति-पूजा का फैलाव, आन्तरिकता का अभाव, पाखंड, आडम्बर और ढोंग का चलन। यह मैल ऐसा है कि व्यक्ति और व्यवस्था में चरित्रहीनता फैलती है। चरित्रहीनता का निश्चित परिणाम होता है-अध: पतन और सर्वनाश, जैसा कि आज सब ओर दिखाई दे रहा है। इस दशा में चरित्र निर्माण ही ऐसी रामबाण औषधि है, जो सब ओर स्वास्थ्य का संचार कर सकती है। चरित्र निर्माण से नैतिकता जागेगी और नीति शुद्ध बनेगी। नीतिशुद्धता के साथ धार्मिकता का उन्नयन अवश्यंभावी है। धर्म के सुप्रभाव को सर्व व्यापक बनाने के लिए धर्म और नीति की निर्मलता आवश्यक है और यह निर्मलता चरित्र निर्माण एवं चरित्र विकास के बल पर ही उपलब्ध की जा सकती है।

23. समाज को सदा आदर्शोन्मुख रखो कि मानव सच्चा व सहज रहे : आदर्श ज्योतिर्स्तंभ के समान होता है, जो प्राप्त कर लेने के नजरिए से दुर्लभ भले हो, किन्तु जिसके प्रकाश में अपना प्रगति पथ तो स्पष्टता से देखा-भाला जा ही सकता है। भले ही आदर्श हमेशा ही बने रहें-प्राप्य न हो सकें, फिर भी समाज के सामने सदा आदर्श बने रहने चाहिए तथा उसकी गति आदर्शों के आलोक में ही चलती रहनी चाहिए। इसका सुपरिणाम यह होगा कि मानव भ्रमित नहीं होगा, विषम नहीं बन सकेगा। कारण, वे आदर्श सदा उसे प्रेरित करेंगे कि वह सच्चा रहे और सहज बने। आदर्शोन्मुखी गति में भटकाव नहीं आता और सतर्कता बनी रहती है। व्यक्ति सामाजिकता में इस तरह रच-बस जाता है कि सर्व-सहयोग की परम्परा निर्मित हो जाती है। इसी अवस्था से आगे बढ़ते हुए चरित्र सम्पन्नता की मंजिल मिलती है जहां आत्म-कल्याण तथा लोककल्याण का सुखद संगम हो जाता है।

24. अहिंसा को आचरण का मूल बनाओ, हिंसा हर जगह हटाओ : अहिंसा के बिना चरित्र का कोई टिकाव नहीं। अहिंसा के फैलाव के लिए हिंसा को हर जगह घटाना और मिटाना होगा। विश्व के सभी भागों में हिंसा को घटाने का दबाव बनाया जाना चाहिए। अपने निजी जीवन में भी उन्मादपूर्ण विलास के लिए हिंसापूर्ण प्रयोगों से तैयार सामग्री का उपयोग बंद होना चाहिए। सामान्य रूप से सम्पत्ति, सत्ता, भूमि आदि के लिए जो हिंसा होती है वह अधिकतर परिग्रह की मूर्छा से उपजती है-इस मूर्छा या तृष्णा को घटाना ही होगा। हिंसा को नकारेंगे, तभी अहिंसा को आचरण का मूल बना सकेंगे।

25. समाज को समरस करो, विश्व को परिवार बनाओ : समाज की समरसता की नींव व्यक्ति की चारित्रिक उन्नति पर जमती है। व्यक्ति का चरित्र विकास समाज में चरित्रनिष्ठा को जगाता है और सामाजिक परस्परता का विकास होता है। परस्परता जितनी प्रगाढ़ होती है, समरसता उतनी सरल होती जाती है। समाज की समरसता में जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा आदि के सारे विभेद तिरोहित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक समरसता राष्ट्रीय एकता के सूत्र को मजबूत बनाती है और समरसता की धारा अन्य राष्ट्रों तथा विश्व के पूरे प्रांगण में भी बह चलती है। विश्व को एक परिवार के ढांचे में ढालने वाली यही समरसता होती है। यह सब केवल आदर्श ही नहीं-इसके साकार होने की पूरी संभावना होती है, पर यह होगा और हो सकेगा केवल चरित्र बल के बल पर ही। चरित्र निर्माण वह कुंजी है, जिससे सभी किस्म के ताले खुल सकते हैं।

26. सहकार, सह-अस्तित्व और अनासक्ति को अपनाओ : यह क्रम इस प्रकार बनेगा कि

तृष्णा और मूर्छा भाव से छुटकारा मिले तब अनासक्ति आएगी। व्यक्ति परस्पर स्नेह संबंध में इसी कारण जुड़े हुए नहीं रह सकते हैं कि स्वार्थ उनको टकराता रहता है। इस स्वार्थ का अन्त होता है तृष्णा की समाप्ति से, अनासक्ति से। अनासक्ति अन्तरात्मा में समा जाएगी तो सह-अस्तित्व का भाव स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाएगा। जब स्वार्थ नहीं रहेगा तो साथ-साथ रहने में कौनसी अड़चन आ सकती है? सह-अस्तित्व जब अस्तित्व में आ जाएगा तो सहकार की स्नेह भावना स्वत: ही प्रकट हो जाएगी, क्रियाशील बन जाएगी। सभी स्थानों पर और सभी स्तरों पर दुर्जनता समाप्त होने लगेगी तथा सज्जनों का सुखमय साथ सब ओर दिखाई देगा। ये तीनों तत्त्व जब जीवन प्रणाली में समाते हैं तो उच्चतम स्तर पर भी पारिवारिक सद्भाव पनपने में कोई कठिनाई नहीं आती। चरित्र के उन्नत बन जाने पर यह सब कुछ सहज हो जाता है।

27. युवा पौरुष को इस विजय अभियान में लगा दो : युवा शक्ति अतुलनीय होती है, जो समस्या आती है वह होती है इसके सदुपयोग की। एक बार किसी युवक या युवती के मन में यह बैठ जाए कि अमुक उद्देश्य पूर्णतया मानवता के हित में है तो फिर उसका पौरुष उसमें पूरी तरह से कार्यरत बना रहेगा। युवा पौरुष का इससे बढ़कर क्या सदुपयोग हो सकता है कि उसका नियोजन चरित्र निर्माण से संबंधित अभियान में हो। यह तो स्व-पर कल्याण का सर्वोत्तम अवसर है। युवा शक्ति के लिए इस अभियान के परिप्रेक्ष्य में ये कार्य महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं-1. सबसे पहले और अभियान के साथ-साथ स्वयं के चरित्र का निर्माण किया जाए और उसका श्रेष्ठतम विकास हो, 2. नए मानव का निर्माण हो-यह कार्य प्राथमिकता पर रहे, 3. जन-जागरण का अलख जगाया जाए जिसकी गूंज जन-मन के हृदय को छुए, 4. कर्मण्य वृत्ति का उत्तम परिचय प्रस्तुत किया जाए कि कहीं किसी भी कठिनाई से थके नहीं, रुके नहीं और झुके नहीं, 5. मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु व्यवस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन लाने का उपक्रम किया जाए और यह तथा इससे बहुत कुछ अधिक चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में सहभागी बनने पर किया जा सकेगा और सामूहिक शक्ति को भी साथ में जोड़ा जा सकेगा।

यह गागर में सागर के समान विचार एवं आचार संहिता की रूपरेखा है जिसमें सुन्दर रंग युवा एवं समर्पित शक्ति के हाथों ही भरे जा सकते हैं। यह निश्चित है कि समर्पण की भावना के बिना किसी भी अभियान में जान नहीं फूंकी जा सकती है। सच है कि जान लगाकर ही जान फूंकी जा सकती है। जान लगाने वाले भले ही बहुत कम संख्या में सामने आते हैं, किन्तु यहां संख्या बल का कोई महत्त्व नहीं। एक चन्द्रमा सारे अंधकार को दूर कर देता है, जो काम हजारों तारे मिलकर भी नहीं कर पाते हैं। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि जब ऐसे जान लगाने वाले जान फूंकने का चारित्रिक कार्य सम्पन्न कर देते हैं तो उससे नई जान पाने वालों की संख्या कभी कम नहीं होती।

चरित्र निर्माण जीवन की कला एवं चरित्र विस्तार विश्व का एकीकरण :

मानव चरित्र का निर्माण करना और उसे निरन्तर गुण-सम्पन्नता की दिशा में आगे बढ़ाना वास्तव में जीवन की कला है और यह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस अभियान में सारा का सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति में लग जाए तब भी कोई विचार की बात नहीं। चरित्र का पुट लगने से क्षुद्र जीवन ज्यों-

ज्यों विशाल और विराट बनता जाता है और उसमें अहिंसा, दया तथा सत्य का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों सोया हुआ मनुष्यता का भाव जागृत होता जाता है। शास्त्रीय शब्दों में मनुष्यता का भाव आना ही मनुष्य होना कहा गया है। मनुष्य को अपने आप से प्रश्न करने चाहिए-'क्या तू प्रकृति से भद्र है या नहीं? तू अपने जीवन में परिवार और समाज तथा ऊपर के घटकों को महत्त्व देता है या नहीं? क्या तू आस पास के लोगों में समरसता लेकर चलता है? क्या तेरे चेहरे में एकरूपता है या अलग-अलग स्थानों तथा कार्यों के लिए अलग-अलग मुखौटे तो नहीं लगा लेता है?' इन प्रश्नों के उत्तर वह स्वयं में स्पष्ट करे और उसके आधार पर आकलन करे कि वह कितना प्रतिशत मनुष्य बन पाया है और अभी कितना प्रतिशत बनना बाकी है।

जीवन की कला के विकास का प्रमाण यह होगा कि आपकी चरित्रशीलता सर्वत्र सहयोग के लिए मन से तत्पर रहती है, आप में ऐसा सहज भाव उत्पन्न हो गया है कि जहां कहीं भी रहें, किसी भी परिस्थिति में रहें एकरूप होकर रह सकते हैं तथा आपके जीवन के हर पहलू में भद्रता, सरलता, एकरूपता एवं चरित्रात्मकता का पूर्ण रूप से समावेश हो चुका है। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य जिस सरल भाव से सुनसान जंगल में अपने दायित्व को निभाता है, उसी भाव से वह नगर की चहल-पहल में अपने दायित्व निभावे। कोई देखे या नहीं उसका उस पर कोई असर नहीं पड़ता। उसे जो दायित्व निभाना है वह हर हाल में निभाना है-उसकी यही कर्त्तव्य बुद्धि जागृत रहे।

चरित्र विकास के साथ जब जीवन की यह कला विस्तार पाती है तो निःस्वार्थ एवं निश्छल एकता का शीतल बयार सब ओर प्रवाहित हो जाता है और उस प्रवाह के सम्पर्क में जो भी आता है, वह उससे प्रभावित होकर चरित्र निर्माण में जुट जाता है। यह विस्तार पूरे विश्व तक भी हो सकता है और उस अवस्था में वह विस्तार विश्व के एकीकरण का रूप लेने लगता है। ऋग्वेद में कहा गया है-यह विश्व एक घोंसले के समान है (**यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्**) और इस एक घोंसले में सभी का शान्तिपूर्ण आवास संभव है। मनुष्य सोचे कि सारा भूमंडल मेरा देश है और यह सारा देश एक घोंसला है जिसमें हम सब पक्षी के रूप में रह रहे हैं। इस विचार के साथ फिर कौनसी भूमि बचेगी जिसको प्रत्येक मनुष्य अपनी न मानें? समस्त विश्व मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कहीं भी जावे या रहे तो सबके साथ एकरूप होकर ही रहे। यही चरित्र विकास की कसौटी होगी।

जिस मनुष्य का चरित्र विकसित हो जाता है, वह सहज भाव से पूरे विश्व को देखता है और उसे अपना परिवार मान लेता है और फिर उसी सहज भाव से सबके प्रति अपने कर्त्तव्यों का सच्चाई के साथ निर्वाह करता है। ऐसा मनुष्य दृष्टा बन जाता है-अपने आपको देखता है-अपने ही गुण दोषों को देखता है तथा उनको सुधारने का प्रयास करता है। चरित्र विकास का यही फल सामने आना चाहिए कि मनुष्य सहज भाव से अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह करे तथा इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझे। साथ ही वह अपनी चरित्रनिष्ठा को इतना व्यापक रूप दे कि उसकी कार्य क्षमता के घेरे में सम्पूर्ण विश्व का कल्याण एवं मानव जाति का ऐक्य समा जाए।

निश्चय मानें कि चरित्र बल के लिए कोई भी साध्य असंभव नहीं :

किसी भी क्षेत्र के किसी ऐसे सफल व्यक्तित्व का नाम शायद कोई नहीं ढूंढ पाएगा, जिसके पास

चरित्र बल न रहा हो और उसने जीवन की उच्चतम सफलता प्राप्त कर ली हो, क्योंकि बिना आत्म-बल अथवा मनोबल के कोई भी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती हैं तथा आत्मबल अथवा मनोबल का अंकुरण मात्र चरित्र बल की धरती पर ही संभव होता है। इसके साथ ही चरित्र बल की वह महिमा है कि जो चरित्र बली होता है, उसके लिए कोई भी साध्य असंभव नहीं होता। चरित्र बल के कोष में 'असंभव' शब्द है ही नहीं।

चरित्र बल के संदर्भ में देखें तो मनुष्यों को दो श्रेणियों में बांट सकते हैं-1. चरित्रशील पुरुष एवं 2. चरित्रहीन पुरुष। जो चरित्रशील है, वह सज्जन है और जो चरित्रहीन पुरुष है वह दुर्जन है। सत् और दूर् उनके स्वभाव का परिचय देते हैं। सज्जन के स्वभाव में न्याय होता है, नीति होती है और सदाचार होता ह तथा इसके विपरीत दुर्जन के स्वभाव में पापाचार होता है, पाखंड होता है। इन दो प्रकार-चरित्रशील एवं चरित्रहीन पुरुषों को वैदिक साहित्य में सुर एवं असुर कहा है। गुणानुसार इन्हीं प्रकारों की वृत्तियों को गीता में दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा कहा है। यह देवलोक के देवों या असुरलोक के असुरों की बात नहीं है। यह बात इसी विश्व में रहने वालों का उनकी वृत्तियों के अनुसार ही विभाजन है। मनुष्य स्तर से जो नीचे उतर गए हैं वे ही असुर हैं और उस स्तर से भी जो ऊपर उठ गए हैं वे ही देव हैं। यों दोनों स्तरों में जो अन्तर है वह अन्तर चरित्र विकास का है। इस दृष्टि से जो असुर है वह सदा ही असुर है, ऐसा नहीं है। वह अपने चरित्र का समुचित विकास करके देव स्तर को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार अपने चरित्र का पतन हो जाने पर देव भी असुर स्तर तक पहुंच जाता है। अतः इस मूल सत्य को समझ लेना आवश्यक है कि मानव जीवन का नियन्ता और कोई नहीं, स्वयं उसी का चरित्र है और चरित्र निर्माण जीवन का प्रथम कर्त्तव्य है, धर्म है।

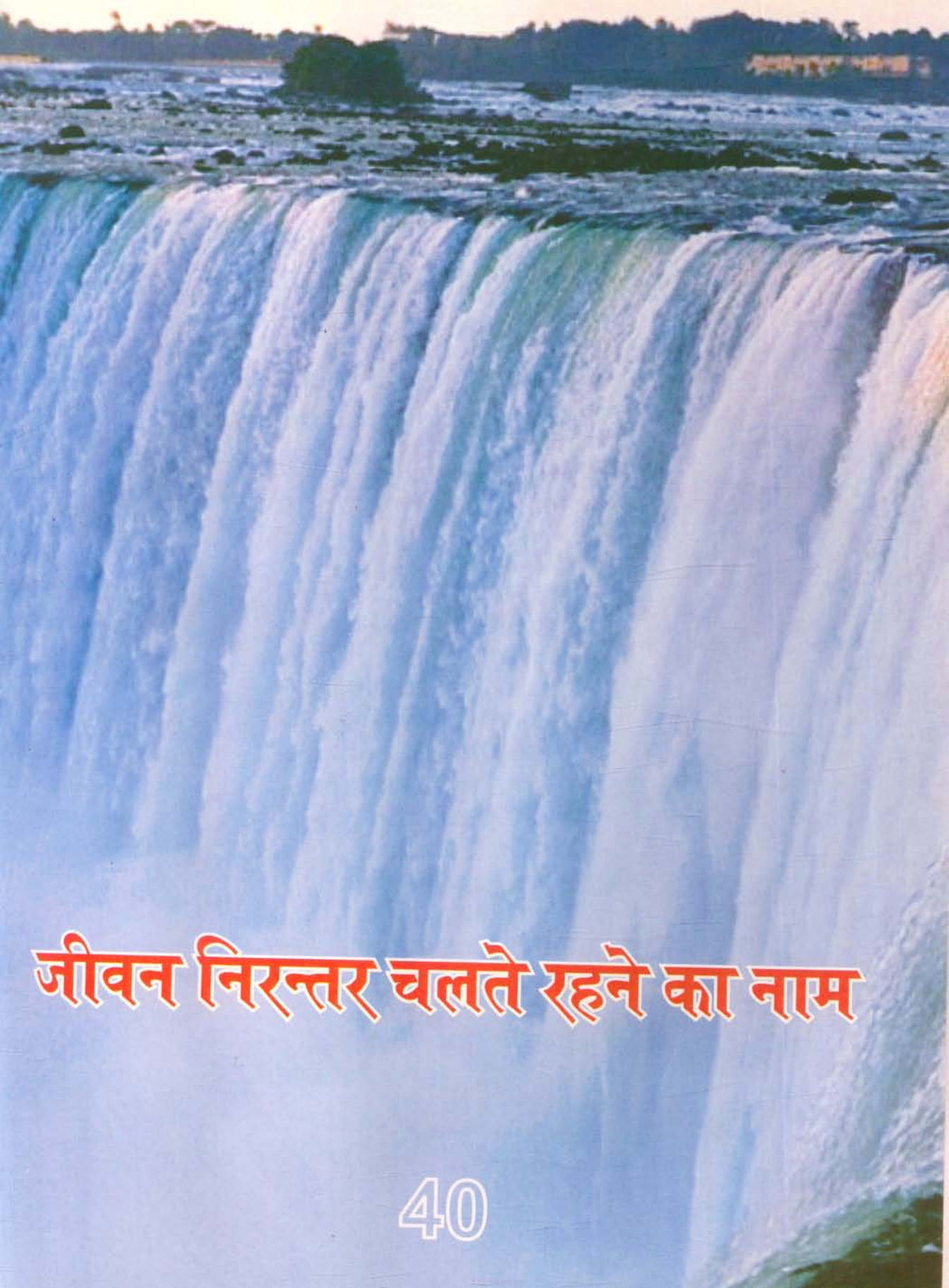
महाकवि कालिदास ने कहा है-सज्जनों का जो लेना है, वह बादलों द्वारा पानी लेने और देने के समान ही होता है **(आदानं हि विसर्गाय सूतां वारिमुचामिव)**। मेघ वापिस जल लौटा देते हैं। किन्तु इस लौटा देने की भी विशेषता है। समुद्र से जो जल वे लेते हैं, वह खारा होता है, लेकिन वर्षा के रूप में जो जल वे लौटाते हैं, वह मीठा होता है। सज्जनों का स्वभाव भी मेघों के समान होता है। वे समाज से जो कुछ ग्रहण करते हैं, वे उसे फिर समाज को ही देते हैं और इस लौटाने की भी एक विलक्षणता होती है। दान करते समय सज्जन पुरुष के हृदय में यह भावना नहीं रहती कि मैं दान कर रहा हूँ। वे दान तो करते हैं, किन्तु वे दान के अहंकार को अपने मन में प्रवेश नहीं करने देते हैं। दान मूल में आदान ही है, पाना ही है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है-"जो कुछ हमने दिया, वह हमने पाया, जो कुछ हमने खर्च किया वह खाया तथा जो हमने छोड़ा वह हमने गंवाया।" (what we gave, we have (got) what we spent we had (lost), what we left, we lost (wasted)। समझने की बात यह है कि जो कुछ हमने दिया, हमने पा लिया और जो कुछ हम दे रहे हैं, उसे हम अवश्य प्राप्त करेंगे, किन्तु जिस सम्पत्ति का न हमने अपने लिए उचित उपयोग किया और न हम उसका दान ही कर पाए, बल्कि मरने के बाद यहीं छोड़ गए तो वह हमारी अपनी नहीं रही। इसी प्रकार मानव चरित्र की उपलब्धि को भी समझना चाहिए। यदि चरित्रशील बनने का उपक्रम नहीं किया तो समझिए कि इस अमूल्य जीवन को नष्ट ही कर दिया। चरित्रहीन बने रहने या बनने का

अर्थ है कि जीवन में हमने सब कुछ खो दिया–यदि चरित्र गया तो सब कुछ गया। (If character is lost every thing is lost)। चरित्रहीनता का जीवन मात्र अभावों का जीवन रह जाता है।

अत: चरित्रशील बनना जीवन को सार्थक बनाने का मूल उपाय है। जो चरित्र निर्माण करके उससे सम्पन्न बन जाता है, उसका एक ही मूल स्वभाव बन जाता है। वह सिर्फ देता है और देना ही जानता है। उसका धन और उसकी शक्ति दूसरों के लिए होती है। दूसरों को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसकी तलवार कभी भी म्यान से बाहर नहीं निकलती है। उनका मानस दया औ करुणा से आप्लावित रहता है, भला उसकी तलवार की नोक दूसरे के कलेजे को कैसे चीर सकती है? किन्तु समय पड़ने पर वह दीन, असहाय तथा अनाथ जनों के अधिकारों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी दे सकता है। देने के लिए वह अपने प्राणों का भी मोह नहीं करता है।

जब चरित्रशील पुरुष देना ही देना चाहता है तो उसके चरित्र में इतनी शक्ति समाहित हो जाती है कि वह किसी भी असंभव को संभव बना दे। चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को ऐसी शक्ति का आभास लेना चाहिए। यह सज्जन शक्ति और चरित्र निर्माण का पथिक इस शक्ति की प्राप्ति के लिए सदा प्रयासरत रहता है। मानव जीवन को प्राप्त कर लेना ही सब कुछ नहीं है, उसकी सफलता तभी है जब मानवोचित सद्गुणों को जीवन में उतार लिया जाए तथा अपने को चरित्र सम्पन्न बना लिया जाए। यह अभियान इस दृष्टि से सबके सहयोग का पात्र कहा जा सकता है, क्योंकि यह सर्वजन में चरित्र निर्माण की प्रेरणा फूंकना चाहता है तथा जो इसके सहभागी हैं उनके चरित्र को ऊंचाई तक पहुंचा देना चाहता है। ये दोनों कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। चरित्र निर्माण को प्रोत्साहन देना, अपने ही जीवन को उत्थान की दिशा में मोड़ना है।

◆◆◆



जीवन निरन्तर चलते रहने का नाम

40



जीवन निरन्तर चलते रहने का नाम

मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि औरों के मन में भी सार्थकता की जिज्ञासा जगावें

रोते हुए मुस्कुरा दिए
जीवन उसी का नाम।
मुस्कुरा कर खिलखिला दिए
जीवन उसी का नाम।
जीने की चिन्ताओं में, जिए जाते कई लोग
चिन्ताओं को दफना दिया,
जीवन उसी का नाम।
जो राह सामने मिली, उसी पर क्यूं चले ?
अपनी बनाएं राह हम
जीवन उसी का नाम।
ठोकर लगेगी पांव में, कांटें भी चुभेंगे
मंजिल गले लगा ली
जीवन उसी का नाम।
चलता है आजकल बहुत पैसे का तमाशा
मन की लुटा दो दौलत
जीवन उसी का नाम।
सपनों की कल्पनाओं पे, उड़ने का अर्थ क्या ?
सपने को सच उतार दें
जीवन उसी का नाम।

अपमान की अहं को ठेस हर कदम लगे
अपमान को जो पी जाए
जीवन उसी का नाम।
माचिस निकाली आग लगा दी जहां चाहे
लपटों को जो बुझा दे
जीवन उसी का नाम।
कहीं क्रोध कहीं लोभ, घृणा का कहीं तांडव
दीया प्यार का जला दे
जीवन उसी का नाम।
मन चाहों को सहारा दे दिया तो क्या किया?
अनचाहों को संभाल लें
जीवन उसी का नाम।
सन्देह के भंवर में आज हम उलझ गए
विश्वास को जगा दें
जीवन उसी का नाम।
सूरज की धूप में झुलस रहे पथिक के प्राण
जलतों को ठंडी छांव दें
जीवन उसी का नाम।
स्वार्थ के लिए जी लिए, स्वार्थ के लिए मर मिटे
कभी मानवता के लिए मिटें
जीवन उसी का नाम।

मेरी यह रचना कुछ पुरानी है, किन्तु शायद इसकी प्रासंगिकता आज अधिक है। इस भोगवादी वातावरण ने जीवन के मायने ही बदल दिए हैं और ये मायने भारतीय संस्कृति के कतई अनुरूप नहीं हैं। हमारी संस्कृति भोग पर नहीं, संयम पर बल देती है, स्वार्थ के विरुद्ध त्याग को सर्वाधिक ग्राह्य मानती है और देहसुख को जघन्य बताते हुए आत्मसुख उत्पन्न करने का मार्ग सुझाती है, वहां आज वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से भोगलिप्तता अकल्पनीय रूप से बढ़ी है, त्याग मुश्किल से ही कहीं दिखाई देता है, पर स्वार्थ ही नहीं, स्वार्थ की अंधता भी बेहिसाब हो गई है और आत्म-सुख तो शायद लोग भूल ही गए हैं। चौबीसों घंटे देहसुख की सुविधाएं जुटाने में आज का भूला भटका मानव व्यस्त है। ऐसे में जीवन का रहस्य खोज पाना तो कठिन ही है, किन्तु जीवन का अर्थ समझना भी आसान नहीं। इसी के लिए चरित्र निर्माण का अभियान है।

अपने ध्यान को केन्द्रस्थ करें कि जीने का नाम ही जिन्दगी नहीं है, बल्कि खट्टी-मीठी खुशियों की फुहार, थोड़े गिले-शिकवे ही जीवन में नित नया उत्साह और माधुर्य भर देते हैं, तो क्यों न हम सब इन्हीं इन्द्रधनुषी रंगों से अपने जीवन को सजावें। अधिसंख्य लोगों के जीवन में आज जो निराशा,

कुंठा और रिक्तता समाई हुई है, उसे दूर करने के लिए इन्द्रधनुषी रंगों की पहली जरूरत है। जब कोई व्यथित एवं हताश व्यक्ति अपनी व्यथा व हताशा से छुटकारा पाता है तभी उसकी तन-मन की अवस्था में हल्कापन आता है। वैसी अवस्था में ही उसे संयम और त्याग की बातें समझाई जा सकती है। इसलिए सबसे पहले मुस्कुराने और खिलखिलाने की बात कही गई है। आप मुस्कुराओगे-खिलखिलाओगे तो निश्चित है कि चिन्ताओं का भार घटेगा और निश्चिन्तता की सांसें आने लगेगी। तब अपनी ताकत का अहसास होगा और अपना रास्ता खुद बनाने की उमंग पैदा होगी। रास्ता चाहिए तो उसकी मंजिल भी दिखाई देगी और जब उमंगें लहराती हैं तो पथ की बाधाओं-ठोकरों, कांटों की कौन परवाह करता है? चरित्र सम्पन्नता की मंजिल की ओर बढ़ने वाला पथिक धन और स्वार्थ के चक्कर में कभी नहीं फंसेगा, वह तो अपने मन की अपार खुशियों को सबसे बांटते हुए खुशी-खुशी चलता जाएगा। वह सपने देखेगा, पर उन सपनों को साकार करने का साहस भी जुटा लेगा। उसका भले ही कोई अपमान करे वह अपमान पी जाएगा और सर्वसम्मान की सरसता फैला देगा। घृणा, ईर्ष्या, वैर, विरोध, राग, द्वेष की आग जहां भी उसे जलती हुई दिखाई देगी, उन लपटों को वह अपने प्यार के शीतल जल से बुझाता जाएगा। प्रेम के एक दीपक से वह हजारों-लाखों दीपक जलाते हुए प्रकाश के घनत्व को बढ़ाता ही जाएगा। वह अपने चरित्र बल से अनचाहों, असहायों और पीड़ितों की पीड़ा को दूर करेगा, उन्हें विकास की दिशा में आगे बढ़ाएगा। वह अविश्वास की आंधियों में विश्वास का फौलादी हाथ बन जाएगा और एक-एक को अपना संबल देकर निर्भय बनाएगा। वह त्याग का आदर्श बनेगा और मानवता के उत्थान के लिए अपना सब कुछ बलि वेदी पर चढ़ा देने में भी कभी नहीं हिचकिचाएगा। कौन है यह 'वह'? वही है जो चरित्र निर्माण से चरित्र सम्पन्नता की मंजिल की ओर आगे बढ़ते रहने के लिए संकल्पबद्ध हो जाता है अथवा यों कहिए कि जो अपने अमूल्य जीवन के सही मायने समझ लेता है और यह भली-भांति जान जाता है कि जीवन किसका नाम है और उसके अन्तःकरण से आवाज निकलती है-जीवन उसी का नाम।

'ऐ जिन्दगी, काश हमने भी तुझे जिया होता'-यह कहकर बाद में पछताना न पड़े :

जब कहें कि 'जीवन उसी का नाम है' तो उस जीवन की कला क्या होगी? छोटे में कहें तो हर काम को समझदारी और खूबसूरती से करना ही जीवन की कला है। यह कला हर क्षेत्र में उपयोग होती है। जीवन को हर समय निराशाओं, समस्याओं एवं नासमझी के साथ जीना, जीना नहीं, मात्र जीवन का बोझ ढोना ही कहा जा सकता है। जबकि जीवन की कला जीवन को **'सर्वसुखाय, सर्वहिताय'** उपयोगी ही नहीं बनाती, बल्कि वह जीवन के हर पहलू को कलात्मक, गुणात्मक एवं सुरुचिसम्पन्न बना देती है। इसके विपरीत जीवन का दुरुपयोग करना, हर वक्त सच्चे-झूठे गिले-शिकवे करते रहना और जीवन में विषमताओं का अंधेरा भर देना जीवन को विनष्ट कर देने से कम नहीं। जीवन की कला नहीं सीखी तो जीवन के संध्या काल में ऐसा मौका आ सकता है जब पछतावे के साथ ये शब्द अनायास ही मुंह से फूट पड़े-'ऐ जिन्दगी, काश हमने भी तुझे जिया होता!'

ऐसा पश्चात्ताप करने का मौका कभी न आवे-इसके लिए जीवन को इन्द्रधनुषी रंगों से सजाने की कला सीखें जिसकी प्रमुख भूमिका होगी कि आप मुट्ठी में बंद खुशियों को खोलें और उन्हें दूर-

दूर तक अपने संगी-साथियों के दिलों में बिखेर दें-बांट दें। इन कुछ बिन्दुओं पर ध्यान दें-

1. सामयिक एवं सकारात्मक सोच बनावें : सुख पूर्वक जीवन जीने की मुख्य शर्त है कि व्यक्ति वर्तमान में जिए-सबसे पहले सामयिकता को समझे। सामान्यत: व्यक्ति अपने अतीत की स्मृतियों में खोया रहता है। इस संबंध में सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार शरद् चन्द्र चटर्जी अपने उपन्यास 'शेष प्रश्न' में कहते हैं-'मन का बुढ़ापा वही है जो अपने सामने की ओर नहीं देख सकता, जिसका हारा-थका जराग्रस्त मन भविष्य की समस्त आशाओं को तिलांजलि देकर सिर्फ अतीत के अन्दर ही जिन्दा रहना चाहता है और मानों उसे कुछ करने की, कुछ पाने की चाह ही नहीं है-वर्तमान उसकी दृष्टि में लुप्त है, अनावश्यक है और भविष्य अर्थहीन। अतीत ही उसके लिए सब कुछ है। वही उसका आनन्द, वही उसकी वेदना और वही है उसका मूलधन-उसी को भुना-भुना कर गुजर करके जीवन के बाकी दिन वह बिता देना चाहता है।' अतीत की स्मृतियों में खोये रहने वाले अधिकांश व्यक्ति भविष्य को बनाने की कार्य योजना में नहीं, बल्कि भविष्य की काल्पनिक उड़ानों में ही उड़ते फिरते हैं। ये वृत्तियां उचित नहीं। एक की स्मृति और दूसरे की कल्पना में वर्तमान के सुनहरे पल यों ही बीत जाते हैं-निरर्थक हो जाते हैं। सामयिकता के अभाव में सार्थक कुछ भी नहीं हो पाता। साथ ही सोच का सकारात्मक होना भी चरित्र निर्माण के लिए आवश्यक है। गिलास जितना भरा है उसे देखकर खुश होना सीखें, वह कितना खाली है उसका राग गाकर दु:खी न हों। समय के अनुसार बदलते परिवेश में जीने का अभ्यास होना चाहिए।

2. आत्म विश्वास एवं स्नेह भरपूर रखें : जीवन को रुचिकर तथा खुशहाल बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं के अन्तर में खूब स्नेह और विश्वास भरे। आत्मविश्वास एवं स्नेह से भरपूर व्यक्ति ही दूसरों को विश्वास व स्नेह दे सकता है तथा उसकी सोई हुई जीवन्तता को पुनर्जीवित कर सकता है। वही व्यक्ति सहानुभूति एवं सहयोग की भावना को भी बलवती बना सकता है। परिवार, समाज और राष्ट्र तथा यहां तक कि समग्र विश्व को एक सूत्र में बांधने में सहानुभूति एवं सहयोग की भावना अत्यन्त उपयोगी और सहायक हो सकती है। इस भावना के बिना व्यक्ति का स्वयं का जीवन तो नीरस होता ही है, पर उसकी वह नीरसता परिवार, समाज आदि की सरसता को भी पनपने नहीं देती है।

3. अधिकतम मित्र बनावें, समस्त प्राणियों से मैत्री रखें : अच्छी दोस्ती जीवन को खुशहाल और समझदार बनाने में अहम भूमिका अदा करती है, क्योंकि जब कभी भी व्यक्ति अपने को किसी परेशानी या समस्या से घिरा हुआ महसूस करता है तो एक सच्चे और अच्छे दोस्त से मिली सलाह से ही उसे सुकून मिल सकता है और काफी हद तक समस्या का समाधान भी निकल सकता है। अच्छे दोस्त के साथ व्यक्ति सहजता और हल्कापन पाता है। दिलो-दिमाग को तनाव मुक्त रखते के लिए अच्छा है कि किसी सच्चे दोस्त से अपना सुख-दु:ख बांट लिया जाए। ध्यान रखें-जो व्यक्ति हर समय में अपने ही दु:खों का रोना रोता रहता है-सुख और खुशियां उसके दरवाजे से ही वापिस लौट जाती है। इसलिए अधिकतम मित्रों को अपना सच्चा साथी बनावें। साथ ही संसार के एक भी प्राणी के साथ बैर न रहे, सबके साथ मैत्री का भाव रखें।

4. दु:ख के कारणों को समझें और दु:ख को दूरी पर ही रखें : सभी धर्मनायकों ने दु:खों के कारणों पर रोशनी डाली है और जीवन में उनके उन्मूलन का उपदेश दिया है। विचार मर्मज्ञ जैनेन्द्र कुमार जैन ने अपने उपन्यास 'त्याग पत्र' में दु:खोत्पत्ति का मार्मिक विश्लेषण दिया है-'वर्तमान के सत्य और भविष्य में स्वप्न को लोग एकसूत्र में गुंथे हुए एकमेक न देखकर अपने अज्ञान से अपने भीतर जब उन्हें टकरा बैठते हैं तब उत्पन्न होता है विग्रह अर्थात् दु:ख। कच्ची पढ़ाई से आशाएं उद्दाम हो जाती हैं और विग्रह बढ़ता है। स्पष्ट है कि विग्रह जितना गहरा, द्वन्द जितना तीव्र, परिस्थितियों तथा आशाओं का अन्तर जितना दुर्लंघ्य और 'जो है' उससे रूष्ट होकर 'जो चाहिए' उसे पा लेने की आसक्ति जितनी ही अंधी होगी, दु:ख उतना ही कष्टकर होगा।' इस विश्लेषण से साफ हो जाता है कि अधिकांश दु:ख तो व्यक्ति स्वयं ही अपनी नासमझी से अपने लिए पैदा करता रहता है। अपने कारक होने को तो वह समझता नहीं और अपने दु:खों के लिए हमेशा दूसरों को ही कोसता रहता है। चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अपने लिए वे अनावश्यक रूप से दु:खों का जंगल न उगावें और न ही अपनी भूल से दूसरों के जीवन में दु:खों के बवंडर चलावें। दु:खों को अपने से हमेशा दूरी पर ही रखें।

5. निराशावादी दृष्टिकोण त्यागें, सदा आशावादी रहें : जीवन के प्रति मात्र निराशावादी दृष्टिकोण न रखें। आशावादी बनने का तथा जीवन में नया उत्साह, प्रेम और विश्वास भरने का नित्य प्रयत्न करते रहें। इससे जिन्दगी रंगीन, आनन्दमय हो जाएगी तथा खुशियों से भर जाएगी। जब भी हम अपना मन जरा सा भी उदास या उखड़ा हुआ पावें तो संगीत की मधुरता में खो जावें। अपने पसंदीदा गीतों व भजनों में तल्लीनता से अपूर्व शान्ति मिलेगी। सच, आप अपने उदासी भरे मन के किसी कोने में खुशी की गुदगुदाहट सी पाएंगे। संगीत जीवन के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है, जो मन की उदासी मिटाने का श्रेष्ठ समाधान है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आप हमेशा अपनी जिन्दगी में गिले-शिकवे ही करते रहे हों और अब आदत से मजबूर हो गए हैं। निराश और असन्तुष्ट व्यक्ति हमेशा असंतोष ही जाहिर करता है और निराशावादी बना रहता है। उसका सोच भी नकारात्मक हो जाता है। इस आदत से मजबूर व्यक्ति को स्वयं की खुशियों की भी दस्तक सुनाई नहीं देती है, फिर वह परिवार आदि की दस्तक को क्या समझें? अगर परिवार का कोई अन्य व्यक्ति उसकी दस्तक को सुनना चाहे तो वह उसे सुनने भी नहीं देता यानी न स्वयं खुश, न दूसरों से खुश और दूसरों की खुशी से वह अपना सरोकार ही नहीं बनाता है। मतलब यह हुआ कि ऐसे व्यक्ति न खुद खुश रहेंगे और न दूसरों को खुश रहने देंगे। वे अगर अपने आपको आशावादी बना लें और थोड़ी सूझबूझ तथा धैर्य से काम लें तो वे न सिर्फ दूसरों को, बल्कि स्वयं को भी भरपूर खुशियां दे सकते हैं। जीवन में निराशावादी दृष्टिकोण रखना अपने ही हाथों जीवन की जीत को हार में बदलना है।

इसलिए जिन्दगी के लिए आखिर में पछताना न पड़े-इसके लिए जिन्दगी को भरपूर जीओ-जिन्दादिली से जीओ और अपने व दूसरों के लिए अपनी जिन्दगी को सर्व सहयोगात्मक उपकरण बनाओ। जिन्दगी की लय जितनी मधुर होगी, चारों ओर खुशियां ही खुशियां बिखरेगी। जिन्दगी के बारे में कुछ रचनाकारों की ये रचनात्मक बानगियाँ जरूर देखिए और समझिए-

जिन्दगी का अर्थ उठना
जिन्दगी का अर्थ चलना
जिन्दगी सोना नहीं है
जिन्दगी है कर्म की पावन त्रिवेणी
जिन्दगी इस त्रिवेणी के तटों पर
बैठकर रोना नहीं है।

◆

हार कर भी बढ़ रहा है, जय के लिए जो
जो स्वयं हारा मगर हिम्मत नहीं हारी
जिन्दगी जीता हुआ उसको कहूँगा-
राह में जिन्दगी जिसने गुजारी।

◆

वह पथ क्या, पथिक-कुशलता क्या-
जिस पथ पर बिखरे शूल न हों?
नाविक की धैर्य परीक्षा क्या-
यदि धाराएं प्रतिकूल न हों?

जब चलना सीखा जाता है, तब समझ में आती है जीवन की गति :

मनुष्य की चाल देखी जाती है, उसका चलन देखा जाता है और उस पर से मनुष्य की कीमत आंकी जाती है। यों चलने का बाहरी और भीतरी मतलब बड़ा गहरा माना गया है। बाहर की चाल से ही भीतर का चलन परखा जाता है और जिसका चाल चलन प्रामाणिक नहीं माना जाता है-उसका चरित्र निर्माण जरूरी है। चरित्र निर्माण अभियान का यही प्रमुख उद्देश्य है।

चलना कैसे सीखता है मनुष्य-इसकी जानकारी बड़ी दिलचस्पी है। गर्भ में रहने वाला शिशु सबसे पहले पांव चलाना सिखता है और माँ के पेट को अपना कर्मस्थल बनाता है। इस करतब को वह भूलता नहीं और गर्भाशय से बाहर निकल कर भी शिशु का जो हलन चलन होता है उसमें पांव चलाना ही खास होता है। पांव चलाते-चलाते ही वह करवट बदलता है और उल्टा सरकने लगता है। चाल के काम को वह कहीं भी भूलता नहीं। कुछ बड़ा होने के बाद जब वह अपने पिता या माता को अपनी अंगुली थमा कर सीधा चलने की कोशिश करता है तो चलने की क्षमता का विकास होने लगता है। तब अन्तिम अभ्यास के रूप में वह अपने बल पर बिना सहारे के चलने लगता है। शिशु से किशोर की चाल में अधिक स्थिरता आती है तो युवक की चाल उसकी शक्ति की प्रतीक बन जाती है।

यह है मनुष्य की बाहरी चाल की कहानी। जब बाहर की चाल पुख्ता बनती है तब गति की स्थिरता और उसका वेग समझ में आता है। इस समझ में भीतर की ताकत कभी जुड़ती रहती है और

उसी ताकत के मुताबिक चाल की मजबूती या कमजोरी दिखाई देती है। चाल में विस्तृत सम्पर्क, विविध कार्य तथा अजीब अनुभव के बाद नए-नए गुणों का समावेश होता रहता है। एक उदाहरण लें। अन्य वाहन तो ठीक है, लेकिन किसी की साइकिल चलाने की चाल से उसकी संतुलन, सतर्कता, अनुशासन आदि कई अच्छाइयों की झलक मिलती है। यह वाहन दो पहियों पर श्रम (बिना मोटर या अन्य शक्ति के) से चलने वाला होता है। पांवों से पेंड़ल लगाने में खुद की ताकत का ही चाल में असर दिखाई देता है। एक क्षण के लिए भी जो संतुलन बिगड़े तो साइकिल सवार को नीचे गिर पड़ने में देर नहीं लगेगी। संतुलन तब बनता है जब गति पर अपना नियंत्रण हो और यही नियंत्रण मजबूती पकड़ता जाए तो वह आत्म-नियंत्रण का रूप ले सकता है। साइकिल कैसे भी रास्ते पर चलाई जाती है-ऊबड़ खाबड़, विषम तल या ऊंची नीची जमीन पर भी-तो इसका असर सतर्कता पर पड़ता है-जितनी अधिक सतर्कता, उतनी ही अधिक सुरक्षा। सतर्कता एक क्षण के लिए भी हटी और कोई पत्थर बीच में आ गया तो चाल बिगड़ी और साइकिल नीचे गिरी सवार समेत। इस कारण साइकिल पर चलते समय लगातार सतर्कता जरूरी है। इसका परिणाम होता है जीवन में सावधानी की निरन्तरता बन जाती है। साइकिल व्यवस्थित रूप से चलाने का अभ्यास बन जाने के बाद अनुशासन भी स्वभाव में ढल जाता है। ऐसा होता है साइकिल चालन का सुप्रभाव। आप कहेंगे कि साइकिल तो लोग चलाते हैं, किन्तु सब में ऐसे गुण देखे नहीं जाते हैं। आपका कहना भी सही हो सकता है, क्योंकि जो मशीनवत् साइकिल चलाते हैं उनकी अन्तश्चेतना में ये गुण समाते तो हैं किन्तु स्वयं की अनभिज्ञता से उनका यथोचित विकास नहीं हो पाता है। किसी भी कार्य के साथ उसकी गहरी समझ भी जुड़नी चाहिए तभी वह अनुभव गुणदायक बनता है। अभिप्राय यह कि चाल की आन्तरिक कहानी बाहर की चाल से भी ज्यादा दिलचस्प हो सकती है बशर्ते कि चाल की आन्तरिक कहानी बाहर की चाल से भी ज्यादा दिलचस्प हो सकती है बशर्ते कि चाल की आन्तरिक गहराईयों को भी समझने की चेष्टा की जाए। फिर जीवन की हर चाल से भीतरी चाल का कोई न कोई अनुभव चरित्र का निर्माण एवं विकास करने का कारक बन सकता है। यों भीतर बाहर की संयुक्तता इतनी घनिष्ठ होती है कि कौनसा गुण बाहर से भीतर में जाकर स्थिर बन गया है और कौनसा गुण भीतर से बाहर आकर साकार रूप ले बैठा-इसका ज्ञान करना या भेद जानना कठिन होता है। मुख्य बात है मनुष्य की चाल का स्वस्थ रूप में ढलना, विपथगामी न बनना और किसी भी परिस्थिति में थकने का नाम न लेना। यह सब हो जाए तो समझिए कि गति बन गई और चरित्र निर्मित हो गया। फिर चरित्र के विकास का तथा चरित्र सम्पन्नता प्राप्त करने का उद्देश्य सम्मुख रह जाएगा।

शिशु की अंगुली पकड़कर उसे चलना सिखाने वाले अभिभावकों को और बाद में चलने को समझ के साथ जोड़ने वाले शिक्षकों का प्रधान कर्त्तव्य है कि शुरू से सही चाल ढाली जाए, उसमें स्थिरता और दृढ़ता पैदा की जाए और किसी भी कारण से चाल में ढिलाई आने लगे तो उसे वापिस पटरी पर लाने के कारगर उपाय भी समझाए जाए। बड़े होने पर तो चाल के अभिभावक और शिक्षक दोनों ही उसके स्वयं के अनुभव हो जाते हैं। अनुभवों से मनुष्य बहुत सीखता है और अपनी चाल के ओज को बनाए रखता है। इस पर भी चाल कहीं लड़खड़ाए तो धर्म गुरुओं का दायित्व बनता है कि वे उसकी चाल को थामें, सुधारें और स्वस्थ बना दें। मनुष्य की चाल जो शुरु से आगे तक जमी हुई

चलती रहे तो उसके चलन को कभी खतरा पैदा नहीं होता। उसका चाल-चलन दूसरों के लिए अनुकरण करने लायक बन जाता है।

जीवन का मूल मंत्र है-उठो, चलो, चलते रहो-साथ न हो तो अकेले ही चलो पर चलो :

जीवन का यही मूलमंत्र जीने की कला सिखाता है, उसे अर्थ देता है, उसे गति तथा गति से प्रगति की ओर मोड़ता है तथा जीवन की समग्रता को अभिव्यक्त करता है। चलना जीवन है और ठहर जाना मरण। शरीर में प्राण भले रहे, पर स्थगन मृत्यु से भी बुरा होता है। यह मूलमंत्र चलने के तीन चरणों पर प्रकाश डालता है-

1. पहला चरण है : उठो और चलो। जीवन की यह विडम्बना अनेकों के साथ जुड़ी हुई है कि जीते हुए भी वे नींद में सोए हैं, आलस्य में जकड़े हैं और निष्क्रियता में पड़े हैं। उन्हें जीवन का कोई भान नहीं है। कुछ ऐसे हैं जो सोए भी हैं और जागते भी रहते हैं, पर उठते नहीं। जो पूरी तरह नींद में हैं उनको भी जगाना होता है और अधसोयों को भी। किन्तु दोनों का फर्क समझ लें। नींद में पूरी तरह सोयों को उठाना आसान है लेकिन अधसोयों को उठाना जरा कठिन होता है, क्योंकि वे जगाने का बहाना तो करते हैं परन्तु असल में जागते नहीं हैं। तो मूलमंत्र के इस पहले चरण में चरित्र निर्माण अभियान के सहभागियों को पहला नारा देना चाहिए कि उठो, नींद से जागो और अपने को सावधान बना लो। फिर दूसरा नारा लगाइए कि चलो। यह नारा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि चलने का ही नाम जिन्दगी है। जब कोई जाग कर, उठ कर चल देता है तो फिर वह आलस्य के अधीन नहीं होता है-प्रमाद से अप्रमाद को अपना लेता है। चलने का प्राण होती है स्फूर्ति और स्फूर्तिवान फिर चलने से हार नहीं मानता।

2. दूसरा चरण है : चलते रहो। जब चल पड़े हो तो फिर रुको नहीं, चलते रहो, क्योंकि चलते रहोगे तो जीवन से ओतप्रोत रहोगे, कभी-भी मृत्यु का आभास तक नहीं होगा। जीवन्तता जीवन की थाती बन जाएगी। 'चलते रहो' की वृत्ति में खरगोश की तरह भाग तो जाओ, पर राह में यह गुमान लेकर सो जाओ कि मेरी तेज चाल के सामने मंजिल पर पहुंच जाना कौनसी बड़ी बात है? यों चाल तो तेज बना ली, पर सो गए और मंजिल गुमा दी। ऐसी खरगोश की चाल नहीं चाहिए। कछुए की चाल ही इससे बेहतर होती है। कछुआ धीमे-धीमे भले ही चलता है, लेकिन कहीं रुकता नहीं। राह में सो जाने का तो सवाल ही नहीं। धीमे-धीमे चलते हुए भी वह निश्चित समय में मंजिल पर पहुंच कर ही दम लेता है। इस सफलता का रहस्य जीवन के इस मूलमंत्र के दूसरे चरण में है कि चलते रहो, चलते रहो जब तक कि मंजिल पर न पहुंच जाओ। एक-सा उत्साह रहे, एक-सी उमंग रहे और एक-सी चाल रहे। गत्यावरोध न हो और गत्यात्मकता बनी रहे-यह सबसे बड़ी बात है।

3. तीसरा चरण : साथ न हो तो अकेले ही चलो, पर चलो अवश्य। चलना जिन्दगी है इसलिए किसी भी परिस्थिति में जिन्दगी से विलग मत होओ। समूह छोटा हो या बड़ा-साथ-साथ चलने में आसानी महसूस होती है और लगातार चलते भी रह सकते हैं, लेकिन किसी का साथ न हो और

एकदम अकेले चलना हो तो कइयों के लिए यह कठिन समस्या बन सकती है। इसी समस्या का उत्तर है तीसरे चरण में। महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर का प्रमुख आह्वान रहा है-**एकला चलो रे, एकला चलो**। साथ न हो तो साहस को बढाओ, विशेष स्फूर्ति जगाओ और तन-मन को तैयार कर दो अकेले ही चलने के लिए। न चलना मृत्यु है और चलना जीवन किन्तु अकेले ही चलना और मंजिल को पा लेना महा जीवन कहलाता है। कौरव पांडवों की अन्तिम लड़ाई कृष्ण के निर्देशन में लड़ी गई। अर्जुन अकेले चलने यानी अकेले लड़ने से घबरा रहे थे-कैसे वार करूं अपनों पर और इन्कार हो गए चलने से-लड़ाई करने से। तब कृष्ण ने अर्जुन को जगाया, सावधान बनाया और उन्हें अकेले चलते रहने को तैयार कर दिया। कृष्ण पथ प्रदर्शक बने और अर्जुन एकाकी योद्धा बने। इस परिप्रेक्ष्य में व्यास ने अपना निष्कर्ष निकाला-जहां योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेंगे, अर्जुन अपना धनुष उठा कर लड़ेंगे, वहां विजय के अतिरिक्त क्या हो सकता है? वहां विजय है, अभ्युदय है और जीवन की ऊँचाई है-यह मेरा निश्चित मत है (**यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्ममिर्मम**)। वास्तव में यह मत सही है। महाभारत में कृष्ण निर्देशक थे और अर्जुन एकाकी योद्धा, उसी प्रकार हमारे अन्तःकरण में भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान है। कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्मयोग के प्रतीक। कर्मयोग को नेतृत्व मिलना चाहिए, फिर वह अकेला ही तीव्र गति से कर्म पथ पर चल पड़ता है। ज्ञान और कर्म का समन्वय हो जाता है। चलना मानव जीवन का मुख्य चरित्र बन जाता है। जीवन के महाभारत में भी यदि मानव इस मूलमंत्र को अपना कर लड़े तो उसकी विजय होना सुनिश्चित है। अपनी चरित्र सम्पन्नता तक चल कर पहुंचने वाला मानव अन्ततोगत्वा विजयश्री का अवश्यमेव वरण करता है।

चलने का अर्थ है-सर्वोच्च सत्य की अहिंसक शोध में लगे रहो :

चलने का सच्चा अर्थ सबसे आगे बढ़ कर महावीर ने खोजा था, जिनके सिद्धान्तों को 'निर्ग्रंथ धर्म' का नाम भी दिया गया है। निर्ग्रंथ-एक जीवन पद्धति का नाम है जिसका सत्य विश्वात्मकता में समाविष्ट था। ये दो मूलभूत सिद्धान्त थे-व्यक्तिगत समता एवं सामाजिक न्याय। पहले सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कर्त्ता एवं ज्ञाता होने के साथ-साथ द्रष्टा बनना चाहिए। वह अपने सारे कार्यों को अपनी ही आंखों से देखें, अपने मन में उन्हें तोलें और अपने अन्तःकरण से उनकी शुभाशुभता पर अपना निर्णय ले। इस निर्णय शक्ति के साथ विकसित होगा-आत्मसंयम तथा सामाजिक अनुशासन। साथ ही सहनशीलता एवं सहकारिता की गुण-सम्पन्नता भी बढ़ेगी।

चलने का अर्थ का साकार रूप यही है कि मनुष्य ही सम्पूर्ण प्रगति का आधार है (Man is the root of progress) और उसे अवतारवाद, दैववाद या नियतिवाद जैसी किसी बैशाखी की जरूरत नहीं पड़ती। वह अपने ही पांवों से चलकर मुक्ति की मंजिल तक पहुंच जाता है। उसे विश्वास होना चाहिए अपने ही पांवों की शक्ति पर और अपनी ही चाल के वेग पर। मजबूती के साथ एक-एक डग भरते हुए वह पूर्ण चरित्र सम्पन्नता की उपलब्धि कर सकता है और मुक्ति की मंजिल तक पहुंच सकता है। यह स्वयं के चलने की अपनी आत्मशक्ति की विजय होती है। महावीर ने जीवन की पवित्रता तथा आत्मा की विजय पर सर्वाधिक बल दिया। वे जीवन को ही एक यज्ञ मानते थे और

आत्म-विकास उस यज्ञ का फल। जब उनसे पूछा गया कि यज्ञ के लिए आपकी अग्नि कहाँ है, अग्नि के लिए वेदी कहाँ है, वेदी के लिए उपकरण कहाँ है और उपकरणों का शान्ति पाठ क्या है? उन का उत्तर था-तपस्या मेरी अग्नि है, आत्म-जागरण मेरी वेदी है, मेरा शरीर, मेरे अंग, मेरी इन्द्रियां और मन, वचन, कर्म मेरे उपकरण हैं, मेरे कर्म मेरी आहूति है तथा मेरी पूर्ण शान्ति की प्रतिज्ञा मेरा शान्ति पाठ है। ऐसा है मेरा यज्ञ।

यह यज्ञ क्या है? चलने की उत्कृष्टता, गति की श्रेष्ठता एवं प्रगति की उपादेयता। वस्तुतः यह सर्वोच्च सत्य की खोज में अहिंसक जीवनशैली का स्वरूप है। धम्मपद (बौद्ध ग्रंथ) में कहा है-'जिनका मन-मानस पूर्णतः प्रकाशित को चुका है और जो भ्रष्टता, तृष्णा और वैर से मुक्त हो चुका है, वह इसी संसार में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।' ईसाई धर्मग्रंथ 'मैथ्यू' में कहा गया है-तुम को भी उतना ही पूर्ण बनना चाहिए जितना कि तुम्हारा परम पिता परमात्मा है (5-48) चलना, चलते रहना और अकेले भी चलना इसी पूर्णता का साध्य प्राप्त करने के लिए है।

चलते रहना है कर्म करते रहना और कर्म करते रहना जीवन का धर्म है :

चलना और चलते रहना, जीवन की जीवन्तता का प्रमाण होता है। चलते रहने का अर्थ है कर्म करते रहना। मनुष्य निष्कर्म रह कर जीवित रह सकता है किन्तु वह जीवन्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि कर्म करते रहने को जीवन का धर्म कहा गया है और जो धर्म है, वही कर्त्तव्य है तथा वही चरित्र है। जीवन है तो कुछ न कुछ धर्म भी है, किन्तु कुछ न कुछ या कोई भी कर्म जीवन के लिए कल्याणकारी नहीं होता है। जीवन की वास्तविक कला यह होती है कि कर्म करके भी अकर्म रहा जाए, कर्म करते हुए भी कर्म की कामना से अलिप्त रहें और कर्म को साध्य का साधन मानें। कर्म जीवन का मार्ग होता है, जहां बाहर में कर्म करते हुए भी भीतर में अकर्म रहा जा सकता है। गीता में कहा गया है कि कोई भी मनुष्य निष्कर्म नहीं रह सकता है-कर्म तो जीवन के क्षण-क्षण में होता रहता है। कर्म का यहां अर्थ किया जा रहा है कार्य से, क्रिया से। किन्तु कर्म का अन्य अर्थ है कि मनुष्य जो भी कार्य करता है उसकी शुभाशुभता के अनुसार कर्म वर्गणा के पुद्गल उसकी आत्मा के साथ संयुक्त होते हैं, जो अपना फलाफल देकर ही छूटते हैं। इस कर्म का संबंध भी चलते रहने से ही है यानी कि जैसा मनुष्य का चाल-चलन ढल जाता है उसके अनुसार वह कार्य करता है अथवा मन, वचन एवं काया का प्रयोग करता है और तदनुसार कर्म का बंधन होता है। किन्तु इन कर्मों के बंधन से भी अलिप्तता साधी जा सकती है। कर्म में लिप्त होने का अर्थ है ममत्व और आसक्ति। यदि किसी भी कार्य के साथ मोह अर्थात् राग व द्वेष के भाव न जुड़ें तो वे कार्य बंधन रूप नहीं बनते। इससे आशय यह निकलता है कि मोह रहित या निष्काम होकर कर्म किया जाए तो उससे अलिप्तता आ जाती है। यदि चलने और चलते रहने का क्रम भी ममत्व रहित बना लिया जाए तो उसका स्वरूप निरपेक्ष बन जाता है तथा निरपेक्ष कर्म चरित्र विकास का साधक हो जाता है। कर्म के साथ जहां भी मोह का स्पर्श होता है, वही बंधन होता है। बुद्ध ने कहा है-न तो ये चक्षु रूपों का बंधन है और न रूप ही चक्षु के बंधन हैं, किन्तु जो वहां दोनों के प्रत्यय (निमित्त) से छन्द राग अर्थात् द्वेष बुद्धि जागृत होती है, वही बंधन है (**न चक्खु रूपानं संयोजनं, न रूपा चक्खुस्म संयोजनं, यं च तत्थ**

तदुभयं पटिच्च उपज्जति छन्द रागो ते तत्थं संयोजने चा-संयुक्त निकाय-4/35/232)। कर्म-अकर्म का विवेचन जैन दर्शन में भी बड़ी गहराई से हुआ है (आचारांग सूत्र, 2/3/15/134)। गीता की भाषा में इसे ही निष्काम कर्म कहा गया है।

मनुष्य का यह स्वभाव माना गया है कि वह कर्म करे-चलता रहे। यह मान्यता दर्शन की ही नहीं, मनोविज्ञान की भी है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर 'कर्त्तव्य बुद्धि' (करने का विचार) की स्फुरणा होती है। सामान्य मनुष्य कुछ करता है तो साथ ही यह सोचता भी है कि यह मैंने किया या इसका करने वाला मैं हूँ। इस रूप से कार्य के साथ कर्त्तापन की भावना प्रकट होती है। किन्तु इसका एक दुष्परिणाम भी सामने आता है-उसके और उसके करने के बीच एक 'अहं' की दीवार खड़ी हो जाती है। वह 'अहं' उसमें इस तरह सोचने का ढंग पैदा कर देता है कि मैंने ही यह काम किया है या मैं नहीं होता तो यह काम भी नहीं होता। इस प्रकार 'मैं' को लेकर अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उसके मन में चलने लगते हैं, जैसे कि मेरे बिना मेरे परिवार की अथवा समाज की ओर कहीं पदेन हो तो राज्य या राष्ट्र की गाड़ी नहीं चल सकती। कर्त्ता बुद्धि के अनेक विकल्प तूफान की तरह उठते हैं और वहाँ-वहाँ जहाँ वह कार्य करता है, अशान्ति एवं कोलाहल का वातावरण बन जाता है। समस्याएं पैदा करने का अधिकतर काम यही 'अहं' करता है। आज किसी भी क्षेत्र में देखें-वहाँ काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसके कर्त्तापन का नाग हर वक्त फुंकारे मारता रहता है, फलस्वरूप एक दूसरे के 'अहं' आपस में टकराते रहते हैं और अशान्ति का घनत्व बढ़ता रहता है-यहां तक कि व्यक्तियों एवं समूहों के कार्यकलाप तक संकटग्रस्त हो जाते हैं। इस कर्त्तापन की बुद्धि यानी 'अहं' पर उचित नियंत्रण चरित्र बल से ही किया जा सकता है। 'अहं' का भाव जितना मन्द होगा, उतना ही शान्ति का वातावरण सघन बनेगा।

कर्त्तव्य बुद्धि के अहंकार को भूलना इसलिए आवश्यक है कि जब तक ऐसा अहंकार बना रहेगा उसका चलना स्वस्थ नहीं बन सकेगा। जैसे शराबी के पांव लड़खड़ाते हैं उसी प्रकार अहंकार के मद में चाल बिगड़ जाती है। चाल बिगड़ी तो चलन बिगड़ा और पूरा चाल-चलन बिगड़ने लगता है। इस समस्या के विषय में उपाध्याय अमर मुनि जी का समाधान सटीक है और अनुसरणीय है-कर्त्तव्य बुद्धि के अहंकार को विसारने और भुलाने का आखिर क्या तरीका है? यह आप पूछ सकते हैं। मैंने इसका समाधान खोजा है। आपको बताऊं कि अहंकार कब जागृत होता है? तब जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य-सीमा को अतिरंजित रूप से आंकने लगता है-'जो है' उस से कहीं अधिक स्वयं को देखता है, अपनी ही वास्तविकता से अधिक लम्बा बना कर नापता है, तब औरों से बड़ापन महसूस करने लग जाता है और यही भावना अहंकार में प्रस्फुटित होती है। यदि मनुष्य अपने सामर्थ्य को सही रूप में आंकने का प्रयत्न करे, वह स्वयं क्या है और कितना उसका अपना सामर्थ्य है- यह सही रूप में जाने तो शायद कभी अहंकार करने जैसी बुद्धि भी न जगे। मनुष्य का जीवन कितना क्षुद्र है और वह उसमें क्या कर सकता है-एक श्वास तो इधर-उधर कर नहीं सकता-फिर वह किस बात का अहंकार करे? साधारण मनुष्य तो क्या चीज है? भगवान् महावीर जैसे अनन्त शक्ति के धर्त्ता भी तो अपने आयुष्य को एक क्षण भर आगे बढ़ा नहीं सके। देवराज इन्द्र ने जब उन्हें अपने आयुष्य को

थोड़ा-सा बढ़ाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने क्या कहा, मालूम है? **'न भूयं न भविस्सइ'**-(ऐसा न हुआ है, न कभी होगा) देवराज! संसार की कोई भी महाशक्ति अधिक तो क्या, अपनी एक श्वास भी इधर-उधर नहीं कर सकती (चिन्तन की मनोभूमि, पृष्ठ 434)। निष्कर्ष यह निकला कि चलते रहने के जीवन-धर्म का निर्वाह तभी स्वस्थतापूर्वक होता है जब उस पर चलते हुए अहंकार न पैदा हो। अहंकार सही चाल को बिगाड़ देता है और मनुष्य अभिमानी बन कर ऐसी विकृत चाल पकड़ लेता है कि वह चाल के सहीपन को ही भूल जाता है। चाल को सही बनाने और चलते रहने की क्रिया को स्वस्थ बनाए रखने के लिए चरित्र के निर्माण एवं उसके सतत् विकास की अपेक्षा रहती है।

आप चलते रहें और चरित्र निर्माण की यात्रा अनवरत चलती रहे :

आप चलेंगे और चलते रहेंगे, तभी चरित्र निर्माण की यात्रा भी अनवरत चलती रहेगी और व्यक्ति से लेकर विश्व तक की समूची व्यवस्था भी सुचारू रूप से चलती रहेगी। उत्तम उद्देश्य के साथ की जाने वाली किसी भी यात्रा में यदि यात्री का उत्साह अदम्य है तो उसकी यात्रा में कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता तथा उस यात्रा की पूर्णाहुति भी सुनिश्चित मानी जा सकती है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की नोबल प्राइज से पुरस्कृत काव्य पुस्तिका गीतांजलि का 'यात्री आमि ओरे' (यात्री) शीर्षक से लिखा गीत अतीव प्रेरणास्पद है-'मैं यात्री हूँ। मुझे कोई पकड़ कर रोक नहीं सकता। सुख-दुःख के सारे बंधन मिथ्या है।' मेरा यह अपना घर भी पीछे पड़ा रह जाएगा। विषयों के बोझ मुझे नीचे की ओर खींचे रहे हैं, परन्तु वे भी छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाएंगे। ....मैं यात्री हूँ। मैं खूब जी भर कर गाने गाता हुआ अपने मार्ग पर चलता जा रहा हूँ। मेरे देह-दुर्ग के सब द्वार खुल जाएंगे, वासनाओं की सब जंजीरें टूट गिरेंगी। मैं भलाई-बुराई की लहरों को काटता हुआ पार हो जाऊंगा और लोक-लोकान्तर की ओर चलता रहूंगा। ....मैं यात्री हूँ। मेरे सिर पर जितना भी बोझ है, वह सब हट जाएगा। किसी अज्ञात के भाषाविहीन गीत मुझे सुदूर आकाश में बुला रहे हैं। किसी की बंशी के गंभीर स्वर संध्या-सवेरे मेरे प्राणों को अपनी ओर खींच रहे हैं। ...मैं यात्री हूँ। न जाने रात के किस पिछले पहर में यात्रा के लिए निकल पड़ा। उस समय कहीं किसी भी पक्षी का गीत नहीं सुनाई पड़ रहा था। न जाने कितनी रात बाकी थी। उस अंधकार में केवल एक नक्षत्र अनिमेष हगों में जाग रहा था।...मैं यात्री हूँ। न जाने कौनसा दिनान्त होने पर मुझे कौनसे घर पहुंच जाना होगा? वहां कौन से तारों के दीपक जलते हैं? किन पुष्पों की सुगंध ये वहां वायु शब्द करती हुई बहती है? अनादिकाल से वहां कौन अपने स्निग्ध नयनों से मेरी प्रतीक्षा करता है? (गीतांजलि का पं. देवनारायण त्रिवेदी का अनुवाद, पृष्ठ 117)।

चरित्र निर्माण की यात्रा में भी अभियान के सहभागियों का ऐसा निर्द्वन्द संकल्प होना चाहिए। स्वयं के चलते रहने का संकल्प यदि अडिग रहेगा तो इस अभियान के अनवरत रूप से चलने की संभावना भी साकार रूप ले लेगी। वैष्णव परम्परा के संत अपने भक्त से कहते हैं कि 'तू भगवान् से धन आदि भोग्य पदार्थों की कामना मत कर, यहाँ तक कि अपनी आयु वृद्धि की भी कामना मत कर किन्तु यह कामना अवश्य कर कि तेरे जीवन का सदुपयोग हो, तेरा जीवन सार्थक बने तथा तेरा जीवन चरित्रशील हो।' परन्तु जैन शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है कि 'तू न जीवन की कामना

कर और न ही मरण की कामना कर (**जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णाभिपत्थए**)।' वास्तविकता यही है कि जीवन केवल जीने के लिए ही नहीं है, जीवन तो सदुपयोग के लिए है-निरन्तर चलते रहने के लिए है। अत: उचित यह है कि जीवन को सार्थक बनाने की कामना करो। इस प्राप्त शरीर तथा अन्य शक्तियों की सहायता से तुम संसार का कितना भला कर सकते हो-यह देखो। भारत के दर्शनशास्त्री कहते रहे हैं कि तुम कभी अपने सुख की मांग मत करो, धन-वैभव की याचना मत करो, किन्तु विश्व का हित साधने की कामना अवश्य करो। यदि संयोग से आपको धन, वैभव, सम्पत्ति, सत्ता या पद प्राप्त हो जाता है तो उसका विश्व हित में उपयोग करें-ऐसी भी कामना करें। भगवान से सच्चे भक्त को क्या याचना करनी चाहिए-इसके लिए एक संस्कृत उक्ति का निर्देश है-'हे प्रभो! न मुझे राज्य चाहिए और न स्वर्ग या अमरता ही चाहिए। चाहिए तो यही कि मैं दु:खों से सन्तप्त हो रहे प्राणियों के दु:खों को दूर कर सकूं (**न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न च पुनर्भवम्। कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।**)' मनुष्य के चरित्रनिष्ठ हो जाने के बाद उसके पास भी केवल यही कामना शेष रह जानी चाहिए। जब एक मात्र यही कामना शेष रह जाती है तब ही समझिए कि वैसा जीवन सार्थक बन चुका है और वह अपने साध्य के प्रति सदैव समर्पित रहेगा। ऐसा अनूठा समर्पण भाव जब अपने पांवों पर चलता है तो उस चलने का क्या कहिए? वह जब सतत रूप से चलता रहता है तो कोई संदेह नहीं कि उसमें चारों ओर मुरझाए फूल खिलते रहेंगे, बुझे हुए दीपक जलते रहेंगे और आंसू बहाते हुए चेहरे मुस्कुराते-खिलखिलाते रहेंगे। ऐसी निष्ठा चरित्र निर्माण अभियान को सफल बनाने की दृष्टि से जगाने की जरूरत है। एक कवि के इन हार्दिक उद्‌गारों को अपने तन-मन में रचा-बसा लीजिए-

जो न बर्फ की आंधियों से लड़े हैं
कभी पग न उनके शिखर पर पड़े हैं
अगर जी सको तो जिओ तुम जूझ कर
अमरता तुम्हारे चरण चूम लेगी।
जलाओ दिए पर रहे ध्यान इतना
अंधेरा धरा पर कहीं रह न जाए।

मानव जीवन पाने की सार्थकता है-चरेवेति:-चरेवेति: चलते रहो, चलते रहो :

वेदों में यह गान गुंजरित हुआ है-**चरेवेति:-चरेवेति:** अर्थात् चलते रहो। इस गान का मर्म स्पष्ट है कि निरन्तर चलते रहोगे तो कभी थकोगे नहीं, थकोगे नहीं तो रुकोगे नहीं और रुकोगे नहीं तो झुकोगे नहीं। एक सफलताकामी यात्री का यही लक्षण होता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक रोबर्ट फ्रोस्ट ने कहा है-"जंगल में मुझे दो मार्ग अलग-अलग फंटते हुए दिखाई दिए और मैंने उन दो में से वह मार्ग चुना जिस पर बंहुत कम यात्रियों ने यात्रा की थी और मेरे उस चुनाव से मेरे चलने पर भारी अन्तर आया (Two roads diverged in the wood and I took the one less travelled, by and that decision made all the difference.)। किसी भी यात्री में ऐसी स्फूर्ति होनी चाहिए कि वह स्वयं अपनी राह बनावे और मंजिल तक पहुंचे।"

जो जीवन का अर्थ समझ जाते हैं तथा अपने जीवन को विश्वहित पर न्यौछावर कर देने की क्षमता का विकास कर लेते हैं अर्थात् चरित्रशीलता के उस स्तर तक पहुंच जाते हैं, जहां पर दु:खतप्त प्राणियों के दु:ख दूर करने की एकमात्र कामना शेष रह जाती है, वहां कर्त्तव्यनिष्ठा का अद्‌भुत जागरण होता है। महाभारत (शान्ति पर्व) का प्रसंग है-सूर्यदेव की उपासना से धर्मराज युधिष्ठिर को अक्षय पात्र की प्राप्ति हुई। उस पात्र की विशेषता थी कि मांगने पर सब कुछ मिल जाता था। उसे पाकर धर्मराज खूब दान देने लगे और उस दान के साथ उनका अभिमान भी पुष्ट होने लगा। **सोलह हजार साठ** ब्राह्मणों को प्रतिदिन दान देना इतना फलदायक हुआ कि उनकी जयकार से उनका अहं भी आसमान छूने लगा। कर्मयोगी कृष्ण ने बढ़ते हुए इस अभिमान को देखा तो धर्मराज के उस गर्व को उन्होंने तोड़ने का निश्चय कर लिया। वे धर्मराज को साथ लेकर पाताल लोक में राजा बलि के पास पहुंचे। कृष्ण ने बलि को धर्मराज का परिचय कराया और कहा-'तुम दोनों दानी हो इस कारण परस्पर एक दूसरे को जानना चाहिए।' बलि ने नम्रता से कहा-'क्यों लज्जित करते हैं, प्रभो! मैं कहां का दानी हो गया हूँ? ब्राह्मण को तीन पग भूमि तो दे न सका और इस बात से मैं अपने को तुच्छ मानने लगा हूँ।' बलि की इस बात से धर्मराज को धक्का लगा कि अपना सर्वस्व समर्पित करने वाला यह बलि स्वयं को दानी भी नहीं मानता। तब कृष्ण ने बलि को बताया-'बलि! इनके पास एक अक्षय पात्र है, उसके प्रभाव से ये प्रतिदिन **सोलह हजार साठ** ब्राह्मणों को भोजन करवाते हैं।' बलि चौंका, उसने गंभीर होकर पूछा-'प्रभो! यदि आप इसे दान कहते हैं तो पाप किसे कहेंगे?' अब धर्मराज को चौंकाने की बारी थी। कृष्ण ने ही बलि से प्रश्न किया-'क्या तुम दान को पाप मानते हो?' वह बोला-'हाँ प्रभो! मैं तो इसे पाप ही समझता हूँ। इस तरह तो धर्मराज सोलह हजार साठ ब्राह्मणों को अकर्मण्य निकम्मा बना रहे हैं। वे ब्राह्मण धर्मराज की जयकार करके अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान लेंगे और हमेशा के लिए अपने उचित कर्त्तव्य से विमुख हो जाएंगे।' कृष्ण ने बलि से फिर प्रश्न किया-'दैत्यराज! तो तुम दान को उचित नहीं मानते।' बलि ने उत्तर दिया-'मैं दान को उचित मानता हूँ, लेकिन उसी दान को जो लोगों में कर्त्तव्यनिष्ठा जगावे। वह दान ही सर्वश्रेष्ठ है।'

आशय यह है कि जो कुछ भी सत्कार्य किया जाए उसका उद्देश्य यही हो जिससे स्वयं या अन्य का चरित्र निर्माण हो। उसके असर से किसी भी चारित्रिक गुण का विकास होना चाहिए। मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि अधिक से अधिक मानवों के मन में सार्थकता की जिज्ञासा जगाई जाए और उन्हें चरित्रशील बनने की प्रेरणा दी जाए। अभियान के सहभागियों को ऐसे प्रयत्नों में जुट जाना चाहिए और कोशिश करते रहना चाहिए। जो कोशिश में लग जाते हैं, उनकी हार कभी नहीं होती है। इस संबंध में एक कवि ने अपने काव्य से कितनी सटीक प्रेरणा दी है-

लहरों से डर कर,
नौका पार नहीं होती
कोशिश करने वालों की
हार नहीं होती।
नन्हीं चींटी जब दाना लेकर चलती है

चढ़ती दीवारों पर सौ बार फिसलती है
मन का विश्वास रगों में साहस भरता है
चढ़ कर गिरना, गिर कर चढ़ना न अखरता है।
आखिर उसकी हिम्मत बेकार नहीं होती
कोशिश करने वालों की हार नहीं होती।
डुबकियां सिंधु में गोताखोर लगाता है
जा जाकर खाली हाथ लौट आता है
मिलते न सहज ही मोती गहरे पानी में
बढ़ता दूना उत्साह इसी हैरानी में।
मुट्ठी उसकी खाली हर बार नहीं होती
कोशिश करने वालों की हार नहीं होती।
असफलता एक चुनौती है-स्वीकार करो
क्या कमी रह गई-देखो और सुधार करो
जब तक न सफल हो, नींद चैन की त्यागो तुम
संघर्षों का मैदान छोड़ मत भागो तुम।
कुछ किए बिना ही जयजयकार नहीं होती
कोशिश करने वालों की हार नहीं होती।

श्रीमद् भगवत् गीता के निम्न संदेश पर आन्तरिकता से विचार करें और कर्त्तव्यनिष्ठा की बुद्धि के साथ अपने कर्त्तव्यों का सही रूप से निर्धारण करें। कर्त्तव्य निर्धारित हुए तो समझो कि धर्म को धारण कर लिया और धर्म को धारण किया तो चरित्र का वरण हो गया। चरित्र का वरण निरन्तर चलते रहने की शिक्षा देगा और मानव जीवन को सार्थक बना देगा। वह सन्देश है-'हे अर्जुन! तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार हो, फल में कभी नहीं और तू कर्मों में फल की वासना वाला भी मत बन तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न हो। आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर'-यह समत्व भाव ही योग नाम से कहा जाता है (अध्याय 2 श्लोक 45-48)।

◆◆◆



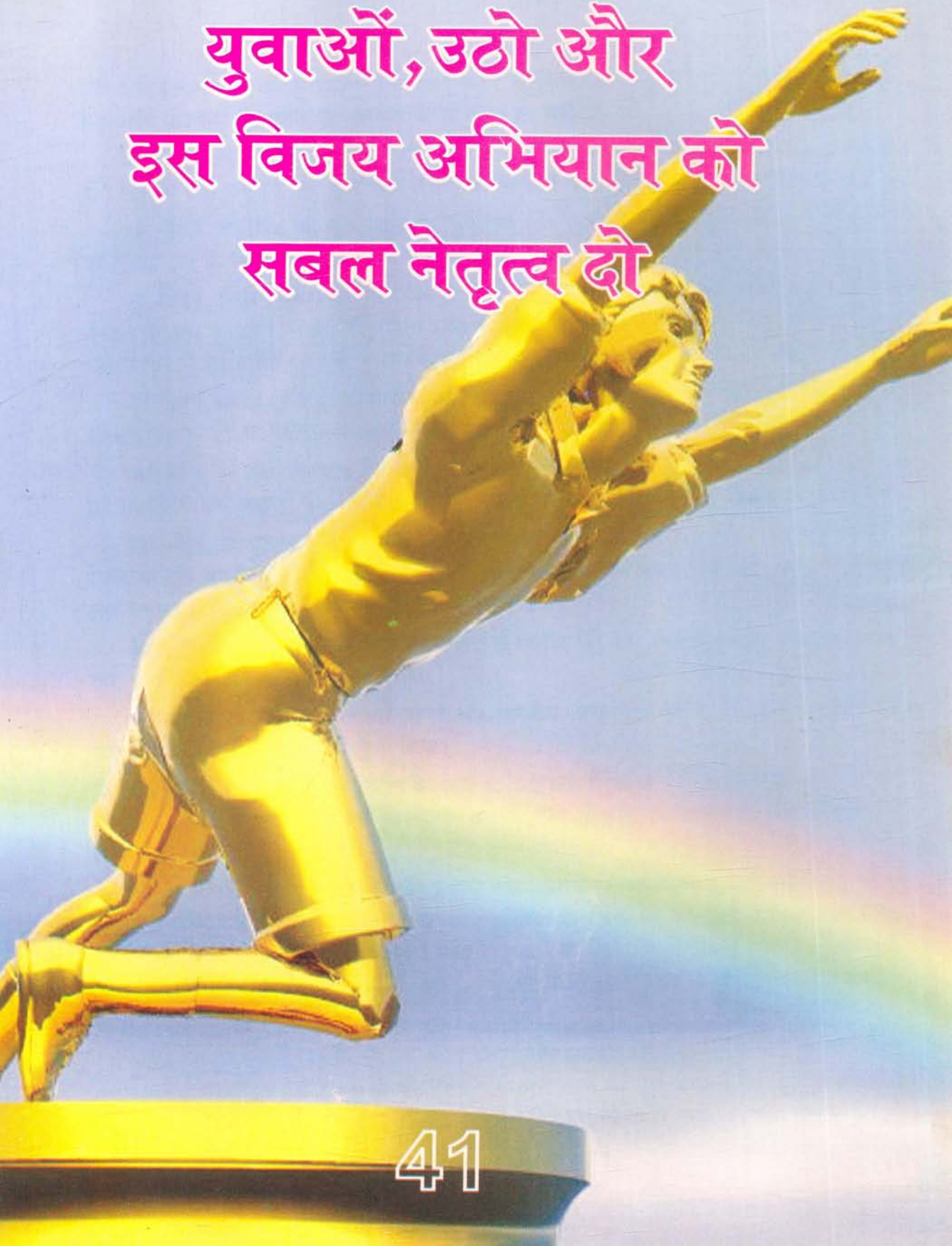
युवाओं, उठो और इस विजय अभियान को सबल नेतृत्व दो!

ऊर्जावान युवाओं से नेतृत्व की उम्मीद

यौवन के धनी युवानों और नई पीढ़ी के सदस्यों से अन्त में एक विशेष चर्चा करना चाहता हूँ और उन्हें बताना चाहता हूँ कि यदि युवाओं का सहयोग चरित्र निर्माण अभियान को प्राप्त हो तो उसकी सफलता की विशेष संभावना मानी जा सकती है। मैं तो कहूं कि इस अभियान का पूरा नेतृत्व ही अपने हाथों में ले लें तो फिर वे फौलादी हाथ अभियान को संगठित करने, उसका सब ओर विस्तार करने तथा उसके सुपरिणाम सामने लाने में वे कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। मैं यहां से सत्साहस एवं श्रेष्ठ उत्साह को प्रोत्साहन देने के निमित्त से दो शब्दों में युवाओं, उनकी यौवन की तेजस्विता तथा आदर्शों की सम्पूर्ति के विषय में अपने उद्‌गार प्रकट कर रहा हूँ।

मैं युवाओं से कहना चाहता हूँ कि युवक एवं युवतियां सामान्य जन नहीं होते हैं। वे विशिष्ट होते हैं, क्योंकि उनका यौवन विशिष्ट होता है और अति अति विशिष्ट होता है। समाज के स्वस्थ सर्जन में उस यौवन का वेग उभरते यौवन और उसके वेग के दर्शन प्राचीन से अर्वाचीन तक प्रत्येक युग में होते आए हैं और जो सदा भविष्य को प्रेरित करते रहे हैं। इतिहास के पन्नों को टटोलें तो यौवन

युवाओं, उठो और इस विजय अभियान को सबल नेतृत्व दो



41

और उसके वेग तथा उसके सत्प्रयोग के ऐसे चरित्र नायक सामने आए हैं जिनके जीवन चरित्र को पढ़-जान कर हम आश्चर्य और आनन्द से अभिभूत हो जाते हैं।

वह यौवन, जिसने केसरी सिंह के दोनों जबड़ों को अपने कोमल हाथों से फाड़ कर बेडर उसके दांत गिने थे और उसका नाम एक जीवन्त देश का सनातन नाम हो गया।

वह यौवन, जो पिता की एक आज्ञा पर लुट गया और खुशी-खुशी राज सिंहासन को त्याग कर पूरे चौदह वर्ष के लिए वन को प्रस्थान कर गया।

वह यौवन, जिसने युवावस्था के रंगीन दिनों में भोग से योग की दीक्षा ली, साढ़े बारह वर्ष तक कठिन तप का आराधन किया, वीतरागता प्राप्त की और विश्व को अहिंसा का अमर सन्देश दिया। धर्म प्रवर्तन में नई क्रांति की तथा मनुष्य की प्रतिष्ठा को पहली बार देवों से भी ऊपर प्रतिष्ठित की।

वह यौवन, जो संसार के दु:खों से राजकुमार होते हुए भी स्वयं दु:खी हो गया और दु:ख निवारण का संकल्प लेकर रात्रि के निबिड़ अंधकार में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए महाभिनिष्क्रमण कर गया।

वह यौवन, जो इतना केन्द्रस्थ कि अपना लक्ष्य साधने और वेधने के लिए वह न घूमते चक्र को, न पूरी कपड़ों से बनी मछली को, बल्कि सिर्फ उस मछली की आंख को ही कड़ाह के तेल में देखता था।

वह यौवन, जो प्राणप्रण से जुट गया और राजा होकर भी जंगल-जंगल भटकता रहा, चाहे उसके राजकुमार के मुंह की सूखी रोटी भी वन्य पशु छीन कर ले गया, किन्तु जिसने न अपने राज्य की स्वतंत्रता खोई और न अपने स्वाभिमान की तेजस्विता।

वह यौवन, जो स्वाधीनता के विरुद्ध हर चाल से लड़ता रहा और आततायियों के दांत खट्टे करता रहा, अपने गढ़ की अन्तिम विजय तक।

वह यौवन, जो भगवा पहिन कर पहली बार भारतीय संस्कृति के संदेश को गुंजाने समन्दर पार चल पड़ा और उसे विश्वभर में गुंजा दिया।

वह यौवन, जिसने अपने बलिदान के बल पर अहिंसक विधा से पूरे देश के एक-एक जन को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रति सजग एवं आस्थावान बनाया, फिर भी उसे एक हत्यारे की गोली का शिकार होना पड़ा।

इस यौवन की गाथाएं अनन्त हैं और इसका वेग अपराजेय। क्या आज वे युवा गण अपार गौरव का अनुभव नहीं करते अपने ऐसे यौवन पर? किन्तु गौरव केवल यौवन का नहीं, उसके सत्प्रयोग का होता है, जिसका विस्तार व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक किया जा सकता है। कारण, उमंग भरा यौवन सब को देता ही देता है-सहयोग, त्याग, बलिदान परन्तु अपने लिए किसी से कुछ मांगता नहीं, लेता नहीं।

आज के युवक और युवतियों, एक पल रुकिए और सोचिए कि क्या वर्तमान में आपके यौवन का इस रूप से अस्तित्व है? क्या आपके सम्पर्क में आने वाले महसूस करते हैं कि आपके यौवन में कुछ ऐसा हितावह तत्त्व है जो असर डालता है किसी गिरे हुए को ऊपर उठाने में या पिछड़ते हुए को

अपना हाथ देने में? आपका अस्तित्व दूसरों के सुखद अनुभव पर निर्भर करता है-इस तथ्य को कदापि न भूलिए। जब आपका अस्तित्व उपजता है, तब बनता है आपका व्यक्तित्व। व्यक्तित्वहीन व्यक्ति बिना सिर का धड़ होता है। अगर उसकी पहचान नहीं तो वह कैसा यौवन है? व्यक्तित्व आपको सामाजिक जीवन में स्थापित करता है, सबसे जोड़ता है और सबके दिलों में अपनत्व का रस घोलता है। तब चमकता है व्यक्तित्व का वर्चस्व। यह वर्चस्व किसी बाहरी शासक जैसा नहीं, हृदय पर शासन करने वाले जैसा होता है। जन-जन के हृदय सिंहासन पर बैठा कर वह वर्चस्व सबके बीच अपना प्यार उंडेलता है, सहयोग का हाथ बढ़ाता है और हर बलिदान की चुनौती को स्वीकार करता है। तभी वह चरित्र निर्माता से चरित्र नायक बन सकता है।

अस्तित्व, व्यक्तित्व व वर्चस्व की सीढ़ियां एवं चरित्र विकास के सोपान :

इस प्रकार अस्तित्व, व्यक्तित्व एवं वर्चस्व की सीढ़ियां चढ़ कर यौवन और गौरवशाली बनता है और साथ ही चरित्र निर्माण के उपरान्त चरित्र विकास के सोपानों पर एक-एक करके ऊपर चढ़ता है। क्यों बन पाता है यौवन गौरवशाली? इसी कारण कि उच्चतम विकास की ओर गतिशील बनता हुआ यौवन सबसे पहले अपनी ही आन्तरिकता में गौरव को ढालता है, फिर उस गौरव को बाहर बिखेरता है कि वह गौरव एक-एक व्यक्ति की सांसों में समा कर समूचे विश्व में व्याप्त हो जाए। कर्म की सतत प्रेरणा से वह गौरव चिरस्थायी बनता है। यही यौवन जब चरित्र निर्माण अभियान को सफल बनाने के विविध आयोजनों में कार्यरत बनेगा तो समझिए कि युवा लोग वैसे ही गौरव को भीतर-बाहर सब ओर जगाएंगे तथा चरित्र निर्माण की प्रक्रिया का सब ओर विस्तार करेंगे। स्वयं के चरित्र विकास तथा अन्यों के चरित्र निर्माण की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी और यौवन के सुप्रभाव को स्पष्टत: सिद्ध कर देगी।

किन्तु युवा शक्ति को गौरव के इन सोपानों पर चढ़ते हुए अपने विकृत वर्तमान को देखना होगा, चरित्रहीनता से उपजी विषमताओं को समझना होगा तथा चरित्रशीलता की महत्ता को विस्तृत रूप से प्रचारित करना होगा। इसके लिए पहले स्वयं को अपने ही भीतर झांकना होगा तथा दृष्टाभाव से अपने गुण दोषों को परख कर आत्म-संशोधन करना होगा। तभी तो आभास होगा कि कैसे-कैसे विचार किस रूप में फैले हुए हैं तथा व्यक्ति एवं समूहों के चरित्र को हानि पहुंचा रहे हैं? तब युवानों में चिन्तन की धारा बहेगी और उनका संकल्प बनेगा कि कैसे प्रयत्नों से तथा कितनी शीघ्रता से इन सारे विकारों से छुटकारा पाया जा सकता है तथा चरित्रनिष्ठा का त्वरित विकास किया जा सकता है? फिर युवा शक्ति स्वयं तेजी से बदलेगी-स्वत: नए ओजस्वी रूप में ढलने लगेगी और तब समूचे वातावरण को शुभता, शुद्धता एवं सात्विकता में बदलते हुए यौवन के गौरव को स्थापित करेगी। युवा शक्ति बदलेगी और शक्ति का रूप ग्रहण करेगी तभी वह सबको-सकल विश्व को बदल पाएगी और बनेगी स्वस्थ समाज की सर्जक। यों तो व्यक्ति से लेकर विश्व तक सभी की पर्यायें पल-पल बदलती रहती हैं दिशाहीन-सी, किन्तु उसे दिशाबोध कराने तथा उस दिशा में चलाने का काम युवा शक्ति ही कर सकती है। आज तक क्या यह यौवन अपने किसी भी उत्तरदायित्व से कभी पीछे हटा है? फिर आज का यौवन ही चारित्रिक परिवर्तन लाने के उत्तरदायित्व से पीछे क्यों हटेगा? किसी भी

युग के युवक से आज का युवक कमजोर नहीं है। यदि कमजोरी दिखाई देती है तो सत्य स्थिति यह है कि आज की युवा शक्ति ने अविचार की दशा में कमजोरी ओढ़ रखी है। अब समय आ गया है कि युवा शक्ति इस ओढ़ी हुई चादर को तार-तार कर दे और इतनी दूर फैंक दे ताकि उस पर परिश्रम का नया कवच चढ़ जाए और आगे के लिए वह चरित्र निर्माण के महत्कार्य को सफलता तक पहुंचाने हेतु निर्द्वन्द एवं निर्भय बन जाए।

युवकों और युवतियों को अपनी आन्तरिकता एवं मनौवैज्ञानिकता का अध्ययन आरम्भ कर देना चाहिए। सच पूछे तो यही स्वाध्याय है, अपना अध्ययन वही तो सच्चा स्वाध्याय होता है। इसके अन्तर्गत पहचान की जाए कि एक युवक की नैसर्गिक शक्तियाँ (Instincts) क्या होती है तथा उसके सम्बद्ध संवेग (Emotions) कैसे प्रकट होते हैं? मनोविज्ञान की दृष्टि से नैसर्गिक शक्तियां और सम्बद्ध संवेग क्रमशः इस प्रकार माने गए हैं-1. पलायन (Scape) एवं भय (Fear), 2. युयुत्सा (Combat) एवं क्रोध (Anger), 3. निवृत्ति (Repulsion) एवं विरुचि (disgust), 4. पैतृक भावना (Paretnal-feeling) एवं दया (Tender-feeling), 5. समवेदना-सहानुभूति (Apeal) एंव दुःख (Distress), 6. संभोग (Mating sex) एवं काम (Lust), 7. जिज्ञासा (Curiosity) एवं आश्चर्य (Wonder), 8. अधीनता (Sub mission) एवं आत्महीनता (Negative slef being), 9. स्वाग्रह (Asarsan) एवं आत्माभिमान (Positive self being), 10. यूथ चारिता (Gregoreasnece) एवं एकाकी भाव (Loneliness), 11. खाद्यान्वेषण (Food sicking) एवं तृप्ति (Gusto), 12. परिग्रहण (Acquisition) एवं स्वत्व (Ownership), 13. रचनात्मकता (Constructiveness) एवं कृति (Creativeness) तथा 14. ह्रास (Laughter) एवं आमोद (Amusement)। इनका अध्ययन करने से मानसिकता की कार्यप्रणाली भली प्रकार समझी जा सकेगी तथा मन को सरलतापूर्वक आत्म-नियंत्रण में लाया जा सकेगा।

युवानों को सदुपयोग की दृष्टि से अपना समय चक्र इन चार नियमों के आधार पर निश्चित करना चाहिए-1. पहले अपने लक्ष्याधीन कार्यों की सूची तैयार करो, 2. फिर एक सुनिश्चित कार्यक्रम की रूपरेखा बनाओ, 3. तब उसे पूर्ण करने हेतु उपयुक्त समय चक्र का निर्धारण करो तथा 4. तदनन्तर आवश्यक तत्त्वों पर अपने ध्यान को एकाग्र एवं केन्द्रित बना लो। चरित्र निर्माण तथा चरित्रशीलता का प्रचार सफलतापूर्वक करने के लिए यह त्रिसूत्री फार्मूला अपनाया जा सकता है-1. अपने भीतर झांको और अपने आपको जानो-(अ) मोटे तौर पर अपनी जैविकी (Biology) को समझो, (ब) स्पष्ट रूप से अपनी मानसिकता (Sicology) का अध्ययन करो और (स) पूर्ण रूप से अपनी आत्मिक शक्ति (Spirituality) की अनुभूति लो, 2. तब अपने विचार, वचन एवं कर्म का उपचार स्वयं करो जिससे वांछित सब कुछ स्वयमेव ही उपलब्ध होता जाएगा एवं 3. जीवन में स्थित प्रज्ञता की अवस्था को पनपाओ और उसका निरन्तर अभ्यास करो। यह फार्मूला युवकों को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप से सशक्त बनाएगा।

वैज्ञानिक साधनों के कारण देहसुख की लालसाओं का कुप्रभाव हो अथवा पाश्चात्य संस्कृति का अपरूप माथे पर चढ़ गया हो, जो आज की युवा पीढ़ी किसी रूप से रास्ते से भटक गई है, उसे

अब हर हालत में सावधान हो जाना चाहिए, क्योंकि विनष्ट किया गया अमूल्य यौवन फिर से अभी भी पाया नहीं जा सकेगा। यौवन ही हतप्रभ रहेगा तो उसके प्रयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु अभी भी समय है कि हतप्रभ यौवन को पुन: प्रभावान बना लें और उसके सत्प्रयोग का संकल्प ले लें।

यौवन कहता है-मुझे गिरा के भी अगर तुम संभल सको तो चलो! :

युवा शक्ति के त्याग और बलिदान की अति का दिग्दर्शन कराती हुई यह गजल मननीय भी है तो अनुकरणीय भी-

सफर में धूप तो होगी
जो चल सको तो चलो
सभी हैं भीड़ में, तुम भी
निकल सको तो चलो
यहां किसी को कोई रास्ता नहीं देता
मुझे गिराके भी अगर तुम
संभल सको तो चलो
कहीं नहीं कोई सूरज,
धुआं धुआं है फिजां
खुद अपने आप से बाहर
निकल सको तो चलो
यही है जिन्दगी-चलना व कामयाब होना
इन्हीं मकसदों से तुम भी
मचल सको तो चलो
सभी है भीड़ में, तुम भी
निकल सको तो चलो।

युवा शक्ति को झिंझोड़ता-प्रेरणा देता हुआ प्रसिद्ध साहित्यकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का यह उद्‌बोधन भी चिन्तन योग्य है-"1. यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में आग लगी हो तो क्या तुम पास वाले दूसरे कमरे में सो सकते हो? 2. यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में लाश पड़ी हो तो क्या तुम दूसरे कमरे में गाना गा सकते हो? 3. यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में लाशें सड़ रही हो तो क्या तुम दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो? 4. और यदि हां, तो तुम्हें मुझे कुछ भी नहीं कहना।"

भारतीय दर्शन की भी अन्तिम परिणति यही है कि युवक अपने मूल स्वरूप को समझे और उसकी सच्ची साधना भी यही है। त्याग और बलिदान वाले अपने मूल स्वरूप को पहिचान लिया तो समझो कि यौवन के वेग और उसके सत्प्रयोग को भी पहचान लेने में कोई कठिनाई नहीं रहेगी। तब यौवन स्वयं पूछेगा कि क्या तुम्हारी साधना सिर्फ जीने के लिए है? तब युवक ही अपने यौवन को

भीतर ही भीतर ललकारेगा और उत्तर देगा-नहीं, सिर्फ जीने के लिए ही नहीं। जीने की सार्थकता जीने से भी ऊपर है और वह सार्थकता है-यौवन को चरित्र निर्माण की रचनात्मकता में पूरी तरह से नियोजित कर देना। कोई जी रहा है और वह पूछे कि क्या जीना पाप है? जीने को कोई पाप नहीं कहेगा। धर्म भी कहेगा-तू मत मर बल्कि किसी को मार भी मत। सबकी जिजीविषा होती है किन्तु युवक की आकांक्षा इस जिजीविषा से ऊपर उठने की होती है और वह होती है उत्सर्ग की आकांक्षा। जीना सामान्य बात है किन्तु जीवन को किसी शुभ साध्य के लिए न्यौछावर कर देना उत्सर्ग है और ऐसा त्याग यौवन के लिए ही सहज होता है। तदनुसार युवक-युवतियों की चार भावनाएं उनके जीवन में समविष्ट हो जानी चाहिए, ये चार भावनाएं हैं-

1. अहिंसा की भावना : संसार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जीने की कामना प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है। यों जीवन का ऐसा स्वरूप है तथा इस स्वरूप की रक्षा धर्म है। अहिंसा का स्वर जीवित रहने की भावना से ही फूटा है। प्रत्येक प्राणी के प्रति सहृदय रहना अहिंसा का मूल है। परस्पर सहृदयता, प्रेम, करुणा, सहयोग-ये सब मनुष्य की जीवित रहने की भावना के ही प्रतीक हैं तथा उसी भावना के विकास का रूप हैं।

2. सुख की भावना : सुख की भावना है सुख पाने के लिए। इससे ही प्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील रहता है। निष्कर्ष यह है कि सुख आत्मा का स्वरूप है। भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह आनन्दमय है और सच्चिदानंद स्वरूप है। उच्चतम आनंद की कल्पना इसके साथ जुड़ गई है, किन्तु आनन्द के सही स्वरूप को पहचानने की समस्या रहती है। अज्ञानवश जिसे सुख समझ लिया और उसके पीछे भाग दौड़ के बाद अनुभव हुआ कि यह तो मृग मरीचिका है-तब सारा प्रयास निरर्थक हो जाता है। सुख का स्वर भीतर से उठना चाहिए-स्वयं सुखी हो, अन्य सबको भी सुखी बनाने की चेष्टा करें। यह जीवन सुख के लिए है-सुखी और प्रसन्न रहने के लिए है, हंसने और हंसाने के लिए है, रोने-चीखने के लिए नहीं। परन्तु सोचने की बात है कि जो स्वयं के जीवन को ही भार के रूप में ढो रहा है, वह विश्व को जीने का क्या सम्बल देगा? इसलिए स्वयं जीएं और दूसरों को जीने दें, स्वयं सुखी रहे और दूसरों को सुखी रहने दें तथा दुःखी हों उन्हें सुखी बनावें। किसी का जीवन या सुख कभी भी लूटने का दुष्प्रयास न करें।

3. स्वतंत्रता की भावना : सबकी आत्मा स्वतंत्रता चाहती है, किसी को भी बन्धन पसंद नहीं। विश्व में बन्धन और मुक्ति का संघर्ष सिर्फ साधकों के क्षेत्र में ही नहीं होता, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी गूंज सुनाई देती है। कहीं भी कोई गुलाम नहीं रहना चाहता। हर कोई आजाद रहना पसंद करता है। एक देश दूसरे देश की गुलामी और अधिकार में नहीं रहना चाहता, एक जाति दूसरी जाति के दबाव में रहना पसंद नहीं करती। वास्तविक स्थिति यह है कि आत्मा में स्वतंत्र रहने की वृत्ति बड़ी प्रबल है। प्रेम के वश कोई भी किसी का हो सकता है, किन्तु गुलाम बन कर किसी के बंधन में रहने को कोई तैयार नहीं। क्योंकि स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है, स्वरूप है और उसका अधिकार है। स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है-यह नारा राजनीतिक क्षेत्र में लोकमान्य तिलक ने भले ही लगाया हो पर यह नारा भारतीय संस्कृति का बुनियादी नारा है।

4. जिज्ञासा की भावना : ज्ञान पाने की इच्छा ही जिज्ञासा है तथा जीवन, सुख और स्वतंत्रता की

भावनाओं के समान ही यह भी आत्मा की नैसर्गिक भावना है। जीव का स्वरूप ज्ञानमय है (**जीवो उवओग लक्खणो**)। बल्कि जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है (**जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया**)। वैदिक परम्परा में भी यही स्वर मुखरित हुआ कि ज्ञान है, वही ईश्वर है (**प्रज्ञानं ब्रह्मः**)।

इन चारों भावनाओं को आत्मसात् करना प्रत्येक युवक एवं युवती के लिए आवश्यक है, ताकि वे चरित्रहीनता के दल-दल में फंसे व्यक्तियों की भावनाओं को समझ सके, उन्हें भावनाशील बना सके तथा उन्हें चरित्रशीलता से विभूषित कर सके।

विवेक और शक्ति का सम्मिश्रण चाहिए यौवन के वेग में :

यौवन बावले घोड़े की तरह होता है, जो चपल और चंचल ही नहीं, तीव्र गति वाला भी होता है। उस पर सवारी साधना सरल है तो दुरुह भी है। यौवन अरबी घोड़े की तरह शक्ति का पुंज होता है। शक्ति अगर बेलगाम है तो उस पर नियंत्रण पाना तो कठिन होता है किन्तु उसके सदुपयोग की संभावना भी कम हो जाती है। जैसे बावले घोड़े पर लगाम लग जाए तो हवा से बातें करते हुए उस घोड़े पर चढ़कर लंबी दूरियां नापी जा सकती है, उसी तरह यौवन की अपूर्व शक्ति के साथ विवेक का सम्मिश्रण हो जाए तो वही यौवन इतना रचनात्मक हो सकता है कि फिर उसकी गति हवा से ही बातें करेगी। यौवन के वेग में शक्ति के साथ विवेक का सम्मिश्रण नितान्त आवश्यक है।

यह मान्यता सही नहीं है कि जो भी गुण प्राप्त हुआ है या वस्तु मिली है, उसका यथावत् रीति से कुछ न कुछ उपयोग होना चाहिए। यह गलत धारणा है। उपयोग के साथ हर हालत में विवेक का होना जरूरी है, क्योंकि विवेक में ही क्षीर-नीर बुद्धि होती है। जब तक यह ज्ञात न हो कि अमुक गुण या वस्तु में शुभता का दूध अधिक है या अशुभता का पानी-तब तक उपयोग की सार्थकता का आकलन नहीं किया जा सकता है। शक्ति से कार्य करने का सामर्थ्य तो मिल जाएगा, किन्तु उससे उस सामर्थ्य के उपयोग की समस्या हल नहीं होगी। सामर्थ्य के सदुपयोग की समस्या का समाधान तो विवेक ही निकाल सकेगा। शक्ति तो दुर्योधन और दुःशासन में भी थी और कंस तथा रावण में भी थी, लेकिन उस शक्ति का परिणाम क्या निकला? क्या उससे व्यक्ति या विश्व का कुछ भी भला हुआ? किसी भी रूप में पहुंचा हो, उनकी शक्ति के प्रयोग से विश्व की हानि ही हुई। विद्या अज्ञान के अंधेरे से दूर करने के लिए है, ज्ञान के प्रकाश के लिए है। उस विद्या का उपयोग यदि पंथों, सम्प्रदायों और मजहबों की लड़ाई में किया जाए तो वह उस विद्या का दुरुपयोग ही होगा। विद्या के इस उपयोग से वातावरण में पवित्रता नहीं उपजेगी, बल्कि उसमें अधिक कटुता, विद्वेष और उत्तेजना ही फैलेगी। इसी प्रकार धन और बल का दुरुपयोग भी विध्वंसकारी होता है। किसी के पास धन या बल है तो उसका यह मतलब नहीं होता कि उससे वह दूसरों के लिए विपदाएं खड़ी करें। विवेक और अभाव में शक्ति सदुपयोग मुश्किल से ही दिखाई देगा। यही कारण है कि शक्ति के साथ विवेक होगा तभी वह शुभ और सुखद बन सकेगी। यदि किसी के पास शक्ति भी है और विवेक भी है तो वह अपनी प्राप्त शक्ति के सहयोग से किसी गिरते हुए का हाथ थामेगा और उसे अपनी छाती से लगा कर जीवन को सार्थक बनाने की प्रेरणा फूंकेगा, लेकिन यदि शक्ति के साथ विवेक न हुआ तो वह

गिरते हुए को एक और धक्का लगाएगा कि पतित कभी उठ ही नहीं पावे। पतित को पावन बनाने का दायित्व तो विवेकवान भी नहीं निबाह पाता है जब वह चरित्रवान भी बन जाए।

चरित्र और विवेक जब एक रूप हो जाते हैं तब तो प्राप्त शक्ति का कहना ही क्या? उसका सदुपयोग ही नहीं होगा, बल्कि उस शक्ति का ऐसा अपूर्व विकास होगा कि वह व्यक्ति को न केवल शुभता का संयोग ही मिलाएगी, बल्कि उसे उन संयोगों के संरक्षण का सामर्थ्य भी प्रदान करेगी। संयोग किसे कहें? संयोग शब्द योग से बना है और योग की एक व्याख्या यह भी है कि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराने वाला (**अप्राप्तस्य प्राप्तियोंगः**)। जिसे पाने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए हों, अनेक आकांक्षाएं मन में उभरी हों, उस वस्तु का मिल जाना योग है अथवा कभी आकस्मिक रूप से बिना प्रयत्न के अनचाहे ही किसी वस्तु का मिल जाना भी योग ही है। ऐसा योग प्रत्येक प्राणी को मिलता रहता है। जो प्राणी जहां पर है, उसी गति-स्थिति के अनुसार उसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मिलते रहते हैं। लेकिन कोरे संयोग का कोई अर्थ नहीं, जो अर्थ है वह सुयोग का है। इस सुयोग को संरक्षण की आवश्यकता होती है, क्योंकि सुयोग के रहते कठिन से कठिन कार्य भी उतने कठिन नहीं रहते। सुयोग से प्राप्त गुण या वस्तु के यथोचित उपयोग का अवसर बना रहता है। संयोग से सुयोग श्रेष्ठ है किन्तु इस सुयोग से भी अधिक श्रेष्ठ है उसका संरक्षण तथा उसका सर्वजन हितकारी उपयोग।

सर्वजन हितकारिता की प्रेरणा उन्नत चरित्र से मिलती है क्योंकि विवेक को दिशा निर्देश देती है चरित्रशीलता। इस कारण चरित्रशीलता की शक्ति सर्वश्रेष्ठ होती है। चरित्र निर्माण अभियान के इससे जुड़े विशेष महत्त्व को समझा जाना चाहिए जिसके माध्यम से विवेक एवं शक्ति के सम्मिश्रण को सर्वजन हित की दिशा में कार्यक्षम बनने का प्रोत्साहन मिलता है। अभियान के सहभागियों को यह सत्य हृदय में उतार लेना चाहिए कि हमें सिर्फ जो कुछ शक्ति के रूप में प्राप्त हुआ है, उस पर इतराना नहीं चाहिए-यह पहली बात। दूसरी बात यह कि उस प्राप्ति के साथ विवेक और चरित्र का कवच जोड़ना चाहिए जिससे प्राप्त शक्ति का सदुपयोग हो सके तथा सदुपयोग होता रहे। तीसरी बात यह कि संयोग के साथ सदुपयोग के होते रहने से जो सुयोग मिले, उसकी रक्षा की जाए तथा सदुपयोग के अवसर को जीवन्त बनाए रखा जाए। चरित्र निर्माण एवं विकास का यही लक्ष्य बने तो न यौवन राह से भटकेगा और न ही उसका वेग किसी का अहित कर सकेगा।

एक आदर्श युवक या युवती में किन चारित्रिक गुणों की अपेक्षा होती है?

चारित्रिक सद्गुणों के धारक युवक एवं युवतियां ही अपनी विवेकशीलता तथा कार्यक्षमता से आदर्शों की दिशा में प्रयाण करते हैं तथा उस चरम आदर्श को आत्मसात् भी करते हैं। युवानों के लिए वह आदर्श कैसा हो सकता है, उसकी एक कल्पना स्वामी विवेकानन्द के इस गीत से मुखरित हो रही है-

वह जो तुम में है
और तुम से परे भी
जो सबके हाथों में बैठ कर काम करता है,

जो सबके पैरों में समाया हुआ चलता है
जो तुम सबके घट में व्याप्त है
उसकी आराधना करो
और
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो।
जो एक साथ ऊंचे पर नीचे भी हैं
पापी और महात्मा
ईश्वर और निकृष्ट कीट
एक साथ ही है
उसी का पूजन करो
जो दृश्यमान है,
ज्ञेय है,
सत्य है,
सर्वव्यापी है
और अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो।
ओ विमूढ़,
जागृत देवता की उपेक्षा मत करो
उसके अनन्त प्रतिबिम्बों से ही यह विश्व पूर्ण है
काल्पनिक छायाओं के पीछे मत भागो
जो तुम्हें विग्रह में डालती है
उस परम प्रभु की उपासना करो
जिसे सामने देख रहे हो
और
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो

सोचिए कि आप सामने क्या देख रहे हैं? जो सामने देख रहे हैं उसी की उपासना करो, उसी का हित साधन करो और उसी की सेवा में अपने समग्र जीवन का समर्पण कर दो। यही हो सकती है उत्कृष्ट चरित्रशीलता एवं वेगवान यौवन की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए सच पूछें तो अपेक्षित है नए मानव का जन्म। इसके लिए जरूरत होती है संस्कारों तथा शिक्षा की, क्योंकि इनकी उपलब्धि से ही समस्याएं सुलझेगी। किन्तु संस्कार और शिक्षा भी हमारे यहां समस्याएं हैं। संस्कारों की समस्या सुलझेगी चरित्र निर्माण से तथा शिक्षा में भी ज्ञेय, हेय एवं उपादेय का ज्ञान जोड़ा जाएगा तो वह भी निर्माणकारी बन जाएगी।

आदर्श युवक या युवती किसे मानें? उसके लिए यह पंचशील की कसौटी है-

1. **आत्मविश्वासशील :** अपनी आन्तरिक दृढ़ता पर जिसका अटल विश्वास होता है, वह कभी किसी अंधविश्वास की ओर नहीं मुड़ता है तथा गलत बहकावों में भी नहीं आता है। दृष्टा भाव इस आत्मविश्वास को पुष्ट करता हुआ बढ़ता रहता है।
2. **सहनशील :** जो शक्तिधारी होता है और उस शक्ति के साथ विवेक व चरित्र जुड़ा हुआ होता है, वह कभी भी आक्रामक, असहिष्णु अथवा अहंकारी नहीं होता है। विवेक उसे सहनशील बनना सिखाता है। सहनशीलता व्यक्ति को दोषमुक्त बनाती है।
3. **विचार-विवेकशील :** आचरण के साथ विवेक तभी स्थिरता से संयुक्त रह सकेगा जब वैचारिकता पर भी विवेक का पूरा प्रभाव हो। विवेकशीलता आत्म-नियंत्रण का श्रेष्ठ गुण होता है।
4. **कर्म-पुरुषार्थशील :** आचार और विचार से पुष्ट बनने वाली चरित्रशीलता कभी भी निष्क्रिय नहीं रह सकती है। वह कर्म करेगी, अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करेगी ताकि व्यक्ति से लेकर विश्व तक का वातावरण हितावह बन सके।
5. **चरित्रशील :** चरित्र निर्माण की सक्रियता का सुपरिणाम चरित्रशीलता में विकसित होता है। एक चरित्रशील व्यक्ति सदैव लोक कल्याण में निरत रहता है तथा विश्व में चरित्र निर्माण को सदैव एवं सर्वत्र प्रोत्साहित करता रहता है।

यह पंचशील अपने जीवन मे अपना कर जो युवक एवं युवती किसी सदुद्देश्य के लिए काम करते हैं, उनके स्वभाव में निम्न उपलब्धियां स्वत: ही प्रकट होती रहेगी तथा उसके चरित्र को निखारती रहेगी-

यह युवक या युवती बनेंगे-1. तनाव मुक्त होकर जीने वाले, 2. प्रति स्रोत में चलना जानने वाले, 3. वर्तमान में जीने वाले, 4. परिस्थितियों से लोहा लेने वाले, 5. पुरुषार्थ का प्रयोग करने वाले, 6. आत्मविश्वास को बढ़ाने वाले तथा, 7. संयत एवं अनुशासित होकर रहने वाले। नए मानव की संरचना में ये कारक महत्त्वपूर्ण हैं-1. कर्त्ता के साथ ज्ञाता बनना, 2. दृष्टाभाव जागृत करना तथा, 3. संकल्पशक्ति को बढ़ाना। नए मानव के तीन आयाम हो सकते हैं-1. सहजता, 2. सामान्यता तथा 3. सर्वप्रकार की समता।

चरित्र निर्माण के महत्कार्य में ईश्वरत्व का दर्शन करे यौवन :

युवानों के लिए चरित्र निर्माण से बढ़ कर अन्य कोई रचनात्मक कार्य नहीं हो सकता है। सचमुच में चरित्र निर्माण एक महत्कार्य है। जब गुणवान्, विवेकवान् एवं चरित्रवान् युवा वर्ग इस महत्कार्य में स्वयं को प्रवृत्त बनाएगा तो उसे इसमें उस ईश्वरत्व के दर्शन करने चाहिए, जो पद दलित, शोषित एवं उत्पीड़ित मानव को दु:ख मुक्त एवं उन्नतिशील बनाने के लिए सदा अद्‌भुत प्रेरणा देता आया है। जो इस रूप में कर्मयोगी बनता है उसे ईश्वरत्व का साक्षात्कार अवश्य होता है। क्या होता है कर्मयोग? इसकी सीधी सादी परिभाषा यह है कि जो भी सत्कार्य आप अपने हाथ में लेते हैं, उसे सच्चाई और ईमानदारी के साथ पूरा करें तथा उसके बदले में कभी भी कुछ न चाहें। उस कार्य पूर्ति को आत्मसन्तोष का विषय समझना चाहिए। जो केवल अपनी आत्मवृत्तियों को तृप्त करने के लिए

कोई कार्य करता है, वही कर्मयोगी बन सकता है। अपने कर्त्तव्य पालन में एकाग्र होकर निरत होना तथा पूर्ण रूप से अपने 'स्व' को उसमें तिरोहित कर देना कर्मयोग का लक्षण है। इसके साथ सच्चाई यह है कि कर्मयोगी को अपने सत्कार्य में ईश्वरत्व के दर्शन होते हैं, क्योंकि प्रत्येक दु:खतप्त प्राणी में ईश्वर का निवास होता है।

कर्म योग की दिशा में अग्रगामी होने की आकांक्षा रखने वाले युवानों के लिए कुछ निर्देश-

1. अपना कर्त्तव्य पालन सदा उसी उत्साह और उत्सुकता से करो जैसा अपना निज का हित साधन में करते हो। घर और बाहर सर्वत्र कर्त्तव्यनिष्ठा एक-सी रहे।
2. किसी भी प्रश्न अथवा समस्या का जल्दबाजी मे निपटारा मत करो। हर बार गहराई से सोचो।
3. हितकारी कार्य इस निष्ठा से करो कि अन्य व्यक्ति सदा तुम्हें चाहे और तुम्हारी सराहना करें। तुम उनके लिए आदर्श बनो।
4. तुम्हारा सत्कार्य सदा नि:स्वार्थ हो तथा अपने लिए तुम किसी से कुछ भी न चाहो।
5. अपने कार्यों में कठिन परिश्रम तथा समर्पण का ऐसा प्रभावकारी परिचय मिले कि आप अपना मस्तक गौरव से ऊपर उठा सको।
6. तुम्हारा मनमानस सदा स्वतंत्र रहे और तुम ठुकराए हुए, निराशा से भरे तथा उत्साहहीन बने लोगों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहो।
7. सदा कर्त्तव्य को पहले रखो ताकि चरित्रशीलता के श्रेष्ठ गुणों-धैर्य, सहिष्णुता, सकारात्मकता आदि से अपने जीवन को विभूषित बना सको। अष्टावक्र संहिता (1-10-1) में कहा है-'जो कर्त्तव्य आपने निभाए और जो नहीं निभाए-उन दोनों पर चिन्तन करो कि कर्त्तव्य पालन क्यों बंद किया गया और किन कारणों से। उनको जान कर कामनामुक्त बन जाओ और रागद्वेष के भेदभाव से ऊपर उठ कर सर्वस्व त्याग के लिए संकल्पबद्ध हो जाओ।'

युवानों को कर्मनिष्ठ बनने में यह विचार परम प्रेरक सिद्ध होगा कि वर्तमान में यत्र-तत्र सर्वत्र जो दु:ख कष्ट और सन्ताप दिखाई दे रहा है, वह अधिकांशत: मानव कृत है तथा इसको सुव्यवस्थित रूप से समता मय बनाने हेतु समष्टि के महत्त्व को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। इस संबंध में श्रेष्ठ चिन्तक उपाध्याय अमर मुनि के विचार युवानों का सही मार्गदर्शन करने वाले हैं-'मनुष्य का जीवन एक क्षुद्र कुआं या तलैया नहीं है, वह एक महासागर की तरह विशाल और व्यापक है। मनुष्य अपने समाज में अकेला नहीं है, परिवार उसके साथ है समाज से उसका संबंध है, देश का वह नागरिक है और इस पूरी मानव-सृष्टि का वह एक सदस्य है। उसकी हलचल का, क्रिया-प्रतिक्रिया का असर सिर्फ उसके जीवन में ही नहीं, पूरी मानव जाति और समूचे प्राणी जगत पर होता है। इसलिए उसका जीवन व्यष्टिगत नहीं, बल्कि समष्टिगत है।.....जितने भी शास्त्र हैं-चाहे वे महावीर स्वामी के कहे हुए आगम हैं या बुद्ध के कहे हुए पिटक हैं या वेद, उपनिषद्, कुरान या बाईबिल है-आखिर वे किसके लिए हैं? क्या पशु-पक्षियों को उपदेश सुनाने के लिए हैं? क्या कीड़े-मकोड़ों को सद्बोध देने के लिए हैं? नरक के जीवों के लिए भी तो वे नहीं हैं, वे बेचारे रात-दिन यातनाओं से तड़प रहे हैं, हाहाकार कर रहे हैं और स्वर्ग के देवों के लिए भी तो उनका क्या उपयोग है? कहां है उन देवताओं को फुर्सत और फुर्सत भी है तो उपदेश सुन कर ग्रहण करने की योग्यता कहां है उनमें?

रात-दिन भोग विलास और ऐश्वर्य में डूबे रहने के कारण देवता भी अपने आपको इन्द्रियों को दासता से मुक्त नहीं कर सकते। तो फिर ये सब के लिए बने हैं। मनुष्य के लिए ही तो। मानव की आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिए ही तो सब शास्त्रों ने वह ज्योति जलाई है, वह उद्‌घोष किया है, जिसे देख और सुन कर उसका सुप्त ईश्वरत्व जाग सके। ...संसार में जितने भी कष्ट हैं, संकट और आपत्तियाँ हैं, उलझनें और संघर्ष हैं, उनकी गहराई में जाकर यदि हम ठीक-ठीक विश्लेषण करें तो यही पता चलेगा कि जीवन में जो भी दु:ख हैं, वे पूर्णत: मानवीय हैं-मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लादे गए हैं। हमारे जो पारस्परिक संघर्ष हैं, उनके मूल में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ निहित होता है। जब स्वार्थ टकराता है तो संघर्ष की चिनगारियां उछलने लगती हैं। जब प्रलोभन या अहंकार पर चोट पड़ती है तो वह फुंकार उठता है और परस्पर वैमनस्य व विद्वेष भड़क जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति, एक समाज से दूसरा समाज, एक सम्प्रदाय से दूसरा सम्प्रदाय और एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र अपने स्वार्थ और अहंकार के लिए परस्पर लड़ पड़ते हैं, एक दूसरे के मार्ग में कांटे बिखेरते हैं, एक दूसरे की प्रगति का रास्ता रोकने का प्रयत्न करते हैं और परिणामस्वरूप संघर्ष, आपत्तियां और विग्रह खड़े हो जाते हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तबाह हो जाते हैं। आप देखते हैं कि संसार में जो महायुद्ध हुए हैं, नरसंहार हुए हैं और अभी जो चल रहे हैं, वे प्राकृतिक हैं या मानवीय? स्पष्ट है, प्रकृति ने उन युद्धों की आग नहीं सुलगाई है, अपितु मनुष्य ने ही वह आग लगाई है। मनुष्य की लगाई हुई आग में आज मनुष्य जाति नष्ट हो रही है, परेशान और संकटग्रस्त बन रही है।' (चिन्तन की मनोभूमि, पृष्ठ 516-517)

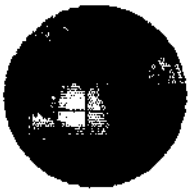
जहां तक वैचारिकता का प्रश्न है, उन पर मुनि जी का यह उद्‌बोधन स्पष्टता के लिए पर्याप्त है। युवानों को इस वैचारिकता को लेकर कर्मयोग की उपासना करनी चाहिए तथा चरित्र निर्माण को विश्व के विशाल प्रांगण में पूर्णतया विस्तृत बना देना चाहिए।

युवानों, इस विजय अभियान को अपना नेतृत्व दें-सफल बनावें :

शक्ति पुंज, विवेक सम्पन्न एवं चरित्रनिष्ठ युवा वर्ग को अधिक कहने की आवश्यकता नहीं होती, वे तो संकेत से ही सब समझ लेते हैं एवं अपने कर्त्तव्य को धारण करके दायित्व संभाल लेते हैं। मेरी आकांक्षा है कि चरित्र निर्माण के इस विजय अभियान को युवा वर्ग अपना सशक्त नेतृत्व प्रदान करें तथा विभिन्न चरणानुसार इसे सफल बनावें। अन्त में युवानों के लिए मर्मज्ञ साहित्यकार वेदव्यास का एक गीत उद्‌धृत है-

''शब्दों की अंगुलि पकड़ कर, अर्थ की पगडंडियों पर
चेतना के पंख ले-तुम समय को लांघ जाओ।
धूप का आंचल उठाए, कथ्य की किरणें बिछाए
अनुभवों की गूंज लेकर, तुम सृजन को लांघ जाओ।
रंग का आवेग भर कर, कल्पना के शुभ्र शिखर पर
लोक का विश्वास लेकर, तुम क्षितिज को लांघ जाओ।''

◆◆◆



चरित्र के शिखर पर पहुंचने का रहस्य

ध्यानलीनता, आत्मलीनता और चरणलीनता पर टिका है चरित्र विकास का सर्वोच्च

चरित्रलीनता के शिखर पर पहुँचने वाले ध्यान की पृष्ठभूमि :

इस्लाम धर्म की एक कथा है। अबु इस्हाक इब्राहीम खवास एक ध्यानी और तपस्वी संत हो गए हैं। वे एक बार अपने शिष्य के साथ एक पेड़ के नीचे नमाज पढ़ रहे थे कि सहसा एक सिंह उनके पास आ गया। शिष्य तो पड़ पर चढ़ गया, लेकिन संत पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वे शांत मुद्रा में प्रभु का ध्यान करते रहे। सिंह काफी देर तक उनकी आंखों में अपनी आंखें डालकर उन्हें घूरता रहा, लेकिन आखिरकार वह चुपचाप चला गया। शिष्य पेड़ से नीचे उतर गया। तब दोनों बस्ती में लौट गए।

दूसरे दिन गुरु शिष्य फिर उसी जंगल में नमाज पढ़ कर लौट रहे थे, तभी मार्ग में एक मच्छर संत के कान के पास गुनगुनाता हुआ मंडराने लगा, जिससे वे घबरा गए। उनकी वह घबराहट देख कर शिष्य पूछा बैठा– यह क्या उस्ताद? कल तो सिंह आपसे डरकर भाग गया और आज आप मच्छर से ही घबरा गए? संत खवास ने मुस्कुराते हुए



चरित्र के शिखर पर पहुंचने का रहस्य

42

जवाब दिया-बेटा, कल तो मैं परमात्मा के पास था और आज मैं तुम्हारे पास हूँ। संत का यह जवाब मर्मभरा है।

ध्यान व्यक्ति को अन्तर्मुखी बना देता है और अंतर में क्या होता है? परमात्मा रूपी आत्मा ही तो होती है। जो **'स्व'** से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता, वह **'स्व'** से अन्यत्र रमता नहीं है और जो **'स्व'** से अन्यत्र रमा नहीं है वह **'स्व'** से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता-**'जे अण्णणदंसी से अण्णणारामे, जे अण्णणारामे से अण्णदंसी'**। चरित्रनिष्ठ पुरुष को ध्यान की साधना चरित्रशीलता के शिखर पर पहुँचा देती है।

ध्यान क्या है? ध्यान है आंतरिक जागृति करने और अन्तर्मुखी होने का माध्यम। भीतर में जागृति होती है जब भीतर में प्रवेश किया जाता है। भीतर में प्रवेश करना, भीतर की अनुभूति लेना और भीतर में अनासक्त होकर जीना-ये सब अन्तर्मुखता के लक्षण हैं। अन्तर्मुखी बनने के लिए जो साधना आवश्यक है, वह ध्यान की साधना है। खलील जिब्रान ने कहा है-**'जब मेरा हृदय प्रेमरस से भीगा नहीं था, तब तक मैं प्रेम की गहरी व्याख्याएँ करता रहा, किन्तु जब मुझ में प्रेम की अनुभूति हुई तो मेरी प्रेम की सारी व्याख्याएँ उस अनुभूति के सामने अर्थहीन हो गई।'** वास्तव में ध्यान साधना की ऐसी ही अनुभूति होती है, जो किसी भी व्याख्या, वर्णन या विवेचन से परे होती है। उस अनुपम अनुभूति का वही अनुभव कर सकता है जो स्वयं ध्यान की उस अनुभूति को पा जाता है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि ध्यान ध्यानी को अपने ही भीतर में प्रतिष्ठित करता है एकाग्रता के साथ। तब ध्यानी का बहिर्मुखी चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है। वह चित्त विवेक सम्पन्न हो जाता है, अप्रमत्त बन जाता है तथा अनासक्त होकर प्रज्ञा के जागरण का हेतु हो जाता है। ध्यानी की मोहं विमूढ़ता टूट जाती है और आन्तरिकता जगमगाने लगती है। वह अवस्था आत्म-शुद्धि की होती है। ध्यान प्रमुख रूप से आत्म-शुद्धि का कारक है और इसी कारण चरित्रलीनता का माध्यम है। जो आत्म जागृत बन जाता है, वही चरित्रलीन कहलाता है।

ध्यान की पृष्ठभूमि क्या होती है? ध्यान का मर्म है भीतर में प्रवेश करना और सत्य का दर्शन करना। भीतर प्रविष्ट हुए बिना सत्य सहज नहीं बनता, किन्तु प्रश्न है कि भीतर में प्रवेश करने की पृष्ठभूमि कैसी होनी चाहिए। ये जो सारे व्रत-प्रत्याख्यान हैं-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, निर्व्यसनता, यम, नियम आदि इन्हीं की सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर ध्यान की साधना सफलता पाती है। वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की शुभता चाहिए, भोजन विवेक चाहिए, यतना का अभ्यास चाहिए याने कि आत्म शुद्धि का धरातल ध्यान के योग्य बन जाना चाहिए।

ध्यान की निष्पत्ति क्या? ध्यान की निष्पत्ति है सरलता, सहजता और समता, जो समूचे दैनिक जीवन को विनम्रता, सहयोगिता, करुण, मैत्री, सहानुभूति आदि अनेकानेक सद्गुणों का उपहार दे देती है। समता या समभाव वह सेनापति है जिसकी आज्ञा में सद्गुणों की सारी सेना चलती है। ध्यान ध्यानी की स्वकेन्द्रितता को विस्तार देता है-वह केवल अपने ही बारे में नहीं सोचता, बल्कि दूसरों के हितपोषण में भी ध्यान लगाता है। उसके हित चिंतन का आकार सम्पूर्ण विश्व तक फैल सकता है। ध्यान की निष्पत्ति से यह समझ में आएगा कि आज आचरण और आस्था के बीच जो गहरी खाई है,

उसका भराव ध्यान साधना से ही संभव है।

ध्यान के सहयोगी अनेक तत्त्व हैं-इनमें स्वाध्याय का क्रम सबसे ऊपर है। अन्य हैं-भाव प्रवणत्ता, निर्विकल्प अवस्था, शुद्धिकरण की अभिलाषा, त्याग दृढ़ता, समर्पण निष्ठा, विचार शुद्धि, संकल्प श्रेष्ठता आदि। ध्यान कठिन है, किन्तु साध्य है। ध्यान केवल स्व प्रयत्न पर निर्भर रहता है। यदि शुद्धता और शुभता आंतरिकता में रची-बसी है तो ध्यान जीवन जीने की श्रेष्ठ कला बन जाता है, चरित्र की उज्ज्वलता का प्रतीक हो जाता है और आनन्द के अमृत का रसपान कराता है।

आगम साहित्य में ध्यान का विवेचन मार्मिक एवं गूढ़ है :

आगम साहित्य के अनुसार ध्यान को तप का ही एक प्रकार बताया गया है। तप दो प्रकार का कहा है-बाह्य एवं आभयंतर तथा इस प्रत्येक प्रकार के छः-छः भेद हैं। बाह्य तप के भेद हैं-अनशन, ऊणोदरी, भिक्षाचर्या (वृत्ति संक्षेप), रस परित्याग, कायक्लेश तथा प्रतिसंलीनता। आभ्यंतर तप के भी छः भेद हैं-प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग। इस प्रकार तप के बारह भेदों में ध्यान ग्यारहवें क्रम पर हैं। यह क्रम वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है। बाह्य तपों की परिपुष्टता के पश्चात् आभ्यंतर तप का क्रम गुणसंचय के रूप में चलता है। अकरणीय के करने पर प्रायश्चित होता है जिससे उपजता है विनय गुण। विनीत ही सेवा के प्रति समर्पित होता है और सच्ची सेवा वृत्ति स्वाध्याय (स्वयं का अध्ययन) की अभिरूचि जागृत करती है। स्वाध्याय से समता का धरातल बनता है और ध्यान साधना का शुभारंभ संभव होता है। ध्यान का शिखर है व्युत्सर्ग, जो चरम अवस्था प्राप्ति का संकेत है। आत्म-साधना के अन्तर्गत ध्यान साधना का विशिष्ठ महत्त्व है, क्योंकि ध्यान साधना ही चरित्र साधना है।

आगम साहित्य में ध्यान-साधना का विवेचन बहुत विस्तार से हुआ है। आचारांग सत्र से लेकर अन्यान्य कई सूत्रों में ध्यान का गूढ़ एवं मार्मिक विवेचन मिलता है। ध्यान की संक्षिप्त व्याख्या है कि किसी एक विषय में अन्तःकरण की विचारधारा को स्थापित करना ध्यान का लक्षण है। यह कठिन कार्य है, अतः कहा गया है कि ध्यान उत्तम संहनन वाले पुरुष के ही सामर्थ्य क्षेत्र का विषय है। यह सब जानते हैं कि मन की विचारधारा चचंल होती है और क्षण-क्षण में बदलती रहती है। उसमें अस्थिरता होती है। ऐसी क्षण-क्षण में परिवर्तनशील विचारधारा को प्रयत्नपूर्वक अन्य विषयों से हटाकर एक ही विषय में स्थिर रखने को ध्यान कहा गया है। ध्यान का यह स्वरूप छद्मस्थ अवस्था में ही संभव है। चिंतन धारा को एक स्थान पर स्थिर करने के लिए वांछित शारीरिक एवं मानसिक बल की अपेक्षा रहती है।

ध्यान के चार भेद किए गए हैं-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान।

1. आर्त्तध्यान - दुःख से निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान है। इसके मुख्य चार कारण हैं-अ. अनिष्ट वस्तु का संयोग, ब. इष्ट वस्तु का वियोग, स. प्रतिकूल वेदना और द. भोग की लालसा। इन्हीं के आधार पर आर्त्तध्यान के चार प्रकार किए गए हैं-अ. अनिष्ट संयोग (अमनोज्ञ वस्तु का मिलना), ब. इष्ट वियोग (मनोज्ञ वस्तु का छूट जाना), स. रोग चिंता (पीड़ा निवारण की

व्याकुलता) तथा द. निदान (अप्राप्त भोग वस्तु पाने का तीव्र संकल्प)। आर्त्तध्यान के लक्षण भी चार हैं-अ. आक्रन्दन (जोर-जोर से रोना), ब. शोचन (दीनता, शोक), स. परिवेदन-(विलाप) तथा द. तेपनता (अश्रुपात)। यह ध्यान राग, द्वेष एवं मोहयुक्त होता है तथा सामान्य रूप से तिर्यंच गति में जीव को ले जाता है।

2. रौद्रध्यान - हिंसा, झूठ, चोरी, भोग संरक्षण आदि के लिए क्रूर और कठोर वृत्ति का व्यक्ति जिन भावों में सतत् चित्त-प्रवृत्ति करता है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं-अ. हिंसानुबंधी (हिंसाकारी व्यापारों का चिंतन), ब. मृषानुबंधी (सत्य का अपलाप करने का सतत विचार), स. चौर्यानुबंधी (तीव्र लोभ का सतत चिंतन) तथा द. संरक्षणानुबंधी (कषायमयी वृत्ति)। रौद्रध्यान के भी चार लक्षण हैं-अ. ओसन्न दोष (बहुलता से हिंसादि एक में प्रवृत्ति), ब. बहुल दोष (सब हिंसादि दोषों में प्रवृत्ति), स. नाना या अज्ञान दोष (हिंसादि व अज्ञान दोषों में अनेक बार प्रवृत्ति) तथा द. आमरणान्त दोष (मरण काल तक पश्चाताप रहित हिंसादि में प्रवृत्ति)।

इन दोनों ध्यानों के लक्षण स्थानांग एवं भगवती सूत्र में बताए गए हैं। इन ध्यानों का उल्लेख आवश्यक सूत्र में भी है। रौद्रध्यानी सामान्यतः नरक गति में जाता है।

3. धर्मध्यान - तत्वों तथा श्रुत-चारित्र रूप धर्म के संबंध में सतत चिंतन धर्मध्यान कहलाता है। धर्म ध्यान के अंग हैं-तत्त्व संबंधी विचारणा, हेयोपदेय संबंधी विचारधारा तथा देव, गुरु, धर्म की स्तुति। धर्मध्यान के चार प्रकार हैं-अ. आज्ञा विचय-वीतराग देवों की आज्ञा-अनुज्ञा में मनोयोग लगाना। ब. अपाय विचय-राग, द्वेष, कषाय आदि के दुष्परिणामों का चिंतन। स. विपाक विचय-कर्म बंध के कारण व फल पर विचार करना व मनोयोग लगाना। द. संस्थान विचय-लोक के आकार का चिंतन करना तथा षड्द्रव्य, पर्याय आदि लोक विषयों पर विचार करना। धर्म ध्यान के चार लक्षण हैं-अ. आज्ञा रुचि (सूत्रोक्त विधि निषेध), ब. निसर्ग रुचि (तत्त्वों पर स्वाभाविक श्रद्धा), स. सूत्र रुचि (आगम प्रतिपादित तत्त्व) एवं द. अवगाढ़ रुचि (द्वादशांगी का विस्तृत ज्ञान)। यों धर्मध्यान का मुख्य लक्षण है तत्वार्थ का श्रद्धान्। धर्मध्यान के चिन्ह हैं-देव गुरु का गुणग्राम, श्रुत की भक्ति, शील और संयम में अनुराग। इससे धर्मध्यानी की पहचान होती है। धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं-अ. वाचना (सूत्र पठन पाठन), ब. पृच्छना (जिज्ञासा निवारण), स. परिवर्तना (पुनः पुनः आवृत्ति) तथा द. अनुप्रेक्षा (चिंतन मनन)। धर्मध्यान की चार भावनाएँ हैं-अ. एकत्त्व (अपने एकाकीपन का चिंतन), ब. अनित्य (संसार की नश्वरता पर विचार), स. अशरण-धर्म सिवाय कोई शरण नहीं, तथा द. संसार (सांसारिक विचित्रताओं पर चिंतन)।

4. शुक्ल ध्यान - जिस ध्यान के माध्यम से आत्मा आठों कर्म रूपी मैल को धोकर स्वच्छ-उज्ज्वल बन जाती है, वह शुक्ल ध्यान है। शुक्ल ध्यान के चार भेद या पाए हैं- अ. पृथकत्त्व वितर्क सविचार-नयाधारित पदार्थों के भिन्न-भिन्न रूपों का चिंतन, शब्द, अर्थ व योग में संक्रमण। ब. एकत्त्ववितर्क अविचार-द्रव्य की पर्यायों में अभेद प्रधानता से एकत्त्व का चिंतन तथा तीन योगों में एक पर अटल चिंतन। स. सूक्षम क्रिया अनिवृत्ति-निर्वाणगमन के पूर्व जब सर्वज्ञ योग निरोध के क्रम में सूक्ष्म शरीर योग द्वारा शेष योगों को रोक देते हैं। द. समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती-शैलेषी अवस्था में

योगों का निरोध। यह मोक्ष प्राप्ति का मुख्य द्वार है। शुक्ल ध्यान के चार चिन्ह हैं-अ. अव्यथ (व्यथा का अनुभव नहीं), ब. असम्मोह (सम्मोहन नहीं), स. विवेक (आत्मा-शरीर की भिन्नता) तथा द. व्युत्सर्ग-(नि:संग होकर देह व उपधि का त्याग)। शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं-अ. क्षमा, ब. मार्दव, स. आर्जव एवं द. मुक्ति। शुक्ल ध्यान की चार भावनाएँ-अ. अनन्तानुवर्तितानुप्रेक्षा-अनन्त पुद्गल परावर्तन पर चिंतन। ब. विपरिणामानुप्रेक्षा-वस्तु के परिणमन पर विचार। स. अशुभानुप्रेक्षा-संसार की अशुभता का चिंतन। द. अपायानुप्रेक्षा-आस्रवगत दुष्परिणामों पर चिंतन।

समुच्चय में आत्मशुद्धिपूर्वक समता का अभ्यास हो जाने पर धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान की सार्थकता है।

जिन आगमों में ध्यान संबंधी मार्मिक एवं गूढ विवेचन हुआ है, उनमें मुख्य है-आचारांग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध), स्थानांग सूत्र, समवाय सूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र, उववाई सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, समण सुत्तं (ध्यान सूत्र) आदि।

जैन परंपरा की ध्यान साधना एवं अन्य ध्यान धाराएँ :

समाज में सामान्यतया दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं- 1. अनुस्रोतगामी अर्थात् प्रवाह के साथ बहने वाले-प्रवाह चाहे परम्परा का हो, ऐन्द्रिक विषयों का हो अथवा अन्य। 2. प्रतिस्रोतगामी-प्रवाह के विरुद्ध बहने वाले। प्रवाह होता है चित्तवृत्ति का केन्द्र। कोई किसी से मित्रता करे या शत्रुता-ये दो अवस्थाएँ हैं, जिन में **'पर'** मन का केन्द्र बन जाता है। तीसरी विधा है उपेक्षा-न मित्रता, न शत्रुता-सिर्फ साक्षी भाव। यह तीसरे प्रकार का व्यक्ति उक्त दोनों प्रकार से परे रह **'स्व'** की समीक्षा करता है और अपने अस्तित्त्व को प्रकट करता है। वह स्वयं की अन्तर्दृष्टि और अन्तर्विवेक के आधार पर चलता है। सच में इस प्रकार को अन्त:गामी कह सकते हैं-न अनुस्रोतगामी, न प्रतिस्रोतगामी। उसका व्यक्तित्व हो जाता है अन्तर्मुखी। यह अन्तर्मुखता सधती है ध्यान साधना से।

जैन परम्परा की ध्यान साधना सावलम्ब और निरावलम्ब दोनों प्रकार की रही है। ध्यान विधि का विस्तार से वर्णन मिलता है और यह वर्णन भी मिलता है कि भगवान् महावीर तथा त्रिपष्ठि पुरुष किस ध्यान विधि की पालना करते थे। आचारांग सूत्र में कहा है-

अदुपोरिसिं तिरियाभित्तिं चक्खुमाज्ज

अंतसो झाति।

अहयक्खुभीत सहिया ते हंता

हंता बहवे कंदिंसु।

अर्थात् भगवान् महावीर एक-एक प्रहर तक तिरछी भीत पर आंखें जमा कर अंतरात्मा में ध्यान करते थे-लंबे समय तक अपलक झपके रहने से पुतलियाँ ऊपर उठ जाती थी। वह सावलम्ब त्राटक ध्यान था। भगवान् ने भद्रा, महाभद्रा व सर्वतोभद्रा प्रतिमा की साधना की। साधना की निरन्तरता ही साधक को साध्य तक पहुँचाती है। ध्यान साधना विशेष अनुष्ठान रूप मात्र न रहकर समग्र

जीवनचर्या रूप बन जानी चाहिए। इस साधना का मूल लक्ष्य है योगों की स्थिरता। इस स्थिरता हेतु समिति-गुप्ति का निर्देश है। इससे निरावलम्बन या स्वावलम्बन की प्राप्ति होती है। केवल स्व का, स्वात्मा का आलम्बन ग्रहण करने वाला साधक स्वावलम्बी कहलाता है।

इस प्रकार ध्यान को स्व की समीक्षा कहा गया है। इसमें पर के प्रति केवल दृष्टाभाव रह जाता है। दृष्टाभाव का अर्थ है मात्र देखना, ध्यान न देना। इससे स्व में स्थिरता की प्राप्ति होती है। अन्य व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और उससे आगे हमारा मन, शरीर, विचार सब **'पर'** है। अतः इनके प्रति उपेक्षा या दृष्टाभाव का अर्थ है-पूर्ण समत्त्व, समताभाव-यही ध्यान साधना का आधार भी है और शिखर भी। यह समता भाव ही चरित्र साधना का भी शिखर है। ध्यानलीनता ही चरित्रलीनता है तथा चरित्रलीनता ही ध्यानलीनता है। इन दोनों को मिलाकर आत्मलीनता का नाम दिया जा सकता है।

जैन परम्परा की ध्यान या समग्र साधना को केवल दो शब्दों में अभिव्यक्त कर सकते हैं। ये हैं संवर और निर्जरा अथवा समता एवं जागरूकता। समता और जागरूकता कारण हैं और संवर और निर्जरा कार्य। पाप कर्म का बंध नहीं होगा यतना से-**'जयं चरे, जयं चिट्ठे...'** प्रतिपल यतनापूर्वक कार्य होगा तो पाप बंध नहीं होगा। आस्रव नहीं होगा तो संवर व निर्जरा का ही क्रम चलेगा, जिनकी बहुलता ही साधना का लक्ष्य होता है। इस मूलभूत साधना के साथ समिति गुप्ति संयुक्त होती हैं तो ध्यान-साधना का स्वस्थ धरातल तैयार होता है, जो तीनों योगों की स्थिरता साधता हुआ चरम साध्य की ओर साधक को ले जाता है। मूलतः ध्यान को साधक जीवन का प्राण माना गया है। ध्यान के अन्य सहयोगी तत्व कहे गए हैं-आसन (कायक्लेश), स्थान (निरवद्य), काल (योगोत्तम), योग्यता (तन मन बल), ज्ञान, दर्शन, चरित्र, वैराग्य भावना जिनसे अतिशय निश्चलता मिलती है।

अन्य ध्यान-धाराओं में बौद्ध, वैदिक आदि और आधुनिक युग की महर्षि रमण एवं योगी अरविन्द की ध्यान पद्धतियों को ले सकते हैं।

1. बौद्ध ध्यान धारा - बोधि प्राप्त हो जाने पर ध्यान साधना से सम्यक् संबुद्ध बना जाता है। यह मार्ग है आर्य-अष्टांगिक मार्ग। इसके ये विभाग हैं- **अ. शील** - सम्यक्वाणी, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् आजीविका। **ब. समाधि** - मन का सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् एकाग्रता। ये छः अंग हुए हैं और शेष दो अंग प्रज्ञा से संबंधित हैं-सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् संकल्प। समाधि का अर्थ है कुशल चित्त की एकाग्रता (ध्यान)। यह समाधि लौकिक है और प्रज्ञा के साथ लोकोत्तर होती है। ध्यान के पांच अंग कहे हैं- अ. वितर्क (सम्यक् संकल्प), ब. विचार (वितर्क की अपेक्षा सूक्ष्म), स. प्रीति (तृप्ति अनुभव), द. सुख (काय सुख एवं चित्त सुख), य. उपेक्षा (एकाग्रतां, समता)। ध्यान के मूलतः दो भेद हैं- अ. आरंभण उपनिज्झान (आलंबन पर चिंतन) तथा ब. लक्खण उपनिज्झान (लक्षण पर चिंतन)। अन्य भेद हैं- अ. रूपावचर ध्यान (चार प्रकार), ब. अरूपावचर ध्यान तथा स. लोकोत्तर ध्यान, जिसका मार्ग है विपश्यनायान। विश्यना ध्यान पद्धति अधिक प्रचलित हुई है। बौद्ध परम्परा की ध्यान पद्धति क्रमबद्ध, व्यवस्थित व संयोजित है। साधक निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करता है। अन्त में वह लोकोत्तर ध्यान में पहुँच जाता है और निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है।

2. वैदिक ध्यान धारा - वेद और उपनिषद् में योग के नाम से ध्यान का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। कठोपनिषद् में कहा है-'**तू आत्मा को रथी समझ, शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथी और मन को वल्गा (लगाम) समझ**'। यह ध्यान का ही रूप है। ध्यान का प्रसिद्ध गायत्री मंत्र तीनों वेदों में मिलता है-'**ओम् भूर्भुवः स्वः तत्वसवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदायात्**' अर्थात् जो सविता हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है और जो संपूर्ण श्रुतियों में ज्योतिर्मान परमेश्वर है, उसके अखंड तेज का हम ध्यान करते हैं। यहाँ '**वरेण्यं**' व '**धीमहि**' दोनों शब्द ध्यान और आलम्बन के प्रतीक हैं। अमर ज्योति के ध्यान के लिए प्रार्थना की गई है कि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हों और उनकी ऊर्जा मन में केन्द्रित हो। मन सदा विराट्ज्योति के दर्शन में अग्रगामी हो। उपनिषद् साहित्य में आसन विधि, प्राणायाम, ध्यान व अनुभव की चर्चा की गई है। वैसे वैदिक परम्परा में ध्यान का प्रस्तुतिकरण मुख्य रूप से योग के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि ने किया है। उनके योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग तथा उससे प्राप्त एकरसता को ध्यान कहा है। योग के अष्ट क्रम रखे हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। समाधि के दो प्रकार हैं-सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात। ध्यान को मन और आत्मा के योग का मध्यमा बताया गया है।

3. रमण महर्षि की ध्यान धारा - रमण महर्षि की ध्यान पद्धति के कुछ मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं- 1. स्थूल वास्तविकता से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम वास्तविकता की विचार प्रक्रिया। 2. शरीर असत् अनित्य है और '**मैं**' नित्य हूँ, सद्रूप हूँ। शरीर और आत्मा का भेद-अज्ञान दुःख का कारण, जिसका निवारण है आत्मज्ञान। 3. उपाधियों का त्याग कर देने वाले पुरुष को आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन ही ईश्वर दर्शन है। 4. वायुरोधन का अर्थ है प्राणनिरोध अथवा प्राणायाम और उसकी विधि बताई गई है-प्राणवीक्षण याने स्वाभाविक रूप से चलते हुए श्वास-प्रश्वास को केवल दृष्टाभाव से देखना। 5. उत्कृष्ट योगी वह जो एक चिन्तन द्वारा अज्ञान को नष्ट कर स्व स्वरूप में सम्यक् स्थिति प्राप्त कर लेता है। उसका बोध होता है-मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ। 6. वृत्तियों का प्रवाह मन है। सारी वृत्तियाँ एक अहं वृत्ति पर आश्रित होती है, इसलिए यह अहं वृत्ति को ही मन जानो। 7. व्यष्टि अहं एवं समष्टि अहं दोनों अहं लीन हो जाने पर '**अहम्**' शब्द से निर्देशित शुद्धात्म स्वरूप प्रकट होता है। (ग्रंथ '**उपदेश-सार**' से)

4. योगी अरविन्द की ध्यान-धारा - श्री अरविन्द के पत्र (द्वितीय भाग) के अनुसार आत्मा के साक्षात्कार के लिए योग ध्यान अपरिहार्य है। ध्यान साधना की पहली सीढ़ी है-अचंचल मन और दूसरी है निश्चल नीरवता, जिसके अभ्यास से शांत स्थिति आ जाती है। ध्यान का सही अर्थ है-अ. मेडिटेशन-मन को किसी एक ही विषय को स्पष्ट करने वाली किसी एक ही विचारधारा पर एकाग्र करना। ब. दूसरा रूप है कंटेम्प्लेशन-एकाग्रता की शक्ति से मन में स्वभावतः ही उस विषय का जो ज्ञान उदित हो जाता है वह ध्यान का दूसरा रूप है। ध्यान का तीसरा रूप है-आत्म निरीक्षण की पद्धति तथा विचार श्रृंखला से मुक्ति-ये दोनों परिणाम की दृष्टि से विशान और महान हैं। सर्वोत्तम

ध्यान वह है जो सहज स्वाभाविक रूप से घटित होता है। वस्तुतः ध्यान एक पद्धति, साधन और उपाय है जो क्रिया सतत चलनी चाहिए। ध्यान प्रक्रिया तीन प्रकार की है- अ. दोनों भोहों के बीच मन को एकाग्र करना, ब. मस्तक में मनोमय केन्द्र में सारी चेतना को ले जाकर एकाग्र करना तथा स. हृदय केन्द्र पर ध्यान करना।

आचार्य नानेश द्वारा प्रवर्तित आत्म-समीक्षण ध्यान साधना :

आचार्य नानेश मात्र एक साधक ही नहीं, बल्कि अपने आप में विकसित चेतना एवं उदात्त ध्यान के प्रतीक बन गए थे। '**आत्म समीक्षण**' नाम से जो उनके द्वारा उपदेशित ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है, उनकी ध्यान साधना का साकार चित्रण है। सम्पूर्ण ग्रंथ उत्तम पुरुष में लिखा गया ताकि आरंभ से अंत तक पाठक सारी वस्तुस्थिति को निजात्मा पर आरोपित करता हुआ चले और स्वाभाविक रूप से आत्म ध्यान के प्रवाह में बहने लगे। मूल रूप से आत्म-समीक्षण के नव सूत्र निरूपित किए गए- 1. मैं चैतन्य देव हूँ। मुझे सोचना है कि मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिए आया हूँ? 2. मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ। मुझे सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है? 3. मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है और कौनसे सिद्धांत अपनाने हैं? 4. मैं सुज्ञ हूँ, संवेदनशील हूँ। मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरी कार्य विधि तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों है? 5. मैं समदर्शी हूँ, ज्योतिर्मय हूँ। मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है? 6. मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ। मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूँ और मुझे क्या करना चाहिए? 7. मैं मौलिक रूप से परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। मुझे सोचना है कि मैं अपने बंधनों को कैसे तोड़ सकता हूँ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है? 8. मैं ज्ञान पुंज हूँ, समत्त्व योगी हूँ। मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शांति क्यों नहीं मिलती, अमिट सुख क्यों नहीं प्राप्त होता? 9. मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हूँ। मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मैं प्राप्त कैसे करूँ? मात्र इन नव सूत्रों के ध्यानात्मक विवेचन में 463 पृष्ठों (बड़ी साइज) के उक्त ग्रंथ की रचना हुई है। इस विवेचन में '**आत्म-समीक्षण को स्पष्ट किया गया है।**' समीक्षण शब्द दो शब्दों की युति से बना है- सम+ईक्षण अर्थात् सम्यक् या समतामय रूप से देखना। किसे देखना? निजात्मा को। कैसे देखना? ध्यान साधना के माध्यम से। इस ध्यान का मूल है आत्म स्वरूप पर गूढ़ एवं गंभीर चिंतन जो अपनी चेतना को जगाते हुए अपने चरम साध्य तक पहुँचता है। अन्य ध्यान विधाओं की अपेक्षा इस विधा की विशेषता यह है कि आत्मा के भीतर जो झांकना है वह सामान्य नहीं, विशिष्ट है, क्योंकि वह सम्यक् एवं समतामय है। संसार की सारी ध्यान साधनाओं की एक ही दृष्टि है, एक ही निष्पत्ति है और वह है समता। समता दर्शन प्रणेता आचार्य नानेश ने इसी दृष्टि का अपनी ध्यान साधना के प्रवर्तन में सूक्ष्म रूप से विस्तार किया है। एक अलग पुस्तिका द्वारा समीक्षण ध्यान की प्रयोग विधि का भी वर्णन किया है, जिसका लक्ष्य है आत्मदर्शन या अन्तर्दर्शन। जो ध्यान अन्ततः आत्म-साक्षात्कार कराता है, वास्तव में वही ध्यान श्रेष्ठ है।

उत्थान

जीवन के उत्थान में ध्यान की भूमिका एवं शक्ति का रुपांतरण :

आचारांग सूत्र में यह शाश्वत प्रश्न उठाया गया है-मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? इसका उत्तर है **'सोऽहम्'** सः अहम् याने वह मैं हूँ। जीव को यह बोध तीन कारणों से संभव है-1. स्वमति-सन्मति से, 2. पर व्याकरण से और 3. परेतर उपदेश से। बोध का भाव है कि द्रव्य एवं भाव दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करने वाली यह मेरी आत्मा ही है। जैन दर्शन में स्पष्ट किया गया है कि ध्यान साधना एवं चरित्र विकास की उच्चतर श्रेणियों में जब स्व में विचरण किया जाता है तो दो तथ्य उभरते हैं। एक, आत्मा का स्वरूप परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं है तथा दूसरे, फिर भी आत्मा ब्रह्म का अंश नहीं बनती, उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहता है। **'सोऽहम्'** के बोध का यह स्पष्टीकरण है कि हे आत्मन्, तू तू नहीं, तू वह है अर्थात् तू केवल संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा ही नहीं है, अपितु अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्म बंधनों को काटकर परमात्मा भी बन सकती है, अतः तू अपने को उस रूप में देख। जीवन के चरम उत्थान का यही रहस्य है, जो ध्यान साधना एवं चरित्र विकास की भूमिका पर अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता है।

ध्यान साधना की सफलता के दो लक्षण कहे गए हैं। एक तो ध्यान-साधक वर्तमान समय के प्रति सजग रहे तथा दूसरे, वह अपने चित्त को मौन कर ले। वर्तमान के प्रति सजगता, चित्त की समाधि-दशा और प्रेम का सम्मिलन जब होता है, तभी साधक को परम आनन्द का अनुभव होता है। चित्तवृत्तियों के शांत हो जाने पर साधक को आंतरिक मौन की जो अनुभूति होती है, वह मौन ही ध्यान का रूप ले लेता है। ध्यान साधना का यही त्रिसूत्री मूलाधार है, जो कायोत्सर्ग सूत्र में वर्णित हैं-1. **'ठाणेणं'** (कार्य स्थिरता), 2. **'मोणेणं'** (वचन स्थिरता) तथा 3. **'झाणेणं'** (आदि, व्याधि, उपाधि से हटकर समाधिलीन होकर मौन में स्थिर हो जाना)। मुनि पद ऐसे मौन का ही प्रतीक है।

ध्यान कर्मबद्ध आत्मा तथा कर्ममुक्त आत्मा के बीच का वह सशक्त सेतु है, जिस पर सधे हुए कदमों से चलने की क्षमता ध्यान साधना से प्राप्त होती है। कर्मबद्ध आत्मा और कर्ममुक्त आत्मा के बीच का जो अंतर है, वह आत्मशुद्धि का ही मुख्य प्रश्न है। आत्मशुद्धि का अर्थ है स्वयं की शुद्धि। स्वयं को शुद्धि के पांच पहलू हो सकते हैं-

1. **काय शुद्धि** - यह शुद्धि बाहरी से भीतरी अधिक महत्त्व की है। शरीर के भीतरी तंत्र निरोग रहें और शारीरिक सामर्थ्य सक्रिय हो तो शरीर धर्माचरण का सबल साधना बना रहता है। यह काय शुद्धि विभिन्न यौगिक क्रियाओं के माध्यम से बखूबी की जा सकती है।

2. **वचन शुद्धि** - वचनों के प्रयोग के प्रभाव के विषय में सब जानते हैं कि मधुरता तथा कठोरता की प्रतिक्रियाएँ कैसी होती हैं। वचनों की मधुरता सबको सुहाती है तो कठोरता इतना कलुष फैला देती है जिसकी कालिख लम्बे अर्से तक नहीं मिटती। अतः वचन शुद्धि अत्यावश्यक है। इसका उपाय है-संयमित वचन, मितभाषिता तथा मौन का अभ्यास। जितना आवश्यक है उतना ही बोलना, बल्कि उससे भी कम बोलना और अधिकतर मौन रहना वाणी पर अधिकार दिला देता है।

साथ ही जो भी बोला जाए, वह सत्य हो और हितकारी तथा प्रियकारी भी।

3. आहार शुद्धि - आहार का तन पर ही नहीं, मन पर भी पूरा प्रभाव पड़ता है और जितने कुव्यसन हैं, वे दूषित आहार के ही कुफल होते हैं। विकृत आहार जीवन को सभी प्रकार से विकृत बनाकर पतित कर देता है। अत: आहार शुद्धि की ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। चौके से चरित्र का अनुमान लगाया जाता है, वह आहार के आधार पर ही। तामसिक आहार सर्वथा त्यागें, राजसी आहार कम करें और सात्विक आहार पूर्णतया अपनावें, ताकि शुद्धि का क्रम आगे बढ़ता रह सके।

4. प्राण शुद्धि - प्राण दस होते हैं और दसों प्राण ऊर्जावान तभी बने रह सकते हैं, जब उन्हें विशुद्ध वातावरण प्राप्त हो। प्राण शुद्धि के लिए तपाराधना करें, प्राणायाम का अभ्यास रखें तथा विभिन्न यौगिक क्रियाओं, आसनों तथा ध्वनियों के माध्यम से प्राण शुद्धि का कार्य करते रहें।

5. चित्त शुद्धि - मन की या चित्त की चंचलता को आप समझते हैं और उसकी शुद्धि व स्थिरता के अभिलाषी भी आप हैं। आत्म शुद्धि के साध्य तक सफलतापूर्वक पहुँचने के लिए चित्त शुद्धि के लिए अनिवार्य है-स्थिरता का अभ्यास, विभावों तथा विकारों को दूर करने की चेष्टा, सद्गुणों को ग्रहण करने की वृत्ति तथा सबसे ऊपर ध्यान साधना का अनुष्ठान ताकि आत्म-शुद्धिकरण की प्रक्रिया प्रगतिशील बने, सुख-समाधि मिले और शुद्ध चैतन्य की अनुभूति आनन्ददायक लगे।

यह ध्यान एवं चिंतन का विषय है कि आनन्द हमारा स्वभाव है, शांति कहीं बाहर नहीं, हमारी ही आंतरिकता में बसी हुई है एवं ज्ञान हम स्वयं हैं-ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। ऐसा होते हुए भी हम दु:खी क्यों हैं, अशांति से घिरे हुए क्यों हैं तथा अज्ञान के अंधेरे में क्यों भटक रहे हैं? चिंतन की तनिक सी गहराई में भी उतरेंगे तो अनुभव हो जाएगा कि हमारी इस दुरावस्था का कारण हम स्वयं हैं, क्योंकि हम स्वयं को ही नहीं पहचानते। स्वयं से स्वयं की जो दूरी बनी हुई है वही हमारे सभी कष्टों की कारण भूत है। इसे मिटाना ही ध्यान साधना की सफलता है।

चरित्र के विकास एवं जीवन के उत्थान क्रम में ध्यान साधना की जो सुदृढ़ भूमिका है, उसके फलवती होने पर शक्तियों का रूपांतरण होता है। मन और इंद्रियों की जो शक्ति वर्तमान में विपरीत, वैभाविक तथा वैकारिक दिशा में खर्च हो रही है, वह दिशा बदल देती है-विमार्ग से हट कर सन्मार्ग पर आ जाती है। वे शक्तियाँ तब आत्म-स्वरूप के शुद्धिकरण में नियोजित हो जाती हैं। ध्यान साधक तत्त्ववेत्ता बनता है और क्रोध, मान, लोभ, राग, द्वेष मोह, गर्भ, जन्म-मृत्यु, गत्यानुगतिकता एवं दु:ख आदि को सम्यक् प्रकार से देखने में सफलता प्राप्त कर लेता है-**'जे कोहदंसी, से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी....'**। वह राग द्वेष से मुक्त रहकर कम शरीर को क्षीण करता है।

ध्यान साधना से मनुष्य को अमित आत्मविश्वास तथा अखूट ऊर्जा की प्राप्ति होती है कि मन-मानस सजग व सक्रिय रहे तथा जीवन का व्यावहारिक पक्ष आध्यात्मिक पक्ष के साथ जुड़ा रहे। मानव चरित्र का जब इस रूप में निर्माण एवं विकास होता है तो उसकी शक्तियाँ सृजनात्मक, सकारात्मक तथा रचनात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वस्तुत: जीवन का उत्थान इसी में है कि व्यक्ति शुभ तथा शुद्ध वृत्ति-प्रवृत्ति का धारक हो, अपने ही नहीं सबकी हित चिंता में लगे रहे, बल्कि स्व से भी ऊपर उठकर परार्थ में विसर्जित हो जावे।

शक्तियों का रूपांतरण ही जीवनोत्थान का सुदृढ़ सोपान है। यही जीवन की वास्तविक दीक्षा है। शक्तियों के रूपांतरण के बाद में भी व्यवहार यथार्थ में व्यवहार बनता है, वाणी सम्यक् स्वरूप ग्रहण करती है तथा चिंतन की वास्तविकता प्रकट होती है। बिखरी हुई मिट्टी को अगर खाद, बीज, पानी का अनुकूल संयोग मिल जाता है तो अन्न की सफल उपजती है, लता गुल्म आच्छादित होते हैं और रंग व सुगंध से भरपूर पुष्प खिलखिलाते हैं। यही मिट्टी कुंभकार के हाथ में चली जाती है तो उपयोग व सजावटी कलाकृतियों में बदल जाती है। कर्मबद्ध आत्मा ऐसी ही बिखरी हुई मिट्टी है, जिसे ध्यान साधना का संयोग मिल जाए तो वह कर्म मुक्ति की दिशा में खिलखिलाता फूल बनकर अपनी सुगंध लुटा सकती है। मिट्टी से ही मूर्ति बनती है, दीपक बनता है, जो उजाला फैलाता है। फिर यह आत्मा तो जीवन्त तत्त्व है--यदि शक्तियों का सफल रूपांतरण हो जाए तो क्या-क्या चमत्कार इससे उद्‌भुत नहीं हो सकते?

ध्यान करने, विचारने और चिंतन-मनन करने का तथ्य यही है कि वर्तमान में हमारी जीवन-शक्तियाँ विभावों में भटक रही है--विपथगामी है अथवा स्वभाव प्राप्ति की दिशा में आगे से आगे बढ़ रही सत्पथगामी? शक्तियों के रूपांतरण का क्रम इसी बिन्दु से आरंभ होता है। इस आकलन के बाद संकल्प बने और ध्यान साधना की आराधना गहरी हो, क्योंकि शक्तियों के रूपांतरण का मूलाधार यह ध्यान योग ही है। यही शक्ति का सृजन करता है, उसे शुभता में नियोजित करता है तथा चरित्र का सर्वोच्च विकास साधते हुए उसे शिखर तक पहुँचाता है।

ध्यान का ज्ञान-विज्ञान तथा स्वयं की स्वयं द्वारा शोध :

वस्तुत: ध्यान योग की स्थापना उन ध्यानी पुरुषों ने की है, जिन्होंने ध्यान-साधना के माध्यम से बुद्धत्त्व, जिनत्व तथा सिद्धत्त्व की ज्योति उपलब्ध की। महावीर, बुद्ध आदि ध्यान योगियों ने इस साधना से ही अहिंसा, दश, करुणा तथा मानवीय मूल्यों के फूल खिलाए हैं, जिनकी सुगंध आज की पीढ़ी सुरक्षित नहीं रख पा रही है--यह दयनीय स्थिति है, किन्तु यह स्थिति निराशा की नहीं, उत्साह की हेतु बननी चाहिए कि चरित्र निर्माण अभियान को सर्वग्राही, व्यापक एवं विस्तृत बनाने के सामूहिक प्रयास तुरन्त प्रारंभ किए जाए। अभियान की उच्चतर श्रेणियों में ध्यान साधना को पूरा-पूरा महत्त्व दिया जाना चाहिए ताकि आत्मशुद्धि के आयाम को सभी क्षेत्रों में क्रियाशील बनाया जा सके।

भगवान् महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि उनके दर्शन का मूल मार्ग ही ध्यान है। वे बारह वर्षों तक कठोर तपस्या करते रहे। क्या थी वह तपस्या? वह ध्यान साधना की उच्चता थी, मौन की पारंगतता थी। ध्यान और मौन में खिली थी उनकी वीतरागता। इस लम्बी अवधि में उन्होंने आत्मा का शुद्धिकरण किया, उसका अनुसंधान किया और उसकी परम उज्ज्वलता अवाप्त की। ध्यान के ज्ञान-विज्ञान का उजला पक्ष यही है कि स्वयं की स्वयं द्वारा शोध सफलता के साथ सम्पन्न हो।

सत्य तो यह है कि स्वयं का अनुसंधान ही ध्यान साधना है--यही इसका ज्ञान एवं विज्ञान है। ध्यान में यह चिंतन रमना चाहिए कि आज हम क्या हैं, हमारा आत्म स्वरूप कैसा है और स्वरूप-

संशोधन का हमारा यत्न किस रूप में चल रहा है? आशय यह है कि हमारा चरित्र कैसा है और उसे कैसा बनाना चाहिए? हम अपने जीवन मूल्यों का संबंध केवल परलोक से ही नहीं जोड़ें, बल्कि उन्हें वर्तमान-सापेक्ष बनावें। मरने के बाद क्या मिलेगा, हमारा क्या होगा, कहाँ जाएंगे-ऐसा सोचने की बजाय यह देखें कि हम आज क्या हैं, क्यों हैं, हमारे चित्त की शाति तथा आत्मा की निर्मलता के लिए क्या किया जा सकता है-उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। हम ऊँची-ऊँची बातें तो करते फिरते हैं, लेकिन यह नहीं देखते कि हमारा हृदय कितना संवेदनहीन, स्वार्थी और निर्दयी बनता जा रहा है। भौतिकता के अम्बार खड़े कर दें-उससे जीवन का कुछ बनने वाला नहीं है। बनेगा तो इससे कि चरित्रशीलता बढ़े, जीवन की गुणवत्ता विकसित हो और मानवता मस्तक पर विराजे।

मानवता, चरित्र एवं जीवन के उत्थान के लिए विज्ञान, कला और ध्यान तीनों को आत्मसात् करना होगा-विज्ञान जीवन और जगत् के पदार्थगत ज्ञान के लिए, कला जीवन को सृजनात्मक आयाम देने के लिए और ध्यान जीवन की आंतरिक शुद्धि तथा आनंद के लिए है। वास्तव में जीवन का ज्ञान तथा चेतना का विज्ञान ही ध्यान है। मनुष्य की शक्तियों को जगाने, उनको स्वाभाविक गति देने तथा स्व को पर में विगलित कर देने का वरदान ध्यान साधना से ही प्रकट होता है। ध्यान स्पष्टत: स्वयं को समझने और अपनी चेतना को तराशने का संकल्पित उपक्रम है। ध्यान से मनुष्य अपने ही भीतर उतरता है, स्वयं की शोध करता है और अपनी आत्मा को परमात्म-शक्ति के साथ जोड़ता है। जहाँ तक ध्यान की विधियों का संबंध है, अनेक विधियाँ निर्देशित, मान्य एवं प्रचलित हैं और यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी विधियाँ अच्छी हैं। ध्यान साधक को प्रयोगधर्मी होना चाहिए और निष्कर्ष निकालना चाहिए कि अपने लिए कौनसी विधि चित्त को परिष्कृत तथा चेतना को परिपूर्ण बनाने के लक्ष्य के अनुकूल है।

भगवान् महावीर का यह क्रांतिकारी संदेश है कि ध्यान सर्वथा शुभ नहीं, अशुभ भी होता है। चार ध्यान बताए हैं, जिनमें दो ध्यान अशुभ हैं और दो ध्यान शुभ हैं। इस विवेचन के साथ यह निर्देश दिया गया है कि शुभ ध्यानों में निरत बनें तथा अशुभ ध्यानों से सतर्क रहें। आर्त्त और रौद्र ध्यान तमस रूप हैं तथा धर्म व शुक्ल ध्यान सात्विक रूप हैं। ऊर्ध्वमुखी और सकारात्मक वृत्तियों-प्रवृत्तियों में एकनिष्ट होना शुभ रूप है। इसके विपरीत मानसिक हिंसा, तनाव, चिंता, घुटन से घिरे रहना आर्त्त और रौद्र ध्यान का सेवन है, जो जीवन को अध:पतन की ओर ले जाता है, चरित्र को हीन बनाता है।

ध्यान बहुत सहज है-इसको न कठिन मानें, न बनावें। ध्यान को बहुत ही सहजता से लें। ध्यान इतना ही है कि स्वयं को स्वयं में उतरना है, स्वयं का सूक्ष्म अवलोकन करना है और स्वयं के शुद्ध रूप याने परमात्म स्वरूप का आनन्दरस पीना है। खुद की मस्ती में मस्त रहना है और खुदा बन जाना है। एक ध्यानी ने अपनी ध्यान विधि का उल्लेख करते हुए उसे पांच चरणों में विभाजित की है-

1. **पहला चरण - श्वास दर्शन तथा एकाग्र योग** - इसमें निर्लिप्तता, तन्मयता, स्व केन्द्रितता तथा श्वास सजगता की आवश्यकता होती है।

2. **दूसरा चरण - चित्त दर्शन तथा शांति योग** - स्वयं को भृकुटि मध्य स्थिर करें, अग्र मस्तिष्क में केन्द्रित करें और मन को मौन, तन्मय व विलीन हो जाने दें।

3. तीसरा चरण - हृदय दर्शन एवं भावयोग - मन और बुद्धि को हृदय में डूबने दें, हृदय-प्रवेश में स्वयं को स्थित करें और ध्यान की गहनता में उतर जावें। इससे सुशुप्त भावशक्ति का प्रफुल्लता दायक जागरण हो सकेगा।

4. चौथा चरण - सहस्त्रार दर्शन एवं बोधियोग - हृदय की अवस्थिति तथा पुलक को मस्तक में ले आवें, जहाँ सहस्त्रार व ब्रह्मरंध्र होता है, मस्तिष्क को उच्च ऊर्जा शक्ति से भर दें और अपनी उच्च सत्ता के साथ विचरण करें। इससे चैतन्य स्वरूप का बोध साकार बनता है।

5. पांचवां चरण - विदेह दर्शन तथा परमात्म योग - अन्तिम चरण में मुक्त अस्तित्त्व से अपनी तदाकारता स्थापित कर लें और परमात्म सत्ता से एकलय हो जावें। आत्मगत सम्पूर्ण शक्तियों की प्राप्ति इससे हो जाती है। यही ध्यान का ज्ञान है, विज्ञान है और सार है।

आत्म-बोध, आत्म-आरोग्य तथा आत्म-पुरुषार्थ का आरंभ :

चरित्र निर्माण अभियान का यह मौलिक धरातल है कि स्वयं के अस्तित्त्व का अनुभव किया जाए-आत्म बोध हो, क्योंकि आत्म-स्मरण जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है तो आत्म-विस्मरण सबसे बड़ी विपदा है। **'मैं हूँ'** - इसका बोध हर समय रहना चाहिए। हमारे मूल अस्तित्व की प्रतीति आत्मबोध है, अहंकार नहीं। सही स्थिति यह है कि जब अहंकार गलता है, तभी सम्यक् आत्मबोध होता है। हमारे आत्म-तत्त्व और जीवन तत्त्व की अनुभूति प्रतिक्षण होती रहनी चाहिए। जो आत्मस्थ रहता है, वही अपरिग्रही होता है चाहे परिग्रह याने सत्ता सम्पत्ति के अम्बार पर खड़ा हो। वह मूर्छा ममत्त्व से रहित होता है।

आप कुछ भी करें-देखें, बोलें, चलें, बैठें, गावें, हंसें, खावें, पीवें, दौड़ें, कोई भी काम करें-**'मैं हूँ'** की प्रतीति बनी रहे। यदि ऐसा करने का अभ्यास कर लेते हैं तो आपके व्यवहार में सौम्यता आएगी तथा स्वभाव शांत बन जाएगा। आत्म-बोध से जुड़कर आप जीवन के शाश्वत रूप से जुड़ जाते हैं और अमरता का अनुभव होने लगता है। इससे मृत्यु-भय क्षीण हो जाता है तथा जीवन की वृत्ति-प्रवृत्ति में उत्साह का संचार अनुभव में आता है। **'मैं हूँ'**- यह मात्र सोचना ही नहीं है-इसका अनुभव करना है और अनुभव को स्थायी रूप देना है। दिन में जब भी अवसर लगे-अपने भीतर झांकें, **'मैं हूँ'** को देखें तथा उसे सशक्त बनाने के बारे में सोचते रहें। यह ध्यान का उन्मुक्त स्वरूप है।

अध्यात्म ने मनोस्वास्थ्य अर्थात् आत्मा के आरोग्य के लिए ध्यान-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। आत्म-बोध के बाद ही विदित होता है कि भीतर की नाड़ी किस प्रकार चल रही है तथा ताप-अनुपात की दशा कैसी है। आप ध्यान के द्वारा मन के साक्षी बनते हैं और उसके स्वास्थ्य को जांचते-परखते हैं। डॉ. बेच ने एक ऐसी चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया है, जिसमें मानसिक लक्षणों के माध्यम से शारीरिक रोगों का उपचार किया जाता है। हकीकत यह मानी गई है कि शरीर के रोगों की जड़ शरीर में नहीं, मन में होती है। मन की कमजोरी के लक्षण हाथ में आ जावें तो मानसिक अवसाद की चिकित्सा करके शारीरिक अवसाद के ज्वर को दूर किया जा सकता है। यह एक स्तर है और इसी स्तर की ऊँचाई पर ध्यान योग की चिकित्सा फलीभूत हो सकती है। वह आत्म को

आरोग्य प्रदान करेगी। आत्मा निरोग हो जाए तो मन स्वस्थ होगा ही और मन स्वस्थ हो तो शरीर की शक्ति कैसे दुर्बल या रूग्ण हो सकती है?

जब आत्मा निरोग बन जाए तो वह जागृत होगी, उठेगी और कर्म-पथ पर प्रयाण अवश्य करेगी। अभिप्राय यह है कि आरोग्य से पुरुषार्थ का जागरण अवश्यंभावी है। ध्यान और कर्म दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। ध्यानपूर्वक कर्म को सम्पन्न करना-सफल बनाना ही ध्यान की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता है तथा कर्म की भी सुघड़ता है। यह विचार त्याग दें कि ध्यान साधना संन्यासी ही कर सकता है और वह भी किसी गुफा में बैठकर। ध्यान की यह धारणा ऊँची हो सकती है, किन्तु सर्वग्राही नहीं। ध्यान जीवन के पल-पल में घुला मिला रहना चाहिए। प्रत्येक विचार ध्यानपूर्वक करें, प्रत्येक वचन ध्यानपूर्वक बोलें और प्रत्येक व्यवहार तो अत्यधिक ध्यानपूर्वक ही होना चाहिए। आप ध्यान लगावें कि अपनी दिनचर्या में आप ध्यान शब्द का कितनी बार प्रयोग करते हैं। कोई अपने से दूर जाता हो तो इतना ही कहकर संतोष कर लेते हैं कि ध्यान से जाना। ध्यान का सामान्य जीवन पर भी कितना प्रभाव है-यह ध्यान देने की बात है।

ध्यान की साधना को कुछ ऊपर की श्रेणी में रखें, किन्तु ध्यान का प्रयोग एवं उपयोग तो नीची से नीची श्रेणी से ही शुरू हो जाता है। ध्यान उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए है जो अपने प्रत्येक कार्य को निराबाध रूप से सम्पन्न करना चाहता है। कर्म मनुष्य की अनिवार्य प्रवृत्ति है। श्री कृष्ण ने गीता में मनुष्य को कर्मयोग की प्रेरणा दी है, किन्तु गीता की रचना से बहुत पहले ही भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में मनुष्य को **'असि, मसि, कसि'** के कर्म की प्रेरणा ही नहीं दी, उसके प्रमादी हाथों में कर्म का शस्त्र धारण कराया था। कर्म क्या है? कार्य, प्रवृत्ति और पुरुषार्थ। पुरुषार्थ कर्म का उत्कृष्ट रूप है। कर्म से ही कर्मठता की अवस्था आती है और कर्म ही पुरुष को कर्मयोगी बनाता है। पुरुष का कर्म पौरुष बनता है, पुरुषार्थ कहलाता है और यही पुरुषार्थ जब आत्मा से जुड़ जाता है तो पराक्रम का रूप ले लेता है। पुरुषार्थी तथा पराक्रमी आत्मा ही अन्ततः परमात्म-स्वरूप का वरण करती है।

ध्यान करने और ध्यान में जीने का अर्थ नहीं है कि आप गृहस्थ धर्म का पालन नहीं करेंगे, संघ-समाज में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं करेंगे याकि व्यवसाय, व्यापार या उत्पादन कार्य नहीं करेंगे। सब कुछ करेंगे ध्यानपूर्वक, मन को साक्षी बनाकर तथा आत्मा की आवाज सुनते हुए। आप बेध्यान नहीं हैं, सावधान नहीं हैं, लापरवाह नहीं है-यही ध्यान है। आप शरीर और इंद्रियों के दास नहीं हैं, मन के चाकर नहीं हैं, अपनी इच्छाओं के अनुगामी नहीं है-यही आत्म-पुरुषार्थ है और जहाँ आत्म पुरुषार्थ है, वहाँ ध्यान साधना है ही।

संसार के आवश्यक सारे काम करें मगर ध्यान के साथ। ध्यानी और अध्यानी के काम में बड़ा फर्क रहता है। दोनों की कार्यशैली और परिणाम में भारी अंतर दिखाई देगा। ध्यानी यदि उन लोगों के जीवन मूल्यों का ध्यान रखेगा जो उसकी उत्पादकता का उपयोग करेंगे या उसके व्यवहार का सामना करेंगे। वह इस ध्यान से अपना कार्य करेगा कि जिसके कारण सबकी प्रतिक्रिया अनुकूल हो। दूसरी ओर जो अध्यानी है वह अपने काम को जैसे-तैसे करेगा, जिसमें न तो उसमें होने वाली हिंसा का ध्यान रहेगा और न ही उन लोगों की प्रतिक्रिया का, जिनके लिए काम किया जा रहा है। यह अन्तर आसमान-

पाताल के अंतर जैसा होता है। आशय यह है कि ध्यान साधना से दायित्त्व का भाव पैदा होता है। जो भी कार्य या व्यवहार एक ध्यानी करता है, वह उसे सेवा समझ कर करता है। वह समझता है कि किसी के भी काम आया तो वह उसकी सेवा है और कोई भी सेवा अन्ततः ईश्वर की सेवा होती है। ध्यान की यही श्रेष्ठता आत्म पुरुषार्थ में परिणत होकर स्व को सर्व में मिला देती है।

महान

ध्यान से चरित्र का वैश्वीकरण और मानव जीवन में महानता :

बरसात कितनी ही मूसलाधार क्यों न बरसी हो, जमीन पर छितरा हुआ पानी सूख ही जाता है, लेकिन बांध में इकट्ठा हुआ पानी भरा रहता है। इस पानी से सिंचाई की जा सकती है, बिजली बनाई जा सकती है और पानी की कमी हो तो पीने के काम में भी लिया जा सकता है। यह अन्तर है बिखरी हुई शक्तियों और एकत्रित की हुई शक्तियों का। इसी प्रकार हमारी ज्ञान एवं आत्मिक शक्तियाँ भी अपार है, पर वे बिखरी हुई हैं, दबी हुई हैं और निष्क्रिय पड़ी हुई हैं। उन्हें संचित करने, परिष्कृत करने तथा कार्यक्षम बनाने की आवश्यकता है। जैसे पेंसिल को घिसने से वह नुकीली हो जाती है और तब उससे सुंदर हस्तलिपि निकलती है, वैसे ही एकत्रीभूत इन शक्तियों के मंथन से हमारी समग्र ऊर्जा प्रखर एवं प्रबल बन जाती है। यह एकजुट शक्ति पुंज ध्यान साधना से उपलब्ध होता है।

यह जो उपलब्धि है, उसे चारित्रिक उपलब्धि का नाम दिया जा सकता है। आखिर, ध्यान से जो भावनात्मक प्राप्ति होती है, वह मानव-चरित्र का ही तो विकास करती है। इस शक्ति-संचय से मनुष्य की अपनी पहचान बनती है, उच्च मानसिक क्षमताओं का विकास होता है तथा जीवन अधिकाधिक आनन्द एवं ऊर्जा से परिपूर्ण बनता है। यह परिपूर्णता ही उसे महानता की दिशा में आगे बढ़ाती है। जिन्हें लगता है कि उनकी स्मरण शक्ति कमजोर है, बुद्धि मन्द है, पढ़ने या काम करने में मन नहीं लगता, उन्हें ध्यान लगाना चाहिए। इससे पेंसिल की तरह उनकी मानसिकता घिसेगी और वह नुकीली होकर कार्यक्षम बन जाएगी। मानसिक एकाग्रता से गुजर कर ही बिखरी हुई आत्मिक शक्तियाँ एकरस, एकलय और लक्ष्योन्मुखी बनती हैं। आप जानते हैं कि जीवन विकास का सबसे बड़ा बाधक मन का बिखराव ही है। यह बिखराव एकत्रित होता और संवरता है मन के समीकरण से। ध्यान मन को समीकृत करता है और ऐसे चरित्र का निर्माण करता है कि मन का वह समीकरण स्थायी रूप ले ले। ऐसा मनस्वी पुरुष साधारण से असाधारण हो जाता है तथा उसकी चरित्र निष्ठा उसे साध्य के प्रति प्रगतिशील बना देती है। प्रत्येक व्यक्ति के वश में है कि वह अपने सोए आत्मविश्वास को जगावे, स्वयं को शक्ति पुंज बनावे तथा असाधारण विचारों का धनी बने। चरित्र सम्पन्नता की यही अवस्था मनुष्य को महान बनाती है।

चरित्र निर्माण अभियान के प्रबुद्ध कर्मियों को यह निश्चय बना लेना चाहिए कि ध्यान जितना अपने आपसे जोड़ता है, उतना ही समस्त विश्व से भी जोड़ता है। ध्यान साधना हो या चरित्र विकास यह व्यक्ति तक ही नहीं ठहरता है-प्रगति के साथ वह व्यक्ति से समूह और समूहों तक फैलता है, सभी छोटे बड़े घटकों को प्रभावित करता है तथा सघन विस्तार के साथ ध्यान से चरित्र का

वैश्वीकरण हो जाता है। यह सत्य है कि किसी भी सद्‌गुण का प्रभाव सीमित नहीं होता। वह व्यक्ति वर्ग या धर्म-सम्प्रदाय तक ही नहीं टिकता और आगे से आगे बढ़ता रहता है। सद्‌गुण के समान ही चरित्र हो या कोई भी साधना अपनी अच्छाइयों के बल पर सम्पूर्ण विश्व तक फैल सकती है। इसे उसका स्वाभाविक विकास ही मानना होगा।

ध्यान और चरित्र वास्तव में भिन्न-भिन्न नहीं हैं, दोनों अभिन्न हैं, बल्कि ध्यान को चरित्र का एक अति महत्त्वपूर्ण अंग मान सकते हैं। तो यही कहें कि मानव चरित्र संसार से पलायन करना नहीं सिखाता, बल्कि जीवनोत्थान की उच्चतर श्रेणियों में स्थितप्रज्ञ बनाता है और संसार को अधिकतम आनन्द एवं प्रेम प्रदान करने का पाठ पढ़ाता है। स्थितिप्रज्ञ पुरुष निस्पृह हो जाता है और स्वयं को सारे संसार का बना लेता है। चरित्रशील पुरुष उस आनन्द रस का पान अकेला नहीं करता, सारे संसार में उस सुख को बांटता है। सबको बांटकर ही वह स्वयं की संतुष्टि एवं आनन्दानुभूति मानता है। वह संसार को ऐसा सुख बांटता है, जो सबको चिर मुस्कान देता है और सबकी हर धूप-छांव में फैली हुई खुशी को बिखरने नहीं देता। यही तो महानता का लक्षण है। क्या महापुरुष अपने आपमें किसी वर्ग, समाज या धर्म-सम्प्रदाय में ही सिमटे हुए रहते हैं? कदापि नहीं। कोई पुरुष महान ही तब कहलाता है जब अपने आदर्श से उसका व्यक्तित्त्व पूरे संसार में विस्तारित हो जाता है। महानता समग्र मानवता की थाती होती है।

प्रत्येक व्यक्ति संसार की इकाई है तथा सारा संसार उसका अपना है :

चरित्र निष्ठा जब चरित्रलीनता की दिशा में अग्रसर होती है तो व्यक्ति के हृदय की विशालता एवं उदारता बढ़ती जाती है। एक ध्यान योगी या कि चरित्र निष्ठ पुरुष अपने मूल अस्तित्त्व के साथ इस तरह जुड़ जाता है कि सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। आत्म तुल्यता का भाव उस अस्तित्त्व बोध में गहराई से समा जाता है। अस्तित्व की समग्रता में न स्व भिन्न रहता है पर से और न पर प्रतीत होता है स्व से भिन्न। पानी की बूंदें कितनी ही अलग-अलग क्योंस्र पड़ी हों या दिखाई देती हों, पर अस्तित्त्व की समग्रता के दौर में प्रत्येक बूंद सागरमय होती है-किसी के बीच कोई भेद नहीं रहता। अस्तित्त्व समग्र है और सबको समग्र अस्तित्त्व के प्रति संवेदनशील एवं करुणाशील बनना ही चाहिए तथा बने रहना चाहिए।

एक प्रश्न खड़ा करें कि क्या ऐसी समग्रता की बात करना वर्तमान विश्व के परिप्रेक्ष्य में उचित है? उत्तर है कि आज इसका औचित्य सर्वाधिक है। विश्व की दूरियाँ आज बहुत सिमटी हैं, किन्तु आज की विडम्बना है कि मनुष्य की आपसी दूरियाँ इतनी बढ़ गई हैं कि बड़े शहरों में वह अपने पड़ोसी से जय जिनेन्द्र या नमस्कार भी वार-त्यौंहार को ही मुश्किल से करता है। सच यह है कि व्यक्ति का-दूसरों को तो छोड़ें, अपने आत्मीयों तथा पड़ोसियों के प्रति भी विश्वास नहीं रहा है। ऐसे में उसे विश्व बंधुत्व के प्रति आस्थावान बनाने का कार्य एक भगीरथ कार्य है और ऐसा ही भगीरथ कार्य है व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र का निर्माण तथा विकास कार्य, किन्तु यही कार्य आज पूरी निष्ठा, लगन और संकल्पितता के साथ करने का कार्य है। व्यक्ति को ऐसी जटिल शंकाशीलता से दूर हटाकर ही मानवीय मूल्यों की रक्षा की जा सकती है। आज समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है

कि सबके चरित्र का उस सीमा तक विकास किया जाए, जहाँ वे अपने आत्म विश्वास को जगा सके और समग्र अस्तित्त्व से अपने आप को जोड़ सके। ध्यान और चरित्र साधना से यह दुष्कर कार्य सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक मानव प्राणी-मात्र के प्रति संवेदनशील एवं मानवीय बने।

यह संभव हो सकता इस मंत्र से कि प्रत्येक व्यक्ति ध्यान लगावे, हर समय चिंतन करे इस मंत्र का। यह मंत्र है-**'मैं इस संसार की एक इकाई हूँ, सारे संसार से मेरा संबंध जुड़ा हुआ है, इस अर्थ में सारा संसार मेरा अपना है।'** इस मंत्र का मात्र जाप ही नहीं करना है बल्कि इस स्थिति के लिए अपना विश्वास ढल जाना चाहिए। विचार बन जाना चाहिए कि परिवार, समाज या जाति ही हम और हमारा नहीं है, वरन् सारा संसार हमारा है। जल, थल, नभ में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिससे अस्तित्त्व की दृष्टि से हमारा संबंध न हो। सारी वसुधा-पृथ्वी हमारा परिवार है। मनुष्य ही क्यों, चींटी और सारे दृश्य-अदृश्य जीव हमारी संवेदना व करुणा के पात्र हैं। पेड़-पौधे, फूल, फल आदि सारे एकेन्द्रिय जीव भी हमारे प्रेम की अपेक्षा रखते हैं। कारण स्पष्ट है। हम सभी अस्तित्त्व की दृष्टि से एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। यह संसार वस्तुतः पारस्परिकता तथा अन्योन्याश्रितता पर टिका हुआ है।

हम ध्यान में लगें, चरित्र में जिएं और अपने अन्तःकरण में सारे संसार को ले आवें। वहाँ सबके लिए हितावह प्रेम ही लहरें उठावें। अपने मन की शांति और पवित्रता की वीणा से दसों दिशाओं को झंकृत होने दें। यह उद्घोषणा करते रहें कि हम संसार के हैं और सारा संसार हमारा है। हमारी ओर से सबके प्रति प्रेम, हित एवं सम्मान की भावना है। हमारे लिए कोई अनजान नहीं है। चारित्रिक दृष्टि से हम सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध है-समूचे संसार के साथ जुड़े हुए हैं।

चरित्र सम्पन्नता और ध्यान साधना से हमारी संवेदनशीलता का इतना विकास हो सकता है कि हम स्व को संसार से अभिन्न मान लें। हमारा प्रेम, संवेदन, सहकार असीम बन जाए। हमारा जो पथ होगा, हमारा जो जीवन होगा, वह स्वयं के लिए और सबके लिए स्वतः समाधान मूलक होगा। हमारी चरित्रशीलता से, हमारी ओजस्विता तथा तेजस्विता से, हमारी स्नेहिलता व मुस्कुराहट से, हमारी उच्च मानसिक तथा आत्मिक अवस्था से संसार प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा, काश, हम संगठित प्रयास करें।

ध्यानलीनता है वही आत्मलीनता है, आत्मलीनता ही चरित्रलीनता है!

प्रेम मानव जीवन और संसार का आधार है, क्योंकि संपूर्ण वायुमंडल में जो घुला मिला भाव है, वह प्रेम भाव ही है। प्रेम की बयार ही शीतल और सुखदायिनी होती है। प्रेम भाषा मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी तक समझते हैं और प्रेम में अवश हो जाते हैं। प्रेम की तरल दृष्टि आंखों ही आंखों प्रवेश करती रहती है और हृदय के अणु-अणु में समा जाती है। हृदय में समाविष्ट इस प्रेम का जन्म जानते हैं, किस शक्ति से होता है? यह प्रेम ध्यान से जन्म लेता है। प्रेम वायु है तो ध्यान आकाश। ध्यान की व्यापकता से प्रेम की विराटता अभिव्यक्त होती है। ध्यान की गहराई में जन्मा प्रेम ही जीवन का गौरव और चरित्रशीलता का प्रतीक बनता है। ध्यान की गहराई से जन्मा प्रेम ही जीवन की सुवास है, चरित्रशीलता का प्रतीक है।

ध्यान से प्रेम जन्मता है और प्रेम ध्यान की ओर ले जाता है। प्रेम जो चेतनामय एवं आत्ममय होता है, वही हार्दिक होता है। व्यक्ति जितना ध्यान में डूबता जाता है, वह अपने को उतना ही प्रेमपूर्ण पाता है। उसके प्रेम में विकार या वासना की गंध नहीं होती। वह प्रेम तो ध्यानस्थ होता है। यों हम हृदय में उतरेंगे तो सूना लगेगा, लेकिन हृदय में पहुंच कर बैठेंगे तो ऐसी आन्तरिक हिलोरे उठेगी जो चित्त को प्रफुल्लित बना देगी। ऐसे प्रेम को ध्यान से जन्मा प्रेम कहेंगे। ऐसा ही प्रेम हमें ध्यान की गहराई में उतारेगा और जीवन मैत्री तथा विश्वमैत्री का सुख देगा। प्रेम वह होता है जो विश्व तक फैले और शाश्वत की झलक दे। प्रेम वह है जिसमें पर का निमित्त गौण और स्वयं की पुलक मुख्य हो। इसका अर्थ है कि ध्यानी और प्रेम स्वयं प्रेम हो जाता है। यह ध्यानलीनता का उत्कृष्ट रूप है।

जो ध्यानलीनता होती है, वस्तुतः वही आत्मलीनता है। मनुष्य का अन्तर्जगत् ही चेतना का वह धरातल है जिससे उसका जीवन और जगत् संचालित एवं प्रकाशित होता है। जो अपने अन्तर्जगत् का स्वामी हो जाता है, उसका संसार उतना ही प्रेममय, करुणामय, निस्पृह एवं आनन्दमय बन जाता है। जिसके वश में अन्तर्जगत् की सम्पदा होती है, समझें कि संसार का वह सबसे समृद्ध और सुख-शांति का स्वामी है। अन्तर्जगत् का अपना रस होता है, अपना स्वाद होता है और अपना ही आनन्द होता है। आत्म बोध, आत्म-आरोग्य तथा आत्म पुरुषार्थ से यह आनन्दमय अवस्था पैदा होती है, उसे ही आत्मलीनता कहना चाहिए। आत्मलीनता से ही अन्तर्जगत् की रचना होती है। यह होता है हमारा अपना निवास, हमारा अपना धरातल, हमारा अपना स्वर्ग और हमारा अपना मुक्ति का साम्राज्य। ध्यान रखें कि ध्यान की ओर-चरित्र निर्माण की ओर हम अपना चरण बढ़ाकर इसी अन्तर्जगत् की ओर याने अपने घर की ओर चलने की तैयारी कर रहे हैं। अपने घर में रहने और जीने से बढ़कर सुख कौनसा हो सकता है? यह अन्तर्जगत् ही अपना घर है-एक ऐसा घर जो अतीत के गलियारों से गुजर कर भी, भविष्य के इन्द्रधनुष संजो कर भी समय के प्रत्येक शिलालेख से ऊपर उठा हुआ है। आत्म पुरुषार्थ से रचित होकर, आत्मलीनता से सज्जित होकर और चरित्रलीनता से आदर्शित होकर जिस अन्तर्जगत् का निर्माण होता है, वह समयातीत है।

समय मनुष्य में परिवर्तन लाता है, किन्तु सारे परिवर्तनों का प्रभाव पर्यायों पर ही पड़ता है। जीवन तो एक धारा है-चेतना की धारा अर्थात् चित्-प्रवाह। यह जीवन तत्त्व व्यापक होता है। यह तत्त्व ऐसा नहीं जो जन्म से शुरू हुआ और मरण पर समाप्त। जीवन तो स्वयं ही जीवितता का-जीवन्तता का वाचक है, जिसका जीवन्त प्रवाह कभी समाप्त नहीं होता। इसी प्रवाह को पकड़ना है, क्योंकि हम इससे दूर छिटके हुए हैं, आसक्ति और मोह में फंसे हुए हैं। ध्यान और चरित्र के माध्यम से हम चेतना तक पहुँचकर वास्तव में अपने आप तक ही पहुँच रहे हैं और अपने घर की ही खोज कर रहे हैं। जीवन तो संगीतपूर्ण है, आनन्दपूर्ण है और जिसने इस जीवन को नहीं देखा, उसका सगीत और आनन्द अधूरा ही है।

हम सब तो चेतना के वह प्रवाह है, जैसे हिमालय से नदियाँ निकलती हैं, पानी बहता है, धरती को सरसब्ज करता है, प्राणियों की प्यास बुझाता है और गंगा का पानी गंगासागर में समा जाता है।

किन्तु पानी की यात्रा समाप्त नहीं होती। वह फिर बाद में बादल बनता है, बरसता है और जल प्रवाह बन जाता है। इन सारे परिवर्तनों में पानी तो सदा अपने मूल अस्तित्त्व में ही रहता है।

वैसे ही देह जन्म लेती है, बाल-युवा-वृद्ध बनती है और नष्ट हो जाती है। लेकिन फिर नई देह पैदा होती है और परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु जीवन का अस्तित्त्व रूप चेतना का प्रवाह तो बना रहता है। यह चेतना का प्रवाह ही हमें समझाता है कि हम कौन हैं और हमारा मूल स्वरूप क्या है? जो हम हैं, जो हमारा प्राण और महाप्राण है, जो हमारा मौलिक जीवन सत्त्व है, उसके प्रति ही हमारी ध्यान साधना और चरित्र-सम्पन्नता सार्थक बनेगी। हमारे निजत्त्व तक तो हमें ही पहुँचना है-अपने सच्चे स्वरूप के प्रति हमें ही उत्कंठित होना है। अपने प्रति बनने वाली सजगता ही हमें चरित्र निर्माण की ओर-ध्यान की ओर, आत्मा के परम ध्येय की ओर उन्मुख बनाती है और यही सजगता जीवन में संबोधि के मंगल कलश की स्थापना करती है। अन्तर्जगत के पथिक बन कर ही हम ध्यानलीन, आत्मलीन तथा चरित्रलीन हो सकते हैं।

विजय - विचार - कण

अतीत से शिक्षा लो, वर्तमान का सदुपयोग करो, भविष्य में आशा रखो।

आज अधिकांश में

व्यक्ति अशान्त है
परिवार विखंडित है
समाज विक्षुब्ध है
राष्ट्र आतंकित है
विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है

ऐसे में

* व्यक्ति से लेकर विश्व तक को
चरित्रहीनता के कंटकाकीर्ण पथ से
सच्चरित्रता के पावन पथ पर
चरणन्यास करने की पृष्ठभूमि है

'सुचरित्रम्' की पवित्र अवधारणा

* व्यक्ति से लेकर विश्व तक को
अंधकार से निकाल कर सुचरित्र के
प्रकाश में आलोडन विलोडन मंथन का
सहज सुअवसर सुलभ करा रहा है

'सुचरित्रम्'

आवरण डिजाइन : मीनल कटारिया, मुम्बई
www.fireflydesigns.in

'सुचरित्रम्' क्या ?

रोग रहित तन

तनाव रहित मन

अनीति रहित धन

हिंसा रहित बर्तन

कर्कशता रहित वचन

विकार रहित नयन

फैशन रहित वसन

विलासिता रहित जीवन

भ्रष्टाचार रहित आचरण

आडम्बर रहित साधन